23

श्रीमन्माणिक्यनन्दिविरचितपरीक्षामुखसूत्रस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मनन्दिप्रभुशिष्य-प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः

स च

काशीस्थश्रीस्याद्वादजैनविद्यालयस्य न्यायाध्यापकेन न्याया-
चार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधि-
विभूषितेन न्यायकुमुदचन्द्र-अकलङ्कग्रन्थ-
त्रयादिग्रन्थानां सम्पादकेन

पं. महेन्द्रकुमारशास्त्रिणा

भूमिकादिभिः परिष्कृत्य संशोधितः सम्पादितश्च

द्वितीयं संस्करणम्

मुम्बय्याम्

सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग इत्येताभिः

निर्णयसागरमुद्रणालयकृते तत्रैव मुद्रापयित्वा प्रकाशितः

ई. स. १९४१

PRAMEYAKAMAL MARTAND

BY

SHRI PRABHA CHANDRA

(A Commentary on Shri Manik Nandi's
Pareeksha Mukh Sutra)

EDITED WITH INTRODUCTION, INDEXES ETC.

BY

Pt. MAHENDRA KUMAR SHASTRI

NYAYACHARYA, NYAYA DIVAKAR, JAIN AND PRACHEEN
NYAYA TIRTH, EDITOR OF NYAYA KUMUD CHANDRA
AKALANK GRANTHATRAYA ETC. NYAYADHYAPAK,
SHRI SYADVAD JAIN VIDYALAYA, BENARES.

Second Edition

PUBLISHED BY

SATYABHAMABAI PANDURANG,

FOR THE NIRNAYA SAGAR PRESS,

BOMBAY.

1941

Publisher:-Satyabhamabai Pandurang, } for the Nirnaya-sagar Press,
Printer:-Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Street, Bombay.

FIRST EDITION—(1912)

SECOND EDITION—(1941)

समर्पणम्—

"न्यायेऽकुतोभयतयोन्नतकन्धरस्य,
जीवन्धरस्य चरणार्चनतोऽर्जितेन ।
संशोध्य संप्रति मयाद्य नवीकृतेन,
भक्त्या प्रमेयकमलेन तमर्चयामि ॥"

तदन्यतमशिष्योऽहं
—महेन्द्रकुमारः ।

ग्रन्थसूची।

शुद्धिपत्रम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१	१५	तदनन्तर–	तदन्तर–
६६	६	विद्यास्व–	अविद्यास्व–
७०	१४	–पर्यायाचेत–	–पर्यायचेत–
८७	८	–लिङ्गाङ्गिनि	–लिङ्गालिङ्गिनि
११५	१५	–तत्त्वा (तस्तत्त्वा)न्त–	–तत्त्वान्त–
११७	६	–तम्	–तन्यम्
१६९	४	वृद्धिच्छे–	तृड्विच्छे
१७१	७,८	–चेतना–	–वेतना–
१९२	१२	–वैकलक्षि–	–वैकलक्षणलक्षि–
२०१	१६	–त्वान्नार्थ–	–त्वान्नानार्थ–
२१७	२	प्रति (ती) यतो	प्रतियतो
३१७	१३	अज्ञानस्य	अज्ञातस्य
३४७	११	–पख्यानं	–पसंख्यानं
३६६	२३	–तो दृष्टं	–तोऽदृष्टं
४५६	२२	–णामपि	–णापि
५१०	२	सम्बन्धौ	सम्बन्धो
६९४	१०	–ताद्दुरितै–	–ताद्वारितै–

सम्पादकीय

जब न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन चल रहा था तब श्रीयुत कुन्दनलालजी जैन तथा पं० सुखलालजी के आग्रह से मुझे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के पुनःसम्पादन का भी भार लेना पड़ा।

इसके प्रथमसंस्करण के संपादक पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुर थे। मैंने उन्हींके द्वारा सम्पादित प्रति के आधार से ही इस संस्करण का सम्पादन किया है। मैंने मूलपाठ का शोधन, विषयवर्गीकरण, अवतरणनिर्देश तथा विरामचिह्न आदि का उपयोग कर इसे कुछ सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। प्रथम तो यही विचार था कि न्यायकुमुदचन्द्र की ही तरह इसे तुलनात्मक तथा अर्थबोधक टिप्पणों से पूर्ण समृद्ध बनाया जाय, और इसी संकल्प के अनुसार प्रथम अध्याय में कुछ टिप्पण भी दिए हैं। ये टिप्पण अंग्रेजी अंको के साथ चालू टिप्पण के नीचे पृथक् मुद्रित कराए हैं। परन्तु प्रकाशक की मर्यादा, प्रेस की दूरी आदि कारणों से उस संकल्प का दूसरा परिच्छेद प्रारम्भ नहीं हो सका और वह प्रथम परिच्छेद के साथ ही समाप्त हो गया। आगे तो यथासंभव पाठ-शुद्धि करके ही इसका संपादन किया है।

श्री पं० बंशीधरजीसा० ने, जब वे काशी आए थे, कहा था कि–"प्रमेय-कमलमार्तण्ड में मुद्रित टिप्पण एक प्रति से ही लिया गया है" और यही बात उन्होंने पं० नाथूरामजी प्रेमी से भी कही[१] थी। इसलिए मुद्रित टिप्पण जो कहीं कहीं अस्तव्यस्त या अशुद्ध था, जैसा का तैसा रहने दिया है। प्राचीन टिप्पण की मौलिकता के संरक्षण के ध्येयने ही उसे जैसे के तैसे रूप में छपाने को प्रेरित किया है। इस संस्करण के टाइप, साइज, कागज आदि की पसन्दगी प्रकाशकजीने अपनी सुविधाके ही अनुसार की है। यदि मेरी पसन्द के अनुसार इसकी प्रकाशनव्यवस्था हुई होती तो अवश्य ही यह अपने सहोदर न्यायकुमुदचन्द्र की ही तरह प्रकाशित होता।

संस्करणपरिचय–

इस संस्करण में प्रथमसंस्करण की अपेक्षा निम्नलिखित सुधार किए हैं–

१ सूत्रयोजना–प्रमेयकमलमार्तण्ड परीक्षामुखसूत्र की विस्तृत व्याख्या है और इसका परीक्षामुखालङ्कार नाम भी है। अतः इसमें सूत्रों का यथास्थान विनिवेश किया है जिससे प्रत्येक सूत्रकी व्याख्या का पृथक्करण होजाय। इस-लिए सूत्राङ्क भी पेजके ऊपरी कौने में दे दिए हैं।

२ पाठशुद्धि–प्रकरण तथा अर्थ की दृष्टि से जो अशुद्धियाँ प्रथम

---

१ देखो रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना पृ० ६० की टिप्पणी।

संस्करण में थी उनका यथानुभव सुधार किया है और खास खास स्थलों में ऐसी शुद्धियों को [ ] ऐसे या ( ) ऐसे ब्रेकिट में ही मुद्रित कराया है। प्रूफसम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ यदि प्रथम संस्करण की सुधारी गई हैं तो कुछ नई अशुद्धियाँ भी दृष्टिदोष और प्रेसकी दूरी के कारण हो गई हैं। जिनका स्थूल शुद्धिपत्र ग्रन्थके अन्त में लगा दिया है।

३ अवतरणनिर्देश–मूलग्रन्थ में जितने ग्रन्थान्तरीय अवतरण आए हैं, उन्हें डबलइन्वर्टेड कामा " " के साथ छपाया है और अवतरण के बाद ही [ ] इस ब्रेकिट में उनके मूलग्रन्थों के नाम दे दिए हैं। जिन अवतरणवाक्यों के मूलस्थल नहीं मिल सके हैं उनका [ ] ब्रेकिट खाली छोड़ दिया है। *कुछ अवतरणों के स्थल ग्रन्थ के* छप जाने पर खोजे जा सके हैं ऐसे अवतरणों के मूलस्थल परिशिष्ट (अवतरणसूची) में दे दिए हैं।

४ विषयसूची–यह ग्रन्थ बहुतदिनों से गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज काशी, कलकत्ता, और बम्बई के जैन परीक्षालय के परीक्ष्य ग्रन्थक्रम में नियत है। अतः छात्रों की, तथा ग्रन्थगत प्रत्येक प्रकरण की मुख्य मुख्य दलीलों को संक्षेप में समझने के अभिलाषी इतर जिज्ञासु पाठकों की सुविधा के लिए प्रत्येक प्रकरण के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की युक्तियों की क्रमबद्ध विस्तृत विषयसूची बनाई है। छात्रों के लिए तो यह सूची नोट्स का काम देगी। इसके आधार से प्रत्येक प्रकरण सहज ही याद किया जा सकता है।

५ पाठान्तर–परिशिष्ट नं० ७ में जैनसिद्धान्तभवन आरा की प्रति के पाठान्तर दिए हैं। ये पाठान्तर ग्रन्थ छप जाने के बाद लिये गए हैं, अतः इन्हें ग्रन्थके अन्त में ही पृथक् मुद्रित कराया है। यद्यपि यह प्रति पूर्ण शुद्ध नहीं है; फिर भी इसके पाठभेद कहीं कहीं मेरे द्वारा सुधारे गए मूलपाठ के संवादक और कहीं कहीं स्वतन्त्ररूपसे शुद्धपाठ के निर्देशक हैं। यह प्रति अधिक पुरानी नहीं है। इसमें "१४×८½" साइज के २४९ पत्र हैं। पत्र के एक ओर १५ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ४९–५० अक्षर हैं।

६ परिशिष्ट–इस ग्रन्थ में निम्नलिखित ७ परिशिष्ट लगाए गए हैं—१ परीक्षामुख सूत्रपाठ। २ प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत अवतरणों की सूची। ३ परीक्षामुख के लाक्षणिकशब्दों की सूची। ४ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के लाक्षणिकशब्दों की सूची। ५ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ६ प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत विशिष्ट शब्दों की सूची। ७ आराकी प्रति के पाठान्तर।

७ परीक्षामुखसूत्रतुलना–यह तुलना प्रस्तावना के अनन्तर मुद्रित है। इसमें परीक्षामुख के पूर्ववर्ती दिग्नाग, धर्मकीर्ति और अकलङ्क के ग्रन्थ तथा उत्तरवर्ती वादिदेवसूरि और हेमचन्द्रके सूत्र ग्रन्थों से परीक्षामुखसूत्रों की तुलना की गई है। इससे सूत्रों के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का स्पष्ट बोध हो सकेगा।

८ तुलनात्मक टिप्पण-ग्रन्थके प्रथम अध्याय में अन्य जैन जैनेतर दर्शनग्रन्थों से प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की तुलना करने में सहायक टिप्पण दिए हैं। ऐसे टिप्पण न केवल तुलना में ही उपयोगी होते हैं, किन्तु भावोद्घाटन में भी उनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रकाशक की मर्यादा के अनुसार मैंने इन टिप्पणों का प्रथम परिच्छेद लिखकर ही सन्तोष कर लिया है।

९ प्रस्तावना-यद्यपि निर्णयसागर से प्रकाशित ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ संस्कृत में लिखी जातीं हैं, परन्तु राष्ट्रभाषा की यत्किञ्चित् सेवा करने के विचार से मैं अपने सम्पादित ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ हिन्दी में ही लिखता आया हूँ। इसी-विचारने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना को भी हिन्दी में लिखाया है। प्रस्तावना में प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के समय आदिका उपलब्ध सामग्री के अनुसार विवेचन किया है। प्रभाचन्द्राचार्य का द्वितीय न्यायग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र है। उसके द्वितीयभाग की प्रस्तावना का **"आचार्य प्रभाचन्द्र"** अंश इसमें ज्यों का त्यों दे दिया गया है।

आभार-श्रीमान् पं० सुखलालजी तथा श्री कुन्दनलालजी जैन की प्रेरणा से मैं इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्रवृत्त हुआ।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके मन्त्री, सुप्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ पं० नाथूरामजी प्रेमीने न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग की प्रस्तावना को इस ग्रन्थ में भी प्रकाशित करने की उदारतापूर्वक अनुमति दी है। जैन सिद्धान्त भवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री पं० भुजवलीजी शास्त्री आराने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की लिखित प्रति भेजी। श्री पं० खुशालचन्द्रजी M. A. साहित्याचार्यने शिलालेख का मूल-पाठ पढ़कर सहायता की।

प्रियशिष्य श्री गुलाबचन्द्रजी न्याय-सांख्यतीर्थ और श्री केशरीमलजी न्यायतीर्थने पाठान्तर लेने में तथा परिशिष्ट बनाने में सहायता पहुँचाई।

निर्णयसागर प्रेसके मालिक ने अपनी मर्यादा के अनुसार ही सही, इसका द्वितीय संस्करण निकालने का उत्साह किया। मैं इन सब का हार्दिक आभार मानता हूँ।

माघकृष्ण पंचमी
वीरनि० संवत् २४६७
१७।१।१९४१ ई०

सम्पादक—
न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार
स्या० वि० काशी

॥ प्रस्तावना ॥

सूत्रकार माणिक्यनन्दि

जैनन्यायशास्त्र में माणिक्यनन्दि आचार्य का परीक्षामुखसूत्र आद्य सूत्रग्रन्थ है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्याचार्य लिखते हैं कि—

"अकलङ्कवचोम्भोधेः उद्दध्रे येन धीमता ।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥"

अर्थात्–जिस धीमान् ने अकलङ्क के वचनसागर का मथन करके न्याय-विद्यामृत निकाला उस माणिक्यनन्दि को नमस्कार हो। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दि ने अकलङ्कन्याय का मन्थन कर अपना सूत्रग्रन्थ बनाया है। अकलङ्कदेवने जैनन्यायशास्त्र की रूपरेखा बाँधकर तदनुसार दार्शनिकपदार्थों का विवेचन किया है। उनके लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह आदि न्यायप्रकरणों के आधार से माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र की रचना की है। बौद्धदर्शन में हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थ थे। माणिक्यनन्दि जैनन्याय के कोषागार में अपना एकमात्र परीक्षामुखरूपी माणिक्य को ही जमा करके अपना अमरस्थान बना गए हैं। इस सूत्रग्रन्थ की संक्षिप्त पर विशदसारवाली निर्दोष शैली अपना अनोखा स्थान रखती है। इसमें सूत्रका यह लक्षण—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"

सर्वांशतः पाया जाता है। अकलङ्क के ग्रन्थों के साथही साथ दिग्नाग के न्याय-प्रवेश और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का भी परीक्षामुख पर प्रभाव है। उत्तरकालीन वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा पर परीक्षामुख सूत्र अपना अमिट प्रभाव रखता है। वादिदेवसूरि ने तो अपने सूत्र ग्रन्थके बहु भाग में परीक्षामुख को अपना आदर्श रखा है। उन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में नय, सप्तभंगी और वाद का विवेचन बढ़ाकर उसके आठ परिच्छेद बनाए हैं जबकि परीक्षामुख में मात्र प्रमाण के परिकर का ही वर्णन होने से ६ परिच्छेद ही हैं। परीक्षामुख में प्रज्ञाकरगुप्त के भाविकारण-वाद और अतीतकारणवाद की समालोचना की गई है। प्रज्ञाकर गुप्त के वार्ति-कालङ्कार का भिक्षुवर राहुलसांकृत्यायन के अटूट साहस परिश्रम के फलस्वरूप उद्धार हुआ है। उनकी प्रेसकापी में भाविकारणवाद और भूतकार-णवाद का निम्नलिखित शब्दों में समर्थन किया गया है—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदा

नन्तर्यमुभयापेक्षयापि समानम्–यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्य कारणत्वात्—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् ।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् ।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते ॥

भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव । मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।"—प्रमाणवार्तिकालङ्कार पृ० १७६ । परीक्षामुख के निम्नलिखित सूत्र में प्रज्ञाकरगुप्त के इन दोनों सिद्धान्तों का खंडन किया गया है—

"भाव्यतीतयोः मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् । तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।"–परीक्षामु० ३।६२,६३ ।

छठे अध्याय के ५७ वें सूत्र में प्रभाकर की प्रमाणसंख्या का खंडन किया है । प्रभाकर गुरु का समय ईसा की ८ वीं सदी का प्रारम्भिक भाग है ।

माणिक्यनन्दि का समय—प्रमेयरत्नमालाकार के उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दि आचार्य अकलंकदेव के अनन्तरवर्ती हैं । मैं अकलङ्कग्रन्थत्रय की प्रस्तावना में अकलंकदेव का समय ई० ७२० से ७८० तक सिद्ध कर आया हूँ । अकलङ्कदेव के लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय आदि तर्कग्रन्थों का परीक्षामुख पर पर्याप्त प्रभाव है, अतः माणिक्यनन्दि के समयकी पूर्वावधि ई० ८०० निर्बाध मानी जा सकती है । प्रज्ञाकरगुप्त (ई० ७२५ तक) प्रभाकर (८ वीं सदी का पूर्वभाग) आदि के मतों का खंडन परीक्षामुख में है, इससे भी माणिक्यनन्दि की उक्त पूर्वावधि का समर्थन होता है । आ० प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामक व्याख्या लिखी है । प्रभाचन्द्र का समय ई० की ११ वीं शताब्दी है । अतः इनकी उत्तरावधि ईसा की १० वीं शताब्दी समझना चाहिए । इस लम्बी अवधि को सङ्कुचित करने का कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टि में नहीं आया । अधिक संभव यही है कि ये विद्यानन्द के समकालीन हों और इसलिए इनका समय ई० ९ वीं शताब्दी होना चाहिए ।

आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है–१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

§१. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना—

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रख-

कर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है। १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्य योग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा। २ अवैदिक दर्शन–बौद्ध, जैन–दिगम्बर, श्वेताम्बर।

(वैदिकदर्शन)

वेद और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेदं यद्भूतं" "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७२६) में उद्धृत हैं–"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्रं वेदकर्त्तारम्" आदि। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७७०) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियमुरूभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है। यह ऋग्वेद के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषत् मुख्य हैं। इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ८) में याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२२) का "लिखितं साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७५) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है।

पुराण और प्रभाचन्द्र—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वतरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६३४) में कूर्मपुराण (अ० १६) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः…" श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०९) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं–"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः…" [गीता ४।३७] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः…" [गीता

१५।१६,१७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का "नाभावो विद्यते सतः" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिहासकारोंने ईसवी सन् से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गंभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वयं ही लिखते हैं कि—

"शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्"

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमें पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।११९) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिता का समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैत-दर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व-असाधुत्व विचार में पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्य-पदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए "आख्यातशब्दः" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्र-न्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दा-द्वैतवादके पूर्वपक्षमें वैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यासऋषि का व्यास-भाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १०९) में योगदर्शनके आधारसे ईश्व-रवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेच-नमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र—ईश्वरकृष्णकी सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका

प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। सांख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तों का सांख्यकारिकामें संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा–"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन सांख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र—सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओं की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र—कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पङ्क्तिको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंकी षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत हैं। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपाद-

भाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलवती' (श्रीवत्साचार्य) । ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है । यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं ।

व्योमशिवाचार्य शैव थे । अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा । पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्तमान नारोद ग्राम की एक वापी प्रशस्ति * से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शंखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए । पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—"इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते ।"† स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हों । इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया । अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया । पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया । दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्हींने स्थापित किया था । पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रम मे तपःसाधन करता था । सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था ।" व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे ।‡ 'ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-संयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे । इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था । इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है ।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः ।
गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनिः ॥

---

* प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग शिलालेख नं १०८

† "यस्याधुनापि विबुधैरतिकृत्यशंसि व्याहन्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः ॥"

‡ "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च ।"—वापीप्रशस्तिः

सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः ।
बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती ॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्ध (र्त) ते ।
सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखि पश्यन् प्रमेयं महत् ॥
सर्वज्ञः स्फुटमेष कोपि भगवानन्यः क्षितौ सं(शं)करः ।
धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम् ॥"

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनदेवके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोंको अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे । और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शंकर भगवान् ही अवतरे थे । इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे ।

<u>शिलालेखके आधारसे समय</u>–व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ले गया था । अवन्तिवर्मा के चाँदीके सिक्कों पर "विजितावनिरवनिपतिः श्री अवन्तिवर्मा दिवं जयति" लिखा रहता है तथा संवत् २५० पढ़ा गया है * । यह संवत् संभवतः गुप्त-संवत् है । डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्त संवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है † । अतः ५७० ई० में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है । इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे । तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमें लाए होंगे । ये अवन्तिवर्मा मोखरीवंशीय राजा थे । शैव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था । इनके समयके सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह है कि–वैसवंशीय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी बहिन राज्यश्री, अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी । हर्षका जन्म ई० ५९० में हुआ था । राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी । ग्रहवर्मा हर्षसे ५–६ वर्ष बड़ा जरूर होगा । अतः उसका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए । इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है । अवन्तिवर्माका यह इकलौता लड़का था । अतः मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्माकी ढलती अवस्थामें यह पैदा हुआ होगा । अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे ।

---

* देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वि० भाग पृ० ३७५ ।

† देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वितीय भाग पृ० २२९ ।

यद्यपि संन्यासियोंकी शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढी के बाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिकग्रन्थोंके आधारसे समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढंगसे उल्लेख करते हैं। यथा—

"अत एव मदीयं शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रीहर्ष देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र त्वनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्त्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्… ।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A. D. राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहां यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं; परन्तु जब शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते हैं तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवतीका अन्तःपरीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (२-११,१२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्त्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "डिण्डिकरागं परित्यज्य अक्षिणी निमील्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिककी और भी बहुतसी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

व्योमवती (पृ० ५९१,५९२) में कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, 'भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० च) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी (पृ० ५४०) खंडन किया गया है।

इनमें भर्तृहरि, धर्मकीर्त्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्रायः समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् हैं। अतः व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एवं किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख तथा समालोचनका होना संगत ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी

कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अतः इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परंतु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना–तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३।) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० xcvi)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) मे व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवमशताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमंजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यतः' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यतः' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्शज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ३०७) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती (पृ० २०, ३९३, १०७) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खंडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें

व्योमवती (पृ० २० क) के "नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्......यथा प्रदीपसन्तानः ।" इस अनुमानको 'तार्किकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दके साथ उद्धृत किया है । कन्दली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षितः समवायः द्रव्यत्वेन योगः' इस मतकी आलोचना की गई है । इसी तरह कन्दली (पृ० १८) मे व्योमवती (पृ० १२९) के 'अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता ।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है । कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान-लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके संशयादिका व्यवच्छेद करना' तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है । कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A.) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप प्रमाणत्रित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी संक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारसे ईस्वी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं । यदि ये आठवीं या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शंकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते । हम देखते हैं कि–व्योमशिव शांकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें अलौकिकार्थख्याति, स्मृतिप्रमोष आदिका खण्डन करने पर भी शंकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नहीं लेते । व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एवं सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टमशताब्दी या नवम शताब्दीवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तमशताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीथका इन्हें नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हें छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र–प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है । इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३

(ई० ९९१) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्धयादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आत्यन्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंकी मुक्तिका खंडन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर देखते हैं।

वात्स्यायन और प्रभाचन्द्र–न्यायसूत्रके ऊपर वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्स्यायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंसे ही इनका निर्देश किया गया है।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र–न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्ततः सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खंडन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिककारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिककारकृत विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र–भट्ट जयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्ट जयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगरं सीरीजमें सन १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं।

उन्होंने भूमिकामें लिखा है की–"जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमंजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे **"जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः"** यह वाक्य 'आचार्यैः' करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये।" इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा 'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास'के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीं से ११ वीं शताब्दी तक मानते थे*। अतः जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा **"जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः"** इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूची निबन्ध' के अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे॥"

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसंवत् लिया है†। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत् लेते हैं‡। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं$ कि 'तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक सं० ९०६ (984 A. D.) में समाप्त की है। यदि वाचस्पतिका समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि जैसी टीकाका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पतिमिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पतिमिश्रने वैशेषिकदर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखीं हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मंडनमिश्रके विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी हैं, क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्रायः इसका निर्देश हैं। उसके बाद मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु'; इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा

---

* हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लॉजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्त्तिक-भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

$ हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी ऑफ न्यायवैशेषिक लिटरेचर Vol. III, पृ० १०१।

होगा; क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में तात्पर्य-टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्यटीकाके बाद 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका 'भामती' टीकामें निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पतिमिश्र अपनी आद्यकृति 'न्यायकणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथाः—

"अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥"

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोंका दमन करनेवाली, रुचिर न्यायमंजरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्यटीकामें 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक **'जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः'** इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवार्तिक पृ० २३६), जिस न्यायवार्तिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं* कि—"वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिका कोई असर देखने में नहीं आता।" 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—"यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का होना चाहिये।" वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर

---

* सरस्वती भवन सीरीज़ III पार्ट।

न्यायमञ्जरी (पृ० १२०) में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि–'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। संशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात मैं 'गुरून्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्वः' इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते है। वाचस्पति 'अयमश्वः' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शाब्दश्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्याः' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खंडन किया है।

म० म० गङ्गाधरशास्त्रीने इस 'आचार्याः' पदके नीचे **'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः'** यह टिप्पणी की हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि-यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका ? तात्पर्य-टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती* टीका (पृ० ५५५) में

* "न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूपं पश्यन्नपि चक्षुपा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तरं प्रतिपद्यत इत्युभयजं ज्ञानम्; ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि-मनसाऽधिष्ठितं न श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति पुनः क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थानं सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम्? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पन्ना विभागमारभते...ततः स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुपा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयजं ज्ञानम्। यदि वा...भवत्येवोभयजं ज्ञानम्"—प्रश० व्यो० पृ० ५५५।

उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है; सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (संभवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य-टीकामें (पृ० १०२) **'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्'** इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तोयालोचन, तोयविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयं चेदम्' इत्याकारकपरामर्श' इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी (पृ० ६६) में इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि–'प्रथम आलोचनज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है'? इसका उत्तर देते हुए मंजरीकारने 'आचार्याः' शब्द लिखकर 'उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्याः' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने **'न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः'** ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके संपादक पं० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मंजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है। जो इस परामर्शात्मक उपादेयताज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि–यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती* जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) मे इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी और 'आचार्याः' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होंगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने **''जातश्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः'** इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलों में 'आचार्याः' पद पर **'वाचस्पतिमिश्राः'** ऐसी

---

* ''द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदुःखसाधनत्वोपलब्धेः तज्ज्ञानानन्तरं यद्यत् द्रव्यादिजातीयं तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चयः तत उपादेयज्ञानम्...''–प्रश० व्यो० पृ० ५६१।

टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमें रखा है।

भट्ट जयन्तकी समयावधि–जयन्त मंजरीमें धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके **'एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकार-विवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्'** (भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालंकारकी प्रेसकॉपी पृ० ४२९) इस वचनका खंडन करते हैं, (न्यायमंजरी पृ० ७४)।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अतः जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A. D. तथा उत्तरावधि ८४० A. D. होनी चाहिए। क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिवन्ध ८४१ A. D. में वनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वविन्दु और तात्पर्यटीका लिख चुके हैं। संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिका में जयन्तकी न्यायमंजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D. ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी संगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरीकथासारमें लिखिते हैं कि–

"भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

काश्मीरके कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D. तक रहा है*। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ़ अवस्थामें मन्त्री होंगे, अपने मन्त्रितलकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामिके ईस्वी सन् ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमें अपनी 'न्यायमंजरी' बनाई होगी। इसलिये वाचस्पतिके समयमें जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हें आदर की दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमंजरीकारका स्मरण किया है।

---

* देखो, संस्कृतसाहित्यका इतिहास, परिशिष्ट (ख) पृ० १५।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि–हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमंजरी (विजयानगरं सं० पृ० १२९) के—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥"

इन दो श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है । प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिनविजयजीने 'जैन साहित्यसंशोधक' (भाग १ अंक १) में अनेक प्रमाणोंसे, खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है । कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) में हुई थी । मेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयुःस्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है । उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमंजरीको देख सकेंगे । हरिभद्र जैसे सैकड़ो प्रकरणोंके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता । अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमंजरीके श्लोकोंका अपने ग्रन्थमें शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधकप्रमाण है ।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलिकाका ही अधिक परिशीलन एवं समुचित उपयोग किया है । षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमञ्जरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते हैं । प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी स्वभ्यस्त थी । वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं । भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी में 'अपि च' करके उद्धृत की गईं १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गईं हैं । जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है । न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गईं हैं ।

(न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा ।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]
(न्यायकुमुद० पृ० ४९१) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते ।
सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायमं० पृ० १४६]
(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः ।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति ॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

वाचस्पति और प्रभाचन्द्र–षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ में समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में सांख्यों के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामें अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करने के लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति..." इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष में उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेकके साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है–"नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न ह्येकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र–जैमिनिसूत्र पर शाबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आदिमें कुमारिल के श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्य की दलीलों को भी पूर्वपक्षमें रखा है। शाबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७९) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोंका मत भी शाबरभाष्यसे ही उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र में शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्वपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

कुमारिल और प्रभाचन्द्र–भट्ट कुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥" [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९–१०) में वाक्यपदीय (१।७) के

"तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लो० ५१) में वाक्यपदीय (२।१-२) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादिप्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत कीं हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी **"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः"** आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत कीं हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्वेककृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हों।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र–आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावनाविवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने (ई० ९ वीं शताब्दी का पूर्वभाग) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा ८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४९) में मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्षमें मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

---

१ देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र–शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्ट कुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र–प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र–आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र–शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ९ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे "ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु" इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२० के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४–४५) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४१) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (३।५।४३-४४) से "यथा विशुद्धमाकाशं" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

---

१ द्रष्टव्य–अच्युतपत्र वर्ष ३ अङ्क ४ में म० म० गोपीनाथ कविराज का लेख।

भामह और प्रभाचन्द्र–भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ० २९१) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोह-खण्डन वाली "यदि गौरित्ययं शब्दः" आदि तीन कारिकाओंकी समालोचना की है। ये कारिकाएँ काव्यालङ्कारके ६ वें परिच्छेद (श्लो० १७-१९) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने (काव्यालङ्कार ५।६) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खंडन किया है, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डनविषयक "यदि गौरित्ययं" आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४३२) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

वाण और प्रभाचन्द्र–प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता वाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन (राज्य ६०६ से ६४८ ई०) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। वाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २९८) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें (प्रमेयक० पृ० ३९३) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है–"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"–अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र–शिशुपालवध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है[1]। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य (१।२३) का "युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो…" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६८८) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

(अवैदिकदर्शन)

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र–अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं।

---

१ देखो संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १४३।

सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें (प्रमेयक० पृ० ६८७) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८,२९]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिककारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १३२) में माध्यमिकके शून्यवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो...' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३९०) में वैभाषिक सम्मत द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं हैं। देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नागके आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८०) में 'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका

१ वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI.

'प्रमाणभूताय' इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष (प्रमेयक० पृ० ४३६) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है-"दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः' इत्युक्तम्।"

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र-बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति इसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खंडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके समयके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना (पृ० १८) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्त्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र-धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चर्चा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि-विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खंडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके

भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कार में किया है[1]। भिक्षु राहुलसांकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जडताका चिह्न बताया है–

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमें 'कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र–प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० ८ वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र–तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसाद-

---

१ इसके अवतरण अकलंक ग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना पृ० २७ में देखना चाहिए।
२ इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।
३ देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

गुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खास तौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञ-परीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोकवार्तिकमें नहीं पाइ जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतुलक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दुविवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है–१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभा-चन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र–धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्परांके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमल-मार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चर्चामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्त-परीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्ष-शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र–ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयनाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वी से खंडन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्काम्बरांक (९०६) शक, ई० ९८४ में समाप्त की थी। अतः ज्ञानश्रीका

१ देखो वादन्यायका परिशिष्ट।

समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि–ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोहसिद्धि(?)के प्रारम्भमें यह कारिका है–

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं हैं पर उदयनाचार्य (ई० ९८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र–भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खंडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३९) में भी तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खंडनमें क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र–दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय–प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार–के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-२६) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिगम्बरोंकी मान्यताका विस्तृत खंडन किया है; जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो'

गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है । प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र–आद्यस्तुतिकार स्वामि समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है । किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पांचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए । प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे **"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव"** इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं ।

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए यह श्लोक लिखा है कि–

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भ-काल–प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला, तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है । अथवा, जो दीप्तरत्नों के उद्भव-उत्पत्ति का स्थान है उस अद्भुत सलिलनिधि के समान तत्त्वार्थशास्त्र के प्रोत्थानारम्भकाल–उत्पत्तिका निमित्त बताते समय या प्रोत्थान–उत्थानिका भूमिका बांधने के प्रारम्भिक समय में शास्त्रकारने जो मंगलस्तोत्र रचा और जिस स्तोत्र में वर्णित आप्तकी स्वामीने मीमांसा की उसीकी मैं (विद्यानन्द) परीक्षा कर रहा हूं ।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आप्तकी मीमांसा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है । वह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें या तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्तिका निमित्त बताते समय शास्त्रकारने बनाया था । यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले या उसकी उत्थानिका बांधनेवाले–उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतानेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं । यह **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता; क्योंकि पूज्यपाद, भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है । यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य

ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। परन्तु यही विद्यानन्द आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा–

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते–मोक्षमार्गस्य नेतारं..." इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं–"तेन इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय (श्लो० ३) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं" श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नहीं समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पंक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोंके उद्भवकर्ता या तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका बाँधनेवाले आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। आप्तपरीक्षा के

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

इस अनुष्टुप् श्लोक में तत्त्वार्थशास्त्रादौ पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' पद के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस संक्षिप्त श्लोक में इससे अधिक की गुंजाइश ही नहीं है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगलश्लोक है। यदि पूज्यपाद स्वयं भी इसे सूत्रकारकृत मानते होते तो उनके द्वारा उसका व्याख्यान सर्वार्थसिद्धि में अवश्य किया जाता। और जब समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र कमसे कम पूज्यपादके समकालीन तो सिद्ध होते ही हैं। पं० सुखलालजी का यह तर्क कि–"यदि समन्तभद्र पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख

---

१ आ० विद्यानन्द अष्टसहस्री के मंगलश्लोक में भी लिखते हैं कि–

"शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य।"

अर्थात्–शास्त्र तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार–अवतरणिका–भूमिका के समय रची गई स्तुति में वर्णित आप्त की मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रंथका व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावताररचितस्तुति' पद आप्तपरीक्षा के 'प्रोत्थानारम्भकाल' पद का समानार्थक है।

किए बिना नहीं रहते" हृदयको लगता है । यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है । और जब विद्यानन्द के उल्लेखों के प्रकाश में इसका विचार करते हैं तब यह पर्याप्त पुष्ट मालूम होता है । समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिङ्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं । बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिङ्नागसे पहिले नहीं की जा सकती ।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खंडन करनेवाले ३०–३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं । ये श्लोक दुर्वेकमिश्र की हेतुबिन्दुटीकानुटीका के लेखानुसार स्वयं अर्चटने ही बनाए हैं । अर्चटका समय ९ वीं सदी है । कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकासे समानता रखनेवाले निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥"

[मी० श्लो० पृ० ६१९]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है । अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि सातवीं सदी मानी जा सकती है । पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिङ्नागका समय होना चाहिए । इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है । यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्रकी स्थिति पूज्यपादके बाद या समसमय में होनी चाहिए ।

पूज्यपाद के जैनेन्द्रव्याकरण के अभयनन्दिसम्मत प्राचीनसूत्रपाठ में "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र पाया जाता है । इस सूत्र में यदि इन्हीं समन्तभद्र का निर्देश है तो इसका निर्वाह समन्तभद्रको पूज्यपाद का समकालीनवृद्ध मानकर भी किया जा सकता है ।

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र–आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था । ये विक्रम की पांचवी और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे । आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है । इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास

---

१ देखो अनेकान्त वर्ष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बंबईके ऐलक पन्नालालसरस्वती भवनमें मौजूद है ।

लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहां कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसेही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र-'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि-"धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।" डॉ० पाठक और उक्त इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भांति धनञ्जयके समयमें भी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है-

१ जल्हण (ई० द्वादशशतक) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है-

"द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।
यया जातं फलं तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि-"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं! यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं-

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धानाः' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक

(ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है–

"हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी।[1] श्रीमान् प्रेमीजीने बनारसीविलास की उत्थानिका में लिखा है कि "ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन, हरचरित्र के कर्त्ता रत्नाकर और जल्हण ने धनञ्जय की स्तुति की है।" संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में आनन्दवर्धन का समय ई० ८४०–७०, एवं रत्नाकर का समय ई० ८५० तक निर्धारित किया है। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता हैं। धनञ्जयने अपनी नाममालाके–

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र–रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिक बार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलंकवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति (पृ० ९८) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

---

१ देखो धवलाटीका प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० ६२।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र–आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें–

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी (जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७) लिखते हैं कि–"बहुत संभव है कि उन्होंने गंगवाड़ि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाड़ि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गंगवंशमें होनेवाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह संभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६ के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य (८१६ ई०) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदय, इसके अनन्तर अपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आप्तपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता

है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मंडनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं। मंडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चर्चा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थरचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये विना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र–लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है–

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये हों। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर

परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि-(पृ० १८१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत् सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ-

"किन्तु अज्ञो जनः दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते । हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते । यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते । उक्तञ्च-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते । हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखानुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते । यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विदुषः सुभाषितम्-तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥"-बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र-राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्षके राज्यकाल (ईस्वी ८१४-८७७) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई०

---

१ देखो-पं० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' (अनेकान्त वर्ष ३ किरण १) तथा प्रो० ए० एन्० उपाध्यायका 'यापनीयसंघ' (जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७) लेख।

८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीय-यतिग्रामाग्रणी' लिखा है-"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर बिलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघवालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पी के साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खंडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि-प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमें श्वेताम्बर आचा-

१ ये प्रकरण जैनसाहित्यसंशोधक खंड २ अंक ३-४ में मुद्रित हुए हैं।

योंकी वजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने खंडनका प्रधान लक्ष्य वनाया है । न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है–

"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति ।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ३१]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र–जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है । इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर'[1] नामका जैनेन्द्रव्याकरणका महान्यास वनाया है । पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेखमें[2] जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है । इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास वनाया है । प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु वताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है । आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे । गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा० ४३६) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है–

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है[3] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे । आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है । इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे ।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है । पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था । अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है । नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ वनाया था । चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे । चामुण्डरायने श्रवणवेलगुलस्थ बाहुवलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण

१ इसका परिचय 'प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ' शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए ।

२ जैन साहित्यसंशोधक भाग १ अंक २ ।

३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना ।

ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३।२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० ८ वी सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ९ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है; क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र–मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सम्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मटसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीन गाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८,४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलकुद्देसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा नं. ९०९) में तथा भगवती आराधनामें (गाथा ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बर आगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) में पाई जाती है। गाथाओं की इस संक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि–कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिग० और श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंग-

शीय महाराज मारसिंह द्वितीय (९७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ९८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका संक्षिप्त संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपएसे' गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसंग्रह में पाई जाती है। अतः आपाततः यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत की होगी; परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३९) तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ३९९) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) में 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवलटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र–रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य, अकलंकके प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है; और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन्० उपाध्यायने[3] प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०) की प्रमाणमीमांसा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र–[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ९९०

---

१ प्रयेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक पं० वंशीधरजीशास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ "प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम्॥"

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ९।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११–।

(ई० ९३३) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसंग्रह ग्रन्थकी रचना की थी; क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३००) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५६) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसंग्रह (गा० ११०) की यह गाथा उद्धृत की है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धं माहसुद्धदसमीए॥"

अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया उपलब्ध है[1]। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

"सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—

"इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रव-

१ देखो प्रेमीजीका 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्यदेवनन्दी' लेख जैनसा० सं० भाग १ अंक २।

र्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक संवत् १०११, ई० १०८९ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसंगत है।. इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा दी हैं। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र–भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरों ने द्वादशांगी रूपमें गूँथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संकलन वीर सं० ९८० (वि० ५१०) में श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रन्थोंके सिवाय कुछ अंगबाह्य या अनंगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनंगश्रुतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६८) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र (५।२०) से "नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र–तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्यसम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५९) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्धकारिकाओंमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) में भी "अनंताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जाने वाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृत की गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र–आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सन्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ. जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त

---

१ देखो गुजराती सन्मतितर्क पृ० ४०।

पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पांचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठीं या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[1]।" न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४-१६ से भलीभांति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र—श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है[2]। सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि० सं० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की ९ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की 'वरिससयदिक्खयाए अजाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजयजीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका

---

१ इंग्लिश सन्मतितर्क की प्रस्तावना।

२ जैनसाहित्यनो इतिहास पृ० १८६।

एक श्लोक–"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥" इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह संभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि–

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च।
समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदायः स सम्मतः।
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते।
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च···"

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२–४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृत कर अपनी षड्दर्शनसमुचायक बुद्धिके प्रेरणा बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षकी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र–श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् ९६२ (१ मई ९०६ ई०) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावता-

रपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार (श्लो० १६) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि–"जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके विना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करने वाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए विना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारी का दृष्टान्त दिया गया हैं। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र–चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना (पृ० ८३) में श्रीमान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। पं० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी संभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिका का संशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं में सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंकों मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिकप्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका में पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी

चरचा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि-"जो के आ टीकामां सैकड़ों दार्शनिकग्रन्थों नु दोहन जणाय छे, छतां सामान्यरीते मीमांसककुमारिलभट्टनुं श्लोकवार्तिक, नालन्दाविश्वविद्यालयना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रंथोंनुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।" अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूं कि-"प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रन्थोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रंथ हैं-भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें आया है।" सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि-सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अवतरण।

---

१ गुजराती सन्मतितर्क पृ० ८४।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र–देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावक चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होंने वि० सं० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भडोच-नगरमें ९ वर्षकी अल्पवयमें वि० सं० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० सं० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० सं० १२२६ में इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि–वि० सं० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है। इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलङ्कके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह भिन्न भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैन-पदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध विकल्पजालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चमत्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

---

१ देखो जैन साहित्यनो इतिहास पृ० २४८।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि–प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि–मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खंडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आंखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंसे छायापुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं, और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६९८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि–"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।"–अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खंडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आंखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ संग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकालसर्वज्ञ'-के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्मसमय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् ११९०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना प्रमाणमीमांसा जैनन्यायके

ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रह-स्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही संक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक संगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मद्देनज़र रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखीं हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A.) में वे अकलङ्कदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयस्त्रयस्वविवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६९१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्; यथा स्यादस्त्येव जीव इति स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलंकने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि–जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्द ही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलंकदेवके इस तत्त्वको मद्देनजर नहीं रखा कि–नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि–जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे–अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलंककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलंकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B.) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्दनय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हें विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाण कोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र–देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायावतारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० संवत् ११९३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रतचरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं–

१–"परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः···पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

---

१ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २५३।

२–"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच।" (पृ० ७९)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३९० पं० १ में पाए जाते हैं। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र–आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमंजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि–इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२९३) में दीपमालिका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमंजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्दरचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है– "एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमें अचर्चित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकरग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र–विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम संवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखंडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके

---

१ देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ से ८४७ तकके टिप्पण।

सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखंडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र–उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युगप्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में पं० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३ (सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्य-न्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषण-यतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्क-भाषामें अनेक जगह न्यायदीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योंकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक-अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्य-युगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तरकालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान–प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६९) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय

उनमें गुणोंका सद्भाव दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है-

"आतपः कटुको रुक्षः छाया मधुरशीतला ।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं(करं) तमः ॥

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है । इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका खंडन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में नड्वलोदक-तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है ।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति-सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलंक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह आदिके दृष्टान्त दिए हैं । पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३६९) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है । वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है । इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए ।

उदारविचार-आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे । उनकी तर्कणाशक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है । इस प्रकरणमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है । वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं । वे ब्राह्मणत्वजातिनिमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्तिविशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः ।"

[न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ । प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४८६]

"प्रश्न-यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा? उत्तर-जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करें तथा

ब्राह्मणोंके योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करें उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारों को क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।"

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि–"ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था–इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया रूप सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे ही होती है।"

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है–

"न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥
न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं।" [धम्मपद गा० ३९३]
"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥" [उत्तरा० २५।३३]

दिगम्बर आचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको क्रियानिमित्तक लिखते हैं–

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"
[वराङ्गचरित २५।११]

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदिपुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिञ्चन कर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अंशोंके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने

१ देखो–न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ टि० ९।

पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती। उन्होंने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

§ २. प्रभाचन्द्रका समय–

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सैद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख (नं० ४०) में गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपसे वर्णन किया गया है। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनों विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्करनामक जैनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे। इसी शिलालेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि–पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे। प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषणमुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्त शास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होने अपने ग्रन्थों की रचना की। ये धाराधीश भोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि–यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है–

---

१ जैनशिलालेखसंग्रह माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

"अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः ॥ १७ ॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ॥ १८ ॥"

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पंडित रूपी कमलोंके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथिततर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एक ही बात नयी है। वह है-गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि-यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपने ही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं हैं। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है। हलेबेलगोलके एक शिलालेख (नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार-आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी*

* श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि-"हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

तथा मुख्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र इसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण का यह श्लोक-

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्-'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया था।' इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० †पाठक आदिके मतका निरास करते हुए प्रभाचन्द्रका

---

† पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। यतः (१) आदि-पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो-सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीनवृद्ध जयन्त से प्रभावित होकरभी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥"

समय ई० ९५० से १०२० तक निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूं। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि-पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है-

---

इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है की यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकी वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है- "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः··" अर्थात्-गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया; क्योंकि उस समय लोकसेन मुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तर पुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ- आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८ वां श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' वैराग्यशतकका ५० वां श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धादयं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तान् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाश्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला [त्कार] गणश्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य (?) विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकोंके अनन्तर-"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्योंके पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेखसे स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डॉ० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं-

१-प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्रीभोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए।

श्रीमान् मुख्तारसा० तथा पं० कैलाशचन्द्रजी प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जानेवाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी

---

१ देखो पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष ४ किरण १। २ महापुराणकी प्रस्तावना पृ० XIV। ३ रत्नकरण्डप्रस्तावना पृ० ५९-६०। ४ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्य को प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेन के पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते। पं० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १० वीं और ११ वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[1] कि-प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियों में यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है। मैंने भी इस ग्रन्थका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्तभवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भां० प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्तिवाक्य है। इनमें भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्रीपद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह-

---

१ रत्नकरण्ड० प्रस्तावना पृ० ६०। २ देखो इनका परिचय न्यायकु० प्र० भाग के सम्पादकीयमें।

३ पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि-"भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमें प्रशस्तिका 'श्रीपद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं। वहीं की नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति संवत् १४८९ तथा दूसरी संवत् १७९५ की लिखी हुई है।" वीरवाणीविलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि-"प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियोंमें शकसंवत् नहीं हैं।" सोलापुरकी प्रतिमें "श्रीभोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नहीं है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जानेवाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोध" श्लोककी व्याख्या नहीं है। इन्दौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्तिश्लोक हैं।

देवराज्ये' प्रशस्तिवाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तारसा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आंखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई। जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्रीभोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२–यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आं० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई०९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३–सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४–भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषणा नामकी वृत्ति थी[1]। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण इनका समय

---

१ देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बाद ही होना चाहिए।

५-आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६-आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना (पृ० ३९) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचनाकाल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणकर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९-श्रवणबेलगोलाके लेख नं० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है–

---

१ देखो महापुराणकी प्रस्तावना।

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके ।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान् ।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥"

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं । धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है । उसका सारांश यह है-"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धान्तवारांनिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया । इनके श्रावक शिष्य थे-सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव । माघनन्दिके शिष्य हुए-गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि । इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी । उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारि हिरिय भंडारी, अभिनवगङ्गदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की । देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख नं० ३९ है । इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है । और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरुभक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई । देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढी बाद हुए हैं । अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००-१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई० १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा । उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है-कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं । उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे । शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं । इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है ।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अंकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०–वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरण पर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोंसे प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं–

१–ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A.) में लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीकाटिप्पण (पृ० २१,७६) में तथा माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश की टीका (पृ० १४) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके

* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७।

विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२–रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार *ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचना काल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारके खंडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि–"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।" इसी तरह समाधितन्त्र टीका (पृ० १५) में लिखा है कि–"यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।" इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३–वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था। ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन-प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया हैं। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४–जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पंचवस्तुप्रक्रिया बनाई है[1]। श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११ ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत

* रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

१ देखो–इसी प्रस्तावनाका 'श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' अंश, पृ० ४२।

शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रन्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हें किसी टीका टिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है*।

§ ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ–

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक। उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोंका परिचय न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका

---

* प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथमसंस्करणके सम्पादक पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने उक्त संस्करण के उपोद्घातमें श्रीभोजदेवराज्ये प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओंका प्रमेयकमलमार्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नहीं है; प्रमेयकमलमार्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं। पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नहीं हैं। पहिली गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वीं) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता। अवश्य ही इन्हें नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है। अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता।

है। यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास); प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) और गद्यकथाकोश का परिचय दिया जाता है। महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं। इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते है–

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है* । शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं–

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपित ॥
†सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥"

जैनसिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र हैं। उसमें भी ये श्लोक हैं। उनमें 'सुखि...' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रमेन्दवे' पाठ है। यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है–

---

* न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५।

† इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे "सुखि" इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है। वह श्लोक यह है–

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥"

थोड़ी सी सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका 'न्यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ब्र० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है।

१-इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं*।

२-सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रभेन्दुर्जिनः' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३-प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता-

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः॥"

४-शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोंका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५-इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा-

"एवंभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः। महतारभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥ महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनःसमाधानमाख्यायते। विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनःसमाधि···असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव···"

६-प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है।

---

* मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की कापी है (नं० A. 605)। उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक हैं-

"प्रणम्य जयिनः प्राप्तविश्वव्याकरणश्रियः। शब्दानुशासनस्येयं वृत्तेर्विवरणोद्यमः॥ अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाश्रिताः। न्यासा न्यस्ताः कृताः टीकाः पारं पारायणान्ययुः॥ तत्र वृत्ता (स्या) दावयं मंगलश्लोकः श्रीवीरममृतमित्यादि।"

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।

यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७-प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्रायः उल्लेख करते हैं। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रों के उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८-शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हें शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर-श्रवणवेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका दुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति संवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पंक्तियाँ और एक पंक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं।
मंगलाचरण-

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहरं निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम्॥ १॥
सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे (?)
...तदुक्त कृतशिक्ष (?) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः॥३॥

शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्;
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गतः ।
तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,
सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह–लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य…"

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा–

"सिद्धिरनेकान्तात्–प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थाधिकार आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः"–महावृत्ति पृ० २।

"द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य (?) विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रग्राह्यौ(ह्याः) परमार्थतो ये प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयितेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येषोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह–अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः"–शब्दाम्भोजभास्कर पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता हैं कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है–

"नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥"

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें "इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः" इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक है–

"इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः॥ श्रीवर्धमानाय नमः॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो हठात्।
अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान्॥

सार्वः सन्ततसन्निसन्धिनियतः पूर्वापरानुक्रमः ।
शब्दाम्भोजदिवाकरोऽस्तु सहसा नः श्रेयसे यं च वै ॥
नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपूज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत् १९८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्लपक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीर संवत् २४४९ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक पालम (सूवा देहली)"

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं–एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महावृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिस पर सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है । पं० नाथूरामजी प्रेमीने[1] अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है । प्रभाचन्द्रने इसी अभयनन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दाम्भोजभास्कर[2] नामका महान्यास बनाया है ।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है–

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।"

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३२९) में प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ देखनेका अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं–"एतच्च प्रमेयकमलमार्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह द्रष्टव्यम् ।"

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है । इसमें विधिविचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे

---

१ देखो–'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १ अंक २ ।

२ पंडित नाथूलाल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दाम्भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं । उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही समान है । पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारकलके मठमें भी इसकी प्रति है । इस प्रति में भी तीन अध्यायका न्यास हैं । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं । हो सकता है कि यह प्रभाचन्द्रकी अन्तिमकृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

उद्धृत किया है। पृ० ९१ में 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है। इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली, हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है।

प्रवचनसारसरोजभास्कर–यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका उदय किया हो तो कोई अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। (प्रमेय) कमलमार्त्तण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही (प्रवचनसार) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्ण प्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है–

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तियां तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ–

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।
वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।
वक्ष्ये सुखाववोधं निर्वाणपदं प्रणम्याप्तम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह॥ छ॥ एस सुरासुर···।"

अन्त–"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः॥छ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्य(र्णि)मायां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थसंख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि॥ १७४६॥"

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख–"इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे···" है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं। अवतरण–(गा० २।१०) "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" (गा० २।२८) "स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः" इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक का तथा प्रथम किसी बौद्ध

ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने–

(गा० २।१३) "यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति; यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन न तं तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हवदि पुणो अण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बन्धात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्।" (गा० २।१६) "...तथाहि–द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति। गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपे गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एष हि अतद्भावः।" इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है। इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं। जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है। हाँ, जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त भी हैं। इस टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका संक्षेपसे खुलासा करना। परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने संक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र' के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्ताका समय १४ वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है। परन्तु यह संभावना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही। आ० जयसेन अपनी टीका में (पृ० २९) केवलिकवलाहारके खंडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि–"अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते।" सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह संक्षिप्त पर विशद टीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है।

गद्यकथाकोश–यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है। इसकी प्रतिमें ८९ वीं कथाके बाद "श्रीजयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति है। इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा पूरा सादृश्य है। इसका मंगलश्लोक यह है–

"प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम्।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः॥"

८९ वीं कथाके अनन्तर "जयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखीं हैं। और अन्तमें "सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः" श्लोक तथा "इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थसमाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थसमाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं–तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दा-

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२२—

"यैराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधनां निर्मलाम्।
प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवर्गप्रदा (?)।
तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता।
स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि॥ १॥
सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणां सुरेन्द्रदन्तीव विराजतेऽसौ॥ २॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः।"

२ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

म्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

---

१ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है; जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्यप्रमाण हैं कि-"प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० ९५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानतः वि० की १३ वीं शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानतः वि० सं० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती।" इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि-जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी ही हों तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योंका उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नहीं मालूम होती। वसुनन्दिकी 'पडिगहमुच्चट्ठाणं' गाथा स्वयं उन्हीं की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अध्रुवाशरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्तं च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं-

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"-रत्नक० टी० पृ० ६। "यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।"-समाधितन्त्रटी० पृ० १५।

इन दोनो अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करने पर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिध्यति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"-शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवालीं अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है। इति।

टीका, समाधितन्त्रटीका क्रियाकलापटीका*, आत्मानुशासनतिलक† आदि ग्रन्थोंकी

---

* क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मंगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल–"जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥"
प्रशस्ति–"वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभुः
संसृद्धर्तिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषकः ।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः
तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः ॥ १ ॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीनां कुतो प्योपाताः (?)
प्रलये तु···रमलस्तेषां महादर्शितः ।
श्रीमद्गौतमनाभिभिर्गणधरैर्लोकत्रयोद्द्योतकैः, सद्यक्त (?)
सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जातः प्रभाचन्द्रतः ॥ २ ॥
यः (यत्) सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितन्न दोषमलिनं न श्वासरुद्ध (रुद्ध) क्रमम् ।
शान्तामर्थविषयैः (मर्पविषैः) समं पशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णतः,
तद्वत् सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ ३ ॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दिसैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि सैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मंगल और प्रशस्ति इस प्रकार है–

मंगल–"वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥"

प्रशस्ति–"मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलम्।
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः ।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः ।
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥ १ ॥

इतिश्री आत्मानुशासन(नं) सतिलक(कं) प्रभाचन्द्राचार्य-
विरचित(तं) सम्पूर्णम्।"

भी प्रभाचन्द्रकृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

फाल्गुनशुक्ल द्वादशी
आष्टाह्निकपर्व
वीर नि० सं० २४६७

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.
स्याद्वाद विद्यालय काशी.

परीक्षामुखसूत्राणां तुलना ।

न्यायप्र०—न्यायप्रवेशः [बड़ौदा सीरिज़]
न्यायबि०—न्यायबिन्दुः [चौखम्बा सीरिज़]
न्यायविनि०—न्यायविनिश्चयः [अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गतः सिंघी सीरिज़ कलकत्ता]
न्यायसा०—न्यायसारः [एशियाटिक सो० कलकत्ता]
न्याया०—न्यायावतारः [श्वे० कान्फ्रेंस बम्बई]
प्रमाणनय०—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः [यशो० काशी]
प्रमाणप०—प्रमाणपरीक्षा [जैनसिद्धान्तप्र० कलकत्ता]
प्रमाणमी०—प्रमाणमीमांसा [सिंघी जैन सीरिज़ कलकत्ता]
प्रमाणसं०—प्रमाणसंग्रहः [सिंघी जैन सीरिज़]
लघी० स्वत्रृ०—लघीयस्त्रयं स्ववृत्तियुतम् [सिंघी जैन सीरिज़ कलकत्ता]

परीक्षामु०
१।१.—प्रमाणनय० १।२. प्रमाणमी० १।१।२.
१।२.—लघी० पृ० २१ पं० ६. प्रमाणनय० १।३.
१।३.—प्रमाणनय० १।६.
१।६,७,८.—प्रमाणनय० १।१६.
१।११.—प्रमाणनय० १।१७.
१।१३.—प्रमाणनय० १।२०. प्रमाणमी० १।१।८.
२।१,२.—लघी० का० ३. प्रमाणनय० २।१. प्रमाणमी० १।१।९,१०.
२।३.—न्याया० का० ४. लघी० का० ३. प्रमाणनय० २।३. प्रमाणमी० १।१।१३.
२।४.—लघी० का० ४. प्रमाणनय० २।३. प्रमाणमी० १।१।१४.
२।५.—लघी० स्व० का० ६१. प्रमाणमी० १।१।२०.
२।६.—लघी० स्ववृ० का० ५५. प्रमाणमी० १।१।२५.
२।७.—लघी० का० ५५.
२।११.—न्याया० का० २७. लघी० स्ववृ० का० ४. प्रमाणनय० २।२४. प्रमाणमी० १।१।१५.
३।१.—न्याया० का० ३१. लघी० का० ३. प्रमाणनय० ३।१. प्रमाणमी० १।२।१.
३।२.—लघी० का० १०. प्रमाणनय० ३।१. प्रमाणमी० १।२।२.
३।३,४.—प्रमाणप० पृ० ६९. प्रमाणनय० ३।१,२. प्रमाणमी० १।२।३.
३।५-१०.—प्रमाणप० पृ० ६९. प्रमाणनय० ३।४. प्रमाणमी० १।२।४.
३।११,१२,१३.—प्रमाणसं का० १२. प्रमाणप० पृ० ७०. प्रमाणनय० ३।५,६. प्रमाणमी० १।२।५.

३।१४.—न्याया० का० ५. लघी० का० १२. न्यायविनि० का० १७०. प्रमाणप० पृ० ७०. प्रमाणमी० १।२।७.

३।१५.—न्यायविनि० का० २६९. प्रमाणसं० का० २१. प्रमाणप० पृ० ७०. प्रमाणनय० ३।९.

३।१६.—प्रमाणमी० १।२।१०.

३।१९.—न्यायविनि० का० ३२९. प्रमाणमी० १।२।११.

३।२०.—न्यायप्र० पृ० १ पं० ७. न्यायबि० पृ० ७९ पं० ३,१२. न्यायविनि० का० १७२. प्रमाणसं० का० २०. प्रमाणनय० ३।१२. प्रमाणमी० १।२।१३.

३।२१.—प्रमाणनय० ३।१३.

३।२२.—प्रमाणनय० ३।१४,१५.

३।२५.—प्रमाणमी० १।२।१५.

३।२७.—न्यायप्र० पृ० १ पं० ६. प्रमाणनय० ३।१८. प्रमाणमी० १।२।१६.

३।२८-३०.—प्रमाणनय० ३।१९,२०. प्रमाणमी० १।२।१७.

३।३२.—प्रमाणनय० ३।१६.

३।३४,३५.—प्रमाणनय० ३।२२. प्रमाणमी० २।१।८.

३।३६.—प्रमाणनय० ३।२३.

३।३७.—न्यायबि० पृ० ११७ पं० ११. प्रमाणनय० ३।२६. प्रमाणमी० १।२।१८.

३।३८.—प्रमाणनय० ३।३१.

३।३९.—प्रमाणनय० ३।३२.

३।४०.—प्रमाणनय० ३।३३.

३।४१.—प्रमाणनय० ३।३४.

३।४४.—प्रमाणनय० ३।३७.

३।४५.—प्रमाणनय० ३।३८.

३।४६.—प्रमाणनय० ३।३९. प्रमाणमी० २।१।१०.

३।४७.—न्यायप्र० पृ० १ पं० १५. प्रमाणनय० ३।४१. प्रमाणमी० १।२।२१.

३।४८.—न्यायप्र० पृ० १ पं० १६. न्याया० का० १८. प्रमाणनय० ३।४२,४३. प्रमाणमी० १।२।२२.

३।४९.—न्यायप्र० पृ० २ पं० २. न्याया० का० १९. प्रमाणनय० ३।४४,४५. प्रमाणमी० १।२।२३.

४।५०.—प्रमाणनय० ३।४६,४७. प्रमाणमी० २।१।१४.

३।५१.—प्रमाणनय० ३।४८,४९. प्रमाणमी० २।१।१५.

३।५२,५३.—न्यायबि० २।१,२. न्याया० का० १०. न्यायसा० पृ० ५ पं० १०. प्रमाणनय० ३।७. प्रमाणमी० १।२।८.

३।५४.—न्यायबि० २।३. प्रमाणनय० ३।८. प्रमाणमी० १।२।९.

३।५५,५६.—न्यायबि० ३।१,२. न्याया० का० १०,१३. प्रमाणनय० ३।२१. प्रमाणमी० २।१।१,२.

३।५७.—प्रमाणनय० ३।५१.

३।५८.—प्रमाणनय० ३।५२.

३।५९.—प्रमाणनय० ३।६४,६५.

३।६०.—प्रमाणनय० ३।६६.

३।६१.—प्रमाणनय० ३।६७.

३।६२.—प्रमाणनय० ३।६८.

३।६३.—प्रमाणनय० ३।६९,७०.

३।६४.—प्रमाणनय० ३।७२.

३।६५.—प्रमाणनय० ३।७३.

३।६७.—प्रमाणप० पृ० ७२.

३।६८.—लघी० का० १४. प्रमाणप० पृ० ७३. प्रमाणनय० ३।७६.

३।६९.—प्रमाणप० पृ० ७३. प्रमाणनय० ३।७७.

३।७०.—प्रमाणनय० ३।७८.

३।७१.—प्रमाणनय० ३।८२.

३।७२,७३.—न्यायवि० पृ० ४९,५०. प्रमाणप० पृ० ७३.

३।७५.—प्रमाणप० पृ० ७३. प्रमाणनय० ३।८६.

३।७६.—प्रमाणप० पृ० ७३. प्रमाणनय० ३।८७.

३।७८.—प्रमाणनय० ३।९०,९१.

३।७९.—प्रमाणनय० ३।९२.

३।८०.—न्यायवि० पृ० ४९. प्रमाणप० पृ० ७४. प्रमाणनय० ३।९३.

३।८१.—न्यायवि० पृ० ४८. प्रमाणनय० ३।९४.

३।८३.—न्यायवि० पृ० ५३. प्रमाणप० पृ० ७४. प्रमाणनय० ३।९६.

३।८४.—प्रमाणप० पृ० ७४. प्रमाणनय० ३।९७.

३।८७.—प्रमाणनय० ३।१०१.

३।८८.—प्रमाणनय० ३।१०२.

३।८९.—प्रमाणनय० ३।१०३.

३।९४,९५.—न्यायवि० पृ० ६२-६३. न्याया० का० १७. प्रमाणनय० ३।२७-३०. प्रमाणमी० २।१।३-६.

३।९८.—न्याया० का० १४. प्रमाणमी० २।१।७.

३।९९.—प्रमाणनय० ४।१.

३।१००.—प्रमाणनय० ४।११.

३।१०१.—प्रमाणनय० ४।३.

४।१.—न्याया० श्लो० २९. लघी० का० ७. प्रमाणप० पृ० ७९. प्रमाणनय० ५।१. प्रमाणमी० १।१।३०.

४।२.—प्रमाणनय० ५।२. प्रमाणमी० १।१।३३.

४।३.—प्रमाणनय० ५।३.

४।४.—प्रमाणनय० ५।४.

४।५.—प्रमाणनय० ५।५.

४।८.—प्रमाणनय० ५।८.

४।९.—लघी० स्ववृ० का० ६७.

५।१.—आप्तमी० का० १०२. न्याया० का० २८. न्यायविनि० का० ४७६. प्रमाणप० पृ० ७९. प्रमाणनय० ६।३-५. प्रमाणमी० १।१।३८,४०.

५।३.—प्रमाणनय० ६।१०. प्रमाणमी० १।१।४१.

६।१.—प्रमाणनय० ६।२३.

६।२.—प्रमाणनय० ६।२४.

६।३,४.—प्रमाणनय० ६।२५,२६.

६।६.—प्रमाणनय० ६।२७,२९.

६।८.—प्रमाणनय० ६।३१.

६।९.—प्रमाणनय० ६।३३,३४.

६।१०.—प्रमाणनय० ६।३५.

६।११.—प्रमाणनय० ६।३७.

६।१२.—न्यायप्र० पृ० २ पं० १३. प्रमाणनय० ६।३८.

६।१३.—प्रमाणनय० ६।४६.

६।१४.—न्यायप्र० पृ० ३ पं० ४.

६।१५.—न्यायप्र० पृ० २ न्यायबि० पृ० ८४,८५. प्रमाणनय० ६।४०. प्रमाणमी० १।२।१४.

६।१६.—न्यायप्र० पृ० २ पं० १७. न्यायबि० पृ० ८४. प्रमाणनय० ६।४१.

६।१७.—न्यायप्र० पृ० २ पं १८. न्यायबि० पृ० ८४. प्रमाणनय० ६।४२.

६।१८.—न्यायप्र० पृ० २ पं० १९. प्रमाणनय० ६।४३.

६।१९.—न्यायप्र० पृ० २ पं० २०. प्रमाणनय० ६।४४.

६।२०.—न्यायप्र० पृ० २ पं० २१. प्रमाणनय० ६।४५.

६।२१.—न्यायप्र० पृ० ३ पं० ८. न्याया० का० २२. न्यायविनि० का० ३६६. प्रमाणनय० ६।४७. प्रमाणमी० २।१।१६.

६।२२.—न्याया० का० २३. प्रमाणनय० ६।४८. प्रमाणमी० २।१।१७.

६।२३.—न्यायप्र० पृ० ३ पं० १२. न्यायबि० पृ० ८९. न्यायविनि० का० ३६५. प्रमाणनय० ६।५०.

६।२५.—न्यायप्र० पृ० ३ पं० १४. न्यायबि० पृ० ९१.

६।२९.—न्यायप्र० पृ० ५ पं० ६. न्याया० का० २३. प्रमाणनय० ६।५२. प्रमाणमी० २।१।२०.

६।३०.—न्यायबि० पृ० १०५. न्याया० का० २३. प्रमाणनय० ६।५४. प्रमाणमी० २।१।२१.

६।३१.—प्रमाणनय० ६।५६.

६।३३.—प्रमाणनय० ६।५७.

६।३५.—न्यायविनि० का० ३७०.

६।४०.—न्यायप्र० पृ० ५ पं. २०. न्यायबि० पृ० ११९. न्याया० का० २४. न्यायविनि० का० ३८०. प्रमाणनय० ६।५८. प्रमाणमी० २।१।२२.

६।४१.—न्यायप्र० पृ० ६ पं० १. न्यायबि० पृ० १२२. प्रमाणनय० ६।६०–६२. प्रमाणमी० २।१।२३.

६।४२.—न्यायप्र० पृ० ६. पं० १२. न्यायबि० पृ० १२४. प्रमाणनय० ६।६८. प्रमाणमी० २।१।२६.

६।४४.—न्यायप्र० पृ० ६ पं० १४. न्यायबि० पृ० १२५. न्याया० का० २५. प्रमाणनय० ६।६९. प्रमाणमी० २।१।२४.

६।४५.—न्यायप्र० पृ० ७ पं० ७. न्यायबि० पृ० १३०. प्रमाणनय० ६।७९. प्रमाणमी० २।१।२६.

६।५१.—प्रमाणनय० ६।८३.

६।५२.—प्रमाणनय० ६।८४.

६।५५.—प्रमाणनय० ६।८५.

६।६१.—प्रमाणनय० ६।८६.

६।६६.—प्रमाणनय० ६।८७.

प्रमेयकमलमार्त्तण्डस्य विषयानुक्रमः ।

इति प्रथमः परिच्छेदः।

4

इति द्वितीयः परिच्छेदः ।

अथ तृतीयः परिच्छेदः (उत्तरार्धम्)

इति तृतीयः परिच्छेदः ।

विषयाः पृ०

परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचारः ५३७-४०

यौगाभिमत-अवयविद्रव्यस्य निरासः ५४०-५४७

इति चतुर्थः परिच्छेदः ।

इति पञ्चमः परिच्छेदः।

इति षष्ठः परिच्छेदः ।

श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित-परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः ।

श्रीस्याद्वादविद्यायै नमः ।

सिद्धेर्धाम[1] महारिमोहहननं कीर्त्तेः[2] परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयसुखं संशीतिविध्वंसनम् ।
सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दुभवनं[3] सिद्धं प्रमालक्षणम्,
सन्तश्चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम्[4] ॥१॥
शास्त्रं[5] करोमि वरमल्पतरावबोधो[6]
माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात्[7] ।
अर्थं[8] न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयाँ-
ल्लोकस्य[9] भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्षः ॥ २ ॥
ये[10] नूनं प्रथयन्ति नोऽसमगुणा[11] मोहादवज्ञां जनाः,
ते तिष्ठन्तु न तान्प्रति प्रयतितैः[12] प्रारभ्यते प्रक्रमः ।
सन्तः सन्ति गुणानुरागमनसो ये धीधनास्तान्प्रति,
प्रायः[13] शास्त्र[14]कृतो यदत्र[15] हृदये वृत्तं[16] तदाख्यायते ॥ ३ ॥

---

१ भव्यसिद्धिं प्रति कारणं भवति भगवानत आश्रयत्वेनाभिधीयते । २ वाण्याः । ३ आश्रयम् । ४ शास्त्रादौ देवशास्त्रगुरवो नमस्करणीया अत एव देवनमस्कृतौ श्रीवर्द्धमानं विशेष्यं कृत्वा हेतुहेतुमद्भावतयाऽन्वयानुसारेणान्यानि विशेषणानि योजयेत्, ततः शास्त्रनमस्कृतौ प्रमालक्षणं विशेष्यं कृत्वा, गुरुनमस्कृतौ जिनं विशेष्यं कृत्वा, चान्यानि विशेषणानि योजयेत् । ५ इष्टदेवतामभिष्टुत्य शास्त्रं करोमीति प्रतिज्ञां कुर्वन्ति सूरयः । ६ अपि । ७ माहात्म्यात् । ८ दृष्टिगोचरं । ९ पश्यतः (इति शेषः) । १० यद्यप्ययं प्रक्रमो भवद्भिः क्रियते, तथापि भवत्कृते प्रक्रमे केचन जना अवज्ञां विदधानाः सन्तीत्याह । ११ वक्रगुणाः पुरुषाः । १२ औणादिकोऽयमिकारान्तस्ततस्तस् । प्रयत्नादित्यर्थः । १३ यद्यप्ययं प्रक्रमः प्रारभ्यते-तथापि स्वरुचिविरचितत्वात्सतामनादरणीयत्वं न स्यादित्याह प्राय इति बाहुल्येनेत्यर्थः । १४ माणिक्यनन्दिभट्टारकस्य । १५ परीक्षामुखालङ्कारे । १६ प्रवृत्तं ।

त्यजति[1] न विदधानः कार्यमुद्विज्य[2] धीमान्

खलजनपरिवृत्तेः[3] स्पर्धते किन्तु तेन ।

किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोधं प्रबुद्ध-

स्तदपहतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह ॥ ४ ॥

अजडमदोषं[4] दृष्ट्वा मित्रं सुश्रीकमुद्यतमतुष्यत्[5] ।

विपरीतबन्धुसङ्गतिमुद्गिरति हि कुवलयं किं न ॥ ५ ॥

श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्[11]परिज्ञानानुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं[12] प्रकरणमिदमाचार्यः[13] प्राह । तत्र[14] प्रकरणस्य सम्बन्धा[15]भिधेयरहितत्वाशङ्कापनोदार्थं तदभिधेयस्य चाऽप्रयोजनवत्त्वपरिहारानभिमतप्रयोजनवत्त्वव्युदासाशक्यानुष्ठानत्वनिराकरणदक्षमक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसङ्ग्रहसमर्थं 'प्रमाण' इत्यादिश्लोकमाह—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

सम्बन्धा[16]भिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनवन्ति हि[17] शास्त्राणि प्रेक्षावद्भिरादियन्ते नेतराणि-सम्बन्धाभिधेयरहितस्योन्मत्तादिवाक्यवत्; तद्वतोऽप्यप्रयोजनवतः काकदन्तपरीक्षावत्[18]; अनभिमतप्रयोजनवतो वा मातृविवाहोपदेशवत्; अशक्यानुष्ठानस्य वा सर्वज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत् तैरनादरणीयत्वात् । तदुक्तम्[19]—

१ यद्यपि सतः प्रक्रमः प्रारभ्यते-तथापि दुष्टा दुष्टत्वं न मुञ्चेयुस्तत्तस्यायं प्रक्रमो नारब्धव्य इत्युक्ते त्यजतीत्याह । २ उद्वेगं प्राप्य । ३ व्यापारात् । ४ मित्रं सूर्यं, पक्षे प्रभाचन्द्रम् । ५ तुष्टिमगच्छत् । ६ चन्द्र-। ७ सूचयति । ८ कुमुदं, पक्षे भूमण्डलं (मिथ्यादृष्टिसमूहम्) । ९ मणिवत् । १० संगृह्य । ११ तयोरकलङ्कार्थाव्युत्पन्नयोः यौ परिज्ञानानुग्रहौ तयोर्या इच्छा तया प्रेरितः । १२ दक्षम् । १३ "शास्त्रैकदेशसम्बन्धं शास्त्रकार्यान्तरस्थितम् । आहुः प्रकरणं नाम शास्त्रभेदं विपश्चितः" ॥ शास्त्रैकदेशेत्यादिविशेषणात् साकल्येन प्रतिपादकभाष्यादेः प्रकरणत्वं परास्तम् । शास्त्रकार्यान्तरं तु वैशद्यं लघुत्वं च । तच्चोपोद्घातप्रतिपादनभेदाद्द्विविधम् । तत्र प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य (आलोच्य) प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः । प्रतिपाद्यमर्थं बहिरेव परिज्ञाय पश्चात्तत्सिद्धये तद्धेतुवर्णनं प्रतिपादनम् । सकलप्रतिपादकशास्त्रकार्याद् (प्रकृतशास्त्रकार्याद्) अन्यत्कार्यं कार्यान्तरम् । १४ शास्त्रावतारे सति । १५ प्रस्तुतस्यार्थस्य अनुरोधेनोत्तरोत्तरस्य विधानं सम्बन्धः । १६ पूर्वोक्तलक्षणः सम्बन्धः । १७ यस्मात् । १८ "काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याण्डं कियत्पलम् । गर्दभे कति रोमाणीत्येवं मूर्खविचारणा" । १९ ज्ञाताभिधेयमेवेत्यवधारणं समर्थयमानः प्राह ।

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोता श्रोतुं प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ १ ॥
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७]

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥ २ ॥
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १२]

अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः ।
शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ ३ ॥
[ ]

शास्त्रस्य तु फले ज्ञाते तत्प्राप्त्याशावशीकृताः ।
प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
[ ]

यावत् प्रयोजनेनास्यसम्बन्धो नाभिधीयते ।
असम्बद्धप्रलापित्वाद्भवेत्तावदसङ्गतिः ॥ ५ ॥
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २०]

तस्माद् व्याख्याङ्गमिच्छद्भिः सहेतुः सप्रयोजनः ।
शास्त्रावतारसम्बन्धोवाच्यो नान्योऽस्ति निष्फलः ॥ ६ ॥" इति ।
[मीमांसाश्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० २५]

तत्रास्य प्रकरणस्य प्रमाणतदाभासयोर्लक्षणमभिधेयम् । अनेन च सहास्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः । शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनं तु साक्षात्तल्लक्षणव्युत्पत्तिरेव-'इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म' इत्यनेनाऽभिधीयते । 'प्रमाणादर्थसंसिद्धिः' इत्यादिकं तु परम्परयेति समुदायार्थः । अथेदानीं व्युत्पत्तिद्वारेणाऽवयवार्थोऽभिधीयते । अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृकरणभावसाधनः—द्रव्यपर्याययोर्भेदाऽभेदात्मकत्वात् स्वातन्त्र्यसाधकतमत्वादिविवक्षापेक्षया

---

१ यदाद्रियते । २ अर्थशब्देनाभिधेयं प्रयोजनं च । ३ शास्त्रम् (इति शेषः) । ४ प्रयुज्यते प्रतिपाद्यते इति प्रयोजनमभिधेयं प्रयुक्तिः, प्रयोजनं फलं ताभ्यां सह वर्त्तते । ५ ज्ञातफलमेवेति समर्थयते । ६ आदौ । ७ फलम् । ८ निरूपितेपि फले प्रवर्तनं न भविष्यतीति शङ्कायामाह । ९ कारणेन । १० सिद्धसम्बन्धमेव पदं समर्थयमानोऽग्रेतनश्लोके ब्रूते । ११ अभिधेयेन । १२ परस्परसम्बन्धरहितं शास्त्रम् । १३ सम्बन्धादित्रयम् । १४ साभिधेयः । १५ सफलः । १६ साभिधेयः सप्रयोजनश्च सम्बन्धो वाच्यः । १७ सम्बन्धादित्रयरहितः । १८ सम्बन्धादित्रये वक्तव्ये आदरणीयत्वे सति शास्त्रप्रारम्भकाले । १९ प्रमाणेतरलक्षणस्य व्युत्पत्तिमन्तरेणापवर्गादेः प्राप्तिर्न स्यादत एव साक्षात्त्वम् । २० श्लोकस्य । २१ श्लोके । २२ आत्मद्रव्यम् । २३ ज्ञानपर्यायः । २४ साक्षाद् व्यापारे । २५ मात्र ।

तद्भावाऽविरोधात्। तत्र क्षयोपशमविशेषवशात्-'स्वपरप्रमेयस्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानाति' इति प्रमाणमात्मा, स्वपरग्रहणपरिणतस्यापरतन्त्रस्याऽऽत्मन एव हि कर्तृसाधनप्रमाणशब्देनाभिधानं[1]-स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वात्-स्वपरप्रकाशात्मकस्य प्रदीपादेः प्रकाशाभिधानवत्[2]। साधकतमत्वादि[3]विवक्षायां तु—प्रमीयते येन तत्प्रमाणं प्रमितिमात्रं वा-प्रतिबन्धापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य[4] प्राधान्येनाश्रयणात् प्रदीपादेः प्रभाभारात्मकप्रकाशवत्[5]।

भेदाभेदयोः[6] परस्परपरिहारेणावस्थानादन्यतरस्यैव[7] वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तम्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्; बाधकप्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्, न चात्र सोऽस्ति-सकलभावेषू[8]भयात्मकत्वग्राहकत्वेनैवाखिलाऽस्खलत्प्रत्यय[9]प्रतीतेः। विरो[10]धो बाधकः; इत्यप्यसमीचीनम्; उपलम्भसम्भवात्। विरोधो[11] ह्यनुपलम्भ[12]साध्यो यथा-तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गस्य[13], अन्यथा स्वरूपेणापि तद्वतो[14] विरोधः स्यात्। न चानयो[15]रेकत्र वस्तुन्यनुपलम्भोस्ति-अभेदमात्रस्य भेदमात्रस्य वेतर[16]निरपेक्षस्य वस्तुन्यप्रतीतेः। कल्पयता[17]प्यभेदमात्रं भेदमात्रं वा प्रतीतिरवश्याऽभ्युपगमनीया-तन्निबन्धनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः। सा चेदुभयात्मन्यप्यस्ति किं तत्र स्वसिद्धान्तविषमग्रहनिबन्धनप्रद्वेषेण[18]-अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गादित्यलमतिप्रसङ्गेन, अनेकान्तसिद्धिप्रक्रमे विस्तरेणोपक्रमात्[19]।

वक्ष्यमाण[20]लक्षणलक्षितप्रमाणभेदमनभिप्रेत्या[21]नन्तर[22]सकलप्रमाणविशेषसाधारणप्रमाणलक्षणपुरःसरः 'प्रमाणाद्' इत्येकवचननिर्देशः कृतः। का[23] हेतौ। अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च। उपेक्षणीयस्या[24]पि परित्यजनीयत्वाद्धेयत्वम्[25]; उपादानक्रियां प्रत्यकर्म[26]भावान्नोपादेयत्वम्, हानक्रियां प्रति विपर्ययात्[27] तत्त्व[28]म्। तथा च लोको वदति 'अहमनेनो[29]पेक्षणीयत्वेन परित्यक्तः' इति।

---

१ कथनं। २ कर्तृसाधनोऽयम्। ३ भाव। ४ सम्बन्धिनः। ५ करणे भावे चात्र घञ्। ६ परः शङ्कते। ७ भेदस्याऽभेदस्य वा। ८ पदार्थेषु। ९ उपलम्भो यत्र भेदस्तत्राभेद इति। १० अभावः। ११ अभावोऽर्थधर्मोयम्। १२ ज्ञानधर्मोऽयम्। १३ विरोधः। १४ पदार्थस्य। १५ भावाभावयोः। १६ भेदस्याभेदस्य वा। १७ प्रतिवादिना। १८ अन्यथेति शेषः। १९ प्रारम्भात्। २० विशदं प्रत्यक्षमविशदं परोक्षमिति। २१ अविवक्षितत्वात्। २२ स्वापूर्वेत्यादि। २३ पञ्चमी। २४ अर्थस्य। २५ हेयत्वेऽर्थेऽन्तर्भावादित्यर्थः। २६ ज्ञानविषयभूतं वस्तु कर्माभिधीयते मध्यस्थभावेन स्थितत्वात्कर्मभावं न प्राप्त इत्यर्थः। २७ कर्मभावात्। २८ हेयत्वम्। २९ पुरुषेण।

सिद्धिरसतः[1] प्रादुर्भावोऽभिलषित[2]प्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्चोच्यते । तत्र[3] ज्ञा[4]पक[5]प्र[6]करणाद् असतःप्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते । समीचीना सिद्धिः संसिद्धिरर्थस्य संसिद्धिः 'अर्थसंसिद्धिः' इति । अनेन कारणान्तरा[7]हितविपर्यासादिज्ञाननिबन्धनाऽर्थसिद्धिर्निरस्ता । जातिप्रकृत्या[8]दिभेदेनोपकारकार्थसिद्धिस्तु संगृहीता; तथाहि—केवल[9]निम्बलवणरसादावस्मदादीनां द्वेषबुद्धिविषये निम्बकीटोष्ट्रादीनां जात्या[10]ऽभिलाषबुद्धिरुपजायते अस्मदाद्यभिलाषविषये चन्दनादौ तु तेषां द्वेषः, तथा पित्तप्रकृतेरुष्णस्पर्शे द्वेषो-वातप्रकृतेरभिलाषः—शीतस्पर्शे तु वातप्रकृतेर्द्वेषो न पित्तप्रकृतेरिति । न चैतज्ज्ञानमसत्यमेव-हिता[11]ऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात् प्रसिद्धसत्यज्ञानवत् । हिताऽहितव्यवस्था चोपकारकत्वापकारकत्वाभ्यां प्रसिद्धेति । तदिव स्वपरप्रमेयस्वरूपप्रतिभासिप्रमाणमिवाभासत इति तदाभासम्[12]—सकलमतसम्मता[13]ऽवबुद्ध्यक्षणिकाद्येकान्ततत्त्वज्ञानं सन्निकर्षाऽविकल्पक[14]-ज्ञानाऽप्रत्यक्षज्ञानज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानाऽनाप्तप्रणीताऽऽगमा[15]ऽविनाभावविकललिङ्गनिबन्धना[16]ऽभिनिबोधा[17]दिकं[18] संशयविपर्यासानध्यवसायज्ञानं च, तस्माद् विपर्ययोऽभिलषितार्थस्य स्वर्गापवर्गादेरनवद्यतत्साधनस्य वैहिकसुखदुःखादिसाधनस्य वा सम्प्राप्तिज्ञप्तिलक्षणसमीचीनसिद्ध्यभावः । प्रमाणस्य प्रथमतोऽभिधानं[19] प्रधानत्वात् । न चैतदसिद्धम्; सम्यग्ज्ञानस्य निश्श्रेयसम्प्राप्तेः[20] सकलपुरुषार्थोपयोगित्वात्, निखिलप्रयासस्य प्रेक्षावतां तदर्थत्वात्, प्रमाणेतरविवेक[21]स्यापि तत्प्रसाध्यत्वाच्च । तदाभासस्य तूक्तप्रकाराऽसम्भवादप्राधान्यम् । 'इति[22]' हेत्वर्थे । पुरुषार्थसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनत्वादिति हेतोः 'तयोः' प्रमाणतदाभासयो'लक्ष्म' असाधारणस्वरूपं व्यक्ति[23]भेदेन[24] तज्ज्ञप्तिनिमित्तं लक्षणं

---

१ यथा कुलालाद्घटसिद्धिः । २ पदार्थ । ३ त्रिष्वर्थेषु मध्ये । ४ प्रमाणादर्थसंसिद्धिरिति । ५ षष्ठी । ६ ज्ञापकपक्षस्य प्रकरणात् प्रस्तावात् । ७ चक्षुरादिकारणादन्यत्कारणं काचकामलादिमिथ्यात्वादि वा कारणान्तरम् । ८ अवस्थाक्षेत्रकालादि वा । ९ अन्यरससंयोगरहित । १० उष्ट्रादिजात्या कृत्वा । ११ निम्बकीटकस्य निम्बः कटुकोऽपि हितत्वात् स एव रोचते । १२ वैनयिकवादिज्ञानम् । १३ सकलमतानि सम्मतानि यस्य स सकलमतसम्मतो विनयवादी तस्यावबुद्धिर्ज्ञानं तदाभासमित्यर्थः । १४ निर्विकल्पक । १५ अपौरुषेय । १६ अनुमान । १७ लिङ्गाभिमुखनियतस्य लिङ्गिनो बोधनं वा । १८ उपमानार्थापत्त्यभावप्रमाणानि । १९ घटते । २० मर्यादायां (काः पञ्चमी) । २१ भेदस्य । २२ 'हेतावेवंप्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये । अधिकारे समाप्तौ च इतिशब्दः प्रकीर्तितः' । २३ तदाभासेभ्यः । २४ व्यक्तिभेदेनाऽसाधारणत्वं स्वव्यक्त्यभेदेन साधारणत्वमिति स्याद्वादसिद्धिः ।

‘वक्ष्ये’[1] व्युत्पादनार्हत्वात्[2] तल्लक्षणस्य यथावत्तत्स्वरूपं प्रस्पष्टं कथयिष्ये । अनेन ग्रन्थकारस्य तद्व्युत्पादने स्वातन्त्र्यव्यापारोऽवसीयते-निखिललक्ष्यलक्षणभावावबोधा[3]ऽन्योपकारनियतचेतोवृत्तित्वात्तस्य ।

नन्[4]ु चेदं वक्ष्यमाणं प्रमाणेतरलक्षणं पूर्वशास्त्राप्रसिद्धम्, तद्विपरीतं वा? यदि पूर्वशास्त्राऽप्रसिद्धम्-तर्हि तद्व्युत्पादनप्रयासो नारम्भणीयः-स्वरुचिविरचितत्वेन सतामनादरणीयत्वात्, तत्प्रसिद्धं तु नितरामेतन्न व्युत्पादनीयं-पिष्टपेषणप्रसङ्गा[5]दित्याह-‘सिद्धमल्पम्’ । प्रथमविशेषणेन व्युत्पादन[6]वत्तल्लक्षणप्रणयने[7] स्वातन्त्र्यं परिहृतम् । तदेव आकलङ्क[8]मिदं पूर्वशास्त्रपरम्पराप्रमाण[9]प्रसिद्धं[10] लघूपायेन[11] प्रतिपाद्य प्रज्ञापरिपाकार्थं व्युत्पाद्यते-न स्वरुचिविरचितं-नापि-प्रमाणानुपपन्नं-परोपकारनियतचेतसो ग्रन्थकृतो विनेयविसंवादने[12] प्रयोजनाभावात् । तथाभूतं हि वदन् विसंवादकः[13] स्यात् । ‘अल्पम्’ इति विशेषणेन यदन्यत्र[14] अकलङ्कदेवैर्विस्तरेणोक्तं प्रमाणेतरलक्षणं-तदेवात्र[15] संक्षेपेण विनेयव्युत्पादनार्थमभिधीयत इति पुनरुक्तत्वनिरासः । विस्तरेणान्यत्रा[16]भिहितस्यात्र संक्षेपाभिधाने विस्तररुचिविनेयविदुषां नितरामनादरणीयत्वम् । को हि नाम विशेषव्युत्पत्त्यर्थी प्रेक्षावांस्तत्साधनाऽन्य[17]सद्भावे सत्यन्य[18]त्राऽतत्[19]साधने कृतादरो भवे[20]दित्याह[21]-‘लघीयसः’ । अतिशयेन लघवो हि लघीयांसः संक्षेपरुचय इत्यर्थः । कालशरीरपरिमाणकृतं तु लाघवं नेह गृह्यते-तस्य व्युत्पाद्यत्वव्यभिचारात्[22], क्वचित्तथाविधे व्युत्पादकस्याऽप्युपलम्भात् । तस्मादभि[23]प्रायकृतमिह लाघवं गृह्यते । येषां संक्षेपेण व्युत्पत्त्यभिप्रायो विनेयानां तान् प्रतीदमभिधीयते-प्रतिपादकस्य[24]

---

१ ब्रूञ् द्विकर्मकः । २ व्युत्पत्तिकरणार्हत्वात् । ३ भा कृत्वा (तृतीयान्तं तेन कृत्वेत्यर्थः) । ४ परः । ५ पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात् । ६ ईप् यथा-(व्युत्पादने यथा) । ७ कथने । ८ प्रमाणतदाभासलक्षणम् अकलङ्केन प्रोक्तमाकलङ्कम् । कलङ्केन दोषेण रहितं वा । ९ पूर्वशास्त्रपरम्परा च प्रमाणं चेति पूर्वशास्त्रपरम्पराप्रमाणे ताभ्यामित्यर्थः । १० परम्पराप्रमाणप्रसिद्धमिति वा पाठः । ११ संक्षिप्तशब्दरूपेण । १२ प्रतारणे । १३ प्रतारकः । १४ प्रमाणसंग्रहादौ । १५ परीक्षामुखे । १६ प्रमाणसंग्रहादौ । १७ प्रमाणसंग्रहादिसद्भावे । १८ परीक्षामुखे । १९ विशेषव्युत्पत्त्यसाधने । २० न कोऽपि । २१ तर्हि कान् प्रतीत्याशङ्कायामाह । २२ विमतो व्युत्पाद्यः कालकृतलाघवादित्युक्ते गर्भाऽष्टमवर्षादिजातज्ञानसम्पन्नेन व्यभिचारात् । वीतः प्रतिपाद्यः कायकृतलाघवादित्युक्ते अधीतशास्त्रेण कुब्जादिनाऽनेकान्तात् । तयोर्व्युत्पादकत्वादिति भावः । २३ बुद्धि । २४ गुरोः ।

प्रतिपाद्याशयवशवर्तित्वात्। 'अकथितम्' [पाणिनि सू० १।४।५१] इत्यनेन[2] कर्मसंज्ञायां सत्यांकर्मणीप्[3]।

नेनु[1] चेष्टदेवतानमस्कारकरणमन्तरेणैवोक्तप्रकाराऽऽदिश्लोकाभिधानमाचार्यस्याऽयुक्तम्। अविघ्नेनं शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रादौ प्रतीयन्ते; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; वाङ्नमस्काराऽकरणेपि कायमनोनमस्कारकरणात्। त्रिविधो हि नमस्कारो-मनोवाक्कायकारणभेदात्। दृश्यते चातिलघूपायेन विनेयव्युत्पादनमनसां धर्मकीर्त्यादीनामप्येवंविधा प्रवृत्तिः-वाङ्नमस्कारकरणमन्तरेणैव "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः" [न्यायवि० १।१] इत्यादिवाक्योपन्यासात्। यद्वा वाङ्नमस्कारोऽप्यनेनैवादिश्लोकेन कृतो ग्रन्थकृता; तथाहि-मा अन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दः, मा चाणश्च माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्याऽसौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाऽविरुद्धवाक् च, तस्मादुक्तप्रकारार्थसंसिद्धिर्भवति। तदभासात्तु महेश्वरादेर्विपर्ययस्तत्संसिद्ध्यभावः। इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताऽखिलावरणमतीन्द्रियम्' इत्याद्यसाधारणस्वरूपं प्रमाणस्य। किंविशिष्टम्? सिद्धं वक्ष्यमाणप्रमाणप्रसिद्धम्, तद्विपरीतं तु तदाभासस्य; तच्चाऽल्पं संक्षिप्तं यथा भवति तथा, लघीयसः प्रति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्मेति। शास्त्रारम्भे चाऽपरिमितगुणोदधेर्भगवतो गुणलवव्यावर्णनमेव वाक्स्तुतिरित्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

प्रमाणविशेषलक्षणोपलक्षणाकाङ्क्षायास्तत्सामान्यलक्षणोपलक्षणपूर्वकत्वात् प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेणाऽबाधतत्सामान्यलक्षणोपलक्षणायेदमभिधीयते—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥ १ ॥

प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमत्र हेतुर्द्रष्टव्यः। विशेषणं हि व्यवच्छेदफलं भवति। तत्र प्रमाणस्य ज्ञानमिति विशेषणेन 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनकं कारकसाकल्यं साधक-

१ शिष्य। २ सूत्रेण। ३ इप् द्वितीया। ४ परः। ५ उपायेन शब्देनेत्यर्थः। ६ बौद्धाचार्याणाम्। ७ अथवा। ८ 'कश्चित्पुरुष' इत्यादि। ९ वचसा नमस्कारकरणं तु तस्य संस्तवनम्। १० पूर्वपक्षेण। ११ परिज्ञान। १२ साध्ये। १३ लक्षणं व्यावृत्तिफलं तदाभासात्परिहारफलमित्यर्थः। १४ अविपर्ययः व्यभिचारो नाम अतिव्याप्तिः। १५ अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवादिरहितविशेषणसंभवसंशयादिव्यभिचारः। १६ प्रतीति। १७ जरन्नैयायिका आत्माकाशादीनां साकल्यं प्रमाणमित्याहुः।

तमत्वात् प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम्[1]; तस्याऽज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत्[2] स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावतः प्रमाणत्वायोगात्-तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्या[3]ऽज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्। छिदौ[4] परश्वादिना[5] साधकतमेन व्यभिचार इत्ययुक्तम्; तत्परिच्छित्ताविति विशेषणात्, न खलु सर्वत्र[6] साधकतमत्वं ज्ञानेन व्याप्तं-परश्वादेर[7]पि ज्ञानरूपताप्रसङ्गात्। अज्ञानरूपस्यापि[8] प्रदीपादेः स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वोपलम्भात्तेन तस्याऽव्याप्तिरि[9]त्यप्ययुक्तम्; तस्योपचारा[10]त्तत्र साधकतमत्व[11]व्यवहारात्। साकल्यस्याप्युपचारेण साधकतमत्वोपगमे[12] न किंचिदनिष्टम्[13]-मुख्यरूपतया हि स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वात् तस्यापि साधकतमत्वम्; तस्माच्च प्रमाणं-कारणे[14] कार्योपचारात्[15]-अन्नं वै प्राणा इत्यादिवत्। प्रदीपेन[16] मया दृष्टं[17] चक्षुषाऽवगतं[18] धूमेन प्रतिपन्नम्[19]इति लोकव्यवहारोऽप्यु[20]पचारतः; यथा ममाऽयं पुरुषश्चक्षुरिति-तेषां प्रमितिं प्रति बोधेन व्यवधानात्[21], तस्य त्वपरेणा[22]व्यवधानात्[23]तन्मुख्यम्[24]। न च व्यपदेशमात्रात्[25]पारमार्थिकवस्तु[26]व्यवस्था 'नड्वलोदकं[27] पादरोगः' इत्यादिवत्[28]। ततो[29] यद्बोधाऽबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानकम्[30]—

'लिखितं[31] साक्षिणो[32] भुक्तिः[33] प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्' [ ] इति तत्प्रत्याख्यातम्; ज्ञानस्यैवाऽनुपचरितप्रमाणव्यपदेशार्हत्वात्। तथाहि-यद्यत्राऽपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधक-

१ जानन्तं प्रति निरस्तम्। २ घटवत्। ३ व्याप्यस्य। ४ परः। ५ अज्ञानरूपेण। ६ कारणत्वेनाभिप्रेते वस्तुनि। ७ अन्यथा। ८ परः। ९ यद्यदज्ञानविरोधिज्ञानेन व्याप्तं तत्तत्स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतममतोऽज्ञानरूपस्य स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमस्य तेन ज्ञानेनाव्याप्तिः। १० न परमार्थतः। ११ प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकरूपेण साधकतमत्वं न तु स्वपरपरिच्छित्त्यात्मकत्वेनेति भावः। १२ परैः। १३ जैनानाम्। १४ ज्ञानजनकत्वेन। १५ अज्ञानरूपत्वादित्यस्य हेतोरनैकान्तिकत्वे। १६ प्रदीपादेः प्रामाण्यम्। १७ वस्तुरूपं वह्नि। १८ ज्ञानधर्मसाधकतमस्य। १९ अग्निस्वरूपम्। २० साधकतमज्ञानहेतुत्वेन। २१ साधकतमत्वेन। २२ साधकतमज्ञानस्य हेतुत्वेन। २३ प्रमितिक्रियां प्रति। २४ परिच्छित्तिं प्रति प्रदीपादेः साधकतमत्वं न मुख्यम्। २५ प्रदीपादेसाधकतमत्वमिति व्यपदेशमात्रात्। २६ प्रदीपादेः प्रामाण्यम्। २७ 'शाड्वलं हरितं प्रोक्तं। नड्वलं नडसंयुतम्' (क) तृणसंयुतमुदकं नड्वलं कथ्यते। २८ पादरोगकारणतया व्यपदिश्यमानं नड्वलोदकं यथा पादरोगत्वेन न पारमार्थिकं तथा प्रकृतमपि। २९ ज्ञानस्यैव साधकतमत्वं यतः। ३० नैयायिकस्य वैशेषिकस्य च। ३१ शासनादिलोके पत्रादि, तत्प्रमाणम्। ३२ पुरुषाः प्रमाणम्। ३३ अनुभवः प्रमाणम्।

तमव्यपदेशार्हम्, यथा हि छिदिक्रियायां कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः, स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पितं साकल्यादि[1]कमिति। तस्मात् कारकसाकल्यादिकं साधकतमव्यपदेशार्हं न भवति।

किंच; स्वरूपेण प्रसिद्ध[2]स्य प्रमाणत्वा[3]दिव्यवस्था स्यान्नान्यथा-अति[4]प्रसङ्गात्-न च साकल्यं स्वरूपेण प्रसिद्धम्। तत्स्वरूपं हि सक[5]लान्येव कारकाणि, तद्धर्मो वा स्यात्, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तरं वा गत्यन्तराभावात्? न तावत्सकलान्येव तानि साकल्यस्वरूपम्; कर्तृकर्मभावे तेषां कर[6]णत्वानुपपत्तेः। तद्भावे वा—अन्येषां[7] कर्तृकर्मरूपता, तेषामेव वा? नतावदन्येषाम्, सकलकारकव्यतिरेकेणान्येषामभावात्, भावे वा न कारकसाकल्यम्। नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता; कारणत्वाभ्युपगमात्। न चैतेषां कर्तृकर्मरूपाणामपि करणत्वं-परस्परविरोधात्। क[8]र्तृता हि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता स्वातन्त्र्यं वा, नि[9]र्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्मत्वम्, करणत्वं तु प्र[10]धानक्रियाऽना[11]धारत्वमित्येतेषां[12] कथमेक[13]त्र सम्भवः? तन्न सकलकारकाणि साकल्यम्।

नापि तद्धर्मः-स हि संयोगः, अन्यो[14] वा? संयोग[15]श्चेन्न; आस्याऽन[16]न्तरं-विस्तरतो निषेधात्। अन्यश्चेत्; नास्य साकल्यरूपपता अतिप्रसङ्गात्-व्यस्ता[17]र्थाना[18]मपि तत्सम्भवात्। किं चाऽसौ कारकेभ्योऽव्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तो वा? यद्यव्यतिरिक्तः, तदा धर्ममात्रं का[19]रकमात्रं वा स्यात्। व्यतिरिक्तश्चेत्सम्बन्धाऽसिद्धिः। सम्बन्धेऽपि वा सकलकारकेषु युगपत्तस्य सम्बन्धेऽनेकदोषदुष्टसा[20]मौ[21]-

---

१ प्रदीपादि लिखितादि ॥ तथाहीत्यत्र कारकसाकल्यादिकं धर्मि, मुख्यरूपतया साधकतमव्यपदेशार्हं न भवतीति धर्मः, स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन व्यवहितत्वात् प्रदीपादिवत्। २ ज्ञातस्य। ३ साधकतमत्व। ४ खरविषाणादेः। ५ अत्र यथासंख्यं स्वार्थे भावे कर्मणि ष्यण्। ६ प्रमाणरूपसाकल्यस्य करणस्वरूपत्वं यतः। ७ कारकाणाम्। ८ मीमांसकानां कर्त्रादीनां लक्षणमिदम्। ९ "व्याप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्य विक्रियात्मकम्। कर्तुश्च क्रियया व्याप्तमीप्सितानीप्सितेतरत्"। १० छेदनम्। उत्क्षेपणापक्षेपणस्यैव आधारत्वं न तु च्छिदेरित्यर्थः। ११ कर्मकर्त्रोरेव छिदि प्रमितिलक्षणप्रधानक्रियाधारत्वं न तु करणस्य। १२ विरुद्धधर्माणाम्। १३ साकल्ये। १४ प्रमेयत्वप्रमातृत्वसत्त्वादि। १५ सन्निकर्षः। १६ साधारमिदमग्रे। १७ अन्यधर्म। १८ कारकाणां द्वित्र्यादीनाम्। १९ धर्मो वा कारकरूपधर्मी वा स्यात् कारकेभ्योऽन्यधर्मस्याव्यतिरिक्तत्वात्। २० एकस्वभावेनानेकस्वभावेन च वृत्तौ सामान्यानवस्थादयः स्युः। २१ सामान्यादौ ये दोषास्तेऽत्रापि स्युरित्यर्थः। एकस्वभावेन स्वभावभेदेन च वृत्तौ सामान्यत्वानवस्थादयः।

[1]न्यादिरूपता[2]पत्तिः। क्रमेण सम्बन्धे सकलकारकधर्मता साकल्यस्य न स्यात्-यदैव हि तस्यैके[3]न हि सम्बन्धो न तदैवाऽन्येनेति।

नापि [4]तत्कार्यं साकल्यम्—नि[5]त्यानां तज्जननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तिः, एकप्रमाणोत्प[6]त्तिसमये स[7]कलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिश्च स्यात्। तथाहि—यदा यज्जनकमस्ति-[8]तत्तदोत्पत्तिमत्प्रसिद्धम्, यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम्[9], अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां त[10]दा नित्याभिमतं जनकमात्मादिकं कारणमिति। आत्मादिकारणे सत्यपि तेषामनुत्पत्तौ ततः कदाचनाप्युत्पत्तिर्न स्यादिति सकलं जगत् [11]प्रमाणविकलमापद्येत। आत्मादौ तत्करणसमर्थे सत्यपि स्वयमेव तेषां यथाकालं भावे तत्कार्यताविरोधः-तस्मिन् सत्यप्य[12]भावात्-स्वयमेवान्यदा भावात्। न च स्वकालेपि तत्सद्भावे भावात्तत्कार्यता; [13]गगनादिकार्यताप्रसक्तेः। न च तस्यापि तत्प्रति कारणत्वस्येष्टेरदोषोयमिति वक्तव्यम्; आत्माऽनात्मविभागाभावप्रसङ्गात्। [14]यत्र प्रमितिः समवेता सोत्रात्मा ना[15]न्ये इत्यप्यनालोचितवचनम्; समवाया[16]ऽसिद्धौ समवेतत्वाऽसिद्धेः। [17]यदा यत्र यथा यद्भवति तदा तत्र तथाऽऽत्मादेस्तत्करणसमर्थत्वान्नैकदा सकलप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिरित्यप्यसम्भाव्यम्; [18]तत्स्वभावभूतसामर्थ्यभे[19]दमन्तरेण कार्यस्य[20] कालादि[21]भेदायोगात्, अन्यथा[22] दृ[23]ष्टस्य पृथिव्यादिकार्यनानात्वस्याऽदृष्टपार्थिवादिप[24]रमाण्वा[25]दिकारणचातुर्विध्यं किमर्थं समर्थ्यते? नित्यस्वभावमेकमेव[26] हि किञ्चि[27]त्समर्थनीयम्। यथा च कारणजा[28]तिभेदमन्तरेण कार्यभेदोनोपपद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेणापि। न[29] च

---

१ अवयवी। २ रूपमिव रूपं यस्य तद्धर्मस्य सामान्ये ये दोषास्तेऽत्रापि स्युः। ३ कारकेण। ४ नेत्रोद्घाटनयोग्यदेशगमनादि। ५ आत्माकाशकालदिग्मनसाम्। ६ कार्यलक्षणसाकल्यप्रमाणस्य। ७ सकलपदार्थपरिच्छेदककार्यलक्षणसाकल्यप्रमाणानामुत्पत्तिः स्यात्। ८ कारणाऽधीनानि कार्याणि यतः। ९ उपनयः। १० विवक्षितकालाऽभिमतकार्योत्पत्तिसमये। ११ कार्यविकलम्। १२ युगपत् प्रमाणकार्यस्य। १३ अन्यथा। १४ परः। १५ गगनादिः। १६ चतुर्थपरिच्छेदेऽयं निराकरिष्यते। १७ परः। १८ आत्मादि। १९ नानाकार्याणि विभिन्नशक्तिहेतुकानि विभिन्नकार्यत्वात् पृथ्व्यादिभेदकार्यवत्। २० सर्वेषां कार्याणां युगपदुत्पत्तिर्यतः। २१ देशस्वभावः। २२ तत्सामर्थ्यभेदं विनापि कार्यस्य कालादिभेदो भविष्यतीति चेत्। २३ प्रत्यक्षस्य। २४ आप्यतैजसवायवीय। २५ द्व्यणुकादि। २६ ब्रह्मादि। २७ कारणम्। २८ पार्थिवादिजाति। २९ अत्राभिप्रायस्तु योग्यतावच्छिन्नस्वरूपसहकारिसमवधानमेव शक्तिरिति गौतमीयन्यायैकदेशे द्रव्याच्छक्तिरुत्पद्यते चेति जैना वदन्तीति मत्वा दूषणं वदत्यपरःतद्दूषणपरिजिहीर्षया न चेत्याह।

यथैकया[1]शक्त्यैकम[2]नेकाः शक्तीर्बिभर्ति तत्रा[3]प्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्[4]; तयैव तद[5]नेकं कार्यं करिष्यतीति वाच्यम्[6]; यतो न भिन्नाः शक्तीः कयाचिच्छक्त्या कश्चि[7]द्धा[8]रयतीति जैनो मन्यते-स्व[9]कारणकलापात्तदात्म[10]कस्यैवा[11]ऽस्योत्पादात्।

सह[12]कारि[13]सव्यपेक्षा[14]णां ज[15]नकत्वाद्देशकालस्वभावभेदः कार्ये न विरुध्यत इत्यपि वार्तम्; नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यऽपेक्षाया अयोगात्। सहकारिणो हि भावाः किं विशेषा[16]धा[17]यित्वेन, एकार्थ[18]कारित्वेन वाभिधीयन्ते? प्रथमपक्षे किमसौ विशेषस्तेभ्यो[19] भिन्नः, अभिन्नो वा तैर्विधीयते[20]? भेदे सम्बन्धासिद्धेस्तदवस्थमेवाकारकत्वमेतेषां पूर्वा[21]वस्थायामिव पश्चादप्यनुषज्यते। तद[22]सिद्धिश्च समवायादिसम्बन्धस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् सुप्रसिद्धा। विभिन्नातिशयात् कार्योत्पत्तौ चात्र कारक[23]व्यपदेशोऽपि कल्पनाशिल्पिकल्पित एव-अतिशयस्यैव कारकत्वात्। द्वितीयपक्षे तु कथमेतेषां[24] नित्यता उत्पादविनाशात्मकातिशयादभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत्[25]? एकार्थकारित्वेन त्वेषां[26] सहकारित्वं नास्माभिः[27] प्रतिक्षिप्यते, किंत्वपरिणामित्वे तेषां प्राक्[28] पश्चात् पृथग्[29]भावावस्थायामपि कार्यकारित्वप्रसङ्गतः 'सहैव[30] कुर्वन्ति' इति नियमो न घटते। न खलु साहि[31]त्येऽपि भावाः[32] पर[33]रूपेण कार्यकारिणः। स्वयमकारकाणा[34]मन्य[35]सन्निधानेऽपि तत्कारित्वासम्भवात्, सम्भवे वा पर एव परमार्थतः कार्यकारको भवेत् स्वात्मनि[36] तु कारकव्यपदेशो विकल्पकल्पितो भवेत्। तथा[37] चान्य[38]स्यानुपकारिणो[39] भाव[40]मनपेक्ष्यैव कार्यं तद्विकले[41]भ्य एव सहकारिभ्यः समुत्पद्येत। तेभ्यो[42]ऽपि वा न भवेत्, स्वयं[43] तेषामप्यकारकत्वात् पर[44]रूपेणैव कारकत्वात्। अतः सर्वेषां

---

१ आत्मादिकारणं। २ अनेकशक्तिधारणे। ३ कारणस्य। ४ हे जैन तव हेतोः। ५ आत्मादि। ६ परेण। ७ आत्मा। ८ आत्मादि। ९ पुण्यपाप। १० नानाशक्त्यात्मकस्य। ११ आत्मादेः। १२ मरः। १३ आत्मादीनां। १४ कारणानां। १५ कार्यस्य। १६ अतिशय उपकार। १७ कारकविशेषः क्रियते तैः। १८ कारकाणां विशेषाध्यारोपकत्वेन। १९ एककार्यकरणत्वेनोभयोरपि। २० कारकेभ्यः। २१ सहकारिरहितावस्थायामिव। २२ जनकत्वेन ? [सम्बन्धासिद्धिश्च]। २३ आत्मादेः। २४ आत्मादीनां। २५ अतिशयस्वरूपवत्। २६ सहकारिणां। २७ जैनैः। २८ सहकारिभ्यः। २९ भिन्नभावावस्थायां। ३० सहकारिभिः। ३१ सहकारिणां। ३२ आत्मादयः। ३३ सहकारिरूपेण। ३४ आत्मादीनां। ३५ सहकारि। ३६ आत्मादौ। ३७ एवं सति। ३८ आत्मनः। ३९ जनकत्वेन। ४० सद्भावं। मुख्यकारकस्य स्वरूपं। ४१ आत्मादिकं। ४२ सहकारिकारकेभ्यः। ४३ स्वरूपेण। ४४ आत्मादिरूपेण।

स्वयमकारकत्वे पर[1]रूपेणाप्यकारकत्वात् त[2]द्वार्तोच्छेदतो न कुतश्चित् किञ्चि[3]दुत्पद्येत । ततः स्वरूपेणैव भावाः कार्यस्य[5] कर्तार[4] इति न कदाचि[6]त्तत्क्रियोपरतिः[7] स्यात् ।

न[8]नु कार्याणां[9] सामग्रीप्रभवस्वभावत्वात् तस्याश्चापरापरप्रत्यय[10]योगरूपत्वात्प्रत्येकं[11] नित्यानां तत्क्रिया[12]स्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिस्तेषामिति, तदप्यसाम्प्रतम्; य[13]तोऽयमेकोऽपि भावः क्रमभाविकार्योत्पादने समर्थोऽतः कथमेषां भिन्नकालापरापरप्र[14]त्यययोग[15]लक्षणाऽनेकसामग्रीप्रभवस्वभावता स्यात्? एकेना[16]पि हि तेन तज्जननसामर्थ्यं विश्राणेन तान्युत्पादयितव्यानि, कथमन्यथा केवलस्य तज्जननस्वभा[17]वता सिद्ध्येत्? तस्याःकार्यप्रादुर्भावानुमीयमानस्व[18]रूपत्वात् प्र[*]योगः—यो यन्न जनयति नासौ तज्जननस्वभावः यथा गोधूमो यवाङ्कुरमजनयन्न त[20]ज्जननस्वभावः, न जनयति चा[21]यं केवलः कदाचिद[22]प्युत्तरोत्तरकालभावीनि प्रत्ययान्तरापेक्षाणि कार्याणीति । न[23]नु प्र[24]त्ययान्तरमपेक्ष्य कार्यजननस्वभावत्वान्नासौ केवलस्तज्जनयति, न च सहकारिसहितासहितावस्थयोरस्य स्वभावभेदः; प्रत्ययान्तरापेक्षस्वकार्यजननस्वभावतायाः सर्वदा भावात्, तदप्यपेशलम्; यतः प्र[25]त्ययान्तरसन्निधानेऽपि स्वरूपेणै[26]वास्य कार्यकारिता, तच्च प्रा[27]गप्यस्तीति प्रागेवा[28]तः कार्योत्पत्तिः स्यात् । प्रत्ययान्तरेभ्यश्चास्या[29]तिशयसम्भवे तदपेक्षा स्यादुपकार[30]केष्वेवास्याः सम्भवात्, अ[31]न्यथाऽतिप्र[32]सङ्गात् । त[33]त्सन्निधानस्यासन्निधानतुल्यत्वाच्च केवल एवासौ कार्यं कुर्यात्, अकुर्वंश्च केवलः सहितावस्थायां च कुर्वन् कथमेकस्वभावो भवेद्विरुद्धधर्मा[34]ध्यासतः स्वभावभेदानुषङ्गात्?

किञ्च सकलानि कारकाणि सा[35]कल्योत्पादने प्रवर्तन्ते, असकलानि वा? न तावत्सकलानि साकल्यासिद्धौ त[36]त्सकलत्वासिद्धेः ।

१ आत्मादिरूपेणापि । २ कारक । ३ कार्यं । ४ स्वाधीनतया । ५ कार्य । ६ करण । ७ विश्रामः । ८ परः । ९ कारण । १० कदाचित् रूपभिन्नकालक्रमभाविकारणयोगरूपत्वात् । ११ केवलं । १२ करण । १३ नित्यः । १४ कारणमा । १५ नित्यस्य । १६ केवलेन । १७ परिणामित्वं । १८ न तथा । *प्रत्येकमात्मादिर्धर्मी (*केवलः) तदजनकत्वादिति हेतुः तज्जननस्वभावो न भवतीति साध्यम् । १९ हेतुः । २० धर्मी । २१ अयमेवोपनयः । २२ तस्मादात्मादिः प्रत्येकमुत्तरोत्तरं निगमनम् । २३ परः । २४ कारणान्तरं । २५ सहकारिलक्षणकारणान्तर । २६ नित्यस्य । २७ सहकारिसन्निधानात् । २८ आत्मादिकारकात् । २९ कारकस्य । ३० उपकारकाणामेवापेक्षा भवति नाऽन्येषामित्यर्थः । ३१ अनुपकारकेष्वेव सम्भवे । ३२ पटोत्पत्तौ कुविन्दस्य मृत्पिण्डे अपेक्षा भवेत् । ३३ अनुपकारकप्रत्ययान्तर । ३४ प्रमाण । ३५ यतोऽद्यापि विचार्यमाणं (ततः) । ३६ द्वित्राणामपि प्राप्नोति ।

अन्योऽन्याश्रयश्च-सिद्धे हि साकल्ये तेषां सकलरूपतासिद्धिः, तत्सिद्धौ च साकल्यसिद्धिरिति । नाप्यसकलान्यतिप्रसक्तेः । किञ्च यया प्रत्यासत्त्या[1] तथाविधान्येतानि[2] साकल्यमुत्पादयन्ति तयैव प्रमामप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यकल्पना । करण[3]-मन्तरेण प्रमोत्पत्त्यभावे साकल्येऽप्यन्यत् करणं कल्पनीयमित्यनवस्था । न चाध्यक्षसिद्धत्वात्साकल्यस्यादोषोऽयम्; आत्मान्तःकरणसंयोगा[4]देरतीन्द्रि[5]यस्याध्यक्षाऽविषयत्वात् । केवलं विशिष्टार्थो[6]पलब्धिलक्षणकार्यस्याऽध्यक्षसिद्धस्य करणमन्तरेणानुपपत्ते[7]स्तत्परि[8]कल्पना, तच्च[9] मनो[10]लक्षणकरणसद्भावे साकल्यमेवेत्यवधारयितुं न शक्यम् । तन्न सकलकारककार्यं साकल्यम् ।

नापि पदा[11]र्थान्तरं सर्वस्य पदार्थान्तरस्य साकल्यरूपताप्रसङ्गात् । तथा च तत्सद्भावे सर्वत्र सर्वदा सर्व[12]स्यार्थोपलब्धिरि[13]ति सर्वः सर्वदर्शी स्यात् । ततः कारकसाकल्यस्य स्वरूपेणाऽसिद्धेः सिद्धौ वा ज्ञानेन व्यवधानान्न प्रामाण्यम्[1] ॥ छ ॥

---

१ स्वभावेन । प्रत्यासत्तिः स्वभावः । २ कारकाणि । ३ परः । ४ साकल्यस्य । ५ पुनः । ६ ज्ञान । ७ अर्थापत्तिप्रमाणम् । ८ श्रेयसी (मन्यते) । ९ अर्थापत्तिप्रमाणप्रसिद्धं करणं । १० भावमनो । ११ प्रमितिरूपः पदार्थः । १२ नुः । १३ सर्वपदार्थान्तरसाकल्यरूपप्रमाणत्वात् ।

---

1 कारकसाकल्यस्य स्वरूपं तावत् सामग्रीप्रमाणवादी जयन्तभट्टः इत्थं निरूपयति 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् । बोधाऽबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम् अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्' (न्यायमं० पृ० १२)

सामग्री च कारकसाकल्यस्यैव व्यपदेशान्तरम्, अतएवायं कारकसाकल्यवादः 'सामग्रीप्रमाणवादः' इति शब्देनापि व्यपदिश्यते । तस्य च साधिका मुख्या युक्तिः इत्थम्—'यत एव साधकतमं करणम् करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः, तत एव सामग्र्याः प्रमाणत्वं युक्तम्, तद्व्यतिरेकेण कारकान्तरे क्वचिदपि तमबर्थसंस्पर्शानुपपत्तेः । अनेककारकसन्निधाने कार्यं घटमानम् अन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत् ? नचातिशयः कार्यजन्मनि कस्यचिदवधार्यते सर्वेषां तत्र व्याप्रियमाणत्वात्' (न्याय मं० पृ० १३)

सामग्रीप्रमाणवादस्य द्विधा उल्लेखो न्यायमंजर्यां दृश्यते । एकस्तावत् पूर्वोक्त एव द्वितीयस्तु प्रकारः 'कर्तृकर्मविलक्षणासंशयविपर्ययरहिताऽर्थबोधविधायिनी बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्' इत्यादिरूपः 'अपरे पुनराचक्षते' इति कृत्वा तत्रैव (पृ० १४) निर्दिष्टो दृश्यते ।

मा[1] भूत् कारकसाकल्यस्यासिद्धस्वरूपत्वात् प्रामाण्यं सन्नि-कर्षा[2]देस्तु सिद्धस्वरूपत्वात्प्रमित्युत्पत्तौ साधकतमत्वाच्च तत्स्यात्। सुप्रसिद्धो हि चक्षुषो घटेन संयोगो रू[3]पादिना (संयुक्तसमवायः रूपत्वा[4]दिना) संयुक्तसमवेतसमवायो ज्ञानजनकः। साधकतमत्वं च प्रमाणत्वेन व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा संशयादिवत्प्रमेयार्थवच्च, इत्यसमीक्षिताभिधानम्; तस्य प्रमित्युत्पत्तौ साधकतमत्वाभावात्। यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्[5]तत्र साधकतमम्।

"भावा[6]भावयो[7]स्तद्वत्ता साधकतमत्वम्[2]" [ ]

इत्यभिधानात्।

न चैतत्सन्नि[8]कर्षादौ सम्भवति। तद्भावेऽपि क्वचित्[9]प्रमित्यनुत्पत्तेः; न हि चक्षुषो घटवदाकाशे संयोगो विद्यमानोऽपि प्रमि[10]त्युत्पादकः, संयुक्तसमवायो वा रू[11]पादिवच्छब्दरसादौ, संयुक्तसमवेतसमवायो वा रूपत्ववच्छब्दे[12]त्वादौ। त[13]दभावेऽपि च विशेष[14]णज्ञानाद्विशेष्य[15]प्रमितेः सद्भावोपगमात्। योग्य[16]ताभ्युपगमे[17] सैवास्तु किमने[18]नान्तर्गडुना[19]?

---

१ परः। २ लिङ्गशब्द। ३ द्रव्यत्वकर्मसामान्य। ४ गुणत्वकर्मत्व। ५ प्रमितौ। ६ सतोः। ७ यस्य तस्य तत्र। ८ आदिपदेन शब्दलिङ्ग। ९ नभसि। १० गगनमिति प्रमितेः। ११ कर्म। १२ रसत्वस्पर्शत्वादि। १३ सन्निकर्ष। १४ दण्ड। १५ दण्डोऽस्यास्तीति तस्मिन् दण्डिनि। १६ सन्निकर्षस्य शक्ति। १७ यद्यपि घटाकाशयोरविशिष्टश्चक्षुषः सन्निकर्षोऽस्ति तथापि योग्यतावशाद् घट एव प्रमितिं जनयेन्नाकाशे इति सन्निकर्षशक्त्यभ्युपगमे। १८ सन्निकर्षेण। १९ ग्रन्थिना (व्रणेन)।

अस्य च सामग्र्यपरनामकस्य कारकसाकल्यस्य विविधरीत्या खंडनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्—न्यायकु० चं० लि० परि० १। सन्मति० टी० पृ० ४७३। स्या० रत्नाकर पृ० ६५।

प्रस्तुतग्रंथगतखंडने (पृ० ११ पं० ८) आयातस्य 'सहकारिणो हि भावाः किं विशेषाधायित्वेन एकार्थकारित्वेन वाऽभिधीयन्ते' इत्याद्यंशस्य तुलना अर्चटकृत-हेतुबिन्दुटीकायाः—'नैयायिकास्तु मन्यन्ते भावानां सहकारिसन्निधानाऽसन्निधानापेक्षया कारकस्वभावव्यवस्था…' (पृ० १५०) इत्याद्यंशेन विधेया।

1 यद्यपि सन्निकर्षस्य सामान्यतो निर्देशः कणाद-न्यायसूत्र तद्भाष्ययोरपि समस्ति तथापि तस्य प्रक्रियाबद्धं विवरणं षोढा तद्भेदनिरूपणं च न्यायवा० पृ० ३१ तथा पृ० ३७३। न्यायवा० ता० टी० पृ० ११६ तथा पृ० ५२०। न्यायमं० पृ० ४७७। प्रश० कन्द० पृ० २३ तथा १९५। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

2 'कः खलुसाधकतमार्थः? साधकतमं प्रमाणमिति केवलं वाक्यमभिधीयते नार्थः इति? भावाऽभावयोस्तद्वत्ता' न्यायवा० पृ० ६।

योग्यता च शक्तिः[1], प्रतिपत्तुः प्रतिबन्धापायो वा? शक्तिश्चेत्; किमतीन्द्रिया[2], सहकारिसान्निध्यलक्षणा वा? न तावदतीन्द्रिया; अनभ्युपगमात्[3]। नापि सहकारिसान्निध्यलक्षणा; कारकसाकल्य[4]पक्षोक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। सहकारिकारणं चात्र[5] द्रव्यम्, गुणः, कर्म[6] वा स्यात्? द्रव्यं चेत्; किं व्यापि द्रव्यम्, अव्यापि द्रव्यं वा? न तावद् व्यापिद्रव्यम्; तत्सान्निध्यस्याकाशादीन्द्रियसन्निकर्षेऽप्यविशेषात्। कथमन्यथा दिक्कालाकाशात्मनां व्यापिद्रव्यता? अथाऽव्यापि द्रव्यम्; तत्किं मनः, नयनम्, आलोको वा? त्रितयस्याप्यस्य सान्निध्यं घटा[7]दीन्द्रियसन्निकर्षवदाकाशादीन्द्रियसन्निकर्षेऽप्यस्त्येव। गुणोऽपि तत्सहकारी प्रमेयगतः, प्रमातृगतो वा स्यात्, उभयगतो वा। प्रमेय[8]गतश्चेत्; कथं नाकाशस्य प्रत्यक्षता द्रव्यत्वतोऽस्यापि गुणसद्भावाविशेषात्? अमूर्तत्वान्[9]नास्य प्रत्यक्षतेऽत्यप्ययुक्तम्; सामान्या[10]देरप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। प्रमातृगतोऽप्यदृष्टो[11]ऽन्यो[12] वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव। न खलु तेन[13]ास्य[14] विरोधो येनानुत्पत्तिः प्रध्वंसो वा तत्सद्भावे[15]ऽस्य[16] स्यात्। उभयगतपक्षेऽप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः। कर्माऽप्यर्थान्तर[17]गतम्, इन्द्रियगतं वा तत्[18]सहकारि स्यात्? न तावदर्थान्तरगतम्; विज्ञानोत्पत्तौ तस्या[19]नङ्गत्वात्। इन्द्रियगतं तु तत्तत्रास्त्येव; आकाशेन्द्रियसन्निकर्षे नयनोन्मीलना[20]दिकर्मणः सद्भावात्। प्रतिबन्धा[21]पायरूपयोग्यतोपगमे तु[22] सर्वं[23] सुस्थम्, यस्य यत्र[24] यथाविधो हि प्रतिबन्धापायस्तस्य तत्र तथाविधार्थपरिच्छित्ति[25]रुत्पद्यते। प्रतिबन्धापायश्च प्रतिपत्तुः[26] सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधयिष्यते।

न च योग्यताया एवार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वतः प्रमाणत्वानुषङ्गात् 'ज्ञानं प्रमाणम्' इत्यस्य[27] विरोधः; अस्याः[28] स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावायाः 'यद्[29]सन्नि[1]धाने[30] कारक[31]ान्तरसन्नि-

१ सन्निकर्षस्य। २ ऐन्द्रिया चेद् घटवद्दृश्येत न च दृश्यते इयंमतोऽतीन्द्रिया। ३ परैः। ४ धर्मकार्यपक्षयोः धर्मरूपे पक्षे। ५ सन्निकर्षे। ६ क्रिया। ७ रूपरूपत्वं। ८ ज्ञेयपदार्थ। ९ परः। १० गन्धादेः। ११ पुण्यपापरूपः। १२ इच्छादिः। १३ नभोनयनसन्निकर्षेण। १४ सहकारिगुणस्य। १५ सन्निकर्षे। १६ गुणस्य। १७ प्रमेय। १८ सन्निकर्षे। १९ अन्यथा स्थिरार्थानामप्रतीतिप्रसङ्गात्। २० निमीलन। २१ आवरणापाय। २२ घटादौ प्रमोत्पद्यते नाकाशादाविति। २३ नुः। २४ अर्थे। २५ ज्ञानं। २६ नरस्य। २७ लक्षणस्य। २८ न च विरोधो कुतः। सामग्रीत्वत इति पर्यन्तमस्य हेतुर्द्रष्टव्यः। २९ भावेन्द्रिय। ३० अनुमानम्। यदभावसन्निकर्षादिसद्भावौ धर्मिणौ। स्वार्थसंवेदनजनकौ न भवत इति साध्यो धर्मः। तदनुपपद्यमानत्वात्। ३१ सन्निकर्षे।

1 तु०—यदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधाने इत्यादि प्रमाण० पृ० ५१।

धानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्करणकम्, यथा कुठारासन्निधाने कुठार(काष्ठ)च्छेदनमनुत्पद्यमानं कुठारकरणकम्, नोत्पद्यते[1] च भावेन्द्रियासन्निधाने स्वार्थसंवेदनं सन्निकर्षादिसद्भावेऽपीति तद्भावेन्द्रियकरणकम्' इत्यनुमानतः प्रसिद्धस्वभावायाः स्वार्थावभासिज्ञानलक्षणप्रमा[२]णसामग्रीत्वतः त[३]दुत्पत्तावेव सा[४]धकतमत्वोपपत्तेः। त[५]तोऽ[६]न्यनिरपेक्षतया स्वार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाज्ज्ञानमेव प्रमाणम्। तद्धे[७]तुत्वात्सन्निकर्षादेरपि प्रामाण्यम्, इत्यप्यसमीचीनम्; छिदिक्रियायां करणभूतकुठारस्य हेतुत्वादयस्कारादेरपि प्रा[८]माण्यप्रसङ्गात्। उपचारमात्रेणाऽस्य प्रामाण्ये च आ[९]त्मादेरपि तत्प्रसङ्गस्त[१०]द्धेतुत्वाविशेषात्।

न[११]नु[1] चात्मनः प्र[१२]मातृत्वाद् घटादेश्च प्रमेयत्वान्न प्रमाणत्वं प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्था[१३]न्तरस्य प्रमाणत्वाभ्युप[१४]गमात् इत्यप्यसङ्गतम्; न्या[१५]यप्राप्तस्याभ्युप[१६]गममात्रेण प्रतिषेधायोगात्, अन्यथा 'अचेतनादर्था[१७]न्तरं प्रमाणम्' इत्यभ्युप[१८]गमात्सन्निक[१९]र्षादेरपि त[२०]न्न स्यात्। किञ्च प्रमेय[२१]त्वेन सह प्रमाणत्वस्य विरोधेप्रमाणमप्रमेयमेव स्यात्, तथा चा[२२]सत्त्वप्रस[२३]ङ्गः संविन्निष्ठ[२४]त्वा[२५]द्भा[२६]वव्य[२७]वस्थितेः, इत्ययुक्त[२८]मेतत्–

"प्र[2]माता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति चतसृष्वेवंविधासु त[२९]त्त्वं

१ तस्मात्। २ ता। ३ योग्यता। ४ ज्ञाने साधकतमत्वसामर्थ्यं। ५ भावेन्द्रियात्। ६ सन्निकर्ष। कारकान्तर। ७ परः। ८ तत्प्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। ९ प्रमातुः। १० मुख्यज्ञान। ११ परः। १२ कर्तृत्वात्। १३ भिन्नस्य। १४ परेषाम्। १५ युक्त्या प्राप्तस्य प्रमाणत्वस्य। १६ युक्त्या रहिताभ्युपगनेन। १७ चेतनं। १८ परैः जैनैः। १९ अचेतनत्वात्। २० प्रामाण्यं। २१ वस्तुनि। २२ प्रमितिविषयाः प्रमेया इति वचनाज्ज्ञानविषयत्वाद्भावस्य व्यवस्थितेः प्रमितिविषयप्रमेयत्वे सत्येव सत्त्वव्यवस्थितिस्तत्तु प्रमाणो नास्त्येवाप्रमेयरूपत्वादिति भावः। २३ अप्रमेयत्वं स्यादसत्त्वं च न स्यादिति (हेतोः) सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। २४ परिच्छित्ति ज्ञान। २५ प्रमाणं सन्न भवति अप्रमेयत्वात्खरविषाणवत्। २६ सत्ता। २७ पदार्थं। २८ ततश्च। २९ परमार्थः।

1 'ननु प्रमातृप्रमेययोरपि उपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणत्वं प्रसज्येत विशेषो वा वक्तव्यः इति? अयं विशेषः—प्रमातृप्रमेययोचरितार्थत्वात्—प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं च चरितार्थम्' अचरितार्थं च प्रमाणम् अतस्तदेव उपलब्धिसाधनमिति' न्याय वा० पृ० ५।

2 'यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्, यत् अर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते' न्यायभा० पृ० २।

परिसमा[1]प्यत इ[2]ति" [　　　　] । कथं वा सर्वज्ञज्ञानेनाप्यस्याप्रमेयत्वे[3] तस्य सर्वज्ञत्वम् ? किञ्च प्रमाणवत् प्रमातुरपि प्रमेयत्वधर्माधारत्वं न स्यात्तस्य तद्विरोधा[4]विशेषात् । तथा चाश्वविषाणस्येवास्यासत्त्वानुषङ्गः । तद्धर्माधा[5]रत्वे वा प्रमात्रा ततोऽर्थान्तरभूतेन भवितव्यं प्रमाणवत् । त[6]स्यापि प्रमेयत्वे ततोऽप्यर्थान्तरभूतेनेत्येकत्रात्मनिप्रमेयेऽनन्तप्रमातृमालाप्रसक्तिः । यदि धर्मभेदा[7]देकत्रात्मनि प्र[8]मातृत्वं प्रमेय[9]त्वं चाविरुद्धं तर्हि प्र[10]माणत्वमप्यविरुद्धम[11]नुमन्यताम्[12] । ततो निराकृतमेतत्-"प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरं प्र[13]माणम्" इति ।

चक्षुषश्चाप्राप्यकारित्वेनाग्रे समर्थनात्कथं घटेन संयोगस्तदभावात्कथं रू[14]पादिना संयुक्तसमवा[15]यादिः ? इत्यव्या[16]प्तिः सन्निकर्षप्रमाणवादिनाम् । सर्वज्ञाभावश्चेन्द्रियाणां परमाण्वादिभिः साक्षात्सम्बन्धाभावात्; तथा[17]हि[18]-नेन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् ।

यो[19]गज[20]धर्मा[21]नुग्रहा[1]त्तस्य तैः साक्षात्सम्बन्धश्चेत्; कोऽयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम-स्वविषये प्रवर्त्तमानस्यातिशयाधा[22]नम्, सहकारित्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावाद्, भावे तदनुग्रहवैयर्थ्यम् । त[23]त एवास्य त[24]त्र प्रवृत्तौ परस्पराश्रयः-सिद्धे हि योगजधर्मानुग्रहे तत्र तस्य प्रवृत्तिः, तस्यां च योगजधर्मानुग्रह इति । द्वितीयपक्षोप्यस-

---

१ परिपूर्णतां याति अत्रैवान्तं प्राप्नोतीत्यर्थः । २ इति यदुक्तं तच्चतुर्थसंख्यापूरकस्य प्रमाणस्याभावादयुक्तमेव प्रामाण्यस्य । ३ सति । ४ प्रमेयत्वेन प्रमातृत्वस्य । ५ प्रमातुः । ६ प्रमात्रन्तरस्यापि । ७ स्वभाव । ८ प्रमित्याश्रयः प्रमाता । ९ प्रमाविषयः प्रमेयः । १० प्रमितिक्रियां प्रति करणत्वम् । ११ आत्मनः । १२ प्रमाणहेतुत्वात् । १३ प्रमात्रन्तर्गतत्वात्प्रमाणस्य । १४ आदिपदेन रूपत्वादिर्ग्राह्यः । १५ (संयुक्तसमवेतसमवायादिः) । १६ लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्तिरिति वचनात्तस्य स्पर्शादिचतुर्ष्विन्द्रियेषु प्राप्यकारित्वं चक्षुष्यप्राप्यकारित्वमित्यव्याप्तिः । १७ समाधिः । १८ ईश्वरस्य । १९ परः । २० अदृष्ट । २१ उपकारात् । २२ करणं । २३ धर्मात् । २४ परमाण्वादौ ।

---

1 'असद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक् कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चाऽवितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते । वियुक्तानां पुनः चतुष्टयसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते' प्रश० भा० पृ० १८७ । एतत्स्थलस्य व्योमवती कन्दली च टीकाऽनुसन्धेया ।

म्भाव्यः; स्वविषयातिक्रमेणास्य[1] योगजधर्मसहकारित्वेनाप्यनुग्रहायोगात्, अन्यथै[2]कस्यै[3]वेन्द्रियस्याशेषरसादिविषयेषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गः स्यात्। अथै[4]कमेवान्तःकरणं (योगजधर्मानु)गृहीतं युगपत्सूक्ष्माद्यशेषार्थविषयज्ञानजनकमिष्यते तन्न; अणुमनसोऽशेषार्थैः[5] सकृ[6]त्सम्बन्धाभाव[7]तस्तज्ज्ञानजनकत्वासम्भवात्, अन्यथा[8] दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभि[9]स्तत्सम्बन्धप्रसक्तेः रूपादिज्ञानपञ्चकस्य सकृदुत्पत्तिप्रसङ्गात्–

"यु[10]गपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायसू० १।१।१६] इति विरुध्येत। क्र[11]मशोऽन्य[12]त्र त[13]द्दर्शनादत्रापि क्रमकल्पनायां योगिनैः[14] सर्वार्थेषु सं[15]म्बन्धस्य क्रमकल्पनास्तु त[16]थादर्शनाविशेषात्। त[17]दनुग्रहसामर्थ्याद् दृ[18]ष्टातिक्र[19]मेष्टौ च आत्मैव समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्यादन्तःकरणनिरपेक्षोऽशेषार्थग्राहकोऽस्तु किमदृष्टपरिकल्पनया ? तन्नाणुमनसोऽशेषार्थैः साक्षात्सकृत्सम्बन्धो घटते।

अ[20]थ प[21]रम्परया, तथा हि—मनो महेश्वरेण सं[22]म्बद्धं तेन च घटादयोऽर्थास्तेषु रूपादय इति, अत्राप्य[23]शेषार्थज्ञानासम्भवः। सम्बन्धसम्बन्धोऽपि हि त[24]स्याशेषार्थैर्वर्तमानैरेव नानुत्प[25]न्नविनष्टैः। त[26]त्का[27]ले तैरपि सह सोऽस्तीति चेन्न; तदा वर्तमानार्थसम्बन्धसम्बन्धस्यासम्भवात्। त[28]तोऽयमन्य एवेति चेत्, तर्हि तज्जनितज्ञानमपि अनुत्पन्नविनष्टार्थकालीनसम्बन्धसम्बन्धजनितज्ञानादन्यदिति एकज्ञानेनाशेषार्थज्ञत्वासम्भवः। बहुभिरेव ज्ञानैस्तदिति चेत्, तेषां किं क्रमेण भावः, अक्रमेण वा ? क्रमभावे; नानन्तेनापि कालेनानन्तता सं[29]सारस्य प्र[30]तीयेत–य एव हि सम्बन्धसम्बन्धवशाज्ज्ञानजनकोऽर्थः स एव तज्जनितज्ञानेन गृह्यते नान्य इति। अ[31]क्रमभावस्तु नोपपद्यते विनष्टानुत्पन्नार्थज्ञानानां वर्तमानार्थज्ञानकालेऽसम्भवात्। न हि कारणाभावे कार्यं नामातिप्रसङ्गात्। न च बौद्धानामिव यौगानां विनष्टानुत्पन्नस्य कारणत्वं सिद्धान्तविरोधात्। नित्य[32]त्वादीश्वरज्ञानस्योक्त[33]दोषानवकाश

१ इन्द्रियस्य। २ विषयान्तरेऽपि सहकारित्वरूपानुग्रहश्चेत्। ३ योगजधर्मस्य। ४ परः। ५ परैः। ६ युगपत्। ७ परमते। ८ तदर्थैः सकृतसम्बन्धश्चेन्मनसः। ९ मनसः। १० परग्रन्थः॥ ११ परः। १२ घटादौ। १३ मनःसम्बन्धः। १४ सर्वज्ञस्य। १५ मनसः। १६ क्रमेण मनःसम्बन्ध। १७ परः। १८ क्रमेण मनःसम्बन्धस्य। १९ युगपदशेषार्थग्रहणमितीष्टौ। २० परः। २१ अशेषार्थैरणुमनसो हि सम्बन्धः। २२ सर्वगतत्वात् (महेश्वरस्य)। २३ सम्बन्धसम्बन्धे। २४ मनसः। २५ तेषामसत्त्वात्। २६ परः। २७ अनुत्पन्नविनष्टार्थकाले। २८ अनुत्पन्नविनष्टार्थसम्बन्धसम्बन्धात् परः। २९ नृणाम्। ३० ईश्वरेण। ३१ युगपत्। ३२ परः। ३३ असर्वज्ञत्वज्ञानासम्भव।

इत्यप्यवाच्यम्; तन्नित्यत्वस्येश्वरनिराकरणप्रघट्टके[1] निराकरिष्यमाणत्वात्। तन्न सन्निकर्षोऽप्यनुपचरितप्रमाणव्यपदेशभाक्[1]॥ छ॥

एतेने[2][2]न्द्रियवृत्तिः[3] प्रमाणमित्यभिदधानः साङ्ख्यः प्रत्याख्यातः। ज्ञानस्वभावमुख्यप्रमाणकरणत्वात् तत्राप्युपचारतः प्रमाणव्यवहाराभ्युपगमात्। न चेन्द्रियेभ्यो वृत्तिर्व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा घटते। तेभ्यो हि यद्यव्यतिरिक्ता[4]सौ; तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासौ, तच्च सुप्ताद्यवस्थाया[5]मप्यस्तीति[6] तदाप्यर्थपरिच्छित्तिप्रसक्तेः[7] सुप्तादिव्यवहारोच्छेदः। अथ व्यतिरिक्ता[9]; तदाप्यसौ किं तेषां धर्मः[10], अर्थान्तरं वा? प्रथमपक्षे वृत्तेः श्रोत्रादिभिः सह सम्बन्धो वक्तव्यः[11]–स हि तादात्म्यम्, समवायादि[12]र्वा स्यात्? यदि तादात्म्यम्; तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्त एव दोषोऽनुषज्यते। अथ समवायः[13]; तदास्य व्यापिनः[14] सम्भवे व्यापिश्रोत्रादिसद्भावे च।

"प्रतिनियतदेशावृत्तिरभिव्यज्येत्[15]" [　　　] इति ब्रुवते[16]। अथ संयोगः[17], तदा द्रव्यान्तरत्व[18]प्रसक्तेर्न तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत्। अर्थान्तरमसौ; तदा नासौ वृत्तिरर्थान्तरत्वात् पदार्थान्तरवत्। अर्थान्तरत्वे[19]ऽपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात्तेषामसौ वृत्तिः; नन्वसौ विशेषो यदि तेषां विषयप्राप्तिरूपः; तदेन्द्रिया[20]दिसन्निकर्ष एव नामान्तरेणोक्तः स्यात्। स चानन्तरमेव प्रतिव्यूढः। अथा[21]ऽर्थाकारपरिणतिः[22]; न; अस्या[23] बुद्धावेवा[24]भ्युपगमात्[25]। न[26] च श्रोत्रा-

१ प्रस्तावे। २ सन्निकर्षप्रमाणनिराकरणेन। ३ नेत्रादीनामुद्घाटनादिः। ४ अभिन्ना। ५ मूर्च्छागतप्रमत्तादि। ६ हेतोः। ७ जाग्रद्दशायां यथा। ८ प्रबुद्ध। ९ भिन्ना। १० स्वरूपं। ११ परैः। १२ आदिपदेन संयोगः। १३ वृत्तेः श्रोत्रादिभिः। १४ नित्य एको व्यापी समवायः। १५ इन्द्रियाणां व्यक्तीक्रियते। १६ भवन्मतं नश्यति। १७ द्वयोर्द्रव्ययोः संयोगः इतिहेतोः संयोगित्वात्। १८ इन्द्रियवृत्तेः। १९ परः। २० अर्थं। २१ परः। २२ वृत्तिः। २३ परिणतेः। २४ अर्थाकारपरिणतिः किम्। २५ साङ्ख्यैः। २६ किंच।

1 प्रस्तुतदिशा सन्निकर्षस्य खंडनंतत्त्वार्थश्लो० पृ० १६५। प्रमाणप० पृ० ५२। न्यायकु० चं० लि० परि० १। स्या० रत्नाकर पृ० ५४। इत्यादिषु द्रष्टव्यं तुलनीयंच।

2 'इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्'। योगद० व्यासभा० पृ० २७।

'अत्रेयं प्रक्रिया इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारावृत्तिः जायते'। सांख्यप्र० भा० पृ० ४७।

विषयैश्चित्तसंयोगाद् बुद्धीन्द्रियप्रणालिकात्।
प्रत्यक्षं सांप्रतं ज्ञानं विशेषस्यावधारकम्॥ २३॥ योगकारिका।

दिस्वभावा तद्धर्मरूपा अर्थान्तरस्वभावा वा तत्परिणतिर्घटते; प्रतिपादितदोषानुषङ्गात्। न च परपक्षे[१] परिणामः परिणामिनो[२] भिन्नोऽभिन्नो वा घटते इत्यग्रे विचारयिष्यते[1] ॥ छ ॥

एतेन[३] प्रभाकरोपि 'अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारो[2]ऽज्ञानरू-[४]पोऽपि प्रमाणम्' इति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढः[५] प्रतिपत्तव्यः; सर्वत्रा[६]ज्ञानस्योपचारादेव प्रसिद्धेः। न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपस्य किञ्चित्प्रमाणं ग्राहकम्[७]-तद्धि प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा[८]? यदि प्रत्यक्षम्; तत्किं स्वसंवेदनम्[९], बाह्येन्द्रियजम्, मनःप्रभवं वा? न तावत्स्वसंवेदनम्; तस्याज्ञाने[१०] विरोधादनभ्युपगमाच्च[११]। नापि बाह्येन्द्रियजम्; इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वोपगमात्। न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां सम्बन्धः; प्रतिनियतरूपादिविषयत्वात्[१२]। नापि मनोजन्यम्; तथा[१३]प्रतीत्यभावादनभ्युपगमा[१४]दतिप्रसङ्गाच्च[१५]। नाप्यनुमानम्;

"ज्ञात[१६]सम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टे[१७]ऽर्थे बुद्धिः[3]" [शावरभा० १।१।५] इत्येवंलक्षणत्वात्तस्य। सम्बन्धश्च कार्यकारणभावादि[१८]निराकरणेन नियम[१९]लक्षणोऽभ्युपगम्यते[२०]। तदुक्तम्-

---

१ साङ्ख्य। २ इन्द्रियस्य। ३ इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमित्येतन्निराकरणेन। ४ चेतनासमवायाच्चेतन आत्मा न स्वरूपतोऽतस्तद्व्यापारोऽपि (अज्ञानरूपः)। ५ (निराकृतः)। ६ मते। ७ स्यात्। ८ अर्थापत्तिरूपम्। ९ अनुभूतिः प्रत्यक्षमिदमाश्रित्य। १० ज्ञातृव्यापारे अप्रवृत्तिः। ११ प्राभाकरैः। १२ ज्ञातृव्यापारस्याऽत्यन्तं परोक्षत्वाच्च। १३ अत्यन्तपरोक्षतया ज्ञातृव्यापारग्राहकत्वप्रकारेण मनोजन्यप्रत्यक्षस्य। १४ परैः। १५ धर्मादेरप्यतीन्द्रियस्य मनःप्रत्यक्षत्वं स्यात् परमाण्वादेरपि ग्राहकत्वं मनसः स्यात्। १६ नुः। १७ इन्द्रियैः। १८ तादात्म्यादि। १९ अविनाभाव। २० परेण।

---

1 इन्द्रियवृत्ति-प्रमाणवादस्य खंडनं विविधरीत्या निम्नग्रंथेषु अवलोकनीयम् न्यायवा० ता० टी० पृ० २३३। न्यायमं० पृ० २६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७। न्यायकु० चं० लि० परि० १। स्या० रत्नाकर पृ० ७२।

2 'तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः ॥ ६१ ॥
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ॥६१॥ मीमां० श्लो० पृ० १५२।

'अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्य आत्मनः कर्मभूतस्य च अर्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति' शास्त्रदी० पृ० २०२।

3 'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टे बुद्धिः' शावर भा० पृ० ८।

कार्यकारणभावादिसम्बन्धानां द्वयी गतिः ।
नियमानियमाभ्यां स्या[1]दनिय[2]मादनङ्[3]गता ॥ १ ॥
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् ।
नियमात्केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते ॥ २ ॥
एवं परोक्त[4]सम्बन्धप्रत्याख्याने कृते सति ।
नियमो नाम सम्बन्धः स्व[5]मतेनोच्यतेऽधुना ॥ ३ ॥ [ ]

इत्यादि ।

स[6] च सम्बन्धः किमन्व[7]यनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण वा ? प्रथमपक्षे किं प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा तन्निश्चयः ? न तावत्प्रत्यक्षेण; उभ[8]यरूपग्रहणे ह्यन्वयनिश्चयः, न च ज्ञातृव्यापारस्वरूपं प्रत्यक्षेण निश्चीयते इ[9]त्युक्तम् । तद[10]भावे च–न तत्[11]प्रतिबद्धत्वेनार्थप्रकाशनलक्षणहेतुरूपमिति । नाप्यनुमानेन[12]; अस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात् । न च त[13]स्यान्वयनिश्चयः प्रत्यक्षसमधिगम्यः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । नाप्यनुमानगम्यः; तद[14]नन्तरप्रथमानुमानाभ्यां तन्निश्चयेऽन[15]वस्थेतरेतराश्रयानुषङ्गात् । नापि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण; व्यतिरेको हि साध्याभावे हेतोरभावः । न च प्र[16]कृतसाध्याभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः, तस्य ज्ञातृव्यापाराविषयत्वेन त[17]द्भाववत्तदभावेऽपि प्रवृत्तिविरोधात् । समर्थितं चास्य तदविषयत्वं प्रागिति । नाप्यनुमानाधिगम्यः, अत[18] एव ।

अथानुपलम्भनिश्चये[19]: अत्रापि किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेतः, अदृश्यानुपलम्भो वा ? यद्यदृश्यानुप[20]लम्भः; नासौ गमकोऽतिप्रस[21]ङ्गात् । दृश्यानुपलम्भोऽपि चतुर्द्धा भिद्यते स्वभाव–कारण–व्यापकानुपलम्भविरुद्धोपलम्भभेदात् । तत्र न तावदाद्यो युक्तः; स्व[22]भा-

---

१ एवं सति च किम् । २ गोपालघटिकादौ व्यभिचारात् । ३ अनुमानं प्रति । ४ सौगताद्युक्त । ५ प्रभाकरमतेन । ६ साध्यसाधनयोरविनाभावलक्षणः । ७ ज्ञातृव्यापारे सति अर्थप्रकाशलक्षणो हेतुर्न घटते । ८ साध्यसाधनरूप । ९ पूर्वम् । १० ज्ञातृव्यापारस्य । ११ सम्बद्ध । १२ अर्थप्रकाशो ज्ञातृव्यापारहेतुकस्तस्मिन् सत्येवोपजायमानत्वादित्यनुमानेन । १३ हेतोः । १४ द्वितीयानुमान । १५ अर्थप्रकाशान्यथानुपपत्तिज्ञातृव्यांपारयो(?)रन्वयः तस्मिन्ननुमानं । तत्स्वयमेव जानाति अनुमानान्तरेण वा । प्रथमस्येतरेतराश्रयः । द्वितीयेऽनवस्था । १६ ज्ञातृव्यापारलक्षण । १७ यद्धि यद्भावग्राहकं तदेव तद्भावग्राहकमिति । १८ तद्भाववत्तदभावेऽपि प्रवृत्तिविरोधात् । १९ व्यतिरेकः ज्ञातृव्यापार आत्मनि नास्ति अनुपलभ्यमानत्वात् खरशृङ्गवदित्यनुपलम्भस्वरूपम् । २० पदार्थानां । २१ पिशाचपरमाण्वादेरपि गमकत्वं स्यात् । २२ शुद्धभूतलोपलम्भ एव स्वभावानुपलम्भः ।

वानुपलम्भस्यैवंविधे विषये[1] व्यापाराभावात्, एकज्ञानसंसर्गिपदा[2]र्थान्तरोपलम्भरूपत्वात्तस्य[3]। न च ज्ञातृव्यापारेण सह कस्यचिदे[4]कज्ञानसंसर्गित्वं सम्भवतीति। नापि द्वितीयः; सिद्धे हि कार्यकारणभावे कारणानुपलम्भः कार्याभावनिश्चायकः[5]। न च ज्ञातृव्यापारस्य केनचित्[6] सह कार्यत्वं निश्चितम्; तस्यादृश्यत्वात्। प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनश्च[7] कार्यकारणभावः। तत[8] एव केनचित्सह[9] व्याप्यव्यापकभावस्यासिद्धेर्न व्यापकानुपलम्भोऽपि तन्निश्चायकः[10]। विरुद्धोपलम्भोपि[11] द्विधा भिद्यते विरोधस्य द्विविधत्वात्; तथा हि-को(एको) विरोधोऽविकलकारणस्य[12] भवतो[13]ऽन्यभावे[14]ऽभावात्सहानवस्थालक्षणः शीतोष्णयोरिव, विशिष्टात्प्रत्यक्षान्निश्चीयते। न च प्रकृतं[15] साध्यमविकलकारणं कस्यचि[16]द्भावे निवर्त्तमानमुपलभ्यते; तस्या[17]दृश्यत्वात्। द्वितीयस्तु[18] परस्परपरिहारस्थितिलक्षणः। सोप्युपलभ्य[19]स्वभावभावनिष्ठत्वात्प्रकृतविषये न सम्भवति।

किञ्चानुपलम्भोऽभावप्रमाणं प्रमाणपञ्चकविनिवृत्तिरूपम्। तच्च ज्ञातमेवाभावसाधकम्; कृतयत्नस्यैव प्रमाणपञ्चकविनिवृत्तेरभावसाधकत्वोपगमात्। तदुक्तम्-

गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते।
तदा[20]न्यकारणाभावा[21]दसन्नित्यवगम्यते॥

[मीमांसाश्लो० वा० अर्था० श्लो० ३८]

तज्ज्ञानं चान्यस्मादभावप्रमाणात्, प्रमेयाभावाद्वा? तत्राद्यपक्षेऽनवस्था[22]प्रसङ्गः-तस्याप्यन्यस्मादभावप्रमाणात्परिज्ञानात्। प्रमेयाभावात्तज्ज्ञाने च-इतरेतराश्रयत्वम्[23]।

१ अत्यन्तपरोक्षे। २ घटेन सह प्रतिषेध्याधारभूतभूतलम्। ३ यदि भूतलाधारतयापि विद्येत तदा प्रत्यक्षेणैव लभ्येत। ४ आत्मनः। ५ ज्ञातृव्यापारलक्षण। ६ कारणेन। ७ अन्वयः व्यतिरेकः (प्रत्यक्षेणान्वयव्यतिरेकनिबन्धनः)। ८ ज्ञातृव्यापारस्यादृश्यत्वादेव। ९ आत्मादिव्यापारस्य। १० ज्ञातृव्यापाराभाव। ११ ता। १२ शीतकालादेः। १३ जायमानस्य। १४ वह्नि। १५ ज्ञातृव्यापाररूपं। १६ विरोधिनः। १७ ज्ञातुर्व्यापारस्य। १८ विरोधः। १९ ज्ञेय। २० अर्थानुपलम्भकाले। २१ इन्द्रियाभावस्यालोकाभावस्य च कारणस्य। २२ आद्यप्रमाणपञ्चकाभावस्य प्रथमप्रमाणपञ्चकविषयप्रमाणपञ्चकाभावात् परिज्ञानं तस्यापि प्रमाणात्.................द्वितीयस्माद्द्वितीयप्रमाणपञ्चकविषयप्रमाणपञ्चकाभावात् परिज्ञानं तस्याप्येवमित्यादि प्रकारेण। २३ सिद्धे हि प्रमेयाभावे अभावप्रमाणपरिज्ञानं सिध्यति तत्सिद्धौ च प्रमेयाभावसिद्धिरिति।

1 तु०-अविकलकारणस्य भवतः···इत्यादि-न्यायवि० पृ० ९६।

किञ्चासौ ज्ञातृव्यापारः कारकैर्जन्यः, अजन्यो वा ? यद्यजन्यः; तदाऽसावभावरूपः[1], भावरूपो[2] वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; तस्याभावरूपत्वेऽर्थप्रकाशनलक्षणफलजनकत्वविरोधात् । विरोधे वा[3] फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थम्, तत एवा[4]भिमतफलसिद्धेर्विश्वम्[5]दरिद्रं च स्यात् । अथ भावरूपोऽसौ; तत्रापि किं नित्यः, अनित्यो वा ? न तावन्नित्यः; अन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गात् सुप्तादिव्यवहाराभावः सर्वसर्वज्ञताप्रसङ्गः कारकान्वेषणवैयर्थ्यं[6] च स्यात् । अथानित्यः; तदयुक्तम्; अजन्यस्वभाव[7]भाव[8]स्यानित्यत्वेन केनचिद्[9]प्यनभ्युपगमात् । भवतु वाऽनित्यः; तथाप्यसौ कालान्तरस्थायी, क्षणिको वा ? न तावत्कालान्तरस्थायी;

“क्षणिका हि सा[10] न कालान्तरमवतिष्ठते” [शावरभा०][1] इति वचसो विरोधप्रसङ्गात् । कारकान्वेषणं चापार्थकम्-तत्कालं[11] यावत्तत्फलस्यापि निष्पत्तेः । क्षणिकत्वे; विश्वं निखिलार्थप्रतिभासरहितं स्यात् क्षणानन्तरं तस्यासत्त्वेनार्थप्रतिभासाभावात् । [12]द्वितीयादिक्षणेषु स्वत एवात्मनो[13] व्यापारान्तरोत्पत्तेर्नायं दोषः; इत्यप्यसङ्गतम्; कारकानायत्तस्य[14] देशकालस्वरूपप्रतिनियमायोगात् । किञ्च; अनवरतव्यापाराभ्युपगमे[15] तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथा भावात्[16] तदवस्थः सुप्ताद्यभावदोषानुषङ्गः । तन्नाऽजन्योऽसौ ।

नापि जन्यः; यतोऽसौ क्रियात्मकः, अक्रियात्मको वा ? प्रथमपक्षे किं क्रिया परिस्पन्दात्मिका, तद्विपरीता वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; निश्चलस्यात्मनः परिस्पन्दात्मकक्रियाया अयोगात् । नापि द्वितीयः; तथाविधक्रियायाः परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य फलजनकत्वविरोधात् । न चासौ[17] परिस्पन्दस्वभावा तद्विपरीता वा-कारक[18]फलान्तराल[19]वर्त्तिनी[20] प्रमाणतः प्रतीयते । तन्न क्रियात्मको व्यापारः । नापि तद्विपरीतः; अक्रियात्मको हि व्यापारो बोधरूपः, अबोधरूपो वा ? बोधरूपत्वे; प्रमातृवत्प्रमा-

१ खरविषाणादौ । २ आकाशादौ । ३ किञ्च । ४ अभावरूपव्यापारादेव । ५ जगत् । ६ सहकारिकारणैर्नित्यस्यानुपकार्यत्वात् । ७ प्रागभावाद् व्यभिचारमाशङ्क्य भावशब्दः प्रयुक्तः । ८ पदार्थस्य । ९ वादिना नरेण । १० ज्ञातृव्यापाररूपा क्रिया । ११ ज्ञातृव्यापार । १२ परः । १३ पुरुषस्य । १४ ज्ञातृव्यापारस्य । १५ परैः । १६ सर्वदाभावात् । १७ किञ्च । १८ प्रमाता । १९ अर्थप्रकाश । २० ज्ञातृव्यापारलक्षणा ।

1 ‘क्षणिका हि सा न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते’ शाबरभा० पृ० ७ ।

णान्तरगम्यता न स्या[2]त्। अबोधरूपता तु व्यापारस्यायुक्ता; चिद्रूपस्य ज्ञातुरचिद्रूपव्यापारायोगात्। 'जानाति' इति च क्रिया ज्ञातृव्यापारो भवताभिधीयते, स च बोधात्मक एव युक्तः।

किञ्चासौ धर्मिस्वभावः, धर्मस्वभावो वा? प्रथमपक्षे-ज्ञातृवन्न प्रमा[3]णान्तरगम्यता। द्वितीयेपि पक्षे-धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापारः, अव्यतिरिक्तो वा, उभयम्, अनुभयं वा? व्यतिरिक्तत्वे-सम्बन्धाभावः। अव्यतिरेके-ज्ञातै[4]वं तत्स्वरूपवत्। उभयपक्षे तु-विरोधः। अनुभयपक्षोऽप्ययुक्तः; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपा[5]णां सकृत् प्रतिषेधायोगात् एकनिषेधेनापरविधानात्।

किञ्च, व्यापारस्य कारकजन्यत्वोपग[6]मे तज्जनने प्रवर्त[7]मानानि कारकाणि किमपरव्यापारसापेक्षाणि, न वा? तत्राद्यपक्षे अनवस्था; व्यापारान्तरस्याप्यपरव्यापारान्तरसापेक्षैस्तै[7]र्जननात्। व्यापारनिरपेक्षा[8]णां तज्जनकत्वे-फलजनकत्वमेवास्तु किमदृष्टव्यापारकल्पनाप्रयासेन? अस्तु वा व्यापारः; तथाप्यसौ प्र[9]कृतकार्ये व्यापारान्तरसापेक्षः, निरपेक्षो वा? न तावत्सापेक्षः; अपरापरव्यापारान्तरापेक्षायामेवोप[10]क्षीणशक्तिकत्वेन प्रकृतकार्यजनकत्वाभावप्रसङ्गात्। व्यापारान्तरनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वे कारकाणामपि त[11]था तदस्तु विशेषाभावात्। अथैवं पर्य[12]नुयोगः सर्वभा[13]वस्वभावव्यावर्तकः; तथाहि-वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे गगनस्यापि तत्स्यात् इतरथा वह्नेरपि न स्यात्, तदसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षसिद्धत्वेनात्र पर्यनुयोगस्यानवकाशात्, व्यापारस्य तु प्रत्यक्षसिद्धत्वाभावान्न त[14]थास्वभावावलम्बनं युक्तम्।

[15]अर्थप्राकट्यं व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानं तं कल्पयतीत्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिरित्यपि फल्गुप्रायम्; अर्थप्राकट्यं हि ततो भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; तदाऽर्थ एवेति यावदर्थं तत्सद्भावात्सुप्ता[16]र्थभावः। भेदे-सम्बन्धासिद्धिरनुपकारात्। उ[17]पकारेऽनवस्था। किञ्च, एतद[18]न्यथानुपपद्यमानत्वेनानिश्चितं[19] तं[20] कल्पयति,

---

१ ज्ञातृव्यापारोस्ति अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्तेरित्यर्थापत्तिरूप । २ अक्रियात्मकत्वात्। ३ अभिन्नत्वात्। ४ धर्मरूपत्वात्। ५ वस्तुधर्माणां। ६ परैः। ७ कारकाणां। ८ अर्थप्रकाश। ९ अर्थप्रकाशलक्षणे। १० नष्ट। ११ निरपेक्षत्वप्रकारेण। १२ प्रश्नः। १३ पदार्थ। १४ व्यापारान्तरनिरपेक्षत्वप्रकारेण कार्यजनकत्वलक्षण। १६ अन्यद्वा इत्यमुं तृतीयं विकल्पं शोधयति। १६ अर्थप्राकट्यस्य सर्वदा भावात्। १७ उपकारस्याप्युपकारकरणे सम्बन्धो न स्यादित्युपकारकल्पने। १८ ज्ञातृव्यापारमन्तरेण। १९ अर्थप्राकट्यं। २० व्यापारं।

निश्चितं वा? न तावदनिश्चितम्; अतिप्रसङ्गात्-तथाभूतं[1] हि तद्यथा तं कल्पयति तथा येन विना[2]प्युपपद्यते तदपि किं न कल्पयत्यविशेषात्? निश्चितं[3] चेत्; क्व तस्या[4]न्यथानुपपन्नत्वनिश्चयः-दृष्टान्ते, साध्यधर्मिणि वा? दृष्टान्ते चेत्; लिङ्गस्यापि तत्र साध्यनियत[5]त्वनिश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिरिति प्रमाणसंख्याव्याघातः। साध्यधर्मिण्यपि कुतः प्रमाणात्तस्य तन्निश्चयः? विपक्षे[6]ऽनुपलम्भाच्चेत्; न; तस्य सर्वात्मसम्बन्धिनोऽसिद्धानैकान्तिकत्वादित्युक्तम्। ततः प्रमाणतोऽचेतनस्वभावज्ञातृव्यापारस्याप्रतीतेः कथमर्थतथात्वप्रकाशकोऽसौ यतः प्रमाणं स्यात्[1]॥ छ ॥

ज्ञान[7]स्वभावस्य ज्ञातृव्यापारस्यार्थतथात्वप्रकाशकतया प्रमाणताभ्युपगमान्न भट्टस्यानन्तरोक्ताशेषदोषानुषङ्गः, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा परोक्षज्ञानस्वभावस्यास्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। सकलज्ञानानां स्वपरव्यवसायात्मकत्वेन व्यवस्थितेः इत्यलं प्रपञ्चेन[8]। 'तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात्' इत्यभिप्रायवान् प्रमाणस्य ज्ञानविशेषणत्वं समर्थयमानः प्राह—

हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥

हितं सुखं तत्साधनं च, तद्विपरीतमहितम्, तयोः प्राप्तिपरिहारौ। प्राप्तिः खलूपादेय[9]भूतार्थक्रियाप्रसाधका[10]र्थप्रदर्शकत्वम्[2]। अर्थक्रियार्थी हि पुरुषस्तन्निष्पादनसमर्थं[11] प्राप्तुकामस्तत्प्रदर्शकमेव प्रमाणमन्वेषत इत्यस्य प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्[12]। न हि तेन प्रदर्शितेऽर्थे प्राप्त्यभावः। न[13] च क्षणिकस्य ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदवस्थाना[14]भावात्कथं प्रापकतेति वाच्यम्[15]? प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्तत्रा[16]सम्भवात्। न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्यार्थप्राप्तौ संन्निकृ[17]ष्टत्वात्तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम्; यतो यद्यप्यनेकस्माज्ज्ञानक्षणात्प्र[18]वृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव

१ कथं तथाहि। २ स्तम्भाद्यभावेन। ३ ज्ञातृव्यापारेण सह। ४ अर्थप्राकट्यस्य। ५ अविनाभाव। ६ ज्ञातृव्यापाराभावे स्तम्भादौ प्राकट्यस्य। ७ परः। ८ ज्ञातृव्यापारस्य निराकरणेन। ९ स्नानपानादि। १० जलादि। ११ जलादिकं। १२ प्राप्तिनिबन्धनत्वं। १३ बौद्धो वदति। १४ स्थिति। १५ परेण। १६ अर्थज्ञाने। १७ समीपत्वात्। १८ पुरुषस्य।

1 शावराभिमतज्ञातृव्यापररूपप्रमाणस्य समीक्षा निम्नग्रंथेषु समवलोक्य तुलनीया न्यायमं० पृ० १६। न्यायकु० चं० लि० परि० १। सन्मति० टी० पृ० २०।

2 तु०–'प्रवर्त्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव' न्यायवि० टी० पृ० ५।

ज्ञानस्य प्रापकत्वम्–नान्यत्। तच्च प्रथमत एव ज्ञानक्षणे सम्पन्न[1]मिति नोत्तरोत्तरज्ञानानां तदु[2]पयोगि[3](त्वम्), तद्वि[4]शेषांश[5]प्रदर्शकत्वेन तु तत्[6] तेषामुपपन्नमेव। प्रवृत्तिमूला तूपादेया[7]र्थप्राप्तिर्न[8] प्रमाणाधीना[9]–तस्याः पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिप्रभवत्वात्। न च प्रवृ[10]त्त्यभावे प्रमाणस्यार्थप्रदर्शकत्वलक्षणव्यापाराभावो वाच्यः, प्रती[11]तिविरोधात्। न खलु चन्द्रार्कादिविषयं प्रत्यक्षमप्रवर्तकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोके प्रतीतिः। कथं चैवंवा[12]दिनः सुगतज्ञानं प्रमाणं स्यात्? न हि हेयोपादेयतत्त्वज्ञानं कंचित्[13] तस्य प्रवर्तकं कृतार्थत्वात्, अन्य[14]था कृता[15]र्थता न स्या[16]दितरजनवत्। सुखादिस्वसंवेदनं वा[17]; न हि कंचि[18]त्तत्पुरुषं प्रवर्तयति फलात्मकत्वात्, अन्यथा प्रवृ[19]त्त्यनवस्था[20]। व्याप्तिज्ञानं वा[21] न खलु स्वविषये[22]ऽर्थिनं[23] तत्प्रवर्त्तयति अनुमानवैफल्यप्रसङ्गात्। ततः[24] प्रवृत्त्यभावेऽपि[25] प्रवृत्तिविषयोपद[26]र्शक[27]त्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्य[28]म्।

ननु[29] प्रवृत्तेर्विषयो भावी, वर्तमानो वा[30]ऽर्थः? भावी चेत्; नासौ प्रत्यक्षेण प्रवर्तयितुं शक्यस्तत्र तस्याप्रवृत्तेः। वर्तमानश्चेत्; न; अर्थिनोऽत्राऽप्रवृत्तेः, न हि कश्चिदनुभू[31]यमान एव प्रवर्ततेऽनव[32]स्था[33]पत्तेः; इत्य[34]साम्प्रतम्; अर्थक्रियासमर्थार्थस्य अर्थक्रियायाश्च प्रवृत्तिविषयत्वात्। तत्रा[35]र्थक्रियासमर्था[36]र्थोऽध्यक्षेण प्रदर्शयितुं शक्यः। न ह्यर्थक्रियावत्सोऽप्यनागतः[37]। न चास्याध्यक्षत्वे प्रवृ[38]त्त्यभावप्रसङ्गः; अर्थक्रियार्थत्वात्तस्याः। कार्या[39]दृष्टौ कथम् 'एतत्[40]तत्र[41] समर्थम्' इत्य[42]वगमो यतः प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्; आस्तां तावदेतत्–कार्यकारणभाव-

१ जातं। २ प्रदर्शकत्वम्। ३ फलवत्। ४ अर्थ। ५ भेद। ६ प्रदर्शकत्वं। ७ जलादि। ८ कारणका। ९ प्रवर्तकत्वाभावे। १० नुः। ११ भा। १२ यन्न प्रवर्तकं तन्न प्रमाणमित्येवंवादिनः। १३ विषये। १४ कृतार्थकमपि प्रवर्तयति चेत्। १५ सुगतो न सर्वज्ञो ज्ञानेन प्रवर्त्यमानत्वाद्गोपवत्। विपक्षे गोपस्य सर्वज्ञत्वं तत एव सुगतवत्। १६ कृतार्थकमपि प्रवर्तयतीति चेत्। १७ कथं प्रमाणम् (अपि तु न स्यात् अस्ति च प्रमाणं प्रदर्शकत्वात्)। १८ अर्थे। १९ प्रवृत्तेः फलहेतुत्वात्तत्रापि फलेन भाव्यम्। २० अनुपरमा। २१ कथं प्रमाणम्। २२ अखिलसाध्यसाधनलक्षणे। २३ पुरुषं। २४ यतः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वं ज्ञानस्य। २५ सद्भावे। २६ अर्थ। २७ प्रकाशकत्वेन। २८ परेण। २९ परः। ३० द्वयोर्मध्ये। ३१ विषये। ३२ अन्यथा। ३३ अर्थप्राप्त्यर्थं हि प्रवृत्तिः सा प्रत्यक्षा जातेति। ३४ प्रवृत्तेः फलहेतुत्वात्तत्रापि फलेन भाव्यम्। ३५ तयोर्द्वयोर्मध्ये। ३६ जलादिः। ३७ अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादर्थस्य। ३८ अर्थप्राप्त्यर्थं हि प्रवृत्तिः सा प्रत्यक्षं जायते इति। ३९ परः। स्नानादि। ४० जलं। ४१ अर्थक्रियायां। ४२ निश्चयः।

विचारप्रस्तावे विस्तरेणाभिधानात्। प्रतीयते[1] च 'इदं[2]मभिमतार्थ-क्रियाकारि न त्वि[3]दम्' इत्यर्थमात्रप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिः पशूनामपि। तस्मादर्थक्रियासमर्थार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रमाणस्य हितप्रापणम्। अहितपरिहारोऽपि 'अनभिप्रेतप्रयोजनप्रसाध[4]नमेतत्' इत्युपदर्शन-मेव। त[5]योः समर्थमव्यवधानेनार्थतथाभावप्रकाशकं हि यस्मा-त्प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। न चाज्ञानस्यै[6]वंविधं त[7]त्प्राप्तिपरि-हारयोः सामर्थ्यं ज्ञा[8]नकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्।

ननु साधूक्तं प्रमाणस्याज्ञानरूपतापनोदार्थं ज्ञानविशेषणमस्मा[9]-कमपीष्टत्वात्, तद्धि समर्थ[10]यमानैः साहाय्यमनु[11]ष्ठितम्। त[12]च्च किञ्चिन्निर्विकल्पकं किञ्चित्सविकल्पकमिति म[13]न्यमानंप्रति अशेष-स्यापि प्रमाणस्याविशेषेण विकल्पात्मकत्वविधानार्थं व्यवसाया-त्मकत्वविशेषणसमर्थनप[14]रं तन्निश्चयात्मकमित्याद्याह। यत्प्राक्[15]प्र-बन्धेन समर्थितं ज्ञानरूपं प्रमाणम्—

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥ ३ ॥

संशयविपर्यासानध्यवसायात्मको हि समारोपः, तद्विरुद्धत्वं वस्तुतथाभावग्राहकत्वं नि[16]श्चयात्मकत्वेनानुमाने व्याप्तं सुप्रसिद्धम्। अन्यत्रा[17]पि ज्ञाने तद् दृश्यमानं निश्चयात्मकत्वं निश्चाययति, समारोपविरोधिग्रहणस्य[18] निश्चयस्वरूपत्वात्। प्रमाणत्वाद्वा[19] त[20]त्त-दात्मकमनुमानवदेव। प[21]रनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम्, न चावि[22]कल्पकम् तथा—नीलादौ वि[23]कल्पस्य क्षणक्ष-येऽनुमान[24]स्यापेक्षणात्। ततोऽप्रमाणं तत् वस्तुव्यवस्थायामपे-क्षितपरव्यापारत्वात् सन्नि[25]कर्षादिवत्। न[26]चे[27]दमनु[28]भूयते—अक्ष-व्यापारान[29]न्तरं स्वार्थव्यवसायात्मनो नीलादिविकल्पस्यैव वैशद्ये-नानुभवात्।

---

१ किंच। २ वस्तु। ३ पाषाणादिकम्। ४ अहिकण्टकादि। ५ हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः। ६ अन्यवधानेनार्थतथात्वप्रदर्शकत्वलक्षणम्। ७ हिताहित। ८ अन्यथा। ९ बौद्धानां। १० जैनैः। ११ कृतम्। १२ ज्ञानं। १३ बौद्धं। १४ प्रधानं। १५ स्वापूर्वेत्यादि। १६ व्यापकेन। १७ प्रत्यक्षे। १८ ज्ञानस्य। १९ सम्यग्ज्ञानत्वादविसंवादित्वान्निश्चयहेतुत्वात्। २० ज्ञानविशेषणविशिष्टं प्रमाणं। २१ प्रमाणत्वं च स्यान्निश्चयात्मकत्वं च न स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। परं सविकल्पकं ज्ञानम्। २२ दर्शनं सौगताभिमतम्। २३ नीलमीदं पीतमीदम्। २४ सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् इत्यस्य। २५ ज्ञानापेक्ष। २६ किञ्च। २७ निर्विकल्पकम्। २८ प्रत्यक्षसिद्धं न भवतीत्यर्थः। २९ नयनोन्मीलनानन्तरम्।

नच [1]विकल्पाविकल्पयोर्युगपद्वृत्तेर्[1]लघुवृत्तेर्वा एकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीतिः; तद्व्यतिरेकेणापरस्याप्रतीतेः । भेदेन प्रतीतौ ह्यन्यत्रान्यस्यारोपो युक्तो मित्रे चैत्रवत् । न [2]चाऽस्पष्टाभो विकल्पो निर्विकल्पकं च स्पष्टाभं प्रत्यक्षतः प्रतीतम् । [3]तथाप्यनुभूयमानस्वरूपं वैशद्यं परि[3]त्यज्याननुभू[4]यमानस्वरूपं वै(पमवैशद्यं) परि[5]कल्पयन् कथं परीक्षको नाम ? अनवस्थाप्रसङ्गात्-[6]ततोप्यपर[7]स्वरूपं [8]तदिति परिकल्पनप्रसङ्गात् । युगपद्वृत्तेश्चाभेदाध्यवसाये दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकस्यापि सहोत्पत्तेरभेदाध्यवसायः किन्न स्यात् ? [9]भिन्नविषयत्वात्तेषां तदभावे-अत एव स [10]प्रकृतयोरपि न स्यात् क्षणसन्ता[11]नविषयत्वेना[12]नयोरप्य[13]स्याविशेषात् । लघुवृत्तेश्चाऽभेदाध्यवसाये-खरटितमित्यादावप्यभेदाध्यवसायप्रसङ्गः । [14]कथं [15]चैवं [16]कापिलानां बुद्धिचैतन्ययोर्भेदो[17]ऽनुपलभ्यमानोपि [18][19]न स्यात् ?

[20]अथा[21]नयोः सा[3]दृश्याद्भेदेनानुपल[22]म्भः, [23]अभिभवाद्वाभिधीयते[24] ? ननु किंकृतमनयोः सादृश्यम्-विषयाभेद[25]कृतम्, ज्ञानरूपताकृतं

---

१ क्रमसत्त्वेऽपि । २ अविकल्पविकल्पयोः स्पष्टाऽस्पष्टत्वेन भेदेन प्रत्यक्षतः प्रतीत्यभावे । ३ विकल्पे । ४ अवैशद्यम् । ५ सौगतः । ६ अवैशद्यधर्मात् । ७ पीतम् । ८ सविकल्पकम् । ९ परः । १० अविकल्पकविकल्पयोः । ११ सामान्य । १२ अविकल्पविकल्पयोः । १३ भिन्नविषयत्वस्य । १४ किंच । १५ विकल्पाविकल्पयोरनुपलभ्यमानभेदसम्भवप्रकारेण । १६ साङ्ख्यानाम् । १७ अप्रतीयमानः । १८ अनुपलभ्यमानत्वान्न सिध्येत् । १९ अभ्युपगममात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । २० परः । २१ विकल्पेतरयोः । २२ पृथक्त्वाध्यवसायस्य । २३ पराभवात् । २४ परेण । २५ भा (तृतीया) ।

---

1 'मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाऽकल्पयोः ।
विमूढः सम्प्रवृत्तेर्वा (लघुवृत्तेर्वा) तयोरैक्यं व्यवस्यति' ॥

प्रमाणवा० ३ । १३३

2 'विकल्पज्ञानं हि संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तुगृह्णत् शब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात् । संकेतकालदृष्टत्वं च संकेतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम् । यथाच पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं संप्रत्यसत् तद्वत् पूर्वविनष्टज्ञानविषयत्वमपि संप्रति नास्ति वस्तुनः । तदसद्रूपं वस्तुनो गृह्णदसन्निहितार्थग्राहित्वादस्फुटाभम् अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम् । ततः स्फुटाभत्वात् निर्विकल्पकम्...'

न्यायबि० टी० पृ० २१

3 तुलना—'अथ विकल्पाविकल्पयोः सादृश्यादभिभवाद्वा...'

स्या० रत्नाकर पृ० ७९

वा? न तावद्विषयाभेदकृतम्; सन्तानेतर[1]विषयत्वेनानयोर्विषयाभेदाऽसिद्धेः ज्ञानरूपतासादृश्येन त्व[2]भेदाध्यवसाये—नील[3]पीतादिज्ञानानामपि भेदेनोपलम्भो न स्यात्। अथाभिभवात्; केन कस्याभिभवः? विकल्पेनाविकल्पस्य भानुना तारानिकरस्येवेति चेत्; विकल्पस्याप्यविकल्पेनाभि[4]भवः कुतो न भवति? बलीयस्त्वा[1]दस्येति चेत्; कुतोस्य बलीयस्त्वम्-बहुविषयात्, निश्चयात्मकत्वाद्वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, निर्विकल्पविषय एव तत्प्रवृत्त्यभ्युपगमात्[5], अन्यथा अगृहीतार्थग्राहित्वेन प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेपि स्वरूपे निश्चयात्मकत्वं तस्य, अर्थरूपे वा? न तावत्स्वरूपे—

"सर्व[6]चित्त[7]चैत्ता[8]नामात्म[9]संवेद[10]नं प्र[11]त्यक्षम्" [न्यायबि० पृ० १९] इत्य[12]स्य विरोधात्। नाप्यर्थे-विकल्पस्यैकस्य निश्च[13]यानिश्चयस्वभावद्वयप्रसं[14]ङ्गात्। तच्च परस्परं तद्[15]वतश्चैकान्त[16]तोभिन्नं चेत्; समवायाद्यनभ्युप[17]गमात् सम्बन्धासिद्धेः 'बलवान्विकल्पो निश्च[18]यात्मकत्वात्' इत्यस्या[19]सिद्धेः। अभेदैकान्तेपि-त[20]द्द्वयं त[21]द्वानेव वा भवेत्। कथंचि[22]त्तादात्म्ये-निश्चयानिश्चयस्वरूपसाधारणमात्मा[23]नं प्रतिपद्यते चेद्विकल्पः-स्वरूपेपि सवि[24]कल्पकः स्यात्, अन्यथा निश्चय[25]स्वरूपतादात्म्यविरोध[26]ः। न च[27] स्वरूपमनिश्चिन्वन्विकल्पोऽर्थनिश्चा[28]यकः, अन्यथाऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्रा[29]हकं भवेत् तथाच—

"अप्र[2]त्यक्षो[30]पलम्भस्य" [ ] इत्या[31]दिविरोधः; तत्स्वरूप-

---

१ क्षण। २ पुनः। ३ क्षण। ४ तिरस्कारः। ५ परैः। ६ निर्विकल्पकबोध। ७ सविकल्पक्षण। ८ निर्विकल्पकक्षण। ९ नीलमिति स्वसंवेदनेन। १० स्वसंवेदनम्। ११ नीलाद्याकारतया सविकल्पाः क्षणाः। १२ सर्वज्ञानानां स्वरूपे निर्विकल्पकत्वाभ्युपगमस्य ग्रन्थस्य। १३ स्वरूपेऽनिश्चयात्मकत्वमर्थे निश्चयात्मकत्वम्। १४ ततः स्वरूपनिश्चयाभावात्। १५ विकल्पात्। १६ स्वरूपम्। १७ परेण। १८ त्रयाणां भेदात्। १९ सौगताभ्युपगतस्य हेतोः। २० स्वरूपम्। २१ विकल्पः। २२ सति। २३ स्वरूपम्। २४ तथा चापसिद्धान्तप्रसङ्गः। २५ भा। २६ विकल्पस्य। २७ किंच। २८ अज्ञात। २९ नाज्ञातं नाम ज्ञापकम्। ३० अत्यन्तपरोक्षज्ञानस्य। ३१ नार्थसिद्धिः प्रसिद्ध्यति।

---

1 तुलना—'अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वाद'···सन्मति० टी० पृ० ५००
स्या० रत्नाकर पृ० ५०

2 'अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्ध्यति।
तन्न ग्राह्यस्य संवित्तिर्ग्राहकानुभवादृते' ॥ २०७४ ॥ तत्त्वसं०

स्वा[1]नुभूत[2]स्या[3]प्यनि[4]श्चितस्य क्षणिक[5]त्वादिवन्ना[6]न्यनिश्चायकत्वम् । विकल्पान्तरेण तन्निश्चयेऽनवस्था ।

क[7]श्चानयोरेकत्वा[8]ध्यवसायः-किमेक[1]विषयत्वम्, अन्यतरेणान्यतरस्य विषयीकरणं वा, परत्रेतरस्याध्यारोपो वा ? न तावदेकविषयत्वम्; सामान्यविशेष[9]विषयत्वेना[10]नयोर्भिन्नविषयत्वात्। दृ[11]श्यवि[12]कल्प(ल्प्य)योरेकत्वाध्यवसायादभिन्नविषयत्वम्; इत्यप्ययुक्तम्; एकत्वाध्यवसायो हि दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपः। स च गृहीतयोः, अगृहीतयोर्वा तयोर्भवेत्? न तावद्गृहीतयोः; भिन्नस्वरूपतया प्रतिभासमानयोर्घटपटयोरिवैकत्वाध्यवसायायोगात्। न चा[13]नयोर्ग्रहणं दर्शनेन; अस्य विकल्प्यागोचरत्वात् । नापि विकल्पेन; अस्यापि दृश्यागोचरत्वात्। नापि ज्ञानान्तरेण; अस्यापि निर्विकल्पकत्वे विकल्पा[14]त्मकत्वे चोक्तदोषानतिक्रमात् । नाप्यगृहीतयोः स सम्भवति अति[15]प्रसङ्गात्। सादृश्यनिबन्धनश्चारोपो [16]दृष्टः, व[17]स्त्ववस्तुनोश्च नीलखरविषाणयोरिव सादृश्याभावान्नाध्यारोपो युक्तः। तन्नैकविषयत्वम्।

अन्यतरस्यान्यतरेण विषयीकरणमपि-समानकालभा[18]विनोरपारतन्त्र्यादनुपपन्नम् । अविषयीकृत[19]स्यान्यस्यान्यत्रा[20]ध्यारोपोऽप्यसम्भवी । किञ्च, विक[21]ल्पे निर्विकल्पकस्याध्यारोपः, निर्विकल्पके विकल्पस्य वा? प्रथमपक्षे-विकल्पव्यवहारोच्छेदः निखिलज्ञानानां निर्विकल्पकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षेऽपि-निर्विकल्पकवार्तोच्छेदः-सकलज्ञानानां सविकल्पकत्वानुषङ्गात्।

किंच, विकल्पे निर्विक[22]ल्पकधर्मारोपाद्वैशद्यव्यवहारवत् निर्विकल्पके विकल्पधर्मारोपादवैशद्यव्यवहारः किन्न स्यात्? निर्विकल्पकधर्मेणाभिभूतत्वाद्विकल्प[23]धर्मस्य इत्यन्य[24]त्रापि समानम्। भवतु

१ उपलम्भः स्वरूपं जानाति नवा? न जानाति चेत्कथं सर्वं जानातीत्यभिप्रायः। २ नीलंनीलमिति। ३ नीलोयमिति। ४ नैयायिकं प्रति बौद्धेनोक्तम्। ५ विकल्पस्वरूपं यथा क्षणिकत्वादिनिश्चायकं न भवति अनिश्चितत्वात्तथाऽर्थस्यापि न निश्चायकं तत एव। ६ अर्थे। ७ निर्विकल्पकसविकल्पकयोः। ८ भा। ९ परमाणु। १० निर्विकल्पकसविकल्पकयोः। ११ परः, स्वलक्षण। १२ नीलादि। १३ दृश्यविकल्प्ययोः। १४ सति। १५ खरविषाणयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गः परमाण्वादावपि स्याद्वा। १६ लोके। १७ दृश्यविकल्प्ययोः। १८ विकल्पाविकल्पयोः। १९ अविकल्पस्य। २० विकल्पे। २१ इदं निर्विकल्पकमिति। २२ वैशद्य। २३ विकल्पधर्मस्यावैशद्यस्य निर्विकल्पके आरोपेन न (इति चेत्)। २४ विकल्पधर्मेण निर्विकल्पधर्मस्याभिभूतत्वात् विकल्पे निर्विकल्पकधर्मारोपाद्वैशद्यव्यवहारो माभूत्।

1 तुलना—किमेकविषयत्वमन्यतरस्य…स्या० रत्नाकर पृ० ५०

वा तेनैवाभिभवः; तथाप्यसौ सहभावमात्रात्, अभिन्नविषयत्वात्, अभिन्नसामग्रीजन्यत्वाद्वा स्यात्? प्रथमपक्षे गोदर्शनसमयेऽश्ववि[1]कल्पस्य स्पष्टप्रतिभा[2]सो भवेत्सहभावाविशेषात्। अथानयोर्भिन्नविषयत्वात् न अस्प[3]ष्टप्रतिभासमभि[4]भूयाश्वविकल्पे स्पष्ट[5]तया प्रतिभासः; तर्हि शब्दस्वलक्षण[6]मध्यक्षेणानुभव[7]ता तत्र क्षण[8]क्षयानुमानं स्प[9]ष्टमनुभूयतामभिन्नविषयत्वान्नीलादिविक[10]ल्पवत्। भि[11]न्नसामग्रीजन्यत्वादनुमानविकल्पस्या[12]ध्यक्षेण तद्धर्माभिभवा[13]भावे सकलवि[14]कल्पानां विशदावभासिस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणाभि[15]न्नसामग्रीजन्येनाभि[16]भवप्रसङ्गः। अ[17]थ त[18]त्राभिन्नसामग्रीजन्यत्वं ने[19]ष्यते–तेषां विकल्प[20]वासनाजन्यत्वात्, सवेदनमात्रप्रभवत्वाच्च स्वसंवे[21]दनस्य इत्यसत्; नीलादिविकल्पस्याप्यध्यक्षेणाभिभवाभावप्रसङ्गा[22]त्तत्रापि तदविशेषात्।

किंच, अ[23]नयोरेक[1]त्वं निर्विकल्पकमध्यवस्यति, विकल्पो वा, ज्ञानान्तरं वा? न तावन्निर्विकल्पकम्; अध्यवसायविकलत्वात्तस्य, अन्यथा भ्रान्तताप्रस[24]ङ्गः। नापि विकल्पः; तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात्, अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः "वि[2]कल्पोऽवस्[25]तुनिर्भासः" [ ] इत्य[26]स्य विरोधः। न चाविषयीकृ[27]तस्यान्यत्रा[28]रोप[29]ः। न ह्यप्रतिपन्नरज[30]तः शुक्तिकायां रजतमारोपयति। ज्ञानान्तरं तु निर्विकल्पकम्, सविकल्पकं वा? उभयत्राप्युभयदोषानुषङ्गतस्तदु[31]भयविषयत्वायोगः। तदन्यतरविषयेणा[32]नयोरेकत्वा-

---

१ निर्विकल्पकधर्मेणाभिभूतत्वात्। २ दर्शने। ३ अवैशद्यं। ४ तिरस्कृत्य लोप्य वा। ५ वैशद्येन। ६ श्रोत्रेन्द्रियदर्शनेन। ७ परेण। ८ सर्वं क्षणिकमिति। ९ परेण। १० नीलादिप्रतिभासो यथानुभूयते। ११ प्रत्यक्षं श्रोत्रचक्षुरादिजनितमनुमानं च लिङ्गजनितम्। १२ दर्शनेन। १३ अनुमानं स्पष्टं नानुभूयते। १४ प्रधानादिविकल्पानां। १५ सर्वचित्तचैत्तानामभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्। १६ विशदतयाप्रतिभासो भवेत्सकलविकल्पानाम्। १७ परः। १८ सर्वविकल्पेषु स्वसंवेदनेषु च। १९ सौगतैरस्माभिः। २० संस्कार। २१ प्रत्यक्षस्य। २२ नीलादिविकल्पे। २३ विकल्पेतरयोः। २४ नीलादिविकल्पवत्। २५ अवस्तुनि निर्भासः प्रतिभासो यस्य विकल्पस्य सः। २६ ग्रन्थस्य। २७ निर्विकल्पकस्य। २८ विकल्पे। २९ घटते। ३० ना। ३१ सविकल्पकनिर्विकल्पकयोः। ३२ ज्ञानेन।

---

1 तुलना—'तदेकत्वं हि दर्शनमध्यवस्यति'...प्रमाणप० पृ० २३। न्यायकुमु० प्र० परि०। सन्मति० टी० पृ० ५००। स्या० रत्नाकर पृ० ५२।

2 तु०—'विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः।'

प्रश० कन्दली पृ० १९०

ध्यवसाये–अतिप्रसङ्गः–अक्षज्ञानेन त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गात्। तन्न तयोरेकत्वाध्यवसायाद्विकल्पे वैशद्यप्रतीतिः, अविकल्पकस्यानेनैवैकत्वाध्यवसायस्य चोक्तन्यायेनाप्रसिद्धत्वात्।

यच्चोच्यते–संहृतसकलविकल्पावस्थायां रूपादिदर्शनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षतोऽनुभूयते। तदुक्तम्—

"संहृत्य सर्वतश्चिन्तांस्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः" ॥ १ ॥
[प्रमाणवा० ३।१२४]

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः" ॥ २ ॥
[प्रमाणवा० ३।१२३] इति।

न चात्रावस्थायां नामसंश्रयतयाऽननुभूयमानानामपि विकल्पानां सम्भवः–अतिप्रसङ्गादित्यप्युक्तिमात्रम्; अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनलक्षणायां संहृतसकलविकल्पावस्थायां स्थिरस्थूलादिस्वभावार्थसाक्षात्कारिणो विपरीतारोपविरुद्धस्याध्यक्षस्यानिश्चयात्मकत्वायोगात्। तत्त्वे वा अश्वविकल्पाद्व्युत्थितचित्तस्य गवि स्मृतिर्न स्यात् क्षणिकत्वादिवत्। नामसंश्रयात्मनो विकल्पस्यात्र निषेधे तु न किञ्चिदनिष्टम्। न चाशेषविकल्पानां नामसंश्रयतैव स्वरूपम्; समारोपविरोधिग्रहणलक्षणत्वात्तेषामित्यग्रे व्यासतो वक्ष्यामः। न चानिश्चयात्मनः प्रामाण्यम्; गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्यापि तत्प्रसङ्गात्। निश्चयहेतुत्वात्तस्य प्रामाण्यमित्ययुक्तम्; संशयादिविकल्पजनकस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। स्वलक्षणानध्य-

१ देशकालस्वभावव्यवहिताव्यवहितयोः घटादिपरमाण्वाद्योः। २ विकल्पस्य। ३ परेण। ४ नष्ट। ५ नीलादि। ६ जातिद्रव्यगुणक्रियानिबन्धनाः। ७ सामस्त्येन। ८ विकल्परूपाम्। ९ स्थिरीभूतेन। १० गच्छन् वा। ११ रहितं। १२ मनसा। १३ प्रतिस्वरूपवेद्यः। १४ स्वसंवेदनेन वेद्यः। १५ शब्दः संश्रयः कारणं यस्य विकल्पस्य सः। १६ नष्टविकल्पायां। १७ सुप्तप्रमत्तादावपि स्यात्। १८ पुरुषस्य। १९ साधारणं सामान्यरूपं। २० क्षणिकादि। २१ ता (षष्ठी)। २२ निर्विकल्पकस्य। २३ व्यावृत्त। २४ नरस्य। २५ जैनानां। २६ ज्ञान। २७ शब्दाद्वैतवादे। २८ विस्तरतः। २९ दर्शनस्य। ३० दर्शनस्य। ३१ अनुक्षणिक।

1 'अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्।
निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः' ॥ १३०६ ॥ तत्त्वसं०

वसायित्वात्[१] तद्विकल्पस्यादोषोऽयम्, इत्य[२]न्यत्रापि समानम्। न हि नीलादिविकल्पोपि स्वलक्षणाध्यवसायी; त[३]दनालम्बनस्य त[४]दध्यवसायित्वविरोधात्। 'मनोराज्यादिविकल्पः कथं त[५]दध्यवसायी'? इत्य[६]प्यस्यैव दूषणं यस्यासौ राज्याद्यग्राहकस्वभावो नास्माकम्, सत्यराज्यादिवि[७]षयस्य तद्ग्राहकस्वभावत्वाभ्युपगमात्।

न[८] चास्य[९] विकल्पोत्पादकत्वं घटते स्वयमविकल्पकत्वात् स्व[१०]लक्षणवत्, वि[११]कल्पोत्पादनसामर्थ्याविकल्पकत्वयोः प[१२]रस्परं विरोधात्। विकल्प[१३]वासनापेक्षस्याविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षस्य विकल्पोत्पादनसामर्थ्यानि(वि)रोधे-अर्थस्यैव त[१४]थाविधस्य सोस्तु किमन्तर्गडुना निर्विकल्पकेन? अथा[१५]ज्ञातोर्थः कथं त[१६]ज्जनकोऽतिप्र[१७]सङ्गात्? दर्शनं कथमनिश्च[१८]यात्मकमित्य[१९]पि समानम्? तस्यानुभूतिमात्रेण जन[२०]कत्वे–क्षणक्षयादौ विकल्पोत्प[२१]त्तिप्रसङ्गः। यत्रार्थे दर्शनं विकल्पवासनायाः प्रबोधकं तत्रैव[२२] त[२३]ज्जनकमित्यप्यसाम्प्रतम्; तस्या[२४]नुभवमात्रेण तत्प्रबोधकत्वे नीलादाविव क्षणक्षयादा[२५]वपि तत्प्रबोध[२६]कत्वप्र[२७]सङ्गा[२८]त्।

तत्रा[1][२९]भ्यासप्र[३०]करणबु[३१]द्धिपाटवार्थित्वाभावान्न तत्तस्याः प्रबोधकमिति चेत्; अथ कोयमभ्यासो नाम-भूयोदर्शनम्, बहुशो विकल्पोत्पत्तिर्वा? न तावद्भूयो दर्शनम्; तस्य नीलादाविव

---

१ संशयादि। २ नीलादिविकल्पे। ३ स्वलक्षण। ४ विकल्पः स्वलक्षणाध्यवसायी न भवति तदनालम्बनत्वात् मनोराज्यादिना (मनोराज्याध्यवसायिनेत्यर्थः) अनेकान्तोऽस्य। ५ मनोराज्यादिस्वरूपालम्बनोपि राज्याध्यवसायी। ६ बौद्धस्य। ७ मनोराज्यादिविकल्पस्य। ८ किंच। ९ निर्विकल्पकदर्शनस्य। १० स्वलक्षणे यथा। ११ अविकल्पत्वं च स्याद्विकल्पोत्पादनसामर्थ्यं च स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। १२ अभिलापसंसर्गयोग्यताराहित्यमविकल्पकत्वं तस्मिन्सति कथं विकल्पोत्पादनसामर्थ्यं स्यादविकल्पकस्य। १३ परः। १४ विकल्पवासनापेक्षस्य। १५ (परः) अगृहीतः। १६ विकल्प। १७ सर्वस्य सर्वत्र विकल्पं जनयेत्। १८ विकल्पजनकं। १९ उभयत्रापि। २० विकल्प। २१ यथा नीलमिदमिति विकल्पस्तथा क्षणिकमिदमिति विकल्पः स्यात्। २२ न क्षणक्षयादौ। २३ विकल्प। २४ स्वसंवेदनेन। २५ स्वर्गप्रापणशक्ति। २६ दर्शनस्य। २७ अनुभूतिमात्राविशेषात्। २८ पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यतीति वचनात्। २९ इदं क्षणिकमिदं क्षणिकमिति। ३० प्रस्ताव। ३१ दर्शन।

---

1 तुलना—'अथ मतम्—अभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वेभ्यो···'

प्रमाण प० पृ० ५४।

स्या० रत्नाकर पृ० ५४।

[1]क्षणक्षयादा[2]वप्यविशेषात्[3]। अथ वहुशो विकल्पोत्पत्तिरभ्यासः; तस्य क्षणाक्षयादिदर्शने कुतोऽभावः? तस्य विकल्पवासनाप्रवोधकत्वाभावाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि क्षणक्षयादौ दर्शनस्य विकल्पवासनाप्रवोधकत्वाभावे तल्लक्षणाभ्यासाभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य सिद्धिरिति। क्षणिकाक्षणिकविचारणायां क्षणिकप्रकरणमप्यस्त्येव। पाटवं तु नीलादौ दर्शनस्य विकल्पोत्पादकत्वम्, स्फुटतरानुभवो वा स्यात्, अविद्यावासनाविनाशादात्मलाभो वा? प्रथमपक्षे-अन्यो[4]न्याश्रयात्। द्वितीयपक्षे तु-क्षणक्षयादावपि तत्[5]प्रसङ्गः[6] स्फुटतरानुभवस्यात्राप्यविशेषात्। तृतीयपक्षोप्ययुक्तः; तुच्छस्वभावाभावानभ्यु[7]पगमात्। [8]अन्योत्पाद[9]कका[10]रणस्व[11]भावस्योपगमे क्षणक्षयादौ [12]तत्प्रसङ्गः, अन्यथा [13]दर्शनभेदः स्याद्वि[14]रुद्ध[15]धर्माध्यासात्। योगिन एव च[16] तथाभूतं [17]तत्सम्भा[18]व्येत, ततोऽस्या[19]पि विकल्पोत्पत्तिप्रसङ्गात् "विधूतकल्पनाजाल" [ ] इत्या[20]दिविरोधः[21]। आर्थित्वं चाभिलषितत्वम्, जिज्ञासितत्त्वं[22] वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; क्वचिदनभि[23]लषितेपि वस्तुनि तस्याः प्रवोधदर्शनात्। च[24]क्रकप्रसङ्गश्च-अभिलषितत्वस्य वस्तुनि[25]श्चयपूर्वकत्वात्। द्वितीयपक्षेतु-क्षणक्षयादौ [26]तद्वासनाप्रवोधप्रसङ्गो नीलादाविवात्रापि जिज्ञासितत्वाविशेषात्।

न चै[27]वं सविकला(ल्प)कप्रत्यक्षवादिना[28]मपि प्रतिवा[29]द्युपन्यस्तसकलवर्णपदा[30]दीनां स्वो[31]च्छ्वासा[32]दिसंख्यायाश्चाविशेषेण स्मृतिः [33]प्रस-

---

१ पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यतीति वचनात्। २ इदं क्षणिकमिदं क्षणिकमिति। ३ पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यतीति वचनात्। ४ क्षणिकादौ दर्शनस्य विकल्पवासनाप्रवोधकत्वाभावे सिद्धे विकल्पोत्पादकत्वलक्षणपाटवाभावसिद्धिस्तत्सिद्धौ चास्य सिद्धिरिति। ५ विकल्पवासनाप्रवोधकत्व। ६ सिद्धे हि विकल्पोत्पादकत्वे (पाटवे) नीलादौ विकल्पवासनाप्रवोधकत्वसिद्धिस्ततस्तदुत्पादकत्वसिद्धिरिति। ७ सौगतैः। ८ वुद्धेः। ९ विकल्पवासनाप्रवोधविकल्पोत्पत्ति। १० अविद्यावासनातोऽन्यदिन्द्रियं वा ज्ञानान्तरं वा आत्मा वा। ११ वसः। अविद्यावासनाविनाशस्य। १२ विकल्पोत्पादकत्वम्। १३ निर्विकल्पक। १४ नीलादौ पाटवं क्षणक्षयादावपाटवमिति। १५ एकक्षणस्यैव पाटवभावाभाव। १६ किंच। १७ पाटवं। १८ निश्चीयेत। १९ योगिनः प्रत्यक्षादपि। २० विधूतकल्पनाजालं प्रत्यक्षं योगिनां मतम्। २१ ग्रन्थविरोधः। २२ ज्ञातुमिष्टत्वं। २३ अहिकण्टकादौ। २४ अभिलाषाद्विकल्पवासनाप्रवोधस्तस्माच्च विकल्पस्तस्माच्चाभिलषितत्वम्। २५ विकल्प। २६ विकल्प। २७ निर्विकल्पकप्रत्यक्षवादिमतप्रकारेणानिश्चयात्मकस्य विकल्पाजनकत्वे। २८ जैनानाम्। २९ सौगत। ३० वाक्य। ३१ जैन। ३२ निश्वास। ३३ वोधस्य निश्चयात्मकत्वात्।

ज्यते; सर्वथैक[1]स्वभावस्यान्तर्बहिर्वा वस्तुनोऽनभ्युपगमात्[2]। तन्मते हि अवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकाद् अन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम्। तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णादिषु अवग्रहादित्रयसद्भावेपि स्मृत्यनुत्पत्तिः, तत्सद्भावे तु स्यादेव–सर्वत्र[3] यथासंस्कारं[4] स्मृत्युत्पत्त्यभ्युपगमात्[5]। न च परेषा[6]मप्ययं[7] युक्तः–दर्शन[8]भेदाभावात्[9], एकस्यैव क्वचिद[10]भ्यासादीनामितरेषां[11] वानभ्युपगमात्[12]। न च तद[13]न्य[14]व्यावृत्त्या तत्र[15] तद्[16]योगः[17]; स्वयम[18]तत्स्वभावस्य[19] तद[20]न्य[21]व्यावृत्तिसम्भवे पावकस्याऽशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात्। तत्[22]स्वभा[23]वस्य[24] तु तद[25][26]न्यव्या[27]वृत्ति[28]कल्पने–फलाभावात्–प्रतिनियततत्स्व[29]भावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात्।

स्यान्मतम् अभ्यासा[30]दिसापेक्षं निरपेक्षं वा दर्शनं विकल्पस्य नोत्पादकम् [1]शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वात्तस्य[31]। तद्वासना[32]विकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्वि[33]कल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसन्तानादन्यत्वात्[34], विजातीया[35]द्वि[36]जातीयस्योदया[37]निष्टेर्नोक्त[38]दोषानुषङ्गः; इत्यप्यसङ्गतम्; तस्य[39] विकल्पाजनकत्वे "यत्रैव[40] जनयेदेनां[41] तत्रैवास्य[42] प्रमाणता" [ ] इत्यस्य विरोधानुषङ्गात्। कथं[43] वा वासनाविशेषप्रभवत्त(वात् त)तोऽध्यक्षस्य[44] रूपादिविषयत्वनियमः [45]मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्प्रसङ्गात्? प्रत्यक्ष-

---

१ निरंशस्य। २ जैनानां। ३ अर्थे। ४ संस्कारानतिक्रमेण। ५ जैनैः। ६ सौगतानाम्। ७ दर्शनं नीलादौ विकल्पोत्पादकं क्षणक्षयादौ न भवेदिति न्यायः। ८ प्रत्यक्ष। ९ अवग्रहादिभेदात्प्रत्यक्षभेदो न दर्शनस्यैकरूपत्वात्। १० नीलादौ। ११ क्षणक्षयादौ अनभ्यासादीनाम्। १२ परेण। १३ अनभ्यासादेः। १४ अभ्यासादिरनभ्यासादिः। १५ दर्शने। १६ यच्चाक्रममनभ्यासस्याभ्यासस्य च। १७ अभ्यासानभ्यासादि। १८ स्वरूपेण। १९ अभ्यासाद्यस्वभावस्य। २० अभ्यासादि। २१ अनभ्यासादि। २२ अभ्यासादि। २३ स्वरूपस्य। २४ दर्शनस्य। २५ अभ्यासादि। २६ अनभ्यासादि। २७ दर्शनस्वभाव। २८ प्रकरणादि। २९ अभ्यासादिस्वभावस्य दर्शनस्य। ३० अनभ्यासादि। ३१ विकल्पस्य। ३२ शब्दार्थो नाम सामान्यं। ३३ वासनारूप। ३४ भिन्नत्वात्। ३५ दर्शनात्। ३६ विकल्पस्य। ३७ अनङ्गीकारात्। ३८ न चास्य विकल्पोत्पादकत्वं घटते स्वयमविकल्पकत्वात्स्वलक्षणवदित्यादि। ३९ दर्शनस्य। ४० अर्थे। ४१ सविकल्पात्मिकां बुद्धिं। ४२ दर्शनस्य। ४३ किंच। ४४ नयनाध्यक्षस्य। ४५ अन्यथा।

---

1 तु०—'शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य···ततस्तर्हि कथमक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः···' अष्टश० अष्टसह० पृ० ११९ स्या० रत्नाकर पृ० ५६

सहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पात्तस्य तन्नियमे [1]स्वलक्षणविषयत्व[2]नियमोऽप्यत एवो[3]च्यताम्,[4] अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमो[5]ऽप्यतो मा भूदविशेषात्। [6]तथाच–[7]स्वलक्षणगोचरोऽसौ प्रत्यक्षस्य तन्नियमहेतुत्वा[9]द्रूपादि[10]वत्। [11]रूपाद्युल्लेखित्वा[12]द्विकल्पस्य तद्बलात्[13]तन्नियमस्यैवाभ्युपगमे–प्रत्यक्षस्याभि[14]लापसंसर्गोऽपि तद्वदनुमीयेत–[15]विकल्पस्याभि[16]लपनाभि[17]लप्यमानजात्या[18]द्युल्लेखिततयोत्पत्त्यन्यथा[19]नुपपत्तेः। [20]तथाविधदर्शनस्याप्रमाणसिद्धत्वा[21]च्च आत्मैवाहम्प्रत्ययप्रसिद्धेः[22] प्रति[23]बन्धकापायेऽभ्यासाद्यपेक्षो विकल्पोत्पादकोऽस्तु [24]किम[25]दृष्टपरिकल्पनया? ततो विकल्पः प्रमाणम् संवादकत्वात्, अर्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वात्, अनिश्चितार्थनिश्चायकत्वात्, प्रति[26]पत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च अनुमानवत्, नतु निर्विकल्पकं तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्।

तस्याप्रा[1]माण्यं पुनः स्पष्टाकारवि[27]कलत्वात्, [28]अगृहीतग्राहित्वात्, [29]असति प्रवर्त[30]नात्, हिताहितप्राप्तिपरिहारासमर्थत्वात्[31], कदाचिद्विसंवादात्[32], समारोपानिषेधकत्वात्[33], व्यवहारानुपयो[34]गात्, स्वलक्षणागोचरत्वात्[35], [36]शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वात्[37], शब्दप्रभव[38]त्वात्, ([2]ग्राह्यार्थं विना तन्मात्रप्रभवत्वाद्वा) गत्यन्तरा-

१ क्षणिकादि। २ दर्शनस्य। ३ परेण भवता। ४ विकल्पात्। ५ दर्शनस्य। ६ विकल्पात्प्रत्यक्षस्वलक्षणविषयत्वनियमे च। ७ स्वलक्षणविषय। ८ यद्धि यद्विषयकं तदेवापरस्य तद्विषयत्वनियमहेतुर्यथा रूपादिविषयको विकल्पो रूपविषयत्वनियमहेतुः प्रत्यक्षस्य। ९ अध्यक्षस्य रूपादिविषये नियमहेतुत्वाद्यथा रूपादिविषयो विकल्पः तथाध्यक्षस्य स्वलक्षणनियमहेतुत्वात्स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात्। १० सप्तमी। ११ परामर्शित्वात्। १२ प्रत्यक्षस्य(निश्चयस्य)। १३ रूपादिविषयत्व। १४ शब्दसम्बन्धोपि। १५ प्रत्यक्षं रूपादिनियतविषयं विकल्पस्य रूपाद्युल्लेखित्वेनोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेन रूपादिविषयत्वनियमोऽनुमीयते यद्वत्। १६ शब्द। १७ वाच्य। १८ सामान्यविषय। १९ शब्दत्वेन तु दर्शनस्य तद्विपरीतत्वात्। २० किंच। २१ निर्विकल्पक। २२ स्वसंवेदनवेद्यः। २३ आवरण। २४ निर्विकल्पकदर्शन। २५ मनोराज्यादि विकल्पवत्। २६ प्रमातृ। २७ रहितत्वात्। २८ मनोराज्यादिविकल्पवत्। २९ धारावाहिकज्ञानवत्। ३० केशोण्डुकज्ञानवत्। ३१ द्विचन्द्रादिज्ञानवत्। ३२ स्थाणौ विसंवादे पुरुषविकल्पवत्। ३३ संशयज्ञानवत्। ३४ गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत्। ३५ भ्रान्तज्ञानवत्। ३६ अर्थ। ३७ अङ्गुल्यादिवाक्यजनितविकल्पवत्। ३८ अङ्गुल्यादिजनितवाक्यवत्।

1 तु०—'अपि च सविकल्पकस्याऽप्रामाण्यम्...' स्या० रत्नाकर पृ० ५७

2—अग्रिमखंडनानुरोधेन अयमपि 'मूलविकल्प एव' इत्यनुसन्धीयते

भावात्? न तावत्स्पष्टाकारविकलत्वात्तस्याऽप्रामाण्यम्; काचाभ्र[१]कादिव्यवहितार्थदूरपादपा[२]दिप्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चैतद्युक्तम्, अज्ञातवस्तुप्रकाशनसंवादलक्षणस्य[३] प्रमाण[४]लक्षणस्य सद्भावात्। प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गो वा; अस्पष्टत्वालिङ्गजत्वाभ्यां प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात्। नापि गृहीतग्राहित्वात्; अनुमानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गात्, व्याप्तिज्ञान[५]योगि[६]संवेदनगृहीतार्थग्राहित्वात्। कथं वा क्षणक्षयानुमानस्य प्रामाण्य[७]म्–शब्दरूपावभास्य[८]ध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात्? नच अध्यक्षेण[९] धर्मि[१०]स्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेपि न क्षणक्षयग्रहणम्; विरुद्ध[११]धर्माध्यासतस्[१२]तद्भेद[१३]प्रसक्तेः[१४]। नाप्यसतिप्रवर्तनात्; अतीता[१५]नागतयो[१६]र्विकल्पकाले[१७] असत्त्वे[१८]पि स्वकाले सत्त्वात्। तथाप्यस्याप्रामाण्ये–प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः तद्विषय[१९]स्यापि तत्कालेऽसत्त्वाविशेषात्। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारासमर्थत्वादित्यसम्भाव्यम्; विकल्पादेवेष्टार्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिदर्शनात् अनिष्टा[२०]र्थाच्च निवृत्तिप्रतीतेः। कदाचिदर्थप्रापकत्वाभावस्तु–प्रत्यक्षेपि समानोऽनर्थित्वादप्रवृत्त[२१]स्याद्य[२२]प्रत्यक्ष[२३]वत्। कदाचिद्विसंवादादित्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षेप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तिमिरा[२४]द्युपहतचक्षुषो[२५]ऽर्थाभावेपि प्रत्यक्षप्रवृत्तिदर्शनात्। भ्रान्तादभ्रान्तस्य भेदो[२६]ऽन्यत्रापि समानः। समारोपानिषेधकत्वादित्यप्यसङ्गतम्; विकल्पविषये समारोपासम्भवात्। नापि व्यवहारायोग्यत्वात्; सकलव्यवहाराणां विकल्पमूलत्वात्। स्वलक्षणाऽगोचरत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; अनुमानेपि तत्[२७]प्रसक्तेः तद्वृत्त[२८]स्यापि सामान्यगोचरत्वात्। न च तद्ग्राह्यस्य सामान्यरूपत्वेप्यध्यवसेयस्य[२९] स्वलक्षणरूपत्वाद् दृश्य[३०]विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य[३१] ततः प्रवृत्ते[३२]रनुमानस्य प्रामाण्यम्; प्रकृत[३३]विकल्पेऽप्यस्य[३४] समानत्वात्। शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासत्वादित्य-

१ स्फटिकजलादि। २ पर्वतादि। ३ पारमार्थिकं लक्षणमिदम्। ४ व्यावहारिकम्। ५ व्याप्तिज्ञानं च तद्योगिसंवेदनं च। ६ सर्वज्ञ। ७ श्रावणाध्यक्षगृहीतार्थग्राहित्वात्। ८ श्रावणाध्यक्ष। ९ निर्विकल्पकेन। १० सर्वं वस्तु क्षणिकं सत्त्वात्। ११ तस्यैवग्रहणमग्रहणमिति। १२ शब्दधर्मिणः। १३ क्षणिकत्वधर्मस्य। १४ धर्मिरूपस्य वस्तुनः क्षणिकं(कत्वं) न भवतीत्यर्थः। १५ रावणशङ्खचक्रवर्ति। १६ अर्थयोः। १७ आगमज्ञाने। १८ समकाले ग्राह्यग्राहकत्वाभावात्सव्येतरगोविषाणवत्। १९ प्रत्यक्ष। २० सर्पादेः। २१ पुरुषस्य। २२ इदं जलमिति। २३ ईप् (सप्तमी, सप्तम्यर्थे मतुरित्यर्थः)। २४ रोग। २५ पुरुषस्य। २६ भ्रान्तविकल्पे। २७ अप्रामाण्य। २८ तस्य पूर्वानुभूततत्सदृशस्य। २९ सामान्यारोपोऽधिकरणं स्वलक्षणमध्यवसेयम्। ३० स्वलक्षण। ३१ स्थूल। ३२ पुरुषस्य। ३३ नील। ३४ न्यायस्य।

प्यसमीचीनम्; अनुमानेपि समानत्वात्। शब्दप्रभवत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्; शब्द[1]ाध्यक्षस्य[2]ाप्रामाण्यप्रसङ्गात्। ग्राह्यार्थं विना त[3]न्मात्रप्र[4]भवत्वं चासिद्धम्; नीलादिविकल्पानां सर्वदार्थे सत्येव भावात्। के[5]स्यचित्तु त[6]मन्तरेणापि भावोऽध्यक्षेपि समानः द्विचन्द्रादिप्रत्यक्षस्यार्थाभावेपि भावात्। भ्रान्तादभ्रान्तस्यान्यत्वमत्रापि समानम्।

किञ्च, विकल्पा[1]भिधानयोः कार्यकारणत्वनियमकल्पनायाम्-कि[7]ञ्चित्पश्यतः पूर्वानुभूत[9]तत्सदृशं[10]स्मृतिर्न स्यात् त[11]न्नामविशेषास्मरणा[12]त्, तदस्मरणे तदभि[13]धानाप्रतिपत्तिः, तदप्रतिपत्तौ ते[14]न त[15]द्योजनम्, त[16]द्योजनात्तदन[17]ध्यवसाय इत्यविकल्पाभि[18]धानं जगदापद्येत।

किञ्च, प[19]द[2]स्य व[20]र्णानां च ना[21]मान्तरस्मृतावसत्यामध्यवसायः, सत्यां वा? तत्राद्यपक्षे-नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केव[22]लार्थाध्यवसायः किन्न स्यात्? 'स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्च[23]यैर्निश्चीयन्ते' इत्येकान्तत्यागात्। द्वितीयपक्षे तु-अनवस्था-वर्णपदाध्यवसायेप्यपरनामान्तरस्यावश्यं स्मरणा[3]त्॥ छ॥

---

१ शब्दजनितप्रत्यक्षस्य। २ घटः क्वास्ते तत्रास्ते इत्यादि। ३ शब्द। ४ विकल्पस्य। ५ विकल्पस्य। ६ वन्ध्यासुताद्यर्थं। ७ नीलं। ८ नुः। ९ तेन दृश्येन नीलेन सदृशं पूर्वानुभूतं च तच्च तत्सदृशं च तस्य स्मृतिः। १० स्मृतिर्विकल्पः। ११ पूर्वानुभूततत्सदृशार्थस्मरणात्पूर्वं नामविशेषस्य पूर्वानुभूततत्सदृशार्थस्मरणोत्पादकस्याभावात्तस्य तत्कार्यतया पूर्वानुभूततत्सदृशार्थनामविशेषस्मृत्यनन्तरभावित्वात्। १२ नामविशेष। १३ नाम। १४ शब्देन। १५ नीलशब्देनेदं वाच्यमिति योजनाभावः। १६ दृश्यस्य नीलस्य। १७ दृश्यमाने नीले विकल्पानुत्पत्तिः। १८ विकल्पाभिधानशून्यं। १९ गौरित्यस्य। २० गकारऔकारविसर्जनीयानां। २१ अभिधान। २२ नामनिरपेक्ष। २३ विकल्पैः।

---

1 तु०—"तस्मादयं किञ्चित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वं दृष्टं न स्मर्तुमर्हति तन्नामविशेषास्मरणात्, तदस्मरन्नैव तदभिधानं प्रतिपद्यते, तदप्रतिपत्तौ तेन तन्न योजयति, तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्पः शब्दो वेत्यविकल्पाभिधानं जगत्स्यात्"। अष्टश० अष्टसह० पृ० ११९। स्या० रत्ना० पृ० ७७।

2 तु०—"नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किन्न स्यात्... तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था"। (अष्टश०) "तदुक्तं न्यायविनिश्चये (१।६) अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः। अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते"॥ अष्टसह० पृ० १२०।

3 बौद्धाभिमतनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य खण्डनमनयैवानुपूर्व्या—अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८, प्रमाणप० पृ० ५३, न्यायकु० च० प्र० परि०, सम्मति० टी० पृ० ४९१। स्या० रत्ना० पृ० ७६। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

येऽपि[1] शब्दाद्वैतवादिनो[1] निखिलप्रत्ययानां[2] शब्दानुविद्धत्वेनैव[3][4][5] सविकल्पकत्वं मन्यन्ते-तत्स्पर्शवैकल्ये[6] हि तेषां प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसङ्गः। वाग्रूपता हि शाश्वती[7] प्रत्यवमर्शिनी[8] च। तदभावे[9] प्रत्ययानां नापरं[10] रूपमवशिष्यते। सकलं चेदं वाच्यवाचकतत्त्वं शब्दब्रह्मण एव विवर्तो नान्यविवर्तो[11] नापि स्वतन्त्रमिति। तदुक्तम्-

न सोऽस्ति प्रत्ययो[12] लोके यः शब्दानुगमादृते[13][14]।
अनुविद्धमिवाभाति[15][16] सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्॥ १॥
[वाक्यप० १।१२४]

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य[17] शाश्वती।
न[18] प्रकाशः[19] प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी[20][21]॥ २॥
[वाक्यप० १।१२५]

अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं[22][23] यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन[24] प्रक्रिया[25] जगतो यतः॥ ३॥
[वाक्यप० १।१]

अनादिनिधनं हि शब्दब्रह्म उत्पादविनाशाभावात्, अक्षरं च अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात्, अनेन वाचकरूपता[26] 'अर्थभावेन' इत्यनेन तु वाच्यरूपतास्य[27] सूचिता। प्रक्रियेति भेदाः। शब्दब्रह्मेति नामसङ्कीर्तनमिति;

तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; शब्दानुविद्धत्वस्य ज्ञानेष्वप्रतिभासनात्। तद्धि प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा? प्रत्यक्षेण चेत्किमैन्द्रियेण,

---

१ परः। २ ज्ञानानां। ३ ईप्। ४ तादात्म्य। ५ शब्दरूपापन्नत्वेनैव। ६ शब्दानुविद्धत्व। ७ अव्यभिचारिणी। ८ प्रकाशहेतुभूता च। ९ एवंविधवाग्रूपताऽभावे। १० प्रकाशोपायभूतं। ११ प्रधान। १२ ज्ञानं। १३ शब्दान्वयरहितः। १४ कुतो नास्ति? शब्दरूपापन्नमेव विश्वं शब्दे विश्रान्तं यतः। १५ अनुस्यूत। १६ एव। १७ अपगच्छेत्। १८ तदा। १९ ज्ञानं। २० शब्दरूपापन्नत्वेन। २१ यतः। २२ ता (षष्ठी, षष्ठीसमास इत्यर्थः)। २३ कर्तृ। २४ परिणमति। २५ भेदाः भवेयुः। २६ शब्द। २७ अर्थ।

---

1 भर्तृहरिप्रभृतयः।

2 "न तत्प्रत्यक्षतः सिद्धमविभागमभासनात्।
नित्यादुत्पत्त्ययोगेन कार्यलिङ्गं च तत्र न" ॥ १४७॥ तत्त्वसं०। न्यायकु० च० प्र० परि०, सन्मति० टी० पृ० ३८४, स्या० रत्ना० पृ० ९८।

स्वसंवेदनेन वा? न तावदैन्द्रियेण; इन्द्रियाणां रूपादिनियतत्वेन ज्ञानाविषयत्वात्। नापि स्वसंवेदनेन; अस्य शब्दागोचरत्वात्। अथार्थस्य तदनुविद्धत्वात्[1] तदनुभवे ज्ञाने तदप्यनुभूयते[2] इत्युच्यते[3]; ननु किमिदं शब्दानुविद्धत्वं नाम–अर्थस्याभिन्नदेशे प्रतिभासः, तादात्म्यं[4] वा? तत्राद्यविकल्पोऽसमीचीनः; तद्रहितस्यैवा[5]र्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्। न हि तत्र यथा पुरोवस्थितो नीलादिः[6] प्रतिभासते तथा तद्देशे शब्दोपि–श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे तत्प्रति[7]भासात्। न चान्यदेशतयोपलभ्यमानोप्यन्यदेशोसौ[8] युक्तः, अतिप्रसङ्गात्। नापि तादात्म्यम्[1]; विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञान[9]ग्राह्यत्वात्। ययोर्विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्वं न तयोरैक्यम् यथा रूपरसयोः, तथात्वं च नीलादिरूपशब्दयोरिति। शब्दाकाररहितं हि[10] नीलादि[11]रूपं लोचनज्ञाने प्रतिभाति, तद्रहितस्तु[12] शब्दः श्रोत्रज्ञाने इति कथं तयोरैक्यम्[13]? रूपमिदमित्यभिधान[14]विशेषण[15]रूपप्रतीतेस्तयो[16]रैक्यम्[17]; इत्यसत्; रूपमिदमिति ज्ञानेन हि वाग्रूपता[18]प्रतिपन्नाः पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते, भिन्न[19]वाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; न हि लोचनविज्ञानं वाग्रूपतायां प्रवर्तते तस्यास्तदविषयत्वाद्रसादिवत्, अन्यथे[20]न्द्रियान्तर[21]परिकल्पनावैयर्थ्यम् तस्यैवाशेषार्थ[22]ग्राहकत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षेपि अभिधाने[23]ऽप्रवर्तमानं शुद्ध[24]रूपमात्रविषयं लोचनविज्ञानं कथं तद्विशिष्टतया[25] स्वविषयमुद्योतयेत्? न ह्यगृहीतविशेषणा[26] विशेष्ये[27] बुद्धिः दण्डाग्रहणे दण्डिवत्। न च ज्ञानान्तरे[28] तस्य[29] प्रतिभासाद्विशेषणत्वम्; तथा सति अनयो[30]र्भेदसिद्धिः स्यात्[31] इत्युक्तम्। अभिधाना[32]नुषक्ता[33]र्थस्मरणात्तथाविधा[34]र्थ[35]दर्शनसिद्धिः; इत्यप्य-

१ शब्दानुविद्धार्थं। २ (शब्दब्रह्म)। ३ भवता परेण। ४ अर्थस्य शब्देन तादात्म्यम्। ५ शब्द। ६–७ अर्थः। ८ अर्थ। ९ शब्दार्थौ नैकरूपाविति धर्मी। १० साधनसमर्थनं। ११ अर्थ। १२ अर्थाकार। १३ दण्डिपुरुषेण व्यभिचारो नानुमानस्य। १४ शब्द। १५ अर्थाकार। १६ शब्दार्थयोः। पदार्थाः स्ववाचकादभिन्नास्तद्विशेषणविशिष्टत्वात्। १७ रूपविशेषणविशिष्टघटवत्। १८ तादात्म्येन। १९ अर्थात्। २० ततस्यां प्रवर्तते चेत्। २१ लोचनाच्छ्रोत्रादि। २२ रसादि। २३ शब्दे। २४ केवल। २५ भिन्नवाग्रूपताविशेषण। २६ शब्द। २७ अर्थे। २८ श्रोत्रज्ञाने। २९ वाग्रूपताविशेषणस्य। ३० रूपरूपशब्दयोः। ३१ विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्येत्यादिना पूर्वमेव। ३२ परः। ३३ सम्बद्ध। ३४ पुरोवर्ति। ३५ यद्रूपार्थस्य दर्शनं तद्रूपार्थस्य स्मरणमिति वचनात्।

1 "नास्ति शब्दार्थयोस्तादात्म्यं भिन्नदेशत्वात् भिन्नकालत्वात् भिन्नाकारत्वाद्वा स्तम्भकुम्भवत्"। स्या० रत्ना० पृ० ९४।

सारम्; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-तथा[१]विधार्थदर्शनसिद्धौ वचनपरि[२]करितार्थस्मरणसिद्धिः, ततश्च तथाविधार्थदर्शनसिद्धिरिति।

का चेयमर्थस्याभिधानानुषक्तता नाम-अर्थज्ञाने तत्प्रतिभासः, अर्थदेशे तद्वेदनं वा, तत्काले[३] तत्प्रतिभासो वा? न तावदाद्यो विकल्पः; लोचनाध्यक्षे शब्दस्याप्रतिभासनात्। नापि द्वितीयः; शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशे निरस्तशब्दसन्निधीनां च रूपादीनां स्वप्रदेशे स्वविज्ञानेनानुभवात्। नापि तृतीयः[४]; तुल्यकालस्याप्यभिधानस्य लोचनज्ञाने प्रतिभासाभावात्, भिन्नज्ञानवेद्यत्वे च भेदप्रसङ्ग इत्युक्तम्[५]। कथं चैवंवादिनो[६] बालकादे[७]रर्थदर्शनसिद्धिः, तत्रा[८]भिधानाप्रतीतेः, अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं वा? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तज्ज्ञानस्यानुभूयते युगपद्वृत्तिद्वयानुत्पत्तेरिति। कथं वा वाग्रूपताऽवबोधस्य शाश्वती[१०] यतो 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत्' इत्याद्यवतिष्ठेत लोचनाध्यक्षे[११] तत्[१२]संस्पर्शाभावात्? न खलु श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं[१३] वाचं तत्[१४] संस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात्। अन्तर्जल्परूपां मध्यमां वा[१५]; तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो[१६]भावात्। संहृत[१७]ाशेषवर्णा[१८]दिविभागां[१९]नु(तु)पश्यन्ती[२०], सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतीरूपा[२१] वागेव न भवति; अनयोरर्थात्मदर्शनलक्षणत्वात् वाचस्तु वर्णपदाद्य[२२]नुक्रमलक्षणत्वात्। ततोऽयुक्तमेतत्तल्लक्षण[1]प्रणयनम्-

---

१ वाग्रूपताविशेषणविशिष्टार्थं। २ सहित। ३ अर्थज्ञान। ४ अर्थेन सह। ५ पूर्वमेव। ६ अभिधानानुषक्तार्थ एव प्रत्यक्षे प्रतिभातीत्येवंवादिनः। ७ मूक। ८ अर्थदर्शने। ९ प्रतिभासः। १० नित्या। ११ श्रोत्रं बहिष्कृत्य। १२ वाग्रूपता। १३ वचनात्मिकां। १४ लोचनाध्यक्षं। १५ लोचनाध्यक्षं न संस्पृशति। १६ लोचनज्ञानस्य। १७ नष्ट। १८ पदवाक्य। १९ अर्थदर्शनं। २० अर्थदर्शनलक्षणा। २१ आत्मदर्शनलक्षणा। २२ वाक्य।

---

1 "वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ १४४॥

यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी, श्लिष्टवर्णसमुच्चारणप्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च दुन्दुभिवेणुवीणादिशब्दरूपा चेत्यपरिमितभेदा। मध्यमा तु अन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव। बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मा प्राणवृत्त्यनुगता प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः। पश्यन्ती तु सा चलाचला प्रतिबद्धसमाधाना सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा च प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमितभेदा। तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितसाध्वसाधुप्रविभागा पुरुषसंस्कारहेतुः परन्तु पश्यन्त्या रूपमनप-

"स्थानेषु[१][1] विवृते[२] वायौ कृतवर्णपरिग्रहा[३]।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्ति[४]निबन्धना ॥ १ ॥
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य[५] मध्यमा[2] वाक् प्रवर्त्तते।
अविभागा[६]ऽनु(गा तु)पश्यन्ती[3] सर्वतः संहृत[७]क्रमा ॥ २ ॥
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा[4] वागनपायिनी।
तया व्याप्तं जगत्सर्वं[८] ततः शब्दात्मकं जगत् ॥ ३ ॥"
[ ] इत्यादि[5]।

---

१ कण्ठादिषु। २ प्रसृते सति। ३ पुरुषेण। ४ हृदिस्थो वायुः प्राणः। ५ परित्यज्य। ६ वर्णादिरहिता। ७ नष्टवर्णादिक्रमो यतः। ८ शाश्वती।

भ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन शब्दपूर्वेण योगेनाऽधिगमः इत्येकेषामागमः···" वाक्यप० टी० १।१४४

"उक्तंच–वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥"

कुमारसं० टी० २।१७।

1 "अस्यार्थः—स्थानेषु ताल्वादिस्थानेषु, वायौ प्राणसंज्ञे, विवृते अभिघातार्थं निरुद्धे सति, कृतवर्णपरिग्रहेति हेतुद्वारेण विशेषणम् ततः ककारादिवर्णरूपस्वीकारात् वैखरी संज्ञा वक्तृभिर्विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरीति निरुक्तेः। वाक्प्रयोक्तॄणां सम्बन्धिनी। यद्वा तेषां स्थानेषु तस्याश्च प्राणवृत्तिरेव निबन्धनं तत्रैव निबद्धा सा तन्मयत्वादिति" स्या० रत्नाकर पृ० ८९।

2 "या पुनरन्तःसङ्कल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाऽभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमेत्युच्यते।

तदुक्तम्—केवलं बुद्ध्युपादानात् क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते ॥

स्थूलां प्राणवृत्तिं हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य केवलं बुद्धिरेव उपादानं हेतुर्यस्याः सा प्राणस्थत्वात् क्रमरूपमनुपतति। अस्याश्च मनोभूमाववस्थानम् वैखरीपश्यन्त्योर्मध्ये भवात् मध्यमा वागिति।" स्या० रत्नाकर पृ० ८९।

3 "या तु ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्रूपा वाक् सा पश्यन्तीत्युच्यते"।···"यस्यां वाच्यवाचकयोर्विभागेनावभासो नास्ति सर्वतश्च सजातीयविजातीयापेक्षया संहृतो वाच्यानां वाचकानां च क्रमो देशकालकृतो यत्र, क्रमविवर्त्तशक्तिस्तु विद्यते" स्या० रत्नाकर पृ० ९०।

4 "स्वरूपज्योतिः स्वप्रकाशा वेद्यते वेदकभेदातिक्रमात्। सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या, अनपायिनी कालभेदाऽस्पर्शादिति।" स्या० रत्नाकर पृ० ९०।

5 चतुर्विधवाचां स्वरूपं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकेऽपि (पृ० २४१) वर्णितमस्ति। एते त्रयः श्लोकाः वाक्यपदीयटीकायां (पृ० ५६) 'पुनश्चाह' इति कृत्वा उद्धृताः वर्त्तन्ते।

अनुमानात्तेषां[1] तद्[2]नुविद्धत्वप्रतीतिरित्यपि मनोरथमात्रम्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात्[3]। तत्सम्भवे वाऽध्यक्षादिबाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। अथ जगतः शब्दमयत्वात्तदुदरवर्तिनां प्रत्ययानां तन्मयत्वात्तदनुविद्धत्वं सिद्धमेवेत्यभिधीयते; तदप्यनुपपन्नमेव; तत्तन्मयत्वस्याध्यक्षादिबाधितत्वात्, पदवाक्या[4]दितोऽन्य[5]स्य गिरितरुपुरलतादेस्तदाकारपराङ्मुखेणैव सविकल्पकाध्यक्षेणात्यन्तं विशदतयोपलम्भात्। 'ये यदाकारपराङ्मुखास्ते परमार्थतोऽतन्मयाः यथा जलाकारविकलाः स्थासकोशकुशूलादयस्तत्त्वतो न तन्मयाः, परमार्थतस्तदाकारपराङ्मुखाश्च पदवाक्यादितो व्यतिरिक्ता गिरितरुपुरलतादयः पदार्थाः' इत्यनुमानतोस्य तद्[6]वैधुर्यसिद्धेश्च।

किंच, शब्दपरिणामरूपत्वाज्जगतः शब्दमयत्वं साध्यते, शब्दादुत्पत्तेर्वा? न तावदाद्यः पक्षः; परिणामस्यैवात्र[7]ासम्भवात्। शब्दात्मकं हि ब्रह्म नीलादिरूपतां प्र[8]तिपद्यमानं स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा? प्रथमपक्षे अस्याऽनादिनिधनत्वविरोधः पौरस्त्यस्वभावविनाशात्। द्वितीयपक्षे तु–नीला[9]दिसंवेदनकाले बधिरस्यापि शब्द[10]संवेदनप्रसङ्गो नीलादिवत्[11]तदव्यतिरे[12]कात्। यत्खलु यदव्यतिरिक्तं तत्तस्मिन्संवेद्यमाने संवेद्यते यथा नीलादिसंवेदनावस्थायां तस्यैव नीलादेरात्मा, नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति। शब्दस्यासंवेदने वा नीलादेरप्यसंवेदनप्रसङ्गः तादात्म्याविशेषात्, अ[13]न्यथा विरुद्ध[14]धर्माध्यासात्तस्य[15] ततो[16] भेदप्रसङ्गः। न ह्येक[17]स्यैकदा एकप्रतिपत्त्रपेक्षया ग्रहणमग्रहणं च युक्तम्। वि[18]रुद्धधर्माध्यासेऽप्यत्र[19] भेदा-

---

१ तेषां प्रत्ययानां। २ शब्द। ३ सर्वे प्रत्ययाः शब्दानुविद्धा इत्यत्र साध्ये साधनाभावः। ४ श्लोक। ५ भिन्नस्य। ६ शब्दानुविद्धत्वराहित्य। ७ शब्दब्रह्मणि। ८ स्वीकुर्वत्। ९ वस्तु। १० तादात्म्यसद्भावात्। ११ का (पञ्चमी पञ्चमीसमास इत्यर्थः)। १२ शब्दस्य। १३ नीलादेरेव संवेदनं न शब्दस्येति चेत्। १४ वेद्यावेद्यत्वधर्मसाहित्यात्। १५ ब्रह्मणः। १६ नीलात्। १७ अभिन्नस्य शब्दलिङ्गस्य। १८ अन्यथा। १९ नीलनीलशब्दयोः।

---

1 "अत्र कदाचिच्छब्दपरिणामरूपत्वाद्वा जगतः शब्दमयत्वं साध्यत्वेनेष्टम्, कदाचिच्छब्दादुत्पत्तेर्वा ... शब्दात्मकं ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं कदाचिन्निजं स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा?" तत्त्वसं० पं० पृ० ६८। न्यायकु० च० प्र० परि०। सन्मति० टी० पृ० ३८०। स्या० रत्नाकर पृ० १००।

संभवे हिमवद्विन्ध्यादिभेदानामप्यभेदानुषङ्गः । किंच, असौ[1] शब्दात्मा परिणामं[2] गच्छन्प्रतिपदार्थभेदं प्रतिपद्येत, न वा? तत्राद्यविकल्पे-शब्दब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसङ्गः, विभिन्नानेकार्थस्वभावात्मकत्वात्तत्[3]स्वरूप[4]वत् । द्वितीयविकल्पे तु-सर्वेषां नीलादीनां देशकालस्वभावव्यापारावस्था[5]दिभेदाभावः प्रतिभास[6]भेदा[7]भावश्चानुषज्येत-एकस्वभावाच्छब्दब्रह्मणोऽभिन्न[8]त्वात्तत्स्वरूप[9]वत् । तन्न शब्दपरिणामरूपत्वाज्जगतः शब्दमयत्वम् ।

नापि शब्दादुत्पत्तेः, तस्य[10] नित्यत्वेनाविकारित्वात्, क्रमेण कार्योत्पादविरोधात् सकलकार्याणां युगपदेवोत्पत्तिः स्यात् । कारणवैकल्याद्धि कार्याणि विलम्बन्ते नान्यथा । तच्चेदविकलं किमपरं तैर[11]पेक्ष्यं येन युगपन्न भवेयुः? किंच, अपरापर[12]कार्यग्रामो[13]ऽतोऽर्थान्तरम्[14], अनर्थान्तरं वोत्पद्येत? तत्रार्थान्तरस्योत्पत्तौ-कथं 'शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण'[15] इति घटते । न ह्य[16]र्थान्तरस्योत्पादे अन्य[17]स्य तत्[18]स्वभावमनाश्रयतः ताद्रूप्येण[19] विवर्तो युक्तः । तद[20]नर्थान्तरस्य तू[21]त्पत्तौ-तस्या[22][23]नादिनिधनत्वविरोधः ।

ननु परमार्थतोऽनादिनिधनेऽभिन्नस्वभावेपि शब्दब्रह्मणि अविद्या[24]तिमिरोपहतो जनः प्रादुर्भावविनाशा[25]वत् कार्य[26]भेदेन विचित्र[27]मिव मन्यते । तदुक्तम्-

"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोप[28]प्लुतो जनः ।
संकीर्ण[29]मिव मात्रा[30]भिश्चित्रा[31]भिरभिमन्यते ॥
[बृहदा० भा० वा० ३।५।४३]

---

१ ब्रह्म । २ उत्पादविनाशं । ३ नीलत्वपीतत्वादि । ४ विभिन्नानेकार्थस्वरूपवत् । ५ पदार्थैः सहैकत्वे । ६ ज्ञान । ७ प्रमेयभेदाद् ज्ञानभेद इति वचनात् । ८ पदार्थेभ्यः । ९ शब्दब्रह्मस्वरूपवत् । १० शब्दब्रह्मणः । ११ कार्यैः । १२ घटपटादि । १३ शब्दब्रह्मणः । १४ भिन्नमभिन्नं वा । १५ पूर्वमुक्तं विवर्ततेऽर्थभावेनेति । १६ अपरापरकार्यग्रामस्य । १७ शब्दब्रह्मणः । १८ अर्थान्तर । १९ अर्थान्तररूपेण । २० ब्रह्म । २१ सत्यां । २२ शब्दब्रह्मणः । २३ उत्पादविनाशात्मकादर्थादभिन्नत्वात् । २४ अभेदरूपे भेदरूपप्रतिभासः । २५ वतुः इवार्थे । २६ घटपटादि । २७ नानारूपं । २८ उपहतः । २९ संछिन्नम् । ३० रेखाभिः । ३१ नानारूपाभिः ।

---

1 "स हि शब्दात्मा परिमाणं गच्छन् प्रतिपदार्थं भेदं वा प्रतिपद्यते न वा?" तत्त्वसं० पृ० ७० । न्यायकु० प्र० परि० । सम्मति० टी० पृ० ३८२ । स्या० रत्नाकर पृ० १०१ ।

तथेदं[2]ममलं ब्रह्मनिर्विं[1]कारमविद्यया ।
कलुषत्व[3]मिवा[4]पन्नं भेद[5]रूपं प्रपश्यति" ॥
[बृहदा० भा० वा० ३।५।४४] इति ।

तदप्यसाम्प्रतम्; अत्रार्थे प्रमाणाभावात् । न खलु यथोपवर्णितस्वरूपं शब्दब्रह्म प्रत्यक्षतः प्रतीयते, सर्वदा प्रतिनियतार्थस्वरूपग्राहकत्वेनैवास्य प्रतीतेः । यच्चो[9]क्तम्–[6]अभ्युदयनिःश्रेयस[7]फल[8]धर्मानुगृहीतान्तःकरणा योगिन एव तत्पश्यन्तीत्युक्तम्; तदप्युक्तिमात्रम्; न हि तद्[10]व्यतिरेकेणान्ये योगिनो वस्तुभूताः[11] सन्ति येन 'ते पश्यन्ति' इत्युच्येत । यदि च तज्ज्ञाने[12] तस्य[13] व्यापारः[14] स्यात्तदा 'योगिनस्तस्य रूपं पश्यन्ति' इति स्यात् । यावतो[15]क्तप्रकारेण कार्ये व्यापार[16] एवास्य न संगच्छते[17] । अविद्यायाश्च[18] तद्[19]व्यतिरेकेणासंभवात्कथं भेदप्रतिभासहेतुत्वम्? आकाशे च वितथ[20]प्रतिभासहेतुभूतं वास्तवमेवास्ति तिमिरम् इति न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः[21] (साम्यम्) ।

नाप्यनुमानतस्तत्[22]प्रतिपत्तिः; अनुमानं हि कार्यलिङ्गं वा भवेत्, स्वभावादि[23]लिङ्गं वा? [24]अनुपलब्धेर्विधिसाधकत्वेनानभ्युपगमात् । तत्र न तावत्कार्यलिङ्गम्; नित्यैकस्वभावात्ततः[25] [26]कार्योत्पत्तिप्रतिषेधात्, क्रमयौगपद्याभ्यां तस्या[27]र्थ[28]क्रियाविरोधात् । नापि स्वभा[29]-

---

१ उत्पादविनाशरहितं । २ भेदप्रक्रमे इवशब्दः । ३ इव । ४ इव । ५ पुरोवर्ति । ६ स्वर्ग । ७ मोक्ष । ८ वसः । ९ परेण भवता । १० ब्रह्मणः । ११ परमार्थभूताः । १२ योगिज्ञाने । १३ ब्रह्मणः । १४ अहमिति जनकत्वलक्षणव्यापारः । १५ साकल्येन । १६ ब्रह्मणः । १७ घटते । १८ किंच । १९ ब्रह्म । २० मिथ्या । २१ तिमिराविद्ययोः । २२ ब्रह्म । २३ कारणलिङ्गं । २४ (अनुपलब्धिरूपो हि हेतुर्न विधिसाधकः) । २५ शब्दब्रह्मणः । २६ घटादि । २७ ब्रह्मणः । २८ कार्य । २९ स्वरूप ।

---

1 "विशुद्धज्ञानसन्ताना योगिनोऽपि ततो न तत् ।
विदन्ति ब्रह्मणो रूपं ज्ञाने व्यापृत्य सङ्गतेः ॥ १५१ ॥
यदि हि ज्ञाने योगजे तस्य व्यापारः स्यात्तदा योगिनः तस्य रूपं पश्यन्तीति स्यात् ..." तत्त्वसं० पं० पृ० ७४ ।

2 "नचापि भवतां तद्व्यतिरेकिण्यविद्याऽस्ति" तत्त्वसं० पं० पृ० ७४ । स्या० रत्ना० पृ० ९९ । शास्त्रवा० समु० टी० पृ०२३७ उ० ।

3 "आकाशे च वितथप्रतिभासहेतुभूतं वास्तवमेव तिमिरं प्रसिद्धम्, अविद्यायाश्च अवास्तवत्वेन विचित्रप्रतिभासहेतुत्वानुपपत्तितो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोःसाम्याऽसंभवात् ।" न्यायकु० प्र० परि० । स्या० रत्ना० पृ० ९९ ।

वलिङ्गम्; शब्दब्रह्माख्यधर्मिण एवासिद्धेः। न ह्यसिद्धे धर्मिणि तत्स्वभावभूतो धर्मः स्वातन्त्र्येण सिद्ध्येत्।

यच्चोच्यते-'ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मया यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृदाकारानुगता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति'; तदप्युक्तिमात्रम्; शब्दाकारान्वितत्वस्यासिद्धेः। प्रत्यक्षेण हि नीलादिकं प्रतिपद्यमानोऽनाविष्टाभिलापमेव प्रतिपत्ता प्रतिपद्यते। कल्पितत्वाच्चास्याऽसिद्धिः। शब्दान्वितरूपाधारार्थासत्त्वेपि हि ते तदन्वितत्वेन त्वया कल्प्यन्ते। तथाभूताच्च हेतोः कथं पारमार्थिकं शब्दब्रह्म सिद्ध्येत्? साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तो घटादीनामपि सर्वथैकमयत्वस्यैकान्वितत्वस्य चासिद्धेः। न खलु भावानां परमार्थेनैकरूपानुगमोस्ति, सर्वार्थानां समानाऽसमानपरिणामात्मकत्वात्। किंच, शब्दात्मकत्वेऽर्थानाम् शब्दप्रतीतौ सङ्केताग्राहिणोप्यर्थे सन्देहो न स्यात्तद्वत्तस्यापि प्रतीतत्वात्, अन्यथा तादात्म्यविरोधः। अग्निपाषाणादिशब्दश्रवणाच्च श्रोत्रस्य दाहाभिघातादिप्रसङ्गः। तन्नानुमानतोपि तत्प्रतीतिः।

नाप्यागमात्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [मैत्र्यु०] इत्याद्यागमस्य ब्रह्मणोऽर्थान्तरभावे-द्वैतप्रसङ्गात्, अनर्थान्तरभावे तु-तद्वदागमस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गः। तदेवं शब्दब्रह्मणोऽसिद्धेर्न शब्दानुविद्धत्वं सविकल्पकलक्षणं किन्तु समारोपविरोधिग्रहणमिति प्रतिपत्तव्यम्।

---

१ भवता परेण। २ शब्दमयाः। ३ हेतोः। ४ पदार्थं। ५ शब्देन रहितम्। ६ ज्ञाता। ७ शब्दान्वितत्वस्य। ८ अर्थाः। ९ शब्द। १० परेण। ११ कल्पितशब्दान्वितत्वरूपात्। १२ विसदृश। १३ पुरुषस्य। १४ अयं घटः पटो वेत्यादि। १५ शब्दवन्नीलादेरपि। १६ सन्देहश्चेत्। १७ अग्न्यार्थाभिन्नशब्दस्य श्रोत्रसम्बन्धित्वात्। १८ न च तथास्ति। १९ ब्रह्म। २० आगमो भिन्नो ब्रह्मणः। २१ तस्मात्कारणात् उक्तप्रकारेण। २२ ज्ञानम्।

---

1 "शब्दार्थयोश्च तादात्म्ये क्षुराग्निमोदकादिशब्दोच्चारणे आस्यपाटनदहनपूरणादिप्रसक्तिः। सन्मति० टी० पृ० ३८६। शास्त्रवा० टी० पृ० २३७पू०।

2 "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्" मैत्र्यु० ४।६।

3 शब्दब्रह्मवादस्य विविधरीत्या खण्डनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–मीमांसाश्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० १७६। न्यायमं० पृ० ५३१। तत्त्वसं० पृ० ६७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४०। न्यायकु० प्र० परि०। सन्मति० टी० पृ० ३८०,४९४। स्या० रत्ना० पृ० ८८।

ननु[1] व्यवसायात्मकविज्ञानस्य प्रामाण्ये निखिलं तदात्मकं ज्ञानं प्रमाणं स्यात्, तथा च विपर्ययज्ञानस्य धारावाहि[2]विज्ञानस्य च प्रमाणताप्रसङ्गात्[3] प्रतीतिसिद्धप्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः स्यात्, इत्याशङ्क्याऽतिप्रसङ्गापत्तोदार्थम् अपूर्वार्थविशेषणमाह। अतोऽनयोरनर्थविषयत्वाविशेषग्राहित्वाभ्यां व्यवच्छेदः[4] सिद्धः। यद्वाऽनेनाऽपूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञानमेव निरस्यते[5]। विपर्ययज्ञानस्य तु व्यवसायात्मकत्वविशेषणेनैव निरस्तत्वात् संशयादिस्वभावसमारोपविरोधिग्रहणत्वात्तस्य।

ननु[6] संशयादिज्ञानस्यासिद्धस्वरूपत्वात्कस्य व्यवसायात्मकत्वविशेषणत्वेन निरासः? संशयज्ञाने[7] हि धर्मी[8], धर्मो[9] वा प्रतिभाति? धर्मी चेत्; स तात्त्विकः, अतात्त्विको वा? तात्त्विकश्चेत्; कथं तद्बुद्धेः संशयरूपता तात्त्विकार्थगृहीति[10]रूप[11]त्वात्करतलादिनिर्न(र्ण)यवत्? अथातात्त्विकः; तथाप्यतात्त्विकार्थविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवद् भ्रान्तिरेव संशयः। अथ धर्मः-स स्थाणुत्वलक्षणः, पुरुषत्वलक्षणः, उभयं वा? यदि स्थाणुत्वलक्षणः; तत्र तात्त्विकाऽतात्त्विकयोः पूर्ववद्दोषः। अथ पुरुषत्वलक्षणः; तत्राप्ययमेव दोषः। अथोभयम्; तथा[12]प्युभयस्य तात्त्विकत्वाऽतात्त्विकत्वयोः स एव दोषः। अथैकस्य[13] तात्त्विकत्वमन्यस्या[14]तात्त्विकत्वम्; तथापि तद्विषयं[15] ज्ञानं तदेव[16][17] भ्रान्तमभ्रान्तं चेति प्राप्तम्। अथ[18] सन्दिग्धोऽर्थस्तत्र[19] प्रतिभासते; सोऽपि विद्यते[20] न वेत्यादि[21]विकल्पे[22] तदेव दूषणम्। तन्न संशयो घटते। नापि विपर्ययस्तस्यापि स्मृतिप्रमोषाद्यभ्युपगमेनाव्यवस्थितेः।

इत्यप्यसमीचीनम्; यतः संशयः सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्यः। स धर्मिविषयो वास्तु धर्मविषयो

---

१ परः। २ घटोऽयं घटोऽयमिति। (निश्चयानन्तरं तेनैवाकारेण पुनः पुनर्यत्प्रवर्तते तज्ज्ञानम्)। ३ निश्चयात्मकत्वाविशेषात्। ४ परिहारः। ५ जैनैः। ६ प्रभाकरो ब्रूते [? तत्त्वोपप्लववादी]। ७ पुरुषः। ८ पुरुषत्वं। ९ संशयो धर्मी संशयरूपतापन्नो न भवतीति साध्यो धर्मः तात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वात्। १० गृहीतिर्ग्रहणम्। ११ बसः। (वेति शब्दैकदेशेन बहुव्रीहिग्रहणं सकारात्समासार्थबोधः)। १२ उभयप्रतिभासे। १३ स्थाणुत्वस्य। १४ स्थाणौ पुरुषत्वस्य। १५ उभय। १६ पूर्वोक्तं। १७ एकमेव ज्ञानं। १८ परः। १९ संशयज्ञाने। २० तात्त्विकः। २१ अतात्त्विको वा। २२ उभयं।

1—"तस्मिन् सन्देहज्ञाने किञ्चित्प्रतिभाति आहोस्विन्न? यदि किञ्चित् प्रतिभाति स किं धर्मी, धर्मो वा? तत्त्वोप० लि० पृ० २६। स्या० रत्ना० पृ० १४३।

वा तात्त्विकातात्त्विकार्थविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य[१] वालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते[२] ? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदुःखादेरप्यपह्नवः[३] स्यात् । कथं च 'धर्मिविषयो[४] धर्मविषयो वा' इत्यादि प्रश्नहेतुकसंशयादि(धि)रूढ[५]एवायं संशयं निराकुर्यात् न चेदस्वस्थः ? किंच, उत्पादककारणाभावात्संशयस्य निरासः, असाधारणस्वरूपाभावात्, विषयाभावाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तदुत्पादक[६]कारणस्य सद्भावात्, स ह्याहितसंस्कारस्य प्रतिपत्तुः समाना[७]ऽसमानधर्मोपलम्भानुपलम्भतो मिथ्यात्वकर्मोदये सत्युत्पद्यते । असाधारणस्वरूपाभावोप्यसिद्धः; चलितप्रतिपत्तिलक्षणस्यासाधारणस्वरूपस्य तत्र सत्त्वात् । विषयाभावस्तु दूरोत्सारित एव; स्थाणुत्वविशिष्टतया पुरुषत्वविशिष्टतया वाऽनवधारितस्य ऊर्द्धतासामान्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात्[1] ।

एतेन[१०] विपर्ययनिरासोपि निराकृतः । तत्राप्युत्पादककारणादेः सद्भावाविशेषात् । किंच[११], अयं विपर्ययोऽख्यातिम्[१२], असत्ख्यातिम्[१३], प्रसिद्धार्थख्यातिम्[१४], आत्मख्यातिम्[१५], सदसत्त्वाद्य[१६]निर्वचनीयार्थख्यातिम्[१७], विपरीतार्थ[१८][१९]ख्यातिम्, स्मृतिप्रमोषं[२०][२१] वाभिप्रेत्य निराक्रियेत प्रकारान्तराऽसम्भवात् ?

अख्यातिं[२२] चेत्; तथा[२३] हि[२४]–जलावभासिनि[2][२५] ज्ञाने तावन्न जलसत्तालम्बनीभूतास्ति अभ्रान्तत्व[२६]प्रसङ्गात् । जलाभावस्त्वत्र[२७] न प्रतिभात्येव; तद्विधिपरत्वेना[२८]स्य प्रवृत्तेः । अत एव मरीचयोऽपि

१ संशयज्ञानस्य । २ त्वया परेण (अपि तु न) । ३ सुखमवयविरूपं परमाणुरूपं वा । न तावदाद्यः पक्षोऽनभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु प्रतिभासाभावः स्यादिति । ४ संशयः । ५ प्राभाकरः [तत्त्वोपप्लववादी] । ६ संशय । ७ ऊर्द्धता । ८ शिरःपाण्यादिमत्त्ववक्रकोटरादिमत्त्व । ९ अनिश्चितस्य । १० संशयनिरासनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । ११ तत्तद्वादिनः प्रत्युच्यते । १२ चार्वाकः । १३ सौत्रान्तिकमाध्यमिकौ । १४ साङ्ख्यः । वैदान्तिको भास्करीयः । १५ विज्ञानाद्वैतवादी योगाचारः । १६ शाङ्करीयः ब्रह्माद्वैतमायावादी च । १७ उभय । १८ नैयायिकवैशेषिकभाट्टवैभाषिकजैनाः । १९ ईप् । (सप्तमी) । २० प्राभाकरः । २१ अप्रवेदनं । २२ अर्थस्य । २३ परः । २४ अस्य ज्ञानस्य विषयः कः जलं वा तदभावो वा मरीचयो वा अन्यद्वा । २५ मरीचिकाजलज्ञाने । २६ अन्यथा । २७ मरीचिकायां । २८ जलास्तित्वप्रधानत्वेन ।

1—अनयैव भङ्गया संशयस्वरूपविचारः (पूर्वपक्षः) तत्त्वोप० लि० पृ० २६ । (समग्रः) स्या० रत्ना० पृ० १४३ । इत्यादिषु द्रष्टव्यः ।

2 "इदं रजतमिति प्रस्तुतज्ञाने रजतसत्ता विषयभूता तावन्नास्ति अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्" न्यायकु० चं० प्र० परि० । स्या० रत्नाकर पृ० १२४ ।

नालम्बनम्; तत्त्वे[1] वा तद्ग्रहणस्या[2]भ्रान्तत्व[3]प्रसङ्गः। तोयाकारेण मरीचिग्रहणमित्यप्ययुक्तम्; तदन्यत्वात्[4]। न खलु घटाकारेण तदन्यस्य पटादेर्ग्रहणं[5] दृष्टम्। ततो निरालम्बनं[6] जलादिविपर्ययज्ञानम्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; विशेषतो व्यपदेशाभावप्रसङ्गात्। यत्र[7] हि न किञ्चिदपि प्रतिभाति तत्केन[8] विशेषेण जलज्ञानं रजतज्ञानमिति वा व्यपदिश्येत? भ्रान्तिसुषुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गश्च। न ह्यत्र[9] प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेणान्योऽस्ति विशेषः। प्रतिभासमानश्च तज्ज्ञान[10]स्यालम्बनमित्युच्यते। तन्नाख्यातिरेव विपर्ययः[11]।

सत्यमेतत्[12]; तथापि प्रतिभासमानो[13]ऽर्थः सद्रूपो[14] विचार्यमाणो नास्तीत्यसत्ख्यातिरेवासौ[15]। शुक्तिकाशकले हि न शुक्तिकादि[16]प्रतिभासः, किं तर्हि? रजतप्रतिभासः। स च रजताकारस्तत्र[17] नास्तीति;

तदयुक्तम्; इत्यपरः[18]। कस्मात्? असतः[2] खपुष्पादिवत्प्रतिभासासम्भवात्। भ्रान्तिवैचित्र्या[19]भावप्रसङ्गश्च; न ह्यसत्ख्यातिवादिनोऽर्थगतं[20] ज्ञानगतं[21] वा वैचित्र्यमस्ति येनानेकप्रकारा भ्रान्तिः स्यात्[3]। तस्मात्प्रमाण[22]प्रसिद्ध एवार्थो विचित्र[23]स्तत्र[24] प्रतिभाति। न चास्य[25] विचार्यमाणस्यासत्त्वम्; विचारस्य प्रतीतिव्यतिरेकेणाऽन्यस्यासम्भवात्। प्रतीत्यबाधितत्वाच्च; करतलादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम्, स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यस्ति। यद्यप्युत्तरकालं तथा[26] सोऽर्थो नास्ति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावद्-

१ मरीचिविषयत्वे च। २ ज्ञानस्य। ३ ज्ञानस्य सत्यार्थग्राहकत्वात्। ४ तोयात्। ५ ज्ञाने। ६ निर्विषयं। ७ ज्ञाने। ८ ज्ञानं। ९ भ्रान्तज्ञाने। १० जल। ११ स्याद्वादिभिरुक्तम्। १२ माध्यमिकोऽब्रवीत्। १३ जलादिः। १४ तज्ज्ञानस्याभ्रान्तताप्रसंगात्। १५ विपर्ययः। १६ जल। १७ विपर्ययस्थले। १८ साङ्ख्यः। १९ शुक्तिकायां रजतज्ञानमेकचन्द्रे द्विचन्द्रज्ञानमित्यादि। २० अर्थस्याऽसत्त्वात्। २१ ज्ञानत्वेनैकादृशत्वात्। २२ सत्यभूतः। २३ नानाप्रकारः। २४ भ्रान्तत्वेन उपगते ज्ञाने। २५ रजताद्यर्थस्य। २६ पूर्वकालवत्।

1 विपर्ययज्ञाने अख्यातिवादस्य अनयैवानुपूर्व्या विचारः न्यायकु० चं० प्र० परि० तथा स्या० रत्ना० पृ० १२४ इत्यादिषु द्रष्टव्यः।

2 "असतः प्रख्योपाख्याविरहितस्य खपुष्पादिवत् प्रतिभासाऽसंभवात्...भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसंगश्च। न्यायकु० चं० प्र० परि०। स्या० रत्नाकर पृ० १२५।

3 असत्ख्यातेः प्रतिविधानं न्यायवा० ता० टी० पृ० ८६, न्यायमं० पृ० १७७, न्यायकु० प्र० परि०, स्या० रत्ना० पृ० १२५। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

स्त्येव, अन्यथा विद्युदादेरपि सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्। तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेव युक्ता;

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यथावस्थितार्थगृहीतित्वा[2]विशेषे हि भ्रान्ताऽभ्रान्तव्यवहाराभावः स्यात्। अपि चोत्तरकालमुदकादे[3]रभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरुपल[4]म्भः स्यात्। न खलु विद्युदादिवदुदकादेरप्याशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते। सर्वतद्देशद्रष्टृणामविसंवादेनोपलम्भश्च विद्युदादिवदेव स्यात्। [5]बाध्यबाधकभावश्च[6] न प्राप्नोति; सर्वज्ञानानामवि[7]तथार्थविषयत्वाविशेषात्।

यद[8]प्युच्यते—ज्ञा[9]नस्यैवायं[10]माकारोऽनाद्यऽविद्योपप्लवसामर्थ्या[11]द्बहिरिव प्रतिभासते। अनादिविचित्रवासनाश्च क्रमवि[12]पाकवत्यः पुंसां सन्ति[13] तेना[14]नेका[15]कारा[16]णि ज्ञा[17]नानि स्वा[18]कारमा[19]त्रसंवेद्यानि क्रमेण भवन्तीत्या[20]त्मख्या[21]तिरेवेति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः [22]स्वात्ममात्रसंवित्तिनिष्ठत्वे अर्थाकार[23]त्वे च ज्ञानस्यात्मख्यातिः सिद्ध्येत्। न च तत्सि[24]द्धम्, उत्तरत्रोभयस्यापि प्रतिषेधात्। [25]सर्वज्ञानानां स्वाकारग्राहित्वे च भ्रान्ताऽभ्रान्तविवेको बाध्यबाधकभावश्च न प्राप्नोति, तत्र[26] व्यभिचाराभावाविशेषात्। [27]स्वात्मस्थितत्वेन रजताद्याकारस्य संवेदनेन च सुखाद्याकारवद्बहि[28]ष्ठतया

१ मरीचिकायां जललक्षणोऽर्थः सत्यभूतः प्रतिभासमानत्वात् घटवत्। २ सर्वज्ञानानामङ्गीक्रियमाणे। ३ सति। ४ तत्र प्रवृत्तस्य पुरुषस्य। ५ उत्तरकाले। ६ विचारिते सति। ७ सत्यभूतार्थे। ८ ज्ञानाद्वैतवादिना योगाचारेण। ९ शुक्तिकादौ रजताद्याकारः। १० अयथार्थवित्तिशक्ति। वित्तिर्भ्रान्तिः। ११ ज्ञानात्। १२ उद्बोधवत्यः। १३ कारणेन। १४ अनाद्यविद्यासामर्थ्येन। १५ घटादि। १६ ग्राह्यग्राहक। १७ संवित्तिरूपाणि। १८ ज्ञान। १९ यस्यः। (बहुव्रीहिसमास इत्यर्थः)। २० मरीचिकायां जलाकारः ज्ञानात्मा प्रतिभासमानत्वात् ज्ञानस्वरूपवत्। २१ ज्ञानप्रतीतिः। २२ ज्ञानस्य। २३ सिद्धे। २४ द्वयं। २५ नीलकेशोण्डुकादिसर्वविकल्पानां। २६ आत्मस्वरूपमात्रे। २७ स्वस्य ज्ञानस्यात्मा स्वरूपं तत्र स्थितत्वेन। २८ बहिःस्थितत्तया।

1 अनयैव रीत्या प्रसिद्धार्थख्यातेर्विचारः न्यायकु० चं० प्र० परि०। स्या० रत्ना० पृ० १२६। इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

2 आत्मख्यातेर्निरूपणं न्यायमञ्जर्यामित्थं दृश्यते (पृ० १७८)

"विज्ञानमेव खल्वेतद्बलात्यात्मानमात्मना।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः॥
बुद्धिः प्रकाशमाना च तेन तेनात्मना बहिः।
तद्वहत्यर्थशून्यापि लोकयात्रामिहेदृशीम्॥"

प्रतीतिर्न स्यात्। प्रतिपत्ता[1] च[2] तदुपादानार्थं[3] न प्रवर्त्तेत, अवहिष्ठाऽस्थिर[4]त्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वात् । अथा[5]विद्योपप्लववशाद्वहिष्ठ–स्थिरत्वेनाध्यवसाय[6]ः; कथमेवं विपरीतख्यातिरेव नेष्टा, ज्ञानादभिन्नस्यास्थिरस्य चार्थाकारस्यान्यथाध्यवसायाभ्युपगमादिति[1] ?

य[7]च्चोच्य[8]ते–न ज्ञानस्य विषयं[9] उ[10]पदेश[11]गम्योऽनुमानसाध्यो वा[12] येन वि[13]परीतोऽर्थः कल्प्येत। किं तर्हि ? यो यस्मिन् ज्ञाने प्रतिभाति स तस्य विषय इत्युच्यते। जलादिज्ञाने च जलाद्यर्थ एव प्रतिभाति न तद्विपरीतः, ज[14]लादिज्ञानव्यपदेशाभावप्रसङ्गात्। स च जलाद्यर्थः सन्न भवति; त[15]द्बुद्धेरभ्रान्तत्वप्रसङ्गा[16]त्। नाप्यसन्; खपुष्पादिवत्प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वानुषङ्गात् । नापि सदसद्रूपः; उभयदोषानुषङ्गात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च। तस्मादयं बुद्धिसन्दर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनान्ये[17]न वा धर्मान्तरेण नि[18]र्वक्तुं न शक्यत इत्यनिर्वचनीयार्थ[2]ख्यातिः सिद्धा; इ[19]त्यपि मनो-

१ प्रमाता। २ किंच। ३ रजतादि। ४ ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्। ५ परः। ६ रजतादेः। ७ अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादिना शाङ्करीयेण। ८ विपरीतार्थख्यातिं दूषयन् अनिर्वचनीयार्थख्यातिं समर्थयते। ९ रजतादिः। १० विपरीत इति। ११ रजतमिदमिति ज्ञाने किंरूपोऽर्थः प्रतिभासते इति प्रश्ने पर उपदेशं करोति। कथं शुक्तिकाशकलमिति रजतमिदमिति ज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं तत्रैव प्रवर्तकत्वात्सम्प्रतिपन्नज्ञानवदित्यनुमानं रजतमिदमित्येतस्मिन् ज्ञाने प्रतिभासमानार्थस्योपदेशगम्यत्वेऽनुमानसाध्यत्वे वा विपरीतार्थख्यातिः स्यात्प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य सद्भावात् शुक्तिशकलस्य। १२ मरीचिकाचक्रे जललक्षणः। १३ प्रतिभासमानाद्विपरीतोऽर्थः शुक्तिशकललक्षणः। १४ अन्यथा। १५ अन्यथा। १६ उत्तरकाले बाधकानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। १७ उभयेन। १८ निरूपयितुं। १९ विवादापन्नो जललक्षणोऽर्थः सत्त्वाऽसत्त्वाद्यनिर्वचनीयः प्रतिभासमानत्वे सति बाध्यमानत्वान्यथानुपपत्तेः।

1 आत्मख्यातेर्विविधरीत्या पर्यालोचनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्–न्यायवा० ता० टी० पृ० ८५, भामती पृ० १४, न्यायमं० पृ० १७८, न्यायकुसु० प्र० परि०, स्या० रत्ना० पृ० १२८।

2 "तत्किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययः तत्त्वगोचरः, तथा च समीचीन इति न भ्रान्तो नापि बाध्येत। अद्धा न बाध्येत यदि मरीचीनतोयात्मतत्त्वा न तोयात्मना(?)-गृह्णीयात्। तोयात्मना तु गृह्णन् कथमभ्रान्तः कथं वाऽबाध्यः ? हन्त तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत्; तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मताऽनुपपत्तेः। नाप्यसत्; वस्त्वन्तरमेव हि वस्त्वन्तरस्यासत्त्वमास्थीयते 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्' इति वदद्भिः। ......तस्मान्न सत्, नापि सदसत्; परस्परविरोधात्, इत्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम् । तदनेन क्रमेण

रथमात्रम्; अद्वैतसिद्धौ ह्येतत्सिद्ध्येत्, तच्चाद्वैतं निराकरिष्यामः। यच्चोक्तम्–न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्य इत्यादि; तद्भवतामेव प्राप्तम्, तथा हि–जलादिभ्रान्तौ नियतदेशकालस्वभावः सदात्मकत्वेनैव जलाद्यर्थः प्रतिभाति तद्ग्रहणेप्सोस्तत्रैव प्रवृत्तिदर्शनात् तत्कथमसावनिर्वचनीयः स्यात्? न ह्येवंभूते प्रतिभासप्रवृत्ती अनिर्वचनीयेऽर्थे सम्भवतः। अथ विचार्यमाण एवासौ सदसत्त्वादिभिरनिर्वचनीयः सम्पद्यते न तु भ्रान्तिकाले तथा प्रतिभातीति; नन्वेवमन्यथाप्रतिभासाद्विपरीतख्यातिरेव स्यात्।

ननु विपरीतख्यातिरपि प्रतिभासविरोधान्न युक्तेति। क एवमाह–'विपरीतोऽयमर्थः' इति ख्यातिः? किं तर्हि? पुरुषविपरीते स्थाणौ 'पुरुषोऽयम्' इति ख्यातिर्विपरीतख्यातिः। ननु पुरुषावभासिनि ज्ञाने स्थाणोरप्रतिभासमानस्य विषयत्वमयुक्तं सर्वत्राप्यव्यवस्थाप्रसङ्गात्; तदयुक्तम्; यतः स्थाणुरेवात्र ज्ञाने तद्रूपस्यानवधारणाद्धर्मादिवशाच्च पुरुषाद्याकारेणाध्यवसीयते। बाधोत्तरकालं हि प्रतिसन्धत्ते 'स्थाणुरयं मे 'पुरुषः' इत्येवं प्रतिभात

---

१ भेदेन निरूपयितुमशक्यत्वमद्वैताश्रितं पुरुषाद्वैताभावे तदसम्भवादित्यर्थः। २ भवदुक्तम्। ३ परेण। ४ अनुमानसाध्य। ५ अर्थोऽनिर्वचनीय इति उपदेशगम्येनेत्यादि। ६ रजतसर्पादि। ७ इति नियतदेशादिस्वभावस्यार्थस्य सदात्मकप्रतिभासमानस्योपदेशादनिर्वचनीयत्वं कथं स्यात्। रजतादिभ्रान्तौ प्रतिभासमानोऽर्थः अनिर्वचनीयः सत्त्वादिना बाध्यमानत्वे सति प्रतिभासमानत्वान्यथानुपपत्तेरित्यर्थस्योपदेशागम्यत्वमनुमानबाध्यत्वं च भवतामेवायातम्। ८ सदात्मकविषयतद्ग्रहणेषु निबन्धने। ९ रजतलक्षणस्य। १० यदि। ११ उत्तरकाले। १२ अनिर्वचनीय एव तत्काले सत्त्वेन भातीति। १३ अनिर्वचनीयार्थस्य अनिर्वचनीयरूपतया प्रतिभासनात्। १४ परः। १५ विपरीतोयमर्थ इति प्रतिभासाभावात्। १६ चेत्। १७ परः। १८ अन्यथा। १९ घटपटादिप्रतिभासिनि ज्ञाने। २० अप्रतिभासमानस्य पुरुषस्य विपरीतत्वं स्यात्। २१ चेत्। २२ काचादिदोष। २३ प्रत्यभिज्ञानं।

अध्यस्तं तोयं परमार्थतोयमिव अत एव पूर्वदृष्टमिव, तत्त्वतस्तु न तोयं न च पूर्वदृष्टम्, किन्त्वनृतमनिर्वाच्यम्"। भामती पृ० १३।

"प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः॥" चित्सुखी पृ० ७९।

1 पृ० ५१ पं० ५।

2 अनिर्वचनीयार्थख्यातेर्विचारः भङ्ग्यन्तरेण न्यायवा० ता० टी० पृ० ८७, न्यायकुमु० प्र० परि०, स्या० रत्ना० पृ० १३३ इत्यादिषु द्रष्टव्यः।

इति, [1]कथमेवं विपर्ययनिरासः [2]तस्या एव तद्रूपत्वादिति ? [3]स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेन तु विपर्ययप्रत्याख्यानमयुक्तम्; तस्यासिद्धरूपत्वात्।

[4]ननु शुक्तिकायाम् 'इदं रजतम्' इति प्रतिभासो विपर्ययः, न चासौ विचार्यमाणो घटते। नहि 'इदं रजतम्' इत्येकमेवेदं ज्ञानं [5]कारणाभावात्; तथाहि-न दोषै[6]श्चक्षुरादीनां शक्तेः प्रतिबन्धः क्रियते, [7]कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न हि दुष्टा यवा [8]विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्ति। अत एव [9]प्रध्वंसोऽपि। किञ्च, "सम्बद्धं वर्त[11]मानं च गृह्यते चक्षुरादिना"। [मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ८४] र[12]जतस्य चासम्बद्धत्वादवर्तमानत्वाच्च चक्षुषा कथं वर्तमानरजताकारावभासः [13]स्यात्? [14]ज्ञाने च [15]कस्यायमाकारः [16]प्रथते ? न तावद्रजतस्य; अवर्त्तमानत्वात्। नापि ज्ञानस्यैव; [17]स्वसिद्धान्तविरो[18]धात्। किञ्च, [19]अगृहीत[20]रजतस्येदं वि[21]ज्ञानं नोपजायते, [22]अति[23]प्रसङ्गात्। गृही[24]तरजतस्य च 'तद्रजतमिदम्' इति स्यात्, इन्द्रि[25]यसंस्कारसादृश्य-

१ विपरीतख्यात्यभ्युपगमप्रकारेण। २ विपरीतख्यातेः। ३ विवेकाख्यातिमभिप्रेत्य विपर्ययनिरासः क्रियते इति प्रभाकरेणोक्तं तं प्रत्याह। ४ परः। ५ एकत्वेन ज्ञानोत्पत्तौ। ६ काचकामलादिदोषैः। ७ इदं रजतमिदं जलं। ८ यवाङ्कुरादन्यत् शाल्यङ्कुरादि। ९ न हि बीजप्रध्वंसोऽङ्कुरं जनयति। १० कारणाभावः। ११ वस्तु। १२ शुक्तिकायां। १३ विषयाभावः। १४ चक्षुषा जनिते रजतज्ञाने। १५ वस्तुनः। १६ प्रकाशते। १७ जैनस्य। १८ स्वरूपाभावः। १९ अज्ञात। २० नुः। २१ इदं रजतमिति। २२ अन्यथा। २३ भूभवनर्द्धितोत्थितस्यापीदं रजतमिति विज्ञानं भवतु। २४ नुः। २५ इन्द्रियेणेदमंशोल्लेखि ज्ञानं संस्कारेण तद्रजमित्यंशोल्लेखिस्मरणं सादृश्यदोषलक्षणाभ्यां कारणाभ्यां तद्रजतमिदमिति सामानाधिकरण्यं भवति। नापि सादृश्यादेव केवलात् सामानाधिकरण्यं पूर्वं गृहीतरजतस्य नुः दृश्यमाने सत्यरजते तद्रजतमिदमिति सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात् सादृश्याविशेषात्। नापि दोषात्केवलात्सामानाधिकरण्यं स्तम्भेपि तत्प्रसङ्गात् दोषलक्षणस्य कारणस्य स्तम्भेपि विद्यमानत्वात्। तस्मादुभयं कारणं सादृश्यदोषौ।

1 "शुक्तं च दुष्टतायाः कार्याऽक्षमत्वं न पुनः कार्यान्तरसामर्थ्यम्"।

बृहती पृ० ५३।

"दोषा हि कारणानां सामर्थ्यं निघ्नन्ति न पुनः कार्यान्तरजननसामर्थ्यमादधति, न खलु भ्रष्टकुटजबीजं न्यग्रोधधानायै कल्पते, किन्तु न करोति कुटजधानम्।' न्यायवा० ता० टी० पृ० ८८। भामती पृ० १४। न्यायमं० पृ० १७६।

2 "रजतप्रतिपत्तिश्च नेयमन्धस्य जायते।
तेनेयमिन्द्रियाधीना संयुक्ते चेन्द्रियं धियम्॥ १२॥"

प्रकरणपं० पृ० ३३।

दोषैर्जन्यमानत्वात्। किञ्च, शुक्तिकायां रजतसंसर्गो न तावद्-सन् प्रतिभासते, खे खपुष्पसंसर्गवत् असत्ख्यातित्वप्रसङ्गात्। नापि सन्; रजतस्य तत्रासत्त्वात्। ततो ज्ञानद्वय[1]मेतत् 'इदम्' इति हि पुरोव्यवस्थितार्थप्रतिभासनम्, 'रजतम्' इति च पूर्वावगतरजतस्मरणं सा[3]दृश्या[4]देः कुतश्चिन्निमित्तात्। त[5]च्च स्मरणमपि स्वरूपेण नावभासत इति स्मृति[2]प्रमोषोऽभिधीय[6]ते। य[7]त्र हि 'स्मरामि' इति प्र[8]त्ययस्तत्र स्मृतेरप्रमोषः, न पुनर्य[7]त्रस्मृतित्वेऽपि 'स्मरामि' इति रूपाप्रवे[8]दनम्। प्र[3]वृत्तिश्च भेदाऽग्र[9]हणादेवोपपन्ना। ननु कोऽयं तदग्रहो नाम? न तावदेकत्वग्रहः; तस्यैव विपर्ययरूप[11]त्वात्। नापि त[12]द्ग्रहण[13]प्रागभावः; त[14]स्याऽप्रवृत्तिहेतुत्वात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रमाणफलत्वादिति चेत्; न; भेदाऽग्रहणसचि[15]वस्य रजतज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तेरिति।

---

१ अन्यथा (असतः प्रतिभासे)। २ शुक्तिकायां। ३ दोषात्। ४ मनोदोषः। ५ रजतज्ञानं। ६ प्राभाकरेण। ७ ज्ञाने। ८ प्रतीतिः। ९ प्रत्यक्षस्मरणयोर्भिन्नयोरेकत्वेन ग्रहणं विपर्ययः। १० सत्यासत्यज्ञानयोरित्यादि। ११ विपरीतख्यातित्वप्रसङ्गादित्यर्थः। १२ भेद। १३ ज्ञानस्य। १४ बाधकोत्पत्तेः पूर्वं। १५ सहायस्य।

---

1 "विज्ञानद्वयं चैतत् इदमिति प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्।" बृहती पृ० ५१। "रजतमिदमिति नैकं ज्ञानम्, किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणं तस्याननुभवरूपत्वान्न प्रामाण्यप्रसङ्गः। इदमित्यपि विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव।" प्रकरणपं० पृ० ४३।

2 "शुक्तिकायां रजतज्ञानं स्मरामीति प्रमोषात् स्मृतिज्ञानमुक्तं युक्तं रजतादिषु–" बृहती पृ० ५३।

"स्मरामीति ज्ञानशून्यानि स्मृतिज्ञानान्येतानि" बृहती पृ० ५५।

तु०—"सा च रजतस्मृतिर्न तदा स्वेन रूपेण प्रकाशते स्मरामीतिप्रत्ययाभावात्" न्यायमं० पृ० १७८।

3 "ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी॥ ३३॥

सम्यग्रजतबोधात्तु भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः।
तथापि भिन्ने नाभातः भेदाग्रहसमत्वतः॥ ३४॥
सम्यग्रजतबोधश्च समक्षैकार्थगोचरः।
ततो भिन्ने अबुद्ध्वा तु स्मरणग्रहणे इमे॥ ३५॥
समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः।
व्यवहारोऽपि तत्तुल्यः तत एव प्रवर्त्तते॥ ३६॥
समत्वेन च संवित्तेः भेदस्याग्रहणेन च।" प्रकरणपं० पृ० ३४।

अत्र[1] प्रतिविधीयते–न दोषैः[2][1] शक्तेः[3] प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते, किन्तु दोषसमवधाने चक्षुरादिभिरिदं[4] विज्ञानं विधीयते। दोषाणां चेदमेव सामर्थ्यं यत्तत्सन्निधानेऽविद्यमाने[5]ऽप्यर्थे ज्ञानमुत्पादयन्ति चक्षुरादीनि। न चैवमसत्ख्यातिः[7] स्यात्; सादृश्यस्यापि[6] तद्धेतुत्वात्[8]। असत्ख्यातिस्तु न तद्धेतुका[9], खपुष्पज्ञानवत्[10]। रजताकारश्च[11] प्रतिभासमानो न ज्ञानस्य[12]; संस्कारस्यापि तद्धेतुत्वात्[13]। दोषाद्धि संस्कारसहायादनुभूतस्यैव रजतस्यायमाकारः पुरोवर्तिन्यर्थे[14] प्रतिभासते। न चैवं 'तद्रजतम्' इति स्यात्; दोषवशात्पुरोऽव्यवस्थितार्थे[15] रजताकारस्य प्रतिभासनात्। कथमन्यथा भवतोऽपि तद्रजतमिति प्रतिभासो न स्यात्[16]? ततो यथा तत्र[17] स्मृतिप्रमोषस्तथा[18][19] दोषेभ्यः सामानाधिकरण्येन[20] पुरोवर्तिन्यवर्तमानरजताकारावभासः[21] किन्न स्यात्? अनेन 'तत्संसर्गः सन्नसन्वा[22] प्रतिभासते' इत्यपि निरस्तम्। न च विवेकाऽख्यातिसहायाद्रजतज्ञानात्[23] प्रवृत्तिर्घटते; 'घटोयम्' इत्याद्यभेदज्ञानात्प्रवृत्तिप्रतीतेः। विवेकाख्यातिश्च भेदे सिद्धे सिद्ध्येत्। न चात्र[24] ज्ञानभेदः[25] कुतश्चित्[26] सिद्धः, तथापि तत्कल्पने 'घटोयम्' इत्यादावपि ज्ञानभेदः कल्प्यतामविशेषात्[27]। अथात्र[28][29] सतो घटस्य ग्रहणान्नासौ कल्प्यते; तर्हि अन्यत्राप्यसतो[30] ग्रहणात्तत्कल्पना माभूत्। यथैव हि गुणान्वितैश्चक्षुरादिभिः[31] सति वस्तुन्येकं ज्ञानं जन्यते, तथा दोषान्वितैः सादृश्यवशादसत्येकं ज्ञानं जन्यते।

---

१ परोक्ते प्रत्युत्तरं दीयते जैनैः। २ काचकामलादिभिः। ३ नेत्रादीनां। ४ रजतं। ५ रजते। ६ पूर्वदृष्टरजतेन शुक्तिकायाः सादृश्यं। ७ अन्यथाख्याति। ८ विपर्ययज्ञानस्य सादृश्यं हेतुः। ९ सादृश्यहेतुका। १० सादृश्यहेतु। ११ एवं तर्हि आत्मख्यातिः स्यात्। १२ न ज्ञानस्य आकारः आत्मख्यातिप्रसङ्गात्। १३ रजतज्ञान। १४ शुक्तिकादौ। १५ रजतमिदमिति ज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनत्वेन। १६ पूर्वं रजतानुभवाऽविशेषात्। १७ परस्य। १८ अभावः। १९ तद्रजतमित्येतस्मिन्निदं रजतमिति ज्ञानं यथा ते प्रमोषवशाज्जायते। २० इदं रजतमिति इदंरजतयोरेकाधिकरणत्वेन। २१ शुक्तिकादौ। २२ सर्वथासन्निति वक्तुं न शक्यते सदृशरूपस्यानुभूयमानत्वात्सर्वथाऽसन्निति वक्तुं न शक्यते अनुभूतरजतस्य पुरोदेशे असम्भवात् कथञ्चिदनुभव इति इति भावः। २३ भेदाऽग्रहणं। २४ इदं रजतमित्यत्र। २५ इदं प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्। २६ प्रमाणात्। २७ ज्ञानभेदसिद्ध्यभावश्च। २८ परः। २९ घटोयमित्यत्र। ३० इदं रजतमित्यत्र। ३१ नैर्मल्यादि।

---

1 तु०–"यतो न तैस्तस्याः प्रतिबन्धः प्रध्वंसो वा विधीयते, किन्तु स्वसन्निधाने रजतमिदमिति ज्ञानमेवोत्पाद्यते" न्यायकुमु० प्र० परि०।

गुणदोषाणां च सद्भावं ज्ञानजनकत्वं च स्वतःप्रामाण्यप्रतिषेधप्रस्तावे प्रतिपादयिष्यामः। न[1] च प्रभाकरमते विवेका[2]ख्याति[3]ः सम्भवति, तत्र हि 'इदम्' इति प्रत्यक्षं 'रजतम्' इति च स्मरणमिति संवित्ति[4]द्वयं प्रसिद्धम्, तच्चाऽऽत्म[5]प्राकट्ये[6]नैवोत्पद्यते। आत्मप्राकट्यं चान्योन्यभेदग्रहणेनैव संवेद्यते घटपटादिसंवित्तिवत्। किञ्च, विवेकख्यातेः प्रागभावो विवेका[7]ख्यातिः। न चाभावः प्रभाकरमतेऽस्ति।

कश्चायं[1] स्मृतेः प्रमोषः[8]-किं स्मृतेरभावः, अन्याव[9]भासो वा स्यात्, विपरीताकार[10]वेदित्वं वा, अतीतकाल[11]स्य वर्तमानतया ग्रहणं वा, अनु[12]भवेन सह क्षीरोदकवदविवेके[13]नोत्पादो वा प्रकारान्तरासम्भवात्? तत्र न तावदाद्यः पक्षः; स्मृतेरभावे हि कथं पूर्वदृष्टरजतप्रतीतिः स्यात्? मू[14]र्च्छाद्यवस्थायां च स्मृतिप्रमोषव्यपदेशः स्यात् तदभावाविशेषात्। अ[15]थात्र 'इदम्' इति भासाभावान्नासौ; न[16]नु 'इदम्' इत्यत्रापि किं प्रतिभातीति व[17]क्तव्यम्? पुरोव्यवस्थितं शुक्तिकाशकल[18]मिति चेत्; न[19]नु स्व[20]धर्मविशिष्टत्वेन तत्तत्र प्रतिभाति, रजतसन्निहितत्वेन[21] वा? प्रथमपक्षे-कु[22]तः स्मृतिप्रमोषः? शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्म[23]विशिष्टे प्रतिभासमाने कु[24]तो रजतस्मरणसम्भवो यतोऽस्य प्रमोषः स्यात्? न खलु

---

१ किं च। २ ता (षष्ठी)। ३ भेदाप्रतिभास इत्यर्थः। ४ ज्ञानद्वयं। ५ स्वरूप। ६ आविर्भाव। ७ भेदस्याप्रतिभासः। ८ अभावः। ९ स्मर्यमाणाद्रजतादन्यस्य शुक्तिकाशकलस्यावभासः। १० स्मर्यमाणाद्रजतादस्पष्टाकारात्स्पष्टाकारः। ११ अतीतः कालो यस्य रजतस्य तदिदमतीतकालं तस्यातीतकालस्य रजतस्य। १२ प्रत्यक्षेण सह स्मृतेः। १३ स्मृतेरभेदेन। १४ अन्यथा। १५ स्मृतेः? (मूर्च्छाद्यवस्थायाम्)। १६ जैनमाशङ्कते प्राभाकरः। १७ प्रष्टव्यम्। १८ प्राभाकराभिप्रायः। १९ भो प्राभाकर। २० त्र्यस्रचतुरस्रादि। २१ सम्बद्धत्वेन। २२ न कुतोपि स्मृतिप्रमोषो भवेत्। २३ त्र्यस्रादि। २४ न कुतोपि।

---

1 तु०-"कोऽयं विप्रमोषो नाम-किमनुभवाकारस्वीकरणम्, स्मरणाकारप्रध्वंसो वा, पूर्वार्थगृहीतित्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजत्वं वा?"
तत्त्वोपप्लव लि० पृ० २५।
"कोऽयं स्मृतेः, प्रमोषोनाम—विनाशः, प्रत्यक्षेण सहैकत्वाध्यवसायाः, प्रत्यक्षरूपतापत्तिः, तदित्यंशस्याऽननुभवः, तिरोभावमात्रं वा?" न्यायकुमु० प्र० परि०।
स्या० रत्ना० पृ० १२०।
"किं स्मृतेरभावः, उत अन्यावभासः, आहोस्विदन्याकारवेदित्वम् इति विकल्पाः"
सन्मति० टी० पृ० २८।

घटे गृहीते पटस्मरणसम्भवः। अथ शुक्तिकारजतयोः सादृश्याच्छुक्तिकाप्रतिभासे रजतस्मरणम्; न; अस्या[1]ऽकिञ्चित्करत्वात्। यदा[2] ह्यसाधारण[3]धर्माध्यासितं शुक्तिकास्वरूपं प्रतिभाति तदा कथं सदृश[4]वस्तुस्मरणम्[5]? अन्यथा सर्वत्र[6] स्यात्। सामान्यमात्रग्रहणे हि तत्[7] कदाचित्स्यादपि नाऽसाधारण[8]स्वरूपप्रतिभासे। द्वि[9]चन्द्रादिषु च जाति[10]तैमिरिकप्रतिभासविषये सदृशवस्तुप्रतिभासाभावात् कथं स्मृतेरुत्पत्तिर्यतः प्रमोषः स्यात्? नापि तत्स[11]न्निहितत्वेन प्रतिभासः; रजतस्य तत्र[12]ासत्त्वेन तत्सन्निधानायोगात्। इन्द्रियसम्बद्धानां च[13] तद्देश[14]वर्तिनां परमाण्वादीनामपि प्रतिभासः स्यात् तद्[15]विशेषात्। नाप्यन्यावभासो[16]ऽसौ[17]; स हि किं तत्काल[18]भावी, उत्तरकालभावी वा स्यात्? तत्काल[19]भावी चेत्; तर्हि घटादिज्ञानं तत्काल[20]भावि तस्याः[21] प्रमोषः स्यात्। नाप्युत्तरकालभाव्यन्यावभासोऽस्याः[22] प्रमोषः; अतिप्रसङ्गात्। यदि हि उत्तरकालभाव्यन्यावभासः समुत्पन्नस्तर्हि पूर्व[23]ज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनासौ नाभ्युपगमनीयः[24], अन्यथा सकलपूर्वज्ञानानां स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगमनीयः स्यात्। किञ्च, अन्यावभास[25]स्य सद्भावे परि[26]स्फुट[27]वपुः[28] स एव प्रतिभातीति कथं रजते स्मृतिप्रमोषः? निखिलान्यावभासानां[29] स्मृतिप्रमोषता[30]पत्तेः। अथ विपरीता[31]कारवेदित्वं[32] तस्याः[33] प्रमोषः; तर्हि विपरीतख्यातिरेव। कश्चासौ विपरीत आकारः? परिस्फुटार्थावभासित्वं चेत्; कथं तस्य[34] स्मृतिसम्बन्धित्वं प्रत्यक्षाकारत्वात्? तत्सम्बन्धित्वे वा प्रत्यक्षरूपतैवास्याः[35] स्यान्न स्मृतिरूपता। नाप्यतीतकालस्य[36] वर्तमानतया ग्रहणं[37] तस्याः[38] प्रमोषः; अन्य[39]स्मृतिवत्तस्याः[40] स्पष्टवेदनाभावानुषङ्गात्, न चैवम्।

---

१ सादृश्यस्य। २ अकिञ्चित्करत्वमेव भावयन्ति। ३ ह्यस्मादि। ४ शुक्तिकाशकलस्य। ५ रजतादिसदृशवस्तु। ६ सन्निहितशुक्तिकाशकलप्रतीतौ बाधकोत्तरकालं शुक्तिकाशकलप्रतीतौ च घटादौ वा। ७ सदृशवस्तुस्मरणम्। ८ विशेष। ९ स्मृतेः सादृश्यनिबन्धनत्वे इत्यत्र किं च। १० जन्मना। ११ रजत। १२ शुक्तिकायाम्। १३ किञ्च। १४ शुक्तिकादेशवर्तिनाम्। १५ रजतेन सन्निहितत्वस्य। १६ परमाणूनां। १७ स्मृतिप्रमोषः। १८ रजतस्मरण। १९ रजतस्मरण। २० रजतस्मरण। २१ स्मृतेरभावः। २२ स्मृतेः। २३ रजत। २४ परेण भवता। २५ शुक्तिकाशकल। २६ विशदस्वरूपः। २७ शुक्तिरूप। २८ स्वभाव। २९ अन्यथा। ३० अभावरूपतापत्तेः। ३१ स्मृतिविपरीत। ३२ पदार्थानां। ३३ स्मृतेः। ३४ परिस्फुटार्थावभासित्वाकारस्य। ३५ स्मृतेः। ३६ रजतस्य। ३७ स्मरणं। ३८ स्मृतेः। ३९ देवदत्तादिस्मृतिवद्। ४० शुक्तिकायां रजतस्मृतेः।

अतीतकालस्य स्पाष्ट्येनाधिकस्य संवेदनं स इति चेत्; न; तत्र[1] परमार्थतः स्पाष्ट्यसद्भावे अतीन्द्रियार्थवेदिनो[2] निषेधो न स्यात्, तत्[3]स्मृतिवत् अन्यस्या[4]पीन्द्रिय[5]मन्तरेण वैशद्यसम्भवात् । अथात्र[6] पारम्पर्येणेन्द्रियादेव वैशद्यम्; न; तदविशेषात्सर्वस्यास्तत्प्रसङ्गात् । अथानुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेनोत्पादोऽस्याः[7] प्रमोषः[8]; ननु कोयमविवेको नाम-भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणम्, संश्लेषो[9] वा, आनन्तर्येण उत्पादो वा? प्रथमपक्षे विपरीतख्यातिरेव। संश्लेषस्तु ज्ञानयोर्न सम्भवत्येव, अस्य मूर्त्तद्रव्येष्वेव प्रतीतेः। आनन्तर्येणोत्पादस्य स्मृतिप्रमोषरूपत्वे अनु[10]मेयशब्दार्थेषु देवदत्तादिज्ञानानां स्मरणानन्तरभाविनां स्मृतिप्रमोषताप्रसङ्गः स्यात्।

यदि[11] च[12] द्विचन्द्रादिवेदनं स्मरणम्, तर्हीन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि न स्यात्, अन्यत्र[13] स्मरणे तद[14]दृष्टेः। तदनुविधायि चेदम्, अन्यथा न किञ्चि[15]त्तदनुविधायि स्यात्। तद्[16][17]विकार[18][19]विकारि[20]त्वं[21] चातः[22] एव दुर्लभं स्यात्। किञ्च, स्मृतिप्रमोषपक्षे बाधकप्रत्ययो न स्यात्, स हि पुरोवर्त्तिन्यर्थे[23] तत्प्र[24]तिभासस्यासद्विषयतामादर्शयन् 'नेदं रजतम्' इत्युल्लेखेन प्रवर्त्तते[25], न तु 'रजतप्रतिभासः स्मृतिः' इत्युल्लेखेन। स्मृतिप्रमोषाभ्यु[26]पगमे च स्वतःप्रामाण्यव्याघा[27]तः, सत्यरजतप्रतिभासेऽपि ह्याशङ्कोत्पद्यते 'किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोषः, किं वा सत्यप्रतिभा[28]से' इति, बाधकाभावापेक्षणात्-यत्र[29] हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालमवश्यं बाधकप्रत्ययो यत्र[30] तु तदभावस्तत्र स्मृतेः प्रमोषासम्भवः। बाधकाभावापेक्षायां चान[31]वस्था। तस्मात् 'इदं रजतम्' इत्यत्र ज्ञानद्वयकल्पनाऽसम्भवा-

---

१ रजतस्मृतौ। २ सर्वज्ञस्य। ३ रजत। ४ संवेदनस्य। ५ स्मृतिविषयं रजतमतीन्द्रियम्। ६ रजतस्मरणे। ७ इति चेत्। ८ प्रत्यक्षस्मरणयोः। ९ सम्बन्धः। १० अनुमेयार्थोऽग्न्यादिः। ११ असन्निहितार्थग्राहकज्ञानस्य स्मृतित्वमितिस्थितौ दूषणम्। १२ किञ्च। १३ घटादौ। १४ तदप्रतीतेः। १५ घटादिज्ञानं प्रत्यक्षं। १६ इन्द्रिय। १७ काचादि। १८ ता (षष्ठी)। १९ द्विचन्द्रादि। २० ज्ञानस्य। २१ तस्य काचकामलादिना द्विचन्द्रादिग्राहित्वेन परिणामित्वम्। २२ इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावादेव द्विचन्द्रज्ञानस्य स्मरणत्वादेव वा। २३ शुक्तिकाशकले। २४ रजत। २५ उत्तरकाले। २६ परेण। २७ ज्ञाने। २८ रजतस्य। २९ एतदेव भावयति। ३० ज्ञाने। ३१ किञ्च। ग्रन्थानवस्था।

त्स्मृतिप्रमोषाभावः[1]। ततः[१] सूक्तम्–विपर्ययज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वविशेषणेनैव निरास इति।

तेना[२]पूर्वार्थविशेषणेन धारावाहिविज्ञानं निरस्यते । नन्वेवमपि[३] प्रमाण[2]सम्प्लव[४]वादिताव्याघातः[५] प्रमाण[६]प्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तराप्रतिपत्तिः; इत्यचोद्यम्; अर्थपरि[3]च्छित्तिविशेष[७]सद्भावे तत्प्रवृत्तेरप्यभ्युपगमात् । प्रथमप्रमाणप्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकारविशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरम् अपूर्वार्थ[८]मेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत्। एतदेवाह–

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥ ४ ॥

स्वरूपेणा[९]कारविशेषरूपतया वानवगतो[१०]ऽखिलोप्यपूर्वार्थः ।

दृष्टोपि समारोपात्तादृक् ॥ ५ ॥

न केवलमप्रतिपन्न एवापूर्वार्थः, अपि तु दृष्टो[११]ऽपि प्रतिपन्नोपि समारोपात् संशयादिसद्भावात् तादृगपूर्वार्थोऽधीतानभ्यस्तशास्त्रवत्। एवंविधा[१२]र्थस्य यन्निश्चयात्मकं विज्ञानं तत्सकलं प्रमाणम्।

तन्न अन[१३]धि[4]गतार्थाधिगन्तृत्वमेव[१४] प्रमाणस्य लक्षणम् । तद्धि[5]

---

१ यतो विपर्ययज्ञानादिकं समर्थितम् । २ कारणेन । ३ भाट्टः शङ्कते । ४ बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः । ५ जैनानां विरोधः । ६ प्रत्यक्षादि । ७ स्वच्छादिलक्षण । ८ अपूर्वः अर्थो यस्य । ९ स्वच्छादिमत्त्वेन । १० अज्ञातः । ११ दृष्टोपि समारोपात्तादृगिति सूत्रम् । १२ अपूर्वस्य । १३ पूर्वाग्रहीतार्थग्राहि । १४ सर्वथा ।

---

1 विवेकाख्याति-अख्यात्यपरपर्यायस्यास्य स्मृतिप्रमोषस्य विविधरीत्या मीमांसान्यायवा० ता० टी० पृ० ८८, भामती पृ० १४, प्रश० कन्दली पृ० १८०, न्यायमं० पृ० १७६, विवरणप्रमेय सं० पृ० २८, न्यायलीलाव० पृ० ४१, तत्त्वोपप्लव लि० पृ० २५, न्यायकुमु० प्र० परि०, सन्मति० टी० पृ० २८,३७२। स्या० रत्ना० पृ० १०४ इत्यादिषु समवलोकनीया ।

2 "प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सङ्करोऽभिसम्प्लवः । "

न्यायभा० १।१।३ पृ० १९।

3 "उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवस्याऽनभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानाद् आगमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते तत्प्रतिबद्धधूमादिविशेषसाक्षात्करणात्तत्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् । पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेषप्रतिभाससिद्धेः" । अष्टसह० पृ० ४ ।

4 "औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते ।
अबाधोऽव्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता ॥ १० ॥
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ।" मीमांसाश्लो० पृ० २१०।

वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां[१] जनयन्नोपालम्भ[२]विषयः। न चाधिगते[३]ऽर्थे किं[४] कुर्वंस्तत्प्रमाणतां प्राप्नोतीति वक्तव्यम्[५]? विशिष्टप्रमां जनयतस्तस्य[६] प्रमाणताप्रतिपादनात्। यत्र[७] तु सा[८] नास्ति तत्र[९] प्रमाणम्। न च विशिष्टप्रमोत्पादकत्वेप्यधिगतविषयेऽस्याऽकिञ्चित्करत्वम्; अतिप्रसङ्गात्[१०]। न[११] चैकान्ततो[१२]ऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं प्रमाणस्यावसातुं[१३] शक्यम्; तद्ध्यर्थतथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते, स[१४] च तदर्थो[१५]त्तरज्ञा[१६]नवृत्तिः[१७]। न चानधिगतार्थाधिगन्तु[१८]रेव प्रामाण्ये[१९] संवादप्रत्ययस्य तद् घटते। न च तेना[२०]प्रमाणभूतेन[२१] प्रथम[२२]स्य[२३] प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम्; अतिप्रसङ्गात्[२४]। न[२५] च सामान्यविशेषयो[२६]स्तादात्म्याभ्युपगमे तस्यै[२७]कान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं सम्भवति। इदानींतनास्तित्व(इदानीन्तन[२८]नास्तित्व[२९])स्य पूर्वास्तित्वा[३०]दभेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वात्। कथञ्चि[३१]दनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे त्वस्मन्मत[३२]प्रवेशः। निश्चिते विषये किं[३३] निश्चयान्तरेण[३४] अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्; इत्यप्यवा-

---

१ अर्थपरिच्छित्तिं। २ दोष। ३ निश्चिते। ४ कार्यं। ५ परेण। ६ प्रमाणान्तरस्य। ७ ज्ञाने। ८ विशिष्टप्रमाजनकता। ९ ज्ञानं। १० विशिष्टप्रमोत्पादकत्वे यद्यकिञ्चित्करत्वं तदा सर्वथाऽदृष्टेऽर्थे प्रमाजनकस्य ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वं स्याद्विशिष्टप्रमोत्पादकत्वस्याविशेषात्। ११ किञ्च। १२ सर्वथा। १३ निश्चेतुं। १४ संवादः। १५ पूर्वज्ञानार्थं। १६ ईप् (सप्तमी)। १७ तदर्थश्चासौ उत्तरज्ञानवृत्तिश्च। १८ ज्ञानस्य। १९ संवादात्। २० द्वितीयज्ञानेन। २१ गृहीतार्थग्राहित्वात्। २२ ज्ञानस्य। २३ न ह्यज्ञातमस्तीति वक्तुं शक्यं तस्याज्ञातत्वविरोधान्नैयायिकः। २४ संशयादिना प्रथमज्ञानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। २५ किञ्च। २६ वृक्षवटादि। २७ प्रमाणस्य। २८ वट। २९ अधिगतार्थाधिगन्तृत्वात्। ३० वृक्ष। ३१ विशेषापेक्षया। ३२ जैन। ३३ प्रयोजनं। ३४ अन्यथा।

"एतच्च विशेषणत्रयमुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।" शास्त्रदीपिका पृ० १५२।

5 तु०—"यतः प्रमाणं वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः। नचाधिगते वस्तुनि......" सन्मति० टी० पृ० ४६६।

1 "नचैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं तस्यावसातुं शक्यम्..." सन्मति० टी० पृ० ४६६।

2 "इदानीन्तनास्तित्वस्य पूर्वास्तित्वाभेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसंभवात्" सन्मति० टी० पृ० ४६६।

च्येयम्[1]; भूयो[१] निश्चये सुखादिसाधकत्वविशेषप्रतीतेः। प्रथम[२]मतो हि वस्तुमात्रं निश्चीयते, पुनः 'सुखसाधनं दुःखसाधनं वा' इति निश्चित्योपादीयते त्यज्यते वा, अन्यथा[३][४] विपर्ययेणा[५]प्युपादानत्यागप्रसङ्गः स्यात्। केषाञ्चि[६]त्सकृ[७]द्दर्शनेपि तन्निश्चयो भवति अभ्यासादिति एकविषयाणामप्यागमानुमानाध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम् प्रतिपत्तिविशेषसद्भावात्; सामान्याकारेण हि वचनात्प्रतीयते वह्निः, अनुमानाद्[८]देशादिविशेषविशिष्टः, अध्यक्षात्त्वाकारनियत इति। ततोऽयुक्तमुक्त[९]म्–

"तत्रा[१०]पूर्वा[११]र्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥" [ ] इति। प्रत्यभिज्ञानस्यानुभूतार्थग्राहिणोऽप्रामाण्यप्रसङ्गात्, तथा[१२] च कथमतः[१३] शब्दात्मादे[१४]र्नित्यत्वसिद्धिः? न चानुभूतार्थग्राहित्वमस्या[१५]सिद्धम्; स्मृतिप्रत्यक्ष[१६]प्रतिपन्नेऽर्थे तत्[१७]प्रवृत्तेः। न ह्यप्रत्यक्षेऽस्मर्यमाणे चार्थे प्रत्यभिज्ञानं नाम; अतिप्रसङ्गात्[१८]। पूर्वोत्तरावस्थाव्याप्येकत्वे तस्य प्रवृत्तेरयमदोषः; इति चेत्; किं ताभ्यामेकत्वस्य भेदः, अभेदो वा? भेदे तत्र तस्याप्रवृत्तिः। न[3] हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदि[१९]ज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्त्तते अर्थान्तरैकत्वे[२०]वत्, मता[२१]न्तर[२२]प्रवेशश्च। ताभ्या[4]मेकत्वस्य सर्वथाऽ-

१ परेण। २ ज्ञानात्। ३ निश्चयान्तरानङ्गीकारे। ४ सुखसाधनत्वदुःखसाधनत्वनिश्चय उत्तरज्ञानान्न भवति चेत्। ५ व्यत्यासेन। ६ पुरुषाणां। ७ एकदा। ८ धूमादेः। ९ भाट्टेन। १० परप्रमाणलक्षणनिराकरणे च सति। ११ सर्वथा। १२ गृहीतग्राहित्वेन प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्ये च। १३ प्रत्यभिज्ञानात्। १४ वसः। १५ प्रत्यभिज्ञानस्य। १६ उत्तरप्रत्यक्ष। १७ तस्य। १८ मेर्वादौ प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसङ्गः। १९ पूर्वोत्तराकारग्राहिस्मरणप्रत्यक्षाभ्यां। २० ईप्। २१ सर्वथाभेदे। २२ नैयायिक।

1 "यतो भूयो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते···" सन्मति० टी० पृ० ४६७।

2 "यदि चानुपलब्धार्थग्राहि मानमुपेयते।
तदयं प्रत्यभिज्ञायाः स्पष्ट एव जलाञ्जलिः ॥" न्यायमं० पृ० २२।

3 "नहि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने च सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदिज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्त्तते स्मरणवत् सन्तानान्तरैकत्ववद्वा"। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४।

4 "विवर्त्ताभ्यामभेदश्चेदेकत्वस्य कथञ्चन।
तद्ग्राहिण्याः कथन्न स्यात्पूर्वार्थत्वं स्मृतेरिव ॥ ७६ ॥"
तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४।

भेदे अनुभूतग्राहित्वं प्रत्यभिज्ञानस्य स्यात्। ताभ्यां तस्य[1] कथञ्चिद्भेदे सिद्धं तस्य[2] (कथञ्चिद्) अनुभूतार्थग्राहित्वम्। न चैवंवादिनः[3] प्रत्यभिज्ञानप्रतिपन्ने शब्दादिनित्यत्वे प्रवर्त्तमानस्य "दर्शनस्य[4] परार्थत्वात्[5]" [जैमिनिसू० १।१८] इत्यादेः[6] प्रमाणता घटते। सर्वेषां चानुमानानां[7] व्याप्तिज्ञानप्रतिपन्ने विषये प्रवृत्तेरप्रमाणता स्यात्। प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि[8][9] कुतश्चित्[10] समारोपस्य प्रसूतेस्त[11]द्व्यवच्छेदार्थत्वादस्य प्रामाण्ये च[12] एकान्तत्यागः[13]। स्मृत्यूहादेश्चा[14]भिमतप्रमाणसंख्याव्याघातकृत्प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः स्यात्; प्रत्यभिज्ञानवत्कथंचिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः। किञ्च, अपूर्वार्थप्रत्ययस्य प्रामाण्ये द्विचन्द्रादिप्रत्ययोऽपि[15] प्रमाणं स्यात्[2]। निश्चितत्वं[16] तु परोक्षज्ञानवादिनो[17] न सम्भवतीत्यग्रे वक्ष्यामः।

ननु द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य सबाधकत्वान्न[18] प्रमाणता, यत्र[19] हि बाधाविरहस्तत्प्रमाणम्; इत्यप्यसङ्गतम्; बाधाविरहो[3] हि तत्काल[20]भावी, उत्तरकालभावी वा विज्ञानप्रमाणताहेतुः? न तावत्तत्का[21]लभावी; क्वचिन्मिथ्याज्ञाने[22][23]ऽपि तस्य भावात्। अथोत्तरकालभावी; स किं ज्ञातः, अज्ञातो वा? न तावदज्ञातः; अस्य सत्त्वेनाप्य-

१ एकत्वस्य। २ प्रत्यभिज्ञानस्य। ३ सर्वथाऽपूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणमित्येवंवादिनः। ४ उच्चारणस्य। ५ शिष्य। ६ अर्थापत्त्यादेः। शब्दो नित्य उच्चारणान्यथाऽनुपपत्तेरिति। ७ किञ्च। ८ स एवायं। ९ आत्मा। १० सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति क्षणिकत्वप्रतिपादकानुमानात्। ११ उत्पत्तेः। १२ व्याप्तिज्ञानेन निखिलसाध्यसाधनानां सामान्येन ग्रहणेप्यनुमानेन नियतदेशकालाकारतया साध्यप्रतिपत्तेरनुमानप्रामाण्ये च। १३ सर्वथाऽपूर्वार्थविज्ञानमेव प्रमाणमित्येकान्तत्यागः। १४ इदमल्पमित्यादेः। १५ षडिति विज्ञाने। १६ स्मृत्यादीनाम्। १७ भाट्टस्य। १८ उत्तरकाले। १९ ज्ञाने। २० तज्ज्ञानकाल। २१ विचार्यमाणप्रामाण्यविज्ञानकाल। २२ रजतादिज्ञाने। २३ न हि शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानं यदा जायते तदैव बाध्यते प्रवृत्त्यादेरभावप्रसङ्गात्।

1 "यदि पुनः प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि कुतश्चित्समारोपस्य......" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७४।

2 प्रमाणलक्षणस्य अनधिगतार्थत्वविशेषणस्य पर्यालोचनम् अक्षरशः तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७३, सन्मति० टी० पृ० ४६६, भङ्ग्यन्तरेण च तत्त्वोप० लि० पृ० ३०, न्यायमं० पृ० २१, स्या० रत्ना० पृ० ३८ इत्यादिषु द्रष्टव्यम्।

3 "किञ्च, अर्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिः तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत्, सर्वदा वा?" अष्टसह० पृ० ३९।

"यतो बाधाविरहः तत्कालभावी, उत्तरकालभावी वा" सन्मति० टी० पृ० १२।

सिद्धेः[1]। ज्ञातश्चेत्-किं पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा? न तावत्पूर्वज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः; तद्धि स्वसमानकालं नीलादिकं प्रतिपद्यमानं कथम् 'उत्तरकालमप्यत्र[2] बाधकं[3] नोदेष्यति' इति प्रतीयात्? पूर्वम्[4]नुत्पन्नबाधकानाम्[5]प्युत्तरकालं बाध्यमानत्वदर्शनात्। नाप्युत्तरज्ञानेनासौ ज्ञायते; तदा प्रमाणत्वाभिमतज्ज्ञानस्य[6] नाशात्। नष्टस्य च बाधाविरहचिन्ता गतसर्पस्य घृष्टिकुट्टनन्यायमनुकरोति। कथं[7] च बाधाविरहस्य ज्ञायमानत्वेपि सत्यत्वम्; ज्ञायमानस्यापि[8] केशोण्डुकादेरसत्यत्व[9]दर्शनात्? तज्ज्ञानस्य सत्यत्वाच्चेत्; तस्यापि कुतः सत्यता? प्रमेयसत्यत्वाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः। अपरबाधाभावज्ञानाच्चेत्; अनवस्था। अथ संवादादुत्तर[10]कालभावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते; तर्हि संवादस्याप्यपरसंवादात्सत्यत्वसिद्धिस्तस्याप्यपरसंवादादित्यनवस्था। किञ्च[1], क्वचित्[11]कदाचित्कस्यचिद् बाधाविरहो विज्ञान[12]प्रमाणता हेतुः, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा? प्रथमपक्षे कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्यापि प्रमाणताप्रसङ्गः, क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधाविरहसद्भावात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य बाधाविरहस्तु नासर्वविदां विषयः।

अदुष्ट[2]कारणारब्धत्वमप्यज्ञातम्, ज्ञातं वा तद्[13]हेतुः? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; अज्ञातस्य सत्त्वसन्देहात्। नापि ज्ञातम्; करण[14]कुशलादेरतीन्द्रियस्य ज्ञप्ते[15]रसम्भवात्। अस्तु वा तज्ज्ञप्तिः[16]; तथाप्यसौ अदुष्टकारणारब्धः ज्ञानान्तरात्, संवादप्रत्ययाद्वा? आद्यविकल्पे अनवस्था। द्वितीयविकल्पेपि[17] संवादप्रत्ययस्यापि ह्यदुष्टकारणारब्धत्वं तथाविधादन्यतो[18] ज्ञातव्यं तस्याप्यन्यत इति। न चानेकान्त-

---

१ न ह्यज्ञातमस्तीतिवक्तुं शक्यं तस्याऽज्ञातत्वविरोधात्। २ शुक्तिकादौ। ३ प्रमाणं। ४ काल। ५ ज्ञानानां। ६ पूर्वस्येदं जलमिति ज्ञानस्य। ७ किञ्च। ८ पूर्वकाले। ९ उत्तरकाले। १० पूर्वज्ञानापेक्षया। ११ विषये। १२ पूर्वं। १३ पूर्वविज्ञानप्रमाणताहेतुः। १४ इन्द्रियदृष्टादि। १५ परिज्ञानस्य। १६ अदुष्टकारणारब्धत्व। १७ अनवस्था। १८ ज्ञानात्।

---

1 "बाधाविरहः किं सर्वपुरुषापेक्षया, आहोस्वित्प्रतिपन्नपेक्षया?" तत्त्वोपप्लवसिंह लि० पृ० ३। अष्टसह० पृ० ३९। प्रमाणप० पृ० ६२। सन्मति० टी० पृ० १८।

2 "यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन; तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोऽवसीयते? न तावत्प्रत्यक्षात्; नयनकुशलादेः संवेदनकारणस्य अतीन्द्रियस्याऽदुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्त्तुमशक्तेः। नानुमानात्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात्..." अष्टसह० पृ० ३८। (तत्त्वोपप्लव०-) सन्मति० टी० पृ० १३।

वादिनामप्युपालम्भः समानोऽयम्; यथावदर्थनिश्चायकप्रत्यय[2]स्याऽभ्यासदशायां बाधवैधुर्य[3]स्यादुष्टकारणारब्धत्वस्य च स्वयं[4] संवेदनात्; अनभ्यासदशायां तु परतोऽभ्यस्तविषयात्[5]। न चैवमनवस्था; क्वचित्[6] कस्यचित्[7] अभ्यासोपपत्तेरित्यलं विस्तरेण[8] परतः प्रामाण्यविचारे विचारणात्। लोक[9]सम्मतत्वं च यथावद्वस्तुस्वरूपनिश्चयान्नापरम्।

ननु[10] चोक्तलक्षणाऽपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणमित्ययुक्तमुक्तम्; अर्थव्यवसायात्मकज्ञानस्य मिथ्यारूपतया प्रमाणत्वायोगात्, परमात्मस्वरूपग्राहकस्यैव ज्ञानस्य सत्यत्वप्रसिद्धेः। अक्षसन्निपातानन्तरोत्थाऽविकल्पकप्रत्यक्षेण हि सर्वत्रै[11]कत्वमेवाऽन्या[12]नपेक्षतया झगिति[13] प्रतीयते इति तदेव वस्तुत्वस्वरूपम्। भेदः पुनरविद्या[14]संकेतस्मरणजनितविकल्प[15]प्रतीत्याऽन्या[16]ऽपेक्षतया प्रतीयते इत्यसौ नार्थस्वरूपम्[17]। तथा[18], 'यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभासते चाशेषं चेतनाचेतनरूपं वस्तु' इत्यनुमानादप्यात्माऽद्वैतप्रसिद्धिः। न चात्राऽसिद्धो हेतुः[19]; साक्षादसा[20]क्षाच्चाशेषवस्तुनोऽप्रतिभासमानत्वे सकलशब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तया वक्तुमशक्तेः। तथा[21]गमोऽप्यस्य[22] प्रतिपादकोऽस्ति।

"सर्वं वै[1] खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं[23] तस्य[24] पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥" [ ] इति।

तथा[25] "पुरुष एवैतत्सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकसर्ग[26]स्थितिप्रलयहेतुः।" [ऋक्सं० मण्ड० १० सू० ९० ऋ० २] उक्तञ्च—

---

१ दोषः। २ ज्ञानस्य। ३ राहित्यस्य। ४ स्वरूपेण। ५ स्वयं संवेदनाच्चायमुपालम्भः। ६ अर्थे। ७ ज्ञानस्य। ८ अनवस्थापरिहारस्य विस्तरेण। ९ ज्ञानस्य। १० भास्करीयः प्राह। ११ अर्थे। १२ भेद। १३ झटिति। १४ अभेदे भेदप्रतिभासो ह्यविद्या। १५ घटः पटाद्भिन्न इति। १६ पटस्य। १७ ब्रह्म। १८ ब्रह्मग्राहकप्रत्यक्षप्रकारेणानुमानमपि दर्शयति। १९ प्रतिभासमानत्वादिति। २० अस्पष्टतया। २१ प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण। २२ परमात्मनः। २३ विवर्तं विकारं। २४ ब्रह्मणः। २५ प्रत्यक्षानुमानागमप्रकारेण। २६ उत्पत्तिः।

---

1 "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ..." छान्दोग्योप० ३।१४।१। "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्" मैत्र्युप० ४।६ "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।" बृहदा० ४।४।१९ "मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।" कठोप० ४।११ "आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।" बृहदा० ४।३।१४।

"ऊर्णनाभ[1][1] इवांशूनां[2] चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः[3] स[4] हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥" [ ] भेददर्शिनो निन्दा च श्रूयते—"मृत्योः[5] स[6] मृत्युमाप्नोति य इह[7] नानेव[8] पश्यति[9] ।" [बृहदा० उ० ४।४।१९] इति । न[10] चाभेदप्रतिपादकाम्नायस्या[11]ऽध्यक्षबाधा; तस्याप्यभेदग्राहकत्वेनैव प्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

"आहुर्विधातृ[12] प्रत्यक्षं न निषेद्धृ[13] विपश्चितः ।
नैकत्वे आगमस्तेन[14] प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥" [ ]

किञ्च[2], अर्थानां भेदो देशभेदात्, कालभेदात्, आकारभेदाद्वा स्यात्? न तावद्देशभेदात्; स्वतो[15]ऽभिन्नस्याऽन्यभेदेऽपि भेदानुपपत्तेः[16] । नह्यन्यभेदो[17]ऽन्यत्र संक्रामति । कथं च देशस्य भेदः? अन्यदेशभेदाच्चेदनवस्था । स्वतश्चेत्[18]; तर्हि भाव[19]भेदोऽपि स्वत एवास्तु किं देशभेदाद्भेद[20]कल्पनया? तन्न देशभेदाद्वस्तुभेदः । नापि कालभेदात्; तद्भेदस्यैवाध्यक्षतोऽप्रसिद्धेः । तद्धि सन्निहितं वस्तुमात्रमेवाधिगच्छति नातीतादिकालभेदं तद्गतार्थभेदं वा आकारभेदोऽप्यर्थानां भेदको व्यतिरिक्तप्रमाणात्प्रतिभाति, स्वतो वा? न तावद् व्यतिरिक्तप्रमाणात्; तस्य नील[21]सुखा[22]दिव्यतिरिक्त[23]स्वरूपस्याप्रतिभासमानत्वाद् । अथाहंप्रत्यये बोधात्मा तद्[24]ग्राहको-

---

१ कोलिकः (कीटविशेषः) । २ लालारूपतन्तूनाम् । ३ वटः । ४ तथा । ५ यमात् । ६ पुरुषः । ७ ब्रह्मणि । ८ भेदमिव । ९ ब्रह्माणं । १० किञ्च । ११ आगमस्य । १२ विधायकं सन्मात्रग्राहकमित्यर्थः । १३ निषेधकं भेदग्राहकमित्यर्थः । १४ कारणेन । १५ स्वरूपेण । १६ स्वतोऽभिन्नस्य भास्करस्य यथा देशभेदाद्भेदो न घटते तथा पदार्थानामिति भावः । १७ अन्यस्य देशस्य भेदोऽभिन्ने सूर्ये न संक्रामति । १८ अनवस्थापरिहारार्थं । १९ अर्थे । २० देशभेदादिति पदं नास्ति च कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे । २१ बहिर्वस्तु । २२ अन्तर्वस्तु । २३ भिन्न । २४ आकारलक्षणभेद ।

---

1 "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥" मुण्डकोप० १।१।७ "स यथोर्णनाभिः तन्तूनुच्चरेत्, यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति···" बृहदा० २।१।२० "यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः । देव एकः स्वयमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माऽव्ययम् ॥" श्वेताश्व० ६।१० "ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्···" ब्राह्म० ३ । "ऊर्णनाभीव तन्तुना···" क्षुर० ९ । "ऊर्णनाभो मर्कटकः" तत्त्वसं० पं० ।

2 "यतो भेदः प्रत्यक्षप्रतीतिविषयत्वेनाभ्युपगम्यमानः किं देशभेदादभ्युपगम्यते, आहोस्वित् कालभेदात्, उत आकारभेदात्?" सन्मति० टी० पृ० २७३ । स्या० रत्ना० पृ० १९२ ।

ऽवसीयते; न; तत्रापि शुद्धबोधस्याप्रतिभासनात्। स खलु 'अहं सुखी दुःखी स्थूलः कृशो वा' इत्यादिरूपतया सुखादि शरीरं चावलम्बमानोऽनुभूयते न पुनस्तद्व्यतिरिक्तं बोध[१]स्वरूपम्। स्वतश्चाकाराणां भेदसंवेदने स्वप्रकाशनियत[२]त्वप्रसङ्गः, तथा चान्योऽन्या[३]संवेदनात्कुतः स्वतोऽप्याकारभेदसंवित्तिः।

अथैकरूपब्रह्मणो विद्यास्वभावत्वे तदर्थानां शास्त्राणां प्रवृत्तीनां[४] च वैयर्थ्यं निवर्त्य[५]प्राप्तव्य[६]स्वभावाभावात्। विद्यास्वभावत्वे चास-त्यत्वप्रसङ्गः; तथाच "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्त० २।१] इत्य[७]स्य विरोधः; तदप्यसङ्गतम्; विद्यास्वभावत्वेऽप्यस्य शास्त्रादीनां वैयर्थ्यासंभवात् अविद्याव्यापारनिवर्त्तनफलत्वात्तेषाम्। यत एव चाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तर[८]भूता तत्त्वतो[९] नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते, तत्त्वतस्तस्याः सद्भावे हि न कश्चिन्निवर्त्तयितुं शक्नुयाद् ब्रह्मवत्। सर्वै[१०]रेव चातात्त्विकानाद्यविद्योच्छेदार्थो मुमुक्षूणां[११] प्रयत्नोऽभ्युपगतः। न चाना[१२]दित्वेनाविद्योच्छेदासम्भवः; प्रागभावे[१३]नाऽनेकान्तात्। तत्त्वज्ञानप्रागभावरूपैव चाविद्या तत्त्वज्ञानलक्षणविद्योत्पत्तौ व्यावर्तत एव घटोत्पत्तौ तत्प्रागभाववत्। भिन्नाऽभिन्ना[१४]दिविकल्पस्य च[१५] वस्तुविषयत्वात् अवस्तुभूताऽविद्यायामप्रवृत्तिरेव सैवेयमविद्या माया मिथ्याप्रतिभास इति।

न चा[१६]त्म[1]श्रवणमनन[१७]ध्यानादीनां भेदरूपतयाऽविद्यास्वभावत्वात्कथं विद्याप्राप्तिहेतुत्वमित्यभिधातव्यम्? यथैव हि रजःसंपर्ककलुषोदके द्रव्यविशेषचूर्णं रजःप्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि प्रशमयत्स्वयमपि प्रशम्यमानं स्वच्छां स्वरूपावस्थामुपनयति, यथा वा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, एवमात्मश्रवणादिभिर्भेदाभि[१८]निवेशोच्छेदात्, स्वगतेऽपि भेदे समुच्छिन्ने[१९] स्वरूपे[२०] संसारी समव-

---

१ प्रमाणं। २ पदार्थाः स्वप्रकाशनियताः। ३ भा (तृतीया)। ४ अनुष्ठानानां। ५ अविद्या। ६ विद्या। ७ ग्रन्थस्य। ८ भिन्ना। ९ परमार्थतः। १० वादिभिः। ११ मोक्षार्थिनां। १२ यथा गगनस्य। १३ अनादिना। १४ उभय। १५ किञ्च। १६ स्वरूप। १७ श्रद्धान। १८ दुराग्रह। १९ सति। २० एकत्वे।

---

1 "न च कर्माऽविद्यात्मकं कथमविद्यामुच्छिनत्ति, कर्मणो वा तदुच्छेदकस्य कुत उच्छेद इति वाच्यम्; सजातीयस्वपरविरोधिनां भावानां बहुलमुपलब्धेः। यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराण्यपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति।" ब्रह्मसू० शां० भा० भामती पृ० ३२।

तिष्ठते । अव[1]च्छेदकयविद्याव्यावृत्तौ हि परमात्मैकस्वरूपतावस्थितेः घ[2]टाद्यवच्छेदकभेदव्यावृत्तौ व्योम्नः शुद्धाकाशतावत् ।

न [1]चाद्वैते सुखदुःखबन्धमोक्षादिभेदव्यवस्थानुपपन्ना; स[3]मारोपितादपि भेदात्तद्भेदव्यवस्थोपपत्तेः, यथा द्वैति[4]नां 'शिरसि मे वेदना पादे मे वेदना' इत्यात्मनः समारोपितभेदनिमित्ता दुःखादिभेदव्यवस्था । पादादीनामेव तद्वेदनाधिकरणत्वात्तेषां च भेदात्तद् व्यवस्था युक्तेत्यप्ययुक्तम्; यतस्तेषामज्ञत्वेन भोक्तृत्वायो[5]गात् । भोक्तृत्वे वा चार्वाकमतानुषङ्गः । तदेवमेकत्वस्य प्रत्यक्षानुमानागमप्रसितरूपत्वात्सिद्धं ब्रह्माऽद्वैतं तत्त्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । किं[2] भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादभेदः सा[6]ध्यते, अभेदे साधकप्रमाणसद्भावाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; प्रत्यक्षा[7]दे[8]र्भेदानु[9]कूलतया तद्बाधकत्वायोगात् । न खलु भेदमन्तरेण प्रमाणे[10]तरव्यवस्थापि सम्भाव्यते । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; भेदमन्तरेण साध्यसाधकभावस्यैवासम्भवात् । न चाभेदसाधकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ।

यच्चोक्तम्–"[3]अविकल्पकाध्यक्षेणैकत्वमेवावसीयते" तत्र किमेकव्यक्तिगतम्, अनेकव्यक्तिगतम्, व्यक्तिमात्रगतं वा तत्त्वेन प्रतीयते? एकव्यक्तिगतं चेत्; तत्किं सा[11]धारणम्, असाधारणं वा? न तावत्साधारणम्; 'एकव्यक्तिगतं साधारणं च' इति विप्रतिषे[12]धात् । असाधारणं चेत्; कथं नातो भेदसिद्धिः असा-[13]धारणस्वरूपलक्षणत्वाद्भेदस्य । अथानेकव्यक्तिगतं सत्ता[14]सामान्य-

---

१ घटे पटस्य निषेधकः भेदोत्पादक इत्यर्थः । २ घटाकाशपटाकाश । ३ देवदत्तादेर्भावात् । कल्पितात् । ४ नैयायिकादीनां । ५ अन्यथा । ६ परेण भट्टेन । ७ अनुमानागमौ । ८ ग्राहक । ९ प्रवर्तमानत्वात् इति शेषः । १० तदाभास । ११ सामान्य । १२ विरोधात् । १३ विशेष । १४ इदं सदिदं सत् ।

---

1 "–एकस्यापि जीवात्मन उपाधिभेदात् सुखदुःखानुभवो दृश्यते पादे मे वेदना, शिरसि मे सुखं वेदनेति–" न्यायमं० पृ० ५२८ । स्या० रत्ना० पृ० १९३ ।

2 "तथाहि भेदस्य प्रमाणबाधितत्वात् किमयमभेदाभ्युपगमो भवतामुतस्विदभेदस्यैव प्रमाणसिद्धत्वादिति" न्यायमं० पृ० ५२८ ।

"किं भेदस्य प्रमाणबाधितत्वादेकत्वमुच्यते, आहोस्विद् भेदे प्रमाणसद्भावात्?" सन्मति० टी० पृ० २८५ ।

3 "एकव्यक्तिगतं किं वाऽनेकव्यक्तिसमाश्रितम् ।
व्यक्तिमात्रगतं यद्वा तदेकत्वं प्रतीयते ॥" स्या० रत्ना० पृ० १९१ ।

रूपमेकत्वं प्रत्यक्षग्राह्यमित्युच्यते[1]; तत्किं व्यक्त्यधिकरणतया[2] प्रतिभाति, अनधिकरणतया[3] वा? प्रथमपक्षे भेदप्रसङ्गः 'व्यक्तिरधिकरणं तदाधेयं[4] च सत्तासामान्यम्' इति, अयमेव हि भेदः। द्वितीयपक्षे-व्यक्तिग्रहणमन्तरेणाप्यन्तराले[5] तत्प्रतिभासप्रसङ्गः। तथा[6] किमेकव्यक्तिग्रहणद्वारेण तत्प्रतीयते, सकलव्यक्तिग्रहणद्वारेण वा? प्रथमपक्षे विरोधः, एकाकारता ह्यनेकव्यक्तिगतमेकं रूपम्, तच्चैकस्मिन् व्यक्तिस्वरूपे प्रतिभातेऽप्यनेकव्यक्त्यनुयायितया कथं प्रतिभासेत? अथ सकलव्यक्तिप्रतिपत्तिद्वारेण तत्प्रतीयते; तदा तस्याऽप्रतिपत्तिरेवाखिलव्यक्तीनां ग्रहणासम्भवात्। भेदसिद्धिप्रसङ्गश्च-अखिलव्यक्तीनां विशेषणतया एकत्वस्य च विशेष्यत्वेन, एकत्वस्य वा विशेषणतया तासां च विशेष्यत्वेन प्रतिभासनात्। तथा[7] तद्व्यक्तिभ्यस्तद्भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; तर्हि व्यक्तिरूपतानुषङ्गोऽस्य[8]। न च व्यक्तिर्व्यक्त्यन्तरमन्वेतीति[9] कथं सकलव्यक्त्यनुयायित्वमेकत्वस्य। अथार्थान्तरम्; कथं नानात्वाऽप्रसिद्धिः? यथा चानुगतप्रत्ययजनकत्वेनैकत्वं[10] व्यक्तिषु कल्प्यते[11] तथा व्यावृत्तप्रत्ययजनकत्वेनानेकत्वमप्यविशेषात्[12][13]। तन्नैकत्वं नानात्वमन्तरेणावकाशं लभते। प्रयोगः विवादाध्यासितमेकत्वं परमार्थसन्नानात्वाविनाभावि एकान्तैकत्वरूपतयाऽनुपलभ्यमानत्वात्[14], घटादिभेदाविनाभूतमृद्द्रव्यैकत्ववत्। एतेन[15] व्यक्तिमात्रगतमप्येकत्वं प्रत्युक्तम्[16], एकानेकव्यक्तिव्यतिरेकेण व्यक्तिमात्रस्यानुपपत्तेः।

यच्चोक्तम्[17]-"भेदस्यान्यापेक्षतया[18][19] कल्पनाविषयत्वम्" तदप्ययुक्तिमात्रम्; एकत्वस्यैवान्यापेक्षतया[20] कल्पनाविषयत्वसम्भवात्[21]। तद्ध्य[22]नेकव्यक्त्याश्रितम्, भेदस्तु प्रतिनियतव्यक्तिस्वरूपोऽध्यक्षावसेयः। अथैकत्वं प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नम्, अन्यापेक्षया तु कल्पना[23]-

१ परेण भवता। २ वसः। ३ वसः। ४ तस्यां व्यक्तावाधीयते आरोप्यते इति तदाधेयं। ५ प्रतिपत्तृव्यक्त्योर्मध्ये। ६ किञ्च। ७ किञ्च। ८ व्यक्तिस्वरूपवत्। ९ भिन्नं। १० इदं सदिदं सदिति। ११ समर्थ्यते। १२ पटाद् घटो व्यावृत्त इति। १३ कल्प्यताम्। १४ सर्वथा। १५ विकल्पद्वयनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। १६ निराकृतम्। १७ परेण। १८ पटस्य। १९ भेद। २० प्रमीयमानत्वात्। २१ विकल्प। २२ एकत्वं। २३ घटः सन् पटः सन्नित्यादिज्ञानेन।

1 "यदपि गदितं भेदः पुनः परापेक्षतया प्रतीयते इत्यादि, तदपि नोपपन्नम्; एकत्वमपि हि परापेक्षतया प्रतीयते, ततश्चैतत्प्रत्ययोऽपि कल्पनाप्रत्ययरूपत्वेनाप्रमाणत्वात् कथमिवैकत्वं साधयेत्?" स्या० रत्ना० पृ० २००।

ज्ञानेनानुयायि[१]रूपतया व्यवह्रियते, तर्हि [२]भेदोऽप्यध्यक्षेण प्रति[३]पन्नोऽन्यापेक्षया विकल्पज्ञानेन व्या[४]वृत्तिरूपतया व्यवह्रियते इत्यप्यस्तु।

[1]का चेयं कल्पना नाम—ज्ञानस्य स्मरणानन्तरभावित्वम्, शब्दाकारानुविद्धत्वं वा स्यात्, जात्याद्युल्लेखो वा, असदर्थविषयत्वं वा, अन्यापेक्षतयाऽर्थस्वरूपावधारणं वा, उपचारमात्रं वा प्रकारान्तराऽसम्भवात्? न तावदाद्यविकल्पः; अ[५]भेदज्ञानस्यापि स्मरणानन्तरमु[६]पलम्भेन कल्पनात्वप्रसङ्गात्। शब्दाकारानुविद्धत्वं च ज्ञाने प्रा[७]गेव प्रतिविहितम्। न[८]नु सकलो भेदप्रतिभासोऽभिलापपूर्वकस्तदभावे भेदप्रतिभासस्याप्यभावः स्या[९]त्; तन्न; विकल्पाभिलापयोः कार्यकारणभावस्य कृतोत्तर[१०]त्वात्। अस्तु वासौ, तथापि किं शब्दजनितो भेदप्रतिभासः, तज्जनितो वा शब्दः? प्रथमपक्षे किं शब्दा[११]देव भेदप्रतिभासः, ततोऽसौ भवत्ये[१२]वेति वा? शब्दादेव भेदप्रतिभासाभ्युपग[१३]मे-प्रथमाक्षसन्निपातानन्तरं चित्र[१४]पट्यादिज्ञानस्य भेदवि[१५]षयस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः; निर्विकल्पकानुभवानन्तरं [१६]संकेतस्मरणविवक्षा[१७]प्रयत्न[१८]ताल्वादिपरिस्पन्दक्रमेणोपजायमानशब्दस्याविकल्पकप्रथमप्रत्ययावस्थायामभावात्। शब्दादनेक[१९]त्वप्रतिभासो भवत्येवेत्यप्ययुक्तमुक्तम्; 'एकं ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादिशब्दस्य भेदप्र[२०]त्ययजनकत्वे सति आगमात्तस्यैकत्वप्रतिपत्तेरभावानुषङ्गात्। भेदप्रतिभासाच्छब्दे(ब्दोऽ)स्तीत्यभ्युपगते च-अन्योन्याश्रयत्वम्—शब्दाद्भेदप्रतिभासः, भेदप्रतिभासाच्छब्द इति। 'घटोयं पटोयम्' इत्यादिभेदप्रतिभासस्य जात्याद्युल्लेखित्वात्कल्पनात्वे-अभेदज्ञानस्यापि कल्पनात्वानुषङ्गः; तस्यापि स[२१]त्त्वा[२२]दिसामान्योल्लेखि[२३]त्वात्। असदर्थविषयत्वं च भेदप्रतिभासस्यासिद्धम्; अर्थक्रि[२४]याकारिणो वस्तुभूतार्थस्य तत्र प्रतिभासनात्। विसंवादित्वं

---

१ अनुस्यूतरूपतया। २ घटस्य। ३ पट। ४ विसदृश। ५ सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिरूपस्य सोऽहमित्यादेर्वा। ६ प्रतीत्या। ७ सविकल्पकसिद्धौ शब्दाद्वैते च। ८ परः। ९ इति चेत्। १० सविकल्पकसिद्धौ। ११ पूर्वावधारणम्। १२ उत्तरावधारणम्। १३ परेण। १४ चित्राणां पटानां समाहारः चित्रपटी। १५ भेदो विषयो यस्य। १६ नीलादि। १७ वक्तुमिच्छा। १८ उत्साह। १९ भेद। २० प्रतिभास। २१ इदं सदिदं सत्। २२ आत्मत्व। २३ परामर्शित्वात्। २४ स्नानपानादि।

---

1 "किंचान्यापेक्षया भवनमेव भेदप्रत्ययस्य कल्पनात्वं स्यात्, किंवा स्मरणसमनन्तरभावित्वम्, यद्वा शब्दानुविद्धत्वम्, उत जात्याद्युल्लेखित्वम्, अथासदर्थविषयत्वम्, उपचाररूपत्वं वा?" स्या० रत्ना० पृ० २०१।

बाध्यमानत्वं च कल्पनालक्षणमेतेन[1] प्रत्युक्तम्; तस्यासदर्थविषयत्वा[2]दर्थान्तरत्वा[3]ऽसम्भवात्। अन्या[4]पेक्षतया[5]र्थस्वरूपावधारणं चानन्तरमेव प्रत्याख्यातम्; यतो[6] व्यवहार एवान्यापेक्षतया प्रवर्त्तते न स्वरूपावधा[7]रणम्। नापि भेदप्रतिभासस्योपचाररूपं कल्पनात्वम्; मुख्या[8]सम्भवे तस्याप्यदर्शनान्माणवके सिंहाद्यु[9][10]पचारवत्। न चाभेदवादिनो मुख्यं भेदाभ्युपगमोस्त्य[11]पसिद्धान्तप्रसङ्गात्।

यच्चानुमानादप्यात्माद्वैतसिद्धिरित्यु[12]क्तम्; तत्र स्वतः[13]प्रतिभासमानत्वं हेतुः[14], परतो वा। स्वतश्चेत्; असिद्धिः। परत[15]श्चेत्; विरुद्धोऽद्वैते साध्ये द्वैतप्रसाधनात्। 'घटः प्रतिभासते' इत्यादिप्रतिभास[16]सामानाधिकरण्यं तु विषये विषयि[17]धर्मस्योपचारात्, न पुनः प्रतिभासात्मकत्वात्। प्रतिभासनं हि विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये घटादावध्यारोप्यते। तदध्यारोपनिमित्तं च प्रतिभासनक्रियाधिकरणत्व[18]म्। तथा च 'अर्थमहं वेद्मि' इत्यन्तःप्रकाशमानानन्तपर्यायाऽचेतनद्रव्यवद्बहिःप्रकाशमानानन्तपर्यायाऽचेतनद्रव्यमपि प्रतिपत्तव्य[19]म्। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्यागमोपि नाद्वैतप्रसाधकः; अभेदे प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्यैवासम्भवात्। न चागमप्रामाण्यवादिना अर्थवाद[20]स्य प्रामाण्यमभिप्रेतमतिप्रसङ्गात्[21]। आत्मैव हि सकललोकसर्गस्थितिप्रलयहेतुरित्यप्यसम्भाव्यम्; अद्वैतैकान्ते कार्यकारणभावविरोधात्, तस्य द्वैताविनाभावित्वात्। निराकृतं च[22] नित्य[23]स्य कार्यकारित्वं शब्दाद्वैतविचारप्रक्रमे।

किमर्थं[1] चासौ[2] जगद्वैचित्र्यं विदधाति? न तावद्व्यसनितयाँ[24];

१ असदर्थविषयत्वनिराकरणेन। २ अपादाने का (पञ्चमी)। ३ एकत्वप्रतिभास। ४ घट। ५ पट। ६ कथं। ७ किन्तु स्वापेक्षतया एव प्रतिभासते। ८ वा। ९ भेदस्य। १० अग्नि। ११ अन्यथा। १२ परेण। १३ पदार्थानां। १४ परबाधसिद्धो हेतुः। नहि पदार्थाः स्वत एव प्रतिभासन्ते। १५ अन्यस्मात्। १६ ईपू। १७ स्वरूपस्य। १८ विषयस्य। परेण। १९ परेण। २० प्रशंसारूपस्य। २१ अलाबूनि निमज्जन्ती(?) त्यादेरपि प्रमाणताप्रसङ्गः। सारमित्येतस्य प्रशंसावचनस्य अलाबुषु सद्भावात् (? ग्रावाणः प्लवन्ते अन्धो मणिमविन्दत्)। २२ किञ्च। २३ ब्रह्मा। २४ फलं विना प्रवृत्तिर्व्यसनम्।

1 "तत्र स्वतः प्रतिभासमानत्वं हेतुः, परतो वा?" स्या० रत्ना० पृ० १९४। प्रमेयरत्नमा० २।१२।

2 "जगच्चाऽसृजतस्तस्य किन्नामेष्टं न सिध्यति ॥ ५४ ॥
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ॥ ५५ ॥" मी० श्लो० पृ० ६५३। सन्मति० टी० पृ० ७१५। स्या० रत्ना० पृ० १९८। प्रमेयरत्न० २।१२।

अप्रेक्षा[1]कारित्वप्रसङ्गात्, प्रेक्षाकारिप्रवृत्तेः प्रयोजनवत्तया व्याप्तत्वात्। कृपया परोपकारार्थं तत् करोतीति चेत्; न; तद्[2]व्यतिरेकेण परस्या[3]ऽसत्त्वात्। सत्त्वे वा-नारकादिदुःखितप्राणिविधानं न स्यात्, एकान्तसुखितमेवाखिलं जगज्जनयेत्[4]। किञ्च[1], सृष्टेः प्रागनुकम्प्यप्राण्यभावात् किमालम्ब्य तस्या[5]नुकम्पा प्रवर्त्तते येनानुकम्पावशादयं स्रष्टा कल्प्येत? अनुकम्पावशाच्च[6]ास्य[7] प्रवृत्तौ देवमनुष्याणां सदाभ्युदययोगिनां प्रलयविधानविरोधः, दुःखितप्राणिनामेव प्रलयविधानानुषङ्गात्। प्राण्यदृष्टापेक्षोऽसौ[9] सुखदुःखसमन्वितं जगत् जनयतीत्यप्यसङ्गतम्; स्वातन्त्र्यव्याघातानुषङ्गात्। समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावस्य वा नित्यैकरूपस्य वस्तुनोऽन्यापेक्षाऽयोगाच्च। अदृष्ट[2]वशाच्च जगद्वैचित्र्यसम्भवे-किमनेनान्तर्गडुना पीडाकारिणा? अदृष्टापेक्षा चास्या[10]नुपपन्ना, किं त्ववधीर[11]णमेवोपपन्नम्, अन्यथा कृपालुत्वव्याघातप्रसङ्गः। न हि कृपालवः[12] परदुःखं तद्धेतुं वाऽन्विच्छन्ति, परदुःखतत्कारणवियोगवाञ्छयैव प्रवृत्तेः।

---

१ मूर्खत्व। २ ब्रह्म। ३ जगतः। ४ कुत्सितसृष्टेः किं फलम्। ५ ब्रह्मणः। ६ किञ्च। ७ ब्रह्मणः। ८ पुण्यपाप। ९ ब्रह्मा। १० ब्रह्मणः। ११ अवज्ञा। १२ नराः।

---

1 "अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पा प्रवर्त्तते।
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः॥ ५२॥ मी० श्लो० पृ० ६५२।
"अथानुकम्पया कुर्यादेकान्तसुखितं जगत्॥ १५६॥
आधिदारिद्र्यशोकादिविविधायासपीडितम्।
जने तु सृजतस्तस्य कानुकम्पा प्रतीयते॥ १५७॥
सृष्टेः प्रागनुकम्प्यानामसत्त्वे नोपपद्यते।
अनुकम्पापि यद्योगाद्धाताऽयं परिकल्प्यते॥ १५८॥
न चायं प्रलयं कुर्यात्सदाभ्युदययोगिनाम्।" तत्त्वसं० पृ० ७६। सन्मति० टी० पृ० ७१६। स्या० रत्ना० पृ० १९८। प्रमेयरत्न० २।१२।

2 "अथाऽशुभाद्विना सृष्टिः स्थितिर्वा नोपपद्यते।
आत्माधीनाभ्युपाये हि भवेत्किन्नाम दुष्करम्॥ ५३॥
तथाचापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते।" मी० श्लो० पृ० ६५३।
"तददृष्टव्यपेक्षायां स्वातन्त्र्यमवहीयते॥ १५९॥
पीडाहेतुमदृष्टं च किमर्थं स व्यपेक्षते।
उपेक्षैव पुनस्तत्र दयायोगेऽस्य युज्यते॥ १६०॥ तत्त्वसं० पृ० ७७। सन्मति० टी० पृ० ७१६। स्या० रत्ना० पृ० १९९। प्रमेयरत्न० २।१२।

ननु यथोर्णनाभो जालादिविधाने स्वभावतः प्रवर्त्तते, तथात्मा जगद्विधाने इत्यप्यसत्; ऊर्णनाभो हि न स्वभावतः प्रवर्त्तते। किं तर्हि? प्राणिभक्षणलाम्पट्यात्प्रतिनियतहेतुसम्भूततया कादाचित्कात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति निन्दावादोप्यनुपपन्नः; सकलप्राणिनां भेदग्राहकत्वेनैवाखिलप्रमाणानां प्रवृत्तिप्रतीतेः।

यच्चोक्तम्-'आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्' इत्यादि; तत्र किमिदं प्रत्यक्षस्य विधातृत्वं नाम-सत्तामात्रावबोधः, असाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदो वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, नित्यनिरंशव्यापिनो विशेषनिरपेक्षस्य सत्तामात्रस्य स्वप्नेप्यप्रतीतेः खरविषाणवत्। द्वितीयपक्षे तु-कथं नाद्वैतप्रतिपादकागमस्याध्यक्षबाधा? भावभेदग्राहकत्वेनैवास्य प्रवृत्तेः, अन्यथाऽसाधारणवस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वविरोधः।

यच्च भेदो देशभेदात्स्यादित्याद्युक्तम्; तदप्यसङ्गतम्; सर्वत्राकारभेदस्यैवार्थभेदकत्वोपपत्तेः। यत्रापि देशकालभेदस्तत्रापि तद्रूपतयाऽऽकारभेद एवोपलक्ष्यते। स चाकारभेदः स्वसामग्रीतो जातोऽहमहमिकया प्रतीयमानेनात्मना प्रतीयते। प्रसाधयिष्यते

---

१ ब्रह्माद्वैतवादी। २ क्षुधा। ३ परेण। ४ विसदृश। ५ पदार्थ। ६ प्रवृत्त्यभावे। ७ परेण। ८ बहिरन्तर्वा। ९ साक्षादिमत्त्वादि। १० गवादि। ११ वस्तुनि। १२ वस्तुनि।

---

1 "प्राणिनां भक्षणाच्चापि तस्य लाला प्रवर्त्तते।" मी० श्लो० पृ० ६५२।
"प्रकृत्यैवांशुहेतुत्वमूर्णनाभेऽपि नेष्यते।
प्राणिभक्षणलाम्पट्याल्लालाजालं करोति यत्॥ १६८॥" तत्त्वसं० पृ० ७९, न्यायकुमुदचं० प्रत्य० परि०, सन्मति० टी० पृ० ७१७। स्या० रत्ना० पृ० १९९। प्रमेयरत्नमा० २।१२।

2 "यदप्युक्तम्-आहुर्विधातृप्रत्यक्षमिति, तदप्यसाधु; विधातृ इति कोऽर्थः? इदमपि वस्तुस्वरूपं गृह्णाति नान्यरूपं निषेधति प्रत्यक्षमिति चेन्मैवम्, अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसम्पत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति नेतरथा।" न्यायमं० पृ० ५२९।

"यतो विधातृत्वं किं प्रत्यक्षस्य भावस्वरूपग्राहित्वम्, आहोस्विदन्यत्? सन्मति० टी० पृ० २८५।

"तत्र किमिदं प्रत्यक्षस्य विधातृत्वं नाम सत्तामात्रावबोधः, असाधारणस्वरूपपरिच्छेदो वा?" स्या० रत्ना० पृ० २०१।

3 "यदपि-देशकालाकारभेदैर्भेदो न प्रत्यक्षादिभिः प्रतीयते इत्याद्युक्तम्; अभेदप्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्।" सन्मति० टी० पृ० २८६। स्या० रत्ना० पृ० २०३।

चात्मा सुखशरीरादिव्यतिरिक्तो जीवसिद्धि[1]प्रघट्टके। कथं चाभेदसिद्धिस्तत्प्रतिपत्तावप्यस्य समानत्वात्; तथाहि—अभेदोऽर्थानां देशाभेदात्, कालाभेदात्, आकाराभेदाद्वा स्यात्? यदि देशाभेदात्; तदा देशस्यापि कुतोऽभेदः? अन्यदेशाभेदाच्चेदनवस्था। स्वतश्चेदर्थानामपि स्वत एवाभेदोऽस्तु किं देशाभेदादभेदकल्पनया? इत्यादिसर्वमत्रापि[2] योजनीयम्। तस्मात्सामान्यस्य विशेषस्य वा स्वभावतो[3]ऽभेदो भेदो वाभ्युपगन्तव्यः।

यच्चेदमुक्तम्[4]-'यत एवाविद्या ब्रह्मणोऽर्थान्तरभूता तत्त्वतो नास्त्यत एवासौ निवर्त्यते' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतो यद्यवस्तुसत्यविद्या कथमेषा प्रयत्न[5]निवर्तनीया स्यात्? न ह्यवस्तुसन्तः शशशृङ्गादयो यत्ननिवर्त्तनीयत्वमनुभवन्तो दृष्टाः। न चास्यास्तत्त्वतः सद्भावे निवृत्त्यसम्भवः; घटादीनां सतामेव निवृत्तिप्रतीतेः। न चाविद्यानिर्मितत्वेन घटग्रामारामादीनामपि तत्त्वतोऽसत्त्वम्; अन्योऽन्याश्रयानुषङ्गात्-अविद्यानिर्मितत्वे हि घटादीनां तत्त्वतोऽसत्त्वम्, तस्माच्चाविद्यानिर्मितत्वमिति। अभेदस्य[6] विद्यानिर्मितत्वेन परमार्थसत्त्वेपि अन्योन्याश्रयो द्रष्टव्यः। न चानाद्यऽविद्योच्छेदे प्रागभावो दृष्टान्तः; वस्तुव्यतिरिक्तस्यानादेस्तुच्छस्वभावस्यास्याऽसिद्धेः।

यदपि[7]-'तत्त्वज्ञानप्रागभावरूपैवाविद्या' इत्याद्यभिहितम्; तदप्यभिधान[8]मात्रम्; प्रागभावरूपत्वे तस्या भेदज्ञानलक्षणकार्योत्पादकत्वाभावानुषङ्गात्, प्रागभावस्य[9] कार्योत्पत्तौ सामर्थ्यासम्भवात्।

---

१ विचारस्य। २ अभेदपक्षे। ३ स्वरूपेण। ४ परेण। ५ आत्मश्रवणमननादि। ६ भेदस्याविद्याहेतुत्वे अभेदस्य विद्याहेतुत्वमायातं तत्रापि दूषणम्। ७ वचन। ८ अभावरूपत्वात्खरविषाणवत्। ९ प्रागभावः स्यात्कार्योत्पादकत्वं च स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह।

---

1 "अनादिना प्रबन्धेन प्रवृत्तावरणक्षमा। यत्नोच्छेद्याप्यविधेयमसती कथ्यते कथम्? अस्तित्वे क एनामुच्छिन्द्यादिति चेत् कातरसन्त्रासोऽयम् सतामेव हि वृक्षादीनामुच्छेदो दृश्यते नासतां शशविषाणादीनाम्। तदिदमुच्छेद्यत्वादविद्या नित्या माभूत् सती तु भवत्येव।" न्यायमं० पृ० ५२९। सन्मति० टी० पृ० २९५। स्या० रत्ना० पृ० २०३।

2 "न च तत्त्वाग्रहणमात्रमविद्या, संशयविपर्ययावप्यविद्यैव, तौ च भावस्वभावत्वात्कथमसन्तौ भवेताम्? ग्रहणप्रागभावोऽपि नाऽसन्निति शक्यते वक्तुम्; अभावस्याप्यस्तित्वसमर्थनादिति सर्वथा नासत्यविद्या।

असत्त्वे च निषिद्धेऽस्याः सत्त्वमेव बलाद्भवेत्।
सदसद्व्यतिरिक्तो हि राशिरत्यन्तदुर्लभः॥" न्यायमं० पृ० ५३०।

न हि घटप्रागभावः कार्यमुत्पादयन्दृष्टः । केवलं घटवत् प्रागभावविनाशमन्तरेण तत्त्वज्ञानलक्षणं कार्यमेवं[1] नोत्पद्येत । अथ न भेदज्ञानं तस्याः कार्यम्, किं तर्हि ? भेदज्ञानस्वभावैवासौ, तन्न; एवं[2] सति प्रागभावस्य भावान्तर[3]स्वभावतानुषङ्गात् । न च ज्ञानस्य भेदाभेदग्रहणकृता विद्येतरव्यवस्था, संवादविसंवादकृतत्वात्तस्य सत्येतरत्वव्यवस्थायाः । संवादश्च भेदाभेदज्ञानयोर्वस्तुभूतार्थग्राहकत्वात्तुल्य इत्युक्तम् ।

यदप्युक्तम्–'भिन्नाभिन्नादिविचारस्य[4] च वस्तुविषयत्वात्' इत्यादि; तत्राविद्यायाः किमवस्तुत्वाद्विचारागोचरत्वम्, विचारागोचरत्वाद्वाऽवस्तुत्वं स्यात् ? न तावद्यद्यदवस्तु तत्तद्विचारयितुमशक्यम्; इतरेतराभावादेरवस्तुत्वे[5]ऽपि 'इदमित्थम्[6]' इत्यादिशब्दप्रतिभासलक्षणविचारविषयत्वात् । नापि विचारागोचरत्वेनावस्तुत्वम्; इक्षुक्षीरादिमाधुर्यतारतम्यस्य तज्जनितसुखादितारतम्यस्य वा 'इदमित्थम्' इति परस्मै[7] निर्देष्टुमशक्यत्वेपि वस्तुरूपत्वप्रसिद्धेः । किञ्च, अयं भिन्नाभिन्नादिविचारः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्; तेनाविषयीकृतायाः कथमविद्यायाः सत्त्वम् ? तदसत्त्वे च कथं मुमुक्षोस्तदुच्छित्तये प्रयासः फलवान् ? अथा[8]प्रमाणम्; कथं तर्हि तस्य वस्तुविषयत्वम् ? यतो 'भिन्नाभिन्नादिविचारस्य वस्तुविषयत्वात्' इत्यभिधानं शोभेत ।

यच्चोक्तम्–'यथा[1] रजोरजोन्तराणि' इत्यादि; तदप्यसमीचीनम्; यतो बाध्यबाधकभावाभावे कथं श्रवणमननादिलक्षणाऽविद्याऽ-

१ अविद्याविनाशमन्तरेण । केवलं यथा घटप्रागभावो घटप्रागभावविनाशरूपकार्यमन्तरा घटपटादिरूपं कार्यं नोत्पादयितुमलं तथा विद्याप्रागभावरूपैवाविद्या विद्याप्रागभावविनाशमेव कार्यं कर्तुं समर्था न च विद्यारूपं भेदरूपं वा कार्यमुत्पादयितुं समर्थेत्यर्थः । २ अविद्याया भेदज्ञानस्वभावत्वे । ३ भेदज्ञान । ४ विकल्पस्य । ५ खरशृङ्गवत् । ६ इतरस्मिन्नितरस्याभावः इतरेतराभावः । यदभावे नियमेन कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभाव इतीदृशम् । ७ प्रतिपाद्याय । ८ यदि ।

1 "यत्पुनरविद्यैव विद्योपाय इत्यत्र दृष्टान्तपरम्परोद्घाटनं कृतं तदपि क्लेशाय नार्थसिद्धये । सर्वत्र उपायस्य स्वरूपेण सत्त्वादसतः खपुष्पादेरुपायत्वाभावात् । रेखागकारादीनां तु वर्णरूपतया सत्त्वं यद्यपि नास्ति तथापि स्वरूपतो विद्यन्त एव ।" न्यायमं० पृ० ५३० । सन्मति० टी० पृ० २९५ ।

"यच्चोक्तं यथैव हि रजःसम्पर्ककलुषेऽम्भसि इत्यादि; तदपि फल्गु; यतो बाध्यबाधकभावाभावे कथं श्रवणमननादिलक्षणविद्याऽविद्यान्तरं प्रशमयेत् ?" स्या० रत्ना० पृ० २०४ ।

विद्यां प्रशमयेत्? वाध्यवाधकभा[2]वश्च सतोरेव अहिनकुलवत्, न त्व[1]सतोः शशाश्वविषाणवत्। दैवरक्ता[3] हि किंशुकाः केन[4] रज्यन्ते नाम। विद्यमानमेव हि रजो रजोन्तरस्य स्व[5]कार्यं कुर्वतः सा[6]मर्थ्यापनयन[7]द्वारेण बाधकं प्रसिद्धम्, विषद्रव्यं वा उपयुक्तविषद्रव्यसामर्थ्यापनयने चरितार्थत्वादन्नमलादिसदृशतया न का[8]र्यान्तरकरणे तत्प्रभवतीति। न च[9] भेदस्योच्छेदो घटते[10]; वस्तुस्वभावतयाऽभेदवत्तस्योच्छेत्तुमशक्तेः।

ननु स्वप्नावस्थायां भेदाभा[11]वेऽपि भेदप्रतिभासो दृष्टस्ततो न पारमार्थिको भेदस्तत्प्रतिभा[12]सो वा; इत्यभेदेपि समानम्। न खलु तदा विशेष[13]स्यैवाभावो न पुनस्तद्व्यापकसामान्यस्य; अन्य[14]था कूर्मरोमादीनामसत्त्वेपि तद्व्यापकस्य सामान्य[15]स्य सत्त्वप्रसङ्गः। कथं च स्वप्नावस्थायां भेदस्यासत्त्वम्? वाध्यमानत्वाच्चेत्; तर्हि जाग्रदवस्थायां तस्यावाध्यमानत्वात् सत्त्वमस्तु। एक[16]त्रास्य वाध्यमानत्वोपलम्भात्सर्व[17]त्रासत्त्वे च स्थाण्वादौ पुरुषप्रत्ययस्य वाध्यमानत्वेनासत्यतोपलम्भात् आत्मन्यप्यसत्यत्वप्रसङ्गः। ततो जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वा यत्र वाधकोदयस्तदसत्यम्, यत्र तु तदभावस्तत्सत्यमभ्युपगन्तव्यम्।

ननु वाधके[18]न ज्ञानमपह्नियते, विषयो वा, फलं वा? न तावद् ज्ञान[19]स्यापहारो युक्तः; तस्य प्रतिभातत्वात्। नापि विषयस्य; अत एव। विषय[20]ापहारश्च राज्ञां धर्मो न ज्ञानानाम्। फलस्यापि स्नानपानावगाहनादेः प्रतिभातत्वान्नापहारः। बाधक[21]मपि ज्ञान[22]म्, अर्थो वा? ज्ञानं चेत् तत्किं समानविषयम्, भिन्नविषयं वा? तत्र

---

१ स्वपररूपश्रवणमननादिलक्षणाऽविद्ययोः। २ असत्योरविद्ययोर्बाध्यबाधकभावः स्यादित्युक्ते आह। ३ यथा दैवरक्ताः किंशुकाः केनापि न रज्यन्ते तथा असत्योरविद्ययोर्बाध्यबाधकभावः केनापि कर्तुं न शक्यत इत्यभिप्रायः। ४ न केनापि। ५ कालुष्यलक्षणं स्वकार्यं। ६ कालुष्यजननसामर्थ्यः(र्थ्य)। ७ निराकरण। ८ मरणमूर्च्छादि। ९ किञ्च। १० अथैकत्वं प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नम्। ११ घटपटादीनाम्। १२ भेदज्ञानं। १३ भेदस्य। १४ विशेषाभावे सामान्यसत्त्वं यदि। १५ रोमत्वस्य। १६ मरीचिकाचक्रे जलमिति ज्ञाने। १७ महाह्रदादौ। १८ प्रमाणेन। १९ इदं जलमिति ज्ञानस्य। २० जलादिलक्षण। २१ उत्तरम्। २२ उत्तरम्।

---

1 "किं पुनरत्र व्यभिचारि किमर्थः, आहो ज्ञानमिति?" न्यायवा० पृ० ३७। "अथ बाध्यमानत्वेन मिथ्यात्वमिति चेत्; किं बाध्यते अर्थः, ज्ञानम्, उभयं वा?... अथ ज्ञानं बाध्यते; तस्यापि बाधा का? स्वरूपव्यावृत्तिरूपा, स्वरूपापह्नवरूपा, विषयापहारलक्षणा वा?" तत्त्वोप० पृ० १९–२१। स्या० रत्ना० पृ० १३९।

समान[1]विषयस्य संवादकत्वमेव न बाधकत्वम्। न खलु प्राक्तनं घटज्ञानमुत्तरेण तद्विषयज्ञानेन बाध्यते। भिन्नविषयस्य बाधकत्वे चातिप्रसङ्गः। अर्थोऽपि प्रतिभातः, अप्रतिभातो वा बाधकः स्यात्। तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; प्रतिभातो ह्यर्थः स्वज्ञानस्य सत्यतामेवावस्थापयति, यथा पटः पटज्ञानस्य। द्वितीयविकल्पेऽपि 'अप्रतिभातो बाधकश्च' इत्यन्यो[2]न्यविरोधः। न हि खरविषाणमप्रतिभातं कस्यचिद्बाधकम्। किञ्च, क्व[3]चित्कदाचित्कस्यचिद्बाध्यबाधकभावाभावाभ्यां सत्येत[4]रत्वव्यवस्था[5], सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा? प्रथमपक्षे-सत्येतरत्वव्यव[6]स्थासङ्क[7]रः; मरीचिकाचक्रा[8]दौ जला[9]दिसंवेदनस्यापि क्वचित्कदाचित्कस्यचिद्बाधकस्यानुत्पत्तेः सत्यसंवेदने तूत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात्। द्वितीयपक्षे तु-सकलदेशकालपुरुषाणां बाधकानुत्पत्त्युत्पत्त्योः कथमसर्वविदा वेदनं तत्प्रतिपत्तुः सर्ववेदित्वप्रसङ्गात्?

इत्यप्यनल्पत[10]मोविलसितम्[11]; रजतप्रत्यय[12]स्य शुक्तिकाप्रत्ययेनोत्तरकालभाविनैकवि[13]षयतया बा[14]ध्यत्वोपलम्भात्। ज्ञा[15]नमेव हि वि[16]परीतार्थख्याप[17]कं बाधकमभि[18]धीयते, प्रतिपा[19]दितासदर्थख्या[20]पनं तु बाध्यम्। ननु चै[21]तद्गत[22]सर्पस्य घृष्टिं प्रति यष्ट्यभिहननमिवाभासते, यतो रजत[23]ज्ञानं चेदुत्पत्तिमात्रेण चरितार्थं किं[24] तस्याऽतीतस्य मिथ्यात्वापादनलक्षणयापि बाधया? तदसत्; एतदेव हि मिथ्याज्ञानस्यातीतस्यापि बाध्यत्वम्-यदस्मि[25]न् मिथ्यात्वापा[26]दनम्; क्व[27]चित्पुनः प्रवृत्तिप्रतिषेधोऽपि फलम्, अन्य[28]था रजतज्ञानस्य बाध्यत्वासम्भवे शुक्तिकादौ प्रवृत्तिरविरता प्राप्नोति। कथं

---

१ एक। २ अप्रतिभातत्वबाधकत्वयोः। ३ विषये। ४ असत्यत्व। ५ ज्ञानस्य। ६ ज्ञानस्य। ७ एकत्रानेकेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः। ८ आदिपदेन शुक्तिका। ९ रजतादि। १० अज्ञान। ११ प्रभाचन्द्रदेवः परं प्रति ब्रूते। १२ इदं रजतमिति ज्ञानस्य। १३ शुक्तिकैकविषयः। १४ रजतादि। १५ उत्तरम्। १६ शुक्तिशकले प्रतिभातरजताद्विपरीतोऽर्थः शुक्तिशकलम्। १७ शुक्तिकैकविषयख्यापकम्। १८ उत्तरज्ञानेन। १९ बोधित। २० बोधितमसदर्थख्यापन (प्रतिपादन)मसदर्थग्रहणं यस्य पूर्वज्ञानस्य। २१ बाध्यबाधकभावलक्षणम्। २२ रजतप्रत्ययस्य शुक्तिविषयप्रत्ययः उत्तरकालभावी बाधकः इति प्रतिपादनम्। २३ मिथ्याज्ञानं। २४ प्रयोजनम्। २५ प्रथमज्ञाने। २६ उत्तरज्ञानेन। २७ विषये। २८ मिथ्यात्वापादनाभावे।

---

1 "बाधाविरहः किं सर्वपुरुषापेक्षया आहोस्वित्प्रतिपत्रपेक्षया?" तत्त्वोप० पृ० ३।

चैवं[1] वादिनो[1]ऽविद्याविद्ययोर्बाध्य[2]बाधकभावः स्यात् तत्राप्युक्त[3]विकल्पजालस्य समानत्वात्?

यच्च समारोपितादपि भेदादित्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; आत्मनः सांशत्वे[4] सत्येव भेदव्यवस्थोपपत्तेर्निरंशस्यान्तर्बहिर्वा वस्तुनः सर्वथाप्यप्रसिद्धेरित्यात्माद्वैताभिनिवेशं परित्यज्यान्तर्बहिश्चानेक[5]प्रकारं वस्तु वास्तवं[6] प्रमाणप्रसिद्धमुररीकर्त्तव्यम्[7]।

ननु[8] चाविभाग[9]बुद्धिस्वरूपव्यतिरेकेणार्थस्याप्रतीतितोऽसत्त्वाद्विज्ञप्तिमात्रमेव तत्त्वमभ्युपगन्तव्यं[10] तद्ग्राहकं च ज्ञानं प्रमाणमिति; तन्न; यतो[2]ऽविभाग[11]स्वरूपावेदक[12]प्रमाणसद्भावतो विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वमभ्युपगम्यते[13], बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन[14] वा? यद्याद्यः पक्षस्तत्रापि तथाभूतविज्ञप्तिमात्रं ग्राहकं (मात्रग्राहकं) प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? प्रमाणान्तरस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। तत्र न तावत्प्रत्यक्षं बहिरर्थसंस्पर्शरहितं विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यधिगन्तुं समर्थम्; अर्थाभावनिश्चयमन्तरेण विज्ञप्तिमात्रमेवेत्यवधारणानुपपत्तेः।

"अयमेवेति यो ह्येष भावे[15] भवति निर्णयः।
नैष[16] वस्त्वन्तरा[17]भावसंवित्त्यनुगमा[18]दृते॥"

[मी० श्लो० अभावपरि० श्लो० २०]

इत्यभिधानात्। न चार्थाभावः प्रत्यक्षाधिगम्यः; बाह्यार्थप्रकाशकत्वेनैवास्योत्पत्तेः। न च प्रत्यक्षे प्रतिभासमानस्याप्यर्थस्या[19]भावो

---

१ बाधकेन ज्ञानमपह्रियते विषयो वेत्येवं वादिनः। २ उक्तविकल्पैरतीतस्योत्तरकालीनं न बाधकमिति। ३ अविद्यया किं ज्ञानमपह्रियते विषयः फलं वा। ४ सहांशैः वर्त्तते इति सांशः। ५ सुखादिस्तम्भादि च। ६ पारमार्थिकम्। ७ भवता परेण। ८ विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार आह। ९ ग्राह्यग्राहकसंवित्तिरूपो विभागः। १० जैनादिभिः। ११ इदं ज्ञानमयं विषय इति विभागः। १२ ज्ञापक। १३ परेण। १४ बलेन। १५ प्रकृते विज्ञप्तिमात्रे। १६ घटते। १७ बहिरर्थे। १८ सद्भावाद्विना। १९ अस्तीति साध्यः।

---

1 ब्रह्माद्वैतवादस्य विविधरीत्या पर्यालोचनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्—मी० श्लोकवा० पृ० ६६२–, तत्त्वसं० पुरुषप० पृ० ७५–, न्यायमं० पृ० ५२६–, आप्तमीमांसा अष्टश० अष्टसह० पृ० १५६–द्वि० परि०, न्यायकु० चं० प्रथमपरि०, सन्मति० टी० पृ० २७७–२८५–, स्या० रत्ना० पृ० १९०–।

2 "ननु किमविभागबुद्धिस्वरूपावेदकप्रमाणसद्भावतो विज्ञप्तिमात्रमभ्युपगम्यते, आहोस्विदर्थसद्भावबाधकप्रमाणसद्भावसङ्गतेरिति वक्तव्यम्? तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः; यतस्तथाभूतविज्ञप्तिमात्रोपग्राहकं प्रत्यक्षं वा तद्भवेदनुमानं वा...।" सन्मति० टी० पृ० ३४९।

विज्ञप्तिमात्रस्याप्यभावानुषङ्गात्। न च तैमिरिकप्रतिभासे प्रतिभासमानेन्दुद्वयवन्निर्मलमनोऽक्षप्रभवप्रतिभासविषयस्याप्यसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; यतस्तैमिरिकप्रतिभासविषयस्यार्थस्य बाध्यमानप्रत्ययविषयत्वादसत्त्वं युक्तम्, न पुनः सत्यप्रतिभासविषयस्याऽबाध्यमानप्रत्ययविषयत्वेन सत्त्वसम्भवात्। बाध्यबाधकभावश्चानन्तरमेव ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके प्रपञ्चितः। तन्नार्थाभावोऽध्यक्षेणाधिगम्यः।

नाप्यनुमानेन; अध्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात्। "प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः" [ ] इत्यभिधानात्। न च बाह्यार्थावेदकाध्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न तेनानुमानबाधेत्यभिधातव्यम्; अन्योऽन्याश्रयात्–सिद्धे ह्यर्थाभावे तद्ग्राह्यध्यक्षं भ्रान्तं सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ चार्थाभावानुमानस्य तेनाऽबाधेति। किञ्च, तदनुमानं कार्यलिङ्गप्रभवम्, स्वभावहेतुसमुत्थं वा, अनुपलब्धिप्रसूतं वा? न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ; कार्यस्वभावहेत्वोर्विधिसाधकत्वाभ्युपगमात्। "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" [न्यायबि० पृ० ३९] इत्यभिधानात्। तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः; अनुपलब्धेरसिद्धत्वाद्बाह्यार्थस्याध्यक्षादिनोपलम्भात्। किञ्च, अदृश्यानुपलब्धिस्तदभावसाधिका स्यात्, दृश्यानुपलब्धिर्वा? प्रथमपक्षेऽतिप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वथार्थाभावाऽप्रसिद्धिः, प्रतिनियतदेशादावेवास्यास्तदभावसाधकत्वसम्भवात्।

एतेन बहिरर्थसद्भावबाधकप्रमाणावष्टम्भेन विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वमभ्युपगम्यत इत्येतन्निरस्तम्; तत्सद्भावबाधकप्रमाणस्योक्तप्रकारेणासम्भवात्।

---

१ यत्प्रतिभासते तदस्तीति अनैकान्तिको न। (?) २ प्रतिभासमानत्वाविशेषात्। ३ ज्ञान। ४ बाह्यार्थस्य। ५ परेण। ६ नेमौ द्वौ चन्द्रौ। ७ ज्ञानाद्वैतवादिनां बाध्यबाधकभावो नास्तीत्युक्ते आह। ८ पूर्वं। ९ भा (तृतीया, तृतीयासमास इत्यर्थः)। १० परेण। ११ अनुमानात्। १२ अर्थं। १३ सिद्धा। १४ अस्तित्व। १५ त्रिषु हेतुषु मध्ये। १६ पिशाचादेरप्यभावसाधिका। १७ कालप्रकार। १८ बहिरर्थाभावसाधकप्रमाणनिराकरणपरेण ग्रन्थेन।

---

1 "नाप्यनुमानं बाह्याभावमावेदयति, प्रत्यक्षाभावे तस्यायोगात्। न च प्रत्यक्षविरोधे अनुमानप्रामाण्यं संभवति 'प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः' इति वचनात्।" सन्मति० टी० पृ० ३५१।

2 "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति। (पृ० ७९) अनिराकृत इति। एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्।" न्यायबि० पृ० ७९,८३।

ननु नार्थाभावद्वारेण विज्ञप्तिमात्रं साध्यते, अपितु अर्थसंविदोः सहोपलम्भनियमादभेदो द्विचन्द्रदर्शनवदिति विधिद्वारेणैव साध्यते; तदप्यसारम्; अभेदपक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनाच्छब्दे श्राव(ब्देऽश्राव)णत्ववत्। दृष्टान्तोपि साध्यविकलः; विज्ञानव्यतिरिक्तबाह्यार्थमन्तरेण द्विचन्द्रदर्शनस्याप्यसम्भवात्। कारणदोषवशात् खलु बहिःस्थितमेकमपीन्दुं द्विरूपतया प्रतिपद्यमानं ज्ञानमुत्पद्यते, कारणदोषज्ञानाद्बाधकप्रत्ययाच्चास्य भ्रान्तता। अर्थक्रियाकारित्वस्तम्भाद्युपलब्धौ तु तदभावात्सत्यता। सहोपलम्भनियम-

१ द्वन्द्वः। २ आत्मख्यातिवादी। ३ ईप्। ४ इन्द्रिय। ५ काचकामलादि। ६ उत्तरकाले नेमौ द्वौ चन्द्रौ। ७ घटपटादि।

1 "यत्संवेदनमित्यादिना नीलाद्याकारतद्धियोरभेदसाधनाय निराकारज्ञानवादिनं प्रति प्रमाणयति—

यत्संवेदनमेव स्याद्यस्य संवेदनं ध्रुवम्।
तस्मादव्यतिरिक्तं तत्ततो वा न विभिद्यते॥ २०३०॥
यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः।
नीलधीवेदनं चेदं नीलाकारस्य वेदनात्॥ २०३१॥

एतदुक्तं भवति-(यत्) यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात्, यथा वा तैमिरिकज्ञानप्रतिभासी द्वितीय उडुपः चन्द्रमाः, नीलधीवेदनञ्चेदमिति पक्षधर्मोपसंहारः। धर्म्यत्र नीलाकारतद्धियौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः। ईदृश एव आचार्यीये सहोपलम्भनियमादित्यादौ प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७।

2 "-असदेतत्; अभेदस्य प्रत्यक्षेण बाधनात्,....शब्देऽश्रावणत्ववत् पक्षस्य प्रत्यक्षेण निराकृतेः।" सन्मति० टी० पृ० ३५२।

3 "पुनः स एवाह-यदि सहशब्द एकार्थस्तदा हेतुरसिद्धः; तथाहि—नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु नह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः, ...यदा च सत्त्वं प्राणभृतां सर्वे चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथमेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात्? नचान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधाऽयोगात्। अथ सहशब्द एककालविवक्षया तदा बुद्धविज्ञेयचित्तेन चित्तचैत्तैश्च सर्वथाऽनैकान्तिकता हेतोः। यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचित्तं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनियमेऽप्यस्त्येव च नानात्वम्, तथा चित्तचैत्तानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिको हेतुः।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७। विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६४। सन्मति० टी० पृ० ३५३। स्या० रत्ना० पृ० १५५।

"यदप्यवर्णि सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः तदपि बालभाषितमिव नः प्रतिभाति; अभेदे सहार्थानुपपत्तेः। अथैकोपलम्भनियमादिति हेत्वर्थो विवक्षितः; तदयमसिद्धो हेतुः नीलादिग्राह्यग्रहणसमये तद्ग्राहकानुपलम्भात्।" न्यायमं० पृ० ५४४।

श्चासिद्धः; नीलाद्यर्थो[1]पलम्भमन्तरेणाप्युपरतेन्द्रि[2]यव्यापारेण[3] सुखादिसंवेदनोपलम्भात्। अनैकान्तिकश्चायम्; रूपालोकयोर्भिन्नयोरपि सहोपलम्भनियमसम्भवात्[4]। तथा सर्वज्ञज्ञानस्य तज्ज्ञेयस्य चेतरजनचित्तस्य सहोपलम्भनियमेऽपि भेदाभ्युप[5]गमादनेकान्तः। ननु सर्वज्ञः सन्तानान्तरं[6] वा नेष्यते[7] तत्कथमयं दोषः? इत्यसत्; सकललोकसाक्षिकस्य सन्तानान्तरस्यानभ्युपगममात्रेणाऽभावाऽसिद्धेः। सुगतश्च सर्वज्ञो यदि परमार्थतो नेष्यते तर्हि किमर्थं[8] "प्रमाणभूताय" [प्रमाणसमु० श्लो० १] इत्यादिनासौ समर्थितः, स्तुतश्चाद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः। न खलु तेषामसति सत्त्वकल्पने बुद्धिः प्रवर्त्तते। विचार्य पुनस्त्यागाददोषं[9] इत्यप्यसारम्; त्यागाङ्गत्वे हि तस्य वरं पूर्वमेव नाङ्गीकरणमीश्वरादिवत्। अद्वैतमेव तथा स्तूयते इत्यपि वार्त्तम्[10]; तत्र स्तोतव्यस्तोतृ[11]स्तुतितत्फलानामत्यन्तासम्भवात्।

किञ्च[12], सहोपलम्भः[1] किं युगपदुपलम्भः, क्रमेणोपलम्भाभावो[13] वा स्यात्, एकोपलम्भो वा? प्रथमपक्षे विरुद्धो[14] हेतुः; 'सह शिष्येणागतः' इत्यादौ यौगपद्यार्थस्य सहशब्दस्य भेदे सत्येवोपलम्भात्। न ह्येकस्मिन्[15] यौगपद्यमुपपद्यते। द्वितीयपक्षेऽप्यसिद्धो[16] हेतुः; क्रमेणोपलम्भाभावमात्रस्य वादि[17]प्रतिवादिनोरसिद्धत्वात्[18]।

१ प्रतीति। २ निवृत्तेन्द्रिय। ३ पुरुषेण। ४ न चैकत्वम्। ५ परेण। ६ ज्ञानान्तरं वा। ७ सौगतैः। ८ जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तापिने(तायिने)। ९ असति सत्त्वकल्पने बुद्धिप्रवृत्त्यभावलक्षणो दोषः। १० फल्गु। ११ दिङ्नागादि। १२ साधनं विचार्यते। १३ प्रसज्यः। १४ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः। १५ उपाध्याये। १६ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः। १७ योगाचारजैनाभ्यां तुच्छस्वभावप्रागभावप्रध्वंसाभावलक्षणाऽभावयोरनभ्युपगमात्। १८ तुच्छरूपाभावस्य।

"अथ साहाय्यं यौगपद्यं वा विवक्षितं सहोपलभ्यमानत्वं तथापि तयोर्भेदेनैव व्याप्तत्वात् विरुद्धत्वम्। तथा सर्वज्ञः स्वचित्तेन सहोपलभते परचित्तं न च तस्य तस्मादभेद इति व्यभिचारः सर्वेषां सर्वज्ञताप्रसङ्गात्।" व्योमव० पृ० ५२७।

1 "यच्च सहोपलम्भनियम उक्तः सोऽपि विकल्पं न सहते। यदि ज्ञानार्थयोः साहित्येन उपलम्भः ततो विरुद्धो हेतुर्नाभेदं साधयितुमर्हति साहित्यस्य तद्विरुद्धभेदव्याप्तत्वात् अभेदे तदनुपपत्तेः। अथैकोपलम्भनियमः; न, एकत्वस्यावाचकः सहशब्दः। अपि किमेकत्वेनोपलम्भः, आहो एक उपलम्भो ज्ञानार्थयोः? न तावदेकत्वेनोपलम्भ इत्याह–बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य।" ब्रह्मसू० शां० भा० भामती २।२।२८ सन्मति० टी० पृ० ३५३। "सहोपलम्भोऽपि किं युगपदुपलम्भः, क्रमेणोपलम्भाभावः, एकोपलम्भो वाऽभिप्रेतो यस्य नियमो हेतुः स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० १५५।

किञ्च[1], अस्मा[१]द[२]भेदः[३]-एकत्वं साध्येत, भेदाभावो[४] वा? तत्राद्यविकल्पोऽसङ्गतः; भावा[५]ऽभाव[६]योस्तादात्म्य[७]तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावतो गम्य[८]गमकभावायोगात्। प्रसिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे-शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्च तादात्म्ये प्रतिबन्धे[९] गम्यगमकभावो दृष्टः। द्वितीयविकल्पेपि-अभावस्वभावत्वात्साध्यसाधनयोः सम्बन्धा[१०]ऽभावः, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावप्रतिनियमात्। अनिष्ट[११]सिद्धिश्च; सिद्धे[१२]पि भेदप्रतिषेधे[१३] विज्ञप्तिमात्रस्येष्टस्याता[१४]ऽप्रसिद्धेः, भेदप्रतिषेधमात्रेऽस्य चरितार्थत्वात्। ततस्तत्सिद्धौ वा[१५] ग्राह्यग्राहकभावादि[१६]प्रसङ्गो बहिरर्थसिद्धेरपि प्रसाधको[१७]ऽनुषज्यते।

अथैकोप[2]लम्भः सहोपलम्भः। ननु किमेक[१८]त्वे[१९]नोपलम्भ एकोपलम्भः स्यात्, एकेनैव[२०] वोपलम्भः, एकलोली[२१]भावेन चोपलम्भः, एकस्यैवोपलम्भो वा? प्रथमपक्षे[3]-साध्यसमो हेतुर्यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादिति। बहिरन्तर्मुखाकारतया च[२२] नीलतद्धियोर्भेदस्य सुप्रतीतत्वात्[२३] कथं तयोरेकत्वेनोपलम्भः सिद्ध्येत्? एकेनै[२४][4]-

१ हेतोः। २ साध्यविचारः। ३ अर्थसंविदोः। ४ प्रसज्यः। ५ साध्य। ६ अभावो हेतुः। ७ एकत्व। ८ साध्यसाधन। ९ सम्बन्धे। १० शशविषाणाश्वविषाणयोरिव। ११ तुच्छाभावसिद्धिः। १२ असाद्धेतोः। १३ अभावे। १४ क्रमेणोपलम्भाभावमात्रात् इत्यसात्साधनात्। १५ किञ्च। १६ व्याप्यव्यापक। १७ यथा ग्राह्यं ग्राहकमिति द्वैतं तथा बाह्योऽर्थः विज्ञानमिति द्वैतसिद्धिरपि स्यादित्यर्थः। १८ अर्थसंविदोस्तादात्म्यात्। १९ नीलतद्वतोः सर्वथा तादात्म्यात्। २० ज्ञानेन। २१ कथञ्चित्तादात्म्य। २२ किञ्च। २३ स्वरूपासिद्धो हेतुः। २४ ज्ञानेन।

1 "किञ्च, क्रमेणोपलम्भाभावमात्रादभेद एकत्वं साध्यते, भेदाभावो वा?" स्या० रत्ना० पृ० १५८।

2 "अथैकोपलम्भः सहोपलम्भः, ननु किमेकत्वेनैवोपलम्भः एकोपलम्भः, एकेनैक वा, एकस्यैव वा, एकलोलीभावेनैव वा?" स्या० रत्ना० पृ० १५८।

3 "तदेकोपलम्भनियमोऽप्यसिद्धः साध्यसाधनयोरविशेषात्।" अष्टश०, अष्टसह० पृ० २४३। "नचैकस्यैवोपलम्भनियमो हेतुः; अशब्दार्थत्वात्, साध्याविशिष्टत्वाच्च। तथाऽनेकरूपाद्यवयवस्य हि तस्यार्थस्योपलम्भे स्वरूपाऽसिद्धोऽपीति।" व्योमवती पृ० ५२७। स्या० रत्ना० पृ० १५८।

4 "नापि नीलतदुपलम्भयोरेकेनैवोपलम्भः; तथाहि-नीलोपलम्भेऽपि तदुपलम्भानामन्यसन्तानगतानामुपलम्भात्।" तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७। "अथैकेनैवोपलभ्यमानत्वं साधनम्; न; अन्यवेदनाऽभावस्याप्रसिद्धेः। अर्थस्तु तत्समानक्षणैरन्यैरप्युपलभ्यते इत्येकेनैवोपलभ्यमानत्वमसिद्धम्।" व्योमव० पृ० ५२७।

वोपलम्भोऽप्यन्य[1]वेदना[2]ऽभावे सिद्धे सिद्ध्येत् । न चासौ सिद्धः; नीलाद्यर्थस्य तत्समानक्षणैर[3]न्य[4]वेदनैरुपलम्भप्रतीतेरित्येकेनैवोपलम्भोऽसिद्धः । ए[5]तेनै[1]कलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चि[6]त्रज्ञानाकारवदशक्यविवेच[7]नत्वं साधनमसिद्धं प्रतिपत्तव्यम्[8]; नील[9]तद्धियोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेः अन्तर्बहिर्देशतया विवे[10]केनानयोः प्रतीतेः ।

अ[2]थैकस्यैवोपलम्भः; किं ज्ञानस्य, अर्थस्य वा ? ज्ञानस्यैव चेत्; असिद्धो हेतुः[11] । न खलु परं[12] प्रति ज्ञानस्यैवोपलब्धिः सिद्धा; अर्थस्याप्युपलब्धेः । न चार्थस्याभावा[3]दनुपलब्धिः; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे ह्यर्थाभावे ज्ञानस्यैवोपलम्भः सिद्ध्येत्, तदुपलम्भसिद्धौ चार्थाभावसिद्धिरिति । अथार्थस्यैवैकस्योपलम्भः; नन्वेवं कथमर्थाभावसिद्धिः ? ज्ञानस्यैवाभावसिद्धिप्रसङ्गात् । उपलम्भनिबन्धनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः । स्व[4]रूपकारणभेदाच्चान[13]योर्भेदः; ग्राहकस्वरूपं हि विज्ञानं नीलादिकं तु ग्राह्यस्वरूपम् । अभेदे च तयोर्ग्राहकता ग्राह्यता वाऽविशेषेण स्यात् । कारणभेदस्तु

१ अर्थस्य । २ उपलम्भः । ३ सन्तानान्तरवेदनैः । ४ पुरुष । ५ एकत्वेनोपलम्भनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । ६ चित्रज्ञानाद्यथा तदाकाराणां श्वेतादीनामशक्यविवेचनत्वं यथा न तथात्र । ७ अयमर्थ इदं ज्ञानमिति विवेकाभावः । ८ परेण । ९ नीलनीलज्ञानयोः । १० पृथक्त्वेन । ११ अर्थसंविदोरभेदः एकस्यैवोपलम्भात् । १२ जैनं प्रति । १३ अर्थज्ञानयोर्घटपटयोरिव ।

1 "एतेनैकलोलीभावेनैवोपलम्भः सहोपलम्भनियमः चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धं प्रतिपत्तव्यम्, अन्तर्बहिर्देशस्थतया विवेकेन ज्ञानार्थयोः प्रतीतेः ।" स्या० रत्ना० पृ० १५९ ।

2 "अपि च सहोपलम्भ; किं ज्ञानयोः, उत अर्थयोः, ज्ञानार्थयोर्वा ?" तत्त्वोप० पृ० १२५ । "किञ्च, एकस्यैवोपलम्भो ज्ञानस्य, अर्थस्य वा ?" सन्मति० टी० पृ० ३५३ ।

3 "अथ बाह्यार्थाभावादेकोपलम्भनियमः; तन्न; इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । तथा चैकोपलम्भनियमाद् बाह्यार्थाभावसिद्धिः तत्सिद्धेश्च एकोपलम्भनियमसिद्धिरित्येकाभावादितराभावः ।" व्योमवती पृ० ५२७ ।

4 "तथा ज्ञानं ग्राहकस्वरूपं नीलादि ग्राह्यस्वरूपमित्यनयोः शुक्लपीतयोरिव स्वभावभेदात् भेदः । अभेदे हि बोधोऽपि नीलस्य ग्राह्यं स्यात् नीलञ्च बोधस्य ग्राहकमिति स्यात्, न चैतदस्ति । कारणभेदाच्च नीलाद्बोधोऽर्थान्तरम्; तथा हि–बोधाद् बोधरूपता, इन्द्रियाद्विषयप्रतिनियमः, विषयादाकारग्रहणमिति भेदादेषां भेद एव ।" व्योमवती० पृ० ५२७ ।

सुप्रसिद्धः, ज्ञानस्य चक्षुरा[१]दिकारणप्रभवत्वात्तद्वि[२]परीतत्वाच्च नीलाद्यर्थस्येति।

यच्चो[३]च्यते–'यदभा(यदवभा)[1]सते तज्ज्ञानं यथा सुखादि, अवभासते च नीलादिकम्' इ[४]ति; तत्र[2] किं स्वतोऽवभासमानत्वं हेतुः, परतो वा, अभा(अवभा)समानत्वमात्रं वा? तत्राद्यपक्षे हेतुरसिं[५]द्धः। न खलु 'प[६]रनिरपेक्षा नीलादयोऽवभासन्ते' इति पर[७]स्य प्रसिद्धम्। 'नीलादिकमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया प्रतीयमानेन प्रत्ययेन नीलादिभ्यो भिन्नेन तत्प्रतिभासाभ्युपगमात्। यदि च परनिरपेक्षाव[८]भासा नीलादयः पर[९]स्य प्रसिद्धाः स्युस्तर्हि किमतो हेतोस्तं प्रति साध्यं[१०]म्? ज्ञा[११]नते[१२]ति चेत्; सा यदि प्रकाशता-तर्हि हेतुसिद्धौ सिद्धैव न साध्या। असिद्धौ वा तस्याः-कथं नासिद्धो हेतुः? को हि नाम स्वप्रतिभासं [१३]तत्रेच्छन् ज्ञानतां नेच्छेत्।

ननु चा[3]हम्प्रत्ययो गृहीतः, अगृहीतो वा, निर्व्यापारः, सव्यापारो वा, निराकारः, साकारो वा, (भिन्नकालः, समकालो वा) नीलादेर्ग्राहकः स्यात्? गृहीतश्चेत्-किं स्वतः, परतो वा? स्वत-

---

१ प्रकाश। २ प्राक्तननीलकारणप्रभवत्वात्। ३ परेण भवता। ४ तस्माद् ज्ञानमिति निगमनम्। ५ प्रतिवाद्यसिद्धः। ६ ज्ञान। ७ जैनस्य। ८ परनिरपेक्षोऽवभासो येषां ते। ९ जैनस्य। १० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्। ११ ज्ञानत्वम्। १२ नीलादीनाम्। १३ नीलादौ।

---

1 "प्रकाशमानस्तादात्म्यात्स्वरूपस्य प्रकाशकः।
यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी॥" प्रमाण वा० ३।३२७।
"सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति॥" प्रमाणवा० अलं० पृ० ९१।

2 "यत्तु संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतवन्न तत्।
सिध्येत् स्वतोऽन्यतो वाऽपि प्रमाणात् स्वेष्टहानितः॥"
आप्तपरी० कारि० ५६। न्यायकु० चं० प्रथमपरि०। स्या० रत्ना० पृ० १६१।

3 "तथा हि–परः प्रकाशयन् सम्बद्धोऽसम्बद्धो वा, गृहीतोऽगृहीतो वा, निर्व्यापारः सव्यापारो वा, निराकारः साकारो वा, भिन्नकालः समकालो वा पदार्थस्य प्रकाशकः स्यात्?" स्या० रत्ना० पृ० १६१। "प्रत्यक्षमर्थं तुल्यकालं वा प्रकाशयति, भिन्नकालं वा?" सन्मति० टी० पृ० ३५४।

"अनिर्भासं सनिर्भासमन्यनिर्भासमेव च।
विजानाति न च ज्ञानं बाह्यमर्थं कथञ्चन॥ १९९९॥"
तत्त्वसं० पृ० ५५९।

श्चेत्; स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वाद्बहिरर्थप्रकाशकत्वाभाव एव स्यात्। परतश्चेदनवस्था; तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रहणात्। न च[1] पूर्वज्ञानाग्रहणे[५]प्यर्थस्यैव ज्ञानान्तरेण[२] ग्रहणमित्यभिधातव्यम्[३]; तस्या[४]सन्नत्वेन जनकत्वेन च ग्राह्यलक्षणप्राप्तत्वात्। तदाह—

"तां[६] ग्राह्यलक्षणप्राप्तामासन्नां जनिकां धियम्।
अगृहीत्वोत्तरं ज्ञानं गृह्णीयादपरं कथम्॥" [प्रमाणवा० ३।५१३]

अगृहीतश्चेद्ग्राहकोऽतिप्रसङ्गः। न च निर्व्यापारो बोधोऽर्थग्राहकः; अर्थस्यापि बोधं प्रति ग्राहकत्वानुषङ्गात्[१२]। व्यापारवत्त्वे चातो[१३]ऽव्यतिरिक्तो व्यापारः, व्यतिरिक्तो वा[१४]? आद्यविकल्पे-बोधस्वरूपमात्रमेव नापरो व्यापारः कश्चित्। न चानयोरभेदो युक्तः; धर्म[१५]धर्मि[१६]तया भेदप्रतीतेः। द्वितीयविकल्पे तु सम्बन्धा[१७]सिद्धिः; ततस्[१८]तस्यो[१९]पकाराभावात्। उपकारे वानवस्था तन्निर्वर्तने व्यापारस्यापरव्यापारपरिकल्पनात्। निराकारत्वे वा बोधस्य; अतः प्रति[२०]कर्मव्यवस्था न स्यात्। साकारत्वे वा बाह्यार्थपरिकल्पनानर्थक्यं नीलाद्याकारेण बोधेनैव पर्याप्तत्वात्। तदुक्तम्—

"धियो[२१](योऽ)लादिरूप[२]त्वे[२२] बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः[२३]।
धियोऽ(यो)नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किन्निबन्धनः[२४]॥ १॥"
[प्रमाणवा० ३।४३१]

तथा न भिन्नकालोऽसौ तद्[२५]ग्राहकः; बोधेन[२६] स्वकालेऽविद्यमानार्थस्य ग्रहणे निखिलस्य प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वप्रसङ्गात्। नापि सम-

---

१ अहम्प्रत्ययस्य। २ द्वितीयेन। ३ जैनैः। ४ पूर्वज्ञानस्य। ५ उत्तरज्ञानस्य। ६ प्राक्तनीं। ७ कर्तृ। ८ नीलादिकम्। ९ नाज्ञातं ज्ञापकं नाम। १० देवदत्तज्ञानं जिनदत्तेनाज्ञातं सत् जिनदत्तस्यार्थग्राहकं भवेत्। ११ अन्यथा। १२ निर्व्यापारत्वाविशेषात्। १३ बोधात्। १४ बोधव्यापारयोः। १५ स्वरूप। १६ बोध। १७ बोधस्यायं व्यापार इति। १८ व्यापारात्। १९ बोधस्य। २० घटज्ञानस्य घटः पटज्ञानस्य पटो विषयः, इति प्रतिनियतविषय। २१ ज्ञानस्य। २२ निराकारत्वे। २३ ग्राहकव्यवस्थापकाभावात्। २४ किम्प्रयोजनः। किं निबन्धनं निमित्तं व्यवस्थापकं यस्य बाह्यार्थस्य सः। २५ नीलादि। २६ अन्यथा।

---

1 "न च पूर्वज्ञानाग्रहणेऽपि अर्थस्यैव ग्रहणमिति वाच्यम्, तेषामासन्नत्वे सति ग्राह्यलक्षणप्राप्तत्वात्। तदाह–तां ग्राह्यलक्षण....व्योमवती पृ० ५२४।

2 "धियोऽसितादिरूपत्वे सा तस्यानुभवः कथम्।
धियः सितादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किं प्रमाणकः॥ २०५१॥"
तत्त्वसं० पृ० ५७४।

कालैः; समसमयभाविनोर्ज्ञानज्ञेययोः प्रतिबन्धाभावतो ग्राह्य-ग्राहकभावासम्भवात्[3]। अन्यथाऽर्थोऽपि ज्ञानस्य ग्राहकः। अथार्थे[1] ग्राह्यताप्रतीतेः स च ग्राह्यः न ज्ञानम्; न[4]; तद्व्यतिरेकेणास्याः प्रतीत्यभावात्। स्वरूपस्य[5] च ग्राह्यत्वे-ज्ञानेऽपि तदस्तीति तत्रापि ग्राह्यता भवेत्। अथ जडत्वान्नार्थो ज्ञानग्राहकः; ननु कुतोऽस्य जडत्वसिद्धिः? तद्ग्राहकत्वाच्चेदन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि जडत्वे तद्ग्राहकत्वसिद्धिः, ततश्च जडत्वसिद्धिरिति। अथ[6] गृहीतिकरणादर्थस्य[7] ज्ञानं ग्राहकम्, ननु साऽर्थादर्थान्तरम्, अनर्थान्तरं वा तेन क्रियते? अर्थान्तरत्वे अर्थस्य न किञ्चित्कृतमिति[8] कथं तेनास्य ग्रहणम्? तस्येयमिति सम्बन्धासिद्धिश्च। तयाप्यस्य[9] गृहीत्यन्त-रकरणे[11]ऽनवस्था। अनर्थान्तरत्वे[12] तु तत्करणेऽर्थ एव तेन क्रियते इत्यस्य ज्ञानता ज्ञानकार्यत्वादुत्तरज्ञानवत्। जडार्थोपादानोत्प[13]-त्तेर्न[14] दोषश्चेत्, ननु पूर्वोऽर्थोऽप्रतिपन्नः[15] कथमुपादानमतिप्रस[16]-ङ्गात्[17]? प्रतिपन्नश्चेत्; किं समानकालाद्भिन्नकालाद्वेत्यादिदोषानु[18]-षङ्गः। किञ्च, गृहीतिरगृहीता[19] कथमस्तीति निश्चीयते? अन्यज्ञानेन चास्या ग्रहणे स एव दोषोऽनवस्था[20,21] च, ततोऽर्थो ज्ञानं गृहीतिरिति त्रितयं स्वतन्त्रमाभातीति न परतः कस्यचिदवभासनमिति नासिद्धो हेतुः।

ननु च[2] 'अर्थमहं वेद्मि चक्षुषा' इति कर्मकर्तृक्रियाकरणप्रतीति-

---

१ अयं प्रत्ययोनीलादेर्ग्राहकः। २ तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्ध। ३ सव्येतरगोविषाणवत्। ४ इति न (इत्यर्थः)। ५ अर्थस्य। ६ भो जैन। ७ परिच्छित्ति। ८ घटादेः। ९ घटस्य करणे पटस्य किमायातं यथा तथा। १० प्रथमया। ११ सम्बन्धसिद्ध्यर्थम्। १२ अभिन्नत्वे। १३ मृत्पिण्डादि। १४ अर्थस्य। १५ अज्ञातः। १६ अप्रतिपन्नत्वाविशेषात्। १७ खरविषाणादेरप्युपादानत्वप्रसङ्गात्। १८ बोधात्। १९ अज्ञाता। २० भिन्नकालेन समकालेन वेत्यादि। २१ अन्यज्ञानेन गृहीतो गृहीत्यन्तरमाचगृहीतेरर्थेन सम्बन्धसिद्ध्यर्थं क्रियते। एवं चेदन्यज्ञानेन क्रियमाणा गृहीतिः सा अर्थाद्भिन्ना अभिन्ना वेति उभयपक्षे उक्तदोषानुषङ्गः। पुनरपि भेदपक्षे

---

1 "अथार्थे ग्राह्यताप्रतीतेः स एव ग्राह्यो न ज्ञानमित्युच्यते; तन्न; तद्व्यतिरेकेणास्याः प्रतीत्यभावात्।" स्या० रत्ना० पृ० १६२।

2 "ननु तर्हि नीलमहं वेद्मि चक्षुषेति प्रतिभासः कथम्? तथा हि—नीलमिति कर्म, अहमिति कर्त्ता, वेद्मीति क्रिया, चक्षुषेति करणमेतेषां परस्परव्यावृत्तवपुषां प्रतिभासनादभेदप्रतिपादनमुन्मत्तभाषितम्; नैतदेवम्; तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनवदस्याप्युपपत्तेः। यथा हि–तैमिरिकस्य अर्थाभावेऽपि तदाकारं विज्ञानमुदेति, एवं कर्मादिष्वविद्यमानेष्वपि अनादिवासनावशात्तदाकारं विज्ञानमिति।" व्योमवती पृ० ५२५।

ज्ञानमात्राभ्युपगमे कथम्? इत्यप्यपेशलम्; तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनवद्स्या अप्युपपत्तेः। यथा हि तस्यार्थाभावेपि तदाकारं ज्ञानमुदेत्येवं कर्मादिष्वविद्यमानेष्वपि अनाद्यविद्यावासनावशात्तदाकारं ज्ञानमिति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-'अहंप्रत्ययो गृहीतोऽगृहीतो[2] वा' इत्यादि; तत्र गृहीत एवार्थग्राहकोऽसौ, तद्ग्रहश्च[3] स्वत एव। न च स्वतोऽस्य ग्रहणे स्वरूपमात्रप्रकाशनिमग्नत्वाद्बहिरर्थप्रकाशकत्वाभावः; विज्ञानस्य प्रदीपवत्स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्।

यच्चोक्तम्[4]-'निर्व्यापारः सव्यापारो वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; स्वपरप्रकाशस्वभावताव्यतिरेकेण ज्ञानस्य स्वपर[5][6]प्रकाशनेऽपरव्यापाराभावात्प्रदीपवत्। न खलु प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशस्वभावताव्यतिरेकेणान्यस्तत्प्रकाशनव्यापारोऽस्ति। न च ज्ञानरूपत्वे नीलादे[7]: सप्रतिघा[8]दिरूपता घटते। न च तद्रूपतयाऽध्यवसीयमानस्य नीलादेः 'ज्ञानम्' इति नामकरणे काचिन्नः[9] क्षतिः। नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वादेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः[10]। न च तद्रूपता ज्ञानस्यैव स्वभावः; तद्विषयत्वेनानन्यवेद्यतया[11] चास्यान्तःप्रतिभासनात्, सप्रतिघान्यवेद्यस्वभावतया[12] चार्थस्य बहिःप्रतिभासनात्। न च प्रतिभासमन्तरेणार्थव्यवस्थायामन्यन्निबन्धनं पश्यामः[13]।

यदप्यभिहितम्[14]-निराकारः[15] साकारो वेत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; साकारवादप्रतिक्षेपेण[1] निराकारादेव प्रत्ययात्[16] प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः[17] प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्[18]।

यच्चान्यदुक्तम्-न भिन्नकालोऽसौ[19] तद्ग्राहक[20] इत्यादि, तदप्यसारम्; क्षणिकत्वानभ्युपगमात्[21][22][2]। यो हि क्षणिकत्वं मन्यते

गृहीतेरर्थेन सम्बन्धसिद्ध्यर्थमन्यज्ञानेनापरं गृहीत्यन्तरं क्रियते। अपरगृहीतिरपि अर्थाद्भिन्ना अभिन्ना वेत्यादिप्रकारेणानवस्था।

१ परेण। २ इदमपि ज्ञानं समकालं भिन्नकालं वेत्यादि। अन्यज्ञानमपि गृहीतमगृहीतमित्यादिप्रकारेण। ३ ग्रहणम्। ४ परेण। ५ ज्ञान। ६ अर्थ। ७ अर्थस्य। ८ काठिन्य। ९ छेदनाग्रहणादि। १० अस्माकं जैनानां। ११ बहिरर्थ। १२ ज्ञान। १३ वयं जैनाः। १४ परेण। १५ अहम्प्रत्ययः। १६ ज्ञानात्। १७ विषय। १८ जैनैः। १९ अहम्प्रत्ययः। २० अर्थ। २१ ज्ञानार्थयोः। २२ जैनानाम्।

---

1 "निराकारपक्षेऽपि भवदभिमतसाकारवादप्रतिक्षेपेण निराकारादेव प्रत्ययाद्यथा प्रतिकर्मव्यवस्था तथा प्रतिपादयिष्यते।" स्या० रत्ना० पृ० १६३।

2 "यच्चेदं ग्राह्यग्राहकयोरेककालानुभवाभावेन दूषणम्; तदप्यपास्तम्; क्षणिकत्वानभ्युपगमात्। यो हि क्षणिकत्वं मन्यते तस्यायं दोषो ज्ञानकालेऽर्थस्यासद्भावः अर्थकाले ज्ञानस्येति तयोर्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तिरिति।" व्योमवती पृ० ५२९।

तस्यायं दोषः 'बोधकाले[1]ऽर्थस्याभावादर्थकाले च बोधस्यासत्त्वे तयोर्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तिः' इति।

यच्चाविद्यमानार्थस्य ग्रहणे प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्व[2]प्रसक्तिरित्युक्तम्[3]; तदप्ययुक्तम्[6]; भिन्नकालस्य समकालस्य वा योग्यस्यैवार्थस्य[4] ग्रहणात्[1]। दृश्यते[5] हि पूर्वोत्तरचरादिलिङ्गप्रभवप्रत्यया[7]द्भिन्नकालस्यापि प्रतिनियतस्यैव[8] शकटोदयाद्यर्थस्य ग्रहणम्।

कथ[2]ञ्चैवंवादिनो[10]ऽनुमानोच्छेदो न स्यात्, तथा हि—त्रिरूपाल्लिङ्गा[11]ल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रसिद्धम्। लिङ्गं चावभासमानत्वमन्यद्वा[12] यदि भिन्नकालं तस्य जनकम्; तर्ह्येकस्यानुमानस्याशेषमतीतमनागतं तज्जनक[13]मित्यत[14] एवाशेषानुमेय[15]प्रतीतेरनुमानभेदकल्पनानर्थक्यम्। अथ भिन्न[16]कालत्वाविशेषेपि किञ्चिदेव लिङ्गं कस्यचि[17]ज्जनकमित्यदोषोयम्; नन्वेवं[18] तदविशेषेपि किञ्चिदेव ज्ञानं कस्यचिदेवार्थस्य ग्राहकं किं नेष्यते[19]? अथातीतानुत्पन्ने[20]ऽर्थे प्रवृत्तं ज्ञानं निर्विषयं स्यात्[21], तर्हि नष्टा[22]नुत्पन्ना[23]ल्लिङ्गादुपजायमानमनुमानं निर्हेतुकं किं न स्यात्? यथा च स्वकाले[24] विद्यमानं[25] स्वरूपेण जनकम्[26] तथा ग्राह्य[27]मपि[28]। तन्न भिन्नकालं लिङ्गमनुमानस्य जनकम्। नापि समकालं तस्य जनकत्वविरोधात्[29], अविरोधे वानुमानमप्यस्य

---

१ ज्ञानकाले। २ सर्वज्ञत्व। ३ परेण भवता। ४ ग्रहीतुं शक्यस्य। ५ एतदेव दर्शयति। ६ लोके। ७ अनुमानात्। ८ कियत एव। ९ भिन्नकालः समकालो वा अहम्प्रत्ययः इत्यादि। १० योगाचारस्य। ११ साध्ये अग्न्यादौ। १२ सहोपलम्भादि। १३ लिङ्गं। १४ एतस्मादनुमानादेव। १५ सकलसाध्यपदार्थानां परिज्ञानात्। १६ लिङ्गानामतीतानागतादीनाम्। १७ अनुमानस्य। १८ लिङ्गप्रकारेण। १९ परेण। २० अतीतकारणवादिपक्षे क्षणिकत्वेन नष्टादित्युच्यते भाविकारणवादिपक्षे लिङ्गवत्तासमानत्वमनुत्पन्नं लिङ्गं चानुमानस्य कारणं तदभावे अनुमानलक्षणकार्यानुदयात्। २१ सौगतेनोच्यते चेत्। २२ अतीतकारणवादिपक्षे क्षणिकत्वेन। २३ भाविकारणवादिपक्षे लिङ्गमवभासमानत्वमनुमानस्य कारणं तदभावे कार्यानुदयात्। २४ अतीते भविष्यति काले। २५ लिङ्गम्। २६ अनुमानस्य। २७ वस्तु। २८ ज्ञानस्य भवति। २९ सव्येतरगोविषाणवत्।

---

1 "भिन्नकालस्यापि योग्यस्यैवार्थस्य ज्ञानेन ग्रहणात्। दृश्यते हि–पूर्वचरादिलिङ्गप्रभवप्रत्ययाद्भिन्नकालस्यापि प्रतिनियतस्यैव शकटोदयाद्यर्थस्य ग्रहणम्।"

स्या० रत्ना० पृ० १६३।

2 "किञ्चैवंवादिनस्ते कथं भिन्नकालं किञ्चिदपि लिङ्गं साध्यस्यानुमापकं स्यात्? अनुमापकत्वे वा किञ्चिदेकमेव भस्मादिलिङ्गमतीतस्य पावकादेरिव समस्तस्याप्यतीतानागतानुमेयस्य प्रतिपत्तिहेतुः स्याद् भिन्नकालत्वाविशेषात्।" स्या० रत्ना० पृ० १६३।

जनकं भवेत्, तथा चान्योन्याश्रयान्नैकस्यापि सिद्धिः। अथानुमानमेव जन्यम्[1], तत्रैव जन्यताप्रतीतेः; न; अनुमानव्यतिरेकेणार्थे ग्राह्यतावज्जन्यतायाः[2] प्रतीत्यभावात्। न च स्वरूपमेव[3] जन्यता; लिङ्गेऽपि तत्सद्भावेन जन्यताप्रसक्तेः। तथा चान्योन्यजन्यतालक्षणो दोषः स एवानुषज्यते। अथानयोः[4] स्वरूपाविशेषेऽप्यनुमान एव जन्यता लिङ्गापेक्षया, न तु लिङ्गे तदपेक्षया सेत्युच्यते[5]; तर्हि ज्ञानार्थयोस्तदविशेषेपि अर्थस्यैव ज्ञानापेक्षया ग्राह्यता न तु ज्ञानस्यार्थापेक्षया सेत्युच्यताम्[6]। न चोत्पत्तिकरणाल्लिङ्गमनुमानस्योत्पादकम्, तस्यास्ततोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोरसम्भवात्। सा हि यद्यनुमानादर्थान्तरम्; तदानुमानस्य न किञ्चित्कृत[7]मित्यस्याभावः। अनुमानस्योत्पत्तिरिति सम्बन्धासिद्धिश्चानुपकारात्। उपकारे वाऽनवस्था[8]। अथानर्थान्तरभूता[9] क्रियते; तदानुमानमेव तेन[10] कृतं स्यात्। तथा चानुमानं लिङ्गं लिङ्गजन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवत्। न च प्राक्तनानुमानोपादानजन्यत्वान्नानुमानं लिङ्गम्; यतस्तदप्यनुमानमन्यतो[11] लिङ्गाच्चेत्तर्हि तदप्यनुमानं[12] लिङ्गं तज्जन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवदिति तदवस्थं चोद्यम्। उत्तरमपि तदेवेति चेत्, अनवस्था स्यात्। अथ तथाप्रतीते[13]र्लिङ्गजन्यत्वा[14]विशेषे किञ्चिल्लिङ्गमपरमनुमानम्; तर्हि ज्ञानजन्यत्वाविशेषेपि किञ्चिज्ज्ञान[15]मपरोऽर्थ इति किन्न स्यात्? तथा च 'अर्थो ज्ञानं ज्ञानकार्यत्वादुत्तरज्ञानवत्' इत्ययुक्तम्। न[16] च गृहीति[17]विधाना[18]दर्थस्य ग्राह्यतेष्यते[19]; स्वरूप[20]प्रतिनियमात्तदभ्युपगमात्। यथैव ह्येक[21]सामग्र्यधीनानां रूपादीनां[22] चक्षुरादीनां समसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमादुपादाने[23]तरत्व[24]व्यवस्था, तथार्थज्ञानयोर्ग्राह्येतर[25]त्वव्यवस्था च भविष्यति।

ननु[26][1] यया प्रत्यासत्त्या[27] ज्ञानमात्मानं विषयीकरोति तयैव चेदर्थं

१ लिङ्गेन। २ ता (षष्ठी षष्ठ्यन्तान्मतुरित्यर्थः) (?)। ३ अनुमानस्य। ४ लिङ्गानुमानयोः। ५ परेण भवता। ६ परेण। ७ लिङ्गेन। ८ उत्पत्त्यन्तरान्वेषणात्। ९ अभिन्ना। १० लिङ्गेन। ११ ननु प्राक्तनमनुमानं लिङ्गादुत्पद्यते। १२ प्राक्तनम्। १३ लिङ्गतया अनुमानतया। १४ अनुमानस्य। १५ उत्तरक्षणं। १६ किञ्च। १७ परिच्छित्ति। १८ कारणात्। १९ जैनैः। २० अर्थग्राह्यतास्वरूपस्य प्रतिनियतत्वात्। २१ पूर्वक्षण। २२ उत्तर। २३ उत्तररूपरसयोः उत्तरचक्षुर्ज्ञानयोः। २४ सहकारिकारण। २५ ग्राहक। २६ यदवभासते तज्ज्ञानमित्यनुमानस्य विपक्षे बाधकं प्रमाणम्। २७ शक्त्या।

1 "ननु यया प्रत्यासत्त्या ज्ञानमात्मानं विषयीकरोति तयैव चेदर्थं तर्हि तयोरैक्यम्...अथान्यया तर्हि स्वभावद्वयापत्तिर्ज्ञानस्य भवेत्, तदपि स्वभावद्वयं यद्यपरेण

तयोरैक्यम्। न ह्येकस्वभाववेद्यमनेकं युक्तमन्यथैकमेव न किञ्चित्स्यात्। अथान्यथा; स्वभावद्वयापत्तिर्ज्ञानस्य भवेत्। तदपि स्वभावद्वयं यद्यपरेण स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदाऽनवस्था तद्वेदनेऽप्यपरस्वभावद्वयापेक्षणात्। ततः स्वरूपमात्रग्राह्येव ज्ञानं नार्थग्राहि; इत्यप्यसमीचीनम्; स्वार्थ[१]ग्रहणैकस्वभावत्वाद्विज्ञानस्य। स्वभाव[२]-तद्व[३]त्पक्षोपक्षिप्तदोष[४]परिहार[५]श्च स्वसंवेदन[६]सिद्धौ भविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन[७]।

कथञ्चैवंवादिनो[1][८] रूपादेः[९][१०] सजातीयेतर[११]कर्तृत्वम् तत्राप्य[१२]स्य[१३] समानत्वात्? तथा हि[१४]–रूपादिकं[१५] लिङ्गं[१६] वा यया प्रत्यासत्त्या[१७][१८] सजातीय[१९]क्षणं[२०] जनयति तयैव चेद्र[२१]सादिकमनु[२२]मानं वा; तर्हि तयो[२३]रैक्यमित्यन्य[२४]तरदेव स्यात्। अथान्यथा; तर्हि रूपादे[२५]रेकस्य स्वभावद्वयमायातं तत्र चानवस्था परापरस्वभावद्वयकल्पनात्। न खलु येन स्वभावेन रूपादिकमे[२६]कां शक्तिं बिभर्ति तेनैवापरां तयो[२७]रैक्यप्रसङ्गात्। अथ रूपादिकमे[२८]कस्वभावमपि भिन्नस्वभावं कार्यद्वयं कुर्यात्तत्करणैकस्वभावत्वात्[२९]; तर्हि ज्ञानमप्येकस्वभावं स्वार्थयोः सङ्करव्यतिकर[३०]व्यतिरेकेण ग्राहकमस्तु तद्ग्रहणैकस्वभावत्वात्[३१]। ननु व्यवहारेण[३२] कार्य[३३]कारणभावो न परमार्थतस्तेना[३४]यमदोषः; तर्हि तेनैवाहमहमिकया प्रतीयमानेन ज्ञानेन नीलादे[३५]र्ग्रहण[३६]सिद्धेः कथमसिद्धः स्व[३७]तोऽवभासमानत्वलक्षणो हेतुर्न स्यात्?

---

१ द्वन्द्वः। २ स्वार्थग्रहण। ३ ज्ञान। ४ एकत्वमनवस्था च। ५ ज्ञानान्तरप्रत्यक्षपक्षविक्षेपणान्ते। ६ ज्ञान। ७ ज्ञानाद्वैतपक्षे दोषपरिहारविस्तरेण। ८ स्वभावानवस्थां ब्रुवाणस्य। ९ रसादिलिङ्गं च (?)। १० स्वजातीयं जनयन्विजातीयं जनयेत् (?)। ११ उत्तररूपमुत्तरलिङ्गं च। १२ अनवस्थादिदोषस्य। १३ न्यायस्य। १४ पूर्वं। १५ धूमादि। १६ पूर्वं। १७ स्वभावेन। १८ शक्त्या। १९ उत्तरं। २० रूपलिङ्गं च। २१ विजातीयम्। २२ विजातीयं। २३ रूपरसयोर्लिङ्गानुमानयोर्वा। २४ रूपं वा रसो वा लिङ्गं वा अनुमानं वा स्यात्। २५ लिङ्गस्य। २६ कर्तृ। २७ अन्यथा। २८ लिङ्गं च। २९ रूपादेः। ३० ज्ञानस्य। ३१ रूपादेः। ३२ उपलक्षणात्। ३३ साध्यसाधनभावादि। ३४ कारणेन। ३५ पदार्थस्य। ३६ ज्ञप्ति। ३७ ज्ञानात् (ज्ञानेन) प्रकाशमानत्वात्।

स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदानवस्था...; तदरमणीयम्; स्वार्थग्रहणोभयस्वभावत्वाद्विज्ञानस्य।" स्या० रत्ना० पृ० १६५।

1 "कथञ्चैवंवादिनो रूपादेर्लिङ्गस्य वा सजातीयेतरकर्तृत्वं तत्राप्यस्य पर्यनुयोगस्य समानत्वात्। तथाहि–रूपादिकं लिङ्गं वा यया प्रत्यासत्त्या सजातीयक्षणं जनयति तयैव चेद्रसादिकमनुमानं वा तर्हि तयोरैक्यमित्यन्यतरदेव स्यात्। अथान्यथा तर्हि रूपादेरेकस्य स्वभावद्वयमायातं तत्र चानवस्था।" स्या० रत्ना० पृ० १६५।

न चैवंवादिनः[1] स्वरूपस्य[2] स्वतो[3]ऽवगति[4]र्घटते; समकालस्यास्य प्रतिपत्तावर्थवत् प्रसङ्गात्[5][6][7] । न च स्वरूपस्य ज्ञानतादात्म्यान्नायं[8] दोषः; तादात्म्येपि समानेतर[9]कालविकल्पानतिवृत्तेः[10] । ननु ज्ञानमेव स्वरूपम्, तत्[11]कथं तत्र[12] भेदभावी विकल्पोऽवतरतीति चेत्? कुत[13] एतत्[14]? तथा[15] प्रतीतेश्चेत्; इयं यद्यप्रमाणं कथमतस्तत्सिद्धि[16]रतिप्रसङ्गात्[17]? प्रमाणं चेत्; तर्हि स्वपरग्रहणस्वरूपताप्यस्य[18] तथैवास्त्वलं तत्रापि[19] तद्विकल्प[20]कल्पनया प्रत्यक्षविरोधात्[21] । तन्न स्वतोऽवभासमानत्वं हेतुरसिद्धत्वात्[22] ।

नापि परतो[23] वाद्यसिद्धत्वात्[24] । न खलु सौगतः कस्यचित्परतोऽवभासमानत्वमिच्छति । "नान्यो[1][25]ऽनुभाव्यो[26] बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोपरः[27]" [प्रमाणवा० ३।३२७] इत्यभिधानात्[28] । कथं[29] च[30] साध्यसा-[2]

१ समकालो भिन्नकालो वार्थो न ग्राह्य इत्येवं वादिनो योगाचारस्य । २ ज्ञानस्य । ३ ज्ञानात् । ४ परिच्छित्तिः । ५ देशान्तरस्थमपि स्वरूपं गृह्णीयात्समकालत्वे तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धाभावात् । ६ देशान्तरस्थमपि स्वरूपं गृह्णीयात्समकालत्वात् । ७ दूषणम् । ८ अर्थवत्प्रसङ्गलक्षणः । ९ भिन्न । १० अनतिक्रमणात् । ११ अपि न कुतोऽपि । १२ ज्ञानस्वरूपे । १३ प्रमाणात् । १४ ज्ञानमेव स्वरूपं । १५ ज्ञानस्य स्वरूपतया । १६ ज्ञानमेव स्वरूपसिद्धिः । १७ संशयादेरपि तत्सिद्धिः । १८ ज्ञानस्य । १९ अर्थग्रहणे । २० समानेतरकाल इत्यादि । २१ अन्यथा । २२ जैनस्य । २३ ज्ञानात् । २४ योगाचार । २५ अर्थः । २६ ग्राह्यः । २७ ग्राहकः । २८ ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते । (इति उत्तरार्द्धं श्लोकस्य) । २९ सौगतैः परतः प्रतिभासानभ्युपगमे । ३० किञ्च ।

1 "नान्योनुभाव्यस्तेनास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ प्रमाणवा० ३।३२७ ।

"बुद्ध्या योऽनुभूयते स नास्ति परः, यथा अन्योऽनुभाव्यो नास्ति तथा निवेदितम् । तस्यास्तर्हि परोऽनुभवो बुद्धेरस्तु; न; तत्रापि ग्राह्यग्राहकलक्षणभावः । परं हि संवेदनस्वरूपेऽवस्थितं कथं परस्यानुभवः साक्षात्करणादिकं प्रत्याख्यातम् । तत्संवेदनानुप्रवेशे च तयोरेकत्वमेव स्यात्, तथा च स्वयं सैव प्रकाशते न ततः पर इति स्थितम् ।"
प्रमाणवार्त्तिकालंकार ।

2 "नच प्रकाशनलक्षणस्य हेतोः ज्ञानत्वेन व्याप्तिसिद्धिर्यतः स्वरूपमात्रपर्यवसितं ज्ञानं सर्वमवभासनं ज्ञान (नत्व) व्याप्तमिति नाधिगन्तुं समर्थम् । नच सकलसम्बन्ध्यप्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्तिः । उक्तं च—

द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥"

सन्मति० टी० पृ० ४८३ ।

धनयोर्व्याप्तिः सिद्धा? यतो 'यदवभासते तज्ज्ञानम्' इत्यादि सूक्तं स्यात्। न खलु स्वरूपमात्र[१]पर्यवसितं ज्ञानं 'निखिलमवभासमानत्वं ज्ञानत्वव्याप्तम्' इत्यधिग[२]न्तुं समर्थम्। न चाखिलसम्बन्ध्य[३]प्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्तिः। "द्विष्ठ[1]सम्बन्धसंवित्तिः" [　　] इत्या[४]द्यभिधानात्। न च विवक्षितं ज्ञा[५]नं ज्ञानत्वमवभासमानत्वं चात्म[६]न्येव प्रतिपद्य त[७]योर्व्याप्तिमधिगच्छतीत्यभिधा[८]तव्यम्; तत्रै[९]वानुमानप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र च तत्प्रवृत्तेर्वैयर्थ्यं सा[१०]ध्यस्याध्यक्षेण सिद्धत्वात्। अथ सकलं ज्ञानमात्मन्यन्यनयोर्व्याप्तिं प्र[११]त्येतीत्युच्यते[१२]; ननु सकलज्ञानाज्ञा[१३]ने कथमे[१४]वं वादिना प्रत्येतुं शक्यम्? न चासिद्धव्याप्तिकलिङ्गप्रभवादनुमानात्तथागतस्य स्व[१५]मतसिद्धिः; प[१६]रस्यापि त[१७]थाभूता[१८]त्का[१९]र्याद्यनुमानादीश्वराद्यभिमतसाध्यसिद्धिप्रसङ्गात्। न[2] च[२०]ानयोः कुतश्चित् प्रमाणाद्व्याप्तिः प्रसिद्धा[२१]; ज्ञान[२२]वज्जडस्या[२३]पि प[२४]रतो ग्रहणसिद्ध्या हेतो[२५]रनैकान्तिकत्वानुषङ्गात्।

यदप्युक्त[२६]म्-जडस्य प्रतिभासायोगादिति, त[3]त्राप्यप्रतिप[२७]न्नस्यास्य प्रतिभासायोगः, प्रतिपन्नस्य वा? न तावदप्रतिपन्नस्यासौ

१ निश्चितम्। २ ज्ञातुं। ३ सम्बन्धिनोरवभासमानत्वज्ञानत्वयोः। ४ नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्। ५ प्रत्यक्षमनुमानं वा। ६ स्वसंविन्नेव। ७ अवभासमानत्वज्ञानत्वयोः। ८ परेण। ९ अन्यथा। १० ज्ञानस्य। ११ जानाति। १२ परेण। १३ अपरिज्ञाने (सति)। १४ सकलं ज्ञानमित्यादिवादिना। १५ नीलादीनां ज्ञानरूपतासिद्धिः। १६ यौगादेरपि। १७ असिद्धव्याप्तिकलिङ्ग। १८ कार्यादेर्हेतोरुत्पन्नादनुमानात्। १९ ता हेतोः सम्बन्धि। २० किञ्च। २१ अन्यथा। २२ साध्यसाधनज्ञानयोर्व्याप्तिज्ञानेन ग्रहणम्। २३ नीलादेरर्थस्य। २४ ज्ञानात्। २५ प्रतिभासमानत्वादित्यस्य। २६ परेण। २७ परेण त्वया अज्ञातस्य।

1 "तदुक्तमन्यैः-द्वयसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्।..."

तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२१।

2 "नच ज्ञानत्वस्वप्रकाशनयोः साध्यसाधनयोः कुतश्चित्प्रमाणाद् व्याप्तिसिद्धिः पारमार्थिकी; ज्ञानवज्जडस्यापि परतो ग्रहणसिद्धेरनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः।"

संमति० टी० पृ० ४८४।

3 "जडस्य प्रतिभासायोगोऽप्यप्रतिपन्नस्य प्रतिपत्तुमशक्यः, शक्यत्वे वा सन्तानान्तरस्यापि स्वप्रकाशायोगः प्रतिपत्तव्यः इति तस्याप्यभावः प्रसक्तः। तथा च परप्रतिपादनार्थं प्रकृतहेतूपन्यासो व्यर्थः। अथ प्रतिपन्नस्य जडस्य प्रकाशायोगः; तथापि विरोधः-जडः प्रतीयते प्रकाशायोगश्च इति।" संमति० टी० पृ० ४८४

"यदप्युच्यते-जडस्य प्रतिभासायोगादिति; तत्राप्यप्रतिपन्नस्य प्रतिभासायोगः प्रतिपन्नस्य वा।" स्या० रत्ना० पृ० १६५।

प्रत्येतुं शक्यः, अन्यथा सन्तानान्तरस्या[1]प्रतिपन्नस्य[2] स्व[3]प्रतिभासायोगस्यापि प्रसिद्धेस्तस्याप्यभावः। तथा च तत्प्रतिपादनार्थं[4] प्रकृतहेतूपन्यासो[5] व्यर्थः। अथ सन्तानान्तरं स्वस्य स्वप्रतिभा[6]सयोगं[7] स्वयमेव प्रतिपद्यते[8], जडस्यापि प्रतिभासयोगं तदेव[9] प्रत्येतीति किन्नेष्यते[10]? प्रतीतेरुभयत्रापि[11] समानत्वात्। अथाऽप्रतिपन्नेपि जडे विचारात्तदयोगः, ननु तेनाप्यस्याविषयीकरणे स एव[12] दोषो विचारस्तत्र न प्रवर्त्तते। 'तत[13] एव वात्र तदयोगप्रतिपत्तिः' इति विषयीकरणे[14] वा विचारवत्प्रत्यक्षादिना[15]प्यस्य[16] विषयीकरणात्प्रतिभासायोगोऽसिद्धः। न च प्रतिपन्नस्य[17] जडस्य प्रतिभासायोग[18]प्रतिपत्तिरित्यभिधातव्यम्[19]; 'जडप्रतीतिः, प्रतिभासायोगश्चास्य' इत्यन्योन्यविरोधात्।

साध्य[20]विकलश्चायं[21] दृष्टान्तः, नैयायिकादीनां सुखादौ ज्ञानरूपत्वासिद्धेः। अस्मादेव[22] हेतोस्तत्रापि ज्ञानरूपतासिद्धौ[23] दृष्टान्तान्तरं मृग्यम्। तत्राप्येतच्चोद्ये तदन्तरान्वेषणमित्यनवस्था। नीलादेर्दृष्टान्तत्वे चान्योऽन्याश्रयः-सुखादौ ज्ञानरूपतासिद्धौ नीलादेस्तन्निदर्शनात्तद्रूपतासिद्धिः, तस्यां च तन्निदर्शनात्सुखादेस्तद्रूपतासिद्धिरिति। न च सुखादौ दृष्टान्तमन्तरेणापि तत्सिद्धिः; नीलादावपि तथैव तदापत्तेस्तत्र[24] दृष्टान्तवचनमनर्थकमिति निग्रहाय जायेत।

अथ सुखादेर[25]ज्ञानत्वे-ततः[26] पीडानुग्रहा[27]भावो भवेत्। ननु सुखाद्येव पीडानुग्रहौ, ततो भिन्नौ वा? प्रथमपक्षे-किं[28] ज्ञानत्वेन व्याप्तौ तौ प्रतिपन्नौ[29]; यतस्तदभावे न स्याताम्। व्यापकाभावे हि

१ शिष्यादिकम्। २ सौगतैः। ३ स्वरूपेण। ४ बोधनार्थं। ५ प्रतिभासमानत्वात्। ६ ता। ७ संबन्धं। ८ जानाति। ९ परेण। १० सौगतस्य तव। ११ सन्तानान्तरप्रतिभासयोगे जडप्रतिभासयोगे च। १२ प्रतिभासायोगः। १३ विचारात्। १४ जडस्य विचारेण। १५ अनुमान। १६ जडस्य। १७ द्वितीयविकल्पस्य। १८ असम्भव। १९ परेण। २० ज्ञान। २१ सुखादिः। २२ प्रतिभासमानत्वादित्यस्मात्। २३ सुखादिधर्मी ज्ञानं भवतीति साध्यं प्रतिभासमानत्वात्। दृष्टान्तेन भाव्यं ह्यत्र। २४ यदवभासते तज्ज्ञानमित्यत्रानुमाने। २५ दुःख। २६ सुखाद्दुःखात्। २७ उपकार। २८ अन्वयदृष्टान्ते। २९ परेण।

1 "नच नैयायिकादीन् प्रति सुखादेर्ज्ञानता सिद्धेति साध्यविकलता दृष्टान्तस्य...।"
संमति० टी० पृ० ४८४।
स्या० रत्ना० पृ० १६७।

2 "अथ सुखादेरज्ञानत्वे ततोऽनुग्रहाद्यभावो भवेत्, ननु किं सुखमेवाऽनुग्रहः, उत ततो भिन्नम्?..." संमति० टी० पृ० ४८५।

नियमेन व्याप्याभावो भवति । अ[1]न्यथा प्राणादे[2]ः सात्मकत्वेन [3]क्वचिद्व्याप्यसिद्धावप्यात्माऽभा[4]वे स न भवेत् ततः केवलव्यतिरेकिहेत्वग[1]मकत्वप्रदर्शनमयुक्तम्[5]। तन्नाद्यप[6]क्षः। नापि द्वितीयो यतो यदि नाम सुखदुःखयोर्ज्ञानत्वाभावै[7]ः, अर्थान्तरभूतानुग्रहाद्यभावे किम[8]ायातम्?' न खलु यज्ञदत्तस्य गौरत्वाभावे देवदत्ताभावो दृष्टः। ननु सुखादौ जैनस्य प्रकाशमानत्वं ज्ञानरूपतया व्याप्तं प्रसिद्धमेवेत्यप्यसारम्; यतः स्वतः प्रकाशमानत्वं ज्ञानरूपतया व्याप्तं यत्तस्यात्र[10] प्रसिद्धं तन्नीला[11]द्यर्थे(र्थे) नास्तीत्यसिद्धो हेतुः। यत्तु परतः प्रकाशमानत्वं तत्र प्रसिद्धं तन्न ज्ञानरूपतया व्याप्तम् । [12]प्रकाशमानत्वमात्रं च नीलादावुप[13]लभ्यमानं जडत्वेनाविरुद्धत्वं [14]नैकान्ततो ज्ञानरूपतां प्रसाधयेत् ।

य[2]दप्यु[15]क्तम्–तैमिरि[16]कस्य द्विचन्द्रादिवत्कर्त्रादिकमविद्यमानमपि प्रतिभातीति, तदपि स्व[17]मनोरथमात्रम्; अ[18]त्र बा[19]धकप्रमाणाभावात् । द्विचन्द्रादौ हि वि[20]परीतार्थख्यापकस्य बाधकप्रमाणस्य

१ ज्ञानत्वेन पीडानुग्रहयोर्व्याप्यसिद्धावपि ज्ञानाभावे पीडानुग्रहयोरभावो यदि । २ उच्छ्वासादेः । ३ अन्वयदृष्टान्ते । ४ घटादौ । ५ सौगतस्य । ६ श्रेयान् । ७ तर्हि । ८ पीडा । ९ दूषणम् । १० दृष्टान्ते । ११ दार्ष्टान्तिके । १२ तृतीयो विकल्पः । १३ ज्ञायमानं । १४ सर्वथा । १५ परेण । १६ पुरुषस्य । १७ सौगत । १८ घटमहमात्मना वेद्मीति कर्त्रादौ । १९ नेदं कर्त्रादिकमिति । २० एकचन्द्र ।

1 "सम्प्रति द्वयोरेव सन्देहे अनैकान्तिकत्वं वक्तुमाह अनयोरेव अन्वय–व्यतिरेकरूपयोः सन्देहात् संशयहेतुः । उदाहरणम्—

'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति ।' .... (पृ० १०५)

कस्मादनैकान्तिकः ?

'साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्'

साध्यस्य इतरस्य च विरुद्धस्य सन्दिग्धान्वयव्यतिरेकान्निश्चयाभावात् । सपक्षविपक्षयोर्हि सपदत्त्व (सदसत्त्व) सन्देहेन साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः । नच सात्मकानात्मकाभ्यां च परः प्रकारः संभवति । ततः प्राणादिमत्त्वात् धर्मिणि जीवच्छरीरे संशयः आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ।"

न्यायबिन्दु पृ० ११० ।

2 "यच्चेदम् 'नीलमहं वेद्मि' इति ज्ञानं तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनवद्भ्रान्तमिति; असदेतत्; अबाध्यमानत्वात् । तथाहि–तैमिरिकस्य तिमिरविनाशादूर्ध्वमेकत्वज्ञाने सति द्विचन्द्रदर्शनं भ्रान्तमिति प्रतिभाति अनुत्पन्नतिमिरस्यान्यस्य, नैवं नीलमित्यादिज्ञाने विपरीतार्थग्राहकप्रमाणानुपपत्तेर्मिथ्यात्वमिति ।"

प्रश० व्योमवती पृ० ५३० ।

सद्भावाद्युक्तमसत्प्रतिभासनम्, न पुनः कर्त्रादौ; तत्र तद्विपरीताद्वैत[1]प्रसाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवेनाऽबाधक[2]त्वात्। प्रतिपादित[3]श्च बाध्यबाधकभावो ब्रह्माद्वैतविचारे तदलमतिप्रसङ्गेन[4]। अद्वैत[1]प्रसाधकप्रमाणसद्भावे च[5] द्वैता[6]पत्तितो नाद्वैतं भवेत्। प्रमाणाभावे चाद्वैताप्रसिद्धिः प्रमेयप्रसिद्धेः प्रमाणसिद्धिनिबन्धनत्वात्।

किञ्चाद्वैत[2]मित्यत्र प्रसज्य[7]प्रतिषेधः, पर्युदासो[8] वा? प्रसज्यपक्षे नाद्वैतसिद्धिः। प्रतिषेधमात्रपर्यवसितत्वात्तस्य। प्र[9]धानोप[10]सर्जनभावे[11]नाङ्गा[12]ङ्गिभा[13]वकल्पनायामपि द्वैतप्र[14]सङ्गः। पर्युदासपक्षेपि द्वैतप्रसक्तिरेव प्रमाणप्रतिपन्नस्य द्वैतलक्षणवस्तुनः प्रतिषेधेनाऽद्वैतप्रसिद्धेरभ्युपगमात्। द्वैतादद्वैतस्य व्य[15]तिरेके च[16] द्वैतानुषङ्ग एव। अव्यतिरेकेपि द्वैतप्रसक्तिरेव भिन्ना[17]दभि[18]न्नस्याभेदे(दे[19])विरोधात्[3] ॥ छ ॥

---

१ एकत्व। २ कर्त्रादेः। ३ जैनेन मया। ४ बाध्यबाधकभावसमर्थनेन। ५ किंच। ६ प्रमाणमेकमद्वैतमेकं चेति द्वैतापत्तिः। ७ प्रसक्तस्य प्रतिषेधः प्रसज्यः। ८ सदृशग्राही पर्युदासः। ९ द्वैतनिषेधस्य प्रधानभावेन अद्वैतविधेरप्रधानत्वेन। १० गौण। ११ कृत्वा। १२ विशेषण। १३ विशेष्य। १४ इदं विशेष्यमिदं च विशेषणमित्यनेन प्रकारेण द्वैतप्रसङ्गः। १५ भिन्नत्वे। १६ किञ्च। १७ द्वैतात्। १८ अद्वैतस्य। अव्यतिरिक्तस्य। १९ एकत्वे।

---

1 हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥"

आप्तमीमांसा का० २६। अष्टसह० पृ० १६०।

"अद्वैतप्रतिपादकस्य प्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतम्। प्रमाणाभावे अद्वैताऽसिद्धिः।" संमति० टी० पृ० ४२८।

2 "अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥"

आप्तमीमांसा का० २७। अष्टसह० पृ० १६१।

"किञ्च, अद्वैतमित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः, पर्युदासो वा?...द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतप्रसक्तिरेव, परस्परव्यावृत्तस्वरूपाव्यावृत्तात्मकत्वे तस्य द्विरूपताप्रसक्तेः। अव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिः।" संमति० टी० पृ० ४२८।

3 अस्य च विज्ञानाद्वैतवादस्य विविधरीत्या खण्डनं निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्—शाबरभा० बृहती, पञ्जिका, शास्त्रदीपिका १।१।५। मीमांसाश्लो० निरालम्बनवाद। योगसू०, व्यासभा०, तत्त्ववै० ४।१४। ब्रह्मसू० शां० भा० भामती २।२।२५। विधिवि० पृ० २५४। न्यायमं० पृ० ५२६। आप्तमी०, अष्टश०, अष्टसह० पृ० २४२। न्यायकुमु० पृ० ११९। यत्त्यनु० पृ० ४५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६। संमतिटी० पृ० ३४९। स्या० रत्ना० पृ० १४९। स्या० मं० का० २६।

एतेन[१] "चित्र[२]प्रति[३]भासाप्येकैव बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षण[४]त्वात्, शक्य[५]विवेचनं हि बाह्यं[६] चित्रमशक्यविवेचनास्तु बुद्धेर्[७]नीलादय[८] आकाराः" इत्यादिना चित्राद्वैतमप्युपवर्णयन्नपाकृतः; अशक्यविवेचनत्वस्यासिद्धेः । तद्धि[९] बुद्धेरभिन्नत्वं वा, सहोत्पन्नानां[१०] नीलादीनां बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवो वा, भेदेन विवेचनाभावमात्रं[११] वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यपक्षे साध्यसमो हेतुः; तथाहि[१२]–यदुक्तं[१३] भवति–'बुद्धेरभिन्ना नीलादयस्ततोऽभिन्नत्वात्' तदेवोक्तं[१४] भवति 'अशक्यविवेचनत्वात्' इति । द्वितीयपक्षेप्यनैकान्तिको हेतुः; सचराचरस्य जगतः सुगतज्ञानेन सहोत्पन्नस्य बुद्ध्यन्तरपरिहारेण तज्ज्ञानस्यैव[१५] ग्राह्यस्य तेन सहैकत्वाभावात् । एकत्वे वा संसारी सुगतः[१६] संसारिणो वा सर्वे सुगता भवेयुः[१७], संसारेतर[१८]रूपता चैकस्य[१९] ब्रह्मवादं समर्थयते । अथ सुगतसत्ताकालेऽन्यस्योत्पत्तिरेव नेष्यते[२०] तत्कथमयं दोषः ? नन्वेवं "प्रमाणभूताय" [प्रमाणसमु० १।१] इत्यादिना केनासौ[२१] स्तूयते ? कथं चापराधीनोऽसौ येनोच्यते[२२]—

"तिष्ठन्त्येव[2] पराधीना[२३] येषां च महती कृपा" [प्रमाणवा० २।१९९] इत्यादि[२४] । न खलु वन्ध्यासुताधीनः कश्चिद्[२५]भवितुमर्हति ।

१ ज्ञानाद्वैतनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । २ नानाप्रकार । ३ पूर्ववादे ज्ञानगतानां नीलाद्याकाराणां भ्रान्तत्वम् । अत्र (चित्राद्वैतवादे) ज्ञानगताकाराणां सत्यत्वम् । ४ विसदृश । ५ असिद्धो हेतुरित्युक्ते सत्याह । ६ घटपटस्तम्भादि । ७ इयं बुद्धिरमी नीलादय आकारा इति विभागः कर्त्तुं न शक्यते । ८ योगाचारः । ९ नीलादीनाम् । १० बुद्ध्या सह प्रादुर्भूतानाम् । ११ स्वरूपम् । १२ साध्येन समं हेतुं दर्शयति । १३ साध्यमेवोक्तं भवति । १४ साध्यमेवोक्तं भवति । १५ नान्यज्ञानस्य । १६ जगदभिन्नत्वात् । १७ सुगताभिन्नत्वात्सुगतस्वरूपवत् । १८ असंसार । १९ सुगतस्य । २० परेण मया । २१ पुरुषेण । २२ भवता । २३ सुगताः । २४ (निर्वाणेपि- (णेऽपि) परप्राप्तेः (परे प्राप्ते) कृपार्द्रीकृतचेतस इत्यस्योत्तरमर्द्धं ज्ञेयम्) । २५ ना ।

1 "किमिदमशक्यविवेचनत्वं नाम–ज्ञानाभिन्नत्वम्, सहोत्पन्नानां नीलादीनां ज्ञानान्तरपरिहारेण तज्ज्ञानेनैवानुभवः, भेदेन विवेचनाभावमात्रं वा ?"

न्यायकुमु० पृ० १२७ ।

2 "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिवर्द्धिताः ।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥"

अभिसमयालंकारालोक पृ० १३४ ।

"तदुक्तम्–निर्वाणेऽपि परे प्राप्ते कृपार्द्रीकृतचेतसाम् ।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ॥" न्यायकुमु० पृ० ५ ।

मार्गोपदेशोपि व्यर्थो विनेयाऽसत्त्वात्। नापि ततः कश्चित्सौगतीं गतिं गन्तुमर्हति। सुगतसत्ताकालेऽन्यस्यानुत्पत्तेस्तत्कालश्चात्यं[१]-न्तिक[२] इति। बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवश्चासिद्धः; नीलादीनां बुद्ध्यन्तरेणाप्यनुभवात्। ज्ञानरूपत्वात्तत्सिद्धौ चान्यो-न्याश्रयः—सिद्धे हि ज्ञानरूपत्वे नीलादीनां बुद्ध्यन्तरपरिहारेण विवक्षितबुद्ध्यैवानुभवः सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ च ज्ञानरूपत्वमिति। भेदेन विवेचनाभावमात्रमप्यसिद्धम्[1]; बहिरन्तर्देशसम्बन्धित्वेन नीलतज्ज्ञानयोर्विवेचनप्रसिद्धेः। एक[३]स्या[४]क्रमे[५]ण[६] नीलाद्यनेकाकारव्यापित्ववत् क्रमेणाप्यनेकसुखाद्याकारव्यापित्वसिद्धेः सिद्धः कथञ्चिदक्षणिको नीलाद्यनेकार्थव्यवस्थापकः प्रमातेत्यद्वैताय दत्तो जलाञ्जलिः ॥ छ ॥

ननु चाक्रमेणाप्येकस्यानेकाकारव्यापित्वं नेष्य[११]ते।

"किं[१२] स्या[१३]त्सा[१४] चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां[१५] मता[१६]वपि।

यदीदं[१७] स्वयमर्थे[१८]भ्यो रोचते तत्र के वयम्[2] ॥"

[प्रमाणवा० ३।२१०]

---

१ अन्योत्पत्तिरहिता (?)। २ संसारिणामेवोत्पत्तिरहितः (?)। ३ किञ्च। ४ एकस्य बोधस्य। ५ चित्राद्वैतवादिनः। ६ युगपत्। ७ ग्राहकः। ८ पुरुषः। ९ जैनं प्रति माध्यमिको ब्रूते। १० भावस्य। ११ परेण मया माध्यमिकेन। १२ मम दूषणं किं स्यात्। १३ चित्रत्वेनाभिप्रेतायां मतौ एकस्यां सा चित्रता न स्यात्तदा किं स्यान्मम दूषणम्। १४ प्रसिद्धा। १५ चित्रत्वेनाभिप्रेतायां। १६ बुद्धौ। १७ चित्रत्वम्। १८ ज्ञानेभ्यः।

---

1 "अशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तम्–नीलतद्वेदनयोः अशक्यविवेचनत्वासिद्धेः, अन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः।" अष्टसह० पृ० २५४।

2 "अत्र देवेन्द्रव्याख्या–यदि नामैकस्यां मतौ न सा चित्रता भावतः स्यात्। किं स्यात् को दोषः स्यात्। तथा च भावतश्चित्रया मत्या भावा अपि चित्रा सिध्यन्ति" तद्वदेव च सत्या भविष्यन्तीति प्रष्टुरभिप्रायः। शास्त्रकार आह–न स्यात्तस्यां मतावपि इति। व्याहतमेतत्–एका चित्रा च इति। एकत्वे हि सत्यनानारूपापि वस्तुतो नानाकारतया प्रत्यवभासते न पुनर्भावतस्ते तस्य आकाराः सन्तीति बलादेष्टव्यम्। एकत्वहानिप्रसंगात्। नहि नानात्वैकत्वयोः स्थितेरन्यः कश्चिदाश्रयोऽन्यत्र भाविकाभ्यामाकारभेदाभेदाभ्याम्। तत्र यदि बुद्धिर्भावतो नानाकारैका चेष्यते तदा सकलं विश्वमप्येकं द्रव्यं स्यात्, तथात्र सहोत्पत्त्यादिदोषः। तस्मान्नैकाऽनेकाकारा। किन्तु यदीदं स्वयमर्थानां रोचते अतद्रूपाणामपि सतां यदेतत्ताद्रूप्येण प्रख्यानं तदेतद्वस्तुत एव स्थितं तत्त्वमिति। तत्र के वयं निषेद्धारः? एवमस्तु इत्यनुमन्यत इति।"

स्या० रत्ना० पृ० १८०।

इत्यभिधानात् । तत्कथं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन क्रमेणाप्येक[1]स्यानेकाकारव्यापित्वं साध्येत[2]? तदप्यसमीचीनम्; एवं[3]मतिसूक्ष्मेक्षि[4]कया विचारयतो माध्यमिकस्य सकलशून्यतानुषङ्गात् । तथा हि-नी[1]ले प्रवृत्तं ज्ञानं पीतादौ न प्रवर्त्तते इति पीतादेः सन्तानान्तरवदभावः । पीतादौ च प्रवृत्तं तन्नीले न प्रवर्त्तते इत्यस्याप्यभावस्तद्वत् । नीलकुवलयसूक्ष्मांशे च प्रवृत्तिमज् ज्ञानं नेतरांशनिरीक्षणे क्षममिति तदंशानामप्यभावः । संविदितांशस्य चाव[5]शिष्टस्य स्वयमनंशस्याप्रतिभासना[6]त्सर्वा[7]भावः । नीलकुवलयादि[9]संवेदनस्य स्व[8]यमनुभवात्स[9]त्त्वे च अ[10]न्यैरनुभ[11]वात्सन्तानान्तराणामपि तदस्तु । अ[12]थान्यै[13]रनु[14]भूयमानसंवेदनस्य स[15]द्भावासि[16]द्धेस्तेषामभावः, तर्हि तन्निषेधासि[17]द्धेस्तेषां सद्भावः किन्न स्यात्? अ[18]थ तत्संवेदनस्य सद्भावासिद्धिरेवाभा[19]वसिद्धिः; नन्वेवं तन्निषेधासिद्धिरेव तत्सद्भावसिद्धिरस्तु । भा[20]वाभावाभ्यां परसंवेदनसन्देहे चैकान्ततः सन्तानान्तरप्रतिषेधासिद्धेः । कथं च ग्रामारामादिप्रतिभासे प्रतीतिभूधरशिखरारूढे सकलशून्यताभ्युपगमः प्रेक्षावतां युक्तः प्रतीतिबाधनात्? दृ[21]ष्टहानेरदृ[22]ष्टकल्पनायाश्चानुषङ्गात् ।

किञ्च, अखि[2]लशून्यतायाः प्रमाणतः प्रसिद्धिः, प्रमाणमन्तरेण

---

१ बोधस्य । २ भवता जैनेन । ३ चित्रकज्ञानस्य नानात्वसमर्थनप्रकारेण । ४ ज्ञानेन । ५ उद्धृतस्य । ६ नीलकुवलयस्य । ७ चित्र । ८ स्वेनैव । ९ नीलकुवलयस्य । १० सन्तानान्तरैः । ११ स्वयम् । १२ भो माध्यमिक । १३ सन्तानान्तरैः । १४ स्वयम् । १५ नीलकुवलयसंवेदनवादिनं प्रति । १६ साधकप्रमाणाभावात् । १७ बाधकप्रमाणाभावात् । १८ भो माध्यमिक । १९ अन्यैरनुभूयमानसंवेदनस्य । २० माध्यमिको ब्रूते—अन्यसंवेदनसद्भावे साधकं प्रमाणं नोपन्यस्तं भवद्भिः । अस्माभिश्च बाधकं प्रमाणं नोपन्यस्तमिति परसंवेदनसन्देहः (इत्युक्ते जैनः प्राह)। २१ ग्रामादि । २२ सकलशून्यत्वस्य ।

---

1 "नन्वेवं नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणुभेदात् नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यं तत्र एकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येवं वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात् त्रितयेन भवितव्यम् । वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकमपरस्ववेद्यादिसंवेदनत्रयेण इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानान्न क्वचिदेकवेदनसिद्धिः संविदद्वैतविद्विषाम् ।"

अष्टसह० पृ० ७७ । न्यायकुमु० पृ० १३४ ।

2 "प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । न्यायसू० ४।२।३०। "एवं च सति सर्वं नास्तीति नोपपद्यते । कस्मात्? प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्, यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते; 'सर्वं नास्ति' इत्येतद्व्याहन्यते । अथ प्रमाणं नोपपद्यते; सर्वं नास्तीत्यस्य कथं सिद्धिः? अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धिः; सर्वमस्ति इत्यस्य कथन्न सिद्धिः?"

च्या? प्रथमपक्षे कथं सकलशून्यता वास्तवस्य तत्सद्भावावेदकप्रमाणस्य सद्भावात्? द्वितीयपक्षे तु कथं[1] तस्याः सिद्धिः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणसिद्धिनिबन्धनत्वात्? तदेवं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् प्रतीतिसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्याभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्यात्॥ छ॥

अथेदानीं प्राक् प्रतिज्ञातं स्वव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानविशेषणं व्याचिख्यासुः[2] स्वोन्मुखतयेत्याद्याह—

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

स्वस्य विज्ञानस्वरूपस्योन्मुखतोल्लेखिता[3] तया इतीत्थंभावे भा[4]। प्रतिभासनं संवेदनमनुभवनं स्वस्य प्रमाणत्वेनाभिप्रेतविज्ञानस्वरूपस्य सम्बन्धी व्यवसायः।

स्वव्यवसायसमर्थनार्थमर्थव्यवसायं स्वपर[5]प्रसिद्धम् 'अर्थस्य' इत्यादिना दृष्टान्तीकरोति।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥ ७ ॥

इवशब्दो यथार्थे। यथाऽर्थस्य घटादेस्तदुन्मुखतया स्वोल्लेखि[6]तया प्रतिभासनं व्यवसायः तथा ज्ञानस्यापीति।

स्यान्मतम्[7]—न ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमचेतनत्वाद् घटादिवत्। तद[8]चेतनं प्रधानविवर्त्तत्वात्तद्वत्। यत्तु चेतनं तन्न प्रधानविवर्तः, यथात्मा; इत्यप्यसङ्गतम्; तस्या[9]त्मविवर्त्तत्वेन[10] प्रधानविवर्त्तत्वासिद्धेः; तथाहि-ज्ञानविवर्त्तवानात्मा[11] दृष्टृत्वात्[12]। यस्तु न तथा स

१ पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानस्यार्थव्यवसायात्मकत्वे समर्थिते सति। २ व्याख्यातुमिच्छुः। ३ ग्राहकता। ४ तृतीया। ५ वादिप्रतिवादिप्रसिद्धम्। ६ अर्थे। ७ तव साङ्ख्यस्य। ८ ज्ञानम्। ९ ज्ञानस्य। १० पर्यायत्वेन। ११ जैनानुमानम्। १२ चेतयितृत्वात्।

न्यायभा० ४।२।३०। प्रश० व्योमवती पृ० ५३२। अष्टसह० पृ० ११५। सन्मति० टी० ४५५। स्या० म० का० १७। रत्नाकरावता० पृ० ३२।

1 "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः···।" सांख्यका० २२।

"तस्याः प्रकृतेर्महान् उत्पद्यते प्रथमः कश्चित्। महान् बुद्धिः मतिः प्रज्ञा संवित्तिः ख्यातिः चितिः स्मृतिरासुरी हरिः हरः हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः।"

माठरवृत्ति, गौडपादभा० २२। सांख्यसं० पृ० ६।

2 "तथापरिणामवानात्मा द्रष्ट (ष्टृ) त्वात्। यस्तु ज्ञानपरिणामवान्न भवति नासौ द्रष्टा यथा लोष्टादिः, द्रष्टा चात्मा तस्माज्ज्ञानपरिणामवानिति।" स्या० रत्ना० पृ०२३४।

न द्रष्टा यथा घटादिः, द्रष्टा चात्मा तस्मात्त[1]द्विवर्त्तवानिति। प्रधानस्य ज्ञानवत्त्वे तु तस्यैव द्रष्टृत्वानुषङ्गादात्मकल्पनानर्थक्यम् । 'चेतनोऽहम्' इत्यनुभवाच्चैतन्यस्वभावतावच्चा[2]त्मनो 'ज्ञाताऽहम्' इत्यनुभवाद् ज्ञानस्वभावताप्यस्तु विशे[3]षाभावात् । ज्ञा[1]नसंसर्गात् 'ज्ञाताऽहम्' इत्यात्मनि प्रतिभासो न पुनर्ज्ञानस्वभावत्वादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; चैतन्यादिस्वभावस्याप्यभावप्रसङ्गात्। चै[4]तन्यसंसर्गाद्धि चेतनो भोक्तृत्वसंसर्गाद्भोक्तौदासीन्यसंसर्गादुदासीनः शु[5]द्धिसंसर्गाच्छुद्धो न तु स्वभावतः । प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधो[6]भयत्र। न खलु ज्ञानस्वभावताविक[7]लोऽयं कदाचनाप्यनु[8]भूयते, तद्विकलस्यानुभवविरोधात्।

आत्मनो ज्ञानस्वभाव[9]त्वेऽनित्यत्वापत्तिः प्रधानेपि समाना । तत्परिणामस्य व्य[10]क्त[2]स्या[11]नित्यत्वोपगमात् अ[12]दोषे तु, आत्मपरिणामस्यापि ज्ञानविशेषादेरनित्यत्वे को दोषः? तस्यात्म[13]नः कथञ्चिद्व्यति[14]रेके[15] भङ्गु[16]रत्वप्रसङ्गः प्रधानेपि समानः। व्यक्ता[17]व्यक्त[18]योरव्यतिरेकेपि व्यक्तमेवानित्यं परिणामत्वान्न पुनरव्यक्तं परिणामित्वादित्यभ्युपगमे, अत एव ज्ञानात्मनोरव्यतिरेकेपि ज्ञानमेवानित्यमस्तु विशेषाभावात्। आत्मनोऽपरिणामित्वे तु प्रधानेपि तदस्तु।

---

१ ज्ञान। २ आशङ्कायाम्। ३ चैतन्यस्वभावतया अनुभवः, ज्ञानस्वभावताया अनुभव इत्यविशेषः। ४ कथं तथा हि। ५ नैर्मल्य। ६ आत्मनश्चैतन्यादिस्वभावाभावे ज्ञानस्वभावाभावे च। ७ आत्मा। ८ आत्मा आत्मना। ९ ज्ञानमनित्यमिति वचनात् ज्ञानस्वरूपवत्। १० महदादेः। ११ ज्ञानादेः। १२ प्रधानस्यानित्यत्वापत्तिलक्षणोऽदोषः। १३ का। १४ अभेदे। १५ आत्मनः। १६ विनश्वरत्व। १७ महदादेः। १८ प्रधानस्य।

---

1 "ननु ज्ञानसंसर्गाज्ज्ञाताऽहमित्यात्मनि प्रतिभासो न पुनर्ज्ञानस्वभावत्वादिति चेत्; तदपि न्यायबाह्यम्; चैतन्यादिस्वभावस्याप्येवमभावप्रसक्तेः। चैतन्यसंसर्गाद्धि चेतनो भोक्तृत्वसंसर्गाद् भोक्ता औदासीन्यसंसर्गादुदासीनः शुद्धिसंसर्गात् शुद्धो न तु स्वभावादित्यपि वक्तुं शक्यत एव।" स्या० रत्ना० पृ० २३५।

2 "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥" सांख्यका० १०।

"प्रधानस्य चाऽनित्याद् व्यक्तादनर्थान्तरभूतस्य नित्यतां प्रतीयन् पुरुषस्यापि ज्ञानादशाश्वतादनर्थान्तरभूतस्य नित्यत्वमुपैतु सर्वथा विशेषाभावात्।" आप्तप० पृ० ४१।

"नचात्मनः अनित्यज्ञानपरिणामात्मके अनित्यत्वापत्तिः; प्रधानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। व्यक्ताऽव्यक्तयोरभेदेऽपि व्यक्तमेवाऽनित्यं परिणामत्वात् नत्वव्यक्तं परिणामित्वादित्यन्यत्रापि समानम्।" न्यायकुमु० पृ० १९१। स्या० रत्ना० पृ० २३५।

व्यक्तापेक्षया[1] परिणामि प्रधानं न शक्त्यपेक्षया[2] सर्वदा स्थास्नुत्वादित्य[3]भिधाने तु आत्मापि तथा[4]स्तु सर्वथा विशेषाभावात्, अपरिणामिनोऽर्थक्रियाकारित्वासम्भवेनाग्रेऽसत्त्वप्रतिपादनाच्च[5]। स्वसंवेदनप्रत्यक्षाविषयत्वे च[6]ास्याः[7] प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं न स्यात्। तद्व्यवस्थापकत्वं हि तदनुभवनम्, तत्कथं बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे घटेत? आ[8]त्मान्तरबुद्धितोपि त[9]त्प्रसङ्गात्, न चै[10]वम्। ततो बुद्धिः स्वव्यवसायात्मिका का[11]रणान्तरनिरपेक्षतयाऽर्थव्यवस्थापकत्वात्, यत्पुनः स्वव्यवसायात्मकं न भवति न तत्त[12]थाऽर्थव्यवस्थापकं यथाऽऽदर्शादीति। अर्थव्यवस्थितौ तस्याः पुरुषभोगा[13]पेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्य[14]वसितमर्थं पुरुषश्चेत[15]यते" [ ] इत्यभिधानात्। ततोऽसिद्धो[16] हे[17]तुरित्यपि श्र[18]द्धामात्रम्; भेदेनानयो[19]र[20]नुपलम्भात्। एकमेव[1] ह्यनुभवसिद्धं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारं विषयव्यवस्थापकमनुभूयते, तस्यैवैते 'चैतन्यं बुद्धिरध्यवसायो ज्ञानम्' इति पर्यायाः। न च शब्दभेदमात्राद्वास्तवोऽर्थभेदो[21]ऽतिप्र[22]सङ्गात्।

सं[23]सर्ग[2]विशेषवशाद्वि[24]प्रलब्धो बुद्धिचैत[25]न्ययोः स[26]न्तमपि भेदं

---

१ महदादि, द्वितीयपक्षे सुखादि। २ सूक्ष्मस्वभावा द्वितीयपक्षे साम्यावस्था शक्तिः। ३ परेण। ४ व्यक्त्यपेक्षया परिणाम्यस्तु। ५ व्यक्त्यपेक्षया परिणाम्यस्तु। ६ किञ्च। ७ बुद्धेः। ८ अन्यथा। ९ पुरुषान्तर। १० स्वस्य। ११ व्यक्तिलक्षणाया बुद्धेः बुद्धिलक्षणात्कारणादपरं कारणान्तरमिन्द्रियम्। १२ कारणनिरपेक्षतया। १३ अनुभवः स एव कारणम्। १४ बुद्धिप्रतिबिम्बितम्। १५ अनुभवति। १६ कारणान्तरसापेक्षतया। १७ बुद्धेः। १८ भो साङ्ख्य। १९ बुद्धिपुरुषयोः। २० बुद्ध्यनुभवयोः। २१ अन्यथा। २२ इन्द्रः शक्र इत्यादौ स स्यात्। २३ सम्बन्ध। २४ वञ्चितो नरः। २५ चैतन्यं पुरुषस्य रूपम्। २६ विद्यमानम्।

---

1 "एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः।"

न्यायमं० पृ० ७४। न्यायकुमु० पृ० १९३।

"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। न्यायसू० १।१।१५। प्रश० भा० पृ० १७१।

"बुद्धिरध्यवसायो हि संवित्संवेदनं तथा।
संवित्तिश्चेतना चेति सर्वं चैतन्यवाचकम्॥" तत्त्वसं० का० ३०३।

सन्मति० टी० पृ० ३००। स्या० रत्ना० पृ० २३८।

2 "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ २०॥

यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्मात् तत्संयोगादचेतनं महदादि लिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्त्तते। को दृष्टान्तः? तद्यथा–

ना[1]वधारयत्ययोगोलकादिवाग्नेः । न चात्रापि भेदो ना[2]स्तीत्यभि[3]धातव्यम्; उभ[4]यत्र रूपस्पर्शयोर्भेदप्रतीतेः । अयोगोलकस्य हि [5]वृत्तसन्निवेशः कठिनस्पर्शश्चान्योऽग्नि(ग्ने)र्भासुररूपोष्णस्पर्शाभ्यां प्र[6]माणतः प्रतीयते । ततो यथात्रा[7]ऽन्योऽन्यानुप्रवेशलक्षणसंसर्गाद्विभाग[8]प्रतिपत्त्यभावस्तथा प्र[9]कृतेपीत्यप्यसाम्प्रतम्; [1]वह्न्ययोगोलकयोरप्यभेदात् । अयोगोलकद्रव्यं हि पूर्वा[10]कारपरित्यागेनाग्निसन्निधानाद्विशिष्टरूपस्पर्शपर्यायाधारमेकमेवोत्पन्नमनुभूयते आमाकारपरित्यागेन पाकाकाराधारघटद्रव्यवत् । कथं तर्हि त[11]स्योत्तरकालं तत्पर्यायाधारताया विनाशप्रतीतिः? इत्यप्यचोद्यम्; उत्पत्त्यनन्तरमेव तद्विनाशाप्रतीतेः । किञ्चिद्ध्यौपाधिकं वस्तुरूपमुपा[12]ध्यपाया[13]नन्तरमेवापै[14]ति, यथा जपापुष्पसन्निधानोपनीतस्फटिकरक्तिमा । किञ्चित्तु का[15]ला[16]न्तरे, मनोज्ञाङ्गनादि[17]विषयोपनीतात्मसुखादिवत् । सकलभा[18]वानां स्वतोऽन्यतश्च निव[19]र्त्तनप्रती[20]तेः । तन्नाग्न्ययोगोलकयोर्भेदः ।

त[21]द्वदि[22]हाप्येकस्मिन् स्वपरप्रकाशात्मपर्यायेऽ[23]नुभूयमाने ना[24]न्यसद्भावोऽभ्युपगन्त[25]व्यः, अन्यथा न क्व[26]चिदेकत्वव्यवस्था स्यात् । सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च; [27]अनि[28]ष्टार्थपरिहारे[29]णेष्टे वस्तुन्येकस्मिन्ननुभूयमाने[30]ऽप्यन्यसद्भावाशङ्कया [31]क्वचित्प्रवृत्त्या[32]द्यभावात् । ततोऽबाधितैकत्वप्रतिभासादपरपरिहारेणावभासमाने वस्तुन्ये-

---

१ निश्चिनोति । २ अयोगोलकाग्न्योः । ३ जैनेन भवता । ४ अयोगोलकाग्न्योः । ५ वर्तुलाकारः । ६ प्रत्यक्षात् । ७ अयोगोलकाग्न्योः । ८ भेद । ९ बुद्धिचैतन्ये (तन्ययोः) । १० कृष्णत्वादिलक्षण । ११ अयोगोलस्य । १२ करण । १३ विनाश । १४ अपगच्छति । १५ उपाध्यपाये सति । १६ अपैति । १७ स्रक्चन्दनादि । १८ पदार्थ । १९ परिणमन । २० चूतफलादिवत् । २१ अयोगोलकवत् । २२ बुद्धिचैतन्ये (तन्ययोः) । २३ स्वयम् । २४ चैतन्य । २५ परेण । २६ विषये । २७ कथम् । २८ अहिकण्टकादि । २९ वनितादौ । ३० अहिकण्टकादि । ३१ विषये । ३२ निवृत्ति ।

अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भिः संसृष्टः शीतो भवति, अग्निना संयुक्त उष्णो भवति, एवं महदादिलिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति ।”

माठरवृत्ति, गौडपादभा० ।

1 “वह्न्ययोगोलकयोरपि अन्योन्यं भेदाभावात् । अयोगोलकद्रव्यं हि पूर्वाकारपरित्यागेन अग्निसन्निधानाद् विशिष्टरूपस्पर्शपर्यायाधारमेकमेवोत्पन्नमनुभूयते आमाकारपरित्यागेन पाकाकाराधारघटद्रव्यवत् ।”

न्यायकुमु० पृ० १९३ । स्या० रत्ना० पृ० २३७ ।

कत्वव्यवस्थामिच्छतां अनुभवसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनेकधर्माधार[2]चिद्विवर्त्त[3]स्याप्येकत्वमभ्युपगन्तव्यं तदविशेषात्। न चात्रैकत्वप्रतिभासे[4] किञ्चिद्बाधकम्, यतो द्विचन्द्रादिप्रतिभासवन्मिथ्यात्वं स्यात्। स्वसंवेदनप्रसिद्धस्वपरप्रकाशरूपचिद्विवर्त्तव्यतिरेकेणान्यचैतन्यस्य कदाचनाप्यप्रतीतेः। न चोपदेश[5]मात्रात्प्रेक्षावतां निर्बाधबोधाधिरूढो[6]ऽर्थो[7]ऽन्यथा[8] प्रतिभासमानो[10]ऽन्यथापि[11] कल्पयितुं युक्तोऽतिप्रसङ्गात्[12]। चैतन्यस्य च स्वपरप्रकाशात्मकत्वे किं बुद्धिसाध्यं येना[13]सौ कल्प्यते?

[1]बुद्धे[14]श्चाचेतनत्वे विषयव्यवस्थापकत्वं न स्यात्। आ[15]कारवत्त्वात्तत्त्वमित्यप्ययुक्तम्; अचेतनस्याकारत्वे(रवत्त्वे)प्यर्थव्यवस्थापकत्वासम्भवात्, अन्यथाऽऽदर्शा[16]देरपि तत्प्रसङ्गाद्बुद्धिरूपतानुषङ्गः। अन्त[17]ःकरणत्व-पुरुषोपभोग[18]प्रत्यासन्नहेतु[19]त्व[20]लक्षणविशेषोपि मनोऽक्षादि[21]नानैकान्तिकत्वान्न[22] बुद्धे[23]र्लक्षणम्। यदि च अ[24]यमेकान्तः-'अन्तःकरणमन्तरेणार्थमात्मा न प्रत्येति' इति, कथं तर्हि अ[25]न्तःकरण[26]प्रत्यक्षता? अन्यान्त[27]ःकरणबिम्बादेवेति चेत्; अनवस्था। अन्यान्त[28]ःकरणबिम्बमन्तरेणान्तःकरणप्रत्यक्षतायां च अर्थप्रत्यक्षतापि तथैवास्त्वलं तत्परिकल्पनया। अन्तःकरणप्रत्यक्षताभावे च कथं तद्गता[30]र्थबिम्बग्रहणम्? न ह्यादर्शाग्रहणे तद्गतार्थप्रतिबिम्बग्रहणं दृष्टम्।

[2]विषयाकारधारित्वं च बुद्धेरनुपपन्नम्, मूर्त्तस्यामूर्त्ते प्रति-

१ परेण। २ आत्मनः। ३ बोधस्य। ४ प्रमाणं। ५ आगमात्। ६ बुद्धिलक्षण। ७ एकत्वेन। ८ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष। ९ बुद्धिलक्षणः। १० एकत्वेन प्रतिभासमानः। ११ बुद्धिचैतन्यमिति द्वयरूपतया। १२ अन्यथा। १३ केन कारणेन। १४ किञ्च। १५ अर्थाकारवत्त्वात्। १६ जलादेः। १७ मध्ये (?)। १८ अनुभव। १९ कारणं बुद्धिरूपम। २० व्यस्तलक्षण। २१ अदृष्ट। २२ अतिव्याप्तेः। २३ अन्तःकरणत्वं बुद्धेर्लक्षणमित्युक्ते मनसा व्यभिचारः। कथं मनो ह्यन्तःकरणं भवति न च तस्य बुद्धिरूपता पुरुषोपभोगप्रत्यासन्नहेतुत्वं बुद्धेर्लक्षणमित्युक्ते चाक्षादिना व्यभिचारस्तथाहि—पुरुषोपभोगप्रत्यासन्नहेतुरिन्द्रियं भवति न च तस्य बुद्धिरूपता। २४ किञ्च। २५ बुद्धिम्। २६ बुद्धि। २७ आकार। २८ बुद्धि। २९ बुद्धि। ३० अन्तःकरणगतार्थं।

1 "न चास्या वास्तवचैतन्याभावे विषयव्यवस्थापनशक्तिर्युक्ता।" न्यायकुमु० पृ० १९३। स्या० रत्ना० पृ० २३८।

2 "न विषयाकारधारि ज्ञानममूर्त्तत्वात्, यदमूर्त्तं तद् विषयाकारधारि न भवति यथा आकाशम्, अमूर्त्तञ्च ज्ञानमिति। तद्धारित्वे वा अमूर्त्तत्वमस्य विरुध्यते।" न्यायकुमु० पृ० १९३। स्या० रत्ना० पृ० २३८।

विम्बासम्भवात्। तथा हि—न विषयाकारधारिणी बुद्धिरमूर्त्तत्वादाकाशवत्, यत्तु विषयाकारधारि तन्मूर्त्तं यथा दर्पणादि। न चासिद्धो हेतुः; तस्याः सकलवादिभिरमूर्त्तत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो दर्पणादिवदेव। अतिसूक्ष्मत्वात्तदप्रत्यक्षत्वे तद्गतार्थ[२]प्रतिविम्बप्रत्यक्षतापि न स्यात्। मूर्तस्य [३]चेन्द्रियादिद्वा[४]रेणैव संवेदनसम्भवात्। तदभावेऽसंविदितत्वप्रसङ्गश्च। सर्वथा परोक्षत्वाभ्युपगमे चा[५]स्या मीमांसकमतानुषङ्गः॥ छ॥

[६]एतेन बौद्धो[७]प्या[८]कारवत्त्वेन[1] ज्ञाने प्रामाण्यं प्रतिपादयन्प्रत्याख्यातः। प्रत्यक्षविरोधाच्च[१०]; प्रत्यक्षे[११]ण[१२] विषया[१३]काररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घ[१४]टादिग्राहकमनुभू[१५]यते न पुनर्दर्पणादिवत्प्रतिविम्बाक्रान्तम्। विषयाकारधारित्वे[2] च[१६] ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराभावप्रसङ्गः। न खलु स्वरूपे स्वतोऽभिन्नेऽनुभूयमाने सो[१७]स्ति, न[१८] चैवम्; 'दूरे पर्वतो निकटे मदीयो बाहुः' इति व्यवहारस्याऽस्ख[१९]लद्रूपस्य प्रती[२०]तेः। त[२१]तस्तदन्यथानुपपत्तेर्निराकारं तत्। न चाकाराधाय[२२]कस्य दूरादितया तथा व्यवहारो

---

१ हेतोः। २ पदार्थस्य। ३ किञ्च। ४ आलोकादि। ५ किञ्च। ६ बुद्धेर्विषयाकारधारित्वनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। ७ योगाचारः। ८ सौत्रान्तिकः (?)। ९ पदार्थस्य। १० किञ्च। ११ सौत्रान्तिकः (?)। १२ स्वसंवेदनेन। १३ अर्थ। १४ पदार्थ। १५ स्वयं ज्ञानेन। १६ किञ्च। १७ दूरनिकटादिव्यवहारः। १८ अस्त्वेवमिति चेत्। १९ अव्यभिचरत्। २० प्रतिभासनात्। २१ साकारत्वे दूरनिकटादिव्यवहारो न घटते यतः। २२ समर्पकस्य पदार्थस्य।

---

1 "स्वसंवित्तिः फलञ्चास्य ताद्रूप्यादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥" प्रमाणसमु० १।१०।

"अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्।" न्यायवि० १।१९।

2 "दूरासन्नादिभेदेन व्यक्ताव्यक्तं न युज्यते।
तत्स्यादालोकभेदाच्चेत् तत्पिधानापिधानयोः॥
तुल्या दृष्टिरदृष्टिर्वा सूक्ष्मोंशस्तस्य कश्चन।
आलोकेन न मन्देन दृश्यतेऽतो भिदा यदि॥"
प्रमाणवा० ३।४०८–९।

"स्वतोऽभिन्नस्य चाकारस्य ज्ञानग्राह्यत्वे अर्थे दूरातीतादिव्यवहारो न स्यात्।"
न्यायकुमु० पृ० १६९।

युक्तः, दर्पणादौ तथानुपलम्भात्। दीर्घ[1]स्वाप[१]वतश्च[२] प्रबोध[३]चेतसो जनकस्य जाग्रद्दशाचेतसो दूरत्वेनातीतत्वेन चात्रापि दूरातीतादिव्यवहारानुषङ्गः स्यात्।

किञ्च, अर्था[3]दुपजायमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि; तर्हि जडमेव तत् स्यादुत्तरार्थक्षणवत्। अथ जडतां नानुकरोति; कथं तस्या ग्रहणम्[४]? तदग्रहणे नीलाकारस्याप्यग्रहणम्[५] अन्यथा[६] तयो[७]र्भेदो[८]ऽनेकान्तो वा। नीलाकारग्रहणेपि च, [९]अगृहीता जडता कथं तस्येत्युच्येत? [१०]अन्यथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्य(क्यं)रूपं भवेत्। तथा[११] चैकोपलम्भो[१२] नैक[१३]त्वसाधनम्। अथ नीलाकारवज्जडतापि प्रतीयते किन्त्व[१४]तदा[१५]कारेण[१६] ज्ञानेन, न; तर्हि नीलताप्यतदा[१७]कारेणैवानेन प्रतीयताम्। तथाहि—यद्येन[१८] स्वा[१९]त्मनोऽर्थान्तरभूतं प्रतीयते तत्तेनातदाकारेण यथा स्तम्भादेर्जाड्यम्, प्रतीयते च स्वात्मनोऽर्थान्तरभूतं नीलादिकमिति। किञ्च, नीलाकारमेव ज्ञानं जडतां प्रतिपद्यते, ज्ञानान्तरं[२०] वा? आद्यविकल्पे नीलाकारतां स्वात्मभूत[२१]तया, जडतां त्व[२२]न्यथा[२३] तज्जानातीत्य[2]र्द्धजरतीयन्यायानुसरणं ज्ञानस्य। अथ ज्ञानान्तरेण सा

---

१ पुरुषस्य। २ किञ्च। ३ ज्ञानस्य। ४ पुरुषस्य। ५ परिच्छित्तिः। ६ जडताग्रहणेपि नीलस्य ग्रहणं चेत्। ७ नीलजडयोः। ८ गृह्यमाणाऽगृह्यमाणधर्मावेकस्यार्थस्येति च। ९ किञ्च। १० अगृहीतापि नीलस्य धर्मश्चेत्। ११ यतः। १२ ज्ञानम्। १३ किन्त्वनेकत्वसाधनम्। १४ विशेषे। १५ अजडाकारेण। १६ निराकारेण। १७ अनीलाकारेण। १८ नीलादिकं धर्मी अतदाकारेण ज्ञानेन प्रतीयते इति साध्यो धर्मः। तेन स्वात्मनोऽर्थान्तरभूततया प्रतीयमानत्वात्। १९ ज्ञानरूपात्। २० कर्तृ। २१ नीलाकारतया। २२ अजडाकारतया। २३ अस्वात्म(अस्वात्म)भूततया चेत्।

---

1 "न चाकाराधायकस्य दूरातीतत्वात्तथा व्यवहारः इत्यभिधातव्यम्; जाग्रच्चेतसो दूरातीतत्वेन प्रबोधचेतसि तथा व्यवहारप्रसङ्गात्।" न्यायकुमु० पृ० १६९।

2 "अथ नीलतां तत्तदाकारतया प्रतिपद्यते जडतां त्वतदाकारतया तदिदमर्धजरतीयन्यायानुसरणम्।" न्यायकुमु० पृ० १६८।

"अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं नेति।" पात० महाभाष्य ४।१।७८।

"अर्धं मुखमात्रं वृद्धायाः कामयते नाङ्गानि सोऽयमर्धजरतीयन्यायः।" ब्रह्मसू० शा० भा० रत्नप्रभा १।२।८।

3 "अर्थेन सर्वात्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसक्तेः उत्तरार्थक्षणवत्।" शास्त्रवा० टी० पृ० १५९ पू०।

प्रतीयते; तदप्यतदाकारं यथा जडतां प्रतिपद्यते तथाद्यं[1](द्यं)नीलतामिति व्यर्थं तदाकारकल्पनम्।

किञ्च, ज्ञानान्तरेण जडतैव केवला[2] प्रतीयते, तद्वन्नीलतापि[3] वा? न तावदुत्तरपक्षः; अर्द्धजरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात्। प्रथमपक्षे तु नीलताया जडतेयमिति कुतः प्रतीतिः? नाद्यज्ञानात्[4]; तेन नीलाकारमात्रस्यैव प्रतीतेः[5]। नापि द्वितीयात्[6]तस्य जडतामात्रविषयत्वात्[7]। अथोभयविषयं[8] ज्ञानान्तरं[9] परिकल्प्यते[10], तच्चेदुभयत्र[11] साकारम्; स्वयं[12][13] जडतां[14]। निराकारं चेत्; परमत[15]प्रसङ्गः। क्वचित्[16]साकारतायामुक्तदोषोऽनवस्था[17]।

ननु निराकारत्वे ज्ञानस्याखिलं निखिलार्थवेदकं तत्स्यात् कंचित्[18]प्रत्यासत्ति[19]विप्रकर्षा[20]भावादित्यप्यपेशलम्; प्रतिनियतसामर्थ्येन तत्[21]तथा[22]भूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रे वक्ष्यते। 'नीलाकारवज्जडाकारस्याऽदृष्ट[23]न्द्रियाद्या[24]कारस्य चा[25]नुकरणप्रसङ्गः कारण[26]त्वाविशेषात्[27]प्रत्यासत्तिविप्रकर्षा[28]भावाच्च' इति चोद्ये[29] भवतो[30]पि योग्यतैव शरणम्।

यच्चोच्यते[31]–'[1]यथैवाहारकालादेः[32] समाने[33]ऽपत्यं जननीपित्रो[34]स्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्, तथा चक्षुरादेः कारणत्वाविशेषेपि नीलस्यैवाकारमनुकरोति ज्ञानं नान्यस्य' इति; तन्निरा[35]कारज्ञानेपि समानम्। तत्कार्य[36]त्वाविशेषेपि हि यया प्रत्यासत्त्या[37] ज्ञानं[38] नील[39]मेवानुकरोति तयैव सर्वत्रा[40]नाकारत्वाविशेषेपि

---

१ आद्यज्ञानम्। २ नीलतारहिता। ३ जडतया युक्ता नीलता। ४ प्रथमज्ञानात्। ५ न जडतायाः। ६ ज्ञानान्तरात्। ७ न नीलतायाः। ८ जडता नीलता (च) विषयो यस्य। ९ तृतीयम्। १० परेण। ११ नीलतायां जडतायां च। १२ स्यात्। १३ स्वस्य। १४ ज्ञानस्य। १५ जैन। १६ नीलतायाम्। १७ उक्तदोषपरिहारार्थं ज्ञानान्तरेण जडता प्रतीयते इति चेद्व(द)न्यानवस्था। १८ अर्थे। १९ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्ध। २० तदभाव। २१ ज्ञानम्। २२ निराकारम्। २३ पापादि। २४ मनः। २५ किञ्च। २६ ज्ञानस्य। २७ नीलाकारेण प्रत्यासत्ति। २८ इन्द्रियादिना विप्रकर्षस्य। २९ जैनैः। ३० बौद्धस्य। ३१ सौत्रान्तिकेन। ३२ पित्रादेः। ३३ कारणे। ३४ अपत्यम्। ३५ यदुक्तं त्वया समाधानम्। ३६ ज्ञानस्य। ३७ स्वभावेन। ३८ कर्तृ। ३९ अर्थं। ४० पदार्थे।

---

1 "यथैवाहारकालादेः समानेऽपत्यजन्मनि।
पित्रोस्तदेकमाकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्॥"

प्रमाणवा० ३।३६९।

किञ्चिदेव[१] प्रतिपद्यते न सर्वमिति विभागः किं नेष्यते[२]? अन्योन्याश्रयदोषश्[३]चोभयत्र[४] समानः। किञ्च, प्रतिनियतघटादिवत्सकलं वस्तु निखिलज्ञानस्य कारणं स्वाकारार्पकं वा किन्न स्यात्? वस्तुसामर्थ्यात् किञ्चिदेव कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्येति चेत्; तर्हि तत एव किञ्चित्कस्यचिद्ग्राह्यं[५] ग्राहकं वा न सर्वं सर्वस्येत्यलं प्रतीत्यपलापेन।

प्रमाणत्वा[1]च्च[६]ास्य तद[७]भावः। अर्थाकारानुकारित्वे हि तस्य प्रमेयरूपतापत्तेः प्रमाणरूपताव्याघातः, न चैवम्[८], प्रमाणप्रमेययोर्बहिरन्तर्मुखाकारतया भेदेन प्रतिभासनात्। न चाध्यक्षेण[९] ज्ञानमेवाऽर्थाकारमनुभूयते न पुनर्बाह्योऽर्थ इत्यभिधातव्यम्[१०]; ज्ञानरूपतया बोधस्यैवाध्यक्षे प्रतिभासनान्ना[११]र्थस्य। न ह्यनहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासेऽहङ्कारास्पदबोधरूपवत् ज्ञानरूपता युक्ता, अहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्यापि प्रतिभासोपगमे[१२] तु 'अहं घटः' इति प्रतीतिप्रसङ्गः। न चान्यथाभूता प्रतीतिरन्यथाभूतमर्थं[2] व्यवस्था[१३]पयति; नीलप्रतीतेः पीतादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्।

बोधस्यार्थाकारतां मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्तेः 'नीलस्यायं बोधः' इति, निराकारबोधस्य केन[१४]चित्प्रत्या[१५]सत्तिविप्र[१६]कर्षासिद्धेः स[१७]र्वार्थ[१८]घटनप्र[१९]सङ्गात्सर्वै[२०]कवेदनापत्तेः प्रतिकर्म[२१]व्यवस्था ततो न स्यादित्यर्थाकारो[3] बोधोऽभ्युपग[२२]न्तव्यः। तदुक्तम्—

---

१ वस्तु। २ परेण ३ नियतार्थप्रतिपत्तौ नियतस्वभावसिद्धिस्तत्सिद्धौ च नियतार्थप्रतिपत्तिसिद्धिरिति, नियतनीलाकारानुकरणे च सिद्धे नियतानुकरणयोग्यतासिद्धिर्ज्ञानस्य तत्सिद्धौ च नियतनीलाकारानुकरणसिद्धिरिति। ४ नियतार्थग्रहणानुकरणयोः। ५ कस्यचित्पदार्थस्य। ६ किञ्च। ७ अर्थाकारानुकारित्वाभावः। ८ अस्तूभयं का नो हानिरिति चेत्। ९ इन्द्रिय। १० परेण। ११ अर्थस्य बोधरूपतया। १२ परेण। १३ अन्यथा। १४ पदार्थेन। १५ तादूप्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्ध। १६ तदभाव। १७ ईप् (सप्तमी)। १८ निराकारबोधस्य सम्बन्धात्। १९ सम्बन्ध। २० सर्वार्थानाम्। २१ पटज्ञानस्य पटो विषयो घटज्ञानस्य घट इत्यादि। २२ जैनेन भवता।

---

1 "प्रमाणरूपताविरोधानुषङ्गश्च।" न्यायकुमु० पृ० १६८।

2 "तदाकारं हि संवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चेति।" प्रमाणवा० अलं पृ० २।

"किमर्थं तर्हि सारूप्यमिष्यते प्रमाणम्? क्रियाकर्मव्यवस्थायास्तल्लोके स्यान्निबन्धनम्।...सारूप्यतोऽन्यथा न भवति नीलस्य कर्मणः संवित्तिः पीतस्य वेति क्रियाकर्मप्रतिनियमार्थमिष्यते।" प्रमाणवा० अलं पृ० ११९।

“अर्थेन [1]घट[2]येत्येनां न हि[3] मुक्ता(क्त्वा)र्थ[4]रूपताम् ।
तस्मात्प्रमेया[5]धिग[6]तेः प्र[7]माणं मेय[8]रूपता ॥” [प्रमाणवा[1] ३।३०५]

इत्यनल्पतमोविलसितम्; यतो घं[9]ट[10]यति सम्बन्धयतीति विवक्षितं ज्ञानम्[11], अर्थसम्बद्धमर्थ[12]रूपता निश्चाययतीति वा?[2] प्रथमपक्षोऽयुक्तः; न ह्य[13]र्थ[14]सम्बन्धो ज्ञानस्यार्थरूपतया क्रियते, किन्तु [14]स्वकारणैस्तज्ज्ञा[15]नमर्थसम्बद्धमेवोत्पाद्यते । न खलु ज्ञानमुत्पद्य पश्चादर्थेन सम्बध्यात् । न चा[16]र्थरूपता ज्ञानस्यार्थे सम्ब[17]न्धकारणं ता[18]दात्म्याभावानुषङ्गात् । द्वितीयपक्षोप्यसम्भाव्यः; सम्बन्धासिद्धेः । न खलु ज्ञानगतार्थरूपतां[19] अर्थसम्बद्धेन ज्ञानेन सहचरिता क्वचिदुपलब्धा येनार्थसम्बद्धं ज्ञानं सा निश्चाययेत् । विशिष्ट[20]विष[21]योत्पा[22]द एव च[23] ज्ञानस्यार्थेन सम्बन्धः, न तु संश्लेषात्मकोऽस्य ज्ञानेऽसम्भवात् । स चेन्द्रियैरेव विधीय[24]ते इत्यर्थरूपतासाधनप्र[25]यासो वृथैव । न चैवं[26] सर्व[27]त्रा[28]सौ प्रसज्यते; यतो निराकारत्वेप्यवबोधस्य इन्द्रियवृ[29]त्त्या पुरोवर्तिन्येवार्थे नियमितत्वान्न सर्वार्थघटनप्रसङ्गः । ‘क[30]स्मात्तैस्तत्र त[31]न्नियम्यते’? इत्य[32]त्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्य[33]म् । न हि कारणानि कार्योत्पत्तिप्रतिनियमे पर्य[34]नुयोगमर्हन्ति तत्र तस्य वैफल्यात् । साकार[3]त्वेपि चा[35]यं पर्यनुयोगः समानः–

१ अन्यत्सन्निकर्षादिकं कर्तृ । २ निर्विकल्पकां बुद्धिम् । ३ यस्मात् । ४ प्रमाणं न घटयतीति सम्बन्धः । ५ बुद्धेः । ६ फलज्ञानस्य । ७ सम्बन्धित्वेन । ८ नैयायिकादिकल्पितम् । ९ ज्ञानस्यार्थरूपता । १० अर्थरूपता । ११ भा (?) । १२ कर्त्री । १३ भा । १४ इन्द्रियादिभिः । १५ अर्थसम्बन्धज्ञानार्थरूपतयोः । १६ किञ्च । १७ अन्यथा । १८ अर्थरूपताज्ञानयोः । १९ भा । २० पूर्वस्मिन्विकल्पे इत्यादि द्रष्टव्यम् । २१ बसः । २२ ईप् । २३ किञ्च । २४ ज्ञाने । २५ ज्ञाने । २६ अर्थरूपताभावे । २७ असन्निहितेऽप्यर्थे । २८ ज्ञानोत्पादलक्षणः सम्बन्धः । २९ व्यापारेण । ३० कारणात् । ३१ ज्ञानम् । ३२ पूर्वपक्षे । ३३ अस्माभिः जैनैः । ३४ आक्षेपम् । ३५ किञ्च ।

1 “अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
अन्यत्स्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ ३०५ ॥
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।” प्रमाणवा० ।

2 “किञ्च, घटयतीति सम्बन्धयति इत्यभिप्रेतम्, अर्थसम्बद्धं निश्चाययति इति वा?” न्यायकुमु० पृ० १७१ ।

3 “साकारत्वेऽपि चायं पर्यनुयोगः समानः । तथाहि–साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलादिकमेव पुरोवर्त्ति तत्सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति? तेनैव तथा तस्य जननादिति चेत् समानमेतन्निराकारेऽपि ।” सन्मति० टी० पृ० ४६० । न्यायकुमु० पृ० १७१ ।

साकारमपि हि ज्ञानं किमिति सन्निहितं नीलादिकमेव पुरोवर्त्ति व्यवस्थापयति न पुनः सर्वम्? 'तेनैव च तथा[1] जननात्[2]' इत्युत्तरं[3] निराकारत्वेपि समानम्। किञ्च, इन्द्रियादिजन्यं विज्ञानं 'किमितीन्द्रियाद्याकारं नानुकुर्यात्' इति प्रश्ने[4] भवता[5]प्यत्र[6] वस्तुस्वभाव एवोत्तरं वाच्यम्। साकारता[7] च[8] ज्ञाने साकारज्ञानेन प्रतीयते, निराकारेण वा? साकारेण चेत्; तत्रापि तत्प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्था। निराकारेण चेद्बाह्यार्थस्य तथाभूत[9]ज्ञानेन प्रतिपत्तौ को विद्वेषः?

किञ्च, अस्य[10] वादिनोऽर्थेन संवित्ते[11]र्घटनाऽन्यथानुपपत्तेः सन्निकर्षः प्रमाणम्, अधिगतिः[12] फलं स्यात्, तस्यास्तमन्तरेण प्रतिनियतार्थसम्बन्धित्वासम्भवात्। [13]साकार[14]संवेदनस्य अखिलसमानार्थ[15]साधारणत्वेन अनियतार्थघटनप्रसङ्गात् निखिलसमानार्थानामेकवेदनापत्तिः, केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः।

[16]तदुत्पत्तेरिन्द्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगः। तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्चार्थस्य बोधो नियामको नेन्द्रियादे[17]र्विपर्ययादित्यप्यसाम्प्रतम्; तद्द्वयलक्षणस्यापि [18]समानो[19]ऽर्थ[20]समनन्तर[21]प्रत्ययेना[22]नैकान्तिक[23]-

१ व्यवस्थापकत्वप्रकारेण। २ ज्ञानस्य। ३ भवदीयम्। ४ जैनैः कृते। ५ परेण। ६ पूर्वपक्षे। ७ अर्थरूपता। ८ किञ्च। ९ निराकारेण। १० सौत्रान्तिकस्य। ११ ज्ञानस्य। १२ अर्थप्रमितिः। १३ किंच। ताद्रूप्यनिषेधं कुर्वन्ति। १४ अर्थाकारमर्थादुत्पन्नमर्थाध्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिमानि विशेषणानि प्रत्येकं दूषयन्ति। १५ ईप्। १६ अर्थं। १७ ताद्रूप्याभावात्। १८ प्रा(क्)क्तनज्ञानस्य य एव नीलाद्यर्थो विषयः स एवोत्तरज्ञानस्येति एकसन्तानवर्त्तित्वेन समानोऽर्थ एको नीलः। १९ ईप्। २० प्रथमक्षणे नीलमिदमिति ज्ञानमुत्पन्नं तच्च द्वितीयस्य जनकं तत्र ताद्रूप्यमस्ति तदुत्पत्तिज्ञानत्वेन समानमव्यवहितत्वेनानन्तरमिति। २१ सदृश। २२ प्राक्तनज्ञानेन। २३ तदुत्पत्तेस्ताद्रूप्याच्च यद्यर्थस्य बोधो नियामकः तदा प्राक्तनज्ञानेनानेकान्तात् कथम्? द्वितीयबोधस्य प्राक्तनबोधात्तदुत्पत्तिताद्रूप्यसद्भावेपि द्वितीयबोधेन पूर्वान्तरबोधस्य नियामकत्वायोगात्। ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकं ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वात्।

1 "साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते, आहोस्विन्निराकारेण?"

सन्मति० टी० पृ० ४६०।

2 "तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम्।
तथा च स्यात्समानार्थविज्ञानं समनन्तरम्॥"

प्रमाणवा० ३।३२३।

त्वात्। कथं चार्थवदिन्द्रिया[1]कारं नानुकुर्यादसौ तदुत्पत्तेरविशेषात्? तदविशेषेऽप्यस्य[2] [3]कारणान्तर[4]परिहारेणार्थाकारानुकारित्वं पुत्रस्येव पित्राकारानुकरणमित्यप्यसङ्गतम्; स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात्। विषयस्यालम्बनप्रत्यय[5]तया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्य[6]यतया प्रत्या[7]सत्तिविशेषसद्भावात् उभ[8]याकारानुकरणेऽर्थवदुपादानस्यापि विषयतापत्ति[9]रविशेषा[10]त्। तज्[11]जन्मरूपाविशेषेऽप्य[12]ध्यवसायनियमात् प्रतिनियतार्थनिया[13]मकत्वेऽर्थवदुपादानेऽप्यध्यवसायप्रसङ्गः, अन्यथोभय[14]त्राप्यसौ मा भूद्विशेषा[15]भावात्। न च[16] तज्जन्मादित्रयसद्भावे[17]ऽप्यर्थ[18]प्रतिनियमः; कामला[19]द्युपहतचक्षु[20]षः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनो विज्ञानस्य समनन्तरप्रत्यये प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चैवं[21]वादिनो विज्ञानस्य स्वरूपे प्रमाणता घटते तत्र सारूप्याभावात्।

किञ्च, ज्ञानगतान्नीलाद्याकारात् क्षणिकत्वाद्यो[22]कारः किं भिन्नः, अभिन्नो वा? भिन्नश्चेत्; नीलाद्याकारस्याक्षणिकत्वप्रसङ्गस्तद्व्यावृत्तिलक्षणत्वात्तस्य। अथा[23]भिन्नः; तर्हि ततो[24]ऽर्थस्य नीलत्वादि-

---

१ किञ्च। ताद्रूप्यनिषेधं कुर्वन्ति। २ ज्ञानस्य। ३ अर्थलक्षणात्कारणादपरमिन्द्रियलक्षणम्। ४ बोधस्य। ५ कारण। ६ अव्यवहितकारण। ७ तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्ध। ८ अर्थपूर्वज्ञाने। ९ तज्जन्मतद्रूपविशेषाभावात्। १० अर्थोपादानाभ्यामुत्पत्तेरविशेषात्। ११ अर्थोपादानाभ्यां। १२ निश्चय। १३ बोधस्य। १४ अर्थोपादानयोः। १५ तज्जन्मरूप। १६ किञ्च इदानीं सह दूषयति। १७ अर्थात्तदुत्पत्त्यादि। १८ बोधस्य। १९ दोष। २० पुरुषस्य। २१ किञ्च। साकारत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यवादिनः। २२ निरंशत्वादि। २३ अत्रानुमाने घटादिवद् दृष्टान्तः। २४ नीलाकाराज् ज्ञानात्।

---

1 "न केवलं विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च। विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते, न पुनः करणम् तदाकाराननुकरणादिति चेत्तर्हि; तदर्थवत्करणमनुकर्तुमर्हति, न चार्थं विशेषाभावात्। दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेऽपि विषयाकारानुकारित्वमेव सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्त्तम्; स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात्। विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषाद् दर्शनस्य उभयाकारानुकरणेऽप्यनुज्ञायमाने रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिः, अतिशयाभावात्। वर्णादेर्वा तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात्।"

अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८।

2 "दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायनियमाद् बहिरर्थविषयत्वमित्यसारम्; वर्णादाविव उपादानेऽपि अध्यवसायप्रसङ्गात्।"

अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८।

वत् क्षणिकत्वादे[१]रपि प्रसिद्धेस्त[२]दर्थमनुमा[३]नमनर्थकम् । तदसिद्धौ वा नीलत्वादेरप्यतः[४] सिद्धिर्न स्या[५]दविशेषात् । ननु चानेकस्वभावार्थाकारत्वे[६]पि ज्ञानस्य यस्मिन्नेवांशे संस्कारपाटवान्निश्चयोत्पादकत्वं तत्रैव प्रामाण्यं नान्यत्रेति । नन्व[१०]सौ[११] निश्चयः साकारः, निराकारो वा? साकारत्वे-तत्रा[१२]पि नीलाद्या[१३]कारस्य क्षणिकत्वाद्याकाराद्भेदाभेदपक्षयोः पूर्वोक्त[१४]दोषप्रसङ्गः । तत्रा[१५]पि निश्चया[१६]न्तरकल्पनेऽनवस्था[१७] । अथ निरा[१८]कारः; तर्हि निश्चया[१९]त्मना सर्वार्थेष्वविशिष्ट[२०]स्य ज्ञानस्य 'अयमस्या[२१]र्थस्य निश्चयः' इति प्रतिकर्मनियमः कुतः सिद्ध्येत्? निराकारस्यापि कुत[२२]श्चिन्निमित्तात् प्रतिकर्मसिद्धावन्य[२३]त्राप्यत एव तत्सिद्धेः किमाका[२४]रकल्पनयेति?

नन्व[२५]स्तु निराकारत्वं विज्ञानस्य; न तु स्वसंविदितत्वं भूतपरिणामत्वाद्दर्पणादिवदित्यप्ययुक्तम्; हेतोरसिद्धेः । भू[२६]तपरिणामत्वे हि विज्ञानस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो दर्पणादिवत् । सूक्ष्मभूतविशेषणपरिणामत्वा[२७]न्न तत्प्रसङ्गः; इत्यप्यसङ्गतम्; स[२८] हि चैतन्येन[२९] सजातीयः, विजातीयो वा तदुत्पादन(तदुपादान)हेतुः स्यात्? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता[३०]; सूक्ष्मो हि भू[३१]तविशेषोऽचेतनद्रव्यव्यावृत्तस्वभावो रू[३२]पादिरहितः सर्वदा बाह्येन्द्रियाविषयः

---

१ अर्थस्य । २ क्षणिकत्वादि । ३ सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । ४ नीलाकारज्ञानात् । ५ अभिन्नत्वस्य । ६ यस्य ज्ञानस्य । ७ नीले । ८ विकल्प । ९ क्षणिकांशे । १० भो बौद्ध । ११ ज्ञानेनोत्पाद्यः । १२ साकारनिश्चयविषयेर्थे । १३ निश्चयगतस्य । १४ अक्षणिकत्वादि । १५ अभिन्नपक्षे । निश्चयगतनीलाद्याकारे । १६ नीलगतक्षणिकत्वनिश्चयपरिहारार्थम् । १७ ग्रन्थानवस्था । १८ निश्चयः । १९ स्वस्वरूपेण । २० साधारणस्य । २१ नीलस्य । २२ योग्यतातः । २३ निराकारज्ञानपक्षेपि । २४ किं प्रयोजनं न किमपि । २५ जैनं प्रति चार्वाको ब्रूते । २६ हेतोरसिद्धत्वमेव दर्शयन्ति । २७ ज्ञानस्य । २८ सूक्ष्मभूतविशेषः । २९ ज्ञानेन । ३० अस्माकं जैनानाम् । ३१ प्राणी । ३२ रसगन्धवर्णशब्दैश्च ।

---

1 "सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेदुपादानं चितो मतम् ।
स एवात्मास्तु चिज्जातिसमन्वितवपुर्यदि ॥ ११० ॥
तद्विजातिः कथन्नाम चिदुपादानकारणम् ।
भवतस्तेजसोऽम्भोवत् तथैवादृष्टकल्पना ॥ १११ ॥
सत्त्वादिना समानत्वाच्चिदुपादानकल्पने ।
क्ष्मादीनामपि तत्केन निवार्येत परस्परम् ॥ ११२ ॥
सूक्ष्मभूतविशेषः चैतन्येन विजातीयः सजातीयो वा ?"

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९ । न्यायकुमु० पृ० ३३८ ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षाधिगम्यः परलोका[१]दिसम्बन्धित्वेनानुमेय[२]श्च आत्मापरनामा विज्ञानोपादानहेतुरिति परै[३]रभ्युपगमात्।

तस्या[४]तो विजातीयत्वे नोपादान[५]भावः। सर्वथा[६] विजातीयस्योपादानत्वे वह्नेर्जलाद्युपादानभावप्रसङ्गात् तत्त्वचतुष्टयव्याघातः। सत्त्वादि[७]ना सजातीयत्वात्तस्योपादानभावेपि अयमेव दोषः। प्रमाणप्रसिद्धत्वा[८]च्चात्मनस्तदुपादानत्वमेव विज्ञानस्योपपन्नम्। तथा हि-य[९]द्यतो[१०]ऽसाधा[११]रणलक्षणविशेषविशिष्टं तत्त[१२]तस्त[१३]त्त्वान्तरम्; यथा तेजसो वाय्वादिकम्, पृथिव्या[१४]द्यसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टं च चैतन्यमिति। न चायमसिद्धो हेतुः; चैतन्यस्य जना(ज्ञान)[१५]दर्शनोपयोगलक्षणत्वात्, भूपयःपावकपवनानां धारणेरणद्रवोष्णतास्वभावानां तल्लक्षणाभावात्। न[1] हि भूतानि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणानि अस्मदाद्यनेकप्रति[१६]पत्तृ[१७]प्रत्यक्ष[१८]त्वात्। यत्पुनस्तल्लक्षणं तन्नास्मदा[१९]द्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षम् यथा चैतन्यम्, तथा च भूतानि, तस्मात्तथैवेति।

ननु ज्ञाना[२०]द्युपयोगविशेषव्यतिरेकेणापरस्य त[२१]द्वतः प्रमाणतोऽप्रतीतेः असिद्धमेवासाधारलक्षणविशेषविशिष्ट[२२]त्वम्; त[2]थाहि-न तावत्प्रत्यक्षे[२३]णासौ प्रतीयते; रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात्। नाप्यनुमानेन; अस्य प्रामाण्याप्रसिद्धेः। न च[२४] तद्भावावेदकं किञ्चिदनुमा[२५]नमस्ति; इत्यसङ्गतम्; प्रत्यक्षेणै[3]वात्मनः प्रतीतेः 'सुख्यहं

---

१ आदिपदेन पुण्यपाप। २ त्रिद्विवर्त्तत्वादित्यतः। ३ जैनैः। ४ चैतन्यस्य। ५ अन्यथा। ६ प्रमेयत्ववस्तुत्वादि। ७ किञ्च। ८ स उपादानं यस्य तत्। ९ चैतन्यं धर्मी पृथिव्यादिभ्योऽर्थान्तरं भवतीति साध्यो धर्मः। ततोऽसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्वात्। १० पृथिव्यादिभ्यः। ११ विसदृश। १२ पृथिव्यादिभ्यः। १३ भिन्नं। १४ का। १५ ज्ञानदर्शरूप एव उपयोगः। १६ अनेकसर्वज्ञप्रत्यक्षेणासच्चैतन्येन व्यभिचारः। १७ अनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वादित्युक्ते। १८ प्रत्यक्षत्वादित्युक्ते प्रत्यक्षेण। १९ असच्चैतन्येन व्यभिचारः। २० दर्शन। २१ आत्मनः। २२ साधनम्। २३ इन्द्रियप्रत्यक्षेण। २४ किञ्च। २५ हेतुः।

---

1 "न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि असदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात्।" अष्टसह० पृ० ६४।

2 "आत्मसद्भावे प्रमाणाभावात्; तथाहि न प्रत्यक्षेणोपलभ्यते रूपादिवत्तत्स्वभावानवधारणात्। नाप्यनुमानमस्त्यात्मप्रतिबद्धम्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१।

3 "अहमिति प्रत्यये तस्य प्रतिभासनात्, तथाच सुख्यहं दुःख्यहमिच्छावानहमिति प्रत्ययो दृष्टः।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१।

दुःख्यहमिच्छावानहम्' इत्याद्यनुपचरिताहम्प्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि संवेदनात्। न चायं मिथ्याऽबाध्यमानत्वात्। नापि शरीरालम्बनः; बहिःकरणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः। न हि शरीरं तथा[1]भूतप्रत्ययवेद्यं बहिःकरणविषयत्वात्, तस्यानुपचरिताहम्प्रत्ययविषयत्वाभावाच्च। न[2] हि[2] 'स्थूलोऽहं कृशोहम्' इत्या[3]द्य[4]भिन्नाधिक[5]रण[6]तया प्रत्ययोऽनुपचरितः; अत्य[7]न्तोपकारके भृ[8]त्ये 'अहमेवायम्' इति प्रत्ययस्याप्यनुपचरितत्वप्रसङ्गात्। प्रतिभासभेदो बाधकः अन्य[9]त्रापि समानः। न हि बहलतमःपटलपटावगुण्ठि[10]तविग्र[11]हस्य[12] 'अहम्' इति प्रत्ययप्रतिभासे स्थूलत्वादिधर्मोपेतो विग्रहोपि प्रतिभासते। उपचार[13]श्च निमि[14]त्तं विना न प्रवर्तते इत्या[15]त्मोपकारकत्वं नि[16]मित्तं[17] कल्प्यते भृत्यवदेव। 'मदीयो भृत्यः' इतिप्रत्य[18]यभेदवत् 'मदीयं शरीरम्' इति प्रत्ययभेदस्तु मुख्यः।

यच्चोक्त[19]म्-रूपादिवत्तत्स्व[20]भावानवधारणात्; तदयुक्तम्; '[21][3]अहम्'

---

१ बहिःकरणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारादुत्पद्यमानप्रत्ययवेद्यम्। २ अभावोऽसिद्ध इत्युक्ते सत्याह। ३ इच्छावानहम्। ४ ईप्। ५ अनुकरणे। ६ देहः। ७ अन्यथा। ८ उपचारेण। ९ स्थूलोहमित्यादिप्रत्यये। १० आवृत। ११ पुरुषस्य। १२ स्थूलत्वादौ। १३ स्थूलत्वादेः। १४ प्रयोजनम्। १५ शरीरस्य। १६ ज्ञाने। १७ शरीरस्य। १८ ज्ञान। १९ परेण। २० आत्म। २१ आत्मा।

"स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निर्दिश्येत...असौ पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते। न चान्यस्मै शक्नोत्युपदर्शयितुम्।" शावरभा० १।१।५।

"अहम्प्रत्ययविज्ञेयः स्वयमात्मोपपद्यते।" मीमांसाश्लो० आत्मवादश्लो० १०७।

"स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्।
तस्य क्ष्मादिविवर्त्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः॥ ९६॥"

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६। शास्त्रवा० समु० श्लो० ७९। न्यायकुमु० पृ० ३४३।

1 "न शरीरालम्बनमन्तःकरणव्यापारेण उत्पत्तेः। तथाहि न शरीरमन्तःकरणपरिच्छेद्यं बहिर्विषयत्वात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१।

2 "नन्वेवं कृशोऽहं स्थूलोऽहमिति प्रत्ययस्तर्हि कथम्? मुख्ये बाधकोपपत्तेरुपचारेण। तथाहि-मदीयो भृत्य इति ज्ञानवन्मदीयं शरीरमिति भेदप्रत्ययदर्शनात् भृत्यवदेव शरीरेऽप्यहमिति ज्ञानस्य औपचारिकत्वमेव युक्तम्। उपचारस्तु निमित्तं विना न प्रवर्त्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१। न्यायकुमु० पृ० ३४९। सन्मति० टी० पृ० ८६।

3 "अहमिति स्वभावस्य प्रतिभासनात्। नचार्थान्तरस्य अर्थान्तरस्वभावेनाप्रत्यक्षत्वं दोषः, सर्वपदार्थानामप्रत्यक्षताप्रसङ्गात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९१।

इति तत्[1]स्वभाव[2]स्य प्रतिभासनात् । न चा[3]र्थान्तरस्यार्थान्तर[4]स्वभावेनाप्रत्यक्षत्वं दोषः,[5] सर्व[6]पदार्थानामप्रत्यक्षताप्रसङ्गात्[7]। अथात्मनः[1] कर्तृत्वादेकस्मिन् काले[8] कर्मत्वासम्भवेनाप्रत्यक्षत्वम्; तन्न; लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः, स्वातन्त्र्यं हि कर्तृत्वं[9]लक्षणं तदेव च ज्ञानक्रियया[10] व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्वं चाविरुद्धम्, लक्षणा[11]धीनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः ।

तथा[12]नुमानेनात्मा प्रतीयते । श्रोत्रा[2]दिकरणा[13]नि कर्तृप्रयोज्यानि करण[14]त्वाद्वास्यादिवत् । न चा[15]त्र श्रोत्रादिकरणानामसिद्धत्वम्; '[3]रूपरसगन्धस्पर्शशब्दोपलब्धिः करणकार्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धेः । तथा[16] '[4]शब्दादिज्ञानं क्वचि[17]दाश्रितं गुणत्वाद्रूपा[18]दिवत्' इत्यनुमानतोऽप्यसौ[19] प्रतीयते । प्रामाण्यं चानुमानस्याग्रे समर्थ[20]यिष्यते । शरीरेन्द्रियमनोविषय[21]गुणत्वाद्विज्ञानस्य न तद्व्यतिरिक्ताश्रयाश्रितत्वम्, येना[22]त्मसिद्धिः स्यादित्यपि मनोरथमात्रम्; विज्ञानस्य तद्गुणत्वासिद्धेः । तथाहि-न

---

१ आत्म । २ चैतन्यस्य । ३ रूपादिलक्षणादर्थादर्थान्तरमात्मा तस्य । ४ आत्मलक्षणादर्थादर्थान्तरं घटादिस्तस्य स्वभावो रूपादिस्तेन । ५ अन्यथा । ६ घटादीनां । ७ रूपरसादिरूपेण धर्मेण प्रत्यक्षत्वासम्भवात् । (?) ८ कर्तृकाले । ९ स्वतन्त्रः कर्तेति वचनात् । १० क्रियाव्याप्तं कर्मेति वचनात् । ११ असाधारणस्वरूपम् । १२ प्रत्यक्षप्रकारेण । १३ अर्थपरिच्छित्तौ । १४ छिदौ । १५ अनुमाने । १६ प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । १७ आत्मनि । १८ घटाद्यर्थे यथा । १९ आत्मा । २० अस्माभिर्जैनैः । २१ घटादि स्रगादि च । २२ केन ।

---

1 "अथात्मनः कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासंभवेनाप्रत्यक्षत्वम्; तन्न; लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः । तथाहि-ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृत्वम्, तदैव च क्रियया व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्वञ्चेति न दोषः । लक्षणतन्त्रत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः ।" प्रश० व्यो० पृ० ३९२ ।

2 "करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात् । शब्दादिषु प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽनुमीयते ।" प्रश० भा० पृ० ६९ ।

"श्रोत्रादीनि करणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवत् ।" प्रश० व्यो० पृ० ३९३ । न्यायकुमु० पृ० ३४९ ।

3 "शब्दोपलब्धिः करणकार्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् ।" प्रश० व्यो० पृ० ३९३ । स्या० मं० का० १७ ।

4 "शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात् ।" प्रश० व्यो० पृ० ३९३ । न्यायकुमु० पृ० ३४९ ।

शरीरं चैतन्यगुणाश्रयो भू[1]तविकारत्वाद् घटादिवत्। चैतन्यं वा शरीरविशेषगुणो न भवति सति शरीरे निर्व[2]र्त्तमानत्वात्। ये तु शरीरविशेषगुणा न ते तस्मिन्सति निवर्त्तन्ते यथा रूपादयः, सत्यपि त[3]स्मिन्निवर्त्तते च चैतन्यम्, तस्मान्न तद्विशेषगुणः।

तथा, नेन्द्रि[2]याणि चैतन्यगुणवन्ति करणत्वाद्भूतविकारत्वाद्वा वास्यादिवत्। तद्गुणत्वे च[4] चैतन्यस्येन्द्रियविनाशे प्रतीतिर्न स्याद्गुणिविनाशे गुणस्याप्रतीतेः। न चैवम्, तस्मान्न तद्गुणः। तथा च प्रयोगः–स्मर[5]णा[3]दि चैतन्यमिन्द्रियगुणो न भवति तद्विनाशेप्युत्पद्यमानत्वात्, यो यद्विनाशेप्युत्पद्यते स न तद्गुणो यथा पटविनाशेपि घटरूपादि, भव[6]ति चेन्द्रियविनाशेपि स्मरणादिकम्, तस्मान्न तद्गुणः। यदि[4] चेन्द्रिय[7]गुणश्चै[8]तन्यं स्यात्तर्हि करणं विना क्रि[10]या[9]याः प्रतीत्यभावात् करणान्तरै[9]र्भवितव्यम्। तेषां च प्रत्येकं

१ शरीरस्य। २ चैतन्यस्य। ३ शरीरे। ४ किञ्च। ५ सुखम्। ६ किञ्च। ७ गुणी। ८ गुणः। ९ जानातीति। १० चैतन्यलक्षणायाः।

1 "न शरीरेन्द्रियमनसामज्ञत्वात्। न शरीरस्य चैतन्यं घटादिवत् भूतकार्यत्वात् मृते चासंभवात्।" प्रश० भा० पृ० ६९।

"शरीरं चैतन्यशून्यं भूतत्वात् कार्यत्वाच्च।...चैतन्यं शरीरविशेषगुणो न भवति सति शरीरे निवर्त्तमानत्वात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९४। न्यायकुमु० पृ० ३४६।

"न शरीरगुणश्चेतना, कस्मात्? 'यावच्छरीरभावित्वात् रूपादीनाम्।' 'शरीरव्यापित्वात्' 'शरीरगुणवैधर्म्यात्'। न्यायसू० ३।२।४९,५२,५५।

"न शरीरस्य ज्ञानादियोगः परिणामित्वात्, रूपादिमत्त्वात्, अनेकसमूहस्वभावत्वात्, सन्निवेशविशिष्टत्वात्।" न्यायमं० पृ० ४३९।

"देहधर्मवैलक्षण्यात्...।" ब्रह्मसू० शा० भा० ३।३।५४।

2 "नेन्द्रियाणां करणत्वात् उपहतेषु विषयासान्निध्ये चाऽनुस्मृतिदर्शनात्।" प्रश० भा० पृ० ६९।

"नेन्द्रियार्थयोः तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्।" न्यायसू० ३।२।१८।

"नेन्द्रियाणां चैतन्यं करणत्वात् वास्यादिवत्, भूतत्वात्, कार्यत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्।...तदुपघातेऽपि स्मृतिदर्शनात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९४। न्यायकुमु० पृ० ३४६।

3 "स्मरणमिन्द्रियगुणो न भवति यथा घटविनाशेऽपि पटरूपादिरिति। तथा च स्मरणमिन्द्रियविनाशेऽपि भवति तस्मान्न तद्गुण इति।" प्रश० व्यो० पृ० ३९५।

4 "यदि चेन्द्रियाणां चैतन्यं स्यात् करणं विना क्रियायाश्चानुपलब्धेरिति करणान्तरैर्भवितव्यम्। तानि करणानि इन्द्रियाणि विवादास्पदानि चात्मान इत्येकस्मिन् शरीरे पुरुषबहुत्वमभ्युपगतं स्यात्।" प्रश० व्यो० पृ० ३९५।

चैतन्य[1]गुणत्वे एकस्मिन्नेव शरीरे पुरुषबहुत्वप्रसङ्गः स्यात्। तथाच देवदत्तोपलब्धेऽर्थे यज्ञदत्तस्येवेन्द्रियान्तरोपलब्धे तस्मिन् न स्या[2]दिन्द्रियान्तरेण प्रतिसन्धा[3]नम्। दृश्यते चैतत्ततो नेन्द्रियगुणश्चैतन्यम्। अथै[4]कमेवेन्द्रि[1]यमशेषकरणाधि[5]ष्ठायकमिष्यतेऽतोयमदोषः; तर्हि संज्ञाभेदमात्रमेव स्यादात्मनस्तथा नामान्तरकरणात्।

नापि चैतन्य[2]गुणवन्मनः करणत्वाद्वास्यादिवत्। कर्तृत्वोपग[6]मे तस्य चेतनस्य स[7]तो रूपाद्युपलब्धौ [8]करणान्तरा[9]पेक्षित्वे च प्रकारान्तरेणात्मैवोक्तः स्यात्।

नापि विष[3]य[10]गुणः; तदसान्निध्ये तद्विनाशे चानुस्मृत्या[11]दिदर्शनात्। न च गुणिनोऽसान्निध्ये विनाशे वा गुणानां प्रतीतिर्युक्ता, [12]गुणत्व[13]विरोधानुषङ्गात्। ततः परिशेषाच्छरीरा[14]दिव्यतिरिक्ताश्रया[15]श्रितं चैतन्यमित्य[16]तो भवत्येवात्मसिद्धिः।

ततो निराकृतमेतत्–'शरीरेन्द्रि[4]यविषयसंज्ञेभ्यः पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्य[17]क्तिः, पिष्टोदकगुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिवत्'। त[18]तोऽसाधा[19]रणलक्षणविशेषविशिष्टत्वेप्यतत्त्वा(तस्तत्त्वा)न्त[20]रत्व-

---

१ चैतन्यं गुणो येषां तानि तत्त्वे। २ चक्षुषा दृष्टेऽर्थे श्रोत्रेण प्रतिसन्धानं न स्यात्। ३ प्रत्यभिज्ञानम्। ४ मनः। ५ प्रेरकम्। ६ परेण। ७ विद्यमानस्य। ८ मनः। ९ चक्षुरादि। १० चैतन्यं। ११ सुखादि। १२ अन्यथा। १३ गुणिनोऽमी गुणा इति। १४ इन्द्रियमनोविषय। १५ आत्म। १६ गुणत्वादिसाधनात्। १७ जायते। १८ तेभ्यश्चैतन्यस्याभिव्यक्तिर्यतः। १९ ज्ञानदर्शनोपयोगरूप। २० चैतन्यस्य।

---

1 "यदि चैकमिन्द्रियमशेषकरणाधिष्ठायकं चेतनमिष्येत; संज्ञाभेदमात्रमेव स्यात्।"
प्रश० व्यो० पृ० ३९५।

2 "नापि मनसः कारणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृतिप्रसङ्गात्, स्वयं करणभावाच्च।"
प्रश० भा० पृ० ६९।

"नापि मनोगुणः करणत्वात् वास्यादिवत्।"
प्रश० व्यो० पृ० ३९५। न्यायकुमु० पृ० ३४७।

"युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः।" न्यायसू० ३।२।१९।

3 "अत एव विषयस्यापि न चैतन्यम्।" प्रश० कन्दली पृ० ७२।

"विषयासान्निध्ये तद्विनाशे चानुस्मृतिर्दृष्टा। न तत् गुणतद्विनाशे भवतीति।"
प्रश० व्यो० पृ० ३९५। न्यायकुमु० पृ० ३४७।

4 "इत्याह–मदशक्तिवद्विज्ञानम्। यथैव हि मद्याङ्गानां किण्वादीनां देशकालावस्थाविशेषे मदशक्तिलक्षणावस्थाविशेषः प्रादुर्भवति एवं पृथिव्यादीनां तद्विशेषे प्रतिनियतघटादिग्राहकं ज्ञानमिति।" न्यायकुमु० पृ० ३४२।

मेव । "पृथि[1]व्य(व्या)पस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्" [ ] इत्यत्र[१] 'अभिव्य[2]क्तिमुपयाति' इति क्रियाध्याहा[२]रादतः सन्दिग्धविपक्षव्या[३]वृत्तिको हे[४]तुरिति; श[५]ब्दसामान्याभिव्यक्तिनिषेधे[६]नास्य चैतन्याभिव्यक्तिवादस्य विरोधा[७]च्च ।

किंच, स[3]तोऽभिव्यक्तिश्चैतन्यस्य, असतो वा स्यात्, सदसद्रूपस्य वा? प्रथमकल्पनायाम् तस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धिः, सर्वदा सतोऽभिव्यक्तेस्तामन्तरेणानुपपत्तेः । पृथिव्यादिसामा[९]न्यवत् । त[८]था च "पर[4]लोकिनोऽभावात्परलोकाभावः" [[१०]] इत्यपरीक्षिताभिधानम् । प्रागसतश्चैतन्यस्याभिव्य[११]क्तौ प्रतीतिविरोधः, सर्वथाप्यसतः कस्यचिदभिव्यक्त्य[१२]प्रतीतेः । न चै[१३]वंवादिनो व्यञ्जककारकयोर्भेद[१४]ः; 'प्राक्सत[१५]ः स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असतः स्वरूपनिर्वर्तकं कारकम्' इत्येवं तयोर्भेदप्रसिद्धिः । कथञ्चित्सतोऽसतश्चाभिव्यक्तौ पर[१६]मतप्रवेशः–कथञ्चिद्द्रव्यतः सतश्चैतन्यस्य पर्या[१७]यतोऽसतश्च कायाकारपरिणतैः पृथिव्यादिपुद्गलैः

---

१ सूत्रे । २ चैतन्यस्याभिव्यक्तिः । ३ वसः । ४ असाधारणलक्षणविशेषविशिष्टत्वादिति । ५ आकाशात्तद्विलक्षणशब्दोत्पत्तिं यौगाभिमतां निराकुर्वतश्चार्वाकस्य भूतेभ्यस्तद्विलक्षणचैतन्योत्पत्तिकथनमयुक्तं स्ववचनविरोधादित्यभिप्रायः । ६ अग्रे । ७ यथा घटानां प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकव्यापारात्पूर्वं सद्भावग्राहकं प्रमाणमस्ति तथा ताल्वादिव्यापारात्पूर्वं शब्दादिसद्भावग्राहकप्रमाणाभावात्कथमभिव्यञ्जकव्यापाराच्छब्दादीनामभिव्यक्तिरिति चार्वाकेण शब्दाद्यभिव्यक्तिपक्षे मीमांसकं प्रत्युद्भाव्यमानेन दूषणेन चैतन्याभिव्यक्तिपक्षस्यापि निराकृतत्वात् । कथम्? अभिव्यक्ताच्चैतन्यात्पूर्वमनभिव्यक्तनित्यचैतन्यसद्भावग्राहकप्रमाणभावादिति । ८ किञ्च । ९ पृथिवीत्वादि । १० अनाद्यनन्तात्मसिद्धौ । ११ सत्याम् । १२ खरविषाणादिवत् । १३ किञ्च । १४ मा भूत् । १५ व्यञ्जकस्य । १६ जैन । १७ नरनारकादि ।

---

1 इदं वाक्यं तत्त्वोपप्लव पृ० १, भामती ३।३।५४, तत्त्वसं पं० पृ० ५२०, तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८, न्यायकुमु० पृ० ३४१ इत्यादिषु उद्धृतं वर्त्तते ।

2 "तथाहि–पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति चत्वारि तत्त्वानि । तेभ्यश्चैतन्यमिति । अत्र केचिद्वृत्तिकारा व्याचक्षते–'उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्' इति । अन्ये 'अभिव्यज्यते' इत्याहुः ।"
तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० ।

3 "चैतन्यशक्तिं सतीमेव, प्रागसतीमेव, सदसतीं वा अभिव्यञ्जयेयुः ।"
युक्त्यनुशा० टी० पृ० ७५ । न्यायकुमु० पृ० ३४५ ।

4 इदं वाक्यं तत्त्वोपप्लव० पृ० ५८, तत्त्वसं० पं० पृ० ५२३, न्यायकुमु० पृ० ३४३, सन्मति० टी० पृ० ७१ इत्यादिषु उद्धृतं वर्त्तते ।

परै[1]रप्यभिव्यक्तेरभीष्टत्वात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टय[2]वत् । नन्वेवं[3] पिष्टोदकादिभ्यो मदशक्त्यभिव्यक्तिरपि न स्यात् तत्रा[4]प्युक्तविकल्पानां समानत्वादित्यप्यसाम्प्रतम्; तत्रापि द्रव्यरूपतया प्राक्सत्त्वाभ्युपगमात्, सकलभावानां तद्रूपेणानाद्यनन्तत्वात् ।

शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यश्चैतन्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् 'तेभ्यश्चैतन्यम्' इत्यत्र[5] 'उत्पद्यते' इति क्रियाध्याहारान्नाभिव्यक्तिपक्षभावी दोषोऽवकाशं लभते इत्यन्ये[6]ः । सोपि[7] चैतन्यं प्रत्युपादानकारणत्वम्, सहकारिकारणत्वं वा भूतानाम् इति पृष्टः[8] स्पष्टमाचष्टाम्? न तावदुपादानकारणत्वं तेषाम्; चैतन्ये[9] भूतान्वयप्रसङ्गात्, सुवर्णोपादाने किरीटादौ सुवर्णा[10]न्वयवत्, पृथिव्याद्युपादाने काये पृथिव्या[11]द्यन्वयवद्वा । न चात्रै[12]वम्; न हि भूतसमुदयः पूर्वमचेतनाकारं परित्यज्य चेतनाकारमाददा(धा)नो धारणेरणद्रवोष्णतालक्षणेन रूपादिमत्त्वस्वभावेन वा भूतस्वभावेनान्वितः प्र[13]माणप्रतिपन्नः, चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्यान्तःसंवेदनेनानुभवात् । न च प्रदीपा[14]द्युपादानेन कज्जलादिना प्रदीपाद्यनन्वितेन व्यभिचारः; रूपादिमत्त्वमात्रेणात्राप्यन्वयदर्शनात् । पुद्गलविकाराणां रूपादिमत्त्वमात्राव्यभिचारात् । भूतचैतन्ययोरप्येवं स[15]त्त्वादिक्रियाकारित्वादिधर्मैरन्वयसद्भावात् उपादानोपादेयभावः स्यादित्यप्यसमीचीनम्; जलानलादीनामप्यन्यो[16]न्यमुपादानोपादेयभावप्रसङ्गात्, तद्धर्मैस्तत्राप्यन्वयसद्भावाविशेषात् ।

किञ्च, 'प्रा[17]णिना[18]माद्यं चैतन्यं चैत[19]न्योपादानका[20]रणकं चि[21]द्विव[22]र्त्त-

१ जैनैः । २ यथा पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य पुद्गलरूपेण सतः घटादिपर्यायरूपेणासतश्चक्रादिकारणादाविर्भावस्तथा प्रकृतस्यापि । ३ चैतन्याभिव्यक्तिनिषेधप्रकारेण । ४ मदशक्तौ । ५ सूत्रे । ६ अविद्धकर्णश्चार्वाकविशेषः । ७ जैनैः । ८ अन्यथा । ९ चैतन्यं भूतान्वयि तदुपादानत्वात् । यद्यदुपादानं तत्तदन्वयि यथा मृद्रूपोपादानको घटः । १० पीतस्वभासुरत्व । ११ धारणादि । १२ उपसंहारः । १३ प्रत्यक्ष । १४ प्रदीपादि उपादानं यस्य । १५ कज्जले प्रदीपरूपादिमत्त्वमात्रान्वयप्रकारेण । १६ जलानलादयः परस्परमुपादानोपादेयभाववन्तः सत्त्वादिधर्मैरन्वितत्वात्तद्भूतचैतन्यवत् । १७ चैतन्यं धर्मि भूतोऽन्वयि भवतीति साध्यो धर्मः । तदुपादानत्वाद् यथा मृदुपादानको घटो मृदन्वयी । १८ तज्जन्मापेक्षया । १९ पूर्वजन्मचैतन्य । २० बसः । २१ पूर्वचित् । २२ प्रमेय । (पर्याय)

1 "भूतानि किमुपादानकारणं चैतन्यस्य सहकारिकारणं वा ?" तत्त्वसं० पं० पृ० ५२६ । युक्त्यनु० टी० पृ० ७८ । न्यायकुमु० पृ० ३४४ ।

2 "प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्त्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्त्तवत् । तथा अन्त्यचैतन्यपरिणामः चैतन्यकार्यः तत एव तद्वत् ।" अष्टसह० पृ० ६३ ।

त्वान्मध्य[१]चिद्[२]विवर्त्तवत् । तथान्त्यचैतन्यपरि[३]णामश्चैतन्य[४]कार्यस्तत एव तद्वत्' इत्यनुमानात्तस्य चैतन्यान्तरोपादानपूर्वकत्वसिद्धेर्न भूतानां चैतन्यं प्रत्युपादानकारणत्वकल्पना घटते। सह[1]कारिकारणत्व[५]कल्पनायां तु उपादान[६]मन्यद्वाच्य[७]म्, अनुपादानस्य कस्यचित्कार्यस्यानुपलब्धेः। शब्दविद्युदादेरनुपादानस्याप्युपलब्धेरदोषोयमित्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; 'शब्दादिः सोपादानकारणकः कार्यत्वात् पटादिवत्' इत्यनुमानात्तत्सादृश्योपादानस्यापि सोपादानत्वसिद्धेः।

गोम[2]यादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिप्रतीतिः ते[८]र्नानेकान्तः इत्ययुक्तम्; त[९]स्य पक्षान्तर्भूतत्वात् । वृश्चिकादिशरीरं ह्यचेतनं गोमयादेः प्रादुर्भवति न पुनर्[१०]वृश्चिकादिचैतन्यविवर्त्तस्तस्य पूर्वचैतन्यविवर्त्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्। अथ यथाद्य[११]ः पथिकाग्निः अरणिनिर्मन्थोत्थोऽनग्निपूर्वकः अन्य[१२]स्त्वग्निपूर्वकः तथाद्यं चैतन्यं कायाकारपरिणतभूतेभ्यो भवि[१३]ष्यत्यन्यत्तु चैतन्यपूर्वकं विरोधाभावा[१४]दित्यपि मनोरथमात्रम्; प्रथ[3]मपथिकाग्नेरनग्न्यु[१५]पादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वापत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोध[१६]ः। येषां हि परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम् यथा क्षितिविवर्त्तानाम्, परस्परमुपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनामित्येकमेव पुद्गलतत्त्वं क्षित्या[१७]-

---

१ जन्मप्रभृतिमरणपर्यन्त । २ यसः (कर्मधारयसमासः) । ३ पर्यायः । ४ बसः । ५ भूतानाम् । ६ कारणम् । ७ परेण । ८ वृश्चिकचैतन्येन । ९ वृश्चिकचैतन्यस्य । १० यसः । ११ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम् । १२ चुल्लीस्थः । १३ मध्यचैतन्यम् । १४ कार्यत्वादिहेतोः । १५ काष्ठ । १६ पृथिव्यादयो धर्मिणस्तत्त्वान्तरत्वं न प्राप्नुवन्तीति साध्यं परस्परमुपादानोपादेयभाववत्त्वात् । १७ सलिलदहनपवन ।

---

1 "नापि ते कारका वित्तेः भवन्ति सहकारिणः ।
स्वोपादानविहीनायास्तस्यास्तेभ्योऽप्रसूतितः ॥ २०७ ॥
नोपादानाद्विना शब्दविद्युदादिः प्रवर्त्तते ।
कार्यत्वात् कुम्भवत्... ॥ २०८ ॥ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८ ।
न्यायकुमु० पृ० ३४४ ।

2 "गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न; तस्यापि पक्षीकरणात् । वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव तेन सम्मूर्च्छनं न पुनः वृश्चिकादिचैतन्यविवर्त्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्त्तादेव उत्पत्तिप्रतिज्ञानात् ।"
अष्टसह० पृ० ६३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २९ ।

3 "प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः ।" अष्टसह० पृ० ६३ ।

दिविवर्त्तम[1]वतिष्ठेत सहकारिभावोपगमे[2] तु तेषां[3] चैतन्येपि सोऽस्तु। यथैव हि प्रथमाविर्भूतपावका[4]देस्तिरो[5]हितपावकान्तरा[6]दिपूर्वकत्वं तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहित[7]चैतन्य[8]पूर्वकत्वमिति।

न च[9]ानाद्येका[10]नुभवितृव्यतिरेकेणेष्टानिष्टविषये प्रत्य[1]भिज्ञानाभिलाषादयो जन्मादौ युज्यन्ते; तेषामभ्यास[11]पूर्वकत्वात्। न च मातुरुदर[12]स्थितस्य बहिर्विषयादर्शनेऽभ्यासो युक्तः; अतिप्रसङ्गात्[13]। न चा[14]वलग्नावस्थायामभ्यासपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नानामप्यनुसन्धा[15]नादीनां जन्मादा[16]वतत्पूर्वकत्वं युक्तम्; अन्यथा धूमोऽग्निपूर्वको दृष्टोप्यनग्निपूर्वकः स्यात्। मातापित्रभ्यासपूर्वकत्वा[17]त्तेषामदोषोऽयमित्यप्यसम्भाव्यम्; सन्तानान्तरा[18]भ्यासादन्यत्र[19] प्रत्यभिज्ञानेऽतिप्रसङ्गात्। तदुपलब्धे[20] 'सर्वं मयै[21]वोपलब्धमेतत्' इत्यनुसन्धानं चा[22]खिलापत्यानां स्यात्। परस्परं वा तेषां प्रत्यभिज्ञान[23]प्रसङ्गः स्यात्, एकसन्ता[24]नोद्भूतदर्शनस्पर्शनप्रत्ययवत्।

'ज्ञानेनाहं घटादिकं जानामि' इत्यहम्प्रत्ययप्रसिद्धत्वाच्चा[25]त्मनो ना[26]पलापो युक्तः। अत्र[27] हि यथा कर्मतया विषयस्यावभासस्तथा कर्तृतयात्मनोपि। न चात्र[28] देहेन्द्रियादीनां कर्तृता; घटादिवत्तेषामपि कर्मतया[29]ऽवभासनात्, तदप्रतिभासनेप्यहम्प्रत्ययस्यानुभवात्। न हि बहलतमःपटलपटावगुण्ठितविग्रह[30]स्योपरतेन्द्रिय-

---

१ बसः। २ परेण। ३ अग्नि प्रत्यरणिरूपपृथ्व्यादीनाम्। ४ दधि। ५ शक्तिरूपस्थित। ६ उपादान। ७ शक्तिरूपस्थित। ८ उपादान। ९ किञ्च। १० आत्म। ११ संस्कार। १२ बालकस्य। १३ त्रिविप्रकृष्टेप्यर्थेऽभ्यासो भवत्वदर्शनाविशेषात्। १४ मध्यमावस्थायां। १५ प्रत्यभिज्ञानादीनाम्। १६ अनभ्यास। १७ अपत्यस्य। १८ मातापितृलक्षण। १९ अपत्ये। २० वस्तुनि। २१ अपत्येन। २२ किञ्च। २३ एकापत्येन दृष्टेऽर्थे द्वितीयापत्यस्य प्रत्यभिज्ञानप्रसङ्गः स्यात्। २४ आत्मलक्षण। २५ किञ्च। २६ निह्नवः। २७ ज्ञानेनाहं घटादिकं जानामीति प्रत्यये। २८ ज्ञानेनाहं घटादिकं जानामीति प्रत्यये। २९ देहेन्द्रियादिकं जानामि। ३० नरस्य।

---

1 "पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः।"

न्यायसू० ३।१।१९। न्यायमं० पृ० ४७०।

"जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः।
अन्यथा कल्पयंल्लोकमतिक्रामति केवलम्॥
नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात्।
तद्धि जन्मान्तरान्नायं जातमात्रेऽपि लक्ष्यते॥"

न्यायविनि० २।७९,८०। न्यायकुसु० पृ० ३४७।

व्यापारस्य गौरस्थौल्यादिधर्मोपेतं शरीरं प्रतिभासते। अहम्प्रत्ययः स्वसंविदितः पुंन[1]स्तस्यानुभूयमानो देहेन्द्रियविषया[2]दिव्यतिरिक्तो[3]र्थालम्बनः सिद्ध्यतीति प्रमाणप्रसिद्धोऽनादिनिधनो द्रव्यान्तरमात्मा। प्रयोगः-अनाद्यनन्त[1] आत्मा द्रव्यत्वात्पृथिव्यादिवत्। न तावदाश्रयासिद्धोयं हेतुः; आत्मनोऽहम्प्रत्ययप्रसिद्धत्वात्। नापि स्वरूपा[4]सिद्धः; द्रव्यलक्षणोपलक्षितत्वात्। तथाहि-द्रव्यमात्मा गुणपर्ययवत्त्वात्पृथिव्यादिवत्। न चायमप्यसिद्धो हेतुः; ज्ञानदर्शनादिगुणानां सुखदुःखहर्षविषादादिपर्यायाणां च तत्र[5] सद्भावात्। न च घटादिनानेका[6]न्तस्तस्य मृदादिपर्ययत्वात्।

ननु शरीररहितस्यात्मनः प्रतिभा[7]से ततोऽन्योऽनादिनिधनोऽसाविति स्यात् जलरहितस्यानलस्येव, न[8] चैवम्, आसंसारं तत्सहितस्यैवास्यावभासनात्। तत्र[9] 'शरीररहितस्य'[2] इति कोऽर्थः? किं तत्स्वभावविकलस्य[10], आहोस्वित्तद्देशपरिहारेण देशान्तरावस्थि[11]तस्येति? तत्राद्यपक्षेऽस्त्येव तद्रहितस्यास्य प्रतिभासः-रूपादिमदचेतनस्वभावशरीरविलक्षणतया अमूर्त्तचैतन्यस्वभावतया चात्मनोऽध्यक्षगोचरत्वेनोक्तत्वात्। द्वितीयपक्षे तु-शरीरदेशादन्यत्रा[12]नुपल[13]म्भात्तत्र तदभावः, शरीरप्रदेश एव वा? प्रथमविकल्पे-सिद्ध[14]साधनम्; तत्र तदभावाभ्युपगमा[15]त्। न खलु नैयायिकवज्जैनेनापि स्वदेहादन्यत्रात्मेष्यते। द्वितीयविकल्पे तु-न केवलमात्मनोऽभावोऽपि तु घटादेरपि। न हि सोपि स्वदेशादन्यत्रोपलभ्यते।

किञ्च; स्वशरीरादात्मनोऽन्यत्वाभावः तत्स्वभा[16]वत्वात्, तद्गुणत्वात् वा स्यात्, तत्कार्यत्वाद्वा प्रकारान्तरासम्भवात्। पक्षत्रयेपि प्रागेव द[17]त्तमुत्तरम्। ततश्चैतन्यस्वभावस्यात्मनः प्रमाणतः प्रसिद्धे

१ पश्चात्। २ मनः। ३ आत्मा। ४ अनादिनिधनस्य। ५ आत्मनि। ६ द्रव्यत्वादिति हेतोः। ७ सति। ८ परिहारमाह। ९ उक्ते ग्रन्थे। १० प्रतिभासाभावः। ११ प्रतिभासाभावः। १२ देशे। १३ जीवस्य। १४ ता। १५ जैनैः। १६ तत्स्वभावस्य यद्यतोऽसाधारणलक्षणविशेषविशिष्टं तत्ततस्तत्त्वान्तरमित्यादिना निरस्तत्वात्। १७ जैनैः।

1 "द्रव्यतोऽनादिपर्यन्तः सत्त्वात् क्षित्यादितत्त्ववत्।
स स्यान्न व्यभिचारोऽत्र हेतोर्नाश्निन्यसंभवात्॥ १४०॥"
तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३२।

2 "शरीररहितस्येति कोऽर्थः-किं तत्स्वभावविकलस्य आहो तद्देशपरिहारेण देशान्तरावस्थितस्येति।" स्या० रत्ना० पृ० १०८०।

स्तत्स्वभाव[1]मेव ज्ञानं युक्तम् । तथा च स्वव्यवसायात्मकं तत् चेतनात्मपरिणामत्वात्, यत्तु न स्वव्यवसायात्मकं न तत्तथा यथा घटादि, तथा च ज्ञानं तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमित्यभ्युपगन्तव्य[2]म् ।

ननु[3] विज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽर्थवत्कर्मता[4]पत्तेः करणात्म[5]नो ज्ञानान्तरस्य परिकल्पना स्यात् । तस्यापि प्रत्यक्षत्वे पूर्ववत्[6]कर्मतापत्तेः करणात्मकं ज्ञानान्तरं परिकल्पनीयमित्यनवस्था स्यात् । तस्याप्रत्यक्षत्वेपि करणत्वे प्रथमे कोऽपरितोषो येनास्य तथा करणत्वं नेष्य[9]ते । न चैक[10]स्यैव ज्ञानस्य परस्परविरुद्धकर्मकरणाकाराभ्युपगमो युक्तोऽन्य[11]त्र तथाऽदर्शनादित्याशङ्क्य प्रमेय[12]वत्प्रमातृप्रमाणप्रमितीनां प्रतीतिसिद्धं प्रत्यक्षत्वं प्रदर्शयन्नाह—

घटमहमात्म[13]ना वेद्मीति ॥ ८ ॥

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

न हि कर्मत्वं प्रत्यक्षतां प्र[14]त्यङ्ग[15]मात्मनोऽप्रत्य[16]क्षत्वप्रसङ्गात् त[17]द्वत्तस्यापि कर्मत्वेनाप्रतीतेः । तदप्रतीतावपि कर्तृत्वेनास्य प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे ज्ञानस्यापि करणत्वेन प्रतीतेः प्रत्यक्षतास्तु विशेषाभावात् । अथ करणत्वेन प्रतीयमानं ज्ञानं करणमेव न प्रत्यक्षम्; त[19]दन्यत्रापि स[20]मानम् । किञ्च, आत्मनः प्रत्यक्षत्वे परोक्षज्ञानकल्पनया किं सा[21]ध्यम्? तस्यैव स्वरूपवद्बाह्यार्थग्राहकत्वप्रसिद्धेः? कर्तुः करणमन्तरेण क्रिया[22]यां व्यापारासम्भवात्करणभूतपरोक्ष-

---

१ वसः । २ चार्वाकेण भवता । ३ मीमांसकः । ४ विज्ञानं कर्म-प्रत्यक्षत्वात्, घटवत् । ५ करणस्वरूपस्य । ६ पूर्वज्ञानस्य यथा । ७ प्रथमज्ञानस्य । ८ अप्रत्यक्षत्वे । ९ जैनैः । १० यत्कर्म तदेव करणम् । ११ घटे । १२ अर्थस्य यथा । १३ करणभूतेन । १४ अन्यथा । १५ आत्मा न प्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानवत् । १६ यत् कर्म न भवति तत्प्रत्यक्षमपि न भवतीत्युक्ते । १७ करणज्ञानवत् । १८ उभयत्र कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वस्य । १९ समाधानपरिहारम् । २० कर्तृत्वेनात्मा प्रतीयमानः कर्तैव स्यान्न प्रत्यक्ष इति समानम् । २१ प्रयोजनम् । २२ प्रमितिलक्षणायां ।

---

1 "कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात् करणज्ञानमप्रत्यक्षमिति चेन्न; करणत्वेन प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । कथञ्चित् प्रतिभासते, कर्म च न भवति इति व्याघातस्य प्रतिपादितत्वात् ।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४६ । न्यायकुमु० पृ० १७६ । प्रमाणप० पृ० ६१ ।

2 "अथ करणत्वेनानुभूयमानं ज्ञानं करणमेव स्यान्न प्रत्यक्षं तर्हि कर्तृप्रमाणफलरूपतया अनुभूयमानयोः आत्मप्रमाणफलयोः कर्तृप्रमाणफलरूपतैव स्यात् न प्रत्यक्षत्वमित्यप्यस्तु ।" स्या० रत्ना० पृ० २१३ ।

ज्ञानकल्पना नानर्थिकेत्यप्यसाधीयः; [1]मनसश्चक्षुरादेश्चान्तर्बहिःकरणस्य सद्भावात् ततोऽ[१]स्य विशेषा[२]भावा[३]च्च। अनयोरचेतनत्वात्प्र[४]धानं चेतनं करणमित्यप्यसमीचीनम्; भावेन्द्रियमनसोश्चेतनत्वात्। तत्परोक्षत्वसाधने च सिद्ध[५]साधनम्; स्वार्थ[2]ग्रहणशक्तिलक्षणायां[६] [७]लब्धेर्मनसश्च भावकरणस्य [८]छद्मस्थाप्रत्यक्षत्वात्। [९]उपयोगलक्षणं तु भावकरणं नाप्रत्यक्षम्; स्वार्थग्रहणव्यापारलक्षणस्यास्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वा[१०]त् '[3]घटादिद्वारेण घटादिग्रहणे [११]उपयुक्तोऽप्यहं घटं न पश्यामि पदार्थान्तरं तु पश्यामि' इत्युपयोगस्वरूपसंवेदनस्याखिलजनानां सुप्रसिद्धत्वात्। क्रियायाः करणाविनाभावित्वे [१२]चात्मनः स्वसंवित्तौ किङ्करणं स्यात्? [१३]स्वात्मैवेति चेत्, अर्थेऽपि स एवास्तु किमदृष्टा[१४]न्यकल्पनया? ततश्चक्षुरादिभ्यो विशेष[१५]मिच्छता[१६] [१७]ज्ञानस्य कर्मत्वेनाप्रतीतावप्यध्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यम्। [१८]फलज्ञानात्मनोः फलत्वेन कर्तृत्वेन चानुभूयमा[१९]नयोः प्रत्यक्षत्वाभ्युप[२०]गमे [२१]करणज्ञाने करणत्वेनानुभूयमानेऽपि सोऽस्तु विशेषा[२२]भावात्। [4]न [२३]चा[२४]भ्यां सर्वथा करणज्ञानस्य [२५]भेदो

१ परोक्षज्ञानस्य। २ परोक्षत्वेन। ३ उभयत्र। ४ मुख्यम्। ५ कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वाद्धेतोः। ६ बाह्येन्द्रियाश्रितायाः। ७ अर्थग्रहणशक्तेः। ८ असदादि। ९ अर्थग्रहणव्यापारः। १० तदेव दर्शयति। ११ व्याप्रियमाणः। १२ किञ्च। १३ स्वस्वरूपम्। १४ करण। १५ भेदम्। १६ परेण। १७ करणरूपस्य। १८ अर्थपरिच्छित्ति। १९ ताभ्यां (तासंज्ञा षष्ठयाः। द्विःपदेन द्विवचनं ग्राह्यम्)। २० परेण। २१ करणज्ञानं प्रत्यक्षमेव स्वस्वरूपेण प्रतिभासमानत्वात्फलज्ञानात्मवत्। २२ स्वरूपेण प्रतिभासाविशेषात्। २३ किञ्च। २४ का (पञ्चमी विभक्तिः)। २५ अन्यथा।

1 "इन्द्रियमनसोरेव करणत्वात्, तयोरचेतनत्वादुपकरणमात्रत्वात् प्रधानं चेतनं करणमिति चेन्न; भावेन्द्रियमनसोः परेषां चेतनतयाऽवस्थितत्वात्।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४६। "मनसश्चक्षुरादेश्चान्तर्बहिःकरणस्य सद्भावात्, ताभ्यां ज्ञानस्य परोक्षत्वेन विशेषाभावाच्च। अथ मनश्चक्षुरादिकायादेरचेतनत्वात् ज्ञानाख्यं करणं चेतनत्वेन ताभ्यां विशिष्यत इत्युच्यते; तदप्यनुपपन्नम्; भावरूपयोरिन्द्रियमनसोरपि चेतनत्वात्...।" स्या० रत्ना० पृ० २१४।

2 "अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः।" लघी० स्ववि०, न्यायकुमु० पृ० ११५।

3 "चक्षुरादिद्वारेणोपयुक्तोऽहं घटं पश्यामीत्युपयोगस्वरूपसंवेदनस्य सर्वेषामपि प्रसिद्धत्वात्।" स्या० रत्ना० पृ० २१४।

4 "तदेव तस्य फलमिति चेत्; प्रमाणादभिन्नं भिन्नं वा?...कथञ्चिदभिन्नमिति चेन्न सर्वथा करणज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं विरोधात्।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४६।

"किंच, आत्मप्रमाणफलाभ्यां सकाशात् करणज्ञानस्य सर्वथा भेदः, कथञ्चिद्वा? स्या० रत्ना० पृ० २१४।

मतान्त[1]रानुषङ्गात्। कथञ्चिद्भेदे[2] तु नास्याऽप्रत्यक्षतैकान्तः श्रेयान् प्रत्यक्षस्वभावाभ्यां[3] कर्तृफलज्ञानाभ्याम[4]भिन्नस्यै[5]कान्ततोऽप्रत्यक्षत्वविरोधात्।

किञ्च, [1]आत्मज्ञा[6]नयोः सर्वथा कर्मत्वाप्रसिद्धिः, कथञ्चिद्वा? न तावत्सर्वथा[7]; पुरु[8]षान्तरापेक्षया प्रमा[9]णान्तरपेक्षया[10] च कर्मत्वाप्रसिद्धिप्रसङ्गात्। कथञ्चिच्चेत्, येनात्मना[11] कर्मत्वं सिद्धं तेन प्रत्यक्षत्वमपि, अस्म[12]दादिप्रमात्रपेक्षया घटादीनामप्यंश[13]त एव कर्मत्वाध्यक्षयोः प्रसिद्धेः। विरुद्धा च[14] प्र[15]तीयमान[16]योः कर्मत्वाप्रसिद्धिः, प्रतीयमानत्वं हि ग्राह्यत्वं तदेव कर्मत्वम्। स्व[17]तः प्रतीयमानत्वापेक्षया कर्मत्वाप्रसिद्धौ प[18]रतः कथं तत्सिध्येत्? विरोधाभावाच्चे-त्स्व[19]तस्तत्सिद्धौ को विरोधः? कर्तृकरणत्वयोः कर्मत्वेन सहानवस्थानम्; परतस्तत्सिद्धौ स[20]मानम्। '[2]घटग्राहिज्ञा[21]नविशिष्टमात्मानं स्व[22]तोऽहमनुभवामि' इत्यनुभवसिद्धं स्वतः प्रतीयमानत्वापेक्षयापि कर्मत्वम्। तन्नार्थवज्ज्ञानस्य प्रतीतिसिद्धप्रत्यक्षताऽपला[23]पो-

---

१ नैयायिक। २ करणरूपेण नतु ज्ञानरूपेण। ३ का। ४ करणज्ञानं सर्वथा न परोक्षं प्रत्यक्षस्वभावाभ्यां कर्तृफलज्ञानाभ्यामभिन्नत्वात्तत्स्वरूपवत्। ५ करणस्य। ६ करण। ७ अन्यथा। ८ अस्य करणज्ञानमस्ति उपदेशकृतार्थनिश्चयान्यथानुपपत्तेः। ९ करण। १० मम करणज्ञानमस्ति अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्तेः। ११ स्वभावेन। १२ साकल्येन किमिति न स्यात्प्रत्यक्षत्वमित्युक्ते सत्याह। १३ स्थूलत्वादौ। १४ किञ्च। १५ कर्मत्वेन करणत्वेन च। १६ आत्मज्ञानयोः। १७ स्वयं स्वं जानातीति अपेक्षया। १८ परापेक्षया स्वयं कर्मत्वं च कथम्। १९ (स्वयं)। २० कर्तृकरणयोः परतः कर्मत्वेन प्रतीतिरस्ति कथं समानं सहानवस्थानं स्यादित्युक्ते सत्याह। २१ विशेषण। २२ स्वयं। २३ अन्यथा।

---

1 "सर्वथा प्रतीयमानत्वमसिद्धं कथञ्चिद्वा? न तावत्सर्वथा; परेणापि प्रतीयमानत्वाभावप्रसङ्गात्। कथञ्चित्पक्षे तु नासिद्धं साधनम्, तथैवोपन्यासात्। स्वतःप्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्; परतः कथं तत्सिद्धम्? विरोधाभावादिति चेत्; स्वतस्तत्सिद्धौ को विरोधः? कर्तृत्वकर्मत्वयोः सहानवस्थानमिति चेत्; परतस्तत्सिद्धौ समानम्।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५।

"सुप्रसिद्धो हि घटग्राहिज्ञानविशिष्टमात्मानं स्वतोऽहमनुभवामीत्यनुभवः" न्यायकुमु० पृ० १७७।

2 "सकलजगत्प्रतीतौ हि स्तम्भग्राहिज्ञानं ततोऽ(स्वतोऽ)हमनुभवामि इत्यनुभवः, तस्माच्च प्रसिद्धं ज्ञाने स्वरूपापेक्षया कर्मत्वं कथं नामापह्नोतुं शक्यते?"

स्या० रत्ना० पृ० २१५

ऽ[1]र्थप्रत्यक्षत्वस्याप्यपलापप्रसङ्गात् । प्रतीतिसिद्ध[2]स्वभावस्यैकत्रा[3]पलापेऽन्यत्रा[4]प्यनाश्वासा[5]न्न क्व[6]चित्प्रतिनियतस्वभावव्यवस्था स्यात् ।

किञ्च[1], इयं प्रत्यक्षता अ[7]र्थधर्मः, ज्ञानधर्मो वा ? न तावदर्थधर्मः, [8]नीलतादिवत्तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया च प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । न चैवम्, आत्मन्येवास्या ज्ञानकाले एव स्वासाधारणविषयतया च प्रसिद्धेः । तथा च न प्रत्यक्षता अर्थधर्मः तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया चाऽप्रसिद्धत्वात् । यस्तु तद्धर्मः स तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया च प्रसिद्धो दृष्टः, यथा रूपादिः, तद्देशे ज्ञानकालादन्यदाप्यनेकप्रमातृसाधारणविषयतया चाप्रसिद्धा चेयम् तस्मान्न तद्धर्मः । यस्यात्मनो ज्ञाने[10]नार्थः प्रकटीक्रियते त[11]द्ज्ञानकाले तस्यैव सोऽर्थः प्रत्यक्षो भवतीत्यपि श्रद्धामात्रम्; अर्थप्रकाशकविज्ञानस्य प्राकट्याभावे तेनार्थ[12]प्रकटीकरणासम्भवा[13]त्प्रदीपवत्, अ[14]न्यथा सन्ता[15]नान्तरवर्तिनोपि ज्ञानादर्थप्राकट्य[16]प्रसङ्ग[17]ः । चक्षुरादिवत्तस्य प्राकट्याभावेप्यर्थे प्राकट्यं घटेतेत्यप्यसमीचीनम्; चक्षुरादेरर्थप्रकाशकत्वासम्भवात् । तत्प्रकाशकज्ञानहेतुत्वात् खलूपचारेणार्थप्रकाशकत्वम् । का[18]रणस्य चा[19]ज्ञातस्यापि कार्ये व्यापाराविरोधो ज्ञापकस्यैवाज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात् "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" [ ] इत्यखिलैः परीक्षादक्षैरभ्युपगमात् । प्रमातुरात्मनो ज्ञापकस्य स्वयं प्रकाशमानस्योपगमादर्थे प्राकट्यसम्भवे करणज्ञानकल्पनावैफल्यमित्युक्तम् । नापि ज्ञानधर्मः; अस्य सर्वथा परोक्षतयोपगमात् । य[20]त्खलु सर्वथा परोक्षं तन्न प्रत्यक्षताधर्माधारो यथाऽदृष्टादि, सर्वथा परोक्षं च परैरभ्युपगतं ज्ञा[21]नमिति ।

---

१ करणज्ञानं प्रत्यक्षमर्थप्रत्यक्षत्वान्यथानुपपत्तेः । २ प्रत्यक्षत्वरूपस्य । ३ करणज्ञाने । ४ स्थूलत्वाद्यर्थे । ५ अविश्वासात् । ६ वस्तुनि । ७ घटपटादि । ८ अन्यथा । ९ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमनेन वाक्येनार्थधर्मत्वादित्येतस्य हेतोः । १० करणज्ञानेन । ११ करण । १२ ज्ञानं नार्थं प्रकटयति स्वयमप्रत्यक्षत्वात्परमाण्वादिवत् । १३ करणज्ञानं प्रत्यक्षमर्थप्रकाशकत्वात्प्रदीपवत् । १४ अ(प्र)त्यक्षादपि ज्ञानादर्थप्राकट्ये । १५ पुरुषान्तर । १६ स्वस्य । १७ उभयत्रापि परोक्षत्वाविशेषात् । १८ कारकस्य । १९ किञ्च । २० करणज्ञानं न प्राकट्यधर्माधिकरणं सर्वथा परोक्षतयोपगमात् । २१ करणम् ।

---

1 "अथ प्रकाशतामात्रं तदपि ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मः उभयधर्मः, स्वतन्त्रं वा स्यात् ?" न्यायकुमु० पृ० १७९ ।

कुतश्चैवंवादिनो[१] ज्ञान[२]सद्भावसिद्धिः-प्रत्यक्षात्, अनुमानादेर्वा? न तावत्प्रत्यक्षात्तस्यातद्विषयतयोपगमात्[३]। यद्यद्विषयं न भवति न तत्तद्व्यवस्थापकम्, यथास्मादृक्प्रत्यक्षं परमाण्वाद्यविषयं न तद्व्यवस्थापकम्। ज्ञानाविषयं च प्रत्यक्षं परै[४]रभ्युपगतमिति।

नाप्यनुमानात्; तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। तर्द्धि अर्थज्ञप्तिः; इन्द्रियार्थौ वा, तत्सह[५]कारि[६]गुणं मनो वा? अर्थज्ञप्तिश्चेत्सा किं ज्ञान[७]स्वभावा, अर्थस्वभावा वा? यदि ज्ञानस्वभावा; तदाऽसिद्ध[८]त्वात्तस्याः कथमनुमापकत्वम्? न खलु ज्ञानस्वभावाविशेषेपि 'ज्ञप्तिः प्रत्यक्षा न करणज्ञानम्' इत्यत्र व्यवस्थानिबन्धनं पश्यामोऽन्यत्र म[१०]हामोहात्। श[११]ब्दमात्रभेदाच्च सिद्धासिद्धत्व[१२]भेदः स्वेच्छापरिकल्पितो[१३]ऽर्थस्याभिन्नत्वात्। ज्ञा[१४]नत्वेन हि प्रत्यक्षताविरोधे ज्ञप्तावपीयं न स्याद[१५]विशेषात्। अथार्थस्वभावा ज्ञप्तिः तदार्थप्राकट्यं सा, न चैतदर्थग्राहकविज्ञान[१६]स्यात्म[१७]धिकरणत्वेनापि प्रा[१८]क्ट्याभावे घटते, पुरुषान्तरज्ञानादप्यर्थप्राकट्यप्रसङ्गात्। आ[१९]त्माधिकरणत्वपरिज्ञानाभावे च[२०] ज्ञानस्य ज्ञानेन ज्ञातोप्यर्थः नात्मानुभवितृ[२१]कत्वेन ज्ञातो भवेत् 'म[२२]या ज्ञातोऽयमर्थः' इति। अर्थगतप्राकट्यस्य सर्वसाधारणत्वा[२३]च्चात्मान्तरबुद्धे[२४]रप्यनुमानं स्यात्[२७]। य[२५]द्बुद्ध्या यस्यार्थः प्रकटीभवति तद्बुद्धिमेवासौ त[२६]तोऽनुमि-

---

१ सर्वथा परोक्षकरणज्ञानमित्येवंवादिनः। २ करण। ३ वीतं प्रत्यक्षं करणज्ञानाव्यवस्थापकं तदविषयत्वादिति। ४ मीमांसकैः। ५ वसः। ६ एकाग्रम्। ७ करणज्ञान। ८ अज्ञातासिद्धत्वम्। ९ पक्षे। १० महदज्ञानं वर्जयित्वा। ११ अर्थज्ञप्तिः करणज्ञानमिति। १२ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षभेदः। १३ ज्ञानलक्षणस्य। १४ करणस्य। १५ ज्ञानत्वेन प्रत्यक्षतायाः। १६ करणज्ञानस्य। १७ जीव अहमधिकरणमस्य ज्ञानस्येति परिज्ञानाभावे। १८ अत्यन्तपरोक्षत्वात्। १९ स्व। २० किञ्च। २१ ज्ञानस्य। २२ जीवेन। २३ किञ्च। २४ सर्वेषां करणज्ञानमस्ति अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्तेः। २५ ता। २६ अर्थप्राकट्यात्। २७ जानाति।

---

1 "किंच, बुद्धेः स्वसंवेदनप्रत्यक्षागोचरत्वे कुतस्तत्सत्त्वं सिध्येत्? प्रमाणान्तराच्चेत् किं प्रत्यक्षरूपात्, अनुमानरूपाद्वा?" न्यायकुमु० पृ० १७७। स्या० रत्ना० पृ० २१६।

2 "तद्धि इन्द्रियम्, अर्थः, तदतिशयः, तत्सम्बन्धः, तत्र प्रवृत्तिर्वा भवेत्?" न्यायकुमु० पृ० १७८। स्या० रत्ना० पृ० २१६।

3 "यदि पुनरर्थधर्मत्वादर्थपरिच्छित्तेः प्रत्यक्षतेष्यते, तदा साऽर्थप्राकट्यमुच्यते, न चैतदर्थग्रहणविज्ञानस्य प्राकट्याभावे घटामटति अतिप्रसंगात्। न ह्यप्रकटे अर्थज्ञाने सन्तानान्तरवर्तिनिकरस्य चिदर्थस्य प्राकट्यं घटते।" प्रमाणप० पृ० ६१।

मीते नात्मान्तरबुद्धिमित्यप्यसारम्; बुद्ध्यात्मनोरप्रत्यक्षतैकान्ते[1] 'यद्बुद्ध्या[2] यस्यार्थः प्रकटीभवति' इत्यस्यैवान्धपरम्परया व्यवस्थापयितुमशक्तेः। प्रत्यक्षत्वे चात्मनः सिद्धं विज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वम्। आत्मैव हि स्वार्थग्रहण[3]परिणतो जानातीति ज्ञानमिति कर्तृसाधनज्ञानशब्देनाभिधीयते।

इन्द्रियार्थौ[4] लिङ्ग[5]मित्यप्यनालोचिताभिधानम्; तयोर्विज्ञानसद्भावा[6]विनाभावासिद्धेः। योग्यदेशे स्थितस्य प्रतिपत्तुरिन्द्रियार्थसद्भावेप्यन्यत्र[7] गतमनसो विज्ञानाभावात्। तत्सिद्धौ[8] चेन्द्रियस्यातीन्द्रियत्वेनार्थस्यापि ज्ञानाऽप्रत्यक्षत्वेनासिद्धेः कथं तथापि[10] हेतुत्वं[11] तयोः? सिद्धौ वा न साध्यज्ञान[12]काले ज्ञानान्तरात्तत्सिद्धिर्युगपद् ज्ञानानुत्पत्त्यभ्युपगमात्। उत्तरकालीनज्ञानात्तत्सिद्धौ तदा साध्यज्ञानस्याभावात्कस्यानुमानम्? उभय[13]विषयस्यैकज्ञानस्यानभ्युपगमादनवस्था[14]प्रसङ्गाच्चानयोरसिद्धिः।

इन्द्रियार्थसहकारिप्रगुणं[15] मनो लिङ्गमित्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; तत्सद्भावासिद्धेः। युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेस्तत्सिद्धिः, तथा हि-आत्मनो मनसा तस्येन्द्रियैः सम्बन्धे ज्ञानमुत्पद्यते। यदा चास्य चक्षुषा सम्बन्धो न तदा शेषेन्द्रियैरतिसूक्ष्म[16]त्वात्; इत्यप्यसङ्गतम्; दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपद्रूपादिज्ञानपञ्चकोत्पत्तिप्रतीतेः अश्वविकल्पकाले[1] गोनिश्चयाच्च तदसिद्धेः। न चात्र क्रमैकान्तकल्पना-प्रत्यक्षविरोधात्। किञ्चै[17]वंवादिना[18] (किं) युगपत्प्रतीतं[19] येनावयवावयव्यादिव्यवहारः स्यात्? घटपटादिकमिति चेत् न; अत्रापि तथा[3] कल्पनाप्रसङ्गात्। किञ्चातिसूक्ष्म[2]स्यापि मनसो नयना-

१ करणज्ञान। २ ता। ३ ज्ञान। ४ द्वितीयविकल्पस्य। ५ करणज्ञानस्य। ६ भा (तृतीया)। ७ कस्मिंश्चिद्विषये। ८ करणज्ञानस्य सर्वथा परोक्षत्वात्। ९ इन्द्रियार्थयोः। १० असिद्धत्वेपि। ११ करणज्ञानं प्रति। १२ करणज्ञाने। १३ इन्द्रियार्थ। १४ इन्द्रियार्थाल्लिङ्गात्करणज्ञानसिद्धिरिन्द्रियार्थयोरपि सिद्धिः कस्मादपरकरणज्ञानात्तस्यापि अपरेन्द्रियार्थादित्यनवस्था। १५ एकाग्रम्। १६ मनसः। १७ च शब्दः आधिक्ये। १८ दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपद् ज्ञानं नोत्पद्यते इत्येवंवादिना। १९ अत्राक्षेपार्थे किमिति पूर्वेण सम्बन्धः। २० क्रमैकान्त।

1 "अश्वविकल्पकाले गोदर्शनानुभवात् युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्चासिद्धा कथं मनोऽनुमापिका? नचाश्वविकल्पगोदर्शनयोर्युगपदनुभवेऽपि क्रमोत्पत्तिकल्पना प्रत्यक्षविरोधात्।" सन्मति० टी० पृ० ४७७।

2 "किंच, चक्षुराद्यन्यतमेन्द्रियसम्बन्धात् रूपादिज्ञानोत्पत्तिकाले मनसः सम्बन्धात् मानसज्ञानं किन्न भवेत्? तथाविधादृष्टाभावादित्युत्तरम् अदृष्टनिमित्तयुगपज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तितो मनसोऽनिमित्तता...।" सन्मति० टी० पृ० ४७७।

दीनामन्यतमेन सन्निकर्षसमये रूपादिज्ञानवन्मानसं सुखादिज्ञानं किन्न स्यात् सम्ब[१]न्धसम्बन्धसद्भावात्? त[२]थाविधादृष्टस्याभावाच्चेत्; अदृष्टकृता तर्हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिस्तदे[३]वानुमापयेन्न मनः।

किञ्च, 'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तेर्मनःसिद्धिस्तु[४]तश्चास्याः प्रसिद्धिः' इत्यन्यो[1]न्याश्रयः। चक्रकप्रसङ्गश्च-'विज्ञा[५]नसिद्धिपूर्विका हि युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिसिद्धिः, तत्सि[६]द्धिर्मनःपूर्विका' इति । तस्मात्त[७]त्सहकारि प्रगुणं मनो लिङ्गमित्यप्यसिद्धम् ।

अस्तु वा[2] किञ्चिल्लिङ्गम्, तथापि-ज्ञानस्याप्रत्यक्षतैकान्ते त[८]त्सम्ब[९]न्धासिद्धि[१०]ः। न चासिद्ध[११]सम्बन्ध(न्धं) लिङ्गं[१२] कस्यचिद्ग[१३]मकमतिप्रसङ्गात्। ततः परोक्षतैकान्ताग्रहग्रहाभिनिवेश[१४]परित्यागेन 'ज्ञानं[१५] स्व[3]व्यवसायात्मकमर्थज्ञप्ति[१६]निमित्तत्वा[१७]त् आत्मवत्' इत्यभ्युपगन्तव्यम् । नेत्रालोकादिनानेकान्त इत्यप्ययुक्तम्; तस्योपचारतोऽर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वसमर्थनात्, परमार्थतः प्रमातृप्रमाणयोरेव तन्निमित्तत्वोपपत्तेरित्यलमतिप्र[१८]सङ्गेन ।

एतेन[१९] 'आत्मा[4]ऽप्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्करणज्ञानवत्'

---

१ मनसा सम्बद्ध आत्मनि सुखादेः समवायसम्बन्धः सम्बन्धसम्बन्धः। २ युगपज्ज्ञानोत्पादकस्य। ३ करणज्ञानं कर्म। ४ करणज्ञान। ५ ज्ञप्ति। ६ विज्ञानसिद्धिः। ७ इन्द्रियार्थ। ८ अविनाभाव। ९ भा। १० लिङ्गस्य। ११ अज्ञात। १२ साध्यस्य। १३ अन्यथा। १४ दुराग्रह। १५ करणज्ञानं। १६ साध्यसमस्यात् स्वज्ञप्तिनिमित्तत्वाशङ्कातः। १७ कुठारेण व्यभिचारः। १८ मीमांसकभाट्टकरणज्ञानदूषणकथनेन। १९ करणज्ञानस्य परोक्षत्वनिराकरणपरेण ग्रन्थेन।

---

1 "तथाहि-सिद्धे तद्विभ्रमे मनःसिद्धिः, तत्सिद्धौ च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वान्न मनःसिद्धिः।" सन्मति० टी० पृ० ४७८।

2 "अस्तु वा किञ्चिल्लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्धं तत् न परोक्षां बुद्धिमनुमापयितुं समर्थम्...प्रतिबन्धश्च लिंगलिंगिनोः अविनाभूतत्वेन प्रमाणप्रतिपन्नयोरेव भवति। न च ज्ञानं तेन चाविनाभूतं किञ्चिल्लिंगं प्रमाणेन प्रतिपन्नं यतः सम्बन्धग्रहणपुरस्सरमनुमानं प्रवर्तेत।" न्यायकुमु० पृ० १८१।

3 "ज्ञानं स्वपरिच्छेदकमर्थज्ञानत्वात्।" युक्त्यनुशा० टी० पृ० ९

"स्वव्यवसायायात्मकं ज्ञानमर्थपरिच्छित्तिनिमित्तत्वादात्मवत्" प्रमाणप० पृ० ६१।

4 "किञ्च अप्रकाशस्वभावानि मेयानि माता च प्रकाशमपेक्षन्ताम्, प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वान्नान्यमपेक्षते। जाग्रतो हि मेयानि माता च प्रकाशन्ते, सुषुप्तस्य च न

इत्याच[1]क्षाणः प्रभाक[2]रोपि प्रत्याख्यातः । प्र[3]मिते[1]ः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वेपि प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्[4] । तस्याः क्रियात्वेन प्रतिभासनात्प्रत्यक्ष[5]त्वे करणज्ञान-आत्म[6]नोः करणत्वेन कर्तृत्वेन च प्रति[9]भासनात्प्रत्यक्षत्वमस्तु । न चा[7]स्यां तस्याः सर्वथा भेदो[8]ऽभेदो वा-मता[10]न्तरानुषङ्गात् । कथञ्चिदभेदे-सिद्धं तयोः क[11]थञ्चित्प्रत्यक्षत्वम्; प्र[12]त्यक्षादभिन्न[13]योः सर्वथा परोक्ष[14]त्वविरोधात् । ननु शाब्दी प्रतिपत्तिरेषा[15] 'घटमहमात्मना वेद्मि' इति ना[16]नुभवप्रभावा तस्या[17]स्तदविनाभावाभावात्, अन्यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादिप्रतिपत्तेरप्यनुभवत्वप्रसङ्ग[18]स्तत्क[19]थम[20]तः प्रमात्रादीनां प्रत्यक्षताप्रसिद्धिरित्याह—

शब्दानुच्चारणेपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

यथैव हि घटस्व[21]रूपप्रतिभासो घ[22]टशब्दोच्चारणमन्तरेणापि प्रतिभासते । तथा प्रतिभासमानत्वाच्च[23] न शाब्दस्तथा प्रमात्रादीनां स्वरूपस्य प्रतिभा[24]सोपि तच्छब्दोच्चारणं विनापि प्रतिभासते । तस्माच्च न शाब्दः । तच्छब्दोच्चारणं पुनः प्रतिभातप्रमा-

---

१ ब्रुवन् । २ वृद्ध । ३ अर्थपरिच्छित्तेः । ४ प्राभाकरेण । ५ सति । ६ कर्मत्वेनाप्रतीयमानयोरपि । ७ किञ्च । ८ नैयायिकः । ९ बौद्धः । १० अन्यथा । यौगसौगतयोः परिग्रहः । ११ कर्मत्वेन परोक्षत्वं कर्तृत्वेन करणत्वेन प्रत्यक्षत्वं कर्तृज्ञानयोः । १२ प्रमितिरूपात् । १३ करणज्ञानात्मनोः । १४ भा । १५ अहमात्मना । १६ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष । १७ अनुभवेन सह । १८ प्रतीतित्वात्सम्प्रतिपन्नप्रतीतिवत् । १९ कारणात् । २० शाब्द्याः प्रतिपत्तेः श(स)काशात् । २१ ता । २२ अयं घटः । २३ अनुमानसद्भावाच्च । २४ सुखादिवत् ।

द्वयमपि प्रकाशते । न च तदानीं तन्नास्त्येव; प्रबोधे सति प्रत्यभिज्ञानात्, तत्र प्रकाशात्मकत्वे सुषुप्तिदशायामपि द्वयं प्रकाशेत, तस्मादप्रकाशात्मकमेतद् द्वयमंगीक्रियते ।''' मेयानां मातुश्च स्वतःप्रकाशो नोपपद्यत इति युक्ता तयोः परापेक्षा, मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्ति इति स्वयम्प्रकाशैव मितिः ।" प्रक० पं० पृ० ५७ ।

1 तेषां फलज्ञानहेतोर्व्यभिचारः, कर्मत्वेनाप्रतीयमानस्य फलज्ञानस्य प्राभाकरैः प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात् । तस्य क्रियात्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्षत्वे प्रमातुरप्यात्मनः कर्तृत्वेन प्रतिभासनात् प्रत्यक्षत्वमस्तु ।" प्रमाणप० पृ० ६१ ।

2 "तच्च फलज्ञानमात्मनोऽर्थान्तरभूतमनर्थान्तरभूतमुभयं वा ? न तावत् सर्वथाऽर्थान्तरभूतमनर्थान्तरभूतं वा; मतान्तरप्रवेशानुषङ्गात् । नाप्युभयम्; पक्षद्वयनिगदितदूषणानुषक्तेः । कथञ्चिदर्थान्तरत्वे तु फलज्ञानादात्मनः कथञ्चित्प्रत्यक्षत्वमनिवार्यम्, प्रत्यक्षादभिन्नस्य कथञ्चिदप्रत्यक्षतैकान्तविरोधात् ।" प्रमाणप० पृ० ६१ ।

ज्ञादिस्वरूपप्रदर्शनपरं नाऽनालम्बन[1]मर्थवत्[2], अन्यथा 'सुख्यहम्' इत्यादिप्रतिभा[3]सस्याप्यनालम्बन[4]त्वप्रसङ्गः।

न[5]नु य[6]था सु[7]खादि[8]प्रतिभास[9]: सु[10]खादिसंवेद[11]नस्याप्रत्यक्षत्वेप्युपपन्नस्तथार्थसंवेद[12]नस्याप्रत्यक्षत्वेप्यर्थप्रतिभासो भविष्यति इत्यप्यविचारितरमणीयम्; सुखादेः संवेदनादर्थान्तर[13]स्वभावस्याप्रतिभासनादाह्लादनाकारपरिणतज्ञानविशेषस्यैव सुखत्वात्, तस्य चाध्यक्षत्वात् तस्यानध्यक्षत्वेऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञाने[14]ग्राह्यत्वे च-अनुग्रहोप[15]घातकारित्वासम्भवः, अन्यथा परकीयसुखादीनामप्या[16]त्मनोऽत्यन्ताप्रत्यक्षज्ञानग्राह्याणां तत्कारित्वप्रसङ्गः। ननु पुत्रादिसुखा[17]द्यप्रत्यक्षत्वेपि तत्सद्भावोपलम्भमात्रा[18]दा[19]त्म[20]नोऽनुग्रहाद्युपलभ्यते तत्कथमयमेकान्तः? इत्यप्यशिक्षितलक्षि[21]तम्; नहि तत्सुखाद्युपलम्भमात्रात् सौमनस्या[22]दिजनिताभिमानिकसुख[23]परिणतिमन्तरेणा[24]त्म[25]नोऽनुग्रहादिसम्भ[26]वः, श[27]त्रुसुखाद्युपलम्भाद्दुश्चेष्टितादि[28]र्ना परित्यक्तपुत्रसुखाद्युपलम्भाच्च तत्प्रसङ्गात्। वि[29]ग्रहादिकमतिसन्निहितमपि आभिमानिकसुखमन्तरेणा[30]नुग्रहादिकं न विदधाति-किमङ्ग[31] पुनरतिव्यवहिताः पुत्रसुखादयः।

अस्तु नाम सुखादेः प्रत्यक्षता, सा तु[32] प्रमाणान्तरेण न स्वतः 'स्वात्मनि क्रियाविरोधात्' इत्यन्ये[33]ः, तस्यापि प्रत्यक्षविरोधः। न[1] खलु घटादिवत् सुखाद्यविदित[34]स्वरूपं पूर्वमुत्पन्नं पु[35]नरिन्द्रियेण सम्बद्ध्यते त[36]तो ज्ञा[37]नं [38] ग्रह[39]णं चेति लोके प्रतीतिः। प्रथममेवेष्टा[40]-

१ निर्विषय। २ ईप् (सप्तमी)। ३ शब्दद्वारस्य। ४ शब्दोच्चारणपूर्वकत्वात्। ५ भाट्ट। ६ करणज्ञानं प्रत्यक्षमर्थप्रकाशनिमित्तत्वात्प्रदीपवदात्मवद्वा। ७ अर्थज्ञप्तिनिमित्तत्वादित्यस्य साधनस्यानैकान्तिकत्वम्। ८ करणज्ञानस्य। ९ परिच्छित्तिः। १० दुःखादि। ११ करणज्ञानस्य। १२ करणज्ञानस्य। १३ भिन्न। १४ करण। १५ दुःखात्स्वस्य। १६ स्वस्य। १७ अनैकान्तिकत्वं। १८ प्रमाणमात्रात्। १९ स्वस्य। २० पितुः। २१ कथं। २२ वैमनस्य। २३ आत्मनः आत्मनि। २४ स्वस्य। २५ तातस्य। २६ अन्यथा। २७ अनैकान्तिकत्वपरिहारः कृतः। २८ सुचेष्टित। २९ शरीर। ३० उदासीनपुरुषस्य। ३१ पु(कु)त्र। ३२ विशेषे। ३३ नैयायिको वैशेषिको वा। ३४ अज्ञात। ३५ पश्चात्। ३६ इन्द्रियसम्बन्धात्। ३७ करणरूपमुत्पद्यते। ३८ ज्ञानेन। ३९ परिच्छित्तिरूपं। ४० स्रक्चन्दनादि।

1 "न हि सुखाद्यविदितस्वरूपं पूर्वं घटादिवदुत्पन्नं पुनरिन्द्रियसम्बन्धोपजातज्ञानान्तराद् वेद्यते इति लोकप्रतीतिः, अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदयमासादयदुपलभ्यते।" सन्मति० टी० पृ० ४७६।

नि[1]ष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनोऽ[2]स्योदयप्रतीतेः। स्वात्मनि क्रि[3]याविरोधं च[4]ानन्तरमेव विचारयिष्यामः। यदि च[5]ार्थान्तरभू[6]त-प्रमाणप्रत्यक्षाः सुखादयस्तर्हि तदपि प्रमाणं प्रमाणान्तरप्रत्यक्ष-मित्यनवस्था। विभिन्नप्रमाणग्राह्याण[7]ां चानु[8]ग्रहा[9]दिकारित्वं[10] वि-रोध[11]ः। न हि स्त्रीसङ्गमादिभ्यः प्रतीयमानाः सुखादयोऽन्य[12]स्या-त्मन[13]स्तत्कारिणो दृष्टाः। ननु परकीयसुखादीनामनुमानगम्यत्वा-न्नात्मनोऽनुग्रहादिकारित्वम् आत्मीयानां प्रत्यक्षाधिगम्यत्वात्त-त्कारित्वमित्यप्यसारम्; योगिनो[14][1]पि तत्कारित्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षा-धिगम्यत्वाविशेषात्। आत्मीयसुखादीनामेव तत्कारित्वं नान्येषा-मित्यपि फल्गुप्रायम्, अ[15]त्यन्तभेदेऽर्थान्तरभूतप्रमाणग्राह्यत्वे चात्मीयेत[16]रभेदस्यैवासम्भवात्।

आत्मीयत्वं हि तेषां त[17]द्गुणत्वात्, तत्का[18]र्यत्वाद्वा स्यात्, त[19]त्र समवायाद्वा, त[20]दाधेयत्वाद्वा, त[21]दद[22]ृष्टनिष्पाद्यत्वाद्वा। न तावत्तद्गुण-त्वात्; तेषामात्मनो व्य[23]तिरेकैकान्ते 'त[24]स्यैव ते [25]गुणा नाकाशादेर-न्यात्म[26]नो वा' इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

त[27]त्कार्यत्वाच्चेत्कुतस्तत्कार्यत्वम्? त[28]स्मिन् सति भावात्; आकाशादौ त[29]त्प्रसङ्गः। तस्य निमित्तकारणत्वेन व्यापाराददोष-श्चेत्, आत्मनोपि तथा तदस्तु। समवायिका[30]रणमन्तरेण कार्या-नुत्पत्तेरात्मनस्तत्कल्प्यते, गगनादेस्तु निमित्तकारणत्वमित्य-प्ययुक्तम्; विप[31]र्ययेणापि तत्कल्पनाप्रसङ्गात्। प्रत्यासत्तेरात्मैव समवायिकारणं चेन्न; देशकालप्रत्यासत्तेर्नित्यव्यापित्वेनात्मव-दन्यत्रा[32]पि समानत्वात्। योग्यतापि कार्ये सा[33]मर्थ्यम्, तच्च[34]ाका-

१ अह्लादि। २ सुखादेः। ३ परिच्छित्तिलक्षणा। ४ अग्रे। ५ किञ्च। ६ सुखादेर्भिन्नप्रमाणात्। ७ सुखादीनां। ८ किञ्च। ९ उपघात। १० स्वस्य। ११ परकीयसुखादिवद्दृष्टान्तः। १२ देवदत्तस्य पुरुषस्य। १३ यज्ञदत्तस्य स्वस्य। १४ जीवन्मुक्तस्य। १५ आत्मनः सकाशात्सुखादीनाम्। १६ परकीय। १७ देव-दत्तात्म। १८ देवदत्तात्म। १९ देवदत्तात्मनि। २० देवदत्तात्म। २१ देव-दत्तात्म। २२ भा। २३ भेदैकान्ते। २४ देवदत्तात्मनः। २५ सुखादयः। २६ यज्ञदत्तात्मनः। २७ देवदत्तात्म। २८ देवदत्ते सति। २९ सुखादयः आकाशकार्यत्वादाकाशादीयाः स्युराकाशादौ सति भावात्। ३० उपादानकारणं। ३१ आत्मा निमित्तकारणं गगनादि समवायिकारणं। ३२ सुखादौ। ३३ शक्तिः कार्योत्पादिका। ३४ किञ्च।

1 "न चात्मनो ज्ञानाच्च अर्थान्तरभूता एव सुखादयोऽनुग्रहादिविधायिनो भवेयुः, इतरथा योगिनोऽपि ते तथा स्युः।" सन्मति० टी० पृ० ४७६।

शादेरप्यस्तीति । अथात्मन्यात्मनस्[1]तज्[2]जननसामर्थ्यं नान्यस्येत्यप्ययुक्तम्; अत्यन्त[3]भेदे तथा [4]तज्जननविरोधात्। तत्सामर्थ्यस्याप्यात्मनोऽत्यन्तभेदे 'तस्यैवेदं नान्य[5]स्य' इति [6]किङ्कृतोयं विभागः? समवाय[7]ादेश्च निषे(त्स्य)[8]मानत्वान्नियामकत्वायोगः। तन्नान्व[9]य-मात्रेण सुखादीनामात्मकार्यत्वम्। [10]तद[11]भा[12]वे[13]ऽभावात्[14]तच्चेन्न; नित्यव्यापित्वा[15]भ्यां [16]तस्याभावासम्भवात्। [17]तत्र समवायादित्यप्यसत्; तस्यात्रै[18]व निराकरिष्यमाणत्वात्, [19]सर्वत्राविशे[20]षाच्च; तेन[21] तेषां[22] तत्रै[23]व [24]समवायासम्भवात्।

[25]तदाधेयत्वाच्चेत्किमिदं [26]तदा[27]धेयत्वं[28] नाम [29]तत्र [30]समवायः, [31]तादात्म्यं वा, [32]तत्रोत्कलि[33]तत्वमात्रं वा? न तावत्समवायः, दत्तोत्तरत्वा[34]त्। नापि तादात्म्य[35]म्; मतान्तरा[36]नुषङ्गात्। तेषामात्मनोऽत्यन्तभेदे सकलात्मनां गगना[37]दीनां च व्यापित्वे '[38]तत्रैवोत्कलितत्वम्' इत्यपि श्रद्धामात्रगम्यम्। अथाऽदृष्टा[39]न्नियमः[40] 'यच्चात्मीयाऽदृष्टनिष्पाद्यं सुखं तदात्मीयमन्य[41]त्तु परकीयम्' इत्यप्यसारम्; अदृष्टस्याप्यात्मीयत्वासिद्धेः। समवायादेस्तन्नियामकत्वेप्युक्तदोषानुषङ्गः। [42]यत्र यददृष्टं सुखं दुःखं चोत्पादयति [43]तत्तस्यत्येपि मनोरथमात्रम्, परस्पराश्रयानुषङ्गात्—अदृष्ट[44]नियमे सुखादेर्नियमः, तन्नियमाच्चादृष्टस्येति। '[45]यस्य [46]श्रद्धयोप[47]गृहीतानि द्रव्यगुणकर्माणि यददृष्टं जनयन्ति तत्तस्य' इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्या अप्यात्मनोऽत्यन्तभेदे [48]प्रतिनियमासिद्धेः। 'यस्यादृष्टेनासौ जन्यते सा तस्य' इत्यप्य[49]न्योन्याश्रयादयुक्तम्। 'द्रव्यादौ [50]यस्य [51]दर्शनस्मर[52]णादीनि श्रद्धामाविर्भा-

१ सुखादि। २ उत्पाद। ३ आत्मनः सकाशात्सुखादिकं सर्वथा भिन्नं। ४ सुखादि। ५ देवदत्तस्य। ६ केन कृतः। ७ देवदत्तात्मनि सामर्थ्यस्य। ८ अग्रे। ९ तस्मिन् सति भावात्। १० देवदत्तात्म। ११ सुखादीनां। १२ व्यतिरेक। १३ सुखादि। १४ देवदत्तसुखादीनाम्। १५ देवदत्तात्मनः। १६ आत्मनः। १७ देवदत्तात्मनि। १८ ग्रन्थे। १९ खादावर्थे। २० समवायस्य। २१ कारणेन। २२ सुखादीनां। २३ देवदत्तात्मन्येव। २४ (सम्बन्ध)। २५ देवदत्तात्म। २६ खादौ। २७ वसः। २८ देवदत्तात्म। २९ देवदत्तात्मनि। ३० सुखादीनां। ३१ देवदत्तात्मना सह। ३२ देवदत्तात्मनि। ३३ आविर्भूतत्वं। ३४ जैनैः। ३५ अन्यथा। ३६ जैनमत। ३७ दिक्कालादि। ३८ देवदत्तात्मनि। ३९ पुण्यादि। ४० सुखादय आत्मीया आत्मीयादृष्टनिष्पाद्यत्वात्। ४१ पुनः। ४२ आत्मनि। ४३ आत्मनः। ४४ अस्येदमदृष्टमिति। ४५ आत्मनः। ४६ विश्वासेन। ४७ स्वीकृतानि। ४८ श्रद्धा मस्येति। ४९ श्रद्धाया नियमे अदृष्टनियमस्तस्मिंस्तन्नियमः। ५० आत्मनः। ५१ प्रत्यक्ष। ५२ प्रत्यभिज्ञान।

वयन्ति तस्य सा' इत्यप्युक्तिमात्रम्, दर्शनादीनामपि प्रतिनियमासिद्धेः। समवायात्तेषां[१] श्रद्धायाश्च प्रतिनियमः इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तस्य षट्पदार्थपरीक्षायां निराकरिष्यमाणत्वात्।

एतेन[२]ैतदपि[३] प्रत्याख्यातम् 'ज्ञानं ज्ञानान्तर[1]वेद्यं प्रमेयत्वात्पटादिवत्;' सुख[४]संवे[2]दनेन हेतोर्व्यभिचारान्महेश्वरज्ञानेन च, तस्य ज्ञानान्तरावेद्यत्वेपि प्रमेयत्वात्। तस्यापि ज्ञानान्तर[५]प्रत्यक्षत्वेऽन-

१ दर्शनादीनाम्। २ सुखदुःखादेः स्वसंविदितत्वसमर्थनपरेण ग्रन्थेन। ३ यौगमतमपि (तदेव यौगमतं दर्शयति ज्ञानमित्यादिना)। ४ सुखसंवेदनं ज्ञानं भवति न तु ज्ञानान्तरवेद्यं। ५ भा।

1 "नासाधना प्रमाणसिद्धिर्नापि प्रत्यक्षादिव्यतिरिक्तप्रमाणाभ्युपगमो... नापि च तयैव व्यक्त्या तस्या एव ग्रहणमुपेयते येनात्मनि वृत्तिविरोधो भवेत्, अपि तु प्रत्यक्षादिजातीयेन प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे। न चानवस्था, अस्ति किंचित् प्रमाणं यः स्वज्ञानेन अन्यधीहेतुः यथा धूमादि, किंचित्पुनरज्ञातमेव बुद्धिसाधनं यथा चक्षुरादि, तत्र पूर्वं स्वज्ञाने चक्षुराद्यपेक्षम्, चक्षुरादि तु ज्ञानानपेक्षमेव ज्ञानसाधनमिति क्वानवस्था? बुभुत्सया च तदपि शक्यज्ञानं सा कदाचिदेव क्वचिदिति नानवस्था।" न्यायवा० ता० टी० पृ० ३७०।

"विवादाध्यासिताः प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात्, ये ये प्रत्ययास्ते सर्वे प्रत्ययान्तरवेद्याः यथा न प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः (?) अविद्यमानस्यावभासेऽतिप्रसंगात् ज्ञायमानस्यैवावभासोऽभ्युपेयः। तथा च विज्ञानस्य स्वसंवेदने तदेव तस्य कर्म क्रिया चेति विरुद्धमापद्येत। यथोक्तम्—

अङ्गुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टमर्हति।
स्वांशेन ज्ञानमप्येवं नात्मानं ज्ञातुमर्हति॥ इति।

यत् प्रत्ययत्वं वस्तुभूतमविरोधेन व्याप्तम्, तद्विरुद्धविरोधदर्शनात् स्वसंवेदनान्निवर्तमानं प्रत्ययान्तरवेद्यत्वेन व्याप्यते इति प्रतिबन्धसिद्धिः। एवं प्रमेयत्व-गुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतवः प्रयोक्तव्याः। तथा च न स्वसंवेदनं विज्ञानमिति सिद्धम्।" विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७।

"तस्मात् ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्।"
प्रश० व्यो० पृ० ५२९।

"अनवस्थाप्रसङ्गस्तु अवश्यवेद्यत्वानभ्युपगमेन निरसनीयः... विवादाध्यासितवेदनं वेदनान्तरगोचरः वेदनत्वात् पुरुषान्तरवेदनवत्..." प्रश० किरणावली पृ० २८३।

2 "महेश्वरार्थज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारात्, तस्य ज्ञानान्तरावेद्यत्वेऽपि प्रमेयत्वात्।" प्रमाणप० पृ० ६०। मुक्त्यनुशा० टी० पृ० १०। न्यायकुमु० पृ० १८३। स्या० रत्ना० पृ० २२२।

"सुखादिसंवेदनेन व्यभिचारी च" सन्मति० टी० पृ० ४७६।

वस्था-तस्यापि ज्ञानान्तरेण प्रत्यक्षत्वात्। ननु नानवस्था नित्यज्ञानद्वयस्येश्वरे सदा सम्भवात्[१], तत्रैकेन[२]ार्थजातस्य[३] द्वितीयेन पुनस्तज्ज्ञानस्य प्रतीतेर्नापरज्ञानकल्पनया किञ्चित्प्रयोजनं तावतै[४]वार्थसिद्धे[५]रित्यप्यसमीचीनम्; [६]समान[1]कालयाव[७]द्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्य[८]त्रानुपलब्धेरत्रा[९]पि तत्कल्पनाऽसम्भवात्।

[१०]सम्भवे वा तद्द्वितीयं[2]ज्ञानं [११]प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा? अप्रत्यक्षं चेत्; कथं तेनाद्यज्ञानप्रत्यक्षतासम्भवः? अप्रत्यक्षादप्यतस्तत्सम्भवे प्रथमज्ञानस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽप्यर्थप्रत्यक्षतास्तु। प्रत्यक्षं चेत्; स्वतः, ज्ञानान्तराद्वा? स्वतश्चेदाद्यस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वमस्तु। ज्ञानान्तराच्चेत्सैवानवस्था। आद्यज्ञानाच्चेदन्योन्याश्रयः-सिद्धे ह्याद्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे ततो द्वितीयस्य प्रत्यक्षतासिद्धिः, तत्सिद्धौ चाद्यस्येति।

किञ्च, [3]अनयोर्ज्ञानयोर्महेश्वराद्भेदे कथं तदीयत्वसिद्धिः समवायादे[१२]रग्रे दत्तोत्तरत्वात्? [१३]तदाधेयत्वात्तत्त्वे[१४]प्युक्तम्। तदाधेयत्वं [१५]च [१६]तत्र समवेत[१७]त्वम्, तच्च केन प्रतीयते? न तावदीश्वरेण,

१ द्वयोर्ज्ञानयोर्मध्ये। २ आद्येन। ३ समूहस्य। ४ प्रयोजनम्। ५ कथमनवस्था। ६ गुणद्वयानुपलब्धेरित्युक्ते मातुलिङ्गे रूपरसाभ्यां व्यभिचारस्तत्र तदुपलब्धेरतः सजातीयेत्युक्तं तथापि क्रमेणात्मनि सुखा[सुखा]ख्यगुणद्वयस्योपलब्धेरतः समानकालेत्युक्तं तथापि नानापुरुषैरुच्चार्यमाणशब्दानां समानकालसजातीयगुणत्वेन आकाशे उपलब्धेरतो यावद्द्रव्यभावीत्युक्तं न चाकाशस्थितिपर्यन्तं शब्दानामनवस्थानं तेषामनित्यत्वेनोपगमात् त्रिक्षणस्थायित्वाच्च। ७ यावद्द्रव्यं तावद्भावीति। ८ आत्मघटादौ। ९ ईश्वरो वीतगुणद्वयाधारो न भवति द्रव्यत्वात्पटवत्। १० तन्मतप्रक्रियापेक्षया। ११ ईश्वरस्य। १२ प्रथममेव। १३ ईप्। १४ तदाधेयत्वं समवायः तादात्म्यं तत्रोत्कलितत्वमित्यादौ दूषणम्। १५ किञ्च। १६ ईश्वरे। १७ ईश्वरे समवेतं (समवायेन सम्बद्धं) ज्ञानद्वयं।

1 "समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्यान्यत्रानुपलब्धेस्त्र्यम्बकेऽपि तत्कल्पनाया असंभवः। तथाच प्रयोगः-ईश्वरः समानकालयावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्याधारो न भवति द्रव्यत्वात्...घटवत्।" स्या० रत्ना० पृ० २२८।

2 "तदप्यर्थज्ञानमीश्वरस्य प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा? यदि प्रत्यक्षम्; तदा स्वतो ज्ञानान्तराद्वा? स्वतश्चेत्; प्रथममप्यर्थज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमस्तु किं विज्ञानान्तरेण? यदि तु ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षं तदपीष्यते, तदा तदपि ज्ञानान्तरं किमीश्वरस्य प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्थानं च दुःशक्यं परिहर्तुम्।" प्रमाणप० पृ० ६०

3 "किंचानयोर्ज्ञानयोः पिनाकपाणेः सर्वथा भेदे कथं तदीयत्वसिद्धिः?"
स्या० रत्ना० पृ० २२८।

तेनात्मनो ज्ञानद्वयस्य चाग्रहणे[1] 'अत्रेदं समवेतम्' इति प्रतीत्ययोगात्। तस्य तत्र समवेतत्वमेव तद्ग्रहणमित्यपि नोत्तरम्; अन्योन्याश्रयात्-सिद्धे हि 'इदमत्र' इति ग्रहणे तत्र समवेतत्वसिद्धिः, तस्याश्च तद्ग्रहणसिद्धिः[2]। यश्चात्मीयज्ञानमात्मन्यपि[3] स्थितं न जानाति सोर्थजातं जानातीति कश्चेतनः[4] श्रद्दधीत? नापि ज्ञानेन[5] 'स्थाणावहं[6][7] समवेतम्' इति प्रतीयते; तेनाप्याधारस्यात्मनश्चाग्रहणात्[8][9]। न च तद्ग्रहणे 'ममेदं[11] रूपमत्र स्थितम्' इति सम्भवः।

अस्तु वा समवेतत्वप्रतीतिः[12], तथापि-स्वज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वात्[13][14] सर्वज्ञत्वविरोधः[15]। तदप्रत्यक्षत्वे[1] चानेनाशेषार्थस्याप्यध्यक्षताविरोधः[16]। कथमन्यथात्मान्तरज्ञानेनाप्यर्थसाक्षात्करणं न स्यात्[17]? तथा चेश्वरानीश्वरविभागाभावः-स्वयमप्रत्यक्षेणापीश्वरज्ञानेनाशेषविषयेणाशेषस्य[18][19] प्राणिनोऽशेषार्थसाक्षात्करणप्रसङ्गात्। ततस्तद्विभागमिच्छता[20] महेश्वरज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानेकान्तः[21][22] सिद्धः।

अथास्मदादिज्ञानापेक्षया[2] ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रमेयत्वहेतुना साध्यतेऽतो[23] नेश्वरज्ञानेनानेकान्तोऽस्यास्मदादिज्ञानाद्विशि-

---

१ ज्ञानविकलो गृह्णाति ज्ञानसहितो वा। ज्ञानविकलश्चेत् ज्ञानद्वयकल्पनानर्थक्यमात्मैवार्थज्ञानस्य ग्राहकोस्तु। ज्ञानसहितश्चेत्। तदपि ज्ञानमात्मनि समवेतमिति कुतो जानाति आत्मैव ज्ञानं वेत्यादिविचारः। २ अत्रेदं। ३ किञ्च। ४ ज्ञानवान्। ५ ज्ञानद्वयेन प्रतीयते। ६ ईशे। ७ ज्ञानाङ्गदे सत्यास्थाणुसदृश इत्यर्थः। ८ ईश्वरस्य। ९ ज्ञानरूपस्य। १० स्वस्मिन्। ११ ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वात्। १२ स्वप्रक्रियामात्रेण। १३ आत्मान्तरज्ञानेनाप्यर्थसाक्षात्करणं भवत्विति चेत्। १४ ईश्वरज्ञानस्य। १५ महेश्वरस्य। १६ किञ्च। १७ स्वस्य संसारिज्ञानेनापीति अध्या(हा)रः। १८ ईश्वर। १९ वसः। २० परेण। २१ यौगेन। २२ हेतोरीश्वरज्ञाने व्यभिचारः। २३ परेण मया।

---

1 "यदि पुनरप्रत्यक्षमेवेश्वरार्थज्ञानज्ञानं तदेश्वरस्य सर्वज्ञत्वविरोधः स्वज्ञानाप्रत्यक्षत्वात्। तदप्रत्यक्षत्वे च प्रथमार्थज्ञानमपि न तेन प्रत्यक्षम्, स्वयमप्रत्यक्षेण ज्ञानान्तरेण तस्यार्थज्ञानस्य साक्षात्करणविरोधात्। कथमन्यथा आत्मान्तरज्ञानेनापि कस्यचित् साक्षात्करणं न स्यात्। तथा चानीश्वरस्यापि सकलस्य प्राणिनः स्वयमप्रत्यक्षेणापि ईश्वरज्ञानेन सर्वविषयेण सर्वार्थसाक्षात्करणं संगच्छेत् ततः सर्वस्य सर्वार्थवेदित्वसिद्धेः ईश्वरानीश्वरविभागाभावो भूयते।" प्रमाणप० पृ० ६०।

2 "स्यान्मतिरेषा ते युष्माकमस्मदादिज्ञानापेक्षया अर्थज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रमेयत्वहेतुना साध्यते ततो नेश्वरज्ञानेन व्यभिचारः, तस्यास्मदादिज्ञानाद्विशिष्टत्वात्।

ष्टत्वात्, न खलु विशिष्टे दृष्टं धर्ममविशिष्टे[2]पि योजयन् प्रेक्षावत्तां लभते[3] निखिलार्थवेदित्वस्याप्यखिलज्ञानानां[4] तद्वत्प्रसङ्गात्। इत्यप्यसमीचीनम्; स्वभावावलम्बनात्। स्वपरप्रकाशात्मकत्वं हि ज्ञानसामान्य[5]स्वभावो न पुनर्विशिष्टविज्ञानस्यैव धर्मः। तत्र[6] तस्योपलम्भमात्रा[7]त्तद्धर्मत्वे भानौ[8] स्वपरप्रकाशात्मकत्वोपलम्भात् प्रदीपे[9] तत्प्रतिषेधप्रसङ्गः। तत्स्वभावत्वे तद्वत्तेषां[10] निखिलार्थवेदित्वानुषङ्गश्चेत्; तर्हि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशात्मकत्वे भानुवन्निखिलार्थोद्योतकत्वानुषङ्गः किन्न स्यात्? योग्य[11]तावशात्तदात्मकत्वाविशेषेपि प्रदीपादेर्नियत[12]ार्थोद्योतकत्वं ज्ञानेपि समानम्। ततो ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं ज्ञानत्वान्महेश्वरज्ञानवत्, अव्यवधानेना[13]र्थप्रकाश[14]कत्वाद्वा[15], अर्थग्रहणा[16]त्मकत्वाद्वा तद्वदेव, यत्पुनः स्वपरप्रकाशात्मकं न भवति न तद् ज्ञानम् अव्यवधानेनार्थप्रकाशकम् अर्थग्रहणात्मकं वा, यथा चक्षुरादि।

आश्रया[1][17]सिद्ध[18]श्च 'प्रमेयत्वात्' इत्ययं हेतुः, धर्मिणो[19] ज्ञानस्यासिद्धेः। तत्सिद्धिः खलु प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात्? तत्र न तावत्प्रत्यक्षतः; तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वा[20]भ्युपगमात्, तज्ज्ञानेन चक्षुरादीन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात्। अन्य[21]दिन्द्रियं तेन चास्य सन्निकर्षो वाच्यः[22]। मनोन्तःकरणम्[23], तेन चास्य संयुक्तसमवायः सम्बन्धः, तत्प्रभवं चाध्यक्षं धर्मिस्वरूपग्राहकम्-मनो हि संयुक्तमात्मना तत्रैव समवायस्तज्ज्ञानस्येति; तदयुक्तम्; मनसोऽसिद्धेः। अथ 'घटादिज्ञानज्ञानम् इन्द्रिय[24]ार्थ[25]-

१ स्वपरप्रकाशात्मकत्वं स्वसंविदितत्वं। २ अस्मदादिज्ञाने। ३ अन्यथा। ४ निखिलं ज्ञानमखिलार्थवेदि ज्ञानत्वादीश्वरज्ञानवत्। ५ ता। ६ महेश्वरज्ञाने शम्भौ च। ७ स्वप्रक्रियामात्रात्। ८ रवौ। ९ ईश्वरज्ञानवत्। १० अस्मदादिज्ञानानां। ११ शक्तिः। १२ कतिपय। १३ चक्षुरादिना व्यभिचारः। १४ भिन्नविशेषणं। १५ परिच्छित्ति। १६ अभिन्नविशेषणं। १७ वसः। १८ किञ्च। १९ घटादिज्ञानस्य। २० परेण। २१ चक्षुरादिपञ्चभ्यः। २२ परेण। २३ इन्द्रियं। २४ मनः। २५ घटादिज्ञान।

न हि विशिष्टे दृष्टं धर्ममविशिष्टेऽपि घटयन् प्रेक्षावत्तां लभते इति; सापि न परीक्षासहा, ज्ञानान्तरस्यापि प्रज्ञानेन वेद्यत्वे अनवस्थानुषंगात्।" प्रमाणप० पृ० ६०।

न्यायकुमु० पृ० १८३। स्या० रत्ना० पृ० २२२।

1 "अत्र प्रयोगे हेतुराश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धश्च धर्मिणो ज्ञानस्याप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माप्रतिपत्तेः।...तत्प्रसिद्धिः अध्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात्।" सन्मति० टी० पृ० ४७५।

सन्निकर्षजं प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात्[१] चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यभिधीयते, तदप्यभिधानमात्रम्; हेतोर[1]प्रसिद्धविशेषणत्वात्। न हि घटादिज्ञानज्ञानस्याध्यक्षत्वं सि[२]द्धम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-मनःसिद्धौ हि तस्याध्यक्षत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनःसिद्धिरिति। विशेष्यासि[३]द्धत्वं च; न खलु घटज्ञानाद्भिन्नमन्यज्ज्ञानं त[४]द्ग्राहकमनुभूयते। [2]सुखादिसंवेदनेन[५] व्यभिचारश्च; तद्धि प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानं न तज्जन्यमिति। अस्यापि पक्षीकरणान्न दोष इत्ययुक्तम्; व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्। 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्' इत्यादे[६]रप्यात्मादिना न व्यभिचारस्तस्य पक्षीकृतत्वात्। प्रत्यक्षादिबाधो[७]भयत्र समाना। न हि 'घटादिवत्सुखाद्यविदितस्वरूपं पूर्व[८]मुत्पन्नं पुनरिन्द्रियेण सम्बध्यते ततो ज्ञा[९]नं ग्रहणं च' इति लोके प्रतीतिः, प्रथममेवेष्टानिष्टविषयानुभवानन्तरं स्वप्रकाशात्मनो[१०]ऽस्योदयप्रतीतिः।

स्वा[3]त्मनि क्रिया[११]विरोधान्मिथ्येयं प्रतीतिः, न हि सुतीक्ष्णोपि खड्ग आत्मानं छिनत्ति, सुशिक्षितोपि वा नटबटुः स्वं स्कन्धमारोहतीत्यप्यसमीचीनम्; स्वात्मन्येव क्रियायाः प्रतीतेः। स्वात्मा[१२] हि क्रिया[१३]याः स्वरूपम्, क्रिया[१४]वदात्मा वा? यदि स्वरूपम्, कथं तस्यास्तत्र विरोधः स्वरूपस्याविरोधकत्वात्[१५]? अन्यथा सर्वभावा[१६]नां

---

१ अनुमानज्ञानेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं प्रत्यक्षत्वे सति ग्रहणम्। २ अन्यथा। ३ हेतोः। ४ घटज्ञान। ५ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं न भवति। ६ प्रमेयेन। ७ आत्मनोऽनित्यत्वे सुखादिसंवेदनस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वे च। ८ पश्चात्। ९ मानसं करणरूपम्। १० सुखादिसंवेदनस्य। ११ प्रकाशलक्षणायाः। १२ ता। १३ आत्मार्थवाचकस्वशब्दपक्षे। १४ आत्मीयार्थवाचकस्वशब्दपक्षे। १५ विरोधकत्वे। १६ घटादि।

---

1 "न; अस्य हेतोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्, नहि घटादिज्ञानज्ञानस्य अध्यक्षत्वं सिद्धम् इतरेतराश्रयत्वात्।" सन्मति० टी० पृ० ४७६

2 "सुखसंवेदनेन व्यभिचारी च; तथाहि-तत्संवेदनमध्यक्षत्वे सति ज्ञानं न च तज्जन्यमिति व्यभिचारः। अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः, तथाहि-सुखादिसंवेदनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् अध्यक्षज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभवरूपादिवेदनवत्, सुखादिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यः ज्ञेयत्वात् घटवत्।" सन्मति० टी० पृ० ४७६

3 "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, नहि तदेव अंगुल्यग्रं तेनैव अंगुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते।" स्फुटार्थ-अभिध० पृ० ७८

4 "स्वात्मा हि क्रियायाःस्वरूपं क्रियावदात्मा वा?" आप्तप० पृ० ४७। न्यायकुमु० पृ० १८८। स्या० रत्ना० पृ० २२९।

स्वरूपे विरोधा[1]न्निःस्वरूपत्वानुषङ्गः । विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः । क्रि[2]यावदात्मा[3] तस्याः स्वात्मा इत्यप्यसङ्गतम्, क्रियावत्येव तस्याः प्रतीतेस्तत्र तद्विरोधासिद्धेः' अन्यथा सर्वक्रियाणां निराश्रयत्वं सकलद्रव्याणां चाऽक्रियत्वं स्यात् । न चैवम्; क[4]र्मस्थायास्तस्याः क[5]र्मणि कर्तृ[6]स्थायाश्च कर्तरि प्रतीयमानत्वात् । किञ्च, त[7]त्रोत्प[1]त्तिलक्षणा क्रिया वि[8]रुध्यते, परिस्पन्दात्मिका, धात्वर्थरूपा, ज्ञप्तिरूपा वा ? यद्युत्पत्तिलक्षणा, सा विरुध्य[9]ताम् । नखलु 'ज्ञानमात्मानमुत्पादयति' इत्यभ्यनुजा[10]नीमः स्वसामग्रीविशेषवशात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमात् । नापि परिस्पन्दात्मिकासौ तत्र विरुध्यते, तस्याः द्रव्यवृत्तित्वेन ज्ञाने सत्त्वस्यैवासम्भवात् । अथ धात्वर्थरूपा; सा न विरुद्धा[11] 'भवति तिष्ठति' इत्यादिक्रियाणां क्रि[12]यावत्येव सर्वदोपलब्धेः । ज्ञ[13]प्तिरूपक्रिया[14]यास्तु विरोधो दूरोत्सारित एव; स्वरूपेण क[15]स्यचिद्विरोधासिद्धेः, अन्यथा प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधस्तद्धि स्वकारणकलापात्स्वपरप्रकाशात्मकमेवोपजायते प्रदीपवत् ।

[16]ज्ञानक्रियायाः कर्मतया स्वात्मनि विरोध[17]स्ततोऽन्य[18]त्रैव कर्मत्वदर्शनादित्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशनविरोधानुषङ्गात् । यदि च[19]एकत्र[20] दृष्टो ध[21]र्मः स[22]र्वत्राभ्युपगम्यते, तर्हि घटे प्रभास्वरौष्ण्यादिधर्मानुपलब्धेः प्रदीपेऽप्यस्याभावप्रसङ्गः, रथ्यापुरुषे वाऽसर्वज्ञत्वदर्शनान्महेश्वरेऽप्यसर्वज्ञत्वानुषङ्गः । अत्र वस्तुवैचित्र्य[23]सम्भवे ज्ञानेन किमपराद्धं येना[24]त्रा[25]सौ नेष्य[26]ते ?

किञ्च ज्ञा[2]नान्तरापेक्षया त[27]त्र कर्मत्वविरोधः, स्वरूपापेक्षया वा ?

---

१ अभाव । २ अर्थ । ३ स्वरूप । ४ ओदनं पचति देवदत्तः । ५ न विरोधः । ६ ग्रामं गच्छति देवदत्तः । ७ ज्ञाने । ८ भवता परेण । ९ परेण । १० वयं जैनाः । ११ स्वात्मनि । १२ देवदत्तादौ । १३ जानाति । १४ स्वात्मनि । १५ अर्थस्य । १६ असदादिज्ञान । १७ कुतः । १८ घटादौ । १९ किञ्च । २० स्वच्छिदिक्रियां प्रति कर्मत्वविरोधलक्षणः । २१ खड्गादौ । २२ ज्ञाने । २३ भास्वरौष्ण्यसर्वज्ञत्वलक्षण । २४ केन । २५ स्वपरप्रकाशरूपो वैचित्र्यसम्भवः । २६ परेण । २७ ज्ञानक्रियायां ।

---

1 "का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा परिस्पन्दरूपा धात्वर्थरूपा वा ? तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२ । स्या० रत्ना० पृ० २२८ । "का पुनः स्वात्मनि क्रिया विरुध्यते ज्ञप्तिरुत्पत्तिर्वा ?" आप्तप० पृ० ४७ । स्याद्वादमं० पृ० ९३ । "उत्पत्तिरूपा, परिस्पन्दात्मिका, धात्वर्थस्वभावा, ज्ञप्तिलक्षणा वा ?" न्यायकुमु० पृ० १८७ ।

2 "किंच, ज्ञानान्तरापेक्षया तत्र कर्मत्वविरोधः स्वरूपापेक्षया वा ?" न्यायकुमु० पृ० १८८ ।

प्रथमपक्षे-महेश्वरस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गस्तज्ज्ञानेन [1]तस्याऽवेद्यत्वात्। आत्मसमवे[2]तानन्तर[3]ज्ञानवेद्यत्वाभावे [4]च

"स्वसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानम्" [ ] इति ग्रन्थविरोधो मीमांस[5]क[6]मत[7]प्रवेशश्च स्यात् । ज्ञानान्तरापेक्षया तस्य कर्म[8]त्वाविरोधे च-स्वरूपापेक्षयाप्यविरोधोऽस्तु सहस्रकिरणवत्स्वपरोद्योतनस्वभावत्वात्तस्य । कर्मत्वव[10]च्च ज्ञानक्रियातोऽर्था[11]न्तरस्यैव करणत्वदर्शनात्तस्यापि तत्र विरोधोऽस्तु विशे[12]षाभावात्। [13]तथा च '[14]ज्ञानेनाहमर्थं जानामि' इत्य[15]त्र ज्ञानस्य करणतया प्रतीतिर्न [16]स्यात् ।

विशे[1]षणज्ञानस्य करणत्वाद्विशेष्यज्ञानस्य तत्फलत्वेन क्रियात्वा[17]त्तयोर्भेद एवेत्यपि श्रद्धामात्रम् ; 'विशेषणज्ञानेन विशेष्यमहं जानामि' इति प्रतीत्यभावात् । 'विशेष[18]णज्ञानेन हि 'विशेष[19]णं विशे[20]ष्यं[21]ज्ञानेन च विशेष्यं जानामि' इत्यखिलजनोऽनुमन्यते ।

किञ्च, [22]अनयोर्विषयो भिन्नः, अभिन्नो वा । प्रथमपक्षे-विशेषणविशेष्यज्ञानद्वयपरिकल्पना व्यर्थाऽर्थभेदाभावाद्धारावाहिविज्ञानवत्। द्वितीयपक्षे [23]चानयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविरोधोऽर्था[24]न्तरविषयत्वाद् घटपटज्ञानवत् । न खलु घटज्ञानस्य पटज्ञानं फलम् । न [25]चा[26]न्यत्र [27]व्यापृते विशेषणज्ञाने ततोऽर्थान्तरे [28]विशेष्ये [29]परिच्छित्तिर्युक्ता । [30]न हि खदिरादावुत्पतननिय(प)तनव्यापारवति [31]परशौ ततोऽन्यत्र धवादौ छिदिक्रियोत्पद्यते इत्येतत्प्रातीतिकम् । [32]लिङ्ग-

१ असदादिज्ञानस्य । २ प्रथमज्ञान । ३ द्वितीयज्ञानेन । ४ किञ्च । ५ योगस्य । ६ करणज्ञानं न प्रत्यक्षं कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात् । ७ ज्ञानान्तरेणाप्यप्रत्यक्षत्वात् । ८ स्वरूपापेक्षया कर्मत्वविरोधं ब्रूमः । ज्ञानान्तरापेक्षया किं कर्मत्वविरोधोस्ति । ९ परेणाङ्गीकृते । १० किञ्च । ११ कुठारादेः । १२ ज्ञानाद्भिन्नस्य करणत्वसाविशेषात्कर्मत्ववत् । १३ ज्ञानकरणत्वविरोधे सति । १४ करणज्ञानेन । १५ पक्षे । १६ लोके । १७ करणज्ञानक्रियाज्ञानयोः । १८ नीलादिज्ञानेन दण्डादिज्ञानेन वा । १९ जानामि । २० उत्पलादिकं दण्डीत्यादिकं । २१ ता । २२ विशेषणज्ञानविशेष्यज्ञानयोः । २३ विशेषणज्ञानविशेष्यज्ञानयोः । २४ भिन्नविषयत्वात् । २५ किञ्च । २६ नीलादौ विशेषणे । २७ सति । २८ उत्पलादौ । २९ ज्ञानं । ३० कथं । ३१ सति । ३२ धूमादिज्ञानस्य ।

"प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्योः ।
यदा तदापि पूर्वोक्ताऽभिन्नार्थत्वनिराक्रिया ॥" मीमांसाश्लो० पृ० १५६ ।

1 "विशेषणज्ञानं करणं विशेष्यज्ञानं तत्फलत्वात् ज्ञानक्रियेति चेत्; स्यादेवं यदि विशेषणज्ञानेन विशेष्यं जानामीति प्रतीतिरुत्पद्यते ।" स्या० रत्ना० पृ० २२८ ।

ज्ञानस्यानु[१]मानज्ञाने व्यापारदर्शनादत्रा[२]प्यविरोध[३] इत्यप्यसम्भाव्यं त[४]द्वत्क्रमभावेनात्र ज्ञानद्वयानुपलब्धेः, एकमेव हि त[५]योर्ग्राहकं ज्ञानमनुभूयते। न[1] चात्र विषयभेदाज्ज्ञानभेदकल्पना; स[६]मानेन्द्रि[७]यग्राह्ये योग्यदेशावस्थिते[८]र्थे घटपटादिवदेकस्यापि ज्ञानस्य व्यापाराविरोधात्। न च घटादावपि ज्ञानभेदः स[९]मानगुणानां युगप[१०]द्भावानभ्युपगमात्। क्रमभावे च प्रतीतिविरोधः सर्वज्ञाभावश्च। युगपद्भावाभ्युपगमे चानयोः सव्येतरगोविषाणवत्कार्यकारणभावाभावः। विशेषणविशेष्यज्ञानयोः क्रमभावेप्याशुवृत्त्या[११] यौगपद्याभि[१२]मानो यथोत्पलपत्रशतच्छेद इत्यप्यसङ्गतम्; निखिलभावानां क्षणिकत्वप्रसङ्गात्[१३]सर्वत्रै[१४]कत्वाध्य[१५]वसायस्याशुवृत्तिप्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्या[१६]स्य दृष्टान्तमात्रेण निषेधविरोधा[१७]च्च, अ[१८]न्यथा शुक्ले शङ्खे पीतविभ्रमदर्शनात्सुवर्णे[१९]पि तद्विभ्रमः स्यात्। मूर्त[2]स्य सूच्यग्रस्यौत्तराधर्येस्थितमुत्पलपत्रशतं युगपत्प्राप्तुमशक्तेः क्रमच्छेदेप्याशुवृत्त्या यौगपद्याभिमानो युक्तः, पुंसस्तु स्वावरणक्षयोपशमापेक्षस्य युगपत्स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य समग्रेन्द्रियस्याप्राप्तार्थग्राहिणः स्वयममूर्त्तस्य युगपत्स्वविषयग्रहणे विरोधाभावात् किन्न यु[१]गपज्ज्ञानोत्पत्तिः ?

न च म[२०]नोपि सू[3]च्यग्रवन्मूर्त्तमिन्द्रि[२१]याणि तूत्पलपत्रवत्परस्परपरिहारस्थितानि युगपत्प्राप्तुं न समर्थमिति वा[२२]च्यम्; तथाभूतस्यास्याऽसिद्धेः। युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रयः—

१ अग्न्यादिज्ञाने। २ विशेष्यपरिच्छित्तौ। ३ विशेषणज्ञानव्यापारस्य। ४ लिङ्गलिङ्गिज्ञानस्य। ५ नीलोत्पलयोर्विशेषणविशेष्ययोः। ६ एक। ७ अग्न्यादि। ८ ज्ञानानां। ९ नैयायिकानामनभ्युपगमात्। १० परैः। ११ कृत्वा। १२ कल्पना। १३ कथं। १४ घटपटादिपदार्थे। १५ एकोयमित्यध्यवसायः। १६ विशेषणविशेष्यज्ञानयौगपद्यस्य। १७ किञ्च। १८ अविरोधे। १९ विशेषणविशेष्यरूप। २० कर्तृ। २१ कर्मरूपाणि। २२ परेण।

1 "न चात्र विषयभेदाज्ज्ञानभेदकल्पनोपपत्तिमती; समानेन्द्रियग्राह्ये योग्यदेशावस्थितेऽर्थे घटपटादिवदेकस्यापि ज्ञानस्य व्यापाराविरोधात्।" स्या० रत्ना० पृ० २३०।

2 "मूर्तस्य सूच्यग्रस्यौत्तराधर्येण्यवस्थितमुत्पलपत्रशतं युगपद् व्याप्तुमशक्तेः क्रमभेदेऽप्याशुवृत्तेः यौगपद्याभिमान इति युक्तम्, आत्मनस्तु क्षयोपशमसव्यपेक्षस्य युगपत् स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य स्वयममूर्तस्याप्राप्तार्थग्राहिणो युगपत् स्वविषयग्रहणे न कश्चिद्विरोध इति किन्न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः।" सन्मति० टी० पृ० ४७८।

3 "नच मनोऽपि सूच्यग्रवन्मूर्तमिन्द्रियाणि तूत्पलपत्रवत् परस्परपरिहारस्थितस्वरूपाणि न युगपद्व्याप्तुं समर्थमिति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः; तथाभूतस्य तस्यैवाऽसिद्धेः।" सन्मति० टी० पृ० ४७८।

तद्विभ्रमसिद्धौ हि मनःसिद्धिः, ततस्तद्विभ्रमसिद्धिरिति । 'च[1]क्षुरादिकं[१] क्रमवत्कारणापेक्षं[२] कारणान्तरसाकल्ये[३] सत्यप्यनुत्पाद्योत्पा[४]दकत्वा[५]द्[६]वासीकर्त्तर्यादिवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धिरित्यपि मनोरथमात्रम्; भवद[७]भ्युपगतेन मनसैवानेकान्तात् । न हि[१०] तत्साकल्ये तत् तथाभूतमपि[११] क्रमवत्कारणान्तरापेक्षमनवस्थाप्रसङ्गात्[१२] । किञ्च[2], अनुत्पाद्योत्पादकत्वं युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेद्विरुद्धो[१३] हेतुः[१४]; तथोत्पादकत्वस्याक्रमिकारणाधीनत्वात् प्रसिद्धसहभाव्यनेककार्य[१५]कारि[१६]सामग्री[१७]वत्[१८] । क्रमेण चेदसिद्धः, कर्कटीभक्षणादौ युगपद्रूपादिज्ञानोत्पादकत्व[१९]प्रतीतेः । आशुवृत्त्या विभ्रमकल्पनायां तूक्तम्[२०] । तन्न मनसः सिद्धिः[२१] ।

सिद्धौ[3] वा न संयोगः[२२], निरंशयोरेकदेशेन[२३] संयोगे सांशत्वम्[२४] । सर्वात्मनैकत्वम्[२५] उभयव्याघातकारि स्यात्[२६] । 'यत्र[4][२७] संयुक्तं मनस्तत्र[२८]

---

१ मनः । २ यद्यदुत्पादकं तत्तत्क्रमवत्कारणापेक्षम् । ३ आलोकरूपादि । ४ ज्ञान । ५ ता । ६ उत्पादकत्वादित्युच्यमाने नानाङ्कुरोत्पादकैर्नानावीजैरनेकान्तस्तद्व्यवच्छेदार्थमनुत्पाद्योत्पादकत्वादित्युक्तं तथापि वीजैरेवानेकान्तस्तद्व्यवच्छेदार्थं कारणान्तसाकल्ये सतीत्युक्तम् । एकस्माच्चक्षुरादिलक्षणात्कारणादपरमालोकरूपलक्षणं कारणान्तरं कारणान्तरसाकल्ये सत्यनुत्पाद्योत्पादकं न भवति किन्तूत्पादकमेव वीजम् । ७ हस्तः क्रमवत्कारणमत्र । ८ मनः । ९ पर । १० साधनस्य । ११ मनः । १२ अन्यथा । १३ क्रमसाध्ये अक्रममेव साधयेत् । १४ नित्यः शब्दः कृतकत्वात् । १५ अङ्कुरादि । १६ वीजानि । १७ क्षित्युदकादिलक्षणा । १८ यथा वीजलक्षणा सामग्री क्षित्युदकादिलक्षणाऽक्रमकारणाधीना । १९ चक्षुरादीनां । २० तद्विभ्रमसिद्धौ हि मनःसिद्धिस्ततस्तद्विभ्रमसिद्धिरिति दूषणं । २१ स्वप्रक्रियामात्रेण । २२ आत्मना । २३ आत्ममनसोः । २४ घटते । २५ संयोगे । २६ मनोभ्युपगम्य तत्र किञ्च । २७ आत्मनि । २८ समवायिनि ।

---

1 आत्मेन्द्रियार्थाः करणान्तरापेक्षाः सद्भावेऽपि अनुत्पाद्योत्पादकत्वात् । ये हि सद्भावेऽपि कार्यमनुत्पाद्य पश्चादुत्पादयन्ति ते सापेक्षाः यथा तन्त्वादयः अन्त्यसंयोगापेक्षा इति ।" प्रश० व्यो० पृ० ४२४ । प्रश० कन्द० पृ० ९० ।

2 "किंच, अनुत्पाद्योत्पादकत्वमस्य क्रमेण, युगपद्वा विवक्षितम् ।"

न्यायकुमु० पृ० २७१ ।

3 "सिद्धौ वा न संयोगः, निरंशयोरात्ममनसोरेकदेशेन संयोगे सांशत्वम् ।"

न्यायकुमु० पृ० २७२ ।

"नच निरंशयोरात्ममनसोः संयोगः संभवी, एकदेशेन तत्संयोगे सांशत्वप्रसक्तेः, सर्वात्मना संयोगे उभयोरेकत्वप्राप्तेः ।" सन्मति० टी० पृ० ४७६ ।

4 "यदिच यत्र मनः संयुक्तं तत्र समवेतं ज्ञानं समुत्पादयति तदा सर्वात्मनां

समवेते[१] ज्ञानमुत्पादयति' इत्यभ्युपगमे[२] चाखिलात्मसमवेतसुखादौ[३] ज्ञानं जनयेत् तेषां[४] नित्यव्यापित्वेन मनसा संयोगोऽविशेषात्। तथा[५] च प्रतिप्राणि भिन्नं मनोन्तरं[६] व्यर्थम्[७]। यस्य[८] यन्मनस्तत्[९] तत्समवायिनि[१०] ज्ञान[११]हेतुरित्यप्यसारम्; प्रतिनियतात्म[१२]सम्बन्धित्व[१३]स्यैवात्रा[१४]सिद्धेः। तद्धि[१५] तत्कार्यत्वात्[१६], तदुप[१७]क्रिय[१८]माणत्वात्, तत्संयोगात्[१९][२०], तददृष्ट[२१]प्रेरितत्वात्[२२], तदात्मप्रेरितत्वाद्वा[२३] स्यात्? न[1] तावत्तत्कार्यत्वेन[२४] तत्सम्बन्धिता[२५]; नित्ये[२६] तदयोगात्। नाप्युपक्रियमाणत्वेन[२७]; अनाधेया[२८]प्रहेया[२९]तिशये[३०] तस्याप्यसम्भवात्। नापि[2] संयोगात्; सर्वत्रास्या[३१]विशेषात्। नापि[3] 'यददृष्ट[३२]प्रेरितं प्रवर्तते निवर्तते[३३] वा तत्तस्य' इति वाच्यम्[३४]; अचेतनस्यादृष्टस्यानिष्टदेशा[३५]दिपरिहारेणेष्टदेशादौ तत्[३६]प्रेरणासम्भवात्, अन्यथेश्वरकल्पनावैफल्यम्। न चेश्वरस्या[३७]दृष्टप्रेरणे व्यापारात्साफल्यम्, मनस एवासौ प्रेरकः कल्प्यताम्[३८] किं परम्परया[३९]? तस्य[४०]

१ सुखादौ। २ परेण। ३ मनः कर्तृ। ४ निखिलात्मनाम्। ५ एकस्यैव मनसः सम्भवे सति। ६ मानसान्तरं। ७ व्यर्थं भवतीत्युक्ते परः प्राह। ८ आत्मनः। ९ कर्तृ। १० सुखादौ। ११ भवति। १२ जीव। १३ अस्यात्मन इदं मन इति। १४ मनसि। १५ मनो धर्मि प्रतिनियतात्मसम्बन्धि भवतीति साध्यम्। १६ प्रतिनियतात्म। १७ मनसः। १८ मनसः। १९ मनसः। २० ता। २१ मा। २२ मनसः। २३ मनसः। २४ मनसः। २५ मनसः। २६ नित्यपरमाणुपरिमाणं मन इति वचनात्। २७ आत्मना। २८ आरोपयितुमशक्य। २९ स्फोटयितुमशक्य। ३० अतिशये मनसि। ३१ आत्मसु। ३२ ता। ३३ अनिष्टात्। ३४ परेण। ३५ काल। ३६ मनः। ३७ विषये। ३८ परेण। ३९ महेश्वरेणादृष्टं प्रेर्यते अदृष्टेन मन इति परम्परा तया। ४० अदृष्टस्य।

व्यापितया समानदेशत्वेन मनसस्तैः संयुक्तत्वात् सर्वात्मसमवेतसुखादिषु तदेवैकं ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि भिन्नमनःपरिकल्पनमनर्थकमासज्येत।”

सन्मति० टी० पृ० ४७६। न्यायकुमु० पृ० २७१।

1 “न हि तत्कार्यत्वेन तत्सम्बन्धिता, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्, तत्र चानाधेयाप्रहेयातिशये तत्कार्यताऽयोगात्।” सन्मति० टी० पृ० ४७६।

2 “नापि संयोगात्, तस्यापि तत्रैकदेशेन सर्वात्मना वाऽयोगात्।”

सन्मति० टी० पृ० ४७६। न्यायकुमु० पृ० २७२।

3 “नच यददृष्टप्रेरितं तत्प्रवर्त्तते तत्सम्बन्धीति वक्तव्यम्; अदृष्टस्य अचेतनत्वेन प्रतिनियतविषय (ये) तत्प्रेरकत्वायोगात्, प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः”

सन्मति० टी० पृ० ४७६। न्यायकुमु० पृ०२७२।

सर्वसाधारणत्वाच्चातो न तन्नियमः । च[1]ादृष्टस्यापि प्रतिनियम[2]ः सिद्धः; तस्यात्मनोऽत्यन्तभेदात् समवायस्यापि सर्व[3]त्राविशेषात् । 'ये[1]नात्मना यन्मनः प्रेर्यते तत्तस्य' इत्ययुक्तम्, अनुपलब्धस्य प्रेरणासम्भवात् ।

किञ्च, ईश्वरस्या[4]पि स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'स[5]दस[6]द्वर्गः क[7]स्यचिदेकज्ञानालम्बनोऽनेकत्वात्पञ्चाङ्गुलवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदे[8]शेन[9] व्यभिचारः-तज्ज्ञा[10]नान्य[11]सदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेप्येकज्ञानालम्बनत्वाभा[12]वादेकशाखाप्रभवत्वा[13]नुमा[14]नव[15]त् । स्व[16]संविदितत्वाभ्युप[17]गमे च[18]ास्य अनेनैव[19] प्रमेयत्वहेतोर्व्यभिचार इ[20]त्युक्तम् । 'अस्मदादिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं साध्यते' इत्यत्राप्यु[21]क्तम् ।

किञ्चाद्ये ज्ञा[22]ने सति, असति वा द्वितीय[23]ज्ञानमुत्पद्यते ? सति चेत्-युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिविरोध[24]ः । असति चेत्; क[25]स्य तद्ग्राहकम् ? असतो ग्रहणे द्विचन्द्रादिज्ञानवदस्य भ्रान्तत्वप्रस[26]ङ्गः ।

किञ्च, अस्मदादीनां त[27]ज्ज्ञानान्तरं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा । यदि प्रत्यक्षम्-स्वतः, ज्ञानान्तराद्वा ? स्वतश्चेत्, प्रथममप्यर्थज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमस्तु । ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षत्वे तदपि ज्ञानान्तरं ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षमित्यनवस्था । अप्रत्यक्षं चेत् कथं तेनाद्यज्ञानग्रहणम् ? स्वय-

---

१ किञ्च । २ अस्येदमदृष्टमिति । ३ आत्मसु गगनादौ । ४ परैः । ५ द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपः सद्वर्गः । ६ प्राक्प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावरूपोऽसद्वर्गः । ७ पारिशेष्यादीश्वरस्य । ८ गुणरूपेन विज्ञानेन । ९ सद्वर्गेण । १० ईश्वर । ११ द्वन्द्वः । १२ ईश्वरज्ञानान्यपदार्थयोरेकज्ञानालम्बनत्वे स्वसंविदितत्वप्रसङ्गः । १३ पक्वानि एतानि फलानि । १४ एवं । १५ हेतुः । १६ व्यभिचारपरिहारार्थं । १७ परैः । १८ ईश्वरस्य । १९ गुणरूपेण महेश्वरज्ञानेन । २० स्वभावालम्बनादिति । २१ स्वभावालम्बनादित्यादि । २२ असदादेः । २३ ज्ञानान्तरम् । २४ भवन्मते । २५ ज्ञानस्य । २६ अर्थज्ञानं भ्रान्तमसद्ग्रहणात् । २७ द्वितीयम् ।

---

1 "नच येनात्मना यन्मनः प्रेर्यते तत्तत्सम्बन्धि इति प्रतिनियमः अदृष्टवदात्मनोऽपि अचेतनत्वेन तत्प्रत्यप्रेरकत्वात् । चेतनत्वेऽपि नानुपलब्धस्य प्रेरणम् ।"

सन्मति० टी० पृ० ४७७, न्यायकुमु० पृ० २७२ ।

2 "किंच, स्वसंविदितज्ञानानभ्युपगमे 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात्पञ्चाङ्गुलवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः, तज्ज्ञानान्यसदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेऽपि एकज्ञानालम्बनत्वाभावात् एकशाखाप्रभवत्वानुमानवत् ।"

सन्मति० टी० पृ० ४७७ ।

मप्रत्यक्षेण [1]ज्ञानान्तरेणात्मान्तर[2]ज्ञानेनेवास्य[3] ग्रहणविरोधात्। ननु [4]ज्ञानस्य स्ववि[5]षये गृहीतिजनकत्वं ग्राहक[6]त्वम्, तच्च [7]ज्ञानान्तरेणागृहीत[8]स्यापीन्द्रिया[9]दिवद्युक्तमित्यपि मनोरथमात्रम्; अर्थज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणागृहीतस्यैवार्थग्राहकत्वानुषङ्गात्। तथा च [10]ज्ञानज्ञानपरिकल्पनावैयर्थ्यं मीसांसक[11]मतानुषङ्गश्च।

लिङ्ग[12]शब्दसादृश्या[13]नां चा[14]गृहीतानां [15]स्ववि[16]षये विज्ञानजनकत्वप्रसङ्गा[17]त्तद्वि[18]षयविज्ञाना[19]न्वेषणानर्थक्यम्। '[20]उभयथोपलम्भाददोषः' [21]इत्यभ्युप[22]गमेऽपि किञ्चिल्लि[23]ङ्गादिकमज्ञात[24]मेव [25]चक्षुरादिकं तु ज्ञातमेव स्वविषये प्रमितिमुत्पा[26]दयेत्तत एव। अथ चक्षुरादिकमेवाज्ञातं स्वविषये प्रमितिनिमित्तम्, न लिङ्गादिकं तत्तु ज्ञातमेव[27] नान्यथाऽतो नोभ[28]यत्रोभ[29]यथाप्रसङ्गः प्रतीतिविरोधात्, [30]नन्वेवं यथा अर्थज्ञानं ज्ञातमर्थे ज्ञप्तिनिमित्तम्, तथा ज्ञान[31]ज्ञानमपि [32]ज्ञानेऽस्तु, [33]तत्राप्युभय[34]थापरिकल्पने प्रतीतिविरोधाविशेषात्। यथैव हि- 'विवा[35]दाप[36]न्नं चक्षुरा[37]द्यज्ञातमेवार्थे ज्ञप्तिनिमित्तं तत्त्वादस्मच्चक्षुरादिवत्। [1]लिङ्गा[38]दिकं तु ज्ञातमेव[39] क्व[40]चिज्ज्ञप्तिनिमित्तं तत्त्वादुभयवादि-

---

१ द्वितीयेन। २ सन्तानान्तर। ३ ज्ञानस्य। ४ द्वितीयं। ५ अर्थज्ञाने। ६ परिच्छित्ति। ७ कथ्यते। ८ तृतीयज्ञानेन। ९ द्वितीयज्ञानस्य। १० अदृष्टादि। ११ ईप्। १२ मीमांसकमते अगृहीतस्यैव (परोक्षस्य) ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वात्। १३ गामभ्याजेत्यादि। १४ संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः कारणं सादृश्यं। १५ किञ्च। १६ अनुमेये। १७ गामभ्याजेत्यादिवाक्यार्थे। १८ लिङ्गादिश्चासौ विषयश्च। १९ इन्द्रियस्याज्ञातस्य लिङ्गादेर्ज्ञातस्य। २० न त्वज्ञातं ज्ञापकं नाम। २१ गृहीतस्यागृहीतस्य च गृहीतिजनकत्वेन। २२ अर्थज्ञानतद्ग्राहकज्ञानवच्च। २३ परेण। २४ परकीयं। २५ अस्मदादिकं लिङ्गन्तु ज्ञातमेव। २६ परकीयं। २७ परस्य। २८ चक्षुरादौ लिङ्गादौ च। २९ यथाक्रमं ज्ञातत्वाज्ञातत्वप्रकारेण। ३० इति चेत्। ३१ उभयथोभयत्र विकल्पे प्रतीतिविरोधप्रकारेण। ३२ ज्ञातं। ३३ ज्ञप्तिनिमित्तं। ३४ ज्ञाने। ३५ एकं ज्ञातमपरं चाज्ञातं स्वविषये प्रमितिजनकम्। ३६ परस्य। ३७ परकीयम्। ३८ अप्रत्यक्षत्वाविशेषाभावात्। ३९ परस्य। ४० स्वविषये।

---

1 "स्यान्मतम्–चक्षुरादिकमेवाज्ञातं स्वविषयज्ञप्तिनिमित्तं दृष्टं न तु लिंगादिकम्, तदपि ज्ञातमेव नान्यथा ततो नोभयत्रोभयथाप्रसङ्गः प्रतीतिविरोधादिति; तर्हि यथा अर्थज्ञानं व्यवसितमर्थज्ञप्तिनिमित्तं तथा ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानेऽस्तु, तत्रापि उभयथा परिकल्पनायां प्रतीतिविरोधस्याविशेषात्। कया पुनःप्रतीत्या अत्र विरोध इति चेत्; चक्षुरादिषु कयेति समःपर्यनुयोगः। विवादापन्नं चक्षुरादिकमज्ञातमेव अर्थज्ञप्तिनिमित्तं चक्षुरादित्वात्''' तथा विवादाध्यासितं लिंगादिकं ज्ञातमेव क्वचिद्ज्ञप्तिनिमित्तम् लिङ्गादित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथोभयवादिप्रसिद्धं धूमादि, तथा च विवादाध्यासितं

प्रसिद्धधूमादिवत्' इत्यनुमानप्रतीत्यात्रोभयथा कल्पने विरोधः। तथा 'ज्ञानज्ञानं ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञ[१]प्तिनिमित्तं ज्ञानत्वादर्थज्ञानवत्' इत्यत्र[२]ापि सर्वथा विशेषाभावात्। य[1]दि चा[३]प्रत्यक्षेणाप्य[४]न्येनार्थज्ञानप्रत्यक्षता[५]; तर्हीश्वरज्ञानेनात्मनो[६]ऽप्रत्यक्षेणाशेषविषयेण प्राणिमात्रस्याशेषार्थसाक्षात्करणं भवेत्, तथा चेश्वरेतरविभागाभावः। स्व[७]ज्ञा[2]न[८]गृहीतमात्मनो[९]ऽध्य[१०]क्षमित्यप्यसङ्गतम्; स्व[११]संविदितत्वा[१२]भावे स्वज्ञानत्वासिद्धेः। '[१३]स्व[3]स्मिन्समवेतं स्वज्ञानम्' इत्यपि वार्त्तम्; समवायनिषेधात्तदविशेषा[१४]च्च। 'स्व[१५]का[१६]र्यम्' इत्यप्यसम्यक्; [१७]समवायनि[१८]षेधे त[१९]दाधेय[२०]तयोत्पादस्या[२१]प्यसिद्धेः। जनकत्वमा[२२]त्रेण त[२३]त्त्वे दिक्कालादौ त[२४]त्प्रसङ्गः। नित्य[२५]ज्ञानं चे[२६]श्वरस्यापि न स्या[२७]त्, त[२८]त[२९]ः स्वतो ज्ञानं प्रत्यक्षम् अन्यथोक्तदोषा[३०]नुषङ्गः।

ननु ज्ञा[4]नान्तरप्रत्यक्षत्वेपि नानवस्था, अर्थज्ञानस्य द्वितीयेनास्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर[३१]परज्ञानकल्पनया प्रयोजनाभा-

---

१ ज्ञान। २ प्रतीतिविरोधः। ३ किञ्च। ४ द्वितीयज्ञानेन। ५ स्यात्। ६ अस्मदादेः। ७ अस्मदादि। ८ अर्थज्ञानं। ९ अस्मदादेः। १० कथ्यते। ११ अस्मदादिना। १२ द्वितीयज्ञानस्य। १३ आत्मनि। १४ सर्वेष्वात्मसु। १५ आत्मनः। १६ स्वज्ञानम्। १७ आत्मनि। १८ सति। १९ विवक्षितात्मनि। २० स्वज्ञानस्य। २१ जन्मनः। २२ निमित्तकारण। २३ स्वकीयत्वे। २४ ज्ञानस्य स्वकीयत्व। २५ तज्जनकत्वाविशेषात्। २६ किञ्च। २७ ज्ञातत्वात्। २८ कार्यस्यानित्यत्वात्। २९ ज्ञानत्वात्। ३० अनवस्था। ३१ चतुर्थं।

लिंगादि, तस्मात्तथेत्यनुमानप्रतीत्या तत्रोभयथाकल्पने विरोध इति चेत्; तर्हि विवादापन्नं ज्ञानं ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञप्तिनिमित्तं ज्ञानत्वात्, यदेवं तदेवं यथा अर्थज्ञानम्, तथा च विवादाध्यासितं ज्ञानज्ञानम्, तस्मात्तथेत्यनुमानप्रतीत्यैव तत्रोभयथा कल्पनायां विरोधोऽस्तु सर्वथा विशेषाभावात्, तथा चानवस्थानं दुर्निवारमेव नैयायिकम्मन्यानाम्।" युक्त्यनु० टी० पृ० ८।

1 "स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वात्, अन्यथा सर्वज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्वं भवेदिति तस्यापि सर्वज्ञताप्रसक्तिः।" सन्मति० टी० पृ० ४७८।

2 "न च स्वज्ञानगृहीतं तद्गृहीतमिति नायं दोषः; स्वसंविदितज्ञानाभावे स्वज्ञानमित्यस्यैवासिद्धेः।" सन्मति० टी० पृ० ४७८।

3 "स्वस्मिन् समवेतं स्वज्ञानमभिधीयत इति नायं दोषः इति चेत्; न; तस्याभावात्, भावेप्यविशिष्टत्वात्।" सन्मति० टी० पृ० ४७८

4 "... तेन घटादिज्ञानस्य धर्मिणः द्वितीयेन, तस्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्था इति यदुक्तम्; तदप्यसङ्गतम्; तृतीयादेर्ज्ञानस्याग्रहणे प्रथमस्याप्य सिद्धेरुक्तन्यायात्" सन्मति० टी० पृ० ४७९। युक्त्यनु० टी० पृ० ९।

वात्। अर्थजिज्ञासायां ह्यर्थे ज्ञानम्[१], ज्ञानजिज्ञासायां तु ज्ञाने[२], प्रतीतेरेवंविधत्वात्[३]; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तृतीयज्ञानस्याग्र[४]हणे तेन प्राक्तन[५]ज्ञानग्रहणविरोधात्, इतरथा सर्वत्र[६][७] द्वितीयादिज्ञानकल्पनानर्थक्यं तत्र चोक्तो[८] दोषः[९]।

किञ्च[1], 'अर्थजिज्ञासायां सत्याम्[१०]अहमुत्पन्नम्[११]' इति तद्[१२]ज्ञानादेव प्रतीतिः, ज्ञानान्तराद्वा? प्रथमपक्षे जैनमतसिद्धिस्तथाप्रतिपद्यमानं हि ज्ञानं स्वपरपरिच्छेदकं स्यात् । द्वितीयपक्षेऽपि 'अर्थज्ञानमज्ञातमेव मयार्थस्य परिच्छेदकम्' इति ज्ञानान्तरं[१३] प्रतिपद्यते[१४] चेत्[१५]; तदेव स्वार्थपरिच्छेदकं सिद्धं तथाद्य[१६]म्[१७]अपि स्यात्। न प्रतिपद्यते चेत्कथं तथाप्रतिपत्तिः?

किञ्च[2], अर्थज्ञानम्[१८]अर्थम्[१९]आत्मानं[२०] च प्रतिपद्य[२१] 'अज्ञातमेव मया ज्ञानम्[२२]अर्थं जानाति' इति ज्ञानान्तरं[२३] प्रतीयात्, अप्रतिपद्य वा। प्रथमपक्षे त्रिविषयं[२४] ज्ञानान्तरं प्रसज्येत[२५]। द्वितीयपक्षे तु अतिप्रसङ्गः 'मयाऽज्ञातमेवादृष्टं सुखादीनि करोति' इत्यपि तद्[२६]ज्ञानीयादविशेषात्[२७] ।

१ जातं। २ ज्ञानं जातं। ३ जिज्ञासापूर्वकत्वात्। ४ चतुर्थेन। ५ द्वितीय। ६ अर्थज्ञाने। ७ आत्मनि। ८ प्रथमज्ञानेनालम्। ९ अशेषस्य प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वलक्षणः। १० अर्थज्ञानं। ११ मित्यादि। १२ प्रथम। १३ कर्तृ। १४ जानाति। १५ ज्ञानान्तरम्। १६ अर्थज्ञानं। १७ ज्ञानत्वाद्वितीयज्ञानवत्। १८ कर्तृ। १९ ज्ञानस्वरूपं। २० त्रितयमपि द्वितीयज्ञानस्य कर्मभूतम्। २१ ज्ञात्वा। २२ कर्तृ। २३ कर्तृ। २४ वसः। २५ अपसिद्धान्तप्रसङ्गः। २६ कर्तृ। २७ त्रितयाविषयीकरणस्य।

1 "स्वयमर्थज्ञानं ममेदमित्यप्रतिपत्तौ तथाप्रतीतेरसंभवात्, प्रतिपत्तौ तु स्वत एव तत्प्रतिपत्तिः, ज्ञानान्तराद्वा? स्वतश्चेत्; स्वार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिर्वेदनस्य वस्तुबलप्राप्ता, 'क्वचिदर्थे जिज्ञासायां सत्यामहमुत्पन्नमिति स्वयं प्रतिपद्यमानं हि ज्ञानं स्वार्थपरिच्छेदकमस्त्यनुज्ञायते नान्यथेति जैनमतसिद्धिः। यदि पुनर्ज्ञानान्तरात्तथाप्रतिपत्तिस्तदापि तदर्थज्ञानम् अज्ञातमेवमयाऽर्थस्य परिच्छेदकमिति स्वयं ज्ञानान्तरं प्रतिपद्यते चेत्तदेव स्वार्थपरिच्छेदकं सिद्धम्। न प्रतिपद्यते चेत्कथं तथा प्रतिपत्तिः।" युक्त्यनु० टी० पृ० ९। न्यायकुमु० पृ० १८६।

2 "किंचेदं विचार्यते-ज्ञानान्तरम् अर्थज्ञानमर्थमात्मानञ्च प्रतिपद्य अज्ञातमेव मया ज्ञातमर्थं जानातीति प्रतिपाद्य, अप्रतिपाद्य वा? प्रथमे पक्षे अर्थस्य तज्ज्ञानस्य स्वात्मनः स्वपरिच्छेदकत्वविषयं ज्ञानान्तरं प्रसज्येत। द्वितीयपक्षे पुनरतिप्रसङ्गः, सुखादिकमज्ञातमेवादृष्टं मया करोतीत्यपि जानीयादविशेषात्।" युक्त्यनु० टी० पृ० ९। न्यायकुमु० पृ० १८६।

ना[१]पि श[२]क्तिक्षयात्, ईश्वरात्, विषयान्तरसञ्चारात्, अदृष्टाद्वाऽनवस्थाभावः। न हि[1] शक्तिक्षयाच्च[३]तुर्थादिज्ञानस्यानुत्पत्तेरनवस्थानाभावः। तदनुत्पत्तौ प्रा[४]क्तनज्ञानासिद्धिदोषस्य त[५]दवस्थत्वात्। त[६]त्क्षये च कुतो रूपादिज्ञानं सा[७]धनादिज्ञानं वा य[८]तो व्यवहारः प्रवर्त्तेत? न[2] च चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव क्षयो नेत[९]रस्याः; युगपदनेकशक्त्यभावात्। भावे वा तथैव ज्ञानोत्पत्तिप्रस[१०]ङ्गः। नित्य[११]स्या[१२]परा[१३]पेक्षाप्यसम्भाव्या। क्रमेण शक्तिसद्भावे कुतो[१४]ऽसौ? न तावदात्मनोऽश[१५]क्तात्, तदस[१६]म्भवात्। शक्त्य[१७]न्तरकल्पने चा[१८]नवस्था।

ईश्व[3]रस्ता[१९]ं निवारयतीत्यपि बालविलसितम्; कृतकृत्यस्य तन्निवारणे प्रयोजनाभावात्। परोपकारः प्रयोजनमित्य[२०]सत्; धर्मिग्रहणाभावस्य त[२०]दवस्थत्वप्रसङ्गात्, अप्रतीतेर्निषिद्धत्वा[२१]च्चा[२२]स्य।

न च[4] विष[२३]यान्तरसञ्चारात्तन्निवृत्तिः; विषयान्तरसञ्चारो हि ध[२४]र्मि[२५]ज्ञानवि[२६]षया[२७]दन्यत्र साधनादिविषये ज्ञानोत्[२८]पत्तिः। न च त[२९]ज्ज्ञा-

---

१ किञ्च। २ प्रतिपत्तुः। ३ पञ्चषष्ठादि। ४ प्रथमद्वितीयतृतीय। ५ पूर्वनिरूपित। ६ शक्ति। ७ दृष्टान्तादि। ८ कुतः। ९ रूपादिज्ञानजनितायाः शक्तेः। १० अपसिद्धान्तः। ११ आत्मनः। १२ ज्ञानोत्पत्तौ। १३ शक्ति। १४ शक्तिर्भवेत्। १५ असमर्थात्। १६ ता। १७ शक्तादात्मनश्चेन्न। १८ आत्मगताः शक्तयः शक्तिमत एवात्मनः उत्पद्यन्ते इत्यनेन प्रकारेण। १९ आद्यज्ञानज्ञानाभावस्य। २० पूर्वनिरूपित। २१ घटादिज्ञानज्ञानमित्यादौ। २२ धर्मिज्ञानज्ञानस्य। २३ तृतीयज्ञानात्। २४ ता। २५ वसः। २६ आद्यज्ञानस्य। १७ तृतीयज्ञानात्। २८ तृतीयज्ञानस्य। २९ द्वितीय।

---

1 "न च शक्तिप्रक्षयाच्चतुर्थज्ञानादेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तिः; धर्मिग्रहणस्यैवमभावापत्तेः।... किंच, यदि शक्तिप्रक्षयादनवस्थानिवृत्तिः; बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत् शक्तिप्रक्षयादेव।" सन्मति० टी० पृ० ४७९।

2 "नच चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयः न बाह्यविषयज्ञानशक्तेः, युगपदनेकशक्त्यभावात्, भावे वा युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसक्तिः।" सन्मति० टी० पृ० ४७९।

3 "एतेन ईश्वरादनवस्थानिवृत्तिरिति प्रतिविहितम्; तस्यादृष्टकल्पनत्वात्, प्रतिषिद्धत्वाच्च।" सन्मति० टी० पृ० ४७९।

4 "न च विषयान्तरसञ्चारादनवस्थानिवृत्तिः, यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनादिविषयान्तरम्, तत्र ज्ञानस्योत्पत्तेः विषयान्तरसञ्चारः। न चापरापरज्ञानग्राहिज्ञानसन्तत्युत्पत्तौ अवश्यम्भाविबाह्यसाधनादिविषयसन्निधानम्, येन तत्र ज्ञानस्य सञ्चारो भवेत्। सन्निधानेऽपि अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव बलीयस्त्वात् नान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषये ज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः?" सन्मति० टी० पृ० ४७९।

नसन्नि[1]धानेऽवश्यं सा[2]धनादिना सन्निहितेन भवित[3]व्यमसिद्धा[4]देरभा[5]वापत्तेः। स[6]न्निहितेपि वा जिघृक्षिते ध[7]र्मि[8]ण्यगृ[9]हीते कथं विषयान्तरे ग्र[10]हणाकांक्षा? कथं वा [11]तज्ज्ञानमेका[12]र्थसमवेतत्वेन सन्निहितं विहाय तद्विपरीते दृष्टान्तादौ ज्ञा[13]नं ज्ञायेत्?

अ[1]दृष्टात्तन्निवृत्तौ स्वसंविदितज्ञानोत्पत्तिरेवातोऽस्तु किं मिथ्या[14]भिनिवेशेन? तन्न प्रत्यक्षाद्धर्मिसिद्धिः।

नो[15]प्यनुमानात्; तत्सद्भावावेदकस्य[16] तस्यैवासिद्धेः। सिद्धौ वा त[17]त्राप्या[18]श्रयासिद्ध्यादिदोषोपनिपा[19]तः स्यात्। पु[20]नरत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धावनवस्था। इ[21]त्युक्तदोषपरिजिहीर्षया प्रदीपवत्स्वपरप्रकाशनशक्तिद्वयात्मकं ज्ञानमभ्युपग[22]न्तव्यम्। तदपह्नवे व[23]स्तुव्यवस्थाभावप्रसङ्गात्।

ननु स्व[24]प[2]रप्रकाशो नाम यदि बोधरूपत्वं तदा साध्यविकलो दृष्टान्तः प्रदीपे बोधरूपत्वस्यासम्भवात्। अथ भासुररूपसम्बन्धित्वं तस्य ज्ञानेऽत्यन्तासम्भवात्कथं साध्यता? अन्य[25]था[26] प्रत्यक्षबाधस्तदप्यसमीचीनम्; त[3]त्प्रकाशो हि स्वपररूपोद्योत[27]नरूपोऽभ्युपग[28]म्यते। स च क्व[29]चिद्बोधरूपतया क्वचित्तु भासुररूपतया वा न विरोधमध्यास्ते।

---

१ तृतीयज्ञानस्यैकात्मसमवेतत्वेन। २ दृष्टान्तादि। ३ अन्यथा। ४ आश्रय। ५ दृष्टान्त। ६ साधनादौ। ७ अर्थज्ञाने। ८ तृतीयेन द्वितीयस्याग्रहणे द्वितीयेन प्रथमस्याग्रहणे। ९ प्रतिपत्तुः। १० किञ्च। ११ धर्मिज्ञानतृतीयज्ञानं। १२ एकात्मनि। १३ तृतीयं चतुर्थं। १४ ज्ञानान्तरेणैव वेद्यं ज्ञानमिति। १५ द्वितीयविकल्पः। १६ ग्राहकस्य। १७ धर्मिज्ञान। १८ ता। १९ हेतोरसिद्धिः। २० द्वितीयेऽनुमाने। २१ ईश्वरज्ञानेन सुखसंवेदनेन चानेकान्तः धर्म्यसिद्धिः। २२ परेण। २३ घटादिज्ञान। २४ ज्ञानं स्वपरप्रकाशकमर्थप्रकाशकत्वात्प्रदीपवत्। २५ प्रदीपे बोधरूपत्वे ज्ञाने भासुररूपसम्बन्धित्वे सति। २६ ज्ञाने भासुररूपसम्बन्धित्वं विद्यते चेत्। २७ प्रकटन। २८ जैनैः। २९ ज्ञाने।

---

1 "नचादृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः; स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनापि अनवस्थानिवृत्तेः संभवात्, अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमाने अदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः। स्वसंवेदनेऽपि अदृष्टस्य शक्तिप्रक्षयाभावात्।" सन्मति० टी० पृ० ४७९।

2 "यदि प्रकाशकत्वं बोधरूपत्वं विवक्षितं तदा साधनविकलमुदाहरणम्, प्रदीपे बोधरूपत्वस्यासंभवात्। अथ प्रकाशकत्वं भास्वररूपसम्बन्धित्वं तद् विज्ञाने नास्ति।" प्रश० व्यो० पृ० ५२९।

3 "यतः अर्थप्रकाशकत्वमर्थोद्योतकत्वमुच्यते, तच्च क्वचिद्बोधरूपतया क्वचिद्भासुररूपतया वा न विरोधमध्यास्ते।" न्यायकुमु० पृ० १८९। स्या० रत्ना० पृ० २३१।

ननु 'येना[1]त्मना ज्ञानमात्मानं प्रकाशयति येन चार्थं तौ चेत्तोऽभिन्नौ; तर्हि ता[2]वेव न ज्ञानं तस्य तत्रानुप्रवेशात्तत्स्वरूपवत्, [3]ज्ञानमेव वा तयोस्तत्रानुप्रवेशात्[4], तथा च कथं तस्य स्वपरप्रकाशनशक्तिद्वयात्मकत्वम्? भिन्नौ चेत्स्वसंविदितौ, स्वाश्रयज्ञानविदितौ वा। प्रथमपक्षे स्वसंविदितज्ञान[5]त्रयप्रसङ्गस्तत्रापि प्रत्येकं स्वपरप्रकाशस्वभावद्वयात्मकत्वे स[6] एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च। द्वितीयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशहेतुभूतयो[7]स्तयोर्यदि ज्ञानं [8]तथाविधेन स्वभावद्वयेन प्रकाशकं तर्ह्य[9]नवस्था। तदप्रकाशक[10]त्वे प्रमाणत्वायोग[11]स्तयोर्वा [12]तत्स्वभावत्वविरोध इति' एका[13]न्तवा[14]दिनामुपलम्भो नास्मा[15]कम्; जा[16]त्यन्त[17]रत्वा[18]त्स्वभावतद्वतोर्भेदाभेदं प्रत्यने[19]कान्तात्। ज्ञा[20]नात्मना हि स्वभावतद्वतोरभेदः, स्वपरप्रकाश[21]स्वभा[22]वात्मना च भेद[23] इति ज्ञानमेवाभेदोऽतो भिन्नस्य ज्ञा[24]ना[25]त्मनोऽ[26]प्रतीतेः। स्वपरप्रकाशस्वभावे च भेद[27]स्तद्व्य[28]तिरिक्तयोस्तत्रप्रतीयमानत्वादि[29]त्युक्तदोषानवकाशः। कल्पि[30]तयोस्तु भेदाभेदैकान्त[31]योस्तद्दूषणप्रवृत्तौ [32]सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात्। [33]स्वपरप्रकाशस्वभावौ च प्रमाणस्य तत्प्रकाशनसामर्थ्यमेव, तद्रूपतया चा[34]स्य परोक्षता तत्प्रकाशनलक्षण-

---

१ स्वभावेन। २ भवतः। ३ तौ। ४ ज्ञानात्। ५ द्वौ स्वभावौ ज्ञानं च। ६ प्रत्येकं स्वपरप्रकाशनस्वभावौ भिन्नावभिन्नौ वा। अभिन्नपक्षे प्रागुक्तमेव दूषणं भिन्नपक्षे स्वसंविदितौ स्वाश्रयज्ञानविदितौ वेत्यादि। ७ भावयोः। ८ भिन्नेन। ९ स्वभावद्वयप्रकाशनात्। १० ज्ञानस्य। ११ ज्ञानस्य। १२ ज्ञान। १३ भा.। १४ परेषां भवताम्। १५ जैनानाम्। १६ प्रकारान्तरत्वात्। १७ कथञ्चिद् भेदाभेदरूपत्वात्। १८ असत्प्रत्यक्षस्य। १९ अनियमात्। २० स्वरूपेण। २१ ईयेकः। २२ वा द्विः। २३ ज्ञानस्य। २४ ता। २५ ता। २६ इति। २७ ज्ञानरूपस्वभावरूपाभेदायां। २८ स्वभावतद्वतोः। २९ स्वपरप्रकाशनस्वभावभेदाभेदपक्षयोः। ३० भवत्पक्षे मया यौगेन। ३१ सुखात्मनोरभेदो ब्रह्माद्वैतवादिना कल्पितस्तत्राभेदे त्वया दूषणमुद्भाव्यते भेदप्रतिभासो न स्यादेकात्मनि सौगतेन भेदः कल्पितस्तत्र भेदे त्वया दूषणमुद्भाव्यते अनुसन्धानं न स्यादिति। तथापि भेदाभेदपक्षदूषणं स्यात्। कथं त्वया द्रव्यगुणयोर्भेदोऽभ्युपगतः आत्मन्यभेदस्त्वत्पक्षेपि परेणोद्भाव्यमानं दूषणं प्रसज्येत। ३२ वस्तुनि। ३३ कारकौ न ज्ञापकौ ज्ञाप्यस्य। ३४ ज्ञानस्य।

---

1 "यच्चान्यदुक्तं येनैवात्मना ज्ञानमात्मानं प्रकाशयति तेनैवार्थम् इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; स्वभावतद्वतोः भेदाभेदं प्रत्यनेकान्तात्।"

न्यायकुमु० पृ० १८९। स्या० रत्ना० पृ० २३२। (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२५)

कार्यानुमेयत्वात्तयोः[1]। सकलभावानां सामर्थ्यस्य कार्यानुमेयतया निखिलवादिभिरभ्युपगमात्। अर्वाग्दृशां[2] चान्तर्बहिर्वार्थौ नैकान्ततः प्रत्यक्ष[3] इत्यत्राखिलवादिनामविप्रतिपत्तिरेवेत्युक्तदोषानव[4]काशतया प्रमाणस्य प्रत्यक्षताप्रसिद्धेरलं विवादेन[5]। अमुमेवार्थं[6] समर्थयमानः कोवेत्यादिना प्रकरणार्थमुपसंहरति[7]।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

को वा लो(लौ)किकः परीक्षको वा तत्प्रतिभासिनमर्थं[8]मध्यक्ष[9]मिच्छंस्तदेव प्रमाणमेव तथा प्रत्यक्षप्रकारेण नेच्छेत्! अपि तु प्रतीतिं प्रमाणयन्निच्छेदेव। अत्रैवार्थे परीक्षकेतरजनप्रसिद्धत्वात् प्रदीपं दृष्टान्तीकरोति[10]? यथैव हि प्रदीपस्य स्वप्रकाशतां प्रत्यक्षतां वा विना तत्प्रतिभासिनोर्थस्य प्रकाशकता प्रत्यक्षता वा नोपपद्यते। तथा[11] प्रमाणस्यापि प्रत्यक्षतामन्तरेण तत्प्रतिभासिनोर्थस्य प्रत्यक्षता न स्यादित्युक्तं[12] प्राक् प्रबन्धेनेत्युपरम्यते[13]। तदेवं सकल[14]प्रमाणव्यक्तिव्यापि[15] साकल्येनाप्रमाण[16]व्यक्तिभ्यो[17] व्यावृत्तं प्रमाण[18]प्रसिद्धं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणलक्षणम्।

ननूक्त[19]लक्षणप्रमाणस्य प्रामाण्यं[20] स्वतः परतो वा स्यादित्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते[21]।

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥ १३ ॥

तस्य स्वापूर्वार्थेत्यादिलक्षणलक्षितप्रमाणस्य प्रामाण्यमुत्पत्तौ[22] परत एव। ज्ञप्तौ[1] स्वकार्ये[23] च स्वतः परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया।

---

१ स्वपरप्रकाशरूपयोः। २ किञ्चिज्ज्ञानाम्। ३ व्यक्त्यपेक्षया प्रत्यक्षः शक्त्यपेक्षया परोक्षः। ४ ज्ञानं स्वप्रकाशकमर्थप्रकाशकत्वात्। ५ स्वपरप्रकाशकसमर्थप्रकाशकत्वात्। ६ मीमांसकेन ज्ञानपरोक्षतारूपो यौगेन स्वात्मनिक्रियाऽभावरूपश्च। ७ स्वसंविदित। ८ ज्ञान। ९ अध्यक्षविषयं। १० प्रदीपवत्। ११ प्रदीपप्रकारेण। १२ दूषणम्। १३ अस्माभिर्जैनैः। १४ प्रत्यक्षपरोक्ष। १५ अव्याप्त्यादिपरिहारः। १६ सन्निकर्षादि। १७ अतिव्याप्तिपरिहारः। १८ असम्भवपरिहारः। १९ स्वापूर्वेत्यादि। २० अविसंवादित्वं। २१ जैनः। २२ अर्थाव्यभिचारित्वम्। २३ प्रवृत्त्यर्थपरिच्छित्तिलक्षणे।

---

1 "तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः।
अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः केचिदञ्जसा ॥

ये[1] तु सकलप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं मन्यन्ते तेऽत्र प्रष्टव्याः- किमुत्पत्तौ[1], ज्ञप्तौ, स्वकार्ये वा स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं प्रार्थ्यते[2] प्रकारान्तरासम्भवात्? यद्युत्पत्तौ, तत्रापि[2] 'स्वतः[3] प्रामाण्यमुत्पद्यते' इति कोर्थः? किं कारणमन्तरेणोत्पद्यते[4], स्वसामग्रीतो[5] वा, विज्ञानमात्रसामग्रीतो[6] वा गत्यन्तराभावात्। प्रथमपक्षे-देशकालनियमेन प्रतिनियत[7]प्रमाणाधारतया प्रामाण्यप्रवृत्तिविरोधः स्वतो जायमानस्यैवंरूपत्वात्, अन्यथा[8] तदयोगात्[9]। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता, स्वसामग्रीतः सकलभावानामुत्पत्त्यभ्युपगमात्। तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीयः; विशिष्टकार्यस्या[10]विशिष्टकारणप्रभवत्वायोगात्। तथा हि-प्रामाण्यं[3] विशिष्टकारणप्रभवं विशिष्टकार्यत्वाद्[11]प्रामाण्यवत्[12]। यथैव ह्यप्रामाण्यलक्षणं विशिष्टं कार्यं काचकामलादिदोषलक्षणविशिष्टेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो जायते तथा प्रामाण्यमपि गुणविशेषणविशिष्टेभ्यो विशेषाभावात्[13]।

१ भाट्टाः। २ समर्थ्येत। ३ आत्मवाचक आत्मीयवाचकश्च। ४ आत्मवाचकपक्षे। ५ आत्मीयवाचकपक्षे। ६ आत्मीयपक्षे। ७ घटादि। ८ तदविरोधे। ९ कारणमन्तरेण प्रवृत्तेरयोगात्। १० प्रामाण्यस्य। ११ ज्ञानेन व्यभिचारः। १२ प्रामाण्यं न विज्ञानसामग्रीजन्यं विज्ञानान्यत्वे सति कार्यत्वात्। प्रामाण्यविज्ञाने भिन्नसामग्रीजन्ये भिन्नकार्यत्वाद् घटपटादिवत्। १३ विशिष्टकार्यत्वस्य।

तच्च स्याद्वादिनामेव स्वार्थनिश्चयनात् स्थितम्।
न तु स्वनिश्चयोन्मुक्तनिःशेषज्ञानवादिनाम्॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७७।

"इति स्थितमेतत्—प्रमाणादिष्टसंसिद्धिः अन्यथाऽतिप्रसङ्गतः। प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा॥" प्रमाणप० पृ० ६३।

"आभ्यासिकं यथा ज्ञानं प्रमाणं गम्यते स्वतः।
मिथ्याज्ञानं तथा किञ्चिदप्रमाणं स्वतः स्थितम्॥"

तत्त्वसं० कारि० ३१००।

"नहि बौद्धैः एषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि—उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति......।"

तत्त्वसं० पं० पृ० ८११।

1 "तत्किं स्वतो ज्ञायते, स्वतो वा जायते, स्वतो वा व्याप्रियते?"

प्रश० कन्दली पृ० २१८।

2 "तत्रापि स्वतः कारणमन्तरेण आत्मनैव प्रामाण्यमुत्पद्यते इत्यर्थः स्यात्, आत्मनो वा सकाशात्, आत्मीयायाः सामग्रीतो वा?" न्यायकुमु० पृ० १९९।

3 "प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात् अप्रमावत्।"

प्रश० किरणा० पृ० ३१८।

ज्ञप्तावप्यनभ्यासदशायां न प्रामाण्यं स्वतोऽवतिष्ठते; सन्देह[1]विपर्ययाक्रान्तत्वात्तद्वदेव । अभ्यासदशायां तूभय[2]मपि स्वतः । नापि प्रवृत्ति[3]लक्षणे स्वकार्ये तत्स्वतोऽवतिष्ठते, स्व[4]ग्रहण[5]सापेक्ष[6]त्वादप्रामाण्य[7]वदेव । तद्धि ज्ञातं[8] सन्नि[9]वृत्तिलक्षणस्वकार्यकारि ना[10]न्य[11]था ।

न[12]नु गुणविशेषणविशिष्टेभ्यः[13] इत्यु(त्ययु)क्तम्; तेषां[1] प्रमाणतोऽनुपलम्भेनासत्त्वात् । न खलु प्रत्यक्षं तान्प्रत्येतुं समर्थम्; अतीन्द्रियेन्द्रियाप्रतिप[14]त्तौ तद्गुणानां प्रतीतिविरोधात् । ना[15]प्यनुमानम्; तस्य प्रतिब[16]न्धबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात् । प्रतिबन्धश्चेन्द्रियगुणैः सह लिङ्ग[17]स्य प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा । न तावत्प्रत्यक्षेण, गुणाग्रहणे तत्सम्बन्धग्रहणविरोधा[18]त् । ना[19]प्यनुमानेन, अस्यापि गृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवत्वात् । त[20]त्राप्यनुमाना[21]न्तरेण सम्बन्धग्रहणेऽनवस्था । प्रथमानुमानेनान्योन्याश्रयः । अ[22]प्रतिपन्नसम्बन्धप्रभवं चानुमानं न प्र[23]माणमतिप्र[24]सङ्गात् ।

किञ्च, स्व[25]भावहेतोः, कार्यात्, अनुपलब्धेर्वा तत्प्रभवेत्? न तावत्स्वभा[26]वात्, तस्य प्रत्यक्षगृहीते[27]र्थे व्यवहारमात्रप्रवर्तनफलत्वाद्वृक्षादौ शिंशपात्वादिवत् । न चात्यक्षाऽक्षाश्रितगुणलिङ्ग[28]सम्बन्धः प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नः । कार्यहेतो[29]श्च सिद्धे का[30]र्यकार[31]णभावे कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वम्, तत्सिद्धिश्चाध्य[32]क्षानुप[33]लम्भप्रमाणसम्पाद्या । न चेन्द्रियगुणाश्रितसम्बन्धग्रा[34]हकत्वेनाध्य[35]क्षप्रवृत्तिः, येन तत्का-

१ सत्यमसत्यमिति । २ प्रामाण्यमप्रामाण्यम् । ३ अभ्यासदशायां विषयं प्रति गमनम् । ४ सत्यत्व । ५ स्वस्य ज्ञानेन । ६ प्रामाण्यस्य । ७ अर्थव्यभिचारित्व । ८ असत्यमिदमिति । ९ विषयं प्रत्यगमनम् । १० अज्ञातम् । ११ अभ्यासदशायां स्वतः । १२ मीमांसकः । १३ चक्षुरादिभ्यः । १४ अपरिज्ञाने । १५ प्रामाण्यं विज्ञानकारणातिरिक्तकारणप्रभवं विज्ञानान्यत्वे सति कार्यत्वादप्रामाण्यवत् । १६ अविनाभाव । १७ प्रामाण्यस्य । १८ लिङ्गस्य । १९ प्रामाण्यं गुणनियतं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । २० द्वितीयानुमाने । २१ तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं गुणसद्भावाविनाभावि तस्मि(गुणे)न्सत्येवोत्पद्यमानत्वात् । २२ अगृहीत । २३ अनुमानाभासम् । २४ तत्पुत्रत्वादेरुत्पन्नस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । २५ वृक्षोयं शिंशपात्वात् । २६ हेतोः । २७ वृक्षोयं शिंशपात्वात् । २८ ता । २९ प्रामाण्यं (कार्यं) साध्येन (गुणेन) सम्बन्धि अनुमानकार्यत्वाद्धूमवत् । ३० हेतुः कार्यम् । ३१ सम्बन्धः कारणम् । ३२ अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । ३३ असत्त्वसद्भाव । ३४ कार्यकारणभाव । ३५ ता ।

1 "नहि चक्षुरादिषु गुणा नाम केचिदुपलभ्यन्ते ।"
मी० श्लो० न्यायरत्ना० पृ० ५९ ।

र्यत्वेन कस्यचिल्लिङ्गस्य[1]ाप्यध्यक्षतः[2] प्रतिपत्तिः स्यात्। अनुपलब्धे[3]स्त्वेवंविधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवत्यभावमात्रसाधकत्वेनास्याः व्यापारोपगमात्।

न च[4]ात्र[5] लिङ्गमस्ति। यथार्थोपलब्धि[6]रस्तीत्यप्यसङ्गतम्; यतो यथार्थत्वायथार्थत्वे[7] विहाय यदि कार्यस्यो[8]लब्ध्या[9]ख्यस्य स्वरूपं निश्चितं भवेत्तदा यथार्थत्व[10]लक्षणः कार्यविशेषः[11] पूर्वस्मात्कारणकलापा[12]दनिष्पद्यमानो गुणाख्यं[13] स्वोत्पत्तौ कारणान्तरं परिकल्पयेत्। यदा तु यथार्थैवोपलब्धिः स्वयो(स्वो)त्पादक[14]कारणकलापानुमापिका तदा कथं तद्व्यतिरिक्त[15]गुणसद्भावः? अयथार्थत्वं तूपलब्धेर्विशेषः पूर्वस्मात्कारण[16]समूहादनुत्पद्यमानः स्वोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरं परिकल्पयतीति परतोऽप्रामाण्यं तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात्।

न चेन्द्रिये नैर्मल्यादिरेव गुणः; नैर्मल्यं हि तत्स्वरूपम्, न तु स्वरूपाधिको[17] गुणः तथा[18] व्यपदेशस्तु दोषाभावनिबन्धनः। तथाहि-कामलादिदोषासत्त्वान्निर्मलमिन्द्रियं[19] तत्सत्त्वे सदोषम्। मनसोपि निद्राद्यभावः स्वरूपं तत्सद्भावस्तु दोषः। विषयस्यापि[20] निश्चलत्वादि[21]स्वरूपं चलत्वादिस्तु दोषः। प्रमातुरपि क्षुधाद्यभावः स्वरूपं तत्सद्भावस्तु दोषः।

न चैतद्[22]वक्तव्यम्[23]-'विज्ञानजनकानां[24] स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या[25] समधिगतम् यथार्थत्वं तु पूर्वस्मात्[26]कारणकलापादनुत्पद्यमानं गुणाख्यं सामग्र्यन्तरं परिकल्पयति' इति; यतो[27]ऽत्र लोकः प्रमाणम्। न चात्र मिथ्याज्ञानात्कारण[28]स्वरूपमात्रमेवानुमिनोति किन्तु सम्यग्ज्ञानात्[29]।

किञ्च, अर्थतथाभावप्रकाशन[30]रूपं प्रामाण्यम्, तस्य चक्षु-

---

१ प्रामाण्यस्य। २ सम्बन्ध। ३ ता। ४ किञ्च। ५ नयनगुणे साध्ये। ६ नयने गुणाः सन्ति यथार्थोपलब्धेः। ७ विशेषरूपे। ८ कार्यमात्रस्य। ९ उपलम्भसामान्यस्य। १० सत्य। ११ कर्त्ता। १२ शुद्धं चक्षुः। १३ अन्यत्। १४ इन्द्रिय। १५ इन्द्रिय। १६ इन्द्रिय। १७ का। १८ निर्मलं चक्षुरिति। १९ इन्द्रियस्वरूपम्। २० पटादिपदार्थस्य। २१ आसन्नत्वादि। २२ वक्ष्यमाणम्। २३ जैनैः। २४ चक्षुरादीनां। २५ लिङ्गेन। २६ अयथार्थोपलब्धिजनकादिन्द्रियात्। २७ विज्ञानसामग्र्यनुमाने। २८ चक्षुरादि। २९ प्रामाण्यं विज्ञानकारण (चक्षुरादि) प्रभवं विज्ञानस्वभावत्वात् विज्ञानस्वरूपवत्। ३० प्रमाणस्य कार्यार्थतथाभावप्रकाशनरूपं प्रामाण्यम्।

---

1 "वैमल्यं गुण इति चेत्; नन्वेवं दोषाभावो गुणः।"

मी० श्लो० न्यायरत्ना० पृ० ५९।

रादिसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्त्युपगमे[1] विज्ञानस्य स्वरूपं वक्तव्यम्[2] । न च तद्रूपव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं पश्यामो[3] येन तदुत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकालं[4] तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्यते[5] प्रामाण्यं भित्ताविव[6] चित्रम् । विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्तौ[7] व्यतिरिक्तसामग्रीतश्चोत्पत्त्यभ्युपगमे[8][9] विरुद्ध[10]धर्माध्यासात्कारण[11]भेदाच्च तयो[12]र्भेदः[13] स्यात्[14] ।

किञ्च, अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा शक्तिः[15] प्रामाण्यम्, शक्तयश्च भावानां सत(स्वत) एवोत्पद्यन्ते नोत्पादककारणाधीनाः[16] । तदुक्तम्—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्य[17]मिति गम्यताम्[18] ।
न हि[19] स्वतो[20]ऽसती शक्तिः कर्तु[21]मन्येन पार्यते ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७]

न चैत[22]त्सत्कार्यदर्शन[23]समाश्रयणादभिधीयते; किन्तु यः कार्यगतो धर्मः कारणे समस्ति स कार्यवत्तत[24] एवोदयमासादयति यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपादयो घटेपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डरूपादिद्वारेणोपजायन्ते । ये तु कार्यधर्माः कारणेष्वविद्यमाना न ते ततः कार्यवत् जायन्ते किन्तु स्वत एव, यथा तस्यै[25]वोदकाहरणशक्तिः । एवं विज्ञानेप्यर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिश्चक्षुरादिष्वविद्यमाना तेभ्यो नोदयमासादयति किन्तु स्वत एवाविर्भवति । उक्तं च—

"आत्मलाभे हि भावानां[26] कारणापेक्षिता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४८]

यथा-मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते" ॥ [ ]

---

१ प्रामाण्यस्य। २ जैनैः। ३ वयं मीमांसकाः । ४ विज्ञानस्य । ५ विज्ञाने । ६ भित्तिसद्भावे चित्रं नोत्पद्यते विनष्टे तु भवतीति । ७ प्रामाण्यस्य । ८ प्रामाण्यस्य । ९ विज्ञानस्य कारणमिन्द्रियं प्रामाण्यस्य गुण इति । १० उत्पत्त्यनुत्पत्तिलक्षण । ११ इन्द्रियगुणौ । १२ प्रमाणप्रामाण्ययोः । १३ प्रमाणप्रामाण्ये भिन्ने । १४ इति परस्यानिष्टापत्तिः परेणाभेदाभ्युपगमात् । १५ प्रमाणस्य भावशक्तिः । १६ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणाधीनो गुणः । १७ भवति । १८ निश्चीयताम् । १९ कारणे । २० स्वरूपेण । २१ विज्ञानकारणातिरिक्तकारणाधीनेन गुणेन । २२ अपरार्द्धस्थम् । २३ साङ्ख्यमत। २४ कारणधर्मादेव । २५ घटलक्षणकार्यस्य । २६ कार्याणां ।

---

1 "सर्वे हि भावाः स्वात्मलाभायैव करणमपेक्षन्ते । घटो हि मृत्पिण्डादिकं स्वजन्मन्येव अपेक्षते, नोदकाहरणेऽपि । तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तौ गुणवदितरद्वा करणम-

चक्षुरादिविज्ञानकारणादुपजायमानत्वात्त[1]स्य परतोऽभिधाने तु सिद्धसाध्यता । अनु[2]मानादिबुद्धिस्तु गृहीताविना[3]भावादिलि[4]ङ्गादेरुपजायमाना प्रमाणभूतैवोपजायतेऽतोऽत्रापि ते[5]षां न व्यापारः । तन्नोत्पत्तौ [6]तद[7]न्यापेक्षम् ।

नापि ज्ञप्तौ, [8]तद्धि तत्र किं कारणगुणानपेक्षते, संवादप्रत्ययं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; गुणानां प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वेन प्रागेवासत्त्वप्रतिपादनात् । संवादज्ञानापेक्षाप्य[9]युक्ता; तत्खलु [10]समानजातीयम्, भिन्नजातीयं वा ? प्रथमपक्षे किमेकसन्तान[11]प्रभवम्; भिन्नसन्तानप्रभवं वा ? न तावद्भिन्नसन्तानप्रभवम्; दे[12]वदत्तघटज्ञाने यज्ञदत्तघटज्ञानस्यापि संवादकत्व[13]प्रसङ्गात् । एकसन्तानप्रभवमप्यभिन्नविषयम्, भिन्नविषयं वा ? प्रथमविकल्पे सं[14]वाद्यसंवादकभावाभावोऽविशे[15]षात् । अभिन्नविषयत्वे हि यथोत्तरं पूर्वस्य संवादकं तथेदमप्यस्य किन्न [16]स्यात् ? कथं [17]चा[18]स्य प्रमाणत्वनिश्चयः ? [19]तदुत्तरकालभाविनोऽ[20]न्यस्मात् [21]तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात्तथाविधादेवेत्यनवस्था । [22]प्रथमप्रमा[23]णात्तस्य प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योन्याश्रयः । भिन्नविषयमित्यपि वार्त्तम्; शुक्तिशकले [24]रजतज्ञानं प्रति उत्तरकालभाविशुक्तिकाशकलज्ञानस्य प्रामाण्य[25]व्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात् ।

[26]नापि भिन्नजातीयम्; [27]तद्धि किमर्थ[28]क्रिया[29]ज्ञानम्, उ[30]तान्यत् ? न तावदन्यत्; [31]घटज्ञानात्पटज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयप्रसङ्गात् । नाप्यर्थक्रियाज्ञानम्; [32]प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याभावेनार्थक्रियाज्ञाना-

---

१ प्रामाण्यस्य । २ आगम । ३ सङ्केतादि । ४ शब्द । ५ गुणानां । ६ प्रामाण्यं । ७ गुण । ८ प्रामाण्यं । ९ प्रामाण्यस्य । १० अर्थज्ञानेन समाना सदृशा जातिवि(र्वि)षयो यस्य तत्समानजातीयम् । ११ पुरुष । १२ अन्यथा । १३ भिन्नसन्तानप्रभवत्वाविशेषात् । १४ एकस्य जलज्ञानं जलज्ञानमिति । १५ अभिन्नविषयस्य । १६ संवादकं । १७ किञ्च । १८ उत्तरज्ञानस्य । १९ द्वितीयज्ञानात् । २० ज्ञानात् । २१ अभिन्नविषयात् । २२ प्रथमप्रमाणादुत्तरस्य निश्चयः उत्तरज्ञानात्प्रथमनिश्चय इति । २३ ज्ञानात् । २४ पूर्वज्ञातं । २५ सदृशविषयत्वेन समानजातीयत्वे सति भिन्नविषयत्वस्याविशेषात् । २६ संवादज्ञानं । २७ द्वितीयविकल्पं प्रत्याह परः । २८ स्नानावगाहनादि । २९ ता । ३० मरीचिकाचक्रे जलज्ञानात्पश्चान्मरीचिकाज्ञानम् । ३१ अन्यथा । ३२ आद्यज्ञानस्य ।

पेक्षतां नाम स्वकार्ये तु विषयनिश्चये अनपेक्षमेव ।"

मी० श्लो० न्यायरत्ना० पृ० ६० ।

कारिकेयं तत्त्वसंग्रहे (पृ० ७५७) पूर्वपक्षरूपेण वर्तते ।

घटनात्। च[1]क्रकप्रसङ्गश्च। कथं च[2]ार्थक्रियाज्ञानस्य त[3]न्निश्चयः? अन्यार्थक्रियाज्ञानाच्चेदनवस्था। प्रथमप्रमाणाच्चेदन्योन्याश्रयः। अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यनिश्चयोर्पगमे[4] चाद्यस्य[5] तथाभावे किङ्कृतः प्रद्वेषः? तदुक्तम्—

"यथैव प्र[6]थमज्ञानं त[7]त्संवादमपेक्षते।
संवादेनापि संवादः परो मृग्यस्तथैव हि ॥ १ ॥ [ ]
क[8]स्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता।
प्र[9]थमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना ॥ २ ॥
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७६]

संवादस्याथ पू[10]र्वेण संवादित्वात्प्रमाणता।
अन्योन्याश्रयभावेन प्रामाण्यं न प्र[11]कल्पते ॥ ३ ॥ [ ] इति।

[12]अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेऽदृष्ट[13]त्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षा सा[14]धनज्ञानस्य[15] त्वर्थाभा[16]वेपि दृष्टत्वात्त[17]त्र तदपेक्षा युक्ता; इत्यप्यसङ्गतम्; तस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशायां दर्शनात्। फ[18]लावाप्तिरूपत्वात्तस्य त[19]त्र ना[20]न्यापेक्षा सा[21]धननिर्भासिज्ञानस्य तु फलावाप्तिरूपत्वाभावात्त[22]दपेक्षा; इत्यप्यनुत्तरम्; फलावाप्तिरू[23]पत्वस्याप्रयोजकत्वात्। यथैव हि[24] सा[25]धननिर्भासिनो ज्ञानस्यान्य[26]त्र व्यभिचारदर्शनात्सत्यासत्यविचारणायां प्रेक्षावतां प्रवृत्तिस्तथा त[27]स्यापि विशेषाभा[28]वात्।

किञ्च, समानकालमर्थक्रियाज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यव्यव[29]स्थापकम्, भिन्नका[30]लं वा? यद्येक[31]कालम्; पूर्वज्ञा[32]नविषयम्, तदविषयं

---

१ अर्थक्रियाज्ञानोत्पत्तौ पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यं पूर्वज्ञानप्रामाण्ये च प्रवृत्तिः प्रवृत्तौ चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिरिति। २ किञ्च। ३ प्रामाण्य। ४ जैनैः। ५ ज्ञानस्य। ६ स्वविषये। ७ स्वविषये। ८ द्वितीयज्ञानस्य। ९ ज्ञानस्य। १० आद्यज्ञानेन। ११ न घटते। १२ जैनः। १३ अप्रतीतेः। १४ जलज्ञानस्य। १५ जललक्षण। १६ मरीचिकाचक्रे। १७ साधनज्ञानप्रामाण्ये। १८ स्नानपानादिलक्षण। १९ स्वप्रामाण्यनिश्चये। २० प्रथमतृतीयज्ञान। २१ स्नानादिक्रियायाः साधनं जलादि तस्मिन्। २२ शुक्ता। २३ अन्यानपेक्षत्वं प्रति। २४ अर्थक्रियायाः। २५ जल। २६ मरीचिकायां। २७ जाग्रद्दशायां सुप्तावस्थायां च सत्यासत्यत्वस्य। २८ स्वप्नदशायां व्यभिचारदर्शनस्य। २९ संवादकं। ३० वसः। ३१ वसः। ३२ वसः।

---

1 "कारिकेयं तत्त्वसंग्रहे (पृ० ७५७) पूर्वपक्षरूपतया धृताऽस्ति।

वा? । न तावत्तदविषयम्; चक्षुरादि[1]ज्ञाने[2] ज्ञानान्तरस्या[3]प्रतिभासनात्, प्रतिनियतरूपादि[4]विषय[5]त्वात्तस्य[6] । तदविषयत्वे च कथं तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वं तदग्रहे तद्धर्माणां[7] ग्रहणविरोधात् । भिन्नकालमित्यप्ययुक्तम्; पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नाशे तदग्राहकत्वेनोत्तरज्ञानस्य तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वायोगात् । सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये सन्देह[8]विपर्ययाक्रान्तत्वासिद्धेश्च[9] । समुत्पन्ने खलु विज्ञाने 'अयमित्थमेवार्थः' इति निश्चयो[10] न सन्देहो विपर्ययो वा । तदुक्तम्—

"प्रमा[11]णं[12] ग्रहणात्[13]पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
निरपेक्षं स्वकार्ये[14] च गृह्यते[15] प्रत्यया[16]न्तरैः[17], ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ८३] इति

प्रमाणाप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यरूपत्वान्न संवादविसंवादावन्तरेण तयोः प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चय इति च मनोरथमात्रम्; अप्रमाणे बाधककारणदोषज्ञानयोरवश्यंभावित्वादप्रामाण्यनिर्णयः[18], प्रमाणे तु तयोरभावात्प्रामाण्या[19]वसायः[20] ।

---

१ स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्र । २ द्वितीये ज्ञाने । ३ आद्यस्य जलज्ञानस्य । ४ रसगन्धस्पर्शशब्द । ५ बसः । ६ बाह्येन्द्रियजनितज्ञानस्य । ७ प्रामाण्यसत्त्वादीनाम् । ८ यदा ज्ञानमुत्पद्यते तदा संशयादिरहितमेवोत्पद्यतेऽतः कथमपरापेक्षा । ९ किञ्च । १० भवति । ११ प्रामाण्यं । १२ प्रामाण्यलक्षणस्य धर्मस्यात्रान्तर्भावाद्धर्मिप्रधानोऽयं निर्देशः । १३ परिच्छित्तेः । १४ अर्थपरिच्छित्तिप्रवृत्तिलक्षणे । १५ पुरुषैः । १६ संवादरूपैः । १७ सन्निकर्षरूपैः । १८ परतः । १९ निश्चयः । २० भवति ।

---

1 "अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ ५३ ॥

"दोषनिमित्तं हि ज्ञानस्यायथार्थत्वम्, दोषान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । अतो दुष्टकारणजन्येन ज्ञानेन आत्मनः प्रामाण्यं विषयस्यार्थस्यातथाभूतस्यापि तथात्वमवगतमपि अर्थान्यथात्वज्ञानेन दोषज्ञानेन वाऽपोद्यते ।" मी० श्लो० न्यायरत्ना० पृ० ६२ ।

"एवमेव स्वतः सर्वज्ञानानां प्रामाण्यम्; अप्रामाण्यं तु परत एवेत्याश्रित्य प्रत्यवस्थेयम्; तथाहि—विज्ञानं जायमानं यथाभूतमर्थमवभासयति तथाभूत एवार्थ इति निश्चाययत्येव न तु निश्चये ज्ञानान्तरमपेक्षणीयम्, तेन स्वत एव प्रामाण्यम् । अप्रामाण्यं तु अर्थस्यातथाभावनिश्चयनिरपेक्षं सन्नावगमयितुमलमिति परतोऽप्रामाण्यम् । अपि च प्रमाणाप्रमाणसाधारणत्वे निश्चयस्य निश्चयानुसारेण पश्चादाशंकोपजायते; सा परत एवेति परत एवाप्रामाण्यम् । न चापि सर्वत्राशंका, किन्तु यादृशे व्यभिचारदर्शनं तादृश एव शंकेति । नच सर्वावस्थे ज्ञाने व्यभिचारदर्शनमिति सर्वत्राशंका; सर्वत्रैवाशंकायां परतोऽपि प्रामाण्यं न स्यात्, तस्यापि शंकास्पदत्वादिति ।"

मीमांसाभाष्यपरि० पृ० ८ ।

यापि-तत्तुल्यरूपेऽन्य[1]त्र तयोर्दर्शनात्तदा[2]शङ्का[3]; सापि त्रिचतुरज्ञानापेक्षामात्रान्निवर्त्तते। न च तदपेक्षायां स्वतः प्रामाण्यव्याघातोऽनवस्था वा; संवादकज्ञानस्याप्रामाण्यव्यव[4]च्छेदे एव व्यापारा-द[5]न्यज्ञानानपेक्षणाच्च। तदुक्तम्—

"ए[6]वं त्रिचतुरज्ञानै[7]र्जन्मनो नाधिका म[8]तिः।
प्रा[10]र्थ्यते तावतै[9]वेयं स्वतः प्रामाण्यमश्नु[11]ते॥ १॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६१]

[12]योऽप्यनुत्पद्यमानः संशयो[1] बलादुत्पाद्यते सोऽप्यर्थक्रियार्थिनां स[13]र्वत्र प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदकारित्वान्न युक्तः। उक्तञ्च—

"आशङ्कते[2] हि यो मोहा[14]दजातमपि बाधकम्।
स सर्वव्यव[15]हारेषु संशयात्[16]मा क्षयं व्रजेत्॥ १॥" [ ]

---

१ अप्रमाणे। २ अप्रामाण्य। ३ प्रमाणे। ४ परिज्ञाने। ५ पञ्चमस्य ज्ञानस्य। ६ स्वग्रन्थोक्तप्रकारेण कथमाद्यज्ञानस्य द्वितीयादिसंवादज्ञानापेक्षित्वप्रकारेण। ७ उत्पत्तेः। ८ का। ९ ज्ञानम्। १० वाञ्छते पुरुषेण। ११ प्राप्नोति। १२ यथाऽऽद्यज्ञानं द्वितीयं द्वितीयं च तृतीयं तृतीयं च चतुर्थमपेक्षते। तथा चतुर्थेनापि पञ्चममपेक्षणीयमित्यादिप्रकारेणानवस्था किमिति न स्यादित्युक्ते सत्याह। १३ विषये। १४ अज्ञानात्। १५ प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपेषु। १६ यतः।

---

1 "ननु यथा आद्यस्य द्वितीयेन दोषोऽवगतः तस्यापि तृतीयेन तथा तृतीयस्यापि दोषाशङ्का भवत्येव, तथा सर्वत्रैवेति न क्वचिदाश्वासः स्यादत आह–'दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शङ्क्या निष्प्रमाणता' इति। दिक्कालावस्थेन्द्रियविषयदोषा हि मिथ्यात्वहेतवो लोकप्रसिद्धा यत्र नैव संभवन्ति यथा जागर्यायामालोके स्वस्थेन्द्रियमनस्कस्य सन्निहित-घटज्ञाने। तत्र नैव दोषाशङ्का, तदभावाच्चाप्रामाण्याशङ्कापि नैव भवति। यथाविधेषु हि अप्रामाण्यसंभवः तथाविधेष्वेव तदाशङ्का भवति, संभावितदोषेषु च तत्संभव इति कथमन्यत्र शङ्क्यते? नहि ज्ञानत्वमात्रेण संशयो युक्तः; संशयस्य साधारणधर्मादि-निश्चयाधीनत्वात्। तदवश्यं कानिचिज्ज्ञानानि असन्दिग्धप्रामाण्यान्येवोत्पद्यन्ते। तस्मान्न सर्वत्राशङ्का। यत्रापि दूरत्वादिदोषसंभवादप्रामाण्याशङ्का, तत्रापि प्रत्यासत्तिग-मनादिनाऽन्यतरपदार्थनिर्णयान्नातिदूरगमनमिति। एवं च तृतीयज्ञाने दोषो यदि न संभावितः ततस्तदवधिरेव निर्णयः। अथ तु संभावितः ततस्तन्निराकरणप्रयत्नेन चतु-र्थज्ञानावसानो निर्णय इति नाधिकज्ञानापेक्षा। तावतैव तृतीयेन चतुर्थेन वा द्वितीयस्य तृतीयस्य बाधे सति यस्यैवाद्यस्य द्वितीयस्य वा प्रामाण्यं समर्थ्यते तस्य स्वाभाविकं प्रामाण्यमनपोदितं भवति। इतरच्चापवादादप्रमाणमिति नानवस्था।"
मी० श्लो० न्यायरत्ना० पृ० ६४।

2 "उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥ २८७२॥ तत्त्वसं० (पूर्वपक्षे)

चोदना[1]जनिता तु बुद्धि[2]रपौरुषेयत्वेन दोषरहिताच्चोदनावाक्यादुपजायमाना लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धि[3]वत्स्वतः प्रमाणम् । तदुक्तम्—

"चोदनाजनिता बुद्धिः प्र[4]माणं दोष[5]वर्जितैः ।
[6]कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० १८४]

तन्न ज्ञप्तौ प[9]रापेक्षा ।

नापि स्वकार्ये; तत्रापि हि किं [10]तत्संवादप्रत्ययमपेक्षते, कारणगुणान् वा? प्रथमपक्ष चक्रकप्रसङ्गः—[11]प्रमाणस्य हि [12]स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रिया[13]र्थिनां प्रवृत्तिः, तस्यां चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः; तत्सद्भावे च संवादमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तेत । भाविनं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य तत्तत्र प्रवर्त्तते; इत्यप्यनुपपन्नम्; तस्या[14]सत्त्वेन [15]स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं विज्ञानं प्रति सहकारित्वायोगात् ।

द्वितीयपक्षेऽपि गृहीताः [16]स्वकारणगुणाः तस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यन्ते, अगृहीता वा? न तावदुत्तरः पक्षः; अति[17]प्रसङ्गात् । प्रथमपक्षेऽनवस्था–स्व[18]कारणगुणज्ञानापेक्षं हि प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत [19]तदपि [20]स्वकारण[21]गुण[22]ज्ञानापेक्षं प्रमाणकारणगुणग्रहणलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तेत तदपि च स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमिति । [23]तस्य स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षस्यैव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्तौ प्रथमस्यापि कारणगुणज्ञानानपेक्षस्यार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावा[24]त् । तदुक्तम्—

"जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
[25]यावत्कारण[26]शुद्ध[27]त्वं न [28]प्रमाणान्तराद्[29]गतम् ॥ १ ॥

---

१ वेद । २ इति गुणव्यापाराभावः । ३ प्रत्येकं सम्बध्यते । ४ स्वतः । ५ अनाप्तोक्तत्वलक्षण । ६ वेदवाक्यैः । ७ संवादानुमान । ८ प्रामाण्यस्य । ९ परापेक्षं प्रामाण्यं न । १० प्रामाण्यं कर्तृ । ११ प्रामाण्यलक्षणस्य धर्मस्यात्रान्तर्भावाद्धर्मिप्रधानोयं निर्देशः । १२ अर्थपरिच्छित्तिरूपे । १३ नृणाम् । १४ अविद्यमानत्वेन । १५ अर्थपरिच्छित्तिलक्षणे । १६ प्रमाणस्य । १७ सन्तानान्तरलोचनगुणा अपि सहकारिणो भवन्तु अगृहीतत्वाविशेषात् । १८ इन्द्रियनैर्मल्यादि । १९ भवच्चक्षुर्निर्मलमिति शब्दः परोक्ष इति । २० प्रमाणकारणगुणज्ञान । २१ शब्द । २२ आप्तोक्तत्वलक्षण । २३ प्रमाणकारणगुणज्ञानस्य । २४ अनपेक्षत्वस्य । २५ प्रथमज्ञानस्य । २६ चक्षुः । २७ नैर्मल्यं । २८ शब्दज्ञानात् । २९ ज्ञातम् ।

तत्र[1] ज्ञा[2]नान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्य[3]ः का[4]रणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धि[5]स्तावदसत्समा ॥ २ ॥
त[6]स्यापि कारणे शु[7]द्धे तज्ज्ञा[8]नस्य प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीत्थं च न क्व[9]चिद्व्य[10]वतिष्ठते ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४९-५१] इति ।

अत्र प्र[11]तिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षं न ता[12]न्प्रत्येतुं समर्थम्' इति; त[13]त्रे[1]न्द्रिये शक्तिरूपे, व्य[14]क्तिरूपे वा तेषा[15]मनुपलम्भेनाभावः साध्यते? प्रथमपक्षे-गुणवद्दोषाणामप्यभा[16]वः । नह्याधा[17]राप्रत्यक्षत्वे आ[18]धेयप्रत्यक्षता ना[19]मातिप्रसङ्गात् । अथ व्यक्तिरूपे; तत्रापि किमात्मप्रत्यक्षेण गुणानामनुपलम्भः, परप्रत्यक्षेण वा[20]? प्रथमविकल्पे दोषाणामप्यसिद्धिः । न ह्यात्मीयं प्रत्यक्षं स्वचक्षुरादिगुणदोषविवेचने प्रवर्त्तते इत्येतत्प्रातीतिकम् । स्पार्शनादिप्रत्यक्षेण तु चक्षुरादिसद्भावमात्रमेव प्रतीयते इत्यतोपि गुणदोषसद्भावासिद्धिः । अथ परप्रत्यक्षेण ते[21] नोपलभ्यन्ते; तदसिद्धम्; यथैव हि काचकामलादयो दोषाः परचक्षुषि प्रत्यक्षतः परेण प्रतीयन्ते तथा नैर्मल्यादयो गुणा अपि ।

जात[2]मा[22]त्रस्यापि नैर्मल्याद्युपेतेन्द्रियप्रतीतेः तेषां गुणरू[23]पत्वाभावे जाततैमिरिक[24]स्याप्युपलम्भादिन्द्रियस्वरूपव्यतिरिक्त[25]तिमिरादिदोषाणा[26]मप्यभावः । कथं वा[27] रूपादीनां घटादिगुणस्वभावता

१ तदा । २ शब्दलक्षणस्य । ३ अन्वेक्ष्यः । ४ शब्दलक्षणात् । ५ प्रथमज्ञानकारण(नेत्र)स्य । ६ द्वितीयस्य तृतीयज्ञानस्यापि । ७ दोषरहिते । ८ द्वितीयस्य तृतीयस्यापि । ९ ज्ञाने । १० जैनः । ११ जैनैः । १२ स्वकारणाश्रितान्गुणान् । १३ अन्ये । १४ गोलके । १५ गुणानाम् । १६ शक्तिरूपे इन्द्रिये । १७ शक्तिरूपेन्द्रियस्य । १८ गुणदोष । १९ अन्यथा आत्मान्तरप्रत्यक्षत्वाभावेपि तज्ज्ञानप्रत्यक्षताप्रसङ्गात् । २० गुणानाम् । २१ गुणाः । २२ प्राणिनः । २३ किन्तु नयनस्वरूपतैव । २४ प्राणिनः । २५ कामलादिकं नयनस्वरूपानतिरेकि जातमात्रस्य नयनविशिष्टत्वेनोपलभ्यमानत्वाद्गुणवत् । २६ न नैर्मल्यादयो गुणा इति । २७ किन्न स्यात् । २८ घटादिरूपादयो धर्मिणो गुणा न भवन्तीति साध्यम् ।

1 "तत्र किमिन्द्रिये परोक्षशक्तिरूपे गुणानां प्रत्यक्षेणानुपलम्भादभावः साध्यते, आहोस्वित् प्रत्यक्षे चक्षुर्गोलकादौ बाह्यरूपे ?" स्या० रत्ना० पृ० २४४ ।

2 "जातमात्रस्यापि नैर्मल्यादिनेन्द्रियप्रतीतेर्नैर्मल्यादीनां गुणरूपत्वाभाव इत्युच्यते; तर्हि जाततैमिरिकस्य जातमात्रस्यापि तिमिरादिपरिकरितेन्द्रियप्रतीतेरिन्द्रियस्वरूपातिरिक्ततिमिरादिदोषाणामप्यभावः कथन्न स्यात् ? कथञ्चैवं रूपादीनामपि कुम्भादिगुणस्वभावता उत्पत्तेरारभ्य कुम्भे तेषां प्रतीयमानत्वाविशेषात् ।" स्या० रत्ना० पृ०२४५ ।

उत्पत्तिप्रभृतितः प्रतीयमानत्वाविशेषात्? '[1]यच्चक्षुरादिव्यतिरि[2]क्तभावाभावानुविधायि तत्तत्कारणकम्, यथाऽप्रामाण्यम्, तथा च प्रामाण्यम्। यच्च तद्व्यतिरिक्तं कारणं ते गुणाः' इत्यनुमानतोपि तेषां सिद्धिः।

यच्चेन्द्रियगुणैः सह लि[3]ङ्गस्य [4]प्रतिबन्धः प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वे[5]त्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; ऊहाख्यप्रमाणान्त[7]रात्तत्प्रतिबन्धप्रतीतेः। कथं चाप्रामाण्यप्रतिपादकदोषप्रतीतिः? [8]तत्राप्यस्य[1] समानत्वात्। नैर्मल्यादेर्मलाभावरूपत्वात्कथं गुणरूपतेत्यप्यसाम्प्रतम्; दोषाभावस्य [9]प्रति[10]योगिप[11]दार्थस्वभावत्वात्। निःस्वभा[12]वत्वे [13]कार्यत्वधर्माधारत्वविरोधात् खरविषाणवत्। तथाविधस्या[14]प्रतीतेरनभ्युपगमा[15]च्च[16], अन्यथा—

"[17]भा[2]वान्तरविनिर्मुक्तो [18]भावोऽत्रा[19]नुपलम्भव[20]त्।
अभावः समस्त (सम्मतस्त)स्य[21] हेतोः किन्न समुद्भवः॥" [ ]

---

१ प्रामाण्यं धर्मि चक्षुरादिव्यतिरिक्तपदार्थकारणकं भवति चक्षुरादिव्यतिरिक्तपदार्थभावाभावानुविधायित्वात्। २ कारणस्य। ३ यथार्थोपलब्धिलक्षणविशिष्टकार्यत्वादित्यस्य। ४ अविनाभावः। ५ गुणसद्भावे प्रामाण्यस्य सद्भावस्तदभावे प्रामाण्यस्याभाव इति। ६ परेण। ७ इन्द्रियगुणलिङ्गस्य। ८ दोषपक्षेपि दोषैस्सह लिङ्गस्य सम्बन्धः प्रत्यक्षेण गृह्यतेऽनुमानेन वेत्यादिदोषस्य। ९ भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य। १० यद् (गुण) निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य (दोषस्य) तत्तत्प्रतियोगि। ११ गुण। १२ अभावस्य। १३ अञ्जनादिना क्रियमाणत्वलक्षणकार्यत्व(नैर्मल्यादि)। १४ निस्स्वभावाभावस्य। १५ त्वया परेण। १६ अभ्युपगमे। १७ गुणाद्योपलक्षणं कपालक्षणादन्यो घटो वा। १८ गुणः कपालं वा। १९ मीमांसकमते। २० एकस्माद्भूतलोपलम्भलक्षणाद्भावादपरो घटोपलम्भलक्षणो भावो भावान्तरं तेन विनिर्मुक्तो भावो भूतलोपलम्भलक्षणः स एव घटस्यानुपलम्भो यथा। २१ लिङ्गस्य।

---

1 "तथाहि–अतीन्द्रियलोचनाद्याश्रिता दोषाः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते, उत अनुमानेन? न तावत् प्रत्यक्षेण; इन्द्रियादीनामतीन्द्रियत्वेन तद्गतदोषाणामप्यतीन्द्रियत्वेन तेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः। नाप्यनुमानेन; अनुमानस्य गृहीतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वाभ्युपगमात्। लिङ्गप्रतिबन्धग्राहकस्य च प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चात्र विषयेऽसम्भवात्। प्रमाणान्तरस्य चात्रानन्तर्भूतस्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् इत्यादि सर्वमप्रामाण्योत्पत्तिकारणभूतेषु लोचनाद्याश्रितेषु दोषेष्वपि समानमिति।" सन्मति० टी० पृ० ९।

2 "पदार्थान्तरेण विनिर्मुक्तः त्यक्तः भिन्न इति यावत्, इत्थम्भूतो भाव एवाभावः न पुनर्भावादतिरिच्यते इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तोऽनुपलम्भः, यथा घटानुपलम्भो घटातिरिक्तस्य पटादेरुपलम्भे पर्यवस्यति, तथा दोषा[ऽभावो]भावान्तरे पर्यवसायी वाच्य इत्याशय इति" गु० टि०। सन्मति० टी० टि० पृ० १०।

इत्यस्य विरोधः।

[1]तथा च गुणदोषाणां परस्परपरिहारेणावस्थानाद्दोषा[1]भावे गुणसद्भावोऽवश्याभ्युपगन्तव्योऽग्न्यभावे शीतसद्भाववत्, [2]अभावा[3]भावे भाव[4]सद्भाववद्वा। अन्यथा [5]कथं हेतौ[6] निय[7]माभावो दोषः स्यात् अभावस्य गुणरूपतावद्दोषरूपत्वस्याप्ययोगात्? तथाच-नैर्मल्यादिव्यतिरिक्तगुणरहिताच्चक्षुरादेरुपजायमानप्रामाण्यवन्नियमविरहव्यतिरिक्तदोषरहिताद्धेतोरप्रामाण्यमप्युपजायमानं स्वतो विशे[9]षाभावात्। तथा च—

"अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मि[10]थ्यात्वा[11]ज्ञा[12]नसंशयैः।
[13]वस्तुत्वा[14]द्विवि[15]धस्यात्र सम्भवो [16]दुष्टकारणात्॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५४]

[17]इत्यस्य विरोधः। ततो हेतोर्नियमविरहस्य दोषरूपत्वे चेन्द्रिये मलापगमस्य गुणरूपतास्तु। तथाच सूक्तमिदम्—

"[18]तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
[19]अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं [20]तेनो[21]त्सर्गो[22]ऽनपोदितः॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६५] इति।

'गुणेभ्यो हि दोषाणामभावः' इत्य[23]भिदधता 'गुणेभ्यो [24]गुणाः' एवाभिहिता[25]स्तथा प्रामाण्यमेवाप्रामाण्यद्वयासत्त्वम्, तस्य गुणेभ्यो भावे कथं न परतः प्रामाण्यम्? कथं [26]वा तस्यौ-

---

१ निस्स्वभावत्वाभावे। २ घटस्य। ३ कपालस्य। ४ घटस्य। ५ नैव। ६ साधने। ७ अविनाभावाभावः। ८ स्वतः। ९ भावान्तररहितकारणमात्रजन्यत्वस्य। १० विपर्यय। ११ ज्ञानाभावः स्वप्नावस्थायाम्। १२ अज्ञानस्य ज्ञानभावरूपतया स्वतःसिद्धत्वान्न तत्र काचिदपेक्षा। १३ भावरूपत्वात्। १४ संशयविपर्ययरूपस्य। १५ त्रिपु मध्ये। १६ काचकामलादिदोषदूषिताच्चक्षुषः। १७ ग्रन्थस्य। १८ अनुमानस्य प्रामाण्ये गुणानां व्यापारो न दृष्टो यतः। १९ संशयविपर्यय। २० कारणेन। २१ प्रामाण्यम्। २२ अबाधित आस्ते। २३ परेण। २४ गुणाभावरूपत्वाद्दोषाणां दोषाभाव एव च गुणः। २५ यथा गुणेभ्यो दोषाणामभावः। २६ किञ्च।

---

1 "दोषाभावो हि पर्युदासवृत्त्या गुणात्मक एव भवेत्, ततश्च तत्परिज्ञानमपि गुणज्ञानात्मकं प्राप्नोति।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७९९। न्यायकुसु० पृ० १९८। सन्मति० टी० पृ० १०। स्या० रत्ना० पृ० २४८।

त्सर्गिकत्वम्[1] दुष्टकारणप्रभवासत्यप्रत्ययेष्वभावात्? अप्रामाण्यस्य चौत्सर्गिकत्वमस्तु[2] दोषाणां गुणापगमे[5] व्यापारात्। भवतु वा[3] भावा[6]द्भिन्नोऽभावः[7]; तथाप्यस्य[8] प्रामाण्योत्पत्तौ व्याप्रियमाणत्वात्कथं[4] तत्त्वतः? न चाभावस्याऽजनकत्वम्, कुड्याद्यभावस्य परभागावस्थितघटादिप्रत्ययोत्पत्तौ जनकत्वप्रतीतेः, प्रमाणपञ्चकाभावस्य चाभाव[9]प्रमाणोत्पत्तौ।

योपि–यथार्थत्वायथार्थत्वे विहायोपलम्भसामान्यस्यानुपलम्भः–सोपि विशेषनिष्ठत्वात्तत्सामान्यस्य युक्तः[10]। न हि निर्विशेषं गोत्वादिसामान्यमुपलभ्यते गुणदोषरहितमिन्द्रियसामान्यं वा,

---

१ नैसर्गिकत्वम्। २ औत्सर्गिकत्वस्य। ३ किञ्च। ४ कुतः। ५ निराकरणे नाशे। ६ गुणरूपात्। ७ गुणेभ्यो भिन्नो दोषाणामभाव इत्यर्थः। ८ प्रामाण्यं प्रति। ९ प्रमिति। १० न हि सर्वथा यथार्थत्वायथार्थत्वविशेषाद्भिन्नमुपलम्भसामान्यम्।

---

1 "तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावात्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥ ३०५७॥
सर्वत्रैवं प्रमाणत्वं निश्चितं चेदिहाप्यसौ।
पूर्वोदितो दोषगणः प्रसक्ता चानवस्थितिः। ३०५८॥
तस्मादेव च ते न्यायादप्रामाण्यमपि स्वतः।
प्रसक्तं शक्यते वक्तुं यस्मात्तत्राप्यदः स्फुटम्॥ ३०६६॥
तस्माद्दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावतः।
प्रमाणरूपनास्तित्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥ ३०६७॥"

तत्त्वसं० पृ० ८००। न्यायकुमु० पृ० १९८। सन्मति० टी० पृ० ९।

2 "(पूर्वपक्षः) यदि हि यथार्थत्वायथार्थत्वरूपद्वयरहितमेव किञ्चिदुपलब्ध्याख्यं कार्यं भवेत् तदा कार्यत्रैविध्यमध्यवसीयेत यदुत यथार्थोपलब्धेर्गुणवन्ति कारकाणि अयथार्थोपलब्धेर्दोषकलुषितानि उभयरूपरहितायाः पुनरुपलब्धेः स्वरूपावस्थितान्येवेति, नत्वेवमस्ति, द्वेधा हीयमुपलब्धिरनुभूयते यथार्था चायथार्था च। तत्र अयथार्थोपलब्धिस्तावत् दुष्टकारणजन्यैव संवेद्यते। यथाहि–दुष्टकारणकलापाद्दुःशिक्षितकुलालादेः कुटिलकलशादिकार्यमवलोक्यते तथा तिमिरादिदोषदुष्टान्नयनादिकारणकदम्बकात् कुमुदबान्धवद्वितयप्रत्ययादिका अयथार्थोपलब्धिरपि, अत एव उत्पत्तौ दोषापेक्षत्वादप्रामाण्यं परत एवेति कथ्यते। तदित्थमयथार्थोपलब्धौ दुष्टकारणजन्यत्वेन प्रसिद्धायामिदानीं तृतीयकार्याभावात् यथार्थोपलब्धिः स्वरूपावस्थितेभ्य एव कारणेभ्योऽवकल्प्यते इति न गुणकल्पनायै सा प्रभवति···(पृ० २४३) (उत्तरपक्षः–) यत्पुनरुक्तम्–द्वेधा हीयमुपलब्धिरनुभूयते यथार्था च अयथार्था चेति; तत्र न विप्रतिपद्यामहे। न हि यथार्थत्वायथार्थत्वे विहाय निर्विशेषमुपलब्धिसामान्यमुपपद्यते विशेषनिष्ठत्वात् सामान्यस्य, न खलु शाबलेयबाहुलेयादिविशेषविकलं गोत्वादिसामान्यं प्रतीयते येनेदमुपलब्धिसामान्यं यथार्थत्वायथार्थत्वविशेषरहितं प्रतीयेत···" स्या० रत्ना० पृ० २४६।

येनो[1]पलम्भसामान्येऽप्य[2]यं प[3]र्य[4]नुयोगः[5] स्यात् । लोके[1] च प्रमाण- यतोभ[6]यं परतः प्रतिपत्तव्यम् । सुप्रसिद्धो हि लोकेऽप्रामाण्ये[7] दोषावष्टब्धचक्षुषो व्यापारः, प्रामाण्ये नैर्मल्यादियुक्त[8]स्य, ‘यत्पूर्वं[9] दोषावष्टब्धमिन्द्रियं मिथ्याप्रतिपत्तिहेतुस्तदेवेदानीं नैर्मल्यादि- युक्तं सम्यक्प्रतिपत्तिहेतुः, इति प्रतीतेः ।

यच्चोच्यते—क्वचिन्निर्मलमपीन्द्रियं मिथ्याप्रतीतिहेतुरन्यत्रा[10]र- क्तादिस्वभावं सत्यप्रतीतिहेतुः, तत्रापि प्रतिपत्तुर्दोषः स्वच्छनील्या- दिमले निर्मल[11]ाभिप्रायात् । अनेकप्रकारो हि दोषः प्रकृत्या[12]दिभेदात्, [13]तदभावोपि भावान्तरस्वभावस्तथा[14]विधस्तत एव । न चोत्पन्नं सद्विज्ञानं प्रामाण्ये नैर्मल्या[15]दिकमपेक्षते येनानयोर्भेद[16]ः स्यात् । गुणवच्चक्षुरादिभ्यो जायमानं हि त[17]दुपात्तप्रामाण्यमेवोपजायते ।

[18]अर्थतथाभावपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्य स्वतो भावा- भ्युपग[19]मे च अर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणप्रामाण्यस्याप्य- विद्य[20]मानस्य केन[21]चित्कर्त्तुमशक्तेः स्वतो भावो[2]ऽस्तु ।

क[3]थं चैवं वा[22]दिनो ज्ञा[23]नरूपतात्मन्यविद्यमानेन्द्रियैर्जन्यते? तस्या-

---

१ विशेपरहितगोत्वादिसामान्योपलम्भप्रकारेण । गुणदोषरहितेन्द्रियसामान्योपलम्भ- प्रकारेण च । २ अपि शब्दोत्र एवकारार्थे । ३ यतो यथार्थत्वायथार्थत्वे विहायेत्यादिः । ४ उपलम्भसामान्यस्यानुपलम्भलक्षणः । ५ अपि तु विशेपेप्ययं पर्यनुयोगो ज्ञातव्यः । ६ प्रामाण्यामप्रामाण्यं । ७ चक्षुषः । ८ नरे । ९ पुरुषान्तरे । १० पुरुषस्य । ११ निर्मल इति । १२ वातपित्तादि । १३ नैर्मल्यादिगुण । १४ अनेकप्रकारः । १५ गुणम् । १६ कालभेदः । १७ ज्ञानं कर्तृ । १८ न हि स्वतोऽसती शक्तिरित्यस्य दोषमाह । १९ परेण । २० स्वाश्रयकारणे । २१ कारणेन । २२ यत्कारणेऽविद्य- मानं तत्स्वत एव जायते इत्येवंवादिनः । २३ घटाद्याकारविशेषितज्ञानरूपता ।

---

1 “यतो यदि लोकव्यवहारसमाश्रयणेन प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थाप्येते तदा अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि परतो व्यवस्थापनीयम्…” सन्मति० टी० पृ० ९ ।

2 “किञ्चाप्रामाण्यमप्येवं स्वत एव प्रसज्यते ।
नहि स्वतोऽसतस्तस्य कुतश्चिदपि संभवः ॥ २८४३ ॥

…तथाह्यप्रामाण्यमपि विपरीतार्थपरिच्छेदोत्पादिका शक्तिः, शक्तेश्च विज्ञानाश्रि- तायाः कालत्रयेऽप्यकरणात् प्रामाण्यवदप्रामाण्यात्मिका शक्तिः स्वत एव प्रसज्येत ।” तत्त्वसं० पं० पृ० ७५५ ।

“एवमभिधानेऽयथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तेरप्यप्रामाण्यरूपाया असत्याः केनचि- त्कर्तुमशक्तेस्तदपि स्वतः स्यात् ।” सन्मति० टी० पृ० ९ ।

3 “किंच, यद्यात्मन्यविद्यमानं रूपं कारणैर्नाधीयते कार्ये तदा कथमिन्द्रियादयो ज्ञाने (ज्ञान) रूपतामात्मन्यसतीमादधति विज्ञाने? यथाऽविद्यमानापि सा तैराधीयते अर्थपरिच्छेदशक्तिं किन्नादधीरन्?” तत्त्वसं० पं० पृ० ७५३ । सन्मति० टी० पृ० ९ ।

स्तत्राविद्यमानत्वेप्युत्पत्त्युपगमे[1]ऽर्थग्रहणशक्त्या[2] कोपराधः कृतो येनास्यास्ततः समुत्पादो[3] नेष्यते[4]? न चेमाः शक्तयः स्वाधारेभ्यः[5] समासादितव्यतिरेकाः[6] येन[7] स्वाधाराभिमतविज्ञान[8]वत् कारणेभ्यो नोदयमासादयेयुः। पाश्चात्यसंवादप्रत्ययेन प्रामाण्यस्याजन्यत्वात्स्वतो भावे[9]ऽप्रामाण्यस्यापि सोस्तु। न खलूत्पन्ने विज्ञाने तदप्युत्तरकालभाविविसंवादप्रत्ययाद्भवति।

यच्चोक्तम्[10]–'लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु' तदप्युक्तिमात्रम्; यथावस्थितार्थव्यवसायरूपं हि संवेदनं प्रमाणम्[11], तस्यात्मलाभे कारणापेक्षायां का[12]ऽन्या[13] स्व[14]कार्ये[15] प्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात्? घटस्य तु जलोद्वहनव्यापारात्पूर्वं रूपान्तरेणा[16]पि स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्ता मृदादिकारणनिरपेक्षस्य तत्र[17] प्रवृत्तिः प्रतीतिनिबन्धनत्वाद्वस्तुव्यवस्थायाः। विज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशोपगमात्कुतो लब्धात्मनो वृत्तिः स्वयमेव स्यात्[18]? तदुक्तम्—

"न हि तत्क्षणमप्यास्ते जायते[19] वाऽप्रमात्मकम्[20]।
येन[21]ना[22]र्थग्रहणे पश्चात्[23]व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत्[24] ॥ १ ॥
तेन[25] जन्मैव बुद्धेर्विषये व्यापार[26] उच्यते।

१ परेण। २ कर्तृभूतया। ३ सापि ज्ञानेऽविद्यमाना इन्द्रियैर्जन्यताम्। ४ परेण। ५ ज्ञानेभ्यः। ६ प्राप्तभेदाः। ७ आक्षेपे। ८ यथा शक्त्या आधारीभूतविज्ञानं कारणेभ्यो न तथेमा इत्यर्थः। ९ परेणाङ्गीकृते। १० परेण। ११ प्रामाण्यं कथ्यते। १२ आक्षेपोक्तिः। १३ प्रामाण्य। १४ अर्थपरिच्छित्तिरूपे प्रवृत्तिरूपे च। १५ न कापि। १६ रिक्ततारूपेण। १७ जलाहरणलक्षणे स्वकार्ये। १८ परमते। १९ न हि। २० अप्रमिति। २१ आक्षेपे। २२ ज्ञानस्य लक्षणान्तरे अवस्थानप्रकारेण अप्रमात्मकभवनप्रकारेण। २३ उत्पत्त्यनन्तरम्। २४ आत्मनः। २५ क्षणमपि नास्ते अप्रमात्मकं वा न जायते येन प्रकारेण। २६ व्यापृतिः।

1 "अप्रामाण्यमपि चैवं स्वतः स्यात्, नहि तदपि उत्पन्ने ज्ञाने विसंवादप्रत्ययादुत्तरकालभाविनः तत्रोत्पद्यते इति कस्यचिदभ्युपगमः।"

सन्मति० टी० पृ० १०।

2 "ततश्च स्वार्थावबोधशक्तिरूपप्रामाण्यात्मलाभे चेत् कारणापेक्षा कान्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात्...घटस्य जलोद्वहनव्यापारात्पूर्वं रूपान्तरेण स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्तं मृदादिकारणनिरपेक्षस्य स्वकार्ये प्रवृत्तिरिति विसदृशमुदाहरणम्।"

सन्मति० टी० पृ० १०।

3 "यत्तु ज्ञानं त्वयापीष्टं जन्मानन्तरमस्थिरम्।
लब्धात्मनोऽसतः पश्चाद्व्यापारस्तस्य कीदृशः ॥ २९२२ ॥

तत्त्वसं० पृ० ७७०।

तदेवं[1][2] च प्रमा[3]रूपं तद्वती करणं च धीः ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५५–५६] इति ।

किञ्च, प्रमाणस्य[1] किं कार्यं[4] यत्रास्य प्रवृत्तिः स्वयमेवोच्यते–यथार्थपरिच्छेदः, प्रमाणमिदमित्यवसायो वा? तत्रा[5]द्यविकल्पे 'आ[6]त्मा[7]नमेव करोति' इत्यायातम्, तच्चायुक्तम्; स्वात्मनि क्रि[8]याविरोधात् । नापि प्रमाणमिदमित्यवसायः; भ्रान्तिकार[9]ण-सद्भावेन क्व[10]चित्तदभावात्, क्वचिद्वि[11]पर्ययदर्शनाच्च ।

अनुमानोत्पादकहेतोस्तु साध्या[2]विनाभावित्वमेव गुणो यथा तद्वैकल्यं दोषः । साध्याविनाभावस्य हेतुस्वरूपत्वाद्गुणरूपत्वाभावे तद्वैकल्यस्यापि हेतोः स्वरूपविकलत्वाद्दोषता मा भूत् ।

आ[12]गमस्य तु[13] गुण[14]वत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यं सुप्रसिद्धम्, अपौरुषे[15]यत्वस्यासिद्धेः, नीलोत्पलादिषु दहनादीनां वित[16]थप्रतीति-जनकत्वोपलम्भेनानेका[3][17]न्तात्, परस्परविरुद्धभावनानियोगा[18]द्यर्थेषु[19]

---

१ एवं चेद्विज्ञानस्य करणरूपता क्रियारूपता न स्यादित्युक्ते आह । २ जन्मैव । ३ परिच्छित्ति । ४ स्वज्ञप्ति । ५ तयोर्मध्ये । ६ स्वस्वरूपम् । ७ तत्र प्रवर्त्तनात्तस्य । ८ उत्पत्तिलक्षणाया । ९ सदोषनयन । १० सत्यजलज्ञाने प्रमाणस्वभावे । ११ भ्रान्तज्ञाने प्रमाणमित्यध्यवसायदर्शनात् । १२ शब्दस्य । १३ पुनः । १४ "पूर्वाचार्यो हि धात्वर्थं वेदे भट्टस्तु भावनाम् । प्राभाकरो नियोगं तु शङ्करो विधिमब्रवीत्" । १५ आगमो धर्मी प्रामाण्यं भवतीति साध्यम् । १६ स्वर्ण । १७ यदपौरुषेयं तत्प्रमाणमित्युक्तेऽनेकान्तात् । १८ विधि । १९ बोधे ।

---

1 "नच ज्ञानस्य किञ्चित्कार्यमस्ति यत्र व्याप्रियेत । स्वार्थपरिच्छेदात्मकमस्तीति चेन्न; ज्ञानपर्यायत्वादस्य आत्मानमेव करोतीति व्याहतमेतत् ! प्रमाणमेतत् इति निश्चय-जननं स्वकार्यमिति चेन्न; क्वचिदनिश्चयाद्विपर्ययदर्शनाच्च ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७७० । सन्मति० टी० पृ० ११ ।

2 "अविनाभावनिश्चयस्यैव गुणत्वात् तदनिश्चयस्य विपरीतनिश्चयस्य च दोषत्वात् ।" सन्मति० टी० पृ० ११ ।

3 "पुनरप्यपौरुषेयस्यानैकान्तिकतां प्रतिपादयन्नाह—

न नराकृतमित्येव यथार्थज्ञानकारि तु ।
दृष्टा हि दाववह्न्यादेर्मिथ्याज्ञानेऽपि हेतुता ॥ २४०३ ॥

नहि पुरुषदोषोपधानादेवार्थेषु ज्ञानविभ्रमः, तद्रहितानामपि दाववह्न्यादीनां नीलोत्पलादिषु वितथज्ञानजननात् । दावो वनगतो वह्निः, स पुनर्यः स्वयमेव वेण्वादीनां सङ्घर्षसमुद्भूतः स इह व्यभिचारविषयत्वेन द्रष्टव्यः । यस्त्वरणिनिर्मथनादि-पुरुषैर्निर्वृत्तं तत्रापौरुषेयत्वासंभवात् ततो न हेतोर्व्यभिचार इति भावः । आदिश-ब्देन मरीच्यादिपरिग्रहः । तामेव मिथ्याज्ञानहेतुतां दर्शयन्नाह—

प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च। निखिलवचनानां लोके गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धेः, अत्रा[1]न्य[2]थापि तत्परिकल्पने प्रतीतिविरोधाच्च।

अपि च अपौरुषेयत्वेऽप्यागमस्य न स्वतोऽर्थे प्रतीतिजनकत्वम् [3]सर्वदा तत्प्रसङ्गात्। नापि पुरुषप्रयत्नाभि[4]व्यक्तस्य; तेषां रागादिदोषदुष्टत्वेनोपगमात् तत्कृ[5]ताभिव्यक्तेर्यथार्थतानुपप[6]त्तेः। तथा[7]च अप्रामाण्यप्रसङ्गभयादपौरुषेयत्वा[8]भ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति। तदुक्तम्—

"[9]असंस्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्नि[10]रर्थता।
सं[11]स्कारोपगमे व्यक्तं गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥"
[प्रमाणवा० १।२३२]

तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तौ प[12]रानपेक्षा।

[13]नापि ज्ञप्तौ। सा[1]हि निर्निमित्ता, सन्नि(सनि)मित्ता वा? न तावन्निर्निमित्ता[14]; प्रतिनियतदेशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात्। सनिमित्तत्वे किं [15]स्वनिमित्ता, अन्यनिमित्ता वा? न तावत्स्वनिमित्ता, [16]स्वसंविदितत्वानभ्युपगमा[17]त्। अन्यनिमित्तत्वे तत्किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम्? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य त[18]त्र व्यापाराभावात्। तद्धीन्द्रियसंयुक्ते विषये तद्व्यापारादु[19]दयमासादयत्प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते। न च प्रामाण्येनेन्द्रियाणां [20]संप्रयोगो येन तद्व्यापारजनितप्रत्यक्षेण त[21]त्प्रतीयेत। नापि मनोव्यापार[22]जप्रत्यक्षेण; एवंवि[23]धानुभ[24]वाभावात्।

---

१ वेदे। २ अपौरुषेयत्वेन। ३ अन्यथा। ४ ज्ञातस्य। ५ अपौरुषेयत्वस्य। ६ अपौरुषेयस्य वेदस्य। ७ वेदस्य पुरुषकृताभिव्यक्तितोऽर्थे प्रतीतिजनकत्वे च। ८ तव परस्य। ९ वेदस्य। १० निश्चिता। ११ पुंभिः। १२ गुण। १३ मीमांसकमतप्रक्षेपं करोति। १४ अन्यथा। १५ प्रामाण्यमात्मानं स्वेनैव जानाति। १६ अत्यन्तपरोक्षत्वाद्विज्ञानस्य। १७ मीमांसकैः। १८ प्रामाण्यज्ञप्तौ। १९ जायमानम्। २० सन्निकर्षः। २१ अपि तु न। २२ तत्प्रतीयेत। २३ प्रामाण्यज्ञप्तिरूप। २४ प्रामाण्यज्ञप्तेः।

रक्तं नीलसरोजं हि वह्न्यालोके स हीष्यते।
वह्न्यादिः कृतकत्वाच्चेन्न हेतुरुपपद्यते ॥ २४०४ ॥
तत्त्वसं० पं० पृ० ६५६।

1 "यतो निश्चयस्तत्र भवन् किं निर्निमित्तः उत सनिमित्तः इति कल्पनाद्वयम्। तत्र न तावन्निर्निमित्तः; प्रतिनियतदेशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात्। सनिमित्तत्वेऽपि किं स्वनिमित्त उत स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः?" सन्मति० टी० पृ० १३।

नाप्यनुमानतः; लिङ्गाभावात्। अर्थार्थ[१]प्राकट्यं[२] लिङ्गम्; तत्किं[1] यथार्थत्वविशेषणविशिष्टम्, निर्विशेषणं[३] वा? प्रथमपक्षे तस्य[४] यथार्थत्वविशेषणग्रहणं प्रथम[५]प्रमाणात्, अन्यस्माद्वा[६]? आद्यपक्षे परस्पराश्रयः[७] दोषः। द्वितीयेऽनवस्था। निर्विशेषणात्तत्[८]प्रतिपत्तौ[९] चातिप्रसङ्गः[१०]। प्रत्यक्षा[११]नुमानाभ्यां तत्[१२]प्रामाण्यनिश्चये स्वतः प्रामाण्यव्याघातश्च।

यच्च[१३][2] संवादात्[१४]पूर्वस्य प्रामाण्ये चक्रक[१५]दूषणम्; तदप्यसङ्गतम्; न खलु संवादात्[१६]पूर्वस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तते[१७], किन्तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीत[१८]पीडितोऽन्यार्थं[१९] तद्देशमुपसर्पन्[२०] कृपालुना वा केनचित्तद्देशं वह्नेरानयने तत्स्पर्शविशेष[२१]मनुभूय तद्रूपस्पर्शयोः सम्बन्ध[२२]मवगम्यानभ्यासदशायां 'ममायं रूप[२३]प्रतिभासोऽभिमतार्थ[२४]क्रियासाधनः एवंविध[२५]प्रतिभासत्वात्पूर्वोत्पन्नैवंविधप्रतिभासवत्' इत्यनुमानात्[२६]साधन[२७]निर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्तते। [3]कृषीवलादयोपि ह्यनभ्यस्तबीजादिविषये प्रथमतरं तावच्छरावा-

---

१ प्राकट्यं प्रामाण्याविनाभावि भवति तच्च यत्र ज्ञानेस्ति तत्र प्रामाण्यमिति। २ प्रमाणप्रामाण्यमस्ति यथार्थप्राकट्यात्। ३ प्राकट्यमात्रम्। ४ लिङ्गस्य। ५ प्रथमजलज्ञानात्। ६ प्रमाणात्। ७ प्रमाणभूतप्रथमज्ञानात्साधनस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणं गृहीतविशेषणविशिष्टात्साधनात्प्रथमज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय इति। ८ लिङ्गात्। ९ प्रामाण्यज्ञप्तौ। १० मिथ्याज्ञानेऽपि प्रामाण्यं स्यादित्यर्थः। ११ पूर्वज्ञानग्राहि द्वितीयं प्रत्यक्षम्। १२ पूर्वज्ञानस्य। १३ किञ्च। १४ अर्थक्रियारूपात्। १५ परोक्तम्। १६ जलादिज्ञानस्य। १७ नरः। १८ नरः। १९ पुष्पार्थं। २० गच्छन्। २१ उष्णस्पर्शम्। २२ अविनाभावम्। २३ भास्वर। २४ शीतापहरणलक्षण। २५ पिङ्गाङ्गभासुररूप। २६ शीतापनोदस्य साधनमग्निः। २७ जल।

---

1 "तद्धि फलं निर्विशेषणं वा स्वकारणस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यमनुमापयेद्, यथार्थत्वविशिष्टं वा?" न्यायमं० पृ० १६८। न्यायकुमु० पृ० २०१। सन्मति० टी० पृ० १४। स्या० रत्ना० पृ० २५६।

2 "यच्च संवादज्ञानात् साधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चये चक्रकदूषणमभ्यधायि; तदसङ्गतम्; यदि हि प्रथममेव संवादज्ञानात् साधनज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्तेत तदा स्यात्तद्दूषणम्, यदा तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पंस्तत्स्पर्शमनुभवति कृपालुना वा केनचित्तद्देशं वह्नेरानयने; तदाऽसौ वह्निरूपदर्शनज्ञानयोः सम्बन्धमवगच्छति एवं स्वरूपो भावः एवंभूतप्रयोजननिवर्तकः इति··· ।"
सन्मति० टी० पृ० १६। स्या० रत्ना० पृ० २५५।

3 "कृषीवलादयोऽपि हि अनभ्यस्ते बीजादिगोचरे प्रथमम् विहितमधुरनीरावसिक्तसुकुमारमृदि शरावादौ कतिपयशाल्यादिबीजकणगणावपनादिना बीजाद्बीजे

द्रावल्पतरबीजवपनादिना बीजाबीजनिर्धारणाय प्रवर्त्तन्ते, पश्चाद्दृष्टसाधर्म्यात्परिशिष्टस्य बीजाबीजतया निश्चितस्योपयोगाय परिहाराय च अभ्यस्तबीजादिविषये तु निःसंशयं प्रवर्त्तन्ते।

यच्चा[1]भ्यधायि-संवादप्रत्ययात्पूर्व[2]स्य प्रामाण्या[3]वगमेऽनवस्था तस्याप्यपरसंवादापेक्षा[4]ऽविशेषा[5]त्; तदप्यभिधानमात्रम्; तस्य सं[7]वादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाभावात्। प्र[6]थमस्यापि संवादापेक्षा मा भूदित्यप्यसमीचीनम्; तस्यासंवादरू[8]पत्वात्, अ[9]तः संवादक-द्वारे[10]णैवास्य प्रामाण्यं निश्चीयते।

अर्थक्रिया[11]ज्ञानं तु[12] साक्षादविसंवा[13]द्यर्थक्रियालम्ब[14]नत्वान्न त[15]था प्रामाण्यनिश्चयभाक्[16]। तेन[17] 'कस्यचित्तु यदीष्येत' इत्या[18]दि प्रलापमात्रम्। न चार्थक्रियाज्ञानस्या[19]प्यवस्तु[20]वृत्तिशङ्कायामन्यप्रमाणापेक्षयानवस्थावतारः, । अस्यार्थाभावेऽदृष्टत्वेन निरारे[21]कत्वात्। यथैव हि[2]-किं '[22]गुणव्यतिरिक्तेन गुणिनाऽर्थक्रिया स[23]म्पादिता

१ परेण। २ ज्ञानस्य। ३ जैनैः। ४ संवादप्रत्ययो धर्मी अपरसंवादापेक्षो भवतीति साध्यं प्रत्ययत्वात्। ५ प्रत्ययत्वेन। ६ जलादिज्ञानस्य। ७ पूर्वज्ञानविषये उत्तरज्ञानस्य वृत्तिः संवादः। ८ असंवादरूपत्वं यतः। ९ प्रेक्षावद्भिः। १० संवाद। ११ स्नानपानावगाहनादि। १२ पुनः। १३ यसः (कर्मधारयसमासः)। १४ बसः। १५ अविसंवादापेक्षाप्रकारेण। १६ भवति। १७ कारणेन। १८ स्वत एव प्रमाणता। प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः केन हेतुना। १९ अपिशब्दात्साधनज्ञानस्य ग्रहणम्। २० विद्यमानेपि स्नानादिके अविद्यमानस्नानादिलक्षणाऽवस्तुवृत्तिशङ्कायाम्। २१ निःसंशयत्वात्। २२ रूपस्पर्शादि। २३ योगः।

निर्धार्य पश्चाद्दृष्टसाधर्म्येणानुमानात् परिशिष्टस्य बीजाबीजतया निश्चितस्योपादानाय हानाय च यतन्ते। तदनन्तरं पुनरभ्यस्ते बीजादिगोचरे परिदृष्टसाधर्म्यादिलिङ्गनिरपेक्षा एव निःशङ्कं कीनाशाः केदारेषु बीजवपनाय प्रवर्तन्ते।" स्या० रत्ना० पृ० २५५।

1 "उच्यते वस्तुसंवादः प्रामाण्यमभिधीयते।
तस्य चार्थक्रियाभ्यासज्ञानादन्यन्न लक्षणम्॥ २९५९॥
अर्थक्रियावभासं च ज्ञानं संवेद्यते स्फुटम्।
निश्चीयते च तन्मात्रभाव्यामर्शनचेतसा॥ २९६०॥
अतस्तस्य स्वतः सम्यक् प्रामाण्यस्य विनिश्चयात्।
नोत्तरार्थक्रियाप्राप्तिप्रत्ययः समपेक्ष्यते॥ २९६१॥
ज्ञानप्रमाणभावे च तस्मिन् कार्यावभासिनि।
प्रत्यये प्रथमेप्यस्माद्धेतोः प्रामाण्यनिश्चयः॥ २९६२॥
तत्त्वसं० पृ० ७७८। सन्मति० टी० पृ० १४।

2 "यथा अर्थक्रिया किमवयवव्यतिरिक्तेन अवयविनाऽर्थेन निष्पादिता, उताव्यतिरिक्तेन, आहोस्विदुभयरूपेण, अथानुभयरूपेण, किंवा त्रिगुणात्मकेन, परमाणुसमू-

उताऽव्य[1]तिरिक्तेनोभ[2]यरूपेणा[3]नुभय[4]रूपेण, त्रि[5]गुणा[6]त्मना[7] वार्थे[9]न, प[8]रमाणुसमूहलक्षणेन वा' इत्या[10]द्यर्थक्रि[11]यार्थिनां चिन्ताऽनुपयोगिनी निष्पन्नत्वाद्वाञ्छित[12]फलस्य, तथे[13]यमपि 'किं वस्तुभूतायामवस्तुभूतायां वार्थक्रियायां तत्संवेदनम्' इति । वृद्धिच्छेदा[14]दिकं हि फलमभिलषितम्, तच्चेन्निष्पन्नं नृद्धि(तृड्वि)योगिज्ञाना[15]नुभवे किं तच्चिन्तासा[16]ध्यम्?

न[17] च स्वप्नार्थक्रियाज्ञानस्यार्थाभावेपि दृष्टत्वाज्जाग्रदर्थक्रियाज्ञानेपि तथा शङ्का; तस्यैतद्वि[18]परीतत्वात् । स्वप्नार्थक्रियाज्ञानं हि सबाधम्; तद्द्रष्टुरेवोत्तरकालमन्यथाप्रतीतेः न जाग्रद्दशा[19]भावीति ।

---

१ साङ्ख्यचार्वाकौ । २ व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्त । ३ जैनमीमांसकौ । ४ बौद्धविशेषः । ५ सत्त्वरजस्तमोलक्षणा गुणाः । ६ साङ्ख्यः । ७ प्रधानेन । ८ बौद्धः । ९ अवयवी । १० यौगः । ११ नृणाम् । १२ स्नानपानावगाहनादेः । १३ अर्थक्रियाज्ञानचिन्ता । १४ अङ्गमलापहार । १५ पुरुषस्य । १६ पुरुषेण । १७ का । १८ अर्थक्रियाज्ञानम् । १९ न सबाधम् ।

ह्लात्मकेन वा, अथ ज्ञानरूपेण, आहोस्वित् संवृतिरूपेण इत्यादिच्चिन्ता अर्थक्रियामात्रार्थिनां निष्प्रयोजना निष्पन्नत्वाद्वाञ्छितफलस्य, तथेयमपि किं वस्तुसत्यामर्थक्रियायां तत्संवेदनज्ञानमुपजायते आहोस्विदवस्तुसत्याम् इति । तृड्दाहविच्छेदादिकं हि फलमभिवाञ्छितम्, तच्चाभिनिष्पन्नम्, तद्वियोगिज्ञानस्य स्वसंविदितस्योदये इति तच्चिन्ताया निष्फलत्वम् ।" सन्मति० टी० पृ० १४ ।

1 "तथाहि लोके सद्धि (वृद्धि) च्छेदादिकं फलमभिवाञ्छितम् तच्चाह्लादपरितापादिरूपज्ञानाविर्भावादेव निर्वृत्तमित्येतावतैवाहितसन्तोषा निवर्तन्ते जना इति स्वत एव सिद्धिरुच्यते ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७७८ ।

2 "ननु चार्थक्रियाभासि ज्ञानं स्वप्नेऽपि विद्यते ।
न च तस्य प्रमाणत्वं तद्धेतोः प्रथमस्य च ॥ २९८० ॥
नैवं भ्रान्ता हि सावस्था सर्वा बाह्यानिबन्धना ।
न बाह्यवस्तुसंवादस्तास्ववस्थासु विद्यते ॥ २९८१ ॥
एवमर्थक्रियाज्ञानात् प्रमाणत्वविनिश्चये ।
नानवस्था पराकाङ्क्षाविनिवृत्तेरिति स्थितम् ॥ २९८६ ॥

किञ्च, प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यनेन अर्थक्रियाधिगमलक्षणफलप्रापकहेतोर्ज्ञानस्येदं लक्षणमुच्यते, ततश्च फलज्ञाने लक्षणानवतारात् कथं तस्यापि प्रामाण्यमवसीयते इत्यस्य चोद्यस्यावकाशः कथं भवेत्? तथाहि–अङ्कुरस्य हेतुर्बीजम् इति लक्षणे सति अङ्कुरस्यापि कथं बीजत्वमिति किं विदुषां प्रश्नो जायते? यथा च बीजस्य तद्भावोऽङ्कुरदर्शनादवगम्यते तथा प्रमाणस्यापि तद्भावोऽर्थक्रियालक्षणफलदर्शनात् ।"
तत्त्वसं० पं० पृ० ७८४ । न्यायकुमु० पृ० २०२ । सन्मति० टी० पृ० १५ ।

यदि चा[1]त्रा[2]र्थक्रियाज्ञानमर्थमन्तरेण स्यात् किमन्यज्ज्ञानमर्थाव्यभिचारि यद्बलेनार्थव्यवस्था[3] ?

अपि च, 'अर्थक्रियाहेतुर्ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणं तत्[4]कथं फलेप्याशङ्[5]क्यते ? यथा 'अङ्कुरहेतुर्बीजम्' इति बीजलक्षणस्याङ्कुरेऽभावात् नैवं प्रश्नः 'कथमङ्कुरे बीजरूपता निश्चीयते' इति, एवम[6]त्रापि ।

यच्चेद[7]मुक्तम् "श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्यादित[8]राभिरसङ्गतिः(तेः)।"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७७]

इति; तदप्ययुक्तम्; वी[9]णादिरूपविशेषोपलम्भतस्तच्छब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्तिप्रतीतेः कथमितराभिरसङ्गतिः ? श्रोत्रबुद्धेर[10]र्थक्रियानुभवरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्यसिद्धेश्च[11] ग[12]न्धादिबुद्धिवत् । संशयाद्यभावा[13]न्नान्येन स[14]ङ्गत्यपेक्षा । य[15]त्रैव हि संशयादिस्त[16]त्रैव साऽपेक्षते नान्यत्र अ[17]तिप्र[18]सङ्गात् ।

अथोच्यते अर्थक्रियाऽविसंवादा[19]त्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्च[20]ये मणिप्र[21]भायां मणिबुद्धेरपि प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्; तदप्यपर्यालोचिताभिधानम्; एवंभू[22]तार्थक्रियाज्ञानान्मणिबुद्धेरप्रामाण्यस्यैव निश्च-

---

१ किञ्च । २ जाग्रद्दशाभाव्यर्थक्रियायाम् । ३ स्थितिः । ४ किन्तु नैव शङ्कनीयम् । ५ परेण । ६ अर्थक्रियाज्ञाने प्रमाणलक्षणाशङ्का कथं स्यात् । अर्थक्रियाज्ञानरूपे फले अर्थक्रियाहेतुतया प्रमाणता निश्चीयते कथमिति प्रश्नः स्यात् । ७ स्वग्रन्थे । ८ चक्षुरादिजनितधीभिः । ९ रूपादिज्ञानैः । १० अर्थस्य शब्दस्य क्रिया, उत्पद्यमानत्वं तस्यानुभवरूपत्वेन । ११ किञ्च । १२ स्पर्शरस । १३ अपरेण सजातीयेनार्थक्रियाज्ञानेन । १४ संवाद । १५ ज्ञाने । १६ स्यात् । १७ अन्यथा । १८ प्रतीयमानेपि स्वकीये सुखे अन्यापेक्षा स्यात् । १९ ज्ञानस्य । २० अङ्गीक्रियमाणे । २१ ता । २२ भिन्नदेशार्थसम्बद्धा ।

---

1 "...तस्माच्छ्रोत्रधीः प्रमाणं भवत्येव तदन्याभिश्चक्षुरादिमतिभिर्यथोक्तसम्बन्धसद्भावात्, तथाहि—दूराद् वीणादिशब्दश्रवणात् तदर्थिनो वेण्वादिशब्दसाधर्म्यादुपजातसंशयस्य पुंसः प्रवृत्तौ वीणारूपदर्शनाद्यः प्रागुपजातः संशयः किमयं वीणाध्वनिः उत वेणुगीतादिशब्द इति स व्यावर्तते । यत्र च देशे मृदङ्गादिप्रतिशब्दश्रवणात् प्रवृत्तस्य तदर्थाधिगतिर्न भवति तत्र विसंवादादप्रामाण्यं प्रत्येति ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८०३ ।

2 "यच्च शङ्खे पीतज्ञानं मणिप्रभायां मणिज्ञानं तदप्यप्रमाणमेव, तत्र यथार्थप्रतिभासावसाययोरभावात् । प्रतिभासवशाद्धि प्रत्यक्षस्य ग्रहणाग्रहणे नत्वर्थाविसंवादमात्रात् । नचात्र यथा स्वभावदेशकालावस्थितवस्तुप्रतिभासोऽस्ति नरा (वा?) देशकालः स एव भवति । देशकालयोरपि वस्तुस्वभावभेदकत्वात् ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ७८२ । न्यायकुमु० पृ० २०२ ।

यात्तेन[1] संवादाभावात् । कुञ्चिकाविवरस्थायां हि मणिप्रभायां मणिज्ञानम्[2] अपर(अपवर)कान्तदेशसम्बद्धे तु मणावर्थक्रियाज्ञानमिति भिन्नदेशार्थग्राहकत्वेन भिन्नविषययोः पूर्वोत्तरज्ञानयोः कथमविसंवादस्तिमिराद्याहित[3]विभ्रम[4]ज्ञान[5]वत् ?

यच्चान्यद्[6]उक्तम्—क्वचित्[7]कूटेपि जयतुङ्गे ज्ञानं प्रमाणं स्यात्कतिपयार्थक्रियादर्शनात्, तत्र[8] कूटे कूटज्ञानं प्रमाणमेवाऽकूटज्ञानं तु न प्रमाणं तत्संवादाभावात् । सम्पूर्णचेतनालाभो हि तस्य[9]ार्थक्रिया न कतिपयचेतनालाभ[10] इति ।

यच्चैकविषयं भिन्नविषयं वा संवाद[11]कमित्युक्तम्[12]; तत्रैका[13][1]धारवर्त्तिरूपादीनां तादात्म्यप्रतिबन्धे[14]नान्योन्यं व्यभिचाराभावात् । [15]जाग्रद्दशारसादिज्ञानं रूपाद्यविनाभावि रसादिविषयत्वात् । भिन्नविषयत्वे[16]ऽप्य[17]आशङ्कितविषयाभावस्य[18] रूप[19]ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयात्मकम् । दृश्यते[20] हि विभिन्नदेशाकारस्यापि वीणादेः रूपविशेषदर्शने शब्दविशेषे शङ्काव्यावृत्तिः किं पुनर्नात्र[21] ? अविनाभावो हि संवाद्यसंवादकभावनिमित्तं नान्यत्[22] ।

---

१ पूर्वज्ञानस्य । २ अभूत् । ३ जनित । ४ विभ्रमज्ञानस्य यथा भिन्नदेशसम्बन्धार्थक्रियाज्ञानरूपसंवादान्न प्रामाण्यम् । ५ शुक्तिकादौ रजतादिज्ञानं विभ्रमः । ६ परेण । ७ द्रङ्गे । ८ दूषणमुच्यते । ९ अकूटजयतुङ्गस्य । १० अर्थ । ११ पूर्वज्ञानस्य । १२ परेण । १३ मातु(लि)ङ्गादि । १४ सम्बन्धेन । १५ द्वितीयम् । १६ रूपरसज्ञानयोः । १७ जाग्रद्दशाभावि । १८ आद्यस्य जाग्रद्दशाभाविनः । १९ आद्यस्य । २० रूपादौ । २१ विभिन्नविषययोः रूपरसज्ञानयोः शङ्काव्यावृत्तिः कुत इत्युक्ते आह । २२ एकविषयत्वं भिन्नविषयत्वं वा ।

---

1 "एकसन्तानवर्तिनो विषयद्वयस्याविनाभावादन्यालम्बनमपि ज्ञानमन्यविषयस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं साधयिष्यति, नहि तौ रूपस्पर्शौ विनिर्भागेन वर्तेते एकसामग्र्यधीनत्वात् ।" तत्त्वसं. पं० पृ० ८०२ ।

2 "क्वचित्खलु समानजातीयं संवादकज्ञानं भवति, यथा देवदत्तस्य प्रथमं घटज्ञाने प्रवृत्ते यज्ञदत्तस्यापि तस्मिन्नेव घटे घटज्ञानम् ।...क्वचित्तु भिन्नजातीयमपि, संवादकज्ञानं भवति । यथा प्रथमस्य प्रवर्तकजलज्ञानस्य उत्तरकालभाविस्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाज्ञानम् ।...भवति हि एकसन्तानप्रभवम् अन्धकारकलुषितालोकप्रभवस्य कुम्भज्ञानस्य उत्तरकालभाविनिस्तिमिरालोकप्रभवं तस्मिन्नेव कुम्भे कुम्भज्ञानम् । भिन्नविषयं तु एकसन्तानप्रभवं संवादकं यथा रथाङ्गमिथुनादेकतरदर्शनस्य अन्यतरदर्शनम् ।...न खलु निखिलं भिन्नविषयं संवेदनं संवादकमिति ब्रूमः । किंतर्हि ? यत्र पूर्वोत्तरज्ञानगोचरयोः अविनाभावस्तत्रैव भिन्नविषयत्वेऽपि ज्ञानयोः संवाद्यसंवादकभाव इति ।...अविनाभावो हि संवाद्यसंवादकभावनिमित्तं नान्यत् ।" स्या० रत्ना० पृ० २५३ ।

संवादज्ञानं किं पूर्वज्ञानविषयं[1] तदविषयं वा; इत्याद्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; न[1] खलु संवादज्ञानं[2] तद्ग्राहित्वेनास्य[3] प्रामाण्यं व्यवस्थापयति। किं तर्हि? तत्कार्यविशेषत्वेनाग्न्यादिकमिव[4] धूमादिकम्।

सर्वप्राणभृतां प्रामाण्ये सन्देहविपर्ययासिद्धेश्च[5]; इत्यप्ययुक्तम्[6]; प्रेक्षापूर्वकारिणो हि प्रमाणाप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेतरे[7]। ते च कासाञ्चिदज्ञा(ञ्चिज्ज्ञा)नव्यक्तीनां विसंवाददर्शनाज्जाताशङ्काः कथं ज्ञानमात्रात् 'अयमित्थमेवार्थः' इति निश्चिन्वन्ति प्रामाण्यं वास्य? अन्यथैषां प्रेक्षावत्तैव हीयेत।

प्रमाणे बाधककारणदोषज्ञानाभावात्प्रामाण्यावसायः; इत्यप्यभिधानमात्रम्; तदभावो[10][2] हि बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये वा स्यात्? प्रथमपक्षे भ्रान्तज्ञाने तद्भावेपि[11] तदग्रहणं कञ्चित्कालं दृष्टम्, एवमत्रापि[12] स्यात्। 'भ्रान्तज्ञाने कञ्चित्कालमग्रहेपि[13] कालान्तरे बाधकग्रहणं, सम्यग्ज्ञाने तु कालान्तरेपि तदग्रहणम्' इत्ययं विभागः[14] सर्वविदां नास्मादृशाम्। बाधकाभावनिश्चयोपि सम्यग्ज्ञाने प्रवृत्तेः प्राक्, उत्तरकालं वा? आद्यविकल्पे भ्रान्तज्ञानेपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। द्वितीयविकल्पे तन्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वं तमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पन्नत्वात्[15]। न च[16] बाधकाभावनिश्चये किञ्चिन्निमित्तमस्ति[17]। अनुपलब्धिरस्तीति[3][18] चेत्किं प्राक्काला, उत्तरकाला वा? न तावत्प्राक्काला; तस्याः प्रवृत्त्युत्तरकालभाविबाधकाभावनिश्चयनिमित्तत्वासम्भवात्[19]। न ह्यन्यकालानु-

१ पूर्वज्ञानं विषयो यस्य। २ अर्थक्रियाज्ञानं। ३ कर्तृ। ४ अग्न्यादिकं कर्मतामापन्नं यथा व्यवस्थापयति धूमादिकं कर्तृ, कुतस्तत्कार्यत्वान्न तु तद्ग्राहकत्वादित्यर्थः। ५ कर्तृ। ६ बाधक। ७ अप्रेक्षाकारिणो नराः। ८ मरीचिकादौ। ९ किन्तु नैव। १० बाधकाभावः। ११ उभयोः। १२ सत्यजलज्ञाने। १३ उभयोः (कोट्योः)। १४ देशकालापेक्षया। १५ स्नानपानादिलक्षणायाः। १६ किञ्च। १७ कारणम्। १८ विवादापन्ने प्रमाणे बाधकं नास्ति अनुपलब्धेरिति। १९ नेदं जलमिति।

1 "नहि संवादज्ञानं तद्ग्राहकत्वेन तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, किन्तु तत्कार्यविशेषत्वेन यथा धूमोऽग्निम् इति पराभ्युपगमः।" सन्मति० टी० पृ० १६।

2 "तदभावो हि बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये वा?" तत्त्वोप० लि० पृ० ३। सन्मति० टी० पृ० १७।

3 "बाधकानुपलब्धिः किं प्रवृत्तेः प्राग्भाविनी बाधकाभावनिश्चयस्य प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनो निमित्तम्, अथ प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनी इति विकल्पद्वयम्?" सन्मति० टी० पृ० १७।

पलब्धिरन्यकाल[1]मभाव[2]निश्चयं च विदधात्यति[3]प्रसङ्गात् । नाप्युत्तरकाला, प्राक् प्रवृत्तेः 'उत्तरकालं वाधको[4]पलब्धिर्न भविष्यति' इत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वेनासिद्धत्वात् । प्रवृत्त्युत्तरकाल[5]भाविनिश्चयमात्रनिमित्त[6]त्वे न किञ्चित्फलम् तस्या[7]किञ्चित्करत्वात्।

किञ्च, [8]असौ सर्वसम्बन्धिनी, आत्मसम्बन्धिनी वा? प्रथमपक्षे असिद्धा; न खलु 'सर्वे प्रमातारो वाधकं नोपलभन्ते' इत्यर्वाग्[9]दर्शिना निश्चेतुं शक्यम् । नाप्यात्मसम्बन्धिनी; [10]तस्याः परचेतोवृत्ति[11]विशेषैरनैकान्तिकत्वात् । तन्नानुपलब्धिर्निमित्तम्।

नापि सं[12]वादो[13]नवस्था[14]प्रसङ्गात्। कारणदोषाभावेप्ययमेव न्यायः।

एवं 'त्रि[15]चतुरज्ञान' इत्याद्यपि स्वगृहमान्यम्; '[16]कस्यचिद्विज्ञानस्य प्रामाण्यं पुनर[17]प्रामाण्यं पुनः प्रमाणता' इत्यवस्थात्रयदर्शनाद्बाधके तद्बाधकादौ वावस्थात्रयमाशङ्कमानस्य परीक्षकस्य कथं नापरापेक्षा येनानवस्था न स्यात्?

'आशङ्केत हि यो मोहात्' इत्याद्यपि विभीषिकामात्रम्, यतो नाभिशापमात्रात्प्रेक्षावतां [18]प्रमाणमन्तरेण वाध[19]काशङ्का व्यावर्त्तते । न चास्या व्यावर्त्तकं प्रमाणं भवन्मतेऽस्ती[20]त्युक्तम् । [21]कारण[22]दोष[23]ज्ञानेपि [24]पूर्वेण जाताशङ्कस्य तत्कारणदोषान्तरापेक्षायां कथमनवस्था न स्यात्? तस्य तत्कारणदोषग्राहक[25]ज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वान्नानवस्था, यदाह—

"यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्य[26]न्नैव मृ[27]ग्यते ।

---

१ पूर्वेण जाताशङ्कस्य । २ वाधकस्य । ३ सम्प्रत्यत्र घटानुपलब्धिः कालान्तरेप्यत्र घटाभावं कुर्यादित्यतिप्रसङ्गात् । ४ जलादिज्ञाने । ५ वाधकाभाव । ६ अनुपलम्भस्य । ७ प्रवृत्त्यर्थो हि निश्चयोऽवलोक्यते प्रवृत्तेश्च जातत्वान्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वम् । ८ अनुपलब्धिः । ९ किञ्चिज्ज्ञेन । १० अनुपलब्धेः । ११ लब्धुमशक्यैः । १२ वाधकाभावनिश्चयं निमित्तम् । १३ अन्यथा । १४ पूर्वेण जाताशङ्कस्य संवादे संवादान्तरापेक्षणात् । १५ इदं जलं पुनरिदं जलं पुनरिदं जलम् । १६ विवक्षितस्य । १७ वाधकात् । १८ पञ्चमज्ञानलक्षणसंवादप्रमाणम् । १९ चतुर्थज्ञानस्य । २० प्रत्यक्षादिना प्रामाण्यग्रहणाभावे प्रामाण्ये वाधकाशङ्काव्यावर्त्तनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । २१ द्वितीयविकल्पः । २२ विज्ञानकारणनेत्रादिकम् । २३ काचकामलादि । २४ ज्ञानेन । २५ इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वादभावः । २६ संवादकज्ञानम् । २७ कुतः ।

---

1 "किञ्च, वाधकानुपलब्धिः सर्वसम्बन्धिनी किं तन्निश्चयहेतुः उत आत्मसम्बन्धिनी इति पुनरपि पक्षद्वयम् ।" सन्मति० टी० पृ० १७ ।

निवर्त्तते हि मिथ्या[1]त्वं दोषा[2]ज्ञानादय[3]त्नतः" ॥
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५२]

प्रागेव विहितोत्त[4]रम् । न च[5] दोषाज्ञानात्तद[6]भावः, सत्स्वपि तेषु तदज्ञानसम्भवात् । सम्यग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्यं हि रूपं तिमिरादिनिमित्तमिन्द्रियदोषः, स चातीन्द्रियत्वात्सन्नपि नोपलक्ष्यते । न च[7] दोषाः ज्ञानेन व्याप्ता येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन् । त[8]तोऽयुक्तमिदम्[9]—

"त[10]स्मात्स्वतः प्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम् ।
बा[11]धकारणदुष्टत्वज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥
परा[12]धीनेपि वै त[13]स्मिन्नानवस्था प्रसज्यते ।
प्रमाणा[14]धीनमेतद्धि स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥
प्र[15]माणं हि प्रमाणेन यथा नान्येन साध्यते ।
न सिध्यत्यप्रमाणत्वम[16]प्रमाणात्तथैव हि ॥
बा[17]धकप्रत्य[18]यस्तावदर्थान्यत्वाऽवधारणम् ।
सोऽनपेक्ष[19]ः प्र[20]माणत्वात्पूर्व[21]ज्ञानमपो[22]हते ॥
य[23]त्रा[24]पि त्वपवा[25]दस्य स्यादपेक्षा[26] क्व[27]चित्पुनः ।
जा[28]ताशङ्कस्य पूर्वे[29]ण साप्य[30]न्येन निवर्त्तते ॥

१ शङ्कया यदापादितमप्रामाण्यम् । २ स्वच्छनील्यादि । ३ संवादमन्तरेण । ४ कारणदोषाभावेप्ययमेव न्याय इति । ५ किञ्च । ६ दोषाभावः । ७ किञ्च । ८ अनवस्था समर्थिता यतः । ९ अग्रे वक्ष्यमाणलक्षणम् । १० मीमांसकग्रन्थे । प्रमथज्ञानप्रामाण्ये संवादज्ञानापेक्षाया अनवस्थाचक्रकेतरेतराश्रया यतः । ११ एवं चेत्सर्वस्य ज्ञानस्य भ्रान्तादेः प्रमाणता स्यादित्युक्ते सत्याह । १२ यथाऽप्रामाण्यं बाधककारणदोषज्ञानापेक्षं तथा बाधकादिनाऽपरमपेक्षणीयमपरेणाप्यपरमपेक्षणीयमित्यनवस्था कुतो न स्यादित्युक्त आह । १३ भ्रान्तादेरप्रामाण्ये । १४ अप्रामाण्यं । १५ प्रमाणाधीनं स्याद्यदि अप्रामाण्यं तदाऽनवस्था न स्यादेव किं तर्हि अप्रामाण्यस्य प्रमाणमन्तरेणैव सिद्धिः स्यात्ततश्चाप्रामाण्यं स्वतः स्यादित्युक्ते आह । १६ प्रमाणमन्तरेण । १७ बाधप्रत्ययः पुनः क इत्युक्ते आह । १८ ज्ञानं । १९ परानपेक्षः । २० स्वतः । २१ मरीचिकायां जलज्ञानम् । २२ बाधते । २३ विषये । २४ यदा बाधकप्रत्ययोऽपरमपेक्षेत तदा किम् । २५ बाधकज्ञानस्य । २६ अपवादान्तरस्य । २७ अर्थे । २८ नरस्य । २९ पूर्वेण ज्ञानेन । ३० अपरेण बाधकप्रत्ययेन पूर्वसजातीयेन संवादकेन ।

1 "न च दोषा ज्ञानेन ये व्याप्ता येन तन्निवृत्त्या निवर्तेरन्" सन्मति० टी० पृ० १८ ।

2 तस्मात्स्वतः इत्यादयो नवश्लोकाः तत्त्वसंग्रहे किञ्चित् पाठभेदेन पूर्वपक्षरूपेण उपलभ्यन्ते (पृ० ७५८–६०) । सन्मति० टी० पृ० १८–१९ ।

"[1]बाधकान्तरमुत्पन्नं यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम् ।
ततो [2]मध्यमबाधेन पूर्वस्यैव प्रमाणता ॥
अथान्य[3]द[4]प्रयत्नेन सम्यगन्वेषणे [5]कृते ।
[6]मूला[7]भावान्न वि[8]ज्ञानं भवेद्बा[9]धकबाधनम् ॥
[10]ततो निरपवादत्वा[11]त्तेनै[12]वाद्यं बलीयसा ।
बाध्यते तेन[13] तस्यैव प्रमाणत्वमपो[14]द्यते ॥[15]
[16]एवं परीक्षकज्ञानं तृतीयं नातिवर्त्तते ।
[17]ततश्चाजातबाधेन नाश[18]ङ्क्यं बाधकं [19]पुनः ॥"

कथं [20]वा चोदनाप्रभवचे[21]तसो निःशङ्कं प्रामाण्यं गुणवतो वक्तुरभावेनाऽपवादकदोषाभावासिद्धेः? ननु वक्तृगुणैरेवापवादकदोषाभावो ने[22]ष्यते तदभावेप्यनाश्रयाणां ते[23]षामनुपपत्तेः । तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
तदभावः [24]क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥
तद्गुणै[25]रपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न [26]स्युर्दोषा निरा[27]श्रयाः ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२–६३]

इत्यपि प्रलापमात्रमपौरुषेयत्वस्यासिद्धेः । ततश्चेदमयुक्तम्—

"[28]तत्रापवा[29]दनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावा[30]ल्लघी[31]यसी ।
वेदे तेना[32]प्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६८]

स्थितं चैतच्चोदनाजनिता बुद्धिर्न प्रमाणमनिराकृतदोषकारणप्रभवत्वात् द्विचन्द्रादिबुद्धि[33]वत् । न चैतदसिद्धम्, गुणवतो वक्तुरभावे [34]तत्र दोषाभावासिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा; दुष्ट-

---

१ बाधकप्रत्ययस्य सजातीयसंवादरूपापरबाधकोत्पत्त्यभावेन विजातीयं बाधकान्तरमुत्पद्यते यदा तदा किम् । २ ता । ३ तृतीयज्ञानस्य बाधकं चतुर्थज्ञानं । ४ इच्छामन्तरेण । ५ उत्पद्यते । ६ प्रामाण्य । ७ तृतीयस्य । ८ तृतीयस्थानवर्त्ति ज्ञानम् । ९ बाधकस्य द्वितीयज्ञानस्य । १० बाधकज्ञानं न भवेद्यतः । ११ द्वितीयज्ञानेन । १२ ज्ञानं । १३ कारणेन । १४ निराक्रियते । १५ द्वितीयज्ञानेन । १६ एवं चेदनवस्था कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह । १७ तृतीयं ज्ञानं नातिवर्त्तते यतः । १८ नरेण । १९ स्वतः प्रामाण्ये दूषणान्तरम् । २० किञ्च । २१ ज्ञानस्य । २२ परेण मया । २३ दोषाणां । २४ वाक्ये । २५ निराकृतानां दोषाणाम् । २६ शब्दे । २७ पुरुष । २८ वेदे । २९ अप्रामाण्य । ३० अनाथा ससाध्या । ३१ स्यात् । ३२ कारणेन । ३३ ज्ञान । ३४ वेदे ।

कारणप्रभवत्वाप्रामाण्ययोरविनाभावस्य मिथ्याज्ञाने सुप्रसिद्धि-(द्ध)त्वादिति ॥

सिद्धं[2] सर्वजनप्रबोधजननं सद्यो[3][4]ऽकलङ्का[5][6]श्रयम्[7],
विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं[8] मनोनन्दनम् ।
निर्दोषं[9] परमागमार्थविषयं[10] प्रोक्तं प्रमालक्षणम्[11] ।
युक्त्या[12] चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम् ॥१॥

परिच्छेदावसाने आशिषमाह । चिन्तयन्तु । कम् ? श्रीवर्द्धमानं तीर्थंकरपरमदेवम् । भूयः कथम्भूतम् ? जिनम् । के ? सुधियः । क ? चेतसि । कया ? युक्त्या ज्ञानप्रधानतया । भूयोपि कथम्भूतम् ? सिद्धं जीवन्मुक्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? सर्वजनप्रबोधजननम् सर्वे च ते जनाश्च तेषां प्रबोधस्तं जनयतीति सर्वजनप्रबोधजननस्तम् । कथम् ? सद्यः झटिति । भूयोपि कीदृशम् ? अकलङ्काश्रयम्-कलङ्कानां द्रव्यकर्मणामभावः अकलङ्कस्तस्याश्रयस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? मनोनन्दनम् । कथम् ? नित्यं सर्वदा । कुतः ? विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतः-विद्या केवलज्ञानमानन्दः सुखं समन्ततो भद्राणि कल्याणानि समन्तभद्राणि विद्या चानन्दश्च समन्तभद्राणि च तान्येव गुणास्तेभ्यः ततः । भूयोपि कीदृशम् ? निर्दोषं रागादिभावकर्मरहितम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? परमागमार्थविषयम्-परमागमार्थौ विषयो यस्य स तथोक्तस्तम् । भूयोपि कीदृशम् ? प्रोक्तं प्रकृष्टमुक्तं वचनं यस्यासौ प्रोक्तस्तम् । भूयोपि कथम्भूतम् ? प्रमालक्षणम् ॥ श्रीः ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ श्रीः ॥

---

१ न सम्यग्ज्ञाने । २ कृतकृत्यम् । ३ झटिति । ४ उत्पन्नानन्तरम् । ५ असिन्पदे सिद्धप्रमाणलक्षणवर्द्धमानस्वामिसम्बन्धित्वेनार्थत्रयं बोद्धव्यम् । ६ द्रव्यभावकर्मणामभावस्तस्याश्रयम् । ७ प्रमाणलक्षणस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वात् । ८ सर्वदा । ९ रागादिभावकर्मरहितम् । १० वसः (बहुव्रीहिसमाससंज्ञेयमुपनिबद्धा जैनेन्द्रव्याकरणे) । ११ प्रमाणलक्षणस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वात् । १२ नाज्ञानप्रधानतया ।

। श्रीः ।

२ अथ प्रत्यक्षोद्देशः

अथ[1] प्रमाणसामान्यलक्षणं व्युत्पाद्ये[2]दानीं तद्विशेषलक्षणं व्युत्पाद[3]यितुमुपक्र[4]मते[5] । प्रमाणलक्षणविशेषव्युत्पादनस्य च प्रतिनियतप्रमाण[6]व्यक्तिनिष्ठत्वात्तदभिप्रायवांस्तद्व्यक्तिसंख्याप्रतिपादनपूर्वकं तल्लक्षणविशेषमाह—

तद्द्वेधेति ॥ १ ॥

तत्स्वापूर्वेत्यादिलक्षणलक्षितं प्रमाणं द्वेधा द्विप्रकारम्, सकलप्रमाणभेद[7]प्रभेदानामत्रान्तर्भाव[8]विभावनात्[9] । 'पर[10]परिकल्पितैकद्वित्र्यादिप्रमाणसंख्यानियमे तदघटनात्' इत्याचार्यः स्वयमेवाग्रे प्रतिपादयिष्य[11]ति । ये[12] हि प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमित्याचक्षते न तेषामनुमानादिप्रमाणान्तरस्यात्रान्तर्भावः सम्भवति तद्विलक्षण[13]त्वाद्विभिन्न[14]सामग्रीप्रभवत्वाच्च[15] ।

ननु चास्याऽप्रामाण्यान्नान्तर्भावविभावनया किञ्चित्प्रयोजनम् । प्रत्यक्षमेकमेव हि प्रमाणम्, अगौणत्वात्प्रमाणस्य । अर्थनिश्चायकं च[16] ज्ञानं प्रमाणम्, न चानुमानादर्थनिश्चयो घटते—सामान्ये[17] सिद्ध[18]साधनाद्विशेषेऽनु[19]गमाभावात् । तदुक्तम्—

विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसा[20]धनम्[21] [ ] इति ।

किञ्च, व्याप्तिग्रहणे पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमानं प्रवर्त्तते[22] । न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः; अस्य सन्निहितमात्रार्थग्राहित्वेनाखिलपदा[23]र्थाक्षेपेण[24] व्याप्तिग्रहणेऽसा[25]मर्थ्यात् । नाप्यनु[26]मानतः[27]; अस्य व्याप्ति-

---

१ अनन्तरम् । २ कथयित्वा । ३ विशदीकर्तुं । ४ प्रारभते । ५ परिच्छेदावतारः । ६ भेद । ७ आद्यं त्रिविधमन्त्यं पञ्चविधमित्यादिलक्षण । ८ व्यक्तिभेदेपि लक्षणैकत्वमन्तर्भावः । ९ निश्चयनात् । १० कुत एतत् । ११ तदघटनं कथमाचार्यः प्रतिपादयिष्यतीत्युक्ते आह । १२ चार्वाकाः । १३ वैशद्यावैशद्य । १४ इन्द्रियलिङ्गे । १५ अनुमानादेः । १६ किञ्च । १७ साध्ये । १८ न हि अग्निमात्रे कस्यचिद्विप्रतिपत्तिरस्ति सामान्याच्च प्रवर्त्तमानः कथं नियतमभिमुखमेवावश्यं प्रवर्त्तेत । १९ यो यो धूमवान् स स तार्णेनाग्निमानित्यन्वयाभावः । २० नानुमानं प्रमाणं स्यान्निश्चयाभावतस्ततः । २१ हेतोः । २२ उत्पद्यते । २३ अग्न्याधारधूमाधारमहानसादि । २४ स्वीकरणेन । २५ प्रत्यक्षस्य । २६ सर्वत्र धूमोऽग्निना व्याप्तः तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । २७ व्याप्तिग्रहणम् ।

ग्रहणपुरस्सरत्वात्। तत्राप्यनुमानतो व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थेतरेतरा[1]श्रयदोषप्रसङ्गः[2]। न चान्यत्प्रमाणं तद्ग्राहकमस्ति। तत्कुतो[3]नुमानस्य प्रामाण्यम्? इत्यसमीक्षिताभिधानम्; अनुमानादेरप्यध्यक्षवत्प्रतिनियतस्वविषयव्यवस्थायामविसंवादकत्वेन प्रामाण्यप्रसिद्धेः। प्रत्यक्षेपि हि प्रामाण्यमविसंवादकत्वादेव प्रसिद्धम्, तच्चान्यत्रापि समानम् अनुमानादिनाप्यध्यवसितेर्थे विसंवादाभावात्।

यच्च–अगौणत्वात्प्रमाणस्येत्युक्तम्, तत्रा[4]नुमानस्य कुतो [गौणत्वम्,] गौणा[5]र्थविषयत्वात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा? न तावदाद्यो विकल्पः; अनुमानस्याप्यध्यक्षवद्वा[6]स्तवसामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वाभ्युपगमात्। न खलु कल्पितसा[7]मान्यार्थविषयमनुमानं सौगतवज्जैनैरिष्टम्, तद्विषयत्वस्यानुमाने निराकरिष्यमाणत्वात्। प्र[8]त्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानस्य गौणत्वे प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानपूर्वकत्वाद्गौणत्वप्रसङ्गः, अनुमानात्साध्यार्थं निश्चित्य प्रवर्त्तमा[9]नस्याध्यक्ष[10]प्रवृत्तिप्रतीतेः। ऊहाख्यप्रमाणपूर्वकत्वाच्चा[11]स्याध्यक्षपूर्वक[12]त्वमसिद्धम्।

यच्चोक्तम् 'न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; व्याप्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भबलोद्भूतोहाख्यप्रमाणात्प्रसिद्धेः। न च व्यक्तीनामानन्त्यं[13] देशादि[14]व्यभिचारो वा तत्प्रसिद्धे[15]र्बाधकः, [16]सामान्यद्वारेण–प्रतिब[17]न्धावधारणात्तस्य [18]चानुगताऽबाधितप्रत्ययविषयत्वादस्तित्वम्। प्रसाधयिष्यते च "सामान्यविशेषात्मा तदर्थः[19]" [परीक्षामुख ४-१] इत्यत्र वस्तुभूतसामान्यसद्भावः।

न [20]चोहप्रमाणमन्तरेण 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगौणत्वात्' इत्या[21]द्यभिधातुं शक्यम्। तथा[22]हि—अगौणत्वमविसंवादित्वं वा लिङ्गं नाप्र-

१ आद्यानुमानेऽपरानुमानेन व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनवस्था। आद्यानुमानेन द्वितीयानुमाने व्याप्तिप्रतिपत्तौ इतरेतराश्रयः। २ पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमानं प्रवर्तेत इत्युक्तं तत्र पक्षप्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा। न तावत्प्रत्यक्षतः पक्षप्रतिपत्तिरनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानतः पक्षप्रतिपत्तिरनुमानेपि पक्षप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा। न तावत्प्रत्यक्षतः उक्तदोषानुषङ्गात्। नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसङ्गात्। कथमनुमानेप्यनुमानात्पक्षप्रतिपत्तिरिति। ३ व्याप्तिग्रहणाभावे सति। ४ ग्रन्थे। ५ उपचरित। ६ परमार्थरूप। ७ अन्यापोहरूप। ८ व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षम्। ९ नुः। १० ता। ११ किञ्च। १२ साधनम्। १३ अग्निधूमव्यक्त्योऽनन्ता अतः सम्बन्धोवधारयितुं न शक्यः, यो धूमवान् सोऽग्निमान् पर्वत इति देशादिव्यभिचारो वा तज्ज्ञप्तेर्बाधकः। १४ काल। १५ ज्ञप्तेः। १६ धूमत्वेनाग्नित्वेन। १७ साध्यसाधनयोरविनाभाव। १८ गौर्गौरित्याद्यनुस्यूत। १९ प्रमाणार्थः। २० किञ्च। २१ सर्वमनुमानमप्रमाणं गौणत्वादित्यादि च। २२ उक्तमेव समर्थयन्ते आचार्याः।

सिद्ध[1]प्रतिवन्धं सत् प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमनुमा[2]पयेदतिप्रस[3]ङ्गात्। प्रतिवन्धप्रसिद्धिश्चा[4]न्वयवेनाभ्युपगन्तव्या[5], अन्यथा[6] यस्यामेव प्रत्यक्ष[7]व्यक्तौ प्रामाण्येर्ना[8]गौणत्वादे[9]रसौ[10] सिद्धस्तस्यामेवागौणत्वादे-स्ते[11]तिसिध्येत्, न व्य[12]क्त्यन्त[13]रे तत्र त[14]स्यासिद्धत्वात्। न चासौ साकल्येनाध्यक्षात्सिध्येत्तस्य सन्निहितमात्रविषयकत्वात्। अथैकत्र व्य[15]क्तौ प्रत्यक्षेणान[16]योः स[17]म्वन्धं प्रतिपद्यान्य[18]त्राप्येवं[19]विधं प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यगौणत्वादिप्रामाण्ययोः सर्वोपसंहा[20]रेण प्रतिवन्धप्र[21]सिद्धिरित्यभिधी[22]यते; न[23] अविषये सर्वोपसंहा[24]रेण प्रतिपत्तेरयोगा[25]त्। सर्वोपसंहारेण प्रतिपत्तिश्च[26] नामान्तरेणोह एवोक्तः स्यात्। अग्निधूमादीनां चैव[27]मविनाभावप्रतिपत्तिः किन्न स्यात्? येन 'अनुमानमप्रमाणमविनाभावस्याखिलपदार्थाक्षेपे[28]ण प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्' इत्यु[29]क्तं शोभेत।

किञ्चानुमानमात्रस्याप्रामाण्यं प्रतिपादयितुमभिप्रेत[30]म्, अतीन्द्रियार्थानुमानस्य वा? प्रथमपक्षे प्रतीतिसिद्धसकलव्यवहारोच्छेदः[31]। प्रतीय[32]न्ते हि कुतश्चिदविनाभाविनोऽर्था[33]दर्थान्त[34]रं प्रतिनियतं [35]प्रतियन्तो लौकिकाः, न तु सर्वस्मात्सर्वम्। द्वितीयपक्षे तु कथमतीन्द्रि[36]यप्रत्यक्षेतरप्रमाणानामगौणत्वादीनां[37] प्रामाण्येतरव्यवस्था? कथं वा[38] परचेत[39]सोऽतीन्द्रियस्य व्यापारव्याहारादिकार्यविशेषात् प्रतिपत्तिः?, स्व[40]र्गापू[41]र्वदेव[42]तादेस्तथावि[43]धस्य प्रतिषेधो-

---

१ साध्येनाज्ञाताविनाभावम्। २ ज्ञापयेत्। ३ भूभवनवह्नितोत्थितस्यापि धूमलिङ्गात्साध्यप्रतिपत्तिः स्यादज्ञातसम्वन्धत्वाविशेषात्। ४ साकल्येन। ५ परेण। ६ साकल्येन प्रतिवन्धसिद्धेरनभ्युपगमे। ७ अग्निप्रत्यक्षविशेषे महानसाग्निज्ञाने। ८ सह। ९ अविसंवादित्व। १० अविनाभावः। ११ प्रत्यक्षप्रामाण्यम्। १२ प्रकृतव्यक्तेरन्यव्यक्तौ। १३ घटप्रत्यक्षविशेषे। १४ अविनाभावस्य। १५ अग्निप्रत्यक्षविशेषे। १६ अगौणत्वादिप्रामाण्ययोः साध्यसाधनयोः। १७ अविनाभावम्। १८ घटादिसकलप्रत्यक्षे व्यक्त्यन्तरे। १९ अगौणमविसंवादकम्। २० यावत्प्रत्यक्षं तावत्सर्वमगौणमविसंवादकमिति। २१ अविनाभावज्ञप्तिः। २२ परेण। २३ इति चेन्न। २४ स्वीकारेण। २५ अविनाभावस्य। २६ किञ्च। २७ प्रत्यक्षप्रमाणप्रकारेण। २८ स्वीकारेण। २९ भवता। ३० तवेष्टम्। ३१ नाशः। ३२ ज्ञायन्ते। ३३ धूमलक्षणात्। ३४ अग्निलक्षणम्। ३५ जानन्तः। ३६ प्रत्यक्षाणि चेतराणि चानुमानादीनि प्रत्यक्षेतराणि अतीन्द्रियाणि च तानि प्रत्यक्षेतराणि चातीन्द्रियप्रत्यक्षेतराणि। तानि च तानि प्रमाणानि च। सन्तानान्तरवर्तित्वेन प्रत्यक्षानुमानयोरतीन्द्रियत्वम्। ३७ अविसंवादित्वविसंवादित्वेन। ३८ किञ्च। ३९ शिष्यादिज्ञानस्य। ४० कथं वा। ४१ अदृष्ट। ४२ सर्वज्ञ। ४३ अतीन्द्रियस्य।

ऽनुपलब्धेः स्यात्? सोऽयं चार्वाकः “प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः” [ ] इत्याचक्षाणः[1] कथमत एवाध्यक्षादेः प्रामाण्यादिकं[2] प्रसाधयेत्? प्रसाधयन्वा कथमतीन्द्रियेतरार्थविषयमनुमानं[3] न प्रमाणयेत्? उक्तं च—

“प्रमाणेतर[4]सामान्य[5]स्थिते[6]रन्यधियो गतेः[7]।
प्रमाणान्तर[8]सद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्य[9]चित् ॥” [ ] इति।

तन्नानुमानस्याप्रामाण्यम्।

अस्तु[10] नाम प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाणद्वैविध्यमित्यारेकापनोदार्थम्—

प्र[11]त्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥

इत्याह। न खलु प्रत्यक्षानुमानयोर्व्याख्येयागमादिप्रमाणभेदानामन्तर्भावः सम्भवति यतः सौगतोपकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो व्यवतिष्ठेत[12]।

प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणस्य द्वैविध्यमेवेत्यप्यसम्भाव्यम्, तद्द्वैविध्यासिद्धेः, ‘एक एव हि सामान्यविशेषात्मार्थः प्रमेयः प्रमाणस्य’ इत्यग्रे[13] वक्ष्यते। किञ्चानुमानस्य सामान्यमात्रगोचरत्वे ततो विशे[14]षेष्वप्रवृत्तिप्रसङ्गः। न खल्वन्यविषयं ज्ञानमन्यत्र प्रवर्त्तकम् अतिप्र[15]सङ्गात्। अथ लिङ्गा[16]नुमितात्सामा[17]न्याद्विशेषप्रतिपत्ते[18]स्तत्र प्रवृत्तिः; नन्वेवं लिङ्गादेव त[19]त्प्रतिपत्तिरस्तु किं[20] प[21]रम्परया? ननु विशेषेषु लिङ्गस्य प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरभावात्कथमतस्तेषां प्रतिपत्तिः? तदेतत्सामान्येपि समा[22]नम्। अथाप्रतिपन्नप्रतिबन्धमपि सामान्यं तेषां गमकम्; लिङ्गमप्येवंविधं तद्गमकं किन्न स्या[23]त्?

---

१ प्रत्यक्षं प्रमाणमगौणत्वात्, अनुमानमप्रमाणं गौणत्वादित्याचक्षाणः। २ आदिपदेनानुमानस्याप्रामाण्यम्। ३ इन्द्रियाण्यतिक्रान्ताः स्वर्गादयः। ते च इतरे च प्रत्यक्षग्राह्या अग्न्यादयः। अतीन्द्रियेतरे ते च ते अर्थाश्च ते विषया यस्यानुमानस्य तत्। ४ अप्रमाण। ५ त्व। ६ का। ७ परिज्ञानात्। ८ परोक्ष। ९ स्वर्गादेः। १० आह सौगतः। ११ परोक्ष। १२ अपि तु न कुतोपि स्थितिं कुर्यात्। १३ चतुर्थाध्याये। १४ (ततोऽनुमानादित्यर्थः) अग्निपरमाणुलक्षणस्वलक्षणेषु। १५ घटविषयं ज्ञानं पटे प्रवर्तकं स्यात्। १६ धूम। १७ अग्निमत्त्वात्। १८ विशेषेषु पुरुषत्वस्य। १९ यथा लिङ्गात्सामान्यस्य प्रतिपत्तिरेवं तेषां विशेषाणाम्। २० प्रयोजनम्। २१ लिङ्गात्सामान्यप्रतिपत्तिः सामान्याद्विशेषप्रतिपत्तिरिति। २२ विशेषेषु सामान्यस्य प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरभावात्कथं ततस्तेषां प्रतिपत्तिरिति। २३ अप्रतिपन्नप्रतिबन्धत्वाविशेषात्।

सामान्यस्यापि सामान्येनैव विशेषेषु प्रतिबन्धप्रतिपत्तावनवस्था-सामान्याद्धि सामान्यप्रतिपत्तौ विशेषेष्वप्रवृत्तौ पुनस्ततोऽप्यपरसामान्यप्रतिपत्तौ स[1] एव दोषः । अतः सामान्यतदनुमानानामनवस्थानादप्रवृत्तिर्विशेषेषु स्यात् ।

किञ्च व्यापकमेव गम्यम् अव्यभिचारस्य[2] तत्रैव[3] भावात् । व्यापकं च कारणं[4] कार्यस्य[5], स्वभावो[6] भावस्य[7] । तच्च स्वलक्षणमेव, अतस्तदेव गम्यं[8] स्यात्[9] न सामान्यमव्यापकत्वात् । अथ तदपि व्यापकम्, स्वलक्षणवद्वस्तुत्वम्[10], अन्यथा[11] तस्मिन्नधिगतेऽपि प्रयोजना[12]भावात्तत्रानुमानमप्रमाणमेव स्यात् ।

किञ्च, तत्प्रमेयद्वित्वं[13] प्रमाणद्वित्वस्य ज्ञातम्, अज्ञातं वा ज्ञापकं भवेत् ? यद्यज्ञातमेव तत्तस्य ज्ञापकम्; तर्हि तस्य[14] सर्वत्रा[15]विशेषात्सर्वेषाम[16]विशेषेण तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गतो विवादो न स्यात् । ज्ञातं चेत्कुतस्तज्ज्ञप्तिः ? प्रत्यक्षात्, अनुमानाद्वा[17] ? न तावत्प्रत्यक्षात्; तेन सामान्याग्रहणात् । ग्रहणे वा तस्य सविकल्पकत्वप्रसङ्गो विषयसङ्करश्च प्रमाणद्वित्वविरोधी[18] भवतो[19]ऽनुषज्येत । नाप्यनुमानतः; अत एव । स्वलक्षण[20]पराङ्मुखतया[21] हि भवता[22]नुमानमभ्युपगतम्—

"अतद्[23]भेदपरावृत्तवस्तुमात्र[24]प्रवेदनात् ।
सामान्य[25]विषयं प्रोक्तं लिङ्गं[26] भेदा[27]प्रतिष्ठितेः[28] ॥" [ ]

इत्यभिधानात् । द्वाभ्यां[29] तु प्रमेयद्वित्वस्य ज्ञाने[30](ऽ)स्य प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वायोगः, अन्यथा[31] देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां प्रतिपन्ना[32]द्धूमद्वित्वात् तदन्यतरस्या[33]ग्निद्वित्वप्रतिपत्तिः स्यात् । द्वैविध्य[34]मिति हि द्विष्ठो धर्मः । स च द्वयो[35]र्ज्ञाने[36] ज्ञायते[37] नान्यथा । न ह्यज्ञातसह्य-

१ विशेषेष्वप्रवृत्तिरूपः । २ अविनाभावस्य । ३ व्यापके । ४ वह्निः । ५ धूमस्य । ६ वृक्षत्वम् । ७ शिंशपात्वस्य । ८ साध्यम् । ९ लिङ्गस्य । १० सामान्यस्य । ११ अवस्तुत्वे । १२ विशेषेषु प्रवृत्तिलक्षण । १३ सामान्यविशेषभेदेन । १४ अज्ञातप्रमेयद्वित्वस्य । १५ देशे । १६ नृणाम् । १७ द्वाभ्यां वा । १८ अनुमानस्याभाव इत्यर्थः । १९ सौगतस्य । २० अत एवेत्यस्य हेतोरसिद्धत्वं परिहरति । २१ स्वलक्षणागोचरत्वेन । २२ सौगतेन । २३ अनग्निरूप । २४ अग्निमात्र । २५ अन्यापोह । २६ अन्यापोह । २७ स्वलक्षणस्य । २८ अव्यवस्थितेः । कुतोऽव्यवस्थितिः ? भेदानामानन्त्येन ग्रहणासम्भवात् । २९ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । असौ तृतीयो विकल्पः । ३० परिज्ञाने सति अस्य प्रमेयद्वित्वस्य । ३१ प्रमेयद्वित्वस्य प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वं चेत् । ३२ भिन्नदेशे । ३३ देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य वा । ३४ प्रमेयद्वित्वस्य प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वायोगं दर्शयति । ३५ स्वलक्षणसामान्ययोः प्रमेययोः । ३६ सति । ३७ पुरुषेण ।

विन्ध्यस्य[1] तद्गत[2]द्वित्वप्रतिपत्तिरस्ति । परस्पराश्रयानुषङ्गश्च-सिद्धे हि प्रमाणद्वित्वेऽतः प्रमेयद्वित्वसिद्धिः, तस्याश्च प्रमाणद्वित्वसिद्धिरिति । अथा[3]न्यतः प्रमाणद्वित्वस्य सिद्धिः, व्यर्थस्तर्हि प्रमेयद्वित्वोपन्यासः । [4]तद[5]प्यन्य[6]देकं वा स्यात्, अनेकं वा ? एकं चेद्विषयसङ्करः[8] । प्रत्यक्षं[9] हि स्वलक्षणाकारमनुमानं तु सामान्याकारम्, तद्द्वयस्यैकज्ञानवेद्यत्वे सुप्रसिद्धो विषयसङ्करः । अथानेकज्ञानवेद्यम्; तद[10]प्यपरेणानेकज्ञानेन वेद्यं तदप्यपरेणेत्यनवस्था ।

न[11]नु स्वलक्षणाका[12]रता प्रत्यक्षेणात्मभू[13]तैव वेद्यते सामान्याका[14]रता त्वनुमा[15]नेन, तयोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षसिद्धमेव प्रमाणद्वित्वं प्रमेयद्वित्वं च, केव[16]लम्[17] य[18]स्तथा[19] प्रतिपद्यमानोपि न व्यवहरति स प्रसिद्धेन प्रमेयद्वैविध्येन प्रमाणद्वैविध्यव्यवहारे प्र[20]वर्त्यते[21]; तदप्यसारम्; ज्ञानादर्था[22]न्तरस्यानर्थान्तरस्य[23] वा केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य वा क्वचिज्ज्ञाने प्रतिभासाभावात्, उभया[24]त्मन एवान्तर्बहिर्वा वस्तुनोऽध्यक्षादिप्रत्यये प्रतिभासमानत्वात् । प्र[25]योगः–असति बाधके यद्यथा प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया, प्रतिभासते चाध्यक्षादि प्रमाणं सामान्यविशेषात्मार्थविषयतयेति ।

ननु मा भूत्प्रमेयभेदः, तथाप्यागमादीनां नानुमानादर्थान्तरत्व[26]म् । शब्दा[27]दिकं[28] हि परोक्षार्थं सं[29]म्बद्धम्, असम्बद्धं वा गम[30]येत् ? न तावदसम्बद्धम्; गवादे[31]रप्यश्वादिप्रतिभासप्रसङ्गा[32]त् । सम्बद्धं चेत्; तल्लिङ्गमेव, तज्जनितं च ज्ञानमनुमानमेव । इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्याप्येव[33]मनुमानत्वप्रसङ्गात्–तदपि हि स्वविषये

---

१ नरस्य । २ सह्यविन्ध्यपर्वतगत । ३ इतरेतराश्रयपरिहारार्थं परः प्राह । ४ ज्ञानात् । ५ किञ्च । ६ तयोः । ७ ज्ञानम् । ८ युगपद्द्वयोः प्रतिपत्तिर्विषयसङ्करः । ९ विषयसङ्करः कथमित्युक्ते सत्याह । १० तर्हीति शेषः । ११ अनवस्थां परिहरति परः । १२ प्रत्यक्षस्य । १३ स्वरूपगतैव । १४ अनुमानस्य । १५ वेद्यते । १६ सामान्यं विशेषं वा । १७ इति । १८ नरः (शिष्यः) । १९ स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रमेयद्वित्वं प्रमाणद्वित्वं च । २० प्रमाणं द्विविधं प्रमेयद्वैविध्यादित्यनुमानं प्रदर्श्य । २१ आचार्येण । २२ अर्थगतस्य । २३ ज्ञानगतस्य । २४ सामान्यविशेषात्मनः । २५ प्रत्यक्षादि प्रमाणं धर्मि सामान्यविशेषार्थविषयत्वेनाभ्युपगन्तव्यं भवतीति साध्यो धर्मः । असति बाधके तथा प्रतिभासमानत्वादिति हेतुः । २६ सम्बद्धार्थविषयत्वात् । २७ आदिशब्देन सादृश्यार्थापत्त्युत्थापकार्थादि । २८ कर्तृ । २९ परोक्षार्थे । ३० परोक्षार्थम् । ३१ गवादिशब्दात् । ३२ असम्बद्धत्वाविशेषात् । ३३ आगमादीनामनुमानत्वप्रकारेण ।

सम्बद्धं सत्तस्य गमकम् नान्यथा[1], सर्वस्य प्रमातुः सर्वार्थप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । अथ विषयसम्बद्धत्वाविशेषेपि प्रत्यक्षानुमानयोः सामग्रीभेदात्प्रमाणान्तरत्वम्; शब्दादीनाम[2]प्येवं[3] प्रमाणान्तरत्वं किन्न स्यात्? तथाहि–शाब्दं[4] तावच्छब्दसामग्रीतः प्रभवति–

"शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेपि वस्तुनि ।
शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः[5] ॥" [ ]

इत्यभिधानात् । न चास्य प्रत्यक्षता; सविकल्पकास्पष्टस्वभावत्वात् । नाप्यनुमानता; त्रिरूप[6]लिङ्गाप्रभवत्वादनुमानगोचरार्थाविषयत्वाच्च । तदुक्तम्–

"तस्मादनुमानत्वं[7] शाब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत् ।
त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्[8]विषय[9]वर्जनात्[10] ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १८]

यादृशो हि धूमादिलिङ्गजस्यानुमानस्य विषयो धर्म[11]विशिष्टो धर्मी[12] तादृशा[13] विषयेण रहितं शाब्दं सुप्रसिद्धं त्रैरूप्यरहितं च । तथा हि–न शब्दस्य पक्षधर्मत्वम्; धर्मिणोऽयोगात् । न चार्थस्य[14] धर्मत्वम्; तेन तस्य सम्बन्धा[15]सिद्धेः । न चाप्रतीतेर्थे तद्धर्मतया[16] शब्दस्य प्रतीतिः सम्भविनी । प्रतीते चार्थे न तद्धर्मतया प्रतिपत्तिः शब्दस्योपयोगिनी[17], तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेः । अथ शब्दो धर्मी, अर्थवानिति साध्यो धर्मः, शब्द एव च हेतुः[18]; न; प्रतिज्ञा[19]र्थैकदेशत्वप्राप्तेः । अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेश[20]त्वम्; न[21]; शब्दत्वस्यागम[22]कत्वात्, गोश[23]ब्दत्व[24]स्य च[25] निषेत्स्यमानत्वेनासिद्धत्वात् । उक्तं च–

"सामा[26]न्यविषयत्वं हि पद[27]स्य स्थाप[28]यिष्यते ।

---

१ अन्यथा चेत् । २ शब्दादीनि प्रमाणान्तराणि–सामग्रीभेदात् प्रत्यक्षादिवत् । ३ सामग्रीभेदप्रकारेण । ४ मेरुरस्तीति ज्ञानम् । आगमज्ञानमित्यर्थः (हेत्वन्तरमिदम्) । ५ जैनादयः । ६ पक्षधर्मत्वादि । ७ शब्दादुत्पन्नत्वात् । ८ ईप् । ९ अनुमेय । १० च । ११ अग्निमत्त्व । १२ पर्वतः । १३ भा । १४ गोलक्षणस्य । १५ अविनाभाव । १६ अर्थधर्मत्वेन । १७ फलवती । १८ इति चेन्न । १९ पक्षवचनं प्रतिज्ञा तस्या अर्थः पक्षस्तस्यैकदेशो धर्मी धर्मश्च । २० गोशब्दो जगति नित्यो व्यापकत्वेनैक एवेति गोशब्दत्वसामान्याभावः हेतोः । २१ इति चेन्नेत्यर्थः । २२ गोशब्दवदश्वशब्देपि शब्दत्वस्य भावादगमकत्वम् । २३ तस्मिन्निषेधोपि गोशब्दस्यातीतादेरेकत्वात्, नैकव्यक्तौ सामान्यमिति व्यापकत्वेनैकत्वाच्च गोशब्दत्वसामान्याभावः । २४ अर्थस्य । २५ अर्थस्य साध्यस्य ज्ञापकत्वम् । २६ गोत्व । २७ गवादेरागमस्य । २८ स्वग्रन्थापेक्षयाग्रे ।

धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गी[1]त्येतच्च[2] साधितम् ॥
न[3] तावदनुमानं हि यावत्तद्वि[4]षयं न त[5]त् ।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६]

"अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न क[6]ल्प्यते ॥
प्रतिज्ञार्थै[7]कदेशो हि हेतुस्तत्र प्र[8]सज्यते ।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६३]

"शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्य[9]ते ॥
व्य[10]क्तिरेव विशेष्यां[11]तो हेतुश्चैका प्रसज्य[12]ते ।"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६४]

न चार्था[13]न्वयो[14]ऽस्त्यस्ति व्या[15]पारेण हि स[16]द्भावेन सत्तयेति यावत्। विद्यमानस्य ह्यन्वेतृ[17]त्वं, नाविद्यमानस्य। 'यत्र हि धूमस्तत्रावश्यं वह्निरस्ति' इत्यस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता[18] भवति धूमस्य[19]। न त्वेवं शब्दस्यार्थेनान्वयोस्ति, न हि तत्र शब्दाक्रान्ते देशेऽर्थस्य सद्भावः। न खलु यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्दः श्रूयते तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थोप्यस्ति[20]। नापि शब्दकालेऽर्थोऽवश्यं सम्भवति; रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्त्तमानास्तदर्थस्तु भूतो भविष्यंश्च[21], इति कुतोऽर्थैः शब्दस्यान्वेतृ[22]त्वम्? नित्यविभुत्वाभ्याम् तत्त्वे चा[23]तिप्र[24]सङ्गः। तदुक्तम्—

"अ[25]न्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरू[26]प्यते।
व्या[27]पा[28]रेण हि सर्वे[29]षामन्वेतृत्वं प्रतीयते ॥ १ ॥
यत्र धूमोस्ति तत्राग्निरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः।
न त्वे[30]वं यत्र शब्दोस्ति तत्रार्थोस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥

---

१ अनुमानविषयः। २ स्वग्रन्थापेक्षया। ३ उभयस्य (शाब्दानुमानयोः) उभय-(सामान्यविशेष)विषयत्वं यद्यपि तथापि शब्दस्यानुमानरूपता भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ४ धर्मविशिष्टधर्मिविषयम्। ५ शब्दम्। ६ बौद्धेन न समर्थ्यते। ७ गोशब्दस्य नित्यविभुत्वाविशेषाभावात्। ८ स्वग्रन्थापेक्षया। ९ शब्दस्वलक्षणा। १० धर्मिणी। ११ शब्दत्वं न गमकं गोशब्दत्वस्य प्रतिषेधो वा यतः। १२ ततश्च प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुरित्यभिप्रायः। १३ अर्थेन सहाविनाभावः। १४ शब्दस्य। १५ शब्दस्य। १६ व्यापारेणेति पदस्य सद्भावेनेति सत्तयेति वा पर्यायशब्दौ। १७ व्यापकत्वमन्वयश्च। १८ व्यापकः। १९ धूमाग्निप्रकारेण। २० इति देशान्वयाभावः। २१ कालान्वयाभावः। २२ अन्वयो व्यापकत्वं वा। २३ गोशब्दादश्वार्थप्रतीतिः स्यात्। २४ शब्दस्य सर्वेष्वर्थेष्वनुगमो यतः। २५ सम्बन्धः। २६ विद्वद्भिः। २७ कुतस्तथाहि। २८ सद्भावेन सत्तया वा। २९ अर्थानाम्। ३० धूमाग्निप्रकारेण।

न तावद्यत्र[1] देशेऽसौ न तत्काले च गम्यते[2]।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत्सर्वार्थेष्वपि तत्समम्[3] ॥ ३ ॥
तेन[4] सर्वत्र[5] दृष्टत्वाद्[6]व्यतिरेकस्य चागतेः[7]।
सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते ॥ ४ ॥"
[मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८८]

अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभावः—
"अन्वयेन विना तस्माद्[8]व्यतिरेकः कथं भवेत्।" [ ]
इत्यभिधानात्। ततः[9] शाब्दं प्रमाणान्तरम्[10]एव।

उपमानं च। अस्य हि लक्षणम्[11]—
"दृश्यमानाद्[12]यदन्यत्र[13] विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधि[14]तस्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥" [ ]

येन[15] हि प्रतिपत्रा गौरुपलब्धो[16] न गवयो, न चातिदेशवाक्यं[17] 'गौरिव गवयः' इति श्रुतं तस्यारण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे उपजाते परोक्षे गवि सादृश्य[18]ज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौः' इति[19], तस्य विषयः सादृश्य[20]विशिष्टः परोक्षो[21] गौस्तद्विशिष्टं[22] वा सादृश्यम्, तच्च वस्तुभूतमेव। यदाह[23]—
"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्[24]।
भूयो[25]ऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य[26] तत् ॥"
[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० १८] इति।

अस्य[27] चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यम्। गवयविषयेण हि प्रत्यक्षेण गवयो विषयीकृतो, न त्वसन्निहितोऽपि सादृश्य[28]-विशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्। यच्च पूर्वं 'गौः' इति प्रत्यक्षमभूत्तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एव। इति कथं गवि तदपेक्षं[29] तत्[30]सादृश्यज्ञानम्[31]? उक्तं च—

---

१ तत्र प्रदेशेऽर्थोऽस्तीति निश्चयो नास्तीत्यर्थः। २ अर्थः। ३ अन्वेतृत्वम्। ४ कारणेन। ५ अर्थेषु। ६ शब्दस्य। ७ अप्रतिपत्तेः। ८ अन्वयाविनाभावित्वं व्यतिरेकस्य यतः। ९ शब्दार्थयोरन्वयव्यतिरेकौ न स्तो यतः। १० अनुमानात्। ११ भाट्टो ब्रवीति। १२ गवयात्। १३ गवि। १४ उपाधिर्विशेषणम्। १५ कारिकां भावयति। १६ ग्रामादौ। १७ अन्यत्र प्रसिद्धस्यान्यत्रारोपणमतिदेशः। १८ गोगवयोः। १९ तदुपमानम्। २० गवयस्य। २१ स्मर्यमाणो। २२ स्मर्यमाणगोविशिष्टम्। २३ यस्मात्कारणात्। २४ निराकर्तुम्। २५ भूयसां बहूनामवयवानां समानता सामान्यं तेन योगः। २६ एकस्या गवयजातेरन्या गोजातिर्जात्यन्तरम्। एकस्या गोजातेरन्या गवयजातिर्जात्यन्तरम्, तस्य। २७ उपमानस्य। २८ गवयस्य। २९ गोप्रत्यक्षापेक्षम्। ३० ता। ३१ प्रत्यक्षात्।

“[1]तस्माद्य[2]त्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा [3]तदन्वितम् ॥ १ ॥
[4]प्रत्यक्षेणावबुद्धेपि [5]सादृश्ये गवि च स्मृते।
[6]विशि[7]ष्टस्या[8]न्यतो[9]ऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ २ ॥
[10]प्रत्यक्षेपि यथा दे[11]शे स्मर्यमाणे च पावके।
वि[12]शिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता ॥ ३ ॥”
[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ३७-३९] इति।

न चेद[13] प्रत्यक्षम्; परोक्षविषयत्वात्सविकल्पकत्वाच्च। नाप्यनुमानम्; हेत्वभावात्। तथा हि-गोगतम्, गवयगतं वा सादृश्य[14]मत्र हेतुः स्यात्? तत्र न गोगतम्; तस्य पक्षधर्मत्वेनाग्रहणात्। [15]यदा हि [16]सादृश्यमात्रं धर्मि, ‘स्मर्यमाणेन गवा विशिष्टम्’ इति [17]साध्यम्, यदा च [18]तादृशो गौ[19]:; तदा [20]न [21]तद्धर्मतया ग्रहणमस्ति[22]। [23]अत एव न [24]गवयग[25]तम्। गोग[26]तसादृश्यस्य [27]गौर्वा हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गश्च। [28]न च [29]सादृश्यम[30]त्र [31]प्राक्प्रमेये[32]ण प्रति[33]बद्धं प्रति[34]पन्नम्। न चान्व[35]यप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धम्। तत[36]ो [37]गवार्थद[38]र्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं [39]सम्बन्धानुस्मरणं चान्तरेण प्रतिपत्तिरुत्पद्यमाना नानुमानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम्। उक्तं च—

---

१ गवयात्। २ गोलक्षणं वस्तु। ३ स्मर्यमाणगवान्वितम्। ४ उपमानं गृहीतग्राहित्वादप्रमाणं स्यादित्युक्ते आह। ५ गवयगते। ६ सादृश्यविशिष्टस्य। ७ सादृश्यविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यमितिविशिष्टविषयः। ८ सादृश्यविशिष्टस्य गोस्तद्विशिष्टस्य वा सादृश्यस्य। ९ स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम्। १० असिन्नर्थे दृष्टान्तमाह। ११ पर्वतादौ। १२ देशादिनियतत्वेन। १३ उपमानम्। १४ उपमानस्यानुमानत्वे साध्ये। १५ कः पक्षस्तद्धर्मत्वेनाग्रहणं वा कथं सादृश्यस्येत्येतदाह। १६ सामान्यम्। १७ गोगतसदृशत्वादिति हेतुः। १८ गवयसदृशो गौरिति वा पक्षः। १९ गवयगतसदृशत्वादिति हेतुः। २० गोगतसादृश्यस्य। २१ पक्ष। २२ हेतूपन्यासात्पूर्वं सादृश्यस्याप्रसिद्धत्वात्। २३ पक्षधर्मत्वेनाग्रहणादेव। २४ हेतुः। २५ सादृश्यम्। २६ यद्यपि पक्षधर्मत्वेनाग्रहणं गोगतसादृश्यस्य तथापि हेतुत्वेनोपन्यासः क्रियते इत्युक्ते आह। २७ गौर्गवयेन सदृशः गोगतसादृश्यात्। गौर्गवयेन सदृशः गौर्यतः। २८ उक्तयुक्त्या पक्षधर्मत्वं नास्ति चेन्मा भूदन्वयो भविष्यतीत्युक्ते आह। २९ हेतुः। ३० उपमानस्यानुमानत्वे साध्ये। ३१ हेतूपन्यासात्पूर्वम्। ३२ सादृश्यविशिष्टो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यमिति विशिष्टविषयेण। ३३ अविनाभूतम्। ३४ तथा प्रतीतेरभावात्। ३५ सपक्षे सत्त्व। ३६ सादृश्यस्य पक्षधर्मत्वेनाग्रहणमन्वयप्रतिपत्त्यभावो वा यतः। ३७ वनः। ३८ सति। ३९ अन्वय।

"न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्।
प्राक्प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मित्वेन न गृह्यते ॥ १ ॥
गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम्।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद्गोगतस्य न लिङ्गता ॥ २ ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति।
सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥ ३ ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने।
सादृश्येन सहैवास्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः ॥ ४ ॥"
[मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० ४३-४६] इति।

तथार्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्। तल्लक्षणं हि—"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना"। [शावरभा० १।१।५] कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यकारवचो व्याचष्टे।

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथा भवन्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥"
[मी० श्लो० अर्था० परि० श्लो० १]

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः। तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिर्यथाग्नेः प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नाद्दाहाद्दहनशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते। न हि शक्तिः प्रत्यक्षेण परिच्छेद्या; अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानेन; अस्य प्रत्यक्षावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेनाभ्युपगमात्, अर्थापत्तिगोचरस्य चार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षागोचरत्वात्। अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्यथा सूर्ये गमनात्तच्छक्तियोगिता। अत्र हि

---

१ आदिशब्देन सपक्षे सत्त्वम्। २ अनुमानकालात्पूर्वम्। ३ हेतुः। ४ पक्षधर्मत्वेन सादृश्यम्। ५ तर्हि गवयो हेतुर्भविष्यतीत्युक्ते आह। ६ गवार्थेन। ७ पक्षधर्मत्वं नास्ति चेन्मा भूदन्वयो भविष्यतीत्युक्ते आह। ८ पुंसा। ९ हेतूपन्यासात्पूर्वम्। १० प्रमेयेण। ११ उक्तार्थोपसंहारमाह। १२ गोलक्षणे। १३ गवयम्। १४ पक्षधर्मत्वग्रहणं विना साध्यसाधनसम्बन्धस्मरणं च विना कोऽर्थो गवयदर्शनकाल एव। १५ शाब्दोपमाने यथा प्रमाणान्तरे भवतः। १६ सामर्थ्यात्प्राप्ता। १७ उच्यते। १८ पुनः। १९ प्रत्यक्षादिप्रमाणमात्रगम्यः। २० आगमे। २१ अदृष्टार्थं विना। २२ उपरि वृष्टिलक्षण। २३ आपादनम्। २४ बुद्धौ। २५ नदीपूरादिः। २६ अदृष्टार्थे सत्येव भवन्नित्यर्थः। २७ उपरि वृष्टिलक्षणम्। २८ पूरादन्यम्। २९ कारिकां भावयति। ३० वृष्टेः। ३१ अर्थापत्तिषु मध्ये। ३२ स्फोटात्। ३३ अग्निर्दहनशक्तियुक्तः दाहान्यथानुपपत्तेरिति। ३४ आत्मादिवत्। ३५ भा। ३६ शक्तिलक्षणस्य।

देशाद्देशान्तरप्राप्त्या सूर्ये गमन[1]मनुमीयते [2]ततस्तच्छक्तिसम्बन्ध इति। [3]श्रुतार्थापत्तिर्यथा–'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभो[4]जनप्रतिपत्तिः। उपमानार्थापत्तिर्यथा—गवयोपमि[5]ताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिः। अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा—शब्देऽर्थापत्तिप्रबोधिताद्वाचकसामर्थ्यादभि[6]धानसिध्यर्थं तन्नित्यत्वज्ञानम् । शब्दाद्ध्यर्थः प्रतीयते, [7]ततो वाचकसामर्थ्यं, ततोपि [8]तन्नित्यत्वमिति । अभावपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा—प्रमाणा[9]भावप्रमितचै[10]त्राभा[11]वविशेषि[12]ताद्गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिः, 'जीवंश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहे अभावात्' इति। तदुक्तम्—

"[13]तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद्दहनशक्तता।
वह्नेरनुमितात्सूर्ये यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३]

"पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः[14]श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१]

"गवयोपमिताया गो[15]स्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता।
अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् ॥ १ ॥
शब्दे वाचक[16]सामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रमेय[17]ता।
अभिधानान्य[18]थाऽसिद्धेरिति वाचकशक्तता ॥ २ ॥
[19]अर्थापत्त्याव[20]गम्यैव [21]तदन्यत्व[22]गतेः पुनः।
[23]अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः ॥ ३ ॥

---

१ आदित्यो गमनशक्तियुक्तो गतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः । गतिमानादित्यो देशाद्देशान्तरप्राप्तेः, बाणादिवत् । २ सूर्यो गमनशक्तियुक्तो गतिमत्वान्यथानुपपत्तेः । ३ आगम । ४ देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते पीनत्वे सति दिवाभोजनाभावश्रवणान्यथानुपपत्तेः । ५ गौरुपमानज्ञानग्राह्यताशक्तियुक्ता उपमेयत्वान्यथानुपपत्तेः । ६ उच्चारण । ७ शब्दो नित्यो वाचकसामर्थ्यान्यथा(नित्यत्वं विना)ऽनुपपत्तेः । अस्यार्थापत्तिपूर्वकत्वं निरूप्यते । शब्दो वाचकशक्तियुक्तः ततोऽर्थप्रतीत्यन्यथा (वाचकशक्तिं विना)ऽनुपपत्तेः । ८ शब्द । ९ अभावप्रमाण । १० ता । ११ भा । १२ विशेषण । १३ अर्थापत्तिषु मध्ये । १४ सत्याम् । १५ उपमान । १६ यतः । १७ अभिधानसिद्ध्यर्थं तन्नित्यत्वप्रमेयता स्यात् । १८ नियत्वं विना । १९ वाचकशक्तता । अर्थापत्त्यवगम्या न भविष्यति अतश्चार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः कथं स्यादित्युक्ते आह । २० अतीन्द्रियत्वात् । २१ शक्ततायाः सकाशादन्यत्वं भिन्नत्वं नित्यत्वस्य । २२ परिज्ञानात् । २३ यथैवार्थापत्त्या वाचकशक्तताවगम्यते तथैव शब्दनित्यत्वं प्रतीयते इति कृतार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तेर्वैयर्थ्यमित्युक्ते आह ।

[1]दर्शन[2]स्य [3]परार्थत्वादित्य[4]स्मिन्नभिधास्यते ।
प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् ॥ ४ ॥
गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्वि[5]ह दर्शिता ।
तामभावोत्थिताम[6]न्यामर्थापत्तिमु[7]दाहरेत् ॥ ५ ॥”
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४-९] इत्यादि ।

तथाऽभावप्रमाणमपि प्रमाणान्तरम् । तद्धि निषे[8]ध्या[9]धारवस्तुग्रहणा[10]दिसाम[11]ग्रीत[12]स्त्रिप्रकारमुत्पन्नं सत् क्वचि[13]त्प्रदेशा[14]दौ घटादीनामभावं विभावयति । उक्तं च—

“गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षा[15]नपे[16]क्षया ॥
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७]

“प्रत्यक्षादे[17]रनु[18]त्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्म[19]नोऽपरि[20]णामो वा विज्ञानं वा[21]न्यवस्तुनि ॥”
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११]

“प्रमाणपञ्चकं यत्र व[22]स्तुरूपे न जायते ।
[23]वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥”
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इति ।

न चाध्यक्षेणाभावोऽवसीयते; तस्याभावविषयत्वविरोधात्, भावांशेनैवेन्द्रियाणां सम्बन्धात् । तदुक्तम्—

“न ता[24]वदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥”
[मी० श्लो० अभाव० १८] इति ।

नाप्यनुमानेना[25]सौ साध्यते; हेतोरभावात् । न च विष[26]यभूतस्या-

---

१ अभिधानान्यथासिद्धेरिति यदुक्तं तत्समर्थनीयमित्युक्ते आह । २ उच्चारणस्य । ३ ‘शिष्यार्थत्वात् । ४ स्वग्रन्थापेक्षयाग्रे वक्ष्यमाणग्रन्थे । ५ अर्थापत्तिनिरूपणप्रस्तावे । ६ प्रमाणपञ्चकाङ्क्षिणाम् । ७ भाष्यकारः । ८ घटादि । ९ शुद्धभूतल । १० निषेध्यस्मरणमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य घटादेरनुपलम्भश्च । ११ अभावप्रमाणसामग्रीतः । १२ त्रिप्रकारमित्येतत्पदं प्रत्यक्षेत्यादिनाऽऽह । १३ भूतले । १४ आदिपदेन काले । १५ बाह्येन्द्रियानपेक्षया । १६ स्वरूपम् । १७ प्रमाणपञ्चकरूपत्वेनाभावप्रमाणस्य । १८ प्रसज्यप्रतिषेधोऽत्र । १९ जीवस्य प्रमाणपञ्चकरूपतया । २० स्वरूपम् । २१ पर्युदासोऽत्र । २२ भुवि । घटांशलक्षणे । २३ घटांशास्तित्वावबोधार्थम् । २४ अनुमानापेक्षया । २५ कारणादेः प्रागभावादिना विभागः कृतः । अभाव इति वा । २६ पदार्थस्य ।

भावस्याभावादभावप्रमाणवैयर्थ्यम्; कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात्। उक्तंच—

"न च स्याद्व्यवहारोयं कारणादिविभागतः।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते॥ १॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७]

प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेश्चास्यार्थापत्त्या वस्तुरूपतावसीयते। उक्तंच—

"न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता।
कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादिनः(ना)॥ १॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ८]

अनुमानावसेया चास्य वस्तुता। यदाह—

"यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्[11]।
तस्माद्गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्॥ १॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ९]

चतुःप्रकारश्चाभावो व्यवस्थितः—प्राक्प्रध्वंसेतरेतराऽत्यन्ताभावभेदात्। उक्तं च—

"वस्त्वऽसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता।
क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते॥ १॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोन्योन्याभाव उच्यते॥ २॥
शिरसो[12]ऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ता[13]भाव उच्यते॥ ३॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २-४]

यदि चैतेषां व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न स्यात्तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपः स्यात्। तदुक्तम्—

"क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तितात्मनि॥

१ अन्यथा। २ क्षीर। ३ कार्य दधि। ४ प्रागभावादिकृतः कारणादिविभागः। ५ लोकप्रतीतः। ६ [अ]भावप्रमाणमन्तरेण। ७ प्रागभावादयः। ८ कारणेन। ९ स्वरूपादीनां च। १० अथवाऽर्थापत्त्यपेक्षया। ११ अभावो वस्तुरूपो भवति अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वाद्गवादिवत्प्रमेयत्वाच्च तद्वत्। १२ शशस्य। १३ कालत्रये।

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह।
व्योम्नि संस्पर्शता ते[1] च न चेदस्य प्रमाणता॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५-६] इति।

न च निरंशत्वाद्वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाध्यक्षेणास्य[2] सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यादंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थाप[3]नाय प्रवर्त्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुते[4]? इत्यभिधातव्यम्[5]; यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्त्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः। उक्तं च—

"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं[6] सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्[7]कदाचन॥ १॥
यस्य[8] यत्र[9] यदो[10]द्भूति[11]र्जिघृक्षा[12] चोपजायते।
वेद्यते[13]ऽनुभवः[14] तस्य[15] तेन[16] च व्यपदिश्यते[17]॥ २॥
त[18]स्यो[19]पकारकत्वेन वर्त्तते[20]ऽशस्तदेतरः[21]।
उभयो[22]रपि संवित्त्या[23] उभयानुगमोस्ति तु[24]॥ ३॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२-१४]

प्रत्यक्षाद्यवतार[25]श्च[26] भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापार[27]स्तद[28]नुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते[29]॥ ४॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १७]

न[30] च धर्मिणो[31]ऽभिन्नत्वा[32]द्भावांशवदभावांशस्याप्यध्यक्षेणैव ग्रहः; सदसदंशयोर्धर्म(र्म्य)भेदेऽप्य[33]न्योन्यं भेदान्नायनरश्मिरूपादिवदभावस्यानुद्भूतत्वात्[34]। न चाभावस्य भावरूपेण प्रमाणेन परिच्छित्ति-

१ गन्धादयः। २ सद्रूपस्य वस्तुनः। ३ समर्थनाय। ४ व्याप्नोति। ५ सौगतेन। ६ सर्वदा। ७ प्रमाणैः। ८ किञ्चिद्रूपमित्येतत्पदं यस्येत्यादिना विवृणोति। सदंशस्यासदंशस्य वा। ९ उभयात्मके वस्तुनि। १० सदंशग्रहणकाले। ११ अभिव्यक्तिः। १२ पुरुषाणाम्। १३ नरैः। १४ परिच्छित्तिः। १५ सदंशस्यासदंशस्य वा। १६ अभिव्यक्तेन सदंशेन असदंशेन वा। १७ पुंभिर्वस्तु। १८ य एवांशो गृह्यते स एवांशोस्ति न तद्द्वितीय इत्युक्ते आह। १९ गृह्यमाणसदंशस्य। २० सदंशग्रहणकाले। २१ असदंशः। २२ सदसदंशयोः। २३ संवेदनात्। २४ उभयात्मके वस्तुनि। २५ कैश्चिदित्येतत्पदं प्रत्यक्षाद्यवतार इत्यादिना आह। २६ तदा भवेत्। २७ स्यात्। २८ अभावस्य। २९ ग्रहीतुमिष्टे वस्तुनि। ३० तदनुत्पत्तेरित्येतदपरार्द्धार्थं विघटयति। ३१ वस्तुनः। ३२ एकत्वात्। ३३ भेदेप्युभयधर्मयोः प्रत्यक्षेण ग्रहणं कुतो न स्यादित्युक्ते आह। अन्योन्यमिति। ३४ सदंशस्योद्भूतत्वात्॥

युक्ता। प्रयोगः[1]-यो यथाविधो विषयः स तथाविधेनैव प्रमाणेन परिच्छि(च्छे)द्यते, यथा रूपादिभावो भावरूपेण चक्षुरादिना, विवा[2]दास्पदीभूतश्चाभावस्तस्मा[3]दभावः (दभावेन) परिच्छेद्यत इति। उक्तं च-

"न तु (ननु) [4]भावादभि[5]न्नत्वात्स[6]म्प्रयोगोस्ति ते[7]न च।
न ह्यत्यन्तमभेदोस्ति रूपा[8]दिवदि[9]हापि नः ॥ १ ॥
[10]धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेपि नः स्थितेः।
[11]उद्भवाभिभवा[12]त्मत्वाद्ग्र[13]हणं [14]चावतिष्ठते ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १९-२०]

"मेयो यद्वदभावो हि मानम[15]प्येवमि[16]ष्यताम्।
[17]भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ॥
तथैवाभावमेयेपि न भावस्य प्रमाणता।"
[मी० श्लो० अभाव० ४५-४६] इति।

ततः शाब्दादीनां प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षानुमानभेदात्प्रमाण[18]द्वैविध्यं परेषां व्यवतिष्ठेत?

नन्वेवं[19] प्रत्यक्षेतरभेदात्कथं [20]भवतोपि प्रमाणद्वैविध्यव्यवस्था—तेषां प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेरविशेषादिति चेत्? तेषां 'परोक्षेऽन्तर्भावात्' इति [21]ब्रूमः। तथाहि—[22]यदेकलक्षणलक्षितं तद्व्यक्तिभेदेप्येकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षितं चक्षु[23]रादिप्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितं च शाब्दादीति। चक्षुरादिसामग्रीभेदेपि हि तज्ज्ञानानां वैशद्यैकलक्षणलक्षितत्वेनैवाभेदः प्रसिद्धः प्रत्यक्षरूपतानतिक्रमात्, तद्वत् शब्दादिसामग्रीभेदेप्यवैशद्यैकलक्षितत्वेनैवाभेदः शाब्दादीनाम् परोक्षरूपत्वाविशेषात्। ननु परोक्षस्य स्मृत्यादिभेदेन परिगणितत्वात् उपमानादीनां प्रमाणान्तरत्वमेवे-

---

१ अभावो अभावप्रमाणपरिच्छेद्यः—तथाविधविषयात्। २ भावेन परिच्छेद्योऽभावेन वेति। ३ तथाविधविषयत्वात्। ४ पदार्थात्। ५ अभावस्य। ६ इन्द्रियाणाम्। ७ असदंशेन। ८ रश्मि। ९ यथा रूपादेरत्यन्तमभेदोस्ति, एवं भावाभावधर्मयोरत्यन्तमभेदो नास्ति। १० धर्मस्यात्यन्तमभेदो नास्तीति कुतः?। ११ स्वकीयप्रमाणाभ्यामुभयधर्मयोरपि ग्रहणं कस्मान्न स्यादित्युक्ते आह। १२ सदसदंशयोः। १३ प्रत्यक्षादिप्रमाणैः। १४ अग्रहणं च। १५ अभावरूपम्। १६ सौगतेन। १७ दृष्टान्तमाह। १८ बौद्धानाम्। १९ सौगतमतप्रसिद्धप्रमाणद्वैविध्याव्यवस्थितिप्रकारेण। २० जैनस्य। २१ वयं जैनाः। २२ शब्दादि धर्मि व्यक्तिभेदेप्येकं भवत्येकलक्षणलक्षितत्वात्। २३ स्पर्शनादि।

त्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; तेषामत्रैवान्तर्भावात्। उपमानस्य हि प्रत्यभिज्ञानेन्तर्भावो वक्ष्यते।

अर्थापत्तेस्त्वनुमानेऽन्तर्भावः; तथा हि—अर्थापत्त्युत्थापकोऽर्थो[1]ऽन्य[2]थानुपपद्यमानत्वेनानवगतः, अवगतो वाऽदृ[3]ष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तं[4] स्यात्? न तावदनवगतः; अतिप्रसङ्गात्। येन[5] हि विनोपपद्यमानत्वेनावगतस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्, अन्यथानुपपद्यमानत्वेनानवगतस्यार्थापत्त्युत्थापकार्थस्यान्यथानुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासम्भवात्। सम्भवे वा लिङ्गस्या[6]प्यनिश्चिताविनाभावस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यात्[7]। ततश्चेदं[8] नार्थापत्त्युत्थापकार्थाद् भिद्येत। नाप्यवगतः; अ[9]र्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गादेव, अविनाभावित्वेन प्रतिपन्नादेकस्मात्सम्बन्धि[10]नो द्वितीय[11]प्रतीतेरुभयत्राविशेषात्।

किञ्च, अस्या[12]न्यथा[13]नुपपद्यमानत्वावगमोऽर्थापत्तेरेव, प्रमाणान्तराद्वा? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः; तथाहि—अन्यथानुपपद्यमानत्वेन प्रतिपन्नाद[14]र्थादर्थापत्तिप्र[15]वृत्तिः, तत्प्रवृत्तेश्चास्यान्यथानुपपद्यमानत्वप्रतिप[16]त्तिरिति। ततो[17] निराकृतमेतत्[18]—

"अ[19]विनाभाविता चात्र[20] तदैव परिगृह्यते।
न प्राग[21]वगतेत्येवं सत्य[22]प्येषा न का[23]रणम्[24]॥ १ ॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३०]

"[25]तेन[26] सम्बन्धवेलायां[27] सम्बन्ध्य[28]न्यतरो[29] ध्रुवम्।
अर्थापत्त्यैव गन्तव्यः[30] पश्चाद्[31]स्त्वनुमानता॥"
[मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३३] इति।

---

१ अधःपूरादिः। २ उपरि वृष्टिं विना। ३ उपरि वृष्ट्यादिलक्षण। ४ कारणम्। ५ रासभागमनादिना। ६ धूमादेः। ७ नालिकेरद्वीपायातं नरं प्रति। ८ लिङ्गम्। ९ अन्यथा। १० धूमादिहेतोरधःपूरादिकल्पकाद्वा। ११ अग्न्यादिसाध्यस्योपरिवृष्ट्यादिकल्प्यस्य वा। १२ अधःपूरादेः। १३ उपरि वृष्ट्यादिकं विना। १४ अधःपूरात्। १५ अर्थापत्त्युत्थापकार्थावगमः। १६ अर्थस्य। १७ अन्योन्याश्रयो यतः। १८ वक्ष्यमाणम्। १९ अर्थापत्त्यनुमानयोरभेदः—निश्चिताविनाभाविलिङ्गप्रभवत्वाविशेषादित्युक्ते आह परः। २० अर्थापत्तिकल्पितेऽधःपूरादौ। २१ अर्थापत्त्युत्पत्तेः पूर्वमविनाभाविता नावसिता। २२ सती। २३ अर्थापत्तिं प्रति। २४ अतोऽनुमानादर्थापत्तेर्भेदः। २५ सम्बन्धे गृहीतेर्थापत्तेरनुमानरूपता भविष्यतीत्युक्ते आह। २६ येन कारणेनाविनाभाविताऽर्थापत्तिसमये एव गृह्यते तेन कारणेन सम्बन्धे। २७ ग्रहणस्य। २८ अनुमानस्य। २९ सम्बन्धिनोर्वृष्टिपूरयोर्मध्ये अन्यतरो वृष्टिः। ३० पूर्वमर्थापत्तिरेवेत्यर्थः। ३१ उत्तरकालं चेत् तदा।

अथ प्रमाणान्तरात्तदवगमः[1]; तत्किं भूयोदर्शनम्, विपक्षे[2]ऽनुपलम्भो वा? आद्यविकल्पे क्वास्य[3] भूयोदर्शनम्-साध्यधर्मिणि[4], दृष्टान्तधर्मिणि[5] वा? न तावदाद्यः पक्षः; शक्तेरतीन्द्रियतया साध्यधर्मिण्यस्य[6] तदविनाभावित्वेन[7] भूयोदर्शनासम्भवात्। द्वितीयपक्षोऽप्यत एवायुक्तः। किञ्च, दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं भूयोदर्शनं साध्यधर्मिण्यप्यस्या[8]न्यथा[9]ऽनुपपन्नत्वं निश्चाययति, दृष्टान्तधर्मिण्येव[10] वा? तत्रोत्तरः पक्षोऽयुक्तः; न खलु दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितान्यथा[11][12]ऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थो[13]ऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथात्वेनानिश्चितः स्वसाध्यं[14] प्रसाधयति अतिप्रसङ्गात्[15]। प्रथमपक्षे तु लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकार्थयोर्भेदाभावः स्यात्।

ननु लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिणि[16] प्रवृत्तप्रमाण[17]वशात्सर्वोपसंहारेण[18] स्वसाध्यनियतत्व[19]निश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य तु साध्यधर्मि[20]ण्येव प्रवृत्तप्रमाणात्[21]सर्वोपसंहारेण[22]दृष्टार्थान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चय[23] इत्यनयोर्भेदः; नैतद्युक्तम्; न हि लिङ्गं सपक्षानुगम[24][25]मात्रेण गमकम् वज्रस्य[26] लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्ववत्, श्यामत्वे तत्पुत्रत्ववद्वा। किं तर्हि? 'अन्तर्व्याप्तिबलेन[27]' इति प्रतिपादयिष्यते[28], तत्र[29] च किं सपक्षानुगमेनेति च[30]? तदभावे गमकत्वमेवास्य कथमिति चेत्? यथार्था[31]पत्त्युत्थापकार्थस्य[32]। तथा[33] चार्थापत्तिरेवाखिलमनुमानमिति षट्प्रमाणसंख्याव्याघातः। भवतु वा सपक्षानुगमा[34]ननुगमभेदः[35], तथापि नैतावता तयोर्भेदः[36], अन्यथा[37] पक्षधर्मत्वसहि-

---

१ अर्थापत्त्युत्थापकार्थाविनाभावावगमः। २ यत्र वृष्टिर्नास्ति स विपक्षस्तस्मिन्। ३ अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य कल्प्याविनाभूतकल्पकस्य। ४ साध्यधर्मो दहनशक्तिलक्षणोऽस्याग्नेरस्तीति साध्यधर्मी तस्मिन्। ५ दृष्टान्त एव धर्मी। ६ अग्नौ। ७ दाहस्य साधनस्य। ८ शक्त्या। ९ दृष्टान्ते धर्मिणि शक्त्याविनाभूतस्फोटलक्षणकल्पकाऽदर्शनादेव। १० दाहस्य। ११ शक्तिं विना। १२ शक्तिं विना। १३ दाहः। १४ दाहस्य शक्तिम्। १५ मैत्रपुत्रत्वादेरपि स्वसाध्यं प्रति गमकत्वप्रसङ्गात्। १६ महानसादौ। १७ प्रत्यक्ष। १८ यो यो धूमवान्स सोऽग्निमानिति। १९ अविनाभाव। २० पक्षे। २१ अर्थापत्तिरूपात्। २२ यो यः स्फोटः स सर्वोऽपि शक्तियुक्ताग्निकार्यः। २३ स्फोटस्य। २४ पाषाणकाष्ठादि। २५ अन्वय। २६ वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात्पाषाणवद्यल्लोहलेख्यं न तत्पार्थिवं न, यथाकाशम्। २७ अन्तर्व्याप्तिबलेनेति कोऽर्थः पक्षे एव साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः। २८ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणमित्यादिविचारावसरे। २९ अन्तर्व्याप्तिबलेनैव गमकत्वे च। ३० प्रतिपादयिष्यते। ३१ यथार्थापत्त्युत्थापकस्यान्तर्व्याप्तिबलेन गमकत्वं तथा लिङ्गस्यापि। ३२ दाहस्य। ३३ दृष्टान्ताभावे हेतोर्गमकत्वं च। ३४ दृष्टान्ते। ३५ अर्थापत्तेः। ३६ अर्थापत्त्यनुमानयोः। ३७ एतावता भेदश्चेत्।

ताया अर्थापत्तेस्तद्रहितार्थापत्तिः प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणसंख्याव्याघातः। अस्ति चार्थापत्तिः पक्ष[1]धर्मत्वरहिता—

"नदी[2]पूरोऽप्य[3]धोदेशे दृष्टः सन्नुपरि स्थिताम्।
निर्य[4]स्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं निया[5]मिकाम्॥ १॥
पित्रोश्च[6] ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणताऽनुमा[7]।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥ २॥
एवं[8] यत्पक्षधर्मत्वं ज्येष्ठं हेत्वङ्गमिष्यते।
तत्पूर्वोक्तान्य[9]धर्मस्य दर्शनाद्व्यभिचा[10]र्यते॥ ३॥" [ ]

इत्यभिधानात्।

नियमव[11]तोऽर्थान्तरप्रतिपत्तेरविशेषात्त[12]योरभेदे स्वसाध्याविनाभाविनोऽर्था[13]दर्था[14]न्तरप्रतिपत्तेरत्रा[15]प्यविशेषात्कथमनुमानादर्थापत्तेर्भेदः स्यात्? अथ विपक्षेऽनु[16]पलम्भात्तस्या[17]न्यथानुपपद्यमानत्वावगमः; न[18]; पार्थिवत्वादे[19]रप्ये[20]वं स्व[21]साध्याविनाभावित्वावगमप्रसङ्गात्, विपक्षे[22]नुपलम्भस्याविशेषात्, [23] सर्वात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धानैकान्तिकत्वाच्च। नन्वेवं सकलानुमानोच्छेदः, अस्तु नाम तस्यायम् यो[24] भू[25]योदर्शनाद्विपक्षेऽनुपलम्भाद्व्याप्तिं प्रसाधयति नास्माक[26]म्, प्रमाणान्तरा[27]त्तत्प्रसिद्ध्यभ्युपगमाद्। भ[28]वतोपि ततस्तदभ्युपगमे प्रमाणसंख्याव्याघातः।

न[29]नु वह्निस्वरू[30]पस्याध्यक्षत एव प्रसिद्धेस्त[31]दतिरिक्तातीन्द्रियशक्तिसद्भावे प्रमाणाभावात्कथं तत्रार्थापत्तेः प्रामाण्यम्? निजा हि

१ हेतोर्व्याप्यवृत्तित्वं पक्षधर्मत्वम्। २ उपरि वृष्टो देवो नदीपूरदर्शनान्यथानुपपत्तेरित्येतस्य अपक्षधर्मत्वं भिन्नदेशत्वात्। यत्र देशे वृष्टिस्तत्र नदीपूरो न। यत्र नदीपूरस्तत्र वृष्टिर्न। अत्र पक्षः उपरिदेशः। ३ पुनः। ४ व्याप्यः। ५ व्यापिकाम्। ६ पुत्रो ब्राह्मणः—पित्रोर्ब्राह्मण्यान्यथानुपपत्तेः। ७ अनुमा अर्थापत्तिः। अप्रत्यक्षा नो बुद्धिरित्याद्यभिधानात्। ८ उक्तप्रकारेण। ९ अन्यस्य पक्षाद्व्यतिरिक्तस्य धर्मो नदीपूरः पितृब्राह्मण्यं च। पूर्वोक्तो नदीपूरादिः स चासावन्यधर्मश्च तस्य। १० यो यो हेतुः स स पक्षधर्मत्वसहित इत्यस्य व्यभिचारः। पक्षधर्मरहितोपि हेतुर्विद्यते यतः। ११ स्फोटात्पूराच्च। १२ पक्षधर्मसहितासहितार्थापत्त्योः। १३ लिङ्गात्पूराच्च। १४ अग्निवृष्ट्योः। १५ अनुमानेऽर्थापत्तौ च। १६ आकाशे लोहलेखित्वस्याभावात्। १७ दाहस्य। १८ इति चेन्न। १९ साधनस्य। २० अलोहलेख्ये आकाशलक्षणे विपक्षे पार्थिवत्वस्यानुपलम्भप्रकारेण। २१ वज्रस्य लोहलेखित्व। २२ गगने। २३ विपक्षेनुपलम्भः सर्वसम्बन्धीत्यादिप्रकारेण। २४ परः। २५ दृष्टान्ते। २६ जैनानाम्। २७ ऊहात्। २८ मीमांसकस्य। २९ नैयायिकः। ३० वह्नित्वस्य। ३१ स्वरूपातिरिक्त।

शक्तिः पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव त[1]दभिसम्बन्धादेव तेषां कार्यकारित्वात्। अ[2]न्त्या तु च[3]रमसहकारिरूपा, तत्सद्भावे कार्यकरणादभावे चाकरणात्। तथाहि-सन्तोपि तन्तवो न कार्यमारभन्ते अन्त्यतन्तुसंयोगं विनेति सैव शक्तिस्तेषाम्। न[4]नु कथमर्थान्तरमर्थान्त[5]रस्य शक्तिः? अ[6]नर्थान्तरत्वेपि समानमेतत्-'स[7] एव त[8]स्यैव न शक्तिः' इति। अथ यदि पूर्वेषां सहकार्येव शक्तिस्तर्हि तस्याप्यशक्त[9]स्याकारणत्वादन्या शक्तिर्वाच्येत्यनव[10]स्था; तदयुक्तम्; चरमस्य हि सहकारिणः पूर्वसहकारिण एव शक्तिः इतरेतराभिसम्बन्धेन कार्यकरणात्। स एव स[11]मग्राणां भावः सामग्रीति भावप्रत्ययेनोच्यते, तेन स[12]ता स[13]मग्रव्यपदे[14]शात्।

किञ्च, असौ शक्तिर्नित्या, अनित्या वा स्यात्? नित्या चेत्सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तथा च सहकारिकारणापेक्षा व्यर्थार्थानाम् तल्लाभात्प्रागेव कार्यस्योत्पन्नत्वात्। अथानित्यासौ; कुतो जायते? शक्तिमतश्चेत्; किं शक्तात्, अशक्ताद्वा? शक्ताच्चेच्छक्त्यन्तरपरिकल्पनातोऽन[15]वस्था स्यात्। अशक्तात्तदुत्पत्तौ का[16]र्यमेव तथाविधात्ततः किन्नोत्पद्येत? अलमतीन्द्रियशक्तिकल्पनया।

तथा, शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात्? अभिन्ना चेत्; शक्तिमात्रं शक्तिमन्मात्रं वा स्यात्? भिन्ना चेत्; 'तस्येय[17]म्' इति व्यपदेशाभावः अनुपकारात्। उपकारे वा तया तस्योपकारः, तेन वाऽस्याः? प्रथमपक्षे शक्तिमतः शक्त्योपकारोऽर्थान्तरभूतः, अनर्थान्तरभूतो वा विधीयते? अ[18]र्थान्तरभूतश्चेदनव[19]स्था, त[20]स्यापि

१ पृथिवीत्वादिस्वरूप। २ शक्तिः। ३ अन्त्य। ४ जैनादिः। ५ वीजस्य। ६ नैयायिकः। ७ वह्निः। ८ वह्नेः। ९ अपरसहकारिशक्त्यभावादशक्तः। १० अतीन्द्रियया शक्त्या शक्तिमतः उपकारः क्रियते इत्यस्मिन्पक्षे शक्त्या क्रियमाण उपकारः शक्तिमतो भिन्नश्चेत्तदानवस्था। कथम्? उपकारोपि शक्तिमतो भिन्नो यदि तदा शक्तिमतोऽयमुपकार इति सम्बन्धो न स्यात् भिन्नत्वात्। उपकारेणापि स्वसम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरं क्रियते चेत्तदा शक्तेनाऽशक्तेन वोपकारेणोपकारान्तरं क्रियते? न तावदशक्तेन-अशक्तस्योपकारकरणे अक्षमत्वात्। शक्तेन चेदुपकारेण स्वसम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरं विधीयते तर्हि यया शक्त्या स्वयं शक्तः उपकारः सापि भिन्नाऽभिन्ना वा? भिन्ना चेत्तदोपकारस्येयं शक्तिरिति न-तस्माद्भिन्नत्वात्। शक्त्यापि स्वसम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरं क्रियते इत्यादिप्रकारेणानवस्था। ११ कारणानाम्। १२ विद्यमानेन। १३ तन्तूनाम्। १४ इत्यनवस्था परिहृता। १५ यया शक्त्या शक्तिमान् शक्तः सापि नित्याऽनित्या वा? न तावन्नित्या-सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। अथानित्या, सापि कुतो जायेत? शक्तिमतश्चेच्छक्तादशक्ताद्वेत्यादिप्रकारेण। १६ स्फोटादि। १७ शक्तिः। १८ शक्तिमतः सकाशात्। १९ पूर्ववत्। २० न केवलं शक्तेः।

व्यपदेशार्थ[1]मुपकारान्तरपरिकल्प[2]नात् । अनर्थान्तरभूतोपकारकरणे तु स[3] एव कृतः स्यात् । तथा च न शक्तिमान[4]सौ तत्कार्यत्वाप्रसिद्धतत्[5]कार्यत्वात् । [6]शक्तिमतापि-शक्त्यन्तरान्वितेन, तद्रहितेन वा शक्तेरुपकारः क्रियते? आद्यपक्षे शक्त्यन्तराणां ततो भेदः, अभेदो वा? उभयत्रानन्तरोक्तोभयदोषानुषङ्गोऽनवस्था च । तद्रहितेनानेन शक्तेरुपकारे तु प्राच्यशक्तिकल्पनाप्यपा[7]र्थिका तद्व्यतिरेकेणैव का[8]र्यस्याप्युत्पत्तेरुपका[9]रवत् । शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदपरिकल्पनायां विरोधादिदोषानुषङ्गः ।

तथा, असौ किमेका, अनेका वा? तत्रैकत्वे शक्तेर्युगपदनेककार्यो[10]त्पत्तिर्न स्यात् । अनेकत्वेपि अनेकशक्तिमात्मन्यर्थोनेकशक्तिभिर्बिभृयादित्यनवस्था[11]प्रसङ्ग इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । किं ग्राहकप्रमाणाभावाच्छक्ते[12]रभावः, अतीन्द्रियत्वाद्वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिजनितानुमा[13]नस्यैव तद्ग्राहकत्वात् । ननु सा[14]मग्र्यधीनोत्पत्तिकत्वात्कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिर्यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो नास्मा[15]भिः सामग्र्याः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते, किन्तु प्रतिनियतायास्तस्याः प्रतिनियतकार्यकारित्वम् अतीन्द्रियशक्तिसद्भावमन्तरेणासम्भाव्यमित्यसावप्यभ्युपगन्तव्या । कथमन्य[16]था प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेप्यग्निः स्फोटादिकार्यं न कुर्यात् सामग्र्यास्तत्रापि सद्भावात्? तेन[17][18] ह्यग्नेः स्वरूपं प्रतिहन्यते, सहकारिणो वा? न तावदाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः; अग्निस्वरूपस्य तदवस्थतयाध्यक्षेणैवाध्यवसायात् । नापि द्वितीयः; सहकारिस्वरूपस्याप्यङ्गुल्यग्निसंयोगलक्षणस्याविकलतयोपलक्षणात् । अतः शक्तेरेवानेन[19] प्रतिबन्धोभ्युपगन्तव्य[20]ः ।

---

१ शक्तिमतोऽयमुपकार इति सम्बन्धव्यपदेशार्थम् । २ उपकारस्य । ३ शक्तिमान् । ४ वह्निः । ५ उपकारवत् । ६ द्वितीयपक्षे । ७ निष्फला । ८ स्फोटादेः । ९ शक्तिरहितेन शक्तिमताऽग्निना उपकारस्योत्पत्तिर्यथा । १० अन्धकारनाश, अर्थप्रकाश, वर्त्तिकादाह, तैलशोषादि । ११ अर्थोऽनेकशक्तीरेकशक्त्या बिभर्त्ति चेत्तदानेकशक्तीनामेकत्वप्रसङ्गः—एकशक्त्या याप्यमानत्वात्तदन्यतमशक्तिवत् । १२ अतीन्द्रियायाः । १३ वह्निलक्षणोर्थो दहनशक्तियुक्तस्ततः स्फोटादिकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरिति । १४ समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां परस्परसम्बन्धलक्षणा सामग्री । १५ जैनैः । १६ अतीन्द्रियशक्त्यभावेपि सामग्र्याः कार्यकारित्वे । १७ सामग्र्याः प्रतिबन्धकसन्निधाने सद्भावो नास्तीत्युक्ते आह । १८ प्रतिबन्धकेन । १९ प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिना । २० परेण भवता ।

ननु चानेन[1] नाग्नेः सहकारिणो वा स्वरूपं प्रतिहन्यते, किन्तु स्वभाव[2] एव निवर्त्यते, अतः स्फोटादिकार्यस्यानुत्पत्तिः प्रतिबन्धकमणिमन्त्राद्यभावस्यापि तदुत्पत्तौ सहकारित्वात् तदभावे[3] तदनुत्पत्तेः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; उत्तम्भक[4]मणिसन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्[5]। न खलु तदा[6] प्रतिबन्धकमण्याद्यभावोस्ति प्रत्यक्षविरोधात्। ननु यथाग्निः प्रतिबन्धकमण्याद्यभावसहकारी स्फोटादिकार्यं करोति, एवं प्रतिबन्धकमण्यादिः उत्तम्भकमण्याद्यभावसहकारी तत्प्रतिबन्धं करोति, अतो न तत्सन्निधाने कार्यस्यानुत्पत्तिरिति। अस्तु नामैतत्; तथापि–प्रतिबन्धकोत्तम्भकमणिमन्त्रयोरभावेऽग्निः स्वकार्यं करोति, न वा? न तावदुत्तरः पक्षः; प्रत्यक्षविरोधात्। प्रथमपक्षे तु कस्याभावः अग्नेः सहकारी–तयोरन्यतरस्य, उभयस्य वा? न तावदुभयस्य; अन्यतरा[9]भावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। अन्यतरस्य चेत्किं प्रतिबन्धकस्य, उत्तम्भकस्य वा? प्रतिबन्धकस्य चेत्; स एवोत्तम्भकमण्यादिसन्निधाने कार्यानुत्पादप्रसङ्गः तदा तस्याभावाप्रसिद्धेः। उत्तम्भकस्य चेत्; अत्राप्ययमेव दोषः। न चाभावस्य कार्यकारित्वं घटते[10] भावरूपतानुषङ्गात्[11], अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्[12]।

कश्चास्या[13]भावः कार्योत्पत्तौ सहकारी स्यात्–किमितरेतराभावः, प्रागभावो वा स्यात्, प्रध्वंसो वा, अभावमात्रं वा? न तावदितरेत[14]राभावः; प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधानेप्यस्य सम्भवात्। नापि प्रागभावः; तत्प्रध्वंसोत्तरकालं कार्योत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्। नापि प्रध्वंसः प्रतिबन्धकमण्यादिप्रागभावावस्थायां कार्यस्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च भावादर्थान्तरस्याभावस्य सद्भावोस्ति, तस्या[15]नन्तरमेव निराकरिष्यमाणत्वात्। अतो निराकृतमेतत्–'यस्यान्वयव्यतिरेकौ कार्येणानुक्रियेते सोऽभावस्तत्र सहकारी सहकारिणामनियमात्[16]' इति।

---

१ प्रतिबन्धकेन। २ स्वस्य प्रतिबन्धकस्य भावः। ३ अभावरूपकारणाभावे।
४ कार्योत्थापक। ५ प्रतिबन्धकमण्याद्यभावस्य सहकारिणोऽभावात्। ६ उत्तम्भकमणि-
सन्निधानकाले। ७ प्रतिबन्धकाभावे उत्तम्भकसद्भावे चोभयसद्भावे च। ८ उत्तम्भ-
कस्याभावः सहकारी चेदित्यर्थः। ९ उत्तम्भकसद्भावे कार्यानुत्पादप्रसङ्गलक्षणः।
१० अभावः कार्यकारी चेत्तर्हीति शेषः। ११ तदोत्तम्भकस्याभावाविशेषाभावादुत्त-
म्भकसद्भावे कार्यं न स्याच्च। १२ सत्तासम्बन्धः प्रमाणसम्बन्धो वेत्यादि। १३ प्रति-
बन्धकस्य। १४ प्रतिबन्धक उत्तम्भको नेति। १५ तुच्छाभावस्य। १६ सहकारिणो
भावा अभावा एव वा भवन्तीति नियमो नास्ति।

कथं चैवंवादिनो[1] मन्त्रादिना कश्चित्प्रति प्रतिबद्धोऽप्यग्निः स एवान्यस्य स्फोटादिकार्यं कुर्यात्? प्रतिबन्धकाभावस्य सहकारिणः कस्यचित्[2]दप्यभावात्। न चास्मत्पक्षे[3]प्येतच्चोद्यं समानम्, वस्तुनोऽनेकशक्त्यात्मकत्वात्कस्याश्चित्केनचित्[4]कश्चित्[5] [प्रति] प्रतिबन्धेप्यन्यस्याः प्रतिबन्धाभावात्। नाप्यभावमात्रं सहकारि; वस्तुनोर्थान्तरस्याभावस्याभावे तद्गतसामान्यस्याप्यसम्भवात्। न चाभावस्य सामान्यं सम्भवति, द्रव्यगुणकर्मान्यतमरूपतानुषङ्गात्। ततः[6] प्रतिबन्धकमण्यादिप्रतिहतशक्तिर्वह्निः[8] स्फोटादिकार्यस्यानुत्पादकस्तद्विपरीतस्तूत्पादक इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

ततो निराकृतमेतत् 'कार्यं[7] स्वोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाभावोपकृतोभयवाद्यविवादास्पदकारक[9]व्यतिरिक्तानपेक्षम्, तन्मात्रा[10]दुत्पत्तावनुपपद्यमानबाधकत्वात्, यत्तु[11] यतो[12] व्यतिरिक्तम्[13]पेक्षते न तत्[14] तन्मात्रजत्वेऽनुपपद्यमानबाधकम् यथा तन्तुमात्रापेक्षया पटः, न च तथेदम्, तस्माद्यथोक्तसाध्यम्' इति; हेतोरसिद्धेः; तन्मात्रादुत्पत्तौ कार्यस्य प्रागुक्तन्यायेनानेकबाधकोपपत्तेः।

स्वरूपसहकारिव्यतिरेकेण शक्तेः प्रतीत्यभावादसत्त्वे वा स्रग्वनितादिदृष्टकारणकलापव्यतिरेकेणादृष्टस्या[15]प्यप्रतीतितोऽसत्त्वं स्यात्, तथा[16] चासाधारण[17]निमित्तकारणाय दत्तो[18] जलाञ्जलिः। कथं चैवंवादिनो[19] जगतो महेश्वरनिमित्तत्वं सिध्येत्? विचित्रक्षित्यादिदृष्टकारणकलापादेवाङ्कुरादिविचित्रकार्योत्पत्तिप्रतीतेः। अनुमानात्तस्य तन्निमित्तत्वसाधने शक्तेरप्यत[20] एव सिद्धिरस्तु। तथाहि–यत्कार्यम् तदसाधारणधर्माध्यासितादेव कारणादा[21]विर्भवति[22] सहकारीतर[23]कारणमात्राद्वा न भवति[24] यथा सुखा[25]ङ्कुरादि[26], कार्यं चेदं निखिलमाविर्भाववद्वस्त्विति। एतेनैवातीन्द्रियत्वा[27]त्तदभावो[28]ऽपास्तः।

यदप्युक्तम्–'पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव[29] निजा शक्तिः' इत्यादि; तदप्यपेशलम्; मृत्पिण्डादिभ्योपि पटोत्पत्तिप्रसङ्गात्

१ कार्योत्पत्तिं प्रत्यभावः सहकारीत्येवं वादिनः। २ प्रागभावादिरूपस्य। ३ जैन। ४ मन्त्रादिना। ५ नरं प्रति। ६ अभावः सहकारी विचार्यमाणो न घटते यतः। ७ स्फोटादिकार्यं धर्मि। ८ वह्नि। ९ अतीन्द्रियशक्तेः। १० कारकमात्रात्। ११ पटादिकार्यम्। १२ तन्तुभ्यः। १३ वेमादिकम्। १४ तन्तुमात्र। १५ पुण्यस्य। १६ पुण्यस्याऽसत्त्वे सति। १७ विशेष। १८ परेण भवता। १९ स्वरूपसहकारिव्यतिरेकेण शक्तेः प्रतीत्यभावः इत्येवंवादिनः। २० शक्ति। २१ पुण्यमहेश्वरादेः। २२ स्वपक्षसिद्धौ साध्यम्। २३ उपादान। २४ परपक्षप्रतिक्षेपे साध्यमिदम्। २५ सुखेऽदृष्टमसाधारणकारणम्। २६ अङ्कुरेऽसाधारणमीश्वरः। २७ द्वितीयविकल्पोयम्। २८ शक्त्यभावः। २९ सामान्यम्।

सह[1]कारीतर[2]शक्तेस्तत्राप्यविशेषात्। अथ न पृथिवीत्वादि[3]मात्रोपलक्षितानामर्थानां पटाद्युत्पत्तौ व्यापारो येनातिप्रसङ्गः स्यात्, तन्तुत्वाद्यसाधारणनिजशक्त्युपलक्षितानामेव तत्र[4] तेषां[5] व्यापारात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; तन्तुत्वाद्युपलक्षितानां दग्धकुथिताद्यर्थानामपि तज्जनकत्वप्रसङ्गात्[6]। अवस्थाविशेषसमन्वितानां तन्तूनां कार्यारम्भकत्वादयमदोषः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; शक्तिविशेषमन्तरेणावस्थाविशेषस्यैवासम्भवात्, अन्यथा[7] दग्धादि[8]स्वभावानामपि तेषां स स्यात्[9]।

यच्चोच्यते-शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि; तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ, पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां[10] द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्? तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव अनादिनिधनस्वभावत्वा[11]द्द्रव्य[12]स्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयैवार्थस्य कार्यकारित्वानुषङ्गः; द्रव्यशक्तेः केवलायाः[13] कार्यकारित्वानभ्युपगमात्[14]। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्तिः कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्[15]परिणतिश्चास्य सहकारि[16]कारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्तदैव[17] भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा। कथमन्यथा अदृष्टेश्वरादेः केवलस्यैव सुखादिकार्योत्पादनसामर्थ्ये[18] सर्वदा कार्योत्पादकत्वं सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा न स्यात्?

यदप्यभिहितम् शक्तादशक्ताद्वा तस्याः[19] प्रादुर्भाव इत्यादि; तत्र शक्ता[20]देवास्याः प्रादुर्भावः। न चानवस्था दोषाय; बीजाङ्कुरादिवदनादित्वा[21]त्तत्प्रवाहस्य। वर्त्तमाना हि शक्तिः प्राक्तनशक्तियुक्तेनार्थेनाविर्भाव्यते, सापि प्राक्तनशक्ति[22]युक्तेनेति पूर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोत्तरावस्थाप्रादुर्भाववत्। कथं चैवं[23]वादिनोऽदृष्टस्याप्याविर्भावो घटते? तद्ध्यात्मना अदृष्टान्तरयुक्तेना-

---

१ चक्रचीवरादि। २ पृथिवीत्वादि। ३ अहन्त्वादि। ४ पटादौ। ५ तन्त्वाद्यर्थानाम्। ६ तन्तुत्वाद्यविशेषात्। ७ शक्तिविशेषं विनावस्थाविशेषो भविष्यति चेत्। ८ शक्तिरहित। ९ तथा च सति पटादिजनकत्वप्रसङ्गः स्यात्। १० द्रव्यशक्तिः पर्यायशक्तिरसिद्धेत्युक्ते सत्याह। ११ द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्। १२ परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्यमूर्द्धता मृदिव स्थासादिषु। १३ पर्यायशक्तिरहितायाः। १४ जैनैः। १५ कथमिति चेदाह। १६ स्रग्वनितादि। १७ सहकारिकारणानन्तरम्। १८ परेणाङ्गीकृते सति। १९ शक्तेः। २० शक्तिमतः। २१ शक्ति। २२ अर्थेन। २३ शक्तादशक्ताद्वेत्येवंवादिनः।

विर्भाव्यते, तद्रहितेन वा? प्रथमपक्षे[1]ऽनवस्था। द्वितीयपक्षे तु मुक्तात्मवत्तस्य[2] तज्जनकत्वासम्भवः[3]।

किञ्च, कथं वा महेश्वरस्याखिलकार्यकारित्वम्? सहकारि[4]रहितस्य तत्कारित्वे सकलकार्याणामेकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तत्सहितस्य तत्कारित्वे तु तेपि सहकारिणोऽन्यसहकारिसहितेन[5] कर्त्तव्या इत्यनवस्था। पूर्वपूर्वादृष्टसहकारिसमन्वितयोरात्मेश्वरयोः उत्तरोत्तरादृष्टाखिलकार्यकारित्वे निखिलभावानां पूर्वपूर्वशक्तिसमन्वितानामुत्तरोत्तरशक्त्युत्पादकत्वमस्तु, अलं मिथ्याभिनिवेशेन[6]।

यच्चान्यदुक्तम्–शक्तिः शक्तिमतो भिन्नाऽभिन्ना वेत्यादि; तदप्ययुक्तम्; तस्यास्तद्वतः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्[7]। शक्तिमतो हि शक्तिर्भिन्ना तत्प्रत्यक्षत्वेप्यस्याः प्रत्यक्षत्वाभावात्, कार्यान्यथानुपपत्त्या[8] तु प्रतीयमानासौ। तद्वतो[9] विवेकेन[10] प्रत्येतुमशक्यत्वादभिन्नेति। न चात्र[11] विरोधाद्यवतारः; तदात्मकवस्तुनो[12] जात्यन्तरत्वात्[13] मेचकज्ञानवत्सामान्यविशेष[14]वच्च[15]।

यत्पुनरुक्तमेकानेका वेत्यादि, तत्रार्थानामनेकैव शक्तिः। तथाहि–अनेकशक्तियुक्तानि कारणानि विचित्रकार्यत्वा[16]न्नार्थवत्। विचित्रकार्याणि वा कारणशक्तिभेदनिमित्तकानि तत्त्वाद्धि[17]भिन्नार्थकार्यवत्। न[18] हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्, यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा[19] क्षणस्थितेरेकस्मादपि प्रदीपादेर्भावाद् वर्त्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि तच्छक्तिभेदनिमित्तकानि[20] व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा[21] रूपादेर्नानात्वं न स्यात्। चक्षुरादि[22]सामग्रीभेदादेव हि तज्ज्ञानप्रतिभासभेदः स्यात्, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावरहितमेकमनंशमेव स्यात्। चक्षुरादिबुद्धौ[23]

---

१ अदृष्टान्तरपरिकल्पनया आत्मन इति पक्षे। २ संसार्यात्मनः। ३ अदृष्टरहितत्वात्। ४ अदृष्टविशेष। ५ महेश्वरेण। ६ अनवस्थाद्यापादनेन। ७ जैनैः। ८ अग्निं विना धूमवत्। ९ पदार्थात्। १० भेदेन। ११ शक्तेः कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षे। १२ भेदाभेद। १३ भेदादभेदाद्वा जात्यन्तरत्वात्। १४ दहनो दाहशक्तियुक्तो दाहान्यथानुपपत्तेः[?]। १५ स्वव्यक्तिष्वनुस्यूतत्वात्सामान्यरूपता गोत्वस्य। अश्वत्वादिभ्यो व्यावर्त्तमानत्वाद्विशेषरूपता यथा तथा सर्वत्र प्रतिपत्तव्यम्। सामान्यमेव विशेषस्तस्यैव तद्वत्। १६ विचित्राणि कार्याणि येषां तानि विचित्रकार्याणि तेषां भावस्तत्त्वं तस्माद्धेतोः। १७ विचित्रकार्यत्वात्। १८ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। १९ तैलशोषादिशक्तिभेदं विनापि–तैलशोषादिकार्याणि स्युरिति चेत्। २० तैलशोषादि। २१ तैलशोषादिशक्तिं विनापि शक्तिभेदनिमित्तकानि यदि तैलशोषादिकार्याणि स्युः। २२ किन्तु। २३ रूपादिस्वभावसमर्थनार्थं परः प्राह।

प्रतिभासमानत्वाद्रूपादेः कथं कर्कटिकादिद्रव्यस्य तद्रहितत्वमिति चेत्? तर्हि तैलशोषादिविचित्रकार्यानुमानबुद्धौ[1] शक्तिनानात्वस्याप्यर्थानां प्रतीतेः कथं तद्रहितत्वं स्यात्? प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादय एव परमार्थसन्तो न त्वनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तयः[2]; इत्यपसु(प्यसु)न्दरम्; अदृष्टेश्वरादेरपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। प्रदीपादिद्रव्यस्यैकस्य वर्त्तिकादिसहकारिसामग्रीभेदात्तद्दाहादिकार्यनानात्वं न पुनस्तच्छक्तिस्वभावभेदात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; रूपादेरप्यभावप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसामग्रीभेदाद्रूपादिप्रत्यय[3]प्रतिभासभेदो, न पुना रूपा[4]द्यनेकस्वभावभेदादिति। तन्न प्रमाणप्रतिपन्नत्वाद्रूपादिवच्छक्तीनामपलापो युक्त इति।

यत्पुनरर्थापत्त्यर्थापत्तेरुदाहरणं वाचकसामर्थ्यात्तं[5]न्नित्यत्वज्ञानमुक्तम्; तदप्ययुक्तम्; वाचकसामर्थ्यस्य तत्[6]प्रत्यनन्यथा[7]भवना[8]सिद्धेः। निराकरिष्यते चाग्रे नित्यत्वं शब्दस्येत्यलमतिप्रसङ्गेन।

याप्यभावार्थापत्तिः–जीवंश्चैत्रोऽन्यत्रास्ति गृहे[9]ऽभावादिति; तत्रापि किं गृहे यत्तस्य जीवनं तदेव गृहे चैत्राभावस्य विशेषणम्, उतान्यत्र[10]? प्रथमपक्षे तत्राभावस्य विशेष्यस्यासिद्धिः, यदा[11] हि चैत्रो गृहे जीवति कथं तदा तत्र तदभावो येनासौ[12] तेन[13] विशेष्येत? यदा च तत्र तदभावो, न तदा तत्र तज्जीवनमिति। द्वितीयपक्षे[14] तु विशेषणस्या[15]सिद्धिः, न[16] खलु चैत्रस्यान्यत्र[17] यज्जीवनं तदर्थापत्त्युदयकाले तथाविधप्रदेश[18]विशेषणत्वेन कुतश्चित्[19]प्रतीयते[20] अर्थापत्ते[21]र्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। येनैव[22] हि प्रमाणेन तज्जीवनं प्रतीयते तेनैव तत्सद्भावोऽपि[23]। न ह्य[24]प्रतिपन्ने देवदत्ते तद्धर्मो जीवनं प्रत्येतुं शक्यम् अतिप्रसङ्गात्[25]। न चाप्रतीतस्य[26] विशेषणत्वमतः[27] एव। अर्थापत्त्यैव

१ प्रदीपो नानाशक्तियुक्तः तैलशोषादिनानाकार्यान्यथानुपपत्तेरिति। २ दूषणभीत्यैवं वचः। ३ ज्ञाने। ४ निरंशत्वप्रतिपादनाय। ५ शब्द। ६ शब्दनित्यत्वं प्रति। ७ अन्यथा नित्यत्वं विना न भवनं तस्य। ८ अविनाभावस्यासिद्धेः। ९ जीवतः। १० बहिर्जीवनम्। ११ विशेष्यस्यासिद्धिमुद्भावयन्ति। १२ चैत्राभावः। १३ गृहजीवनेन। १४ चैत्रस्य बहिर्जीवनं चैत्राभावविशेषणमित्यस्मिन्पक्षे। १५ जीवनस्य। १६ असिद्धिमेव प्रदर्शयन्ति। १७ बहिः। १८ अन्यप्रदेश। १९ प्रमाणात्। २० विद्वद्भिः। २१ अन्यथा। २२ अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गमेव सूचयन्ति। २३ अतोऽर्थापत्त्या चैत्रसद्भावपरिकल्पनं व्यर्थम्। २४ जीवनमेव प्रतीयते न तत्सद्भाव इति परेणोक्ते जैनः प्राह। २५ मेरुप्रतीत्यभावेपि तद्रूपादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। २६ जीवनस्य। २७ दण्डाऽज्ञाने दण्डिज्ञानप्रसङ्गात्।

त[1]त्सिद्धावितरेतराश्रयः–सिद्धे हि तया तस्यान्यत्र जीवने त[2]द्विशेषिता[3]त्तत्प्रदेशाभावादर्थापत्त्युदयः, ततश्च तत्सिद्धिरिति।

अथ न निश्चितं सज्जीवनं तद्ग्रहाभावविशेषणं येना[4]यं दोषः, किन्तु 'य[5]दि गृहेऽसन् जीवति तदान्यत्रास्ति' इत्यभिधीयते; तर्हि संशयरूपत्वा[6]त्तस्याः कथं प्रामाण्यम्[7]? या[8] तु प्रमाणं सानुमानमेव। पञ्चा[9]व[10]यवत्वमप्यत्र सम्भवत्येव। तथाहि–जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभावो बहिस्तत्सद्भावपूर्वकः जीव[11]तो गृहेऽभावत्वात् प्राङ्गणे स्थितस्य गृहे जीवदभाववत्। यद्वा, देवदत्तो बहिरस्ति गृहासंसृष्टजीवनाधारत्वा[12]त्स्वात्मवत्। कथं पुनर्देवदत्तस्यानुपलभ्यमानस्य जीवनं सिद्धं येन त[13]द्धेतुविशेषणमित्यसत्; प्र[14]सङ्गसाधनोपन्यासात्।

यच्च निषे[15]ध्याधारव[16]स्तुग्रहणा[17]दिसामग्रीत इत्याद्युक्तम्; तत्र निषेध्याधारो वस्त्व[18]न्तरं प्रयोगि[19]संसृष्टं प्रतीयते, असंसृष्टं वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; प्रतियोगिसंसृष्टवस्त्वन्तरस्या[20]ध्यक्षेण प्रतीतौ तत्र त[21]दभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाणप्रवृत्तिविरोधात्। प्रवृत्तौ वा न प्रा[22]माण्यम्; प्रतियोगिनः सत्त्वेपि तत्प्रवृत्तेः। द्वितीयपक्षे तु अभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनोऽभावप्रतिपत्तेः। अथ प्रतियोग्यसंसृष्टता[23]वगमो वस्त्वन्तरस्या[24]भावप्रमाणसम्पाद्यः; तर्हि त[25]दप्यभावप्रमाणं प्रतियोग्यसंसृष्टवस्त्वन्तरग्रहणे सति प्र[26]वर्तेत, तदसंसृष्टतावगमश्च पुनरप्यभावप्रमाणसम्पाद्य इत्यनवस्था। प्रथमाभावप्रमाणात्तदसंसृष्टतावगमे चान्यो[27]न्याश्रयः।

---

१ बहिर्जीवन। २ बहिर्जीवन। ३ गृह। ४ इतरेतराश्रयः। ५ यदि जीवति तदा बहिरस्ति यदि न जीवति तदा नास्तीत्यर्थः। ६ जीवनस्य संशयितत्वात्। ७ अन्यत्र जीवनानिश्चयात्। ८ एपार्थापत्तिर्यथाऽप्रमाणं तथा सर्वाप्यप्रमाणं स्यादित्याशंकायामाह। ९ पञ्चावयववत्त्वाभावे कथमर्थापत्तेरनुमानत्वमिति परेणोक्ते सत्याह। १० प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। ११ मृतेन व्यभिचारपरिहारार्थमेतत्। १२ प्रमातृस्वरूपवत्। १३ अभावरूपहेतोः। १४ साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र (अर्थे) प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। १५ घट। १६ भूतल। १७ आदिपदेन प्रतिषेध्यस्मरणमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य घटादेरनुपलम्भश्च। १८ भूतलम्। १९ घटेन। २० रहितम्। २१ घटाभाव। २२ अभावप्रमाणस्य। २३ अभावावगमः। २४ भूतलस्य। २५ आद्यम्। २६ उत्पद्येत। २७ प्रथमाभावप्रमाणात्प्रतियोग्यसंसृष्टतावगमः तदवगमश्च प्रथमाभावप्रमाणोदये इति।

[1]प्रतियोगिनोपि स्मरणं [2]वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य, असंसृष्टस्य वा ? यदि संसृष्टस्य; तदाऽभावप्रमाणा[3]प्रवृत्तिः । अथासंसृष्टस्य; ननु प्रत्यक्षेण वस्त्वन्तरासंसृष्टस्य प्रतियोगिनो ग्रहणे तथाभूतस्यास्य स्मरणं स्यान्नान्यथा । तथाभ्युपगमे च [4]तदेवाभावप्रमाणवैयर्थ्यं [5]'वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता' इत्यादिग्रन्थविरो[6]धश्च । [7]वस्तुमात्र[8]स्याध्यक्षेण ग्रहणाभ्यु[9]पगमे [10]प्रतियोगी[11]तरव्यवहारा[12]भावः ।

यदि चानु[13]भूतेपि [14]भावे प्रतियोगिस्मरणमन्तरेणा[15]भावप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तर्हि प्रतियोग्यप्यनुभूत एव स्म[16]र्त्तव्यो नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । तदनुभवश्चा[17]न्यासंसृष्टतयाऽभ्युपगन्त[18]व्यः, [19]तस्याप्य[20]न्यासंसृष्टताप्रतिपत्तिस्[21]ततोऽ[22]न्यत्र प्रतियोगिस्मरणात् तत्राप्ययमेव न्याय इत्यनव[23]स्था । [24]अथ प्रतियोगिनो भूतलस्य स्मरणाद् घटस्या[25]न्यासंसृष्टता प्रतीयते, तत्स्मरणाच्च भूतल[26]स्य तदेतरेतरा[27]श्रयः; तथाहि—न यावद्घटासंसृष्टभूभागप्रतियोगिस्मरणाद् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिर्न ताव[28]त्तत्स्मर[29]णाद्भूतलस्य घटासंसृष्टताप्रतिपत्तिः; यावच्च भूतलस्य घटासंसृष्टता न प्रतीयते न तावत्तत्[30]स्मरणेन घट[31]स्येति । ततो[32]ऽन्यप्रतियोगिस्मरणमन्तरेणैवा[33]भावांशो भावांशवत्प्रत्यक्षोऽभ्युपगन्तव्यः । [34]भूतलासंसृष्टघटदर्शनाहितसं[35]स्कारस्य च पुनर्घटासंसृष्टभूभागदर्शनानन्तरं तथाविधघटस्मरणे सति '[36]अस्या[37]भावः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभि[38]ज्ञानमेव । यदा तु स्वदु[39]रागमाहि-

---

१ स्मृत्वा च प्रतियोगिनमित्येतद्विचारयति । २ भूतल । ३ भूतलसम्बद्धप्रतियोगिसद्भावग्राहकत्वेनैव प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तेः । ४ पूर्वोक्तमेव । ५ आयातम् । ६ प्रत्यक्षेणैवाभावस्य प्रतीतत्त्वात् । ७ अनवस्थादिदूषणपरिहारं करोति । ८ भूतलमात्रस्य । ९ अनवस्थादिदोषभयात्परेण । १० घट । ११ भूतल । १२ भूतलस्य । १३ प्रत्यक्षप्रतिपन्ने । १४ भूतललक्षणे । १५ घटस्य । १६ परेण । १७ अन्येन पटेन । १८ परेण । १९ घटस्य । २० पटेन । २१ घटात् । २२ पटे । २३ ग्रन्थानवस्था स्यात् । २४ अनवस्थापरिहारार्थं परः प्राह । २५ भूभागेन । २६ अन्यासंसृष्टता प्रतीयते । २७ घटासंसृष्टभूभागप्रतियोगिस्मरणात् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिस्तस्यां सत्यां भूभागासंसृष्टघटप्रतियोगिस्मरणाद्भूतलस्य घटसंसृष्टताप्रतिपत्तिस्तस्यां सत्यां घटासंसृष्टभूभागस्मरणाद् घटस्य भूतलासंसृष्टताप्रतिपत्तिरित्यान्वयमुखेनेतरेतराश्रयः । २८ भूभागासंसृष्टघटप्रतियोगि । २९ दृष्टश्रुतानुभूतेर्थे स्मरणं चोपजायते । ३० घटासंसृष्टभूभाग । ३१ असंसृष्टताप्रतीतिः । ३२ इतरेतराश्रयो यतः । ३३ स्मर्यमाणघटस्य । ३४ प्रतियोगिस्मरणं विना जायमानं ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रतियोगिस्मरणानन्तरमुपजायमानमभावप्रमाणं भविष्यतीत्युक्ते आह । ३५ नरस्य । ३६ स्मर्यमाणघटस्य । ३७ भूभागे । ३८ दर्शनस्मरणकारणकत्वाविशेषात् । ३९ आविर्भावतिरोभावात्सर्वं सर्वत्र विद्यते इति ।

तत्संस्कारः साङ्ख्यस्तथा[१]ऽप्रतिपद्यमानः तत्प्रसिद्धसत्त्वरजस्तमोलक्षणविषयनिदर्शनोप[२]दर्शनेन अनुपलब्धिविशेषतः [३]प्रतिबो[४]ध्यते तदाप्यनुमानमेवेति क्वा[५]भावप्रमाणस्यावकाशः[६] ? ततोऽयुक्तमुक्तम्–'न चाध्यक्षेणाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नाप्यनुमानेन हेतोरभावात्' इति।

किञ्च, अभावप्रमाणेनाभावग्रहणे[७] तस्यैव प्रतिपत्तिः स्यान्न प्रति[८]योगिनिवृ[९]त्तेः। अभावप्रतिपत्तेस्तन्निवृत्तिप्रतिपत्तिश्चेत्; सा[१०] किं प्रतियोगिस्वरूपसम्बद्धा, असम्बद्धा वा? न तावत्सम्बद्धा; भावाभावयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धासंभवस्य वक्ष्यमाणत्वात्[११]। अथासम्बद्धा; तर्हि तत्प्रतिपत्तावपि कथं प्रतियोगिनिवृत्तिसिद्धिः अति[१२]प्रसङ्गात्? त[१३]न्निवृत्तेरप्यपरतन्निवृत्तिप्रतिपत्त्यभ्युप[१४]गमे चानवस्था[१५]।

यच्च 'प्रमाणपञ्चकाभावः, तद[१६]न्यज्ञानम्, आत्मा वा ज्ञाननिर्मुक्तोऽभावप्रमाणम्' इति त्रिप्रकारतास्येत्यु[१७]क्तम्; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपा[१८]ख्यत्वा[१९]त्कथं प्रमेयाभावं परिच्छिन्द्यात् [२०]परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात्? अथ प्रमाणपञ्चकाभावः प्रमेयाभावविषयं ज्ञानं जनयन्नुप[२१]चारादभावप्रमाणमुच्यते; न[२२]; अभावस्यावस्तुतया तज्ज्ञानजनकत्वायोगा[२३]त्। वस्त्वेव हि कार्यमुत्पाद[२४]यति नावस्तु, तस्य [२५]सकलसामर्थ्यविकलत्वात्खरविषाणवत्। सामर्थ्ये वा तस्य भावरूपताप्रसक्तिः, तल्लक्षणत्वात्परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्, सत्तासम्बन्धादे[२६]स्तल्लक्षणस्य निषेत्स्य[२७]मान-

---

१ अभावं प्रत्यक्षतः। २ दृष्टान्त। ३ अभावम्। ४ इह भूतले घटो नास्ति दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेः। यत्र यस्य दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धिस्तत्र तस्याभावो यथा तमसि सत्त्वस्य। ५ विषये। ६ प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानानुमानैरभावः प्रतीयते यतः। ७ सति। ८ घटाभावस्य। ९ प्रतिपत्तिः स्यात्। १० निवृत्तिः। ११ अनन्तरमेव प्रध्वंसाभावनिराकरणे। १२ निवृत्याऽसम्बद्धस्य प्रतियोगिनो घटस्य यथाऽभावः स्यात्तथा पटस्यापि निवृत्याऽसम्बद्धस्याभावप्रसङ्गः—उभयत्रासम्बद्धत्वाविशेषात्। १३ सा चासौ निवृत्तिश्च तन्निवृत्तिस्तस्याः सकाशात्। १४ परेण। १५ प्रतिपत्तिर्घटेन सम्बद्धाऽसम्बद्धेत्यादिप्रकारेण। १६ निषेध्याद्घटादन्यस्य भूतलस्य परिज्ञानम्। १७ परेण। १८ निःस्वभावत्वात्। १९ गगनाम्भोजवत्। २० निरुपाख्यः स्यात्प्रमेयाभावपरिच्छेदकश्च स्यादित्युक्ते सत्याह। २१ निमित्तेऽयमुपचारः प्रमाणभूतज्ञानजनकत्वेन प्रमाणं प्रमाणपञ्चकाभावो न साक्षात्प्रमाणमिति। २२ तन्न। २३ शशशृङ्गवत्। २४ सद्रूपत्वाद् मृत्पिण्डवत्। २५ देशकालस्वभावतया। २६ आदिशब्देन प्रमाणविषयत्वम्। २७ समवायनिराकरणप्रघट्टके।

त्वात्। न च यत्र प्रमाणपञ्चकाभावस्तत्रावश्यं प्रमेयाभावज्ञानमुत्पद्यते; पर[1]चेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्[2]।

किञ्च, प्रमाणपञ्चकाभावो ज्ञातः[3], अज्ञातो वा तज्ज्ञान[4]हेतुः स्यात्? ज्ञातश्चेत्कुतो ज्ञप्तिः? तद्विषय[5]प्रमाणपञ्चकाभावाच्चेत्[6]; अनवस्था[7]। प्रमेयाभावाच्चेदन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि प्रमेयाभावे प्रमाणपञ्चकाभावसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च प्रमेयाभावसिद्धिरिति। अज्ञातस्य च ज्ञापकत्वायोग[8]ः "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" [ ] इति प्रेक्षावद्भिरभ्युपगमात्, अन्यथातिप्रसङ्ग[9]ः। अक्षा[10]दे[11]स्तु कारकत्वा[12]दज्ञातस्यापि ज्ञानहेतुत्वाविरोधः। न चास्यापि कारकत्वात्तद्धे[13]तुत्वाविरोधः; निखिलसामर्थ्यशून्यत्वेनास्य कारकत्वासम्भवादित्युक्तत्वात्। ततो[14]ऽयुक्तमुक्तम्–

"प्रत्यक्षाद्यवतारश्च[15] भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते॥"
[मी० श्लो० अभाव० श्लो० १७] इति।

द्वितीयपक्षे तु यत्तद[16]न्य[17]ज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव, पर्युदास[18]वृत्त्या हि निषेध्याद् घटादेरन्यस्य भूतलादेर्ज्ञानमभावप्रमाणाख्यां प्रतिपद्यमानं तदन्या[19](न्य)भावलक्षणाभावपरिच्छेदकमिष्टमेव। तृतीयपक्षे[20] तु किमसौ[21] सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्तः, कथञ्चिद्वा? तत्राद्यविकल्पे 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचनविरोधः। सर्वथा हि यद्यात्मा ज्ञाननिर्मुक्तः कथमभावपरिच्छेदकः? परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मत्वात्। परिच्छेदकत्वे[22] वा कथमसौ सर्वथा ज्ञाननिर्मुक्तः स्यात्? अथ कथञ्चित्; तथाहि–'अभावविषयं ज्ञानमस्यास्ति निषेध्यविषयं तु नास्ति' इति; तर्हि तज्ज्ञान[23]मेवाभावप्रमाणं स्यान्नात्मा। तच्च भावा[24]-

---

१ अन्यथा। २ प्रमाणपञ्चकाभावेऽपि प्रमेयाभावज्ञानं न परचेतोवृत्तिविशेषेष्वस्ति अतीन्द्रियत्वात्। ३ पुरुषेण। ४ प्रमेयाभाव। ५ वसः। ६ प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणाभावप्रमाणादित्यर्थः। ७ ग्रन्थानवस्था। ८ अभावस्य। ९ अन्धेनाज्ञातस्य धूमस्याग्निज्ञापकत्वप्रसङ्गात्। १० अक्षादेरज्ञातस्य कथं ज्ञापकत्वमित्युक्ते आह। ११ आदिपदेन अदृष्टम्। १२ ज्ञानं प्रति कारणत्वं कारकत्वम्। १३ प्रमेयाभावज्ञान। १४ प्रमाणपञ्चकभावोऽभावज्ञानहेतुर्न भवति यतः। १५ तदा भवति। १६ निषेध्यघटात्। १७ भूतलस्य। १८ घटाभावः भूतलसद्भाव इति। १९ (तस्माद् घटादन्यद्भूतलम् । तच्चासौ भावश्च (अर्थः) स तदन्यभावो लक्षणं यस्याभावस्य)। २० उभयोरपि सम्मतोयं (भावान्तरस्वभावलक्षणः) विकल्पः। २१ आत्मा। २२ प्रमेयाभावस्य। २३ अभाव। २४ घटादन्यद्भूतलं तदेव स्वभावो यस्याभावस्य।

न्तरस्वभावाभावग्राहकतयेन्द्रियैर्जनितत्वात्प्रत्यक्षमेव । ततो[1] निराकृतमेतत्-"न तावदिन्द्रियेणैषा" इत्यादि[2], "वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता" इत्यादि च; तस्याः[3] प्रत्यक्षादिप्रमाणत एव प्रसिद्धेः । कथं ततोऽभावपरिच्छित्तिरिति चेत्; कथं भावस्य[4]? प्रतिभासाच्चेदितरत्र समानम् । न खलु प्रत्यक्षे[5]णान्यसंसृष्टः प्रथमतोऽर्थो[6]ऽनुभूयते, पश्चाद[7]भावप्रमाणादन्यासंसृष्ट इति क्रमप्रतीतिरस्ति, प्रथममेवान्यासंसृष्टस्या[8]र्थस्या[9]ध्यक्षे प्रतिभासनात् । न चान्यासंसृष्टार्थ[11]वेदनादन्यत्तदभाववेदनं नाम ।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तम् "स्वरूपपररूपाभ्याम्" इत्यादि[12]; सर्वैः[13] सर्वदोभयरूपस्यै[14]वान्त[15]र्बहि[16]र्वाऽर्थस्य प्रतिसंवेदनात्, अन्यथा[17] तदभावप्रसङ्गात्[18] ।

यदप्युक्तम्-"यस्य[19] यत्र[20] यदोद्भूतिः" इत्यादि[21]; तदप्ययुक्तम्; न ह्यनुभूत[22]मनुद्भूतं[23] नाम । नापि जिघृक्षाप्रभवं सर्वज्ञानम्; इन्द्रियमनोमात्रभावे भावात्तदभावे चाभावात्तस्य ।

यच्चान्यदुक्तम्-"मेयो यद्वदभावो हि" इत्यादि[24]; तत्र 'भावरूपेण प्रत्यक्षेण नाभावो वेद्यते' इति प्रतिज्ञा[25] अन्यासंसृष्टभूतलग्राहिणा प्रत्यक्षेण निराक्रियते अनुष्णाग्निप्रतिज्ञावत् । 'भावात्मके यथा मेये' इत्याद्यप्ययुक्तम्; अभावादपि भावप्रतीतेः, यथा गगनतले पत्रादीनामधःपाताभावा[26]द्वायोरिति[27] । भावाच्चाग्न्यादेः शीताभावस्य प्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा । 'यो यथाविधः स तथाविधेनैव गृह्यते' इत्यभ्युपगमे चाभावस्य मुद्गरादि[28]हेतुत्वा-

---

१ अभावस्य प्रत्यक्षतो ग्रहणं सिद्धं यतः । २ नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः । भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि । ३ अभावग्राहकतायाः । ४ प्रत्यक्षादिप्रमाणात्तव मते परिच्छित्तिः । ५ घटेन । ६ भूतललक्षणः । ७ अन्यसंसृष्टज्ञानानन्तरम् । ८ घटेन । ९ एकदैवोभयरूपार्थविषयतयानुभूयमानं ज्ञानं कथमितरांशेऽनुद्भूतमिति भावः । १० भूतललक्षणस्य । ११ भूतललक्षण । १२ नित्यं सदसदात्मके । वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित्कदाचनेत्यन्तम् । १३ प्रमाणैः । १४ सदसदात्मकस्य । १५ ज्ञानस्य । १६ घटादेः । १७ उभयरूपार्थवेदनं न चेत् । १८ उभयरूपत्वादर्थस्य । १९ सदंशस्यासदंशस्य वा । २० वस्तुनि । २१ जिघृक्षा चोपजायते । वेद्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते इत्यन्तम् । २२ प्रत्यक्षप्रतिपन्नम् । २३ अभावरूपम् । २४ मानम (अभावरूपं) प्येवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मेये नाऽभावस्य प्रमाणता । तथैवाभावमेयेपि न भावस्य प्रमाणतेति च । २५ अभावोऽभावपरिच्छेद्यः तथाविषयत्वादिति वा प्रतिज्ञा । २६ गगनतले वायुरस्ति पत्रादीनामधःपाताभावान्यथान्यथानुपपत्तेः । २७ प्रतीतिः । २८ भावरूप ।

भावः स्यात्। शक्यं हि वक्तुम्-यो यथाविधः स तथाविधेनैव क्रियते यथा भावो भावेन[1], अभावश्चाभावः[2], तस्मादभावेनैव क्रियते। प्रत्यक्षबाधा[3] चान्यत्रापि[4] समाना।

यदप्यभिहितम्-'प्रागभावादिभेदाच्चतुर्विधश्चाभावः' इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः स्वकारणकलापात्[5] स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावाः[6] समुत्पन्ना नात्मानं परेण[7] मिश्रयन्ति[8] तस्यापरत्व[9]प्रसङ्गात्[10]। न चान्यतोऽव्या (तो व्या)वृत्तस्वरूपाणां[11] तेषां[12] भिन्नोऽभाऽवांशः[13] सम्भवति[14]। भावे वा तस्यापि[15] पर[16]रूपत्वाद्भावेन[17] ततोपि व्यावर्तितव्यमित्यपरापराभावपरिकल्पनयानवस्था। अतो न कुतश्चि[18]द्भावेन व्यावर्त्तितव्यमि[19]त्ये[20]कस्व[21]भावं विश्वं[22] भवेत्, परभावाभावाच्च[23] व्यावर्त्तमानस्यार्थस्य[24] पररूपताप्रसङ्गः[25]।

यदि चेतरेतराभाववशाद् घटः पटादिभ्यो व्यावर्त्तेत, तर्हीतरेतराभावोपि भावादभावान्तराच्च प्रागभावादेः किं स्वतो व्यावर्त्तेत, अन्यतो वा? स्वतश्चेत्; तथैव घटोप्यन्येभ्यः[26] किन्न व्यावर्त्तेत? अन्यतश्चेत्; किमसाधारणधर्मात्[27], इतरेतराभावान्तराद्वा? असाधारणधर्माभ्युपगमे स एव पटादिष्वपि युक्तः[28]। इतरेतराभावान्तराच्चेत्; बहुत्वमितरेतराभावस्यानवस्थाकारि[29] स्यात्।

किञ्च, इतरेतराभावोप्यसाधारणधर्मेणाव्यावृत्तस्य, व्यावृत्तस्य[30] वा भेदकः? यद्यव्यावृत्तस्य; किं नैकव्यक्ते[31]र्भेदकः? अथ व्यावृत्तस्य; तर्हि घटादिष्वपि स एवास्तु भेदकः किमितरेतराभावकल्पनया?

---

१ मृत्पिण्डादिना। २ घटप्रध्वंसाभावः। ३ घटाभावं प्रति मुद्गरादीनां व्यापारोपलम्भात्। ४ अभावप्रमाणेनाभावो गृह्यते इत्यत्रापि। कथम्? प्रत्यक्षेणैवाभावप्रतीतेरिति। ५ चक्रचीवरकुलालादि। ६ घटादयः। ७ पटादिभावेन। ८ अन्यथा। ९ तस्य परस्य पटादेः। १० घटत्वप्रसङ्गात्। ११ पटादिभ्यः। १२ घटादिभावानाम्। १३ यतोऽभावात् तेषां (घटादीनां) व्यावृत्तिः (पटादिभ्यः) युक्ता। १४ सम्भवति चेत् कस्य? घटस्य। पटादयः पटरूपा घटादिभ्यः सकाशद्यथा तथा अभावांशोपि। १५ अभावांशस्य। १६ घटादिभ्यः। १७ घटादिपदार्थेन। १८ भावादभावाद्वा। १९ अनवस्थादोषभयात्। २० इति हेतोः। २१ घटादिस्वभावम्। २२ व्यावर्त्तकस्येतरेतराभावस्याभावात्। २३ ततश्च किं भवेत्। २४ घटस्य। २५ भिन्नत्वात्। २६ पटादिभ्यः। २७ पृथुबुध्नोदरादेः। २८ व्यावर्त्तकः। २९ इतरेतराभावान्तरं किं स्वतो व्यावर्त्तते अन्यतो वेत्यादिप्रकारेण। ३० पटादेः सकाशाद्व्यावृत्तस्य घटादेः। ३१ घटस्य।

किञ्च, अनेन घटे पटः प्रतिषिध्यते, पटत्वसामान्यं वा, उभयं[1] वा? प्रथमपक्षे किं पटविशिष्टे घटे पटः प्रतिषिध्यते, पटविविक्ते वा? न तावदाद्यः पक्षो युक्तः; प्रत्यक्षविरोधात्। नापि द्वितीयः; तथाहि-किमितरेतराभावादन्या घटस्य पटविविक्तता[2], स एव वा विविक्तताशब्दाभिधेयः? भेदे[3]; तयैव घटे पटाभावव्यवहारसिद्धेः किमितरेतराभावेन? अथ स एव तच्छब्दाभिधेयः; तर्हि यस्माद्भावात्पटविविक्ते घटे पटाभावव्यवहारः सोन्योऽभावः, विविक्तताशब्दाभिधेयश्चान्यः[4] इत्येकस्मिन्वस्तुनीतरेतराभावद्वयमायातम्।

किञ्च, 'घटे पटो नास्ति' इति पटरूपता[5]प्रतिषेधः, सा किं प्राप्ता प्रतिषिध्यते, अप्राप्ता वा? प्राप्तायाः प्रतिषेधे पटेऽपि[7] पटरूपताप्रतिषेधः स्यात्[6] प्राप्तेरविशेषात्। अप्राप्तायास्तु प्रतिषेधानुपपत्तिः, प्राप्तिपूर्वकत्वात्तस्य। न ह्यनुपलब्धो[8]र्दकस्य 'अनुदकः कमण्डलुः' इति प्रतिषेधो घटते। अथान्यत्र प्राप्तमेव पटरूपमन्यत्र प्रतिषिध्यते; तत्रापि समवायप्रतिषेधः, संयोगप्रतिषेधो वा? न तावत्समवायप्रतिषेधः; रूपादे[9]रेकत्र[10] समवायेन सम्बद्धस्यान्यत्र[11] वस्त्वन्तरेऽन्योन्याभावतोऽभावव्यवहारानुपलम्भात्। संयोगप्रतिषेधोप्यनुपपन्नः; घटपटयोः कदाचित्संयोगस्यापि सम्भवात्। अथ पटेन संयोगरहिते घटे पटप्रतिषेधो न तत्संयोगवति। नन्वेवं पटसंयोगरहितत्वमेवाभावोस्तु, न त्वन्यस्माद्[12]भावात्पटसंयोगरहिते घटे पटाभाव इति युक्तम्। तन्न घटे पटप्रतिषेधो युक्तः।

नापि[13] पटत्वप्रतिषेधः[14]; तस्याप्येकत्र सम्बद्धस्यान्यत्र सम्बन्धाभावादेव प्रतिषेधानुपपत्तेः। नाप्यु[15]भय[16]प्रतिषेधः; प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्।

किञ्च, इतरेतराभावप्रतिपत्तिपूर्विका घटप्रतिपत्तिः, घटग्रहणपूर्वकत्वं वेतरेतराभावग्रहणस्य? आद्यपक्षेऽन्योन्याश्रयत्वम्; तथाहि-'इतरेतराभावो घटसंबन्धित्वेनोपलभ्यमानो[17] घटस्य विशेषणं न पदार्थान्तरसम्बन्धित्वेन, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं

१ उभयं, पटः पटत्वं चेत्यर्थः। तृतीयपक्षोयम्। २ असाधारणस्वरूपता। ३ इतरेतराभावविविक्ततयोः। ४ इतरेतराभावः। ५ पटस्वरूपस्य। ६ एवं परस्यानिष्टापादनं भवति। ७ उभयत्र। ८ पुरुषस्य। ९ आतानवितानीभूतरूपादेः। १० पटादौ। ११ घटादौ। १२ इतरेतराभावात्। १३ द्वितीयपक्षः। १४ घटे। १५ तृतीयपक्षः। १६ पटपटत्वयोः। १७ घटस्येतरेतराभावोयमिति।

स्यात्। घटसम्बन्धित्वप्रतिपत्तिं[1]श्च घटग्रहणे सत्युपपद्यते। सोपि व्यावृत्त एव पटादिभ्यः प्रतिपत्तव्यः। ततो[2] यावत्पूर्वं घटसम्बन्धित्वेन व्यावृत्ते[3]रुपलम्भो न स्यान्न तावद्व्यावृत्तिविशिष्टतया घटः प्रत्येतुं शक्यः, यावच्च पटादिव्यावृत्तत्वेन न प्रतिपन्नो घटो न तावत्स्वसम्बन्धित्वेन व्यावृत्तिं[4] विशेषयति इति।

अथ[5] घटग्रहणपूर्वकत्वमितरेतराभावग्रहणस्य; अत्राप्यभावो विशेष्यो घटो विशेषणम्। तद्ग्रहणं च पूर्वमन्वेषणीयम् "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः[6]" [ ] इत्यभिधानात्। तत्रापि[7] घटो गृह्यमाणः पटादिभ्यो व्यावृत्तो गृह्यते, अव्यावृत्तो वा? तत्र[8] न तावत्पटादिभ्योऽव्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता घटते[9], अन्यथा[10] पटादेरपि तथैव पटादिरूपताप्रसङ्गादभावकल्पनावैयर्थ्यम्। अथ तेभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपताप्रतिपत्तिः प्रार्थ्यते[11]; तत्रापि किं कतिपयपटादिव्यक्तिभ्योऽसौ व्यावर्त्तते, सकलपटादिव्यक्तिभ्यो वा? प्रथमपक्षे कुतश्चिदेवासौ व्यावर्त्तेत, न सकलपटादिव्यक्तिभ्यः। द्वितीयपक्षेपि न निखिलपटादिभ्योऽस्य व्यावृत्तिर्घटते, तासामानन्त्येन ग्रहणासम्भवात्[12]। इतरेतराश्रयत्वं च, तथाहि–'यावत्पटादिभ्यो व्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता न स्यान्न तावद् घटात्पटादयो व्यावर्त्तन्ते, यावच्च घटाद्व्यावृत्तानां पटादीनां पटादिरूपता न स्यान्न तावत्पटादिभ्यो घटो व्यावर्त्तते इति।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्पटादिभ्यो घटस्य व्यावृत्तिः[13], घटान्तरात्तु कथमसौ व्यावर्त्तते इति सम्प्रधार्यम्[14]–किं घटरूपतया, अन्यथा[15] वा? यदि घटरूपतया; तर्हि सकलघटव्यक्तिभ्यो व्यावर्त्तमानो घटो घटरूपतामादाय व्यावर्त्तेत इत्यायातम् अघटत्वमन्यासां घटव्यक्तीनाम्। अथाघटरूपतया[16]; तत्किमघटरूपता पटादिवद् घटेप्यस्ति? तथा चेत्; तर्हि यो व्यावर्त्तते घटान्तरादघटत्वेन घटस्तस्याघटत्वं स्यात्। तच्च विप्रतिषिद्धम्[17]–यद्यघटो घटः, कथं घटः? तस्मान्नार्थादर्थान्तरमभावः।

---

१ इतरेतराभावस्य। २ इतरेतराभावप्रतिपत्तेर्घटप्रतिपत्तिपूर्वकत्वं यतः। ३ इतरेतराभावस्य। ४ घटसम्बन्धिनमितरेतराभावम्। ५ द्वितीयपक्षः। ६ प्रवर्त्तते। ७ घटस्य पूर्वं ग्रहणेपि। ८ पक्षद्वये। ९ जैनमते स्वगतासाधारणधर्मेण घटः पटादिभ्यो व्यावृत्तो भवति, न तु इतरेतराभावादिति। १० पटादिभ्योऽव्यावृत्तस्य घटस्य घटरूपता यदि। ११ समर्थ्यते परेण। १२ ग्रहणे वा सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्गः। १३ इतरेतराभावः। १४ विचार्यम्। १५ अघटरूपतया। १६ तर्हि। १७ विरुद्धम्।

ननु चाभावस्यार्थान्तरत्वानभ्युपगमे कथं तन्निमित्तको[3] व्यव[1]हारः? तथाहि[2]-किं घटावष्टब्धं भूतलं घटाभावो व्यपदिश्यते, तद्रहितं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः। द्वितीयपक्षे तु नाममात्रं भिद्येत[4]-घट[5]रहित[6]त्वम्, घटाभावविशिष्ट[7]त्वमिति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतः किं घटाकारं[8] भूतलं येन 'घटो न भवति' इत्युच्यमाने प्रत्यक्षविरोधः स्यात्, यद्भूतलं तद्घटाकाररहितत्वाद्घटो न भवत्येव। ननु यद्यपि भूतलान्नार्थान्तरं घटाभावः, तर्हि घटसम्बद्धेपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रत्ययः स्यात्, न चैवम्, ततो यथा भूतलादर्थान्तरं घटस्तथा तदभावोपीति; तदप्यसारम्; घटासम्भविभूतलगतासाधारण[9]धर्मोपलक्षितं हि भूतलं घटाभावो व्यपदिश्यते। घटावष्टब्धं तु घटभूतलगतसंयोगलक्षणसाधारण[10]धर्मविशिष्टत्वेन तथो[11]त्पन्नमिति न 'अघटं भूतलम्' इति व्यपदेशं लभते। तन्नेतरेतराभावो विचारक्षमः।

नापि प्रागभावः; तस्याप्यर्थाद[12]र्थान्तरस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्तेः। ननु 'स्वोत्पत्तेः प्राङ्नासीद् घटः' इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, यस्तु सद्विषयः स न सत्प्रत्ययविलक्षणो यथा 'सद्द्रव्यम्' इत्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं तस्मादसद्विषयः[13]' इत्यनुमानात्[14]ततोऽर्थान्तरस्य प्रागभावस्य प्रतीतिरित्यपि मिथ्या; 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिः' इति प्रत्ययेन[15]ानेकान्तात्। तस्याप्यसद्विषयत्वेऽभावान[16]वस्था। अथ 'भावे भूभागादौ नास्ति घटादिः' इति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः, 'प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिः' इति प्रत्ययस्तूपच[17]रिताभावविषयः, ततो नानवस्थेति; तदप्ययुक्तम्; परमार्थतः प्रागभावादीनां साङ्कर्यप्रसङ्गात्। न खलूपचरितेनाभावेनान्योन्यमभावानां व्यतिरेक[18]ः सिद्ध्येत्[19], सर्वत्र मुख्याभावकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्।

---

१ नास्तीति विकल्पो नास्तीत्यभिधानं च। २ अर्थादर्थान्तरमभावं समर्थयन्ति परे। ३ जैनैर्भवद्भिः। ४ नार्थभेदः। ५ भूतलस्य। ६ जैनमते। ७ परमते। ८ घटभूतलयोः किं तादात्म्यं प्रतिपिध्यते आधाराधेयभावो वा? तत्राद्यं पक्षं विवेचयति। ९ भूतलगतं विविक्तत्वं भिन्नं घटगतं विविक्तत्वं भिन्नम्। १० उभयगतत्वात्। ११ घटावष्टब्धत्वेन। १२ घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डलक्षणोर्थस्तस्मात्। १३ प्राग-भावः। १४ अर्थात्। १५ अयं सत्प्रत्ययविलक्षणश्च भवति, न त्वसद्विषयः। १६ अभावे अभावोऽस्ति यतः। १७ प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरिति व्यवहारः प्रयोजनमभावानामसङ्करो निमित्तमित्युपचारप्रवृत्तिः—निमित्तप्रयोजनवशादुपचारप्रवृत्तेः। १८ भेदः। १९ अन्यथा।

यदप्युक्तम्–'न भावस्वभावः प्रागभावादिः सर्वदा[1] भावविशेषणत्वात्' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; हेतोः[3] पक्षाव्यापकत्वात्[2], 'न प्रागभावः प्रध्वंसादौ' इत्यादेरभावविशेषणस्या[4]प्यभावस्य प्रसिद्धेः। गुणादिनानैकान्ताच्च; अस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि भावस्वभावात्। 'रूपं[5] पश्यामि' इत्यादिव्यवहारे गुणस्य स्वतन्त्र[6]स्यापि प्रतीतेः सर्वदा भावविशेषणत्वाभावे 'अभावस्तत्त्वम्' इत्यभावस्यापि स्वतन्त्रस्य प्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं न स्यात्। सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादेः सम्प्रत्ययात्सदास्य भावविशेषणत्वे गुणादेरपि सर्वदा भावविशेषणत्वमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्यतो गम्यमानत्वात्।

किञ्च, प्रागभावः सादिः सान्तः[9] परिकल्प्यते, सादिरनन्तः, अनादिरनन्तः अनादिः सान्तो वा? प्रथमपक्षे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात्। द्वितीयेपि तदुत्पत्तेः पूर्वमुपलब्धि[10]प्रसङ्गस्तत एव। उत्पन्ने तु प्रागभावे सर्वदानुपलब्धि[11]ः स्यात्तस्यानन्तत्वात्। तृतीये तु सदानुप[12]लब्धिः[13]। चतुर्थे पुनः घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सकलकार्याणामुत्पत्स्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात्।

ननु[14] यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः, तत्रैकस्य प्रागभावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्स्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोत्पत्तौ सकलकार्योपलब्धिरिति; तर्ह्यनन्ताः प्रागभावास्ते किं स्वतन्त्राः, भावतन्त्रा वा? स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भावस्वभावाः कालादिवत्? भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्नभावतन्त्राः, उत्पत्स्यमानभावतन्त्रा वा? न तावदादिविकल्पः; समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात्। द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्; प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्स्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्[15], अन्यथा

---

१ दण्डेन रूपेण च व्यभिचारः स्यात्तत्परिहारार्थं सर्वदेति विशेषणं दण्डस्य कदाचिद्विशेष्यरूपतयापि भावात्। कथम्? दण्डं पश्यामीति। २ यतोऽभावोप्यभावस्य विशेषणं भवेत् भावोऽभावस्यापि। ३ प्रागभावो विशेषणमत्र। ४ अतोऽभावोऽभावस्य विशेषणमपि भवेद्भावोऽभावस्यापि। ५ घटस्य। ६ विशेष्यत्वेन। ७ अभावस्तत्त्वम्। कस्य? घटस्येति। ८ यथा अभावः कस्येत्युच्यमाने पटस्येति, तथा गुणाः कस्य? द्रव्यस्येति। ९ विनाशोपेतः। १० घटस्य। ११ घटस्य। १२ तद्विरोधिनः प्रागभावस्य सर्वदा भावादेव। १३ घटादिकार्यस्य। १४ घटोत्पत्तौ घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिं परिहरति परः। १५ तेषां प्रागभावानाम्।

प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वप्रसङ्गः । न चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः कस्यचि[1]दाश्रयो नाम अतिप्रसङ्गात्[2] ।

अथैक एव प्रागभावो विशेषण[3]भेदाद्भिन्न उपचर्यते 'घटस्य प्रागभावः पटादेर्वा' इति, तथोत्पन्नार्थविशेषणतया तस्य[4] विनाशेऽप्युत्पत्स्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति । नन्वेवं[5] प्रागभावादिचतुष्टयकल्पनानर्थक्यम् सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथा[6] भेदव्यवहारोपपत्तेः । कार्यस्य[7] हि पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः[8] प्रध्वंसाभावः, नानार्थ[9]विशिष्टसं[10] एवेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्त[11]नानास्वभावभावविशेषणोऽत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्यय[12]भेदस्यापि तथो[13]पपत्तेः, सत्त्वैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषण[14]भेदात्प्रत्ययभेदवत् । यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकत्वं[15] सत्तायाः तथैवासत्प्रत्ययाविशेषलिङ्गाभावाच्चाभावस्यापि[16] । अथ 'प्राग्नासीत्[17]' इत्यादिप्रत्यय[18]विशेषाच्चतुर्विधोऽभावः; तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलिपुत्रेस्ति चित्रकूटेस्तीति देशभेदेन, द्रव्यं गुणः कर्म चास्तीति द्रव्यादिभेदेन च प्रत्ययभेदसद्भावात्प्राक्सत्तादयः[19] सत्ताभेदाः किन्नेष्यन्ते[20] ? प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव[21] भिद्यन्ते तस्य[22] तन्निमित्तकत्वान्न तु सत्ता[23], ततः सैकैवेत्यभ्युपगमे अभावभेदोपि मा भूत्सर्वथा विशेषाभावात् ।

अथाभिधीयते—'अभावस्य सर्वथैकत्वे विवक्षितकार्योत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे सर्वत्राभावस्याभावानुषङ्गात्सर्वं कार्यमनाद्यनन्तं[24] सर्वात्मकं[25] च स्यात्; तदप्यभिधानमात्रम्; सत्त्वैकत्वेपि समानत्वात् । विवक्षितकार्यप्रध्वंसे हि सत्ताया अभावे सर्वत्राभावप्रसङ्गः तस्या एकत्वात्, तथा च सकलशून्यता । अथ तत्प्रध्वंसेपि नास्याः

---

१ प्रागभावस्य प्रध्वंसाभावस्य वा । २ अनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा स्तम्भः प्रासादस्याश्रयो भवेत् । ३ घटाद्यर्थं । ४ प्रागभावस्य । ५ घटादि । ६ प्रागभावादिप्रकारेण । ७ पटलक्षणस्योत्पत्तेः सकाशात् । ८ अर्थः । ९ घटपटशकटादि । १० अभावलक्षणोर्थः । ११ अत्यन्तं सर्वथा नाना (भिन्नाः) स्वभावा येषां तेऽत्यन्तनानास्वभावा गगनाम्भोजखरविषाणादयस्ते च ते भावाश्च ते विशेषणं यस्याभावस्य । १२ प्रत्ययो ज्ञानम् । १३ विशेषणभेदादेव । प्रागभावस्यैकत्वकल्पनाप्रकारेण । १४ द्रव्यं सद्गुणः सन्कर्म सत् । १५ परमते । १६ जैनमते एकत्वम् । १७ घटः । १८ कारण । १९ आदिपदेन पश्चात्सत्ता सम्प्रतिसत्ता च ग्राह्या । २० परेण भवता । २१ घटाद्यर्थाः । २२ प्रत्ययविशेषस्य । २३ (सत्तायाः विशेषणनिमित्तकत्वाभावादित्यर्थः) । २४ प्रागभावाभावादनादि प्रध्वंसाभावाभावादनन्तम् । २५ इतरेतराभावाभावात् ।

प्रध्वंसो नित्यत्वात्, अन्यथार्थान्तरेषु सत्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्; तदन्[१]यत्रापि समानम्[२], समुत्पन्नैककार्यविशेषणतया ह्यभावस्याभावेपि न सर्वथाऽभावः भावान्तरेप्यभावप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। यथा चाभावस्य नित्यैकरूपत्वे कार्यस्योत्पत्तिर्न स्यात् तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वात्, तथा सत्ताया नित्यत्वे कार्यप्रध्वंसो न स्यात् तस्यास्तत्प्रतिबन्धकत्वात्। प्रसिद्धं हि प्रध्वंसात्प्राक्प्रध्वंसप्रतिबन्धकत्वं सत्तायाः, [३]अन्यथा सर्वदा प्रध्वंसप्रसङ्गात् कार्यस्य स्थितिरेव न स्यात्। यदि[४] [५]पुनर्वलवत्प्रध्वंसका[६]रणोपनिपाते कार्यस्य सत्ता न ध्वंसं प्रतिबध्नाति, ततः [७]पूर्वं तु बलवद्विनाशकारणोपनिपाताभावात्तं प्रतिबध्नात्येवातो न प्रागपि प्रध्वंसप्रसङ्गः इत्येतदन्य[८]त्रापि न काकैर्भक्षितम्, अभावोपि हि बलवदुत्पादकका[९]रणोपनिपाते कार्यस्योत्पादं सन्नपि न प्रतिरुणद्धि, कार्योत्पादात्पूर्वं तूत्पादककारणाभावात्तं प्रतिरुणद्ध्येव, अतो न प्रागपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गो येन कार्यस्यानादित्वं स्यात्।

तन्न प्रागभावोपि तुच्छस्वभावो घटते किन्तु भावान्तरस्वभावः। [१०]यद्[११]भावे हि नियमतः [१२]कार्योत्पत्तिः [१३]स प्रागभावः, [१४]प्रागनन्तरपरि[१५]णामविशिष्टं मृद्द्रव्यम्। तुच्छस्वभावत्वे चास्य सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्र[१६]सङ्गः प्रागभावावि[१७]शेषात्। यत्र[१८] यदा [१९]यस्य प्रागभावाभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरित्यप्ययुक्तम्; तस्यैवानि[२०]यमात्। [२१]स्वोपादानेत[२२]रनियमात्त[२३]न्नियमेप्यन्यो[२४]न्याश्रयः।

प्रध्वंसाभावोपि [२५]भावस्वभाव एव, [२६]यद्भावे हि नियता कार्यस्य[२७]

१ अभावे। २ प्रागभावस्य। ३ प्रध्वंसात्पूर्वं सत्तायाः प्रध्वंसप्रतिबन्धकत्वं न स्याद्यदि। ४ सर्वदा प्रध्वंसप्रसङ्गात्कार्यस्य स्थितिरेव न स्यादेतत्परिहरति परः। ५ कार्यकालादुत्तरेण कालेन। ६ मुद्गरादि। ७ विनाशकारणसन्निधानात्पूर्वम्। ८ अभावे। ९ मृत्पिण्डादि। १० प्रागभावः कः भावान्तरं च किमित्युक्ते आह। ११ यस्य मृत्पिण्डस्य। १२ स्वस्य विनाशेन घटरूपेण परिणमते मृत्पिण्डः। १३ मृत्पिण्डलक्षणः। १४ घटोत्पत्तेः। १५ स्थासादि। १६ अस्योपादानमेतदस्यैतदिति विवेचयितुमशक्यत्वात्। १७ तुच्छाभावस्य प्रागभावस्यैकत्वात्। १८ उपादानकारणे। १९ कार्यस्य। २० सव्यगोविषाणस्यायं प्रागभावः असव्यस्यायं प्रागभाव इति प्रागभावस्यैव नियमाभावात्। २१ सव्यविषाणकार्यं। २२ स्वानुपादान। २३ प्रागभावनियमे। २४ सव्यविषाणस्योपादाननियमे सिद्धे सव्यस्य प्रागभावनियमः सिध्येत्। प्रागभावनियमसिद्धौ च सव्यस्योपादाननियमसिद्धिरिति। २५ उत्तरक्षणवर्तिकपाललक्षणः। २६ यस्य कपालस्य। २७ घटस्य।

विपत्तिः स प्रध्वंसः, मृद्द्रव्यानन्तरोत्तरपरिणामः[1] । तस्य हि तुच्छस्वभावत्वे मुद्गरादिव्यापारवैयर्थ्यं स्यात् । स हि तद्व्यापारेण[2] घटादेर्भिन्नः, अभिन्नो वा विधीयते ? प्रथमपक्षे घटादेस्तदवस्थत्वप्रसङ्गात् 'विनष्टः' इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसम्बन्धाद् 'विनष्टः' इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्सम्बन्धो वक्तव्यः-स हि तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वरूपो वा स्यात्, तद्विशेषणविशेष्यभावलक्षणो[3] वा ? तत्र न तावत्तादात्म्यलक्षणोसौ घटते; तयोर्भेदाभ्युपगमात्[4] । नापि तदुत्पत्तिलक्षणः[5]; घटादेस्तदकारणत्वात्[6], तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्वात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोषः; इत्यप्यसुन्दरम्; मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि घटादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । तस्य स्वविनाशं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले उपलम्भः; इत्यप्यसमीचीनम्; अभावस्य भावान्तरस्वभावताप्रसङ्गात्[7] तं[8] प्रत्येवास्योपादानकारणत्वप्रसिद्धेः । तयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः; इत्यप्यसत्; परस्परमसम्बद्धयोस्तदसम्भवात् । सम्बन्धान्तरेण सम्बद्धयोरेव हि विशेषणविशेष्यभावो दृष्टो दण्डपुरुषादिवत् । न च विनाशतद्वतोः सम्बन्धान्तरेण[9] सम्बद्धत्वमस्तीत्युक्तम् । तत्र तद्व्यापारेण[10] भिन्नो[11] विनाशो विधीयते । अभिन्नविनाशविधाने[12] तु 'घटादिरेव तेन विधीयते' इत्यायातम्; तच्चायुक्तम्; तस्य प्रागेवोत्पन्नत्वात्[13] ।

ननु प्रध्वंसस्योत्तरपरिणामरूपत्वे[14] कपालोत्तरक्षणेषु घटप्रध्वंसस्याभावात्तस्य पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः; तदप्यनुपपन्नम्; कारणस्य[15] कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्[16] । कार्यमेव हि कारणोपमर्दनात्मकत्वधर्माधारतया प्रसिद्धम् ।

यच्च कपालेभ्योऽभावस्यार्थान्तरत्वं विभिन्नकारणप्रभवतयोच्यते; तथाहि[17]-'उपादानघटविनाशो बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागतः[18] संयोगविनाशादेवोत्प-

---

१ मृद्द्रव्यं कुशूलरूपं तस्यानन्तरपरिणामो घटः । तस्योत्तरपरिणामस्तु कपाललक्षणः । २ कर्त्रा । ३ प्रध्वंसाभावविशिष्टो घट इति । ४ परेण । ५ घटादुत्पत्तिः प्रध्वंसस्येति । ६ तं विनाशं प्रति । ७ यथा घटस्य कपालादि भावान्तरम् । ८ कपाललक्षणं भावान्तरस्वभावम् । ९ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणेन । १० मुद्गरादिव्यापारेण कर्त्रा । ११ घटात् । १२ द्वितीयपक्षे । १३ मुद्गरादिव्यापारात् । १४ कपाल । १५ घटस्य । १६ कपाल । १७ हेतोर्विभिन्नकारणत्वं समर्थयति परः । १८ चलनलक्षणायाः ।

द्यते, उपादेयकपालोत्पादस्तु स्वारम्भकावयव[1]कर्म[2]संयोगविशेषादेवाविर्भवति' इति; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अस्य विनाशोत्पाद[3]कारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वात्। केवलमन्यप्रतारितेन भवता[4] परः प्रतार्यते। तस्मादन्धपरम्परापरित्यागेन बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापाराद् घटाकारविकलकपालाकारमृद्द्र[5]व्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या अलं प्रतीत्यपलापेन।

'क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति' इत्याद्यप्यभावस्य भावस्वभावत्वे सत्येव घटते, दध्यादिविविक्त[6]स्य क्षीरादेरेव प्रागभावादितयाध्यक्षादिप्रमाणतोऽध्यवसायात्। ततोऽभा[7]वस्योत्पत्तिसामग्र्याः विषयस्य चोक्तप्रकारेणासम्भवान्न पृथक्प्रमाणता। इति स्थितमेतत्प्रत्यक्षेतरभेदादेव द्वेधैव च प्रमाणमिति।

तत्राद्यप्रकारं विशदमित्यादिना व्याचष्टे—

विशदं प्रत्यक्षम्॥ ३॥

विशदं स्पष्टं यद्विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। तथा च प्रयोगः-विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम् यथाऽनुमानादि, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति।

अनेनाऽक[8]स्माद्धूमदर्शनात् 'वह्निरत्र' इति ज्ञानम्, 'यावान् कश्चिद् भावः कृतको वा स सर्वः क्षणिकः, यावान् कश्चिद्धूमवान्प्रदेशः सोऽग्निमान्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानं चास्पष्टमपि प्रत्यक्षमाचक्षा[9]णः प्रत्याख्यातः; अनुमानस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गा[10]त् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं स्यात्।

किञ्च, अकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निरत्रेत्यादिज्ञाने सामान्यं वा प्रतिभासेत, विशेषो वा? यदि सामा[11]न्यम्; न तर्हि प्रत्यक्षम्, तस्य तद्विषयत्वानभ्युपगमा[12]त्। अभ्युपगमे वा '[13]प्रमाणद्वैविध्यं प्रमेयद्वैविध्यात्' इत्यस्य[14] व्याघातः, [15]सविकल्पकत्वप्रसङ्ग[16]श्च। विशेषविषयत्वे ततः प्रवर्त्तमानस्या[17]त्र सन्देहो न स्यात् 'ताणां

१ परमाणु। २ ततः संयोगविशेषः। ३ ताद्धिः। ४ यौगेन। ५ प्रध्वंसाभावरूपा। ६ भिन्नस्य। ७ अभावप्रमाणस्य। ८ दृष्टान्तस्मरणमन्तरेण। ९ बौद्धः। १० उभयत्रास्पष्टत्वाविशेषात्। ११ प्रत्यक्षं सामान्यविषयं यदि। स्कन्धाकारपरिणतम्। १२ सौगतेन। १३ प्रत्यक्षं विशेषं गृह्णाति अनुमानं सामान्यं गृह्णाति इति बौद्धमतं न घटेत—प्रत्यक्षेणैव सामान्यग्रहणादिति। १४ ग्रन्थस्य। १५ प्रत्यक्षस्य। १६ सामान्यविषयत्वात्। १७ नुः।

वात्राग्निः पार्णो वा' इति सन्निहितवत्। न खलु सन्निहितं पावकं पश्यतस्तत्र सन्देहोस्ति। सन्देहे वा शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रति(ती)यंतो[1]-प्यसौ स्यात्। तथा[2] चेदं[3]मसङ्गतम्–"शब्दाल्लिङ्गाद्वा विशेषप्रतिपत्तौ न तत्र सन्देहः" [　　] इति । तन्नेदं प्रत्यक्षम् । किं तर्हि? लिङ्गदर्शनप्रभवत्वादनुमानम्। 'दृष्टान्तमन्तरेणाप्यनुमानं भवति' इत्येतच्चाग्रे वक्ष्यते।

व्याप्तिज्ञानं चास्पष्टत्वेनाप्रत्यक्षं व्यवहारिणां सुप्रसिद्धम्। व्यवहारानुकूल्येन च प्रमाणचिन्ता[4] प्रतन्यते "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० ३।५] इत्यादिवचनात्। न च तेषां सर्वे क्षणिका भावाः कृतका वाऽग्न्यादयो धूमादयो वा स्पष्टज्ञानविषया इत्यभ्युपगमोऽस्ति, अनुमानानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वं हि व्याप्यं व्यापकं च स्पष्टतया युगपन्निश्चिन्वतो[5] न किञ्चिदनुमानसाध्यम्, अन्यथा योगिनोप्यनुमानप्रसङ्गः । [6]निश्चिते[7] समारोपस्याप्यसम्भवो विरोधात्[8]। कालान्तरभाविसमारोपनिषेधकत्वेनानुमानस्य[9] प्रामाण्ये क्वचिदुपलब्धदेवदत्तस्य पुनः कालान्तरेऽनु[10]पलम्भे[11]समारोपे सति यद्[12]नन्तरं तत्[13]स्मरणादि[14]कं तदपि प्रमाणं भवेत् । तन्न व्याप्तिज्ञानमप्यस्पष्टत्वात् प्रत्यक्षं युक्तम्।

ननु चास्पष्टत्वं[15] ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा? यदि ज्ञानधर्मः; कथमर्थस्यास्पष्टत्वम्? अन्यस्यास्पष्टत्वादन्यस्यास्पष्टत्वेऽतिप्रसङ्गात्[16] । अर्थधर्मत्वे कथमतो व्याप्तिज्ञानस्याप्रत्यक्षताप्रसिद्धिः? व्यधिकरणा[17]द्धेतोः[18] साध्यसिद्धौ 'काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रासादः' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्पष्टत्वेपि समानत्वात् । तदपि हि यदि ज्ञानधर्मस्तर्हि कथमर्थे स्पष्टता अतिप्रसङ्गात्[19]? विषये विषयिधर्मस्योपचाराददोषेऽत एव सो[20]ऽन्यत्रापि[21] मा[22] भूत् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्ट-

---

१ जानतः। २ सन्देहे सति। ३ जैनं प्रति यदुक्तम्। ४ परीक्षा। ५ पुंसः। ६ समारोपव्यवच्छेदार्थमनुमानमिति चेन्नेत्याह। ७ अर्थे। ८ निश्चयश्चेत्समारोपः कथमिति। ९ सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्कृतकत्वाद्वेति। १० नाहमद्राक्षमिति। ११ यसः। १२ यस्योपलम्भस्य। १३ तस्य पूर्वोपलब्धस्य देवदत्तस्य। १४ आदिपदेन प्रत्यभिज्ञानम्। १५ साधनं विचारयति। १६ दूरपादपास्पष्टत्वे पुरोवर्त्तिपदार्थस्यास्पष्टत्वं स्यात्। १७ भिन्नाधिकरणात्। १८ अस्पष्टत्वं हेतुरर्थे, अप्रत्यक्षत्वं साध्यं ज्ञाने इति। १९ सन्निहिते पादपादौ स्पष्टत्वमनुमेयेपि स्यात्। २० अतिप्रसंगलक्षणो दोषः। २१ ज्ञानास्पष्टत्वस्यार्थधर्मत्वे। २२ ज्ञानस्यैवास्पष्टलक्षणो धर्मोऽर्थे उपचर्यतेऽतश्चातिप्रसङ्गाभावात्कथं व्यधिकरणासिद्धो हेतुः।

तावत्। तस्याः विषयधर्मत्वे सर्वदा तथा[1] प्रतिभासप्रसङ्गात्कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः? न चास्पष्टसंवेदनं निर्विषयमेव, संवादकत्वात्[2]स्पष्टसंवेदनवत्। क्वचिद्विसंवादात्सर्वत्रास्य विसंवादे स्पष्टसंवेदनेपि तत्प्रसङ्गः। ततो[3] नैतत्साधु—

"बुद्धि[4]रेव[5]ातदाकारा[6] तत[7] उत्पद्यते यदा।
तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः॥"

[प्रमाणवार्त्तिकालं० प्रथमपरि०]

द्विचन्द्रादिप्रतिभासे[8]पि तद्व्यवहारानुषङ्गाच्च[9]। स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यमानत्वादस्य निर्विषयत्वमन्यत्रापि[10] समानम्। यथैव हि दूरादस्पष्टप्रतिभासविषयत्वमर्थस्यारात्[11]स्पष्टप्रतिभासेन बाध्यते तथा सन्निहितार्थस्य स्पष्टप्रतिभासविषयत्वं दूरादस्पष्टप्रतिभासेन, अविशेषात्[12]।

ननु विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्तत्र स्पष्टास्पष्टत्वव्यवहारे विषयिणोपि ज्ञानस्य तद्धर्मतासिद्धिः कुतः? स्व[13]ज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्याम्, स्वतो वा? प्रथमपक्षेऽनवस्था। द्वितीयपक्षे त्वविशेषेणाखिल[14]ज्ञानानां तद्धर्मताप्रसङ्गः; इत्यप्यसमीचीनम्; तत्रान्यथैव[15] तद्धर्मताप्रसिद्धेः। स्पष्टज्ञानावरणवीर्यान्तराय[16]क्षयोपशमविशेषाद्धि क्वचिद्विज्ञाने स्पष्टता प्रसिद्धा, अस्पष्टज्ञानावरणादिक्षयोपशम[17]विशेषात्त्वस्पष्टतेति। प्रसिद्धश्च प्रतिबन्धका[18]पायो ज्ञाने स्पष्टताहेतू रजोनीहाराद्यावृत्ता(ता)र्थप्रकाशस्येव तद्वियोगः।

अक्षात्स्पष्टता[19] इत्यन्ये[20], तेषां दविष्ठ[21]पादपादिज्ञानस्य दिवोलूकादिवेदनस्य च तत्प्रसङ्गः। तदुत्पादकाक्षस्यातिदूरदेशादिनकरकरनिकरोपहतत्वाददोषोयमिति; अत्रापि[22]अक्षस्योपघातः, शक्तेर्वा?

---

१ अस्पष्टतया। २ गृहीतार्थाव्यभिचारित्वात्। ३ अस्पष्टसंवेदनं सालम्बनं सिद्धं यतः। ४ ज्ञानम्। ५ एवकारोत्र भिन्नप्रक्रमे। तेनातदाकारेत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। बुद्धिर्विषयादुत्पद्यते चेत् तदा अतदाकारा कथमिति चेदुच्यते। एकत्वेन व्यवस्थिताच्चन्द्रलक्षणादर्थादुत्पद्यमाना बुद्धिर्यदा द्वित्वमवभासयति एकत्वं नावभासयति तदा अतदाकारा सती अस्पष्टव्यपदेशमर्हति। ६ अविषयाकारा। ७ विषयात्। ८ एतस्य तु स्पष्टत्वमभ्युपगतं बौद्धेन। ९ अतदाकारत्वं यतो बुद्धेः। १० स्पष्टसंवेदनेपि। ११ समीपे। १२ बाधाऽबाधत्वस्योभयत्रापि। १३ स्वयोः स्पष्टास्पष्टज्ञानयोर्ग्राहके च ते ज्ञाने च तयोः स्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्याम्। १४ प्रत्यक्षानुमानानाम्। १५ उक्तविपर्ययेणैव। स्वज्ञानस्य स्पष्टत्वास्पष्टत्वेनैव। १६ वीर्यं शक्तिः। ज्ञानस्य वीर्यस्य चावरणमवरोधकं कर्म। १७ अंशतः क्षयोपशमो भवति न सर्वतः। १८ प्रतिबन्धकोत्रावरणम्। १९ संवेदनस्य विशदत्वम्। २० मीमांसकाः। २१ अतिदूर। २२ परिहारे।

प्रथमपक्षोऽयुक्तः; तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात् । द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिः; भावेन्द्रिया[1]ख्यक्षयोपशमलक्षणयोग्यताव्यति[2]रेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः । तल्लक्षणाच्चाक्षात्स्पष्टत्वाभ्युपगमेऽस्म[3]न्मतप्रसिद्धिः ।

आलोकोप्येतेन[4] तद्धेतुः प्रत्याख्यातः । ततः स्थित[5]मेतद्विशदज्ञानस्वभावं प्रत्यक्षमिति ।

ननु किमिदं ज्ञानस्य वैशद्यं नामेत्याह अव्यवधानेनेत्यादि ।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥ ४ ॥

तुल्यजातीयापेक्षया च व्यवधानमव्यवधानं वा प्रतिपत्तव्यं न पुनर्देशकालाद्यपेक्षया । यथा 'उपर्युपरि स्वर्गपटलानि' इत्यत्रा[6]न्योन्यं तेषां देशादिव्यवधानेपि तुल्यजातीयानामपेक्षाकृता प्रत्यासत्तिः सामीप्यमित्युक्तम्, एवमत्रा[7]प्यव्यवधानेन प्रमाणान्तरै[8]र्निरपेक्षतया प्रतिभासनं वस्तुनोऽनुभवो वैशद्यं विज्ञानस्येति ।

नन्वेवमीहादिज्ञानस्यावग्रहाद्यपेक्षत्वादव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावात्प्रत्यक्षता न स्यात्; तदसारम्; अपरापरेन्द्रियव्यापारादेवावग्रहादीनामुत्पत्तेस्तत्र तदपेक्षत्वासिद्धेः । एक[9]मेव चेदं विज्ञानमवग्रहाद्यतिशयवदपरापरचक्षुरादिव्यापारादुत्पन्नं सत्स्वतन्त्रतया स्वविषये प्रवर्त्तते इति प्रमाणान्तरा[10]व्यवधानमत्रा[11]पि प्रसिद्धमेव । अनुमानादिप्रतीतिस्तु लिङ्गादिप्रतीत्यै[12]व जनिता सती स्वविषये प्रवर्त्तते इत्यव्यवधानेन प्रतिभासनाभावा[13]न्न प्रत्यक्षेति ।

ततो निरवद्यमेवंविधं[14] वैशद्यं प्रत्यक्षलक्षणम्, साकल्येनाखिलाध्यक्षव्यक्तिषु सम्भवेनाव्याप्त्यसम्भवदोषाभावात् । अतिव्याप्तिस्तु दूरोत्सारितैव अध्यक्षत्वानभिमते क्वचि[15]दप्येतल्लक्षणस्यासम्भवात् ।

---

१ (लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति सूत्रकारवचनम् । लब्धिर्हि इन्द्रियस्थानप्राप्तात्मप्रदेशानां तदावरणकर्मक्षयोपशमरूपा)। २ ज्ञानस्य। ३ जैनमतसिद्धिः। ४ अक्षस्य स्पष्टताहेतुनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। ५ समर्थितम्। ६ उदाहरणे। ७ ज्ञाने। ८ अनुमानं प्रमाणान्तरेण लिङ्गज्ञानेन जायते इति तद्व्युदासायैतत्पदम्। ९ मतिज्ञानम्। १० अवग्रहादिरूपस्य। ११ ईहादिमतिज्ञाने। १२ न प्रत्यक्षप्रतीत्या। १३ लिङ्गादिप्रतीत्या व्यवधानात्। १४ अव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणम्। १५ अनुमानादौ।

समन्धकारादौ ध्यामलित[1]वृक्षादिवेदनमप्यध्यक्षप्रमाणस्वरूपमेव, संस्थानमात्रे[2] वैशद्याविसंवादित्व[3]सम्भवात्। विशेषांशाध्यवसायस्त्वनुमानरूपः, लिङ्गप्रतीत्या व्यवहितत्वान्नाध्यक्षरूपतां प्रतिपद्यते। अतिदूरदेशे[4] हि पूर्वं संस्थानमात्रं प्रतिपद्य 'अयमेवंविधसंस्थानविशिष्टोर्थो वृक्षो हस्ती पलालकूटादिर्वा[5] एवंविधसंस्थानविशिष्टत्वान्यथानुपपत्तेः' इत्युत्तरकालं विशेषं विवेचयति। तरतमभावेन तत्प्रदेशसन्निधाने तु संस्थानविशेषविशिष्टमेवार्थं वैशद्यतरतमभावेनाध्यक्षत एव प्रतिपद्यते, विशदज्ञानावरणस्य तरतमभावेनैवापगमात्।

ननु च परोक्षेपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञादिस्वरूपसंवेदनेऽस्याध्यक्षलक्षण[6]स्य सम्भवादतिव्याप्तिरेव; इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; तस्य परोक्षत्वासम्भवात्, क्षायोपशमिकसंवेदनानां[7] स्वरूपसंवेदनस्यानिन्द्रियप्रधानतयोत्पत्ते[8]रनिन्द्रियाध्यक्षव्यपदेशसिद्धेः[9] सुखादिस्वरूपसंवेदनवत्। बहिरर्थ[10]ग्रहणापेक्षया हि विज्ञानानां प्रत्यक्षेतरव्यपदेशः, तत्र[11] प्रमाणान्तर[12]व्यवधानाव्यवधानसद्भावेन वैशद्येतरसम्भवात्, न तु स्वरूपग्रहणा[13]पेक्षया, तत्र तदभावात्[14]।

ततो[15] निर्दोषत्वाद्वैशद्यं प्रत्यक्षलक्षणं परीक्षादक्षैरभ्युपगन्तव्यं न 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' [न्यायसू० १।४] इत्यादिकं[16] तस्याव्यापकत्वादतीन्द्रियप्रत्यक्षे सर्वज्ञविज्ञानेऽस्यासत्त्वात्। न च 'तन्नास्ति' इत्यभिधातव्यम्[17]; प्रमाणतोऽनन्तरमेवास्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। तथा सुखादिसंवेदनेप्यस्या[18]सत्त्वम्। न हीन्द्रिय[19]सुखादिसन्निकर्षात्तज्ज्ञानमुत्पद्यते; सुखादेरेव स्वग्रहणात्मकत्वेनोदयादित्युक्तम्[20]। चाक्षुषसंवेदने चास्या[21]सत्त्वम्; चक्षुषोर्थेन सन्निकर्षाभावात्।

अथोच्यते—स्पर्शनेन्द्रियादिवच्चक्षुषोपि प्राप्य[22]कारित्वं प्रमाणात्प्रसाध्यते[23]। तथा हि-प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः बाह्येन्द्रिय[24]त्वा[25]त्स्पर्श-

---

१ अस्पष्ट। २ आकारमात्रे। ३ द्वन्द्वः। ४ उक्तमेव समर्थयन्ति। ५ कर्मणः। ६ अव्यवधानेन प्रतिभासनत्वलक्षणस्य। ७ स्मृत्यादीनाम्। ८ अनिन्द्रियं। (ईषदिन्द्रियं) मनः। ९ मानसप्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। १० एवं चेत्स्मृत्यादीनां परोक्षव्यपदेशो न स्यादित्युक्ते आह। ११ बहिरर्थग्रहणे। १२ अनुमानलक्षणप्रमाणाल्लिङ्गप्रत्यक्षं प्रमाणान्तरम्। १३ स्वसंवेदन। १४ प्रमाणान्तरव्यवधानाभावात्। १५ अव्याप्त्यादिदोषत्रयासम्भवो यतः। १६ परोक्तं प्रत्यक्षलक्षणम्। १७ परेण भवता। १८ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यादिकस्य। १९ मनः। २० जैनैः प्रथमपरिच्छेदे। २१ प्रत्यक्षलक्षणस्य। २२ प्राप्यकारि प्राप्य अर्थं जानातीत्यर्थः। २३ नैयायिकेन। २४ इन्द्रियत्वादित्युक्ते मनसा व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं बाह्यग्रहणम्। २५ बहिरर्थग्रहणाभिमुखत्वात्।

नेन्द्रियादिवत् । ननु किमिदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम-बहिरर्थाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वं वा? प्रथमपक्षे मनसानेकान्तः; तस्याप्राप्यकारित्वेपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्येन बाह्येन्द्रियत्वसिद्धेः। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धो हेतुः; रश्मिरूपस्य चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वस्य [1]भवतानभ्युपगमात् । गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयस्त्वन्मते प्रसिद्धाः । गोलकरूपस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायिनो [2]हेतुत्वे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्कालात्ययापदिष्टत्वम्[3] ।

न च बाह्यविशेषणेन मनो व्यवच्छेद्यम्, न हि तत्[4] सुखादौ संयुक्त[5]समवायादिसम्बन्धं व्याप्तौ च [6]सम्बन्धसम्बन्धमन्तरेण ज्ञानं [7]जनयति रूपादौ नेत्रादि[8]वत् । अथासौ सम्बन्ध एव न भवति; तर्हि नेत्रादीनां रूपादिभिरप्यसौ[9] न स्यात्, [10]तस्यापि सम्बन्धसम्बन्धत्वात् । तथा चेन्द्रियत्वाविशेषेपि मनोऽप्राप्तार्थप्र[10]काशकं तथा बाह्येन्द्रियत्वाविशेषेपि चक्षुः किं नेष्यते? अथात्र हेतुभावात्तन्नेष्यते; अन्य[11]त्रापि 'इन्द्रि[12]यत्वात्' इति हेतुः केन वार्येत? ततो मनसि [13]तत्साधने [14]प्रमाणबाधनमन्यत्रा[15]पि [16]समानम् ।

चक्षुश्चात्र[17] [18]धर्मित्वेनोपात्तं गोलकस्वभावम्, रश्मिरूपं वा? तत्राद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा; अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेश एवास्योपलम्भात्, अन्यथा [19]तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्योपलम्भः स्यात् । अथ रश्मिरूपं चक्षुः; तर्हि धर्मिणोऽसिद्धिः । न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, अर्थ[20]वत्तत्र तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्, [21]अन्यथा विप्रतिपत्त्य[22]भावः स्यात् । न खलु नीले नीलतयानुभूयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते ।

[23]किञ्च, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं [24]भवन्मते । न चार्थदेशे

---

१ नैयायिकेन । २ चक्षुःप्राप्तार्थप्रकाशकं बहिर्देशावस्थायित्वादित्यस्य । ३ प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधिते पक्षे प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः । ४ कर्तृ । ५ मनसा संयुक्ते आत्मनि सुखादेस्समवाय इति । ६ मन आत्मनात्मा चाशेषपदार्थैः साध्यसाधनरूपैस्सम्बध्यते इति । ७ इति सिद्धं प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधनम् । ८ नेत्रादिना संयुक्ते घटादौ रूपादेस्सम्बन्धसम्बन्धो यथा । ९ रूपादिषु नेत्रादीनां सम्बन्धसम्बन्धस्य । १० भवन्मताङ्गीकारेण । ११ मनसि । १२ मनः प्राप्तार्थप्रकाशकमिन्द्रियत्वात्त्वगादिवदिति । १३ प्राप्तार्थप्रकाशकत्वस्य । १४ आगमप्रमाणबाधा । १५ चक्षुषि । १६ प्रत्यक्षप्रमाणबाधनम् । १७ अनुमाने । १८ चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् । १९ गोलक । २० अर्थस्य यथा प्रतिभासनम् । २१ रश्मिस्वरूपं प्रतिभासते चेत् । २२ रश्मिरूपं चक्षुर्गोलकरूपं वेति । २३ रश्मिरूपं चक्षुरित्यस्मिन्पक्षे दूषणान्तरमाह । २४ नैयायिक ।

विद्यमानैस्तैरपरेन्द्रियस्य[1] सन्निकर्षोस्ति यतस्तत्र प्रत्यक्षमुत्पद्येत, अ[2]नवस्था[3]प्रसङ्गात्।

अथानुमानात्तेषां सिद्धिः; किमत[4] एव, अनुमानान्तराद्वा? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—अनुमानोत्थाने ह्यत[5]स्तत्सिद्धिः, अस्याश्चानुमानोत्थानमिति। अथानुमाना[6]न्तरात्तत्सिद्धिस्तदानव[7]स्था, तत्राप्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिप्रसङ्गात्।

यदि च गोलकान्तर्भूतात्तेजोद्रव्याद्बहिर्भूता[8] रश्मयश्चक्षुःशब्दवाच्याः पदार्थप्रकाशकाः; तर्हि गोलकस्योन्मीलनमञ्जनादिना संस्कारश्च व्यर्थः स्यात्। अथ गोलका[9]द्याश्र[10]यपिधाने तेषां विषयं प्रति गमनासम्भवात्तदर्थं तदुन्मीलनम्, घृतादिना च पादयोः संस्कारे तत्संस्कारो भवति स्वा[11]श्रयगोलकसंस्कारे तु नितरां स्यात्[12] इत्यस्या[13]पि न वैयर्थ्यम्; तदापि गोलकादिलग्नस्य कामलादेः प्रकाशकत्वं तेषां स्यात्। न खलु प्रदीपकलिकाश्रयास्तद्रश्मयस्तत्कलिकावलग्नं शलाकादिकं न प्रकाशयन्तीति युक्तम्।

न चात्र चक्षुषः सम्बन्धो नास्तीत्यभिधातव्यम्; यतो व्य[14]क्तिरूपं चक्षुस्तत्रासम्बद्धम्, शक्तिस्वभावं वा, रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः; व्यक्तिरूपचक्षुषः काचकामलादौ सम्बन्धप्रतीतेः। द्वितीयपक्षेपि तच्छक्तिरूपं चक्षुर्व्यक्तिरूपचक्षुषो भिन्नदेशम्, अभिन्नदेशं वा? न तावद्भिन्नदेशम्; तच्छक्तिरूपताव्याघातानुषङ्गान्निरा[15]धारत्वप्रसङ्गाच्च। न ह्यन्यशक्तिरन्याधारा युक्ता। तद्देशद्वारेणैवार्थोपलब्धिप्रसङ्गश्च। त[16]तोऽभिन्नदेशं चेत्[17]; तत्तत्र[18] सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा? सम्बद्धं चेत्; बहिरर्थवत्स्वा[19]श्रयं तत्सम्बद्धं चाञ्जनादिकमपि प्रकाश[20]येत्। असम्बद्धं चेत्कथमाधेयं[21] नाम अतिप्र[22]सङ्गात्?

अथ रश्मिरूपं चक्षुः[23], तस्यापि काचकामलादिना सम्बन्धोस्त्येव। न खलु स्फटिका[24]दिकूपिकामध्यगतप्रदीपा[25]दिरश्मयस्त[26]तो

१ अपरलोकानां लोचनस्य। २ अन्यथा=उत्पद्यते चेत्तर्हि। ३ ग्रन्थानवस्था। ४ प्रथमानुमानात्। ५ अनुमानात्। ६ रश्मिरूपं चक्षुस्तैजसत्वात्प्रदीपवदित्यस्मात्। ७ ग्रन्थानवस्था। ८ भवत्प्रक्रियामात्रेण। ९ बसः। १० गोलकान्तर्भूततेजोद्रव्यस्य। ११ स्वस्य रश्मिरूपचक्षुषः। १२ रश्मिरूपचक्षुषः संस्कारः। १३ गोलकस्याञ्जनादिना संस्कारस्य। १४ गोलकरूपम्। १५ शक्तेः। १६ व्यक्तिरूपचक्षुषः। १७ शक्तिस्वभावम्। १८ व्यक्तिरूपे चक्षुषि। १९ शक्तिरूपेन्द्रियस्याश्रयं गोलकम्। २० उभयत्र सम्बन्धाविशेषात्। २१ शक्तिरूपम्। २२ सह्यस्य विन्ध्याधेयता स्यादसम्बन्धत्वाविशेषात्। २३ तृतीयपक्षे। २४ काचादि। २५ अदिपदेन रत्नादि। २६ स्फटिकादिकूपिकायाः सकाशात्।

निर्गच्छन्त[1]स्तत्संयोगिनो[2] न सम्बद्धास्तत्प्रकाशका वा न भवन्तीति प्रतीतम्। तथा[3] चाञ्जनादेः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धेः परोपदेशस्य दर्पणादेश्च तदर्थ[4]स्योपादानमनर्थकमेव स्यात्।

किञ्च, यदि गोलकान्निःसृत्यार्थेनाभिसम्बद्ध्यार्थं ते[5] प्रकाशयन्ति; तर्ह्यर्थं प्रति गच्छतां तैजसानां रूप[6]स्पर्श[7]विशेषवतां तेषा[8]मुपलम्भः स्यात्, न चैवम्, अतो दृश्यानामनुपलम्भात्तेषामभावः। अथादृश्यास्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वात्[9]; न; अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य तेजोद्रव्यस्याप्रतीतेः। जल[10]हेम्नोर्भासुररूपोष्णस्पर्शयोरनुद्भूतिप्रतीतिरस्तीत्यसम्यक्; उभयानुद्भूतेस्तत्रा[11]प्यप्रतिपत्तेः। दृष्टा[12]नुसारेण चादृष्टार्थकल्पना, अन्यथा[13]तिप्रसङ्गात्। तथाहि–रात्रौ दिनकरकराः सन्तोपि नोपलभ्यन्तेऽनुद्भूतरूपस्पर्शत्वाच्चक्षूरश्मिवत्। प्रयोगश्च—मार्जारादीनां[14] चक्षुषा रूपदर्शनं बाह्यालोकपूर्वकम् तत्त्वाद्दिवाऽस्मदादीनां तद्दर्शनवत्। ननु मार्जारादीनां चाक्षुषं तेजोस्ति, तत एव तत्सिद्धेः किं बाह्यालोककल्पनयेत्यन्यत्रा[15]पि समानम्[16]। ननु यथा[17] यद्दृश्यते[18] तथा तत्कल्प्यते, दिवास्मदादीनां चाक्षुषं सौर्यं च तेजो विज्ञानकारणं दृश्यते तत्तथैव[19] कल्प्यते, रात्रौ तु चाक्षुषमेव[20], अतस्तदेव तत्कारणं[21] कल्प्यते। ननु किं मनुष्येषु नायनरश्मीनां दर्शनम[22]स्ति[23]? अथा[24]नुमेयास्ते; तर्हि रात्रौ सौर्यरश्मयोप्यनुमेयाः सन्तु। न च रात्रौ तत्सद्भावे नक्तञ्चराणामिव मनुष्याणामपि रूपदर्शनप्रसङ्गः[25]; विचित्र[26]शक्तित्वाद्भावा[27]नाम्। कथमन्यथो[28]लूकादयो दिवा न पश्यन्ति? यथा[29] चात्रा[30]लोकः[31]

---

१ वहिः। २ श्रीखण्डेन। ३ सम्बन्धे सति। ४ अञ्जनादिपरिज्ञानार्थम्। ५ रश्मयः। ६ भासुर। ७ उष्ण। ८ रश्मीनाम्। ९ इति चेन्नेत्यर्थः। १० अप्रतीतिं परिहरति परः। ११ एकस्मिन्नुष्णोदकलक्षणे हेमलक्षणे वा तैजसद्रव्ये। १२ यदैकस्मिंस्तेजोद्रव्ये उभयानुद्भूतिर्न दृष्टा तथापि चक्षूरश्मिषूभयानुद्भूतिः कल्प्यते इत्युक्ते आह। १३ अदृष्टानुसारेणादृष्टार्थकल्पना यदि स्यात्। १४ रात्रौ। १५ नरनेत्रे। १६ मनुष्याणां चाक्षुषं तेजोस्ति तत एव तत्सिद्धेः किं बाह्यालोककल्पनया। १७ कारणत्वेन। १८ तेजः। १९ कारणत्वेन। २० मार्जारादीनाम्। २१ रूपदर्शनकारणम्। २२ प्रतीतिः। २३ येनैवं परिहारः परेणोच्यते। न सन्तीत्यर्थः। २४ परः। २५ सौर्यरश्मिसद्भावात्। २६ कथं विचित्रशक्तित्वम्? रात्रौ विद्यमानाः सौर्यरश्मयो नक्तञ्चराणां रूपज्ञानहेतवो न मनुष्याणामिति। २७ सौर्यरश्मीनाम्। २८ भावानां विचित्रशक्तित्वं न स्याद्यदि। २९ परमते। ३० दिवसे। ३१ घूकानाम्।

प्रतिबन्धकः, तथा[1]न्यत्र[2] तमः[3]। ततो यथानुपलम्भान्न सन्ति रात्रौ भास्करकरास्तथान्यदा[4] नायनकरा इति[5]।

एतेन[6] 'दूरस्थितकुड्यादिप्रतिफलितानां[7] प्रदीपरश्मीनामन्तराले[8] सतामप्यनुपलम्भसम्भवात् तैरनुपलम्भो व्यभिचारी; इत्यपि निरस्तम्[9]; आदित्यरश्मीनामपि[10] रात्रावभावासिद्धिप्रसङ्गात्[11]।

अथोच्यते—चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकम् तैजसत्वात्प्रदीपवत्। ननु किमनेन[12] चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते, अन्यतः[13] सिद्धानां तेषां ग्राह्यार्थसम्बन्धो वा? प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, नरनारीनयनानां प्रभासुररश्मिरहितानां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वम्। अथादृश्यत्वात्तेषां न प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य। नन्वेवं पृथिव्यादेरपि तत्सत्त्वप्रसङ्गः; तथा हि-पृथिव्यादयो रश्मिवन्तः सत्त्वादिभ्यः प्रदीपवत्। यथैव हि तैजसत्वं रश्मिवत्तया व्याप्तं प्रदीपे प्रतिपन्नं तथा सत्त्वादिकमपि। अथ तेषां तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः; सोन्यत्रापि समान इत्युक्तम्।

ननु मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः तत्कथं तद्विरोधः? यदि नाम तत्र[14] प्रतीयन्तेऽन्यत्र[15] किमायातम्? अन्यथा[16] हेम्नि पीतत्वप्रतीतौ पटादौ सुवर्णत्वसिद्धिप्रसङ्गः। प्रत्यक्षबाधनमुभयत्रापि[17]।

किञ्च, मार्जारादिचक्षुषोर्भासुररूपदर्शनादन्यत्रापि चक्षुषि तैजसत्वप्रसाधने[18] गवादिलोचनयोः कृष्णत्वस्य नरनारीनिरीक्षणयोर्धावल्यस्य च प्रतीतेरविशेषेण[19] पार्थिवत्वमाप्यत्वं वा साध्यताम्। कथं च प्रभासुरप्रभारहितनयनानां तैजसत्वं सिद्धं यतः सिद्धो हेतुः? किमतः[20] एवानुमानात्, तदन्तराद्वा? आद्यविकल्पेऽन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि तेषां रश्मिवत्त्वे तैजसत्वसिद्धिः, ततश्च तत्सिद्धिरिति।

---

१ जैनमते। २ रात्रौ। ३ नराणां प्रतिबन्धकम्। ४ दिवा। ५ अपि न सन्ति। ६ रात्रौ दिनकरकराणामभावसाधनपरेण ग्रन्थेन। ७ प्रतिबिम्बितानाम्। ८ प्रदीपकुड्याद्योः। ९ जैनैः। १० अन्यथा। ११ न सन्त्यनुपलभ्यमानत्वादिति। १२ अनुमानेन। १३ प्रमाणात्। १४ मार्जारादिनयनेषु। १५ नरनारीनयनेषु। १६ अन्यत्र प्रतीतस्यान्यत्र विधिर्यदि। १७ हेम्नि पीतत्वात्पटे सुवर्णत्वसाधने प्रत्यक्षबाधनं यथा तथा तैजसत्वाच्चक्षुषि रश्मिवत्त्वसाधने च प्रत्यक्षबाधनम्। १८ नरनयनं रश्मिवत् तैजसत्वान्मार्जारादिचक्षुर्वदिति। १९ अशेषनेत्राणाम्। २० तैजसत्वादित्यस्मात्।

अथ 'चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव[1] प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इत्यनुमानान्तरात्तत्सिद्धिः[2]; न; अत्रापि गोलकस्य भासुररूपोष्णस्पर्शरहितस्य तैजसत्वसाधने पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, 'न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात्, यत्पुनस्तैजसं तन्न तमःप्रकाशकं यथालोकः' इत्यनुमानबाधा च । प्रसाधयिष्यते च 'तमोवत्' इत्यत्र[3] तमसः सत्त्वम् । प्रदीपवत्तैजसत्वे चास्य[4]लोकापेक्षा न स्यादुष्णस्पर्शा[5]दितयोपलम्भश्च स्यात्, न चैवम्, तदपेक्षतया मनुष्यपारावतबलीवर्दादीनां धवललोहितकाल[6]रूपतयानुष्णस्पर्शस्वभावतया चास्योपलम्भात् । तन्न गोलकं चक्षुः[7] ।

नाप्यन्यत्[8]; तद्ग्राहक[9]प्रमाणाभावेनाश्रयासिद्धत्वप्रसङ्गाद्धेतोः । 'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति हेतुश्च जलाञ्जन[10]चन्द्रमाणिक्या[11]दिभिरनैकान्तिकः[12] । तेषामपि पक्षीकरणे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा, सर्वो हेतुरव्यभिचारी च स्यात् । न च जलाद्यन्तर्गतं तेजोद्रव्यमेव रूपप्रकाशकमित्यभिधातव्यम्; सर्वत्र[13] दृष्टहेतु[14]वैफल्यापत्तेः । तथा च दृष्टान्तासिद्धिः, प्रदीपादावप्यन्यस्यैव[15] तत्[16]प्रकाशकस्य कल्पनाप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षबाधनमुभयत्र[17] । निराकरिष्यते च "नार्थालोकौ कारणम्" [परी० २।६] इत्यत्रालोकस्य रूपप्रकाशकत्वम्[18] ।

किञ्च, रूपप्रकाशकत्वं तत्र ज्ञानजनकत्वम् । तच्च कारण[19]विषय[20]वादिनो[21] घटादिरूपस्या[22]प्यस्तीत्यनेन हेतो[23]र्व्यभिचारः । 'करण[24]त्वे

१ रूपस्येत्युच्यमाने आत्ममनोभ्यां व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं रूपस्यैवेत्युक्तम् । रूपस्यैव प्रकाशकत्वादित्युच्यमाने असिद्धत्वम् । कुतः ? द्रव्यद्रव्यत्वयोरपि चक्षुषा प्रकाशनात् । तत्परिहारार्थं रूपादीनां मध्ये इत्युक्तम् । अनेन द्रव्यद्रव्यत्वयोः परिहारः—रूपादीनां गुणानामेव निर्धारितत्वात् । २ इति यदुक्तं तन्नेत्यर्थः । ३ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवदित्यस्य सूत्रस्य व्याख्यावसरे । ४ चक्षुषः । ५ आदिपदेन स्फोटादि । ६ कृष्ण । ७ धर्मि । ८ रश्मिरूपम् । ९ रश्मिरूपचक्षुषः । १० रूपस्याप्येते प्रकाशकाः । ११ आदिपदेन काचादिभिरपि । १२ यद्रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकं तत्तैजसमित्युक्ते जलाञ्जनादिभिर्हेतुर्व्यभिचारी स्यादित्यर्थः । १३ कार्ये । १४ कारण । १५ पिशाचादेः । १६ रूप । १७ जलादेरेव रूपप्रकाशकत्वोपलम्भादन्यस्य । रूपप्रकाशकत्वकल्पनेपि । १८ साधनविकलो दृष्टान्त इति निरूपितमनेन । १९ यत्कारणं ज्ञानं जनयति तदेव ज्ञानस्य विषयो भवतीति । २० ज्ञानस्य । २१ नैयायिकस्य । २२ घटादिरूपं रूपज्ञानजनकं न तु तैजसम् । २३ प्रकाशकत्वादित्यस्य । तैजसत्वसाध्यस्याभावो(वे)पि साधनमस्ति यतः । २४ चक्षुस्तैजसं करणत्वे सति रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वादित्युक्तेपीत्यर्थः ।

सति' इति विशेषणेप्यालोकार्थसन्निकर्षेण[1] चक्षूरूपयोः संयुक्त[2]समवायसम्बन्धेन चानेकान्तः। 'द्रव्यत्वे[3] करणत्वे[4] च सति तत्प्र[5]काशकत्वात्' इति विशेषणेपि चन्द्रादिनानेकान्तः[6]।

किञ्च, द्रव्यं[7] रूपप्रकाशकं भासुररूपम्, अभासुररूपं वा? प्रथमपक्षे उष्णोदकसंसृष्टमपि तत् तत्प्रकाशकं स्यात्। अनुद्भूत[8]रूपत्वान्नेति चेत्, नायनरश्मीनामप्यत एव तन्माभूत्[9]। तथा[10] दृष्टत्वादित्यप्यनुत्तरम्; संशयात्, न हि तत्र[11] निश्चयोस्ति ते तत्प्रकाशका[12] न गोलकमिति। अनुद्भूतरूपस्य तेजोद्रव्यस्य दृष्टान्तेपि रूपप्रकाशकत्वाप्रतीतेः। तथाच, न चक्षू रूपप्रकाशकमनुद्भूतरूपत्वा[13]ज्जलसंयुक्तानलवत्। द्वितीयपक्षेपि उष्णोदकतेजो[14]रूपं तत्प्रकाशकं[15] स्यात्। न हि तत्तत्र नष्टम्, 'अनुद्भूतम्' इत्यभ्युपगमात्[16]। उद्भूतं तत्तत्[17]प्रकाशकमित्यभ्युपगमे रूपप्रकाशस्तद[18]न्वयव्यतिरेकानुविधायी तस्यैव[19] कार्यो न द्रव्यस्य[20]। न खलु देवदत्तं प्रति पश्वादीनामागमनं तद्गुणा[21]न्वयव्यतिरेकानुविधायि देवदत्तस्य कार्यम्[22]। ततो 'द्रव्यत्वे सति' इति विशेषणासिद्धिः।

किञ्च, सम्बन्धा[23]दे[24]रिवाऽतैजसस्यापि द्रव्यरूपकरणस्य कस्यचि[25]द्रूपज्ञानजनकत्वं किन्न स्यात्, विपक्ष[26]व्यावृत्तेः[27] सन्दिग्धत्वा[28]दतैजसत्वे रूपज्ञानजनकत्वस्या[29]विरोधात्? तदेवं तैजसत्वासिद्धेर्नातः[30] चक्षुषोरश्मिवत्त्वसिद्धिः।

अथा[31]न्यतः सिद्धानां रश्मीनां ग्राह्यार्थसम्बन्धोनेन साध्यते; न[32]; अन्यतः कुतश्चि[33]त्तेषामसिद्धेः, प्रत्यक्षादेस्तत्साधकत्वेन प्राक्प्र-

---

१ सन्निकर्षाः संयुक्तसमवायादयः करणं भवन्ति न तु तैजसम्। २ चक्षुषा संयुक्ते घटे रूपस्य समवायसम्बन्ध इत्यतः सन्निकर्षोपि संयुक्तसमवाय एवात्र। ३ तेजोद्रव्ये सन्निकर्षादयो गुणास्तद्व्यवच्छेदार्थं द्रव्यत्वे सतीति विशेषणम्। ४ चक्षुस्तैजसं द्रव्यत्वे करणत्वे च सति रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्। ५ रूप। ६ चन्द्रे तैजसत्वाभावात्। ७ तेजोद्रव्यम्। ८ भासुररूपस्य। ९ रूपप्रकाशकत्वम्। १० अनुद्भूतरूपस्यापि तेजोद्रव्यस्य रूपप्रकाशकत्वेन। ११ तेजोद्रव्ये। १२ रूप। १३ भासुर। १४ उष्णोदकगततेजोरूपम्। १५ रूप। १६ परेण। १७ रूप। १८ उद्भूततेजोरूपस्य। १९ गोलकगतोद्भूततेजोरूपस्य। २० तेजोद्रव्यस्य। २१ मन्त्रतन्त्रादि। २२ किन्तु देवदत्तगुणस्यैव कार्यम्। २३ सन्निकर्षादि। २४ आदिपदेन संयोगस्य चन्द्रादेश्च। २५ गोलकरूपस्य। २६ विपक्षादतैजसाज्जलादेः। २७ रूपज्ञानजनकत्वहेतोः। २८ यत्तैजसं न भवति तन्न रूपप्रकाशकमिति। २९ जलादीनाम्। ३० तैजसत्वादिति हेतोः। ३१ द्वितीयपक्षः। ३२ इति चेन्न। ३३ प्रमाणात्।

तिषिद्धत्वात् । तथा चेदमयुक्तम्–"धत्तूरकपुष्पवदादौ सूक्ष्माणामप्यन्ते महत्त्वं तद्रश्मीनां महापर्वतादिप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्तेः ।" [ ] इति; स्वरूपतोऽसिद्धानां तेषां महत्त्वादिधर्मस्य श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । ततो रश्मिरूपचक्षुषोऽप्रसिद्धेर्गोलकस्य च प्राप्यकारित्वे प्रत्यक्षबाधितत्वात्कस्य प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं साध्येत ? यदि च स्पर्शनादौ प्राप्यकारित्वोपलम्भाच्चक्षुषि तत्साध्येत; तर्हि हस्तादीनां प्राप्तानामेवान्याकर्षकत्वोपलम्भादयस्कान्तादीनां[1] तथा[2] लोहाकर्षकत्वं किन्न साध्येत ? प्रमाणबाधा[3]न्यत्रापि[4] ।

अथार्थेन चक्षुषोऽसम्बन्धे कथं तत्र ज्ञानोदयः ? क एवमाह–'तत्र ज्ञानोदयः' इति ? आत्मनि ज्ञानोदयाभ्युपगमात्[5] । न चाप्राप्यकारित्वे चक्षुषः सकृत्सर्वार्थप्रकाशकत्वप्रसङ्गः; प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्[6] । 'यः[7] एव यत्र[8] योग्यः स एव तत्करोति' इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते । कार्य[9]कारणयोरत्यन्तभेदेऽर्थान्तरत्वाविशेषात् 'सर्व[10]मेक[11]स्मात्कुतो न जायेत[12]' इति, 'रश्मयो वा लोकान्तं कुतो न गच्छन्ति' इति चोद्ये[13] भवतो[14]पि योग्यतैव शरणम् ।

किञ्च, चक्षू रूपं प्रकाशयति संयुक्तसमवायसम्बन्धात्, स चास्य गन्धादावपि समान इति तमपि प्रकाशयेत् । तथा चेन्द्रियान्तरवैयर्थ्यम् । योग्यताऽभावात्तदप्रकाशने सर्व[15]त्र सैवास्तु, किमन्तर्गडुना सम्बन्धेन[16] ? यदि चायमेका[17]न्तश्चक्षुषा सम्बद्धस्यैव ग्रहणमिति; कथं तर्हि स्फटिकाद्यन्तरितार्थग्रहणम् ? तद्र[18]श्मीनां तं प्रति गच्छतां स्फटिकाद्यवयविना प्रतिबन्धात् । तैस्तस्य नाशितत्वाददोषे तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये स्फटिकादेरुपलम्भो न[19] स्यात् । तस्योपरि स्थितद्र[20]व्यस्य च पातप्रसक्तिः आधारभूतस्यावयविनो नाशात् । न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारा वा; अ[21]वयविकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । अवय[22]व्यन्तरस्योत्पत्तेरदोषे तदा तद्व्यवहितार्थानुपलम्भप्रसङ्गः । न चैवम्, युगपत्त[23]योर्निरन्तरमुपलम्भात् । अथाशु व्यू[24]हान्तरोत्पत्तेर्निरन्तरस्फटिकादिवि-

---

१ अप्राप्ताकर्षकाणाम् । २ प्राप्तत्वप्रकारेण । ३ प्रत्यक्षबाधा । ४ चक्षुष्यपि । ५ जैनैः । ६ चक्षुरादीनाम् । ७ कुत एतदित्याह । ८ कार्ये । ९ कार्यकारणभावनियमे न योग्यता कारणं किन्त्वन्यदेव कारणमित्युक्ते आह । १० कार्यम् । ११ कारणात् । १२ भिन्नत्वाविशेषात् । १३ जैनैः । १४ नैयायिकस्य । १५ कार्यनियमे । १६ सन्निकर्षेण । १७ नियमः । १८ तस्य चक्षुषः । १९ नष्टत्वात् । २० कलशादेः । २१ अन्यथा । २२ एकस्य नाशेऽपरस्योत्पत्तेः । २३ स्फटिकस्फटिकान्तरितार्थयोः । २४ स्कन्धान्तरस्य ।

भ्रमः; तदभावस्याप्याशु प्रवृत्तेरभावविभ्रमः किन्न स्यात्? भावपक्षस्य बलीय[1]स्त्वमित्ययुक्तम्; भावाभावयोः परस्परं स्वकार्यकरणं प्रत्यविशे[2]षात्।

कथं च समलजलान्तरितार्थस्योपलम्भो न स्यात्? ये हि तद्रश्मयः कठिनमतितीक्ष्णलोहाऽभेद्यं स्फटिकादिकं भिन्दन्ति तेषां जलेऽतिद्रवस्वभावे काऽक्षमा? अथ नीरेण नाशितत्वान्न ते तद्भिन्दन्ति; तर्हि स्वच्छजलव्यवस्थितस्याप्यनुपलम्भप्रसङ्गः। योग्यताङ्गीकर[3]णे [4]सर्वं सुस्थम्। ततः प्रोक्तदोषपरिहारमिच्छ[5]ता प्रतीतिसिद्धमप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽभ्युपगन्तव्यम्।

तथाहि–'चक्षुरप्राप्तार्थप्रकाशकमत्यास[6]न्नार्थाप्रकाशकत्वात्, यत्पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यासन्नार्थप्रकाशकं दृष्टं यथा श्रो[7]त्रादि, अत्यासन्नार्थाप्रकाशकं च चक्षुस्तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकम्' इति। न चायमसिद्धो हेतुः; काचकामला[8]द्यत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वस्य चक्षुषि प्रागेव प्रसाधितत्वात्। ननु सा[9]ध्याविशिष्टोयं हेतुः, '[10]पर्युदासप्रतिषेधे हि यदेवस्याप्राप्यकारित्वं तदेवात्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वम्' इति। [11]प्रसज्यप्रतिषेध[12]स्तु जैनैर्नाभ्युपगम्यते [13]अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; प्र[14]सङ्गसाधनत्वादेत[15]स्य। श्रोत्रादौ हि प्राप्यकारित्वात्यासन्नार्थप्रकाशकत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सत्यां [16]परस्य [17]व्यापकाभावे[18]ष्ट्याऽत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वलक्षणयाऽनिष्टस्य प्राप्यकारित्वलक्षणव्याप्याभावस्यापादानमात्र[19]मेवानेन विधीयते, इत्युक्तदोषाप्रसङ्गः। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा; विपक्ष[20]स्यैकदेशे तत्रैव वाऽस्या[21]ऽप्रवृत्तेः।

न च स्पर्शनेन प्राप्यकारिणाप्यत्यासन्नस्याभ्यन्तरशरीरावयवस्पर्शस्याप्रकाशनादनेकान्तः; अस्य त[22]त्कारणत्वेन तदविषयत्वात्। स्वकारणव्यतिरिक्तो हि स्पर्शादिः स्पर्शनादीन्द्रियाणां

---

१ बलीयस्त्वादित्यर्थः। २ बलीयस्त्वस्य। ३ समलजले शक्तिर्नास्ति स्वच्छजलेस्ति तर्हि योग्यतैव कारणम्। ४ अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वेपि न सकलार्थग्राहकं चक्षुः। यत्र योग्यता तं प्रकाशयति यत्र योग्यता नास्ति तं न प्रकाशयतीति। ५ नैयायिकेन। ६ कामलादि। ७ शब्दादिकं प्रकाशयत्। ८ आदिपदेनाञ्जनादि। ९ साध्यसम इत्यर्थः। १० हेतुस्थितनञो विचारः। ११ अत्यासन्नार्थं न प्रकाशयतीति। १२ सर्वथा तुच्छाभावः। १३ अन्यथा। १४ (जैनो वक्ति) परेष्टयाऽनिष्टापादनं प्रसङ्गसाधनम्। १५ अनुमानस्य। १६ नैयायिकस्य। १७ चक्षुषीत्यध्याह्रियते। १८ चक्षुषा। १९ अनुमानेन। २० प्राप्यकारित्वस्य। २१ हेतोः। २२ तस्य उपादानकारणत्वेन, न तु निमित्तकारणत्वेन।

विषयः, तत्रैवाभिमुख्यसम्भवेनामीषां प्रकाशनयोग्यतोपपत्तेः। कथमन्यथैकशरीरप्रदेशान्तरगतस्पर्शनेन तत्प्रदेशान्तरगतः स्पर्शः प्रकाश्येत? न च कामलादयोऽञ्जनादयो वा चक्षुषः कारणं येन तेषामप्यनेन न्यायेन प्रकाशनं न स्यात्, स्वसामग्रीतस्तत्सन्निधानात्प्रागेवास्योत्पन्नत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टोयम्; प्रत्यक्षस्य पक्षाबाधकत्वेन प्रागेव समर्थनात्, आगमस्य च तद्बाधकस्यासम्भवात्। नापि सत्प्रतिपक्षः; विपरीतार्थोपस्थापकानुमानानां प्रागेव प्रतिध्वस्तत्वादिति। तथा, 'चक्षुर्गत्वा नाऽर्थेनाभिसम्बध्यते इन्द्रियत्वात्स्पर्शनादीन्द्रियवत्' इत्यनुमानाच्चास्याप्राप्यकारित्वसिद्धिः। अर्थस्य च तद्देशागमने प्रत्यक्षविरोध इति।

तच्चोक्तप्रकारं प्रत्यक्षं मुख्यसांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारेण द्विप्रकारम्। तत्र सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारस्योत्पत्तिकारणस्वरूपे प्रकाशयति—

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥ ५ ॥

विशदं प्रत्यक्षमित्यनुवर्त्तते। तत्र समीचीनोऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। नन्वेवंभूतमनुमानमप्यत्र सम्भवतीति तदपि सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं प्राप्नोतीत्याशङ्कापनोदार्थम्-'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः' इत्याह। देशतो विशदं यत्तत्प्रयोजनं ज्ञानं तत्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युच्यते नान्यदित्यनेन तत्स्वरूपम्, इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमित्यनेन पुनस्तदुत्पत्तिकारणं प्रकाशयति।

तत्रेन्द्रियं द्रव्यभावेन्द्रियभेदाद्द्वेधा। तत्र द्रव्येन्द्रियं गोलकादिपरिणामविशेषपरिणतरूपरसगन्धस्पर्शवत्पुद्गलात्मकम्, पृथिव्यादीनामत्यन्तभिन्नजातीयत्वेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धितस्तस्य प्रत्येकं तदारब्धत्वासिद्धेः। द्रव्यान्तरत्वासिद्धिश्च तेषां विषयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते। भावेन्द्रियं तु लब्ध्युपयोगात्मकम्। तत्राऽऽवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः, तदभावे सतोप्यर्थ-

---

१ स्वकारणव्यतिरिक्ते स्पर्शादावाभिमुख्यं नास्ति यदि। २ पूर्वानुमानप्रकारेण। ३ स्वेष्टानिष्टयोरर्थयोः। ४ लोके। ५ अनुमानादि। ६ आचार्यः। ७ इन्द्रियानिन्द्रिययोर्मध्ये। ८ सर्वाङ्गगतत्वग्, जिह्वा, नासा, गोलकपक्ष्मपुट, कर्णशष्कुलीति पञ्चसंख्यात्मकम्। ९ सर्वथा। १० चतुर्थे।

स्याप्रकाशनात्, अन्यथा[1]तिप्रसङ्गः[2] । उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापारः[3], विषयान्तरासक्ते चेतसि सन्निहितस्यापि विषयस्याग्रहणात्तत्सिद्धिः । एवं मनोपि द्वेधा द्रष्टव्यम् ।

ततः "पृथिव्यप्तेजोवायुभ्यो घ्राणरसनचक्षुःस्पर्शनेन्द्रियभावः" [ ] इति[4] प्रत्याख्यातम्; पृथिव्यादीनामन्योन्यमेका[5]न्तेन द्रव्यान्तरत्वासिद्धेः, अन्यथा जलादे[6]र्मुक्ताफलादिपरिणामाभावप्रसक्तिरात्मादिवत् । न चैवम्, प्रत्यक्षादिविरोधात् ।

अथ मतम्-पार्थिवं घ्राणं रूपादिषु सन्निहितेषु गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वान्नागकर्णिकाविमर्दककरतलवत्; तदप्यसङ्गतम्; हेतोः सूर्यरश्मिभिरुदकसेकेन चानेकान्तात् । दृश्यते हि तैलाभ्यक्तसूर्यादित्यमरीचिकाभिर्गन्धाभिव्यक्तिर्भूमेस्तूदकसेकेनेति । 'आप्यं रसनं रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत्' इत्यत्रापि हेतोर्लवणेन व्यभिचारः, तस्यानाप्यत्वेपि रसाभिव्यञ्जकत्वप्रसिद्धेः । 'चक्षुस्तैजसं रूपादिषु सन्निहितेषु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत्' इत्यत्रापि हेतोर्माणिक्याद्युद्द्योतितेनानेकान्तः । 'वायव्यं स्पर्शनं रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्तो-यशीतस्पर्शव्यञ्जकवाय्ववयविवत्[11]' इत्यत्रापि कर्पूरादिना[12] सलिले[13]शीतस्पर्शव्यञ्जकेनानेकान्तः[14] ।

पृथिव्यप्तेजःस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाच्चास्य[15] पृथिव्यादिकार्यत्वानुषङ्गो वायुस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वाद्वायुकार्यत्ववत् । चक्षुषश्च तेजोरूपाभिव्यञ्जकत्वात्तेजःकार्यत्ववत् पृथिव्यप्समवायिरूपव्यञ्जकत्वात्पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसङ्गः । रसनस्य चाप्यरसाभिव्यञ्जकत्वादप्कार्यत्ववत् पृथिवीरसाभिव्यञ्जकत्वात्पृथिवीकार्यत्वप्रसङ्गः ।

'नाभसं श्रोत्रं रूपादिषु सन्निहितेषु शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्' इति चाऽसाम्प्रतम्; शब्दे नभोगुणत्वस्याग्रे प्रतिषेधात् । ततश्चेदमप्ययुक्तम्-"शब्दः स्वसमानजातीय[16]विशेषगुणवतेन्द्रियेण

---

१ तदभावेप्यर्थप्रकाशनं चेत् । २ पिशाचपरमाण्वादेरपि ग्रहणप्रसङ्गः । ३ विषयं प्रत्यभिमुखता । ४ नैयायिकमतम् । ५ सर्वथा । ६ आदिपदेन चन्द्रकान्तादेश्च । ७ पार्थिवत्वाभावात् । ८ नुः । ९ तैजसत्वाभावात् । १० तोयगत । ११ यसः । १२ पार्थिवेन । १३ सलिलगत । १४ वायव्याभावात् । १५ स्पर्शनेन्द्रियस्य । १६ शब्दो विशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता भविष्यति । न हि जैनेनापि रूपलक्षणगुणवता श्रोत्रेण शब्दो न गृह्यते इत्यभ्युपगम्यते । तद्व्यवच्छेदार्थं समानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते इत्युक्तम् । तथापि स्तम्भगतरूपेण समानजातीयरूपलक्षणविशेषगुणवतेन्द्रियेण शब्दो गृह्यत इत्यभ्युपगमात्सिद्धसाध्यता ।

गृह्यते सामान्यविशेषवत्त्वे सति वाह्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, वाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्यनात्मविशेषगुणत्वाद्वा रूपादिवत्" [ ] इति। ततो नेन्द्रियाणां प्रतिनियतभूतकार्यत्वं व्यवतिष्ठते प्रमाणाभावात्। [1]प्रतिनियतेन्द्रिययोग्यपुद्गलारब्धत्वं तु द्रव्येन्द्रियाणां प्रतिनियतभावेन्द्रियो[2]पकरणभूतत्वान्यथानुपपत्तेर्घटते इति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

ननु चेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं [3]तदित्यसाम्प्रतम्, आत्मार्थालोका[4]देरपि [5]तत्कारणत[6]याऽत्राभिधानार्हत्वात्; तन्न; आत्मन[7]ः [8]समन[9]न्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्ययान्त[10]रेऽप्यविशेषात् [11]अत्रानभिधानम् असाधा[12]रणकारणस्यैव निरूपयितुमभिप्रेतत्वात्। सन्निकर्षस्य चाऽव्याप[13]कत्वादसाधकतमत्वाच्चानभिधानम्। अर्थालोकयोस्त[14]दसाधारणकारणत्वादत्रा[15]ऽभिधानं तर्हि [16]कर्त्तव्यम्; इत्यप्यसत्; तयोर्ज्ञानकारणत्वस्यैवासिद्धेः। तदाह—

नार्थाऽऽलोकौ [17]कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्॥ ६॥

प्रसिद्धं हि तमसो विज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनातत्कारणस्यापि परिच्छेद्यत्व[18]म्। ननु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेणान्यस्य तमसोऽभावा-

---

तद्व्युदासार्थं स्वेन शब्दलक्षणेन समानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यत इत्युक्तम्। साध्यविशेषणसाफल्यानन्तरं हेतुविशेषणसाफल्यमुच्यते। इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने घटेनानेकान्तः। घटो हि इन्द्रियग्राह्यो भवति न च स्वसमानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते—घटस्य द्रव्यत्वेन तत्समानजातीयस्य गुणस्याभावात्। तेनानेकान्तव्युदासार्थमेकेन्द्रियग्राह्यत्वादित्युक्तम्। न हि घटस्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वं स्पर्शनादीन्द्रियेणापि ग्रहणात्। एकेन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनानेकान्तः। आत्मा हि मनोलक्षणैकेन्द्रियग्राह्यो भवति, न च समानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते—आत्मनो द्रव्यत्वेन तत्समानजातीयस्य गुणस्य मनस्यभावात्। तत्परिहारार्थं बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वादित्युक्तम्। तथा च रूपत्वादिनानेकान्तः। रूपत्वादिकं बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यं भवति, न च स्वसमानजातीयविशेषगुणवतेन्द्रियेण गृह्यते—रूपत्वस्य सामान्यभावेन तत्सजातीयगुणस्यैवासम्भवात्। तत्परिहारार्थं सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वादित्युक्तम्। न च रूपत्वसामान्यं सामान्यवद्भवति—निस्सामान्यानि सामान्यानीति वचनात्।

१ न चैकपुद्गलजन्यत्वेनैकादृशत्वं योग्यपुद्गलारब्धत्वात्। २ सहाय। ३ सांव्यवहारिकम्। ४ आदिपदेन सन्निकर्षादेः। ५ प्रत्यक्ष। ६ सूत्रे। ७ कारणरूपस्य। ८ पूर्वम्। ९ उपादानत्वेनात्मनासदृश। १० परोक्षज्ञाने। ११ सूत्रे। १२ विशेष। १३ चक्षुषः प्राप्यकारित्वनिराकरणात्। १४ सांव्यवहारिकस्य। १५ सूत्रे। १६ जैनैः। १७ ज्ञानस्य। १८ ज्ञेयत्वम्।

त्कस्य दृष्टान्ता? इत्यप्यसङ्गतम्; तस्यार्थान्तरभूतस्यालोकस्येवात्रै[1]वानन्तरं समर्थयिष्यमाणत्वात्। ननु परिच्छेद्यत्वं च स्यात्तयोस्त[2]त्कारणत्वं च अविरोधात्; इत्यप्यपेशलम्; तत्कारणत्वे तयोश्चक्षुरादिवत्परिच्छेद्यत्वविरोधात्।

किञ्च, अर्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते, प्रमाणान्तराद्वा? प्रत्यक्षतश्चेत्किं त[3]त एव, प्रत्यक्षान्तराद्वा? न तावत्तत एव, अनेनार्थमात्रस्यैवानुभवात्। त[4]द्धेतुत्वविशिष्टार्थानुभवे वा विवादो न स्यान्नीलत्वादिवत्। न खलु प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपेऽसौ दृष्टो विरोधात्। न हि कुम्भकारादेर्घटादिहेतुत्वेनानुभवे सोस्ति। तन्न त[5]देवात्म[6]नोऽर्थकार्यतां प्रतिप[7]द्यते। नापि प्रत्य[8]क्षान्तरम्; तेनाप्यर्थमात्रस्यैवानुभवात्, अन्य[9]थोक्तदोषानुषङ्ग[10]ः, ज्ञाना[11]न्तरस्याने[12]नाग्रहणाच्च। एका[13]र्थसमवेतानन्त[14]रज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमित्यभ्युप[15]गमेऽपि अनेनार्थाग्रहणम्। न चोभयविषयं ज्ञानमस्ति यतस्त[16]त्प्रतिपत्ति[17]ः।

अथ प्रमाणान्तरात्त[18]स्यार्थकार्यता प्रतीयते; तत्किं ज्ञा[19]नविषयम्[20], अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पद्वये तयोः कार्यकारणभावाप्रतीतिः एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वात्, कुम्भकारघटयोरन्यतरविषयज्ञानग्राह्यत्वे तद्भावाप्रतीतिवत्। नाप्युभयविषयज्ञा[21]नात्त[22]त्प्रतीतिः; तद्विषयज्ञानस्यास्मा[23]दृशां भवतो[24]ऽनभ्युपगमात्। न खलु 'ज्ञाने प्रवृत्तं ज्ञानमर्थेऽपि प्रवर्त्ततेऽर्थे वा प्रवृत्तं ज्ञाने' इत्यभ्युपगमो भवतः। अ[25]भ्युपगमे वा प्र[26]माणान्तरत्वप्रसक्तिरिति व्याप्तिज्ञानविचारे विचारयिष्यते।

अथानुमानात्तत्कार्यतावसा[27]यः; तथाहि–अर्थालोककार्यं विज्ञानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनु[28]विधत्ते तत्तस्य कार्यम् यथाग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते चार्थालोकयोर्ज्ञानम् इति। न चात्रासिद्धो हेतुस्तत्सद्भावे सत्येवास्य भावादभावे चाभावात्। इत्याशङ्क्याह—

१ ग्रन्थे। २ तत्र ज्ञाने। ३ घटं विषयीकरोति यत्प्रत्यक्षम्। ४ ज्ञान। ५ आद्यप्रत्यक्षम्। ६ स्वस्य। ७ जानाति। ८ विचारलक्षणम्। ९ अर्थज्ञानयोरनुभवश्चेत्प्रत्यक्षान्तरेण। १० प्रथमप्रत्यक्षज्ञानस्य। ११ द्वितीयज्ञानापेक्षया। १२ द्वितीयज्ञानेन। १३ आत्मलक्षण। १४ द्वितीय। १५ परेण। १६ अर्थकार्यतया ज्ञानस्य। १७ अपि तु न कुतोपि। १८ ज्ञानस्य। १९ वसः। २० अर्थज्ञानयोः। २१ प्रमाणान्तरात्। २२ ज्ञानस्यार्थकार्यतायाः। २३ किञ्चिज्ज्ञानाम्। २४ नैयायिकेन। २५ उभयविषयज्ञानस्य। २६ उभयविषयज्ञानस्य पञ्चमस्य। २७ निश्चयः। २८ अनुकरोति।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुक-ज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ॥ ७ ॥

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च, न केवलं परिच्छेद्यत्वात्तयोस्तदकारणताऽपि तु ज्ञानस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च। नियमेन हि यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम् यथाग्नेर्धूमः। न चानयोरन्वयव्यतिरेकौ ज्ञानेनानुक्रियेते।

अत्रोभयप्रसिद्धदृष्टान्तमाह-केशोण्डुक[3]ज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानै[4]वच्च। कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेर्थः कारणत्वेन व्याप्रियते। तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारः, नयनपक्ष्मादेर्वा, तत्केशानां वा, कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात्? न तावदाद्यविकल्पः; न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेर्थे सत्येव भवति भ्रमाभाव[6]प्रसङ्गात्। नयनपक्ष्मादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात्, गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात्। न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतुं शक्यम्। अथ नयनकेशा एव तत्र तथाऽसन्तोपि प्रतिभासन्ते; तर्हि तद्रहितस्य कामलिनो[7]पि तत्[8]प्रतिभासाभावः स्यात्।

किञ्च, असौ तद्देशे[9] एव प्रतिभासो[10] भवेन्न पुनर्देशान्तरे[11]। न खलु स्थाणुनिबन्धना पुरुषभ्रान्तिस्तद्देशादन्यत्र दृष्टा। कथं च तद्देशता[12] तदाकारता[13][14] चाऽसती तज्ज्ञानं[15] जनयेद्यतो ग्राह्या स्यात्। अथ भ्रान्तिवशात्तत्[16]केशाएव तत्र[17] तथा[18] तज्ज्ञानं[19] जनयन्ति; असाकमपि तर्हि[20] 'चक्षुर्मनसी रूपज्ञानमुत्पादयेते' इति समानम्। यथैव ह्यन्य[21]विषयजनितं ज्ञानमन्यविषयस्य[22] ग्राहकं तथान्य[23]कारणजनितमपि स्यात्।

अथ कामलादय एव तज्ज्ञानस्य[24] हेतवः, तेभ्यश्चोत्पन्नं तदसदेव केशादिकं प्रतिपद्यते; तर्हि निर्मललोचनमनोमात्रकारणादुत्पद्य-

---

१ अर्थालोक। २ अर्थालोकयोर्ज्ञानं प्रत्यकारणत्वे साध्ये। ३ अर्थाभावे (कोषेषू-डुकशब्द एव श्रूयते)। ४ आलोकाभावे। ५ भवति चेत्तर्हि। ६ केशोण्डुकज्ञानस्य। ७ नरस्य। ८ केशोण्डुक। ९ नयनदेशे। १० नयनकेशानाम्। ११ गगनतले। १२ गगनतल। १३ नयनकेशेषु। १४ केशोण्डुक। १५ केशोण्डुक। १६ नयन। १७ गगनतले। १८ केशोण्डुकतया। १९ केशोण्डुक। २० नयनकेशेभ्यस्सकाशादन्यस्केशोण्डुकस्य ग्राहकं चेत्। २१ केशोण्डुकादन्ये नयनकेशाः। २२ नयनकेशेभ्यस्सकाशादन्यस्केशोण्डुकं तस्य। २३ अर्थादन्ये इन्द्रियमनसी। २४ केशोण्डुक।

मानं ज्ञानं सदेव वस्तु विषयीकरोतीति किन्नेष्यते[1]? तत्कथमर्थकार्यता ज्ञानस्य अनेन[2] व्यभिचारात् संशयज्ञानेन च?

न हि तदर्थे सत्येव भवति; अ[3]भ्रान्तत्वानुषङ्गात्[4], तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षणार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावासम्भवाच्च। सद्भावे वारेका[5] न स्यात्। अथोच्यते[6]–"सामान्य[7]प्रत्यक्षाद्विशेषा[8]प्रत्यक्षादुभयविशेषस्मृतेश्च संशयः" [वैशे० सू० २।२।१७] विपर्ययः पुन[9]स्तद्विपरीतविशेषस्मृतेः इत्य[10]र्थादेवानयोर्भावः; तदप्युक्तिमात्रम्; तयोः खलु सामान्यं वा हेतुः स्यात्, विशेषो वा, द्वयं वा? न तावत्सामान्यम्; तत्र संशयाद्यभावात् 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इत्यभिधानात्, प्रत्यक्षे च संशयादिविरोधात्। विशेषविषयं च संशयादिज्ञानम्। न चास्य सामान्यं जनकं युज्यते। न ह्यन्यविषयं ज्ञानमन्येन जन्यते, रूपज्ञानस्य रसादुत्पत्तिप्रसङ्गात्। यथा च सामान्यादुपजायमानं त[11]दसतो विशेषस्य वेदकं तथेन्द्रियमनोभ्यां जायमानं सतः सामान्यादेरपीति व्यर्थार्थस्य तद्धेतुत्वकल्पना। सा[12]मान्यार्थजत्वे चास्य[13] अर्थानर्थ[14]जत्वप्रतिज्ञाविरोधः, कामलिनश्च केशोण्डु[15]कादिज्ञानानुत्पत्तिः, न खलु तत्र[16] केशोण्डुकादिसमानधर्मा धर्मो[17] विद्यते यद्दर्शनात्तत्स्यात्। तन्नास्य[18] सामान्यं हेतुः।

नापि विशेषस्तत्र[19] तदभावात्। न खलु पुरोदेशे स्थाणुपुरुषलक्षणो विशेषोस्ति त[20]ज्ज्ञानस्याभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। स्थाणुरस्तीति चेत्; कथं ततः किं पुरुषः पुरुष एवेति पुरुषांशावसायः? अन्यथा[21]न्यत्रा[22]पि ज्ञानेर्थस्य कारणत्वकल्पना व्यर्था। तन्न विशेषोपि तद्धेतुः[23]। नाप्युभयम्; उभयपक्षोक्तदोषानुषङ्गात्। ततः संशयादिज्ञानस्यार्थाभावेप्युपलम्भात्कथं तदभावे ज्ञानाभावसिद्धिर्यतोर्थकार्यतास्य स्यात्?

---

१ भवता नैयायिकेन। २ केशोण्डुकज्ञानेन। ३ अन्यथा। ४ संशयज्ञानस्य। ५ संशयः। ६ परेण। ७ ऊर्ध्वतासामान्यस्य ग्राहकं प्रत्यक्षमुपलम्भस्तस्मात्। ८ स्थाणुत्वपुरुषत्वलक्षणो विशेषस्तस्याऽप्रत्यक्षमनुपलम्भस्तस्मात्। ९ विद्यमानविशेषात्। १० तस्माद्विद्यमानविशेषात्सामान्यादिलक्षणात्। ११ ज्ञानम्। १२ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादिति सामग्रीतः संशयोत्पत्तौ दूषणान्तरमाह। १३ संशयस्य। १४ स्थाणुपुरुषलक्षणयोरंशयोरन्यतर एकस्तु विद्यमानोर्थोऽपरोऽविद्यमानोऽनर्थः। १५ स्थाणुस्थानीयः। १६ आकाशे। १७ शुक्तिकास्थानीयः। १८ संशयादेः। १९ पुरोदेशे। २० अन्यथा। २१ स्थाणावविद्यमानस्य पुरुषांशस्य व्यवसायो यदि। २२ इन्द्रियमनोभ्यामुत्पन्ने सत्यज्ञानेपि। २३ संशयादिहेतुः।

ननु भ्रान्तं तत्तेन[1]ापलभ्यते, न चान्यस्य व्यभिचारेन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्[2]; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम्, तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि। एतावाँस्तु विशेषः–किञ्चित्सत्परं गृह्णाति संवादसद्भावात्किञ्चिदसद्विसंवादात्, न चैतावता जात्यन्तरत्वेनानयोः[3]रन्यत्वं ताभ्यां[4] व्यभिचाराभावो[5] वा। अन्यथा[6] 'प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः कृतकत्वाद्[7] घटादिवत्' इत्यादेरप्यप्रयत्नानन्तरीयकैर्विद्युद्[8]घनकुसुमादिभिर्न[9] व्यभिचारः, ताल्वादिदण्डादिजनिताच्छब्दघटादेस्तद्विपरीतस्य विद्युदारेन्यत्वात्। न चान्यस्य व्यभिचारे[10]ऽन्यस्यापि व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्। तथाप्यत्र[11] व्यभिचारे[12] प्रकृतेपि[13] सोऽस्तु विशेषाभावात्[14]।

किञ्च, 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यभ्युपगमे योगिज्ञानात्[15]प्राक्कालभाविन एवार्थस्यानेन परिच्छित्तिः स्यात् तस्यैव तत्कारणत्वात्; न पुनस्तत्कालभाविनोऽभाविनो[16] वा, तस्यातत्कारणत्वात्। लब्धात्मलाभं हि किंचित्कस्यचित्कारणं नान्यथातिप्रसङ्गात्[17]। तथाप्यनेन[18] तत्परिच्छेदेऽन्यज्ञानेनाप्यतत्कारणस्याप्यर्थस्य परिच्छेदः स्यात्। तथा चेदमयुक्तम्–"अर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति। तदपरिच्छेदे चास्या[19]सर्वज्ञतानुषङ्गः। ज्ञानान्तरेण परिच्छेदे[20] तस्यापि ज्ञानान्तरस्य समसमयभाविनोर्थस्यापरिच्छेदकत्वात्कथं सर्वज्ञतेति चिन्त्यम्।

क्षणिकत्वे चार्थस्य ज्ञानकालेऽसत्त्वात्कथं तेन ग्रहणम्? तदाकारता चास्य प्राक्[21]प्रत्युक्ता। सत्यां वा तस्या एव ग्रहणात्परमार्थतोर्थस्याग्रहणात्तदेवाऽसर्वज्ञत्वम्। न खलु चैत्रसदृशे मैत्रे दृष्टे परमार्थतश्चैत्रो दृष्टो भवत्यन्यत्रोपचारात्। साध्वी चोपचारेण सर्वज्ञत्वकल्पना सुगतस्य सर्वस्य[22] तथाप्राप्तेः, एकस्य[23] कस्यचित्सतो वेदने तत्सदृशस्य सत्त्वेन सर्वस्य वेद-

१ कारणेन। २ गोपालघटिकाधूमस्य पावकव्यभिचारे भूधरादिधूमस्यापि तद्व्यभिचारः स्यात्। ३ भ्रान्ताभ्रान्तज्ञानयोः। ४ संशयविपर्ययाभ्याम्। ५ ज्ञानस्यार्थाभावे भावो व्यभिचारस्तस्याभावो न च। ६ एतावतान्यत्वं व्यभिचाराभावो वा स्याद्यदि तर्हि। ७ अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक उच्यते। ८ ताल्वाद्यजनितस्य, मेघादिकारणकस्य। ९ भिन्नजातीयत्वात्। १० प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विना भावे। ११ अन्यत्वेपि। १२ कृतकत्वादित्यस्य हेतोः। १३ ज्ञाने। १४ अन्यत्वस्य। १५ ईश्वरज्ञानाद्वा। १६ भविष्यतोर्थस्य। १७ खरविषाणमपि कस्यचित्कारणं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। १८ वर्त्तमानस्य भाविनो वार्थस्य ज्ञानाकारणत्वेपि। १९ योगिनः। २० भाविनोर्थस्य। २१ प्रथमपरिच्छेदे। २२ प्राणिमात्रस्य। २३ सन्निहितस्य।

नसम्भवात् । सत्त्वेन सर्वस्य सर्वेण[1] वेदनमन्यै[2]स्तु धर्मैरवेदनमिति चेत्; तर्हि [“ए[1]] कस्यार्थस्वभावस्य” [प्रमाणवा० १।४४] इत्यादिग्रन्थ[3]विरोधः । सत्त्वेनापि तद्ग्रहणे न सादृश्यं ग्रहणकारणमिति कथं सुगतस्योपचारेणा[4]पि बहिः प्रमेयग्रहणम्?

कथं चैवंवा[5]दिनो भावस्योत्पद्यमानता प्रतीयेत-सा ह्युत्पद्यमानार्थसमसमयभाविना ज्ञानेन प्रतीयते, पूर्वकालभाविना, उत्तरकालभाविना वा? न तावत्समसमयभाविना; तस्याऽतत्कार्यत्वात्। नापि पूर्वकालभाविना; तत्काले तस्याः सत्त्वाभावात् । न चासती प्रत्येतुं शक्या; अकारणत्वात् । तदा खलूत्पत्स्यमानतार्थस्य न तूत्पद्यमानता । नाप्युत्तरकालभाविना; तदा विनष्टत्वात्तस्याः । न हि तदोत्पद्यमानतार्थस्य किं तूत्पन्नता ।

नित्येश्वरज्ञानपक्षे सिद्धमकारणस्याप्यर्थस्यानेन परिच्छेद्यत्वम्। तद्वदन्येन[6]ापि स्यात् । अथार्था[7]कार्यत्वे तद्वन्नित्यत्वान्निखिलार्थग्राहित्वानुषङ्गः[8][9]; न; चक्षुरादिकार्यत्वेनानित्यत्वात् । प्रतिनियतशक्तित्वाच्च प्रतिनियतार्थग्राहित्वम् । न खलु यैक[10]स्य शक्तिः सान्यस्यापि, अन्यथा[11] सर्वस्य[12] सर्वकर्तृ[13]त्वानुषङ्गो महेश्वरवत् । यथैव हीश्वरः कार्यग्रा[14]मेणानुपक्रियमाणोऽप्यविशेषेण तं करोति तथा कुम्भकारादिरपि कुर्यात् । न हि सोपि तेनोपक्रियते येन 'उपकारकमेव कुर्यान्नान्यम्' इति नियमः स्यात् । शक्तिप्रतिनियमात्त[15]दविशेषेपि कश्चित्क[16]स्यचित्कर्त्तेत्यभ्युपगमो ग्राहकत्वपक्षेपि समानः[17] ।

ननु यद्यर्थाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिः कुतो न नीलाद्यर्थरहिते प्रदेशे तद्भवति? भवत्येव नयनमनसोः प्रणिधाने । कथं न नीलाद्यर्थग्रहणम्? त[18]त्र तदभावात् । कथं 'तदुत्पन्नम्' इत्यवगमः? न हि

---

१ पुरुषेण । २ नीलपीतादिलक्षणैः । ३ नीललक्षणस्यार्थस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः कोन्यो भावो यः प्रमाणान्तरैर्वेद्यते इति ग्रन्थस्य विरोधः । ४ प्रतिबिम्बितस्य सादृश्यस्य ग्रहणं स्यान्न त्वर्थस्य । ५ कारणमेव परिच्छेद्यमिति वादिनः । ६ असदादिज्ञानेन । ७ असदादिज्ञानस्य । न=इति चेन्नेत्यर्थः । ८ असदादिज्ञानस्य । ९ ईश्वरज्ञानस्य । १० असदादिज्ञानस्य । ११ एकस्य या शक्तिः सान्यस्य यदि । १२ नरस्य । १३ सर्वकार्याणाम् । १४ ग्रामः समूहः । १५ अनुपकारककार्यकारणत्वस्याविशेषेपि । १६ घटपटादिषु मध्ये । १७ अर्थकार्यताऽभावेपि ज्ञानं कस्यचिद्योग्यस्य ग्राहकं स्यादिति समानता । १८ पुरोदेशे ।

---

1 'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥'' [प्रमाणवा० १।४४]

विषयमपरिच्छिन्दत् ज्ञानम् 'अस्ति' इति युक्तम्, अन्यथा सर्वत्र[1] सर्वदा सर्वस्य तदनिवार्यं भवेदित्यप्यसारम्; तत्रोपनीतस्य[2] नीलादेस्तेनैव[3] ग्रहणोपलम्भात्। तदैव तदन्यज्ज्ञात(न)मिति चेत्कि-मिदानीं[4] प्रतिविषयं प्रकाशकस्य[5] भेदः? तथाभ्युपगमे प्रदीपादेरपि प्रतिविषयमन्यत्वप्रसङ्गः। प्रत्यभिज्ञानमुभयत्र[6] समानम्।

नन्वर्थाभावेपि ज्ञानसद्भावेऽतीतानागते व्यवहिते च तत्स्यात्सन्निहितवत्। नतु (ननु) तत्र तत्स्यादिति कोर्थः? किं तत्रोत्पद्येत, तद्ग्राहकं वा भवेदिति? न तावत्तत्रोत्पद्येत; आत्मनि तदुत्पत्त्यभ्युपगमात्। नापि तद्ग्राहकं भवेत्; अयोग्यत्वात्। न खलु तदुत्पन्नमपि सर्वं वेत्ति; योग्यस्यैव वेदनात्। कारणेपि चैतच्चोद्यं समानम्। तत्रापि[7] हि कारणं[8] कार्येणानुपक्रियमाणं[9] यावत्प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयंतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्। ततो ज्ञानस्यार्थान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्कथं तत्कार्यता यतः "अर्थवत्प्रमाणम्[10]" [न्यायमा० पृ० १] इत्यत्र भाष्ये "प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याऽव्यभिचारिव्यवसायात्मके ज्ञाने कर्त्तव्येऽर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति व्याख्या शोभेत? तन्नार्थकार्यता विज्ञानस्य।

नाप्यालोककार्यता; अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां नक्तञ्चराणां चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः। अथालोकस्याकारणत्वेऽन्धकारावस्थायामप्यस्मदादीनां ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। न चैवम्; ततस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्तत्कार्यताऽस्य। अन्यथा[11] धूमो-

---

१ अर्थे। २ पुरोदेशे। ३ पूर्वज्ञानेनैव। ४ अन्यज्ज्ञानामीत्यस्मिन्नवसरे। ५ ज्ञानस्य। ६ य एवायं प्रदीपो घटस्य प्रकाशकः स एवायं पटस्य प्रकाशको यथा तथा य एव नीलज्ञानपरिणत आत्मा स एवान्यज्ञानपरिणतः। ७ कारणचोद्यपक्षेपि। ८ कुलालादिलक्षणम्। ९ घटादिलक्षणेन। १० प्रमाणं भवति। कीदृशम्? अर्थवदर्थो विद्यते यस्य तत्। अर्थवत्प्रमाणमित्युक्ते ज्ञानमपि प्रमाणं स्यात्तत्परिहारार्थमर्थसहकारितयेति। न च ज्ञानमर्थसहकारितयाऽर्थवत् किन्तु अर्थविषयतयाऽऽत्मवत् अर्थसहकारितयाऽर्थवत्प्रमाणमित्युच्यमाने मनोपि प्रमाणं स्यात्। कथम्? सुखोत्पत्तौ स्रग्वनितादिसहकारितयाऽर्थवद्भवति मनः। इति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यपदेश्यादिविशेषणविशिष्टे ज्ञाने कर्त्तव्ये इत्युक्तम्। एवं चेत्प्रमाता प्रमेयं च प्रमाणं स्यात्। कथम्? प्रागुक्तविशेषणे ज्ञाने कर्त्तव्ये स्तम्भाद्यर्थसहकारितया अर्थवान्प्रमाता भवति। इति प्रागुक्तविशेषणे ज्ञाने कर्त्तव्ये खण्डमुण्डादिव्यक्तिलक्षणार्थसहकारितया अर्थवदिति प्रमेयं गोत्वादि सामान्यरूपम्। इति तत्परिहारार्थं प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरमित्युक्तम्। ११ अन्वयव्यतिरेकसद्भावेपि आलोकज्ञानयोः कार्यकारणभावो नास्ति यदि।

प्यग्निजन्यो न स्यात्, तद्व्यतिरेकेणान्यस्य[1] तद्व्यवस्थापकस्याभा[2]वादिति चेत्, किं पुनरन्धकारावस्थायां ज्ञानं नास्ति? तथा चेत्; कथमन्धकारप्रतीतिः? तदन्तरेणापि प्रतीतावन्य[3]त्रापि[4] ज्ञानकल्पनानर्थक्यम्। 'प्रतीयते[5], ज्ञानं नास्ति' इति च स्ववचनविरोधः, प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात्।

अथान्धकाराख्यो विषय एव नास्ति यो ज्ञानेन परिच्छिद्येत, अन्धकारव्यवहारस्तु लोके ज्ञानानुत्पत्तिमात्र इत्युच्यते[6]; यद्येवमालोकस्याप्यभावः स्याद्विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्यास्याप्यप्रतीतेः। तद्व्यवहारस्तु लोके विशदज्ञानोत्पत्तिमात्रः। ननु ज्ञानस्य वैशद्यमेव तदभावे कथम्? इत्यप्यज्ञचोद्यम्; नक्तञ्चरादीनां रूपेऽस्मदादीनां रसादौ च तदभावेपि तस्य वैशद्योपलब्धेः।

आलोकविषयस्य च ज्ञानस्यार्त एवालोकाद्वैशद्यम्, तदन्तराद्वा, अन्यतो वा कुतश्चित्? यद्यन्यतः; न तर्ह्यालोककृतं वैशद्यम्। न हि यद्यदभावेपि भवति तत्तत्कृतमतिप्रसङ्गात्। अथालोकान्तरात्; तद्विषयस्यापि तस्यालोकान्तरात्तं[10]दित्यनवस्था। न चालोकान्तरमस्ति। अथास्मा[11]देवालोकात्; स्वविषयादेव तर्हि वैशद्यम्[12], तथा घटादिरूपादप्यस्तु[13]। तस्याभासुरत्वान्नातस्तत्; इत्यप्ययुक्तम्; बहलान्धकारनिशीथिन्यां नक्तञ्चरादीनां तत्र वैशद्याभावप्रसङ्गात्। 'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यत्र चोक्तं वैशद्यकारणम्[14]। यद्येवं प्रदीपाद्युपादानमनर्थकं तदन्तरेणापि ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्; नाऽनर्थकम्, आवरणा[15]पनयनद्वारेण विषये ग्राह्यतालक्षणस्य विशेषस्य इन्द्रियमनसोर्वा[16] तज्ज्ञानजनकलक्षणस्यातोऽञ्जनादेरिवोत्पत्तेः। न चैतावता[17] तस्य तत्कारणता; काण्डपटाद्यावरणापनेतुर्हस्तादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात्[18]। ततो यथा ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नान्यत्तमः तथा[19] विशदज्ञानोत्पत्तिव्यतिरेकेणालोकोप्यन्यो न स्यात्।

ननु 'अत्र प्रदेशे बहल आलोकोऽत्र च मन्दः' इति लोकव्यवहारादन्यः[20] सोस्तीति चेत्; तर्हि 'गुहागह्वरादौ बहलं तमोन्यत्र

---

१ अन्वयव्यतिरेकव्यतिरेकेण। २ कार्यकारणभावव्यवस्थापकस्य। ३ अन्धकारस्य। ४ घटादिविषये। ५ अर्थः। ६ परेण भवता। ७ ज्ञानानुत्पत्तिमात्रान्धकारप्रकारेण। ८ प्रकृतज्ञानविषयात्। ९ खराभावेपि जायमानो धूमः खरहेतुकोन्यथा स्यात्। १० वैशद्यम्। ११ प्रथमालोकादेव। १२ विज्ञानस्य। १३ घटादिज्ञानवैशद्यम्, ततश्च किमालोकपरिकल्पनेन। १४ आवरणप्रक्षयः। १५ तमः। १६ सप्तमीद्विः। १७ प्रदीपादिना मनोलोचनस्यार्थस्य च स्वविशेषजननेपि। १८ वैशद्यकारणत्व। १९ जैनमते। २० विशदज्ञानोत्पत्तेः सकाशात्।

मन्दम्' इति लोकव्यवहारः किं काकैर्भक्षितः? अत्रास्याऽप्रमाणत्वेऽन्यत्र कः समाश्वासः? ननु बहिर्देशादागत्य[1] गृहान्तःप्रविष्टस्य[2] सत्यप्यालोके तमःप्रतीतेर्न पारमार्थिकं तत्, न चालोकतमसोर्विरुद्धयोरेकत्रावस्थानम्, ततो ज्ञानानुत्पत्तिमात्रमेव तदिति चेत्; तर्हि नक्तञ्चरादीनामेवं[3] (वं) विवरादौ प्रदीपाद्यालोकाभावेपि तत्प्रतीतेः सोपि पारमार्थिको न स्यात्। न चैकत्र तमोऽभावेपि तत्प्रतीतेः सर्वत्र तदभावो युक्तः, अन्यथा[4]ऽर्थाभावेपि क्वचित्तत्प्रतीतेः सर्वत्र तदभावः स्यात्। तस्मादालोकवत्तमोपि प्रतीतिसिद्धम्। तत्र[5] चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिप्रतीतेः। न च तत्प्रति तस्य[6] कारणता। तन्नार्थालोकयोर्ज्ञानं प्रति कारणत्वम्।

एवं[7] तर्हि तत्तयोः प्रकाशकमपि न स्यादित्याह—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

ताभ्यामर्थालोकाभ्यामजन्यमपि तयोः प्रकाशकम्।

अत्रैवार्थे प्रदीपवदित्युभयप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

न खलु प्रकाश्यो घटादिः स्वप्रकाशकं प्रदीपं जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्तेः। 'प्रकाश्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात्स तस्य जनक एव' इत्यभ्युपगमे प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् सोपि तस्य जनकोऽस्तु। तथा चेतरेतराश्रयः—प्रकाश्यानुत्पत्तौ प्रकाशकानुत्पत्तेः, तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तेरिति। स्वकारणकलापादुत्पन्नयोः प्रदीपघटयोरन्योन्यापेक्षया प्रकाश्यप्रकाशकत्वधर्मव्यवस्थाया एव प्रसिद्धेर्नेतरेतराश्रयावकाश इत्यभ्युपगमे ज्ञानार्थयोरपि स्वसामग्रीविशेषवशादुत्पन्नयोः परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकत्वधर्मव्यवस्थाऽऽस्थीयताम्[9]। कृतं[10] प्रतीत्यपलापेन।

ननु चाजनकस्याप्यर्थस्य ज्ञानेनावगतौ निखिलार्थावगतिप्रसङ्गात्प्रतिकर्मव्यवस्था[11] न स्यात्। 'यद्धि यतो[12] ज्ञानमुत्पद्यते तत्तस्यैव ग्राहकं नान्यस्य' इत्यस्यार्थजन्यत्वे सत्येव सा स्यादिति वदन्तं प्रत्याह—

---

१ तमसि। २ नरस्य। ३ तमसोऽभावेपि तमःप्रतीतिप्रकारेण। ४ एकत्राभावे सर्वत्राभावो यदि। ५ तमसि। ६ तमसः। ७ अर्थालोकयोर्ज्ञानं प्रत्यकारणत्वप्रकारेण। ८ स्वरूप। ९ अभ्युपगम्यताम्। १० अलमित्यर्थः। ११ प्रतिनियतविषयव्यवस्था। १२ अर्थात्।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतं[1]मर्थं व्यवस्थापयति ॥ १० ॥

तथा हि-यदर्थप्रकाशकं तत्स्वात्मन्यपेतप्रतिबन्धम् यथा प्रदीपादि, अर्थप्रकाशकं च ज्ञानमिति । प्रति[2]नियतस्वावरणक्षयोपशमश्च ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थोपलब्धेरेव प्रसिद्धः । न चान्योन्याश्रयः; अस्याः प्रतीतिसिद्धत्वात् । तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव । सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गं नार्थोत्पत्त्यादि[3]:, तस्य निषिद्धत्वादन्यत्र[4]ादर्शना[5]च्च । न खलु प्रदीपः प्रकाश्यार्थैर्जन्यस्तेषां प्रकाशको दृष्टः ।

किञ्च, प्रदीपोपि प्रकाश्यार्थाऽजन्यो यावत्काण्डपटाद्यनावृतमेवार्थं प्रकाशयति तावत्तदावृतमपि किन्न प्रकाशयेदिति चोद्ये भवतोप्यतो योग्यतातो न किञ्चिदुत्तरम् ।

का[6]रणस्य च परिच्छेद्य[7]त्वे करणादिना[9] व्यभिचारः ॥ ११ ॥

नहीन्द्रियमदृष्टादिकं वा विज्ञानकारणमप्यनेनं[10] परिच्छेद्यते । न ब्रूमः-कारणं परिच्छेद्यमेव किन्तु 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यवधारया[11]मः; तन्न; योगिविज्ञानस्य व्याप्ति[12]ज्ञानस्य चाशेषार्थग्राहिणोऽभावप्रसङ्गात् । न हि विनष्टानुत्पन्नाः समसमयभाविनो वार्थास्तस्य कारणमित्युक्तम् । केशोण्डुकादिज्ञानस्य चाजनकार्थग्राहित्वाभावप्रसङ्गः । कथं च कारणत्वाविशेषेपीन्द्रियादेरग्रहणम् ? अयोग्यत्वाच्चेत्; योग्यतैव तर्हि प्रतिकर्मव्यवस्थाकारिणी, अलमन्य[13]कल्पनया । स्वाकारार्पकत्वाभा[14]वाच्चेन्न; ज्ञाने स्वा[15]कारार्पकत्वस्याप्यपास्तत्वात् । कथं च कारणत्वाविशेषेपि किञ्चित्स्वाकारार्पकं किञ्चिन्नेति प्रतिनियमो योग्यतां विना सिध्येत् ? कथं च सकलं विज्ञानं सकलार्थकार्यं न स्यात् ? 'प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्' इत्यु[16]त्तरं ग्राह्यग्राहकभा[17]वेपि समानम् ।

---

१ ज्ञानं कर्तृ । २ ज्ञानस्यापेतप्रतिबन्धत्वं कारणमर्थप्रकाशे चेत्तर्हि सकलार्थप्रकाशकं किमिति न स्यादित्युक्ते आह । ३ आदिपदेन ताद्रूप्यादिः । ४ प्रकाशके प्रदीपादौ । ५ तदुत्पत्त्यादेः । ६ धर्मी हेतुश्च । ७ साध्यम् । ८ घटादिवदिति दृष्टान्तः । ९ इन्द्रियादिना । १० ज्ञानेन । ११ वयं सुगताः । १२ यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति । १३ उत्पत्त्यादि । १४ इन्द्रियादेः । १५ स्वस्य घटादिवस्तुनः । १६ स्तम्भलक्षणादर्थादनुत्पद्यमानं ज्ञानं स्तम्भस्य ग्राहकं यथा तथा निरशेषार्थग्राहकं कुतो न स्यादित्युत्तरं प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानामित्यत्रापि समानम् । १७ सामस्त्येन ।

अथेदानीं मुख्यप्रत्यक्षप्ररूपणस्यावसरप्राप्तत्वात् तदुत्पत्तिकारणस्वरूपप्ररूपणायाह—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमऽतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥ १२ ॥

'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्त्तते। तत्राशेषतो विशदमतीन्द्रियं यद्विज्ञानं तन्मुख्यं प्रत्यक्षम्। किंविशिष्टं तत्? सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणम्। ज्ञानावरणादिप्रतिपक्षभूता हीह[1] सम्यग्दर्शनादिलक्षणान्तरङ्गा बहिरङ्गानुभवादि[2]लक्षणा सामग्री गृह्यते, तस्या विशेषोऽविकलत्वम्[3], तेन विश्लेषितं क्षयोपशमक्षयरूपतया विघटितमखिलमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानसम्बन्ध्यावरणम् अखिलं निश्शेषं वाऽऽवरणं यस्यावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयस्य तत्तथोक्तम्।

अत्र[4] च प्रयोगः[5]—यद्[6]यत्र[7] स्पष्टत्वे[8] सत्यवितथं[9] ज्ञानं तत्तत्रापगताखिलावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरितवृक्षादौ तदपगमप्रभवं ज्ञानम्, स्पष्टत्वे सत्यवितथं च क्वचिद्[10]उक्तप्रकारं[11] ज्ञानमिति। तथाऽतीन्द्रियं तत् मनोऽक्षानपेक्षत्वात्। तदनपेक्षं तत् सकलकलङ्कविकलत्वात्। तद्विकलत्वं चास्यात्रैव[12] प्रसाधयिष्यते। अत[13] एव चाशेषतो विशदं तत्। यत्तु नातीन्द्रियादिस्वभावं न तत्तदनपेक्षत्वादिविशेषणविशिष्टम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तद्विशेषणविशिष्टश्चेदम्[14], तस्मात्तथेति। तथा मुख्यं तत्प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियत्वात् स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वाद्वा, यत्तु नेत्थं तन्नैवम्[15], यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तथा चेदम्, तस्मान्मुख्यमिति।

ननु[16] चावरणप्रसिद्धौ तदपगमाज्ज्ञानस्योत्पत्तिर्युक्ता, न च तत्प्रसिद्धम्। तद्धि शरीरम्, रागादयः, देशकाला[17]दिकं वा भवेत्? न तावच्छरीरं रागादयो वा; तद्भावेप्यर्थोपलम्भसम्भवात्। तदुपलम्भप्रतिबन्धकमेव हि काण्डपटादिकं लोके प्रसि-

---

१ सूत्रे। २ आदिपदेन देशकालादिग्रहणम्। ३ समग्रत्वम्। ४ आवरणापाये। ५ अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानं स्वविषयेऽपगताखिलावरणं तत्र स्पष्टत्वे सत्यवितथज्ञानत्वात्। ६ ज्ञानम्। ७ अर्थे। ८ अनुमानादिना व्यभिचारपरिहारार्थम्। ९ संशयादिना व्यभिचारपरिहारार्थम्। १० रूपिषु, परमनोगतार्थेषु, मूर्तामूर्तसकलवस्तुषु च। ११ क्रमेणावधिमनःपर्ययकेवलाख्यम्। १२ अस्मिन्परिच्छेदे। १३ सकलकलङ्कविकलत्वादेव। १४ अवध्यादित्रयम्। १५ मुख्यम्। १६ बौद्धः प्राह। १७ आदिपदेन स्वभावो वा।

द्धमावरणम्। ननु मेर्वादेर्दूरदेशता रावणादेस्तत्कालता परमाण्वादेः सूक्ष्मस्वभावता मूलकीलोदकादेश्च भूम्यादिः आवरणं प्रसिद्धमेवेति चेत्तदसारम्; तदभावस्य कर्त्तुं[1]मशक्यत्वात्। न खलु सातिशयर्द्धिमतापि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः। न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते। ततः सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमित्ययुक्तम्;

अत्रोच्यते[2]-न शरीराद्यावरणम्। किं तर्हि? तद्व्यतिरिक्तं कर्म। तच्चानुमानतः प्रसिद्धम्; तथाहि-स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभावस्यात्मनो हीन[3]गर्भस्थानशरीरविषयेषु[4] विशिष्टाऽभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारणपूर्विका तत्त्वात्[5] कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्यास्तन्त्रा[6]द्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिवत्। तथा, भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयत्वात् मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत्।

ननु चातः कर्ममात्रमेव प्रसिद्धं नावरणम्; ततस्तत्सिद्धावेव प्रमाणमुच्यतां तत्रैव विवादादिति चेदुच्यते य[9]ज्ज्ञानं स्वविषयेऽप्रवृत्तिमत् तत्सावरणम् यथा कामलिनो लोचनविज्ञानमेकचन्द्र[10]मसि, स्वविषये अशेषार्थलक्षणेऽप्रवृत्तिमच्च ज्ञानमिति।

ननु विज्ञानस्याशेषविषयत्वं कुतः सिद्धम्? आवरणापाये तत्प्रकाशकत्वाच्चेदन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि सकलविषयत्वे तस्य आवरणापाये तत्प्रकाशनं सिद्ध्यति, अतश्च सकलविषयत्वमिति; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोनुमानमिच्छता भवताप्यवश्यं सकलावरणवैकल्या[11]त्प्रागेव सकलस्य प्राणिमात्रस्याशेषविषयं व्याप्त्या[12]दिज्ञानमभ्युपगतमेव। तथा, यत्स्वविषये[13]ऽस्पष्टं ज्ञानं तत्सावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, अस्पष्टं च 'सर्वं सदनेकान्तात्मकम्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानम्। मिथ्यादृशां सर्वत्रानेकान्तात्मके भावे विपरीत[14]ज्ञानं सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति। अतः[15] सिद्धमावरणं पौद्गलिकं कर्मेति।

---

१ ज्ञानस्य। २ मीमांसकीयपूर्वपक्षे सति जैनैः। ३ हीनशब्दो गर्भादिशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। ४ विषयस्रग्वनिताचन्दनादिषु। ५ विशिष्टाभिरतित्वात्। ६ आदिपदेनौषधमन्त्रादि। ७ अनुभव। ८ उक्तानुमानद्वयात्। ९ संसारिज्ञानमशेषार्थलक्षणे स्वविषये सावरणं भवति तत्राप्रवृत्तिमत्त्वादिति प्रतिज्ञाहेतू उपरिष्टाज्ज्ञेयौ। १० सावरणम्। ११ अभावात्। १२ आदिपदेनागमजम्। १३ अस्पष्टज्ञानत्वादित्युच्यमाने स्वसिन्नस्पष्टत्वं स्यात्तद्व्यवच्छेदार्थं स्वविषये इत्युक्तम्। १४ एकान्तरूपं विपरीतम्। १५ अनुमानत्रयात्।

ननु[1] चाविद्यैवावरणं न पौद्गलिकं कर्म, मूर्त्तेनानेनामूर्त्तस्य[2] ज्ञानादेरावरणायोगात्, अन्यथा शरीरादेरप्याव(वा)रकत्वानुषङ्गात्; इत्यप्यसमीचीनम्; मदिरादिना मूर्त्तेनाप्यमूर्त्तस्य ज्ञाना[3]देरावरणदर्शनात्। अमूर्त्तस्य[4] चाव(वा)रकत्वे गगनादेर्ज्ञानान्तरस्य च तत्प्रसङ्गः[5]। तदविरुद्धत्वात्तस्य[6] तन्नेति चेत्; तर्हि शरीरादेरप्यत एव तन्मा भूत्तद्विरुद्धस्यैवावरकत्वप्रसिद्धेः। प्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानादेरविद्योदये[8] निरोधात्तस्यास्तद्विरोधगतौ मदिरादिवत्पौद्गलिककर्मणोपि सास्तु विशेषाभावात्[9]। तथाहि–आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः तत्स्वरूपान्यथाभा[10]वस्वभावत्वात्[11] उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत्। न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेनानेकान्तः; तस्यापरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् अपरापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत्।

ननु चात्मगुणत्वात्कर्मणां कथं पौद्गलिकत्वमित्यन्ये[12]; तेप्यपरीक्षकाः; तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविरोधात् सर्वदात्मनो बन्धानुपपत्तेः सदैव मुक्तिप्रसङ्गात्। न[13] खलु यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तम् यथा पृथिव्यादे रूपादिः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरभ्युपगम्यते इति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यात्। न चैवम्, आत्मनः परतन्त्रतया[14] प्रमाणतः प्रतीतेः। तथाहि–परतन्त्रोऽसौ हीनस्थान[15]परिग्रहवत्त्वात् मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्टपुरुषवत्। हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत्। तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव। न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः[16]; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः। यत्परतन्त्रश्चासौ तत्कर्म इति सिद्धं तस्य पौद्गलिकत्वम्। तथा हि–पौद्गलिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगलादिवत्[17][18]। न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः;

१ पुरुषज्ञानाद्वैतवादिनौ वदतः। २ आत्मनः। ३ आदिपदेनात्मनः। ४ अविद्यास्वरूपस्य। ५ गगनादिकं ज्ञानान्तरं च ज्ञानादेरावरकं भवति अमूर्त्तत्वादविद्यावत्। ६ तेन ज्ञानेन। ७ मिथ्याज्ञानमविद्या। ८ प्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानादेः पौद्गलिककर्मोदये निरोधस्याविशेषात्। ९ कर्मतापन्न। १० सम्यग्ज्ञानादि। ११ मिथ्याज्ञानादि। १२ यौगाः। १३ धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति आत्मगुणत्वादित्यध्याहारः। १४ कर्मणा। १५ शरीरादिलक्षण। १६ भागासिद्धत्वं दुःखहेतुत्वलक्षणस्य हेतोः। १७ सुखदुःखरागद्वेषादिकृतं पारतन्त्र्यम्। १८ निगलं गलबन्धनम् (शृङ्खलादि)।

तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्, क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्।

सत्यम्[1]; नात्मगुणोऽदृष्टं प्रधानपरिणामत्वात्तस्य "प्रधानपरिणामः शुक्लं[2] कृष्णं[3] च कर्म" [ ] इत्यभिधानात्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; प्रधानस्यासत्त्वेन तत्परिणामत्वस्य क्वचिद्[4]प्यसम्भवात्। तदसत्त्वं चात्रैवानन्तरं वक्ष्यामः[5]। तत्परिणामत्वेपि वा तस्यात्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, अन्यथातिप्रसङ्गः[6]। प्रधानपारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्तस्य कर्मत्वमिति चेन्न; प्रधानस्य तेन बन्धोपगमे मोक्षोपगमे चात्मकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। बन्धमोक्षफलानुभवनस्यात्मनि प्रतिष्ठानान्न तत्कल्पनावैयर्थ्यमित्यसत्; प्रधानस्य तत्कर्तृत्ववत्[7] तत्फलानुभोक्तृत्वस्यापि प्रमाणसामर्थ्यप्राप्तत्वात्, अन्यथा[8] कृतनाश[9]ाकृताभ्यागम[10]दोषानुषङ्गः। अथात्मनश्चेतनत्वात्तत्फला[11]नुभवनं न तु प्रधानस्याऽचेतनत्वात्; तदप्ययुक्तम्; मुक्तात्मनोपि तत्फला[12]नुभवनानुषङ्गात्। तस्य प्रधानसंसर्गाभावान्न तत्फलानुभवनमिति चेत्; तर्हि संसारिणः प्रधानसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनम्। तथा चात्मन एव बन्धः सिद्धः, तत्संसर्गस्य बन्धफलानुभवननिमित्तस्य बन्धरूपत्वात्, बन्धस्यैव 'संसर्गः' इति पुद्गलस्य च 'प्रधानम्' इति नामान्तरकरणात्।

ननु प्रसिद्धस्यापि यथोक्त[13]प्रकारस्य कर्मणः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यानादित्वाद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य चाभावात्कथं तेन विश्लेषिताखिलावरणत्वं ज्ञानस्य; इत्यप्यपेशलम्; सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्य तद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य सुप्रतीतत्वात्। सञ्चितं हि कर्म निर्जरातश्चारित्रविशेषरूपायाः प्रलीयते। सा च निर्जरा द्विविधा-उपक्रमेतरभेदात्। तत्रौपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या। अनुपक्रमा तु यथाकालं संसारिणः स्यात्।

कुतः पुनः साकल्येन पूर्वोपात्तकर्मणां निर्जरा निश्चीयते इति चेदनुमानात्; तथाहि-साकल्येन क्वचिदात्मनि कर्माणि निर्जी-

---

१ साङ्ख्यः। २ पुण्यम्। ३ पापम्। ४ बुध्यादौ विकारे। ५ वयं जैनाः। ६ घटादेरपि कर्मत्वं स्यात्। ७ प्रधानं बन्धफलानुभोक्तृ भवति बन्धाधिकरणत्वान्निगलबद्धदेवदत्तवत्। ८ तत्कृतत्वेपि तत्फलानुभोक्तृत्वं न स्याद्यदि तर्हि। ९ कृतस्य कर्मणः प्रधानसम्बन्धित्वेन नाशः। १० अकृतस्य फलस्यात्मनि आगमः। ११ तस्य कर्मणः फलं बन्धमोक्षौ। १२ तस्य कर्मणः। १३ पौद्गलिकस्य।

र्यन्ते विपा[1]कान्तत्वात्, यानि तु न निर्जीर्यन्ते न तानि विपाकान्तानि यथा का[2]लादीनि, विपाकान्तानि च कर्माणि, तस्मात्साकल्येन क्वचिन्निर्जीर्यन्ते। न चेदमसिद्धं साधनम्; तथाहि–विपाकान्तानि कर्माणि फलावसानत्वाद्व्रीह्यादिवत्। न चेदमप्यसिद्धम्; तेषां नित्यत्वानुषङ्गात्। न च नित्यानि कर्माणि नित्यं तत्फलानुभवनप्रसङ्गात्।

भावि पुनः कर्म संवरान्निरुध्येत–"अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थसू० ९।१] इत्यभिधानात्। आस्रवो हि मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः, तस्मिन्सति कर्मणामास्रवणात्। स च संवरो गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्विधीयते इत्यागमे विस्तरतः प्ररूपितं द्रष्टव्यम्।[3] निर्जरासंवरयोश्च सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात्तत्प्र[4]कर्षे कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेपि प्रक्षयः प्रसिध्यत्येव। न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षे निर्मूलतलं प्रलयमुपव्रजन्नोपलब्धः, कार्यकारणरूपतया बीजाङ्कुरसन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति वक्तुं शक्यम्।

ननु तत्प्रकर्षमात्रात्कर्मप्रक्षयमात्रमेव सिध्येन्न पुनः साकल्येन तत्प्रक्षयः, सम्यग्दर्शनादेः परमप्रकर्षसम्भवाभावात्; इत्यप्यसङ्गतम्; तत्प्रकर्षस्य क्वचिदात्मनि प्रसिद्धेः। तथाहि—य[5]स्य तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित्परमप्रकर्षः यथोष्णस्पर्शस्य, तारतम्यप्रकर्षश्चासंयतसम्यग्दृष्ट्यादौ सम्यग्दर्शनादेरिति। न च दुःखप्रकर्षेण व्यभिचारः; सप्तमनरकभूमौ नारकाणां तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेः सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत्, मिथ्यादृष्टिष्वनन्तानुबन्धिक्रोधादिपरमप्रकर्षवद्वा। नापि ज्ञानहानिप्रकर्षेणानेकान्तः; तस्यापि क्षायोपशमिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमापकर्षप्रसिद्धेः। क्षा[6]यिकस्य तु हानेवासम्भवात्कुतस्तत्प्र[7]कर्षो यतोऽनेकान्तः।

इत्थं वा[8] साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः कर्तव्यः–'य[9]स्यातिशये

१ फलदानपरिणतिर्विपाकः। २ परमतापेक्षया। ३ सम्यग्दर्शनादेः कर्मविनाशहेतुत्वमुक्तमिदानीमन्यदेवोक्तमिति कथं न पूर्वापरविरोधः? इत्युक्ते आह। ४ सति। ५ सम्यग्दर्शनादि क्वचिदात्मनि परमप्रकर्षं प्राप्नोति तारतम्यप्रकर्षवत्त्वादित्युपरिष्टादध्याह्रियते। ६ केवलज्ञानस्य। ७ तारतम्यप्रकर्षः। ८ विपाकान्तत्वादित्यनुमानापेक्षया वाशब्दोऽत्र। ९ कञ्चित्कर्मणामत्यन्तहान्यतिशयो धर्मी सम्यग्दर्शनादेरत्यन्तातिशये भवति तस्यातिशये तद्धान्यतिशयदर्शनादित्युपरिष्टादध्याह्रियते।

यद्धान्यतिशयस्तस्यात्यन्तातिशयेऽन्यस्यात्यन्तहानिः यथाग्नेरत्यन्तातिशये शीतस्य, अस्ति च सम्यग्दर्शनादेरत्यन्तातिशयः क्वचिदात्मनि’ इति । यद्वा, आवरणहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षप्राप्ता प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत् । न चात्रासिद्धं साधनम्; तथाहि–प्रकृष्यमाणावरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत् । तद्धानिपरमप्रकर्षे च ज्ञानस्य परमः प्रकर्षः सिद्धः । यद्धि प्रकाशात्मकं तत्स्वावरणहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाणं दृष्टम् यथा नयनप्रदीपादि, प्रकाशात्मकं च ज्ञानमिति । तदेवमावरणप्रसिद्धिवत्तदभावोऽप्यनवयवेन प्रमाणतः प्रसिद्धः । तत्प्रभवमेव चाशेषार्थगोचरं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्, लेशतोऽप्यावरणसद्भावे तस्याशेषार्थगोचरत्वासम्भवात्, यत्रैवावरणसद्भावस्तत्रैवास्य प्रतिबन्धसम्भवात् ।

आगमद्वारेणाशेषार्थगोचरं ज्ञानम्; इत्यप्यसुन्दरम्; विशदज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात् । न चागमज्ञानं विशदम् । न चागमोऽप्यशेषार्थगोचरः; अर्थपर्यायेषु तस्याप्रवृत्तेः । ते चार्थस्य प्रतिक्षणम् ‘अर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वाद्वा सन्ति’ इत्यवसीयन्ते । अन्यथास्याऽवस्तुत्वप्रसङ्गः । करणजन्यत्वे चाशेषज्ञानस्यातीन्द्रियार्थेषु प्रतिबन्धः प्रसिद्ध एव, इन्द्रियाणां रूपादिमत्यव्यवहितेऽनेकावयवप्रचयात्मकेऽर्थे प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

ननु योगजधर्मानुगृहीतानामिन्द्रियाणां गगनाद्यशेषातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारिज्ञानजनकत्वसम्भवात् कथं तत्राशेषज्ञानस्येन्द्रियजत्वेपि प्रतिबन्धसम्भवः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; योगजधर्मानुग्रहस्येन्द्रियाणां प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात् ।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तजत्वाद्योगिविज्ञानस्य नोक्तदोषानुषङ्गः । भावना हि द्विविधा–श्रुतमयी, चिन्तामयी च । तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानज्ञानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दंता निर्वृत्ता परमप्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्तां चिन्तामयीं भावनामारभते । सा च प्रकृष्यमाणा परं प्रकर्षपर्यन्तं सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्षं जन-

---

१ कर्मणः । २ साकल्येन । ३ आवरणाभावप्रभवम् । ४ परेण । ५ अर्थे । ६ प्रकृतत्वात् । ७ अर्थपर्यायाः । ८ अर्थोऽवस्तु असत्त्वात् । असन्नर्थोऽर्थक्रियाशून्यत्वात् । अर्थक्रियाशून्योर्थः–अर्थपर्यायरहितत्वात् खपुष्पवत् । ९ सौगतो वक्ति । १० आचार्यात् । ११ सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति । १२ प्राप्नुवता । १३ श्रुतमयी भावना कर्त्री ।

यतीति तत्कथमस्या[1]वरणापायप्रभवत्वम्? इत्यप्यसारम्; क्षणिकनैरात्म्यादिभावनायाश्चिन्तामय्याः श्रुतमय्याश्च मिथ्यारूपत्वात्। न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्थविषययोगिज्ञानजनकत्वमतिप्रसङ्गात्[2]। यथा च न क्षणिकत्वं नैरात्म्यं शून्यत्वं वा वस्तुनस्तथा वक्ष्यते।

किञ्च, अखिलप्राणिनां भावनावतां [3]तथाविधज्ञानोत्पत्तिः किन्न स्यात् सुगतवत्? तेषां तथाभूतभावनाऽभावाच्चेत्; न; प्रतिपन्नतत्त्वानां भावनाप्रवृत्तमनसां सर्वेषां समाना भावनैव कुतो न स्यात्? प्रतिबन्धककर्मसद्भावाच्चेत्; तर्हि भावनाप्रतिबन्धककर्मापाये भावनावत् [4]योगिज्ञानप्रतिबन्धककर्मापाये तज्ज्ञानोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या[5]। इति सिद्धं साकल्येनावरणापाये एवातीन्द्रियमशेषार्थविषयं[6] विशदं प्रत्यक्षम्।

ननु[7] चाशेषार्थज्ञातुस्त(ज्ञानस्यत)ज्ज्ञानवतः कस्यचित्पुरुषविशेषस्यैवासम्भवात्कथं तज्ज्ञानसम्भवः? तथाहि-न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञोस्ति सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकागोचरचारित्वाद्वन्ध्यास्तनन्धयवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; तथाहि-सकलपदार्थवेदी पुरुषविशेषः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानादिप्रमाणेन वा? न तावत्प्रत्यक्षेण; प्रतिनियतासन्नरूपादिविषयत्वेन अन्य[8]सन्तानस्थसंवेदनमात्रेऽप्यस्य सामर्थ्यं नास्ति, किमङ्ग[9] पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनविशेषे तदध्यासिते[10] पुरुषविशेषे वा तत्स्यात्? न चातीतादिस्वभावनिखिलपदार्थग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तन्निष्ठग्राहकत्वस्याप्यग्रहणात्।

नाप्यनुमानेनासौ[11] प्रतीयते; तद्धि निश्चितस्वसाध्यप्रतिबन्धाद्धेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतां प्रतिपद्यते। प्रतिबन्धश्चाखिलपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा? न तावत्प्रत्यक्षेण; अस्याऽत्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तत्प्रतिपत्तिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेऽप्यक्षमत्वात्। न ह्यप्रतिपन्नसम्बन्धिनस्तद्गतसम्बन्धावगमो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्[12]। नाप्य-

---

१ मुख्यप्रत्यक्षस्य। २ द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि योगिज्ञानजनकत्वप्रसङ्गात्। ३ अशेषविषय। ४ सर्वज्ञ। ५ परेण त्वया। ६ मुख्यम्। ७ मीमांसकः। ८ अन्यस्य पुरुषान्तरस्य। ९ अहो। १० तत्सहिते। ११ कश्चित्पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वादित्यनेन। १२ परमाणोरप्रतिपत्तावपि घटस्य परमाणुना सम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्।

नुमानेन; अनवस्थेतरेतराश्रयदोषा[1]नुषङ्गात्। न चा[2]त्र धर्मी प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नः; अनक्षज्ञानवत्य[3]त्यक्षेऽध्यक्षस्याप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वाध्यक्षेणैवास्य प्रतिपन्नत्वान्न किञ्चिदनुमानेन। नाप्यनुमाने[4]न; हेतोः पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैवाप्रवृत्तेः। न चाप्रतिपन्ने ध[5]र्मिणि हेतोस्तत्सम्बन्धावगमः। नाप्यप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गम्।

किञ्च, स[6]त्तासाधने सर्वो हेतुरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणां त्र[7]यीं दोषजातिं नातिवर्त्तते। तथाहि-सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भा[8]वधर्मो हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उत उभयधर्मो वा? प्रथमपक्षेऽसिद्धः; भावेऽसिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धिविरोधात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः; भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावाव्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात्। उभयधर्मोप्यनैकान्तिकः सत्तासाधने; त[11]दुभयव्यभिचारित्वात्।

अपि चाविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्य[12]ते, विशेषेण वा? तत्राद्यपक्षे विशेषतोऽर्हत्प्रणीतागमाश्रयणमनुपपन्नम्। द्वितीयपक्षे तु हेतोरपरसर्वज्ञस्या[13]भावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसम्भवादसाधा[14]रणानैकान्तिकत्वम्।

किञ्च, यतो हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञः साध्यते ततो बुद्धोपि साध्यतां विशेषा[15]भावात्, न चा[16]त्र सर्वज्ञत्वसाधने हेतुरस्ति।

यदप्युच्यते-सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्पावकादिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽत्रै[17]कज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतम्, प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वा? तत्राद्यकल्पनायां विरुद्धो हेतुः; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वस्योपलम्भात् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य। द्वितीयकल्पनायां सिद्धसाध्यता अनेकप्रत्यक्षैरनुमानादिभिश्च त[18]त्परिज्ञानाभ्युपगमात्।

---

१ निश्चिताविनाभावपूर्वकत्वादनुमानस्य। २ साध्यसाधकानुमाने। ३ परोक्षे। ४ धर्मी प्रतिपन्नः। ५ सर्वज्ञलक्षणे। ६ सर्वज्ञस्य। ७ त्रयोऽवयवा यस्याः। ८ भावस्वरूपः। ९ सर्वज्ञसत्त्वे। १० सर्वज्ञस्य। ११ भावाभावोभय। १२ जैनैः। १३ दृष्टान्तप्रवर्तनाभावात्। १४ विपक्षसपक्षाभ्यां व्यावर्त्तमानो हेतुरसाधारणानैकान्तिकः। अस्योदाहरणमनित्यः शब्दः श्रावणत्वादिति। १५ हेतोः। १६ जगति। १७ अनुमाने। १८ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे।

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ॥
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्यते ।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११-१२] इत्यभिधानात् ।

किञ्च, प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते[1], अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपं वा स्यात्, उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; विवादाध्यासित[2]पदार्थेषु[3] तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्, अन्यथा[4] साध्यस्यापि सिद्धेर्हेतूपादानमपार्थकम् । सन्दिग्धान्वय[5]श्चायं[6] हेतुः स्यात्; तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्ते[7]ऽसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽसिद्धो हेतुः[8], अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरार्थे[9]ष्वसम्भवात् । सम्भवे वा ततस्तथाभूतप्र[10]त्यक्षत्वसिद्धिरेव स्यात् । तत्र चाविवादान्न हेतूपन्यासः फलवान् । नाप्युभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुः; अत्यन्तविलक्षणा[11]तीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणसामान्यस्यैवासम्भवात् । तन्नानुमानात्त[12]त्सिद्धिः ।

नाप्यागमात्[13]; सोऽपि हि नित्यः, अनित्यो वा तत्प्रतिपादकः स्यात् ? न तावन्नित्यः; तत्प्रतिपादकस्य तस्याभावात्, भावेऽपि प्रामाण्यासम्भवात् कार्येऽर्थे[14] तत्प्रामाण्यप्रसिद्धेः । अनित्योऽपि किं तत्प्र[15]णीतः, पुरुषान्तरप्रणीतो वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः— सर्वज्ञप्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततस्तत्प्रतिपादकत्वमिति । नापि पुरुषान्तरप्रणीतः; तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रामाण्यात् । तन्नागमादप्यस्य सिद्धिः ।

नाप्युपमानात्; तत्खलूपमानोपमेययोर[16]न्वयत्वेनाध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति; नान्यथातिप्रसङ्गात्[17] । न चोपमानभूतः कश्चित्सर्वज्ञत्वेनाध्यक्षतः सिद्धो येन तत्[18]सादृश्यादन्य[19]स्य सर्वज्ञत्वमुपमानात्साध्येत ।

---

१ जैनादिभिः । २ प्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वेन कारणेन विवादाध्यासितत्वम् । ३ सूक्ष्मादिषु । ४ विवादाध्यासितपदार्थेषु अशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वं सिद्धं चेत् । ५ असाधारणानैकान्तिकः । ६ अशेषज्ञेयप्रमाणप्रमेयत्वादित्ययम् । ७ पावकादौ । ८ अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वादिति हेतुः । ९ सूक्ष्मादिषु । १० अस्मदादिप्रमाणभूत । ११ अतीन्द्रियश्चेन्द्रियविषयश्च तेषां ग्राहकप्रमाणम् । १२ सर्वज्ञ । १३ हिरण्यगर्भं प्रकृत्य सर्वज्ञ इति । १४ अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति क्रियमाणेऽर्थे । १५ सर्वज्ञ । १६ साकल्येन । १७ भूभवनवर्द्धितोस्थितस्योपमानज्ञानप्रसङ्गात् । १८ तस्योपमानभूतसर्वज्ञस्य । १९ नुः ।

नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिः; सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातार्थस्य कस्यचिदभावात्। धर्माद्युपदेशस्य बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथापि भावात्। तथा चोक्तम्—

"[1]सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११७]
दृष्टो न चैकदे[2]शोस्ति लि[3]ङ्गं वा योऽ[4]नुमापयेत्॥ १॥ [ ]
न चागम[5]विधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्[6]पते॥ २॥ [ ]
न चान्या[7]र्थप्रधानैस्तै[8]स्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं श[9]क्यः पूर्व[10]मन्यै[11]रबोधि[12]तः॥ ३॥ [ ]
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते॥ ४॥ [ ]
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः[13] प्रतीयते।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्त[14]योः?॥ ५॥ [ ]
[15]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सि[16]द्धमूलान्त[17]रादृते॥ ६॥ [ ]
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूल[18]वर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किन्न जानते?॥ ७॥ [ ]
सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम त[19]तो वयम्॥ ८॥ [ ]
उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञं यदि नाऽभवत्॥ ९॥ [ ]
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भ[21]वः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहा[22]देव केवलात्॥ १०॥ [ ]

१ सर्वज्ञाभावेपि। २ सम्बन्ध्यन्तरं हेतुः। ३ लिङ्गं भूत्वेति शेषः। ४ सर्वज्ञम्। ५ प्रशंसामन्त्रभावनादिः। ६ घटते। ७ यागार्थे। ८ आगमैः। ९ आगमात्। १० अनुभाषणात्। ११ प्रमाणान्तरैः। १२ सर्वज्ञः। १३ अस्मदादिभिः। १४ सर्वज्ञागमसत्यार्थयोः। १५ कथमन्योन्याश्रय इत्युक्ते सत्याह। १६ वसः। १७ आगमप्रामाण्यलक्षणात् मूलादन्यत् सर्वज्ञप्रामाण्यलक्षणं मूलान्तरं वा द्रष्टव्यम्। १८ मूलं प्रामाण्यम्। १९ सर्वज्ञसदृशदर्शनात्। २० भूत्वा। २१ न विद्यते संभव उत्पत्तिर्यस्योपदेशस्य। २२ अज्ञानात्।

1 'न च मन्त्रार्थवादानां···न चानुवदितुं शक्यः' इति श्लोकद्वयं विना सर्वेऽपि श्लोकाः तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८३०,८३१,८३२,८३८,८३९,८४०) पूर्वपक्षे कुमारिलकर्तृकत्वेनोपलभ्यन्ते।

ये तु मन्वादयः सिद्धाः[1] प्राधान्येन त्रयीविदाम्[2] ।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते[3] वेदप्रभवोक्तयः[4] ॥ ११ ॥" [ ]

इति ।

न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

मा भूदत्रत्येदानीन्तनास्मदादिजनाना (नां) सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तरकालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चाऽयुक्तम्;

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जा[5]तीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य त[6]था कालान्तरेऽप्यभूत् ॥"
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११३]

इत्यभिधानात् । तथा हि—विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणम् अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

न[7]नु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तथा साध्यते, अन्य[8]थाभूतं वा? तथाभूतं चेत्सिद्धसाधनम् । अन्यथाभूतं चेदप्रयोजको हेतुः[9]; जगतो बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये संनि[10]वेशविशिष्टत्वादिवत्; तदसाम्प्रतम्; तथाभूतस्यैव तथा साधनात् । न च सिद्धसाधनमन्यादृशि[11]प्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि—विवा[12]दापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्प्रसिद्ध[13]प्रत्यक्षादिप्रमाणवत् । न गृद्धवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वाऽऽलोकानपेक्षिणानेकान्तः, का[14]त्यायनाद्यनुमानातिशयेन, जैमिन्याद्यागमा[15]तिशयेन वा; तस्यापीन्द्रियादिप्रणि[16]धानसामग्री विशेषमन्तरेणासम्भवात्, अतीन्द्रियानुमेयाद्यर्थाविषयत्वेन स्वा[17]र्थातिलङ्घनाभावात् । तथा चोक्तम्—

---

१ सिद्धाः प्रसिद्धाः । २ मध्ये । ३ त्रयीविद्भिराश्रितो ग्रन्थो येषां ते । ४ वेदात्प्रभव उत्पत्तिर्यासामुक्तीनां ता वेदप्रभवाः, वेदप्रभवा उक्तयो येषां मन्वादीनां ते । ५ रूपादिमदत्यासन्नादि । ६ अस्मदादिप्रमाणसदृशप्रमाणप्रकारेण । ७ सर्वज्ञवादी ब्रूते । ८ अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । ९ सपक्षव्यापकपक्षव्यावृत्तः प्रतिनियतार्थग्राहित्वे सतीति विशेषणजनितोपाध्याहितसम्बन्धो हेतुरप्रयोजकः । १० अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वे सति । ११ अतीन्द्रिय । १२ देशान्तरकालान्तरवर्त्ति । १३ अत्रत्येदानीन्तनं प्रसिद्धम् । १४ वररुचि । १५ अश्रुतवेदार्थलक्षण । १६ एकाग्रता । १७ स्वस्य प्रत्यक्षादेः ।

"[1]यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादि[2]दृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः (ता) ॥ १ ॥
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११४]

[3]येपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा[4]मेधा[5]दिभिर्नराः।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥ [ ]
[6]प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टुं क्षमोपि सन्।
सजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ॥ ३ ॥ [ ]
[7]एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान्।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥ ४ ॥ [ ]
[8]ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः।
[10]प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥ ५ ॥ [ ]
[11]ज्योतिर्विच्च[12] प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ ६ ॥ [ ]
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि।
न स्वर्गदेवताऽपूर्व[13]प्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ ७ ॥ [ ]
[14]दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ ८ ॥" [ ]

इति।

प्रसङ्गविपर्यया[15]भ्यां चास्या[16]शेषार्थविषयत्वं बाध्यते; तथाहि—सर्वज्ञस्य ज्ञानं प्रत्यक्षं यद्य[17]भ्युपगम्यते तदा तद्ध[18]र्मादिग्राहकं न स्याद्विद्यमानोपलम्भनत्वात्। विद्यमानोपलम्भनं तत् सत्सम्प्रयोगजत्वात्। सत्सम्प्रयोगजं तत्, प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वादस्मदादि[19]प्रत्यक्षवत्। तद्धर्मादिग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनं धर्मादेरविद्यमानत्वात्। तत्त्वे[20] चासत्सम्प्रयोगजत्वे चाऽप्रत्यक्ष[21]शब्द[22]वाच्यत्वम्।

---

१ गृद्धादीन्द्रिये। २ क्रियमाणायाम्। ३ इन्द्रियाणामतिशयो नास्ति चेन्मा भूत्पुरुषणां भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ४ अर्थग्रहणशक्तिः प्रज्ञा। ५ मेधा पाठग्रहणशक्तिः। ६ पूर्वोक्तं भावयति। ७ तत्र दृष्टान्तमाह। ८ दृष्टान्तं भावयति। ९ न्यासपर्यन्तम्। १० प्रकृष्टा भवति। ११ पुनरपि दृष्टान्तं भावयति। १२ चकारो दृष्टान्तसमुच्चये। १३ अदृष्ट। १४ लोकप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह। १५ प्रसङ्गविपर्यययोर्लक्षणमुत्तरपक्षे वदिष्यति। १६ सर्वज्ञज्ञानस्य। १७ जैनादिभिः सर्वज्ञवादिभिः। १८ पुण्यपापादि। १९ इति प्रसङ्गेन तस्याशेषार्थविषत्वं बाध्यते। २० तस्य परोक्षत्वमित्यर्थः। २१ इति विपर्ययेण तस्याशेषार्थविषयत्वं बाध्यते। २२ अविद्यमानोपलम्भनत्वे।

---

1 इमा अशेषाः कारिकाः तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८२५-२६) पूर्वपक्षतया उपलभ्यन्ते।

धर्मज्ञत्वनिषेधे चान्याशेषार्थप्रत्यक्षत्वेऽपि न प्रेरणाप्रामाण्यप्रतिबन्धो धर्मे तस्या एव प्रामाण्यात्। तदुक्तम्—

“[1]सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्।
केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते[2] पुण्यपापयोः॥ १॥” [ ]
धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्य[3]द्विजानंस्तु पुरुषः केन[4] वार्यते॥ २॥” [ ]

किञ्च, अस्य[5] ज्ञानं चक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, अभ्यासजनितं वा स्यात्, शब्दप्रभवं वा, अनुमानाविर्भूतं वा? प्रथमपक्षे धर्मादिग्राहकत्वायोगश्चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवज्ञानस्याप्यत्रैव प्रवृत्तेः। अथाभ्यासजनितम्, ज्ञानाभ्यासादिप्रकर्षतरतमादिक्रमेण तत्प्रकर्षसम्भवे सकलस्वभावातिशय[6]पर्यन्तं संवेदनमवाप्यते; इत्यपि मनोरथमात्रम्; अभ्यासो हि कस्यचित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ तदुपदेशाद् ज्ञानाच्च दृष्टः। न चाशेषार्थोपदेशो[7] ज्ञानं वा सम्भवति। तत्सम्भवे किमभ्यासप्रयासेनाशेषार्थज्ञानस्य सिद्धत्वात्। अन्योन्याश्रयश्च–अभ्यासात्तज्ज्ञानम्, ततोऽभ्यास इति। शब्दप्रभवं तदि[8]त्यप्ययुक्तम्; परस्पराश्रयणानुषङ्गात्–सर्वज्ञप्रणीतत्वेन हि तत्प्रामाण्येऽशेषार्थ[9]विषयज्ञानसम्भवः, तत्सम्भवे चाशेषज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमिति। अभ्युपगम्यते च प्रेरणाप्रभवज्ञानवतो[10] धर्मज्ञत्वम्,

“चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं[11] विप्रकृष्टमि[12]त्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किंचनेन्द्रियादिकम्” [शावरभा० १।१।२] इत्यभिधानात्।

अनुमानाविर्भूतमित्यप्यसङ्गतम्; धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गस्य तेन सह सम्बन्धासिद्धेरसिद्धसम्बन्धस्य चाज्ञापकत्वात्।

किञ्च, अनुमानेनाशेषज्ञत्वेऽस्मदादीनामपि तत्प्रसङ्गः, ‘भावाभावोभयरूपं जगत्प्रमेयत्वात्’ इत्याद्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात्। अनुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वात्तज्जनितस्याप्यवैशद्यसम्भवान्न तज्ज्ञानवा[13]न्सर्वज्ञो युक्तः।

१ वैदिकी। २ प्रेरणाप्रामाण्ये। ३ धर्माधर्माभ्यामन्यत्। ४ न केनापि। ५ सर्वज्ञस्य। ६ सकलार्थग्रहणलक्षणातिशय। ७ आगम। ८ धर्मादिग्राहकं सर्वज्ञज्ञानम्। ९ अशेषार्थविषय। १० मन्वादेः। ११ कालेन। १२ देशेन। १३ अनुमानादिज्ञानजनितास्पष्टज्ञानवान्।

1 इमे कारिके तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८१९,८२०) पूर्वपक्षतया विधेते।

न च वक्तव्यम्–'पुनःपुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयत्[1]तद्वैशद्यभाग् भविष्यति। दृश्यते चाभ्यासबलात्कामशोकाद्युप[2]प्लुतज्ञानस्य वैशद्यम्' इति; तद्वदस्या[3]प्युपप्लुतत्वप्रसङ्गात्।

किञ्च, अस्याखिलार्थग्रहणं सकलज्ञत्वम्, प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणं वा? तत्राद्यपक्षे क्रमेण तद्ग्रहणम्, युगपद्वा? न तावत्क्रमेण; अतीतानागतवर्त्तमानार्थानां परिसमाप्त्यभावात्तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वायोगात्। नापि युगपत्; परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासासम्भवात्। सम्भवे वा प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतीतिविरोधः।

किञ्च, एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद् द्वितीयक्षणेऽकिञ्चिज्ज्ञः स्यात्। तथा परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमान्, अन्यथा सकलार्थसाक्षात्करणविरोधः।

नापि प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणम्; इतरार्थव्यवच्छेदेन 'एतेषामेव प्रयोज[4]ननिष्पादकत्वात्प्राधान्यम्' इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव घटते, नान्यथा। तच्च प्रागेव कृतोत्तरम्।

कथं चातीतानागतग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवाद्? असतो ग्रहणे तैमिरिकज्ञानवत्प्रामाण्याभावः। सत्त्वेन ग्रहणेऽतीतादेर्वर्त्तमानत्वम्। तथा चान्यकालस्यान्यकालतया वस्तुनो ग्रहणात्तज्ज्ञानस्याऽप्रामाण्यम्।

कथं चासौ[5] त[6]द्ग्राह्याखिलार्थाज्ञाने तत्कालेऽप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते? तदुक्तम्—

"सर्वज्ञोयमिति ह्येतत्तत्कालेपि बुभुत्सुभिः।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम्॥ १॥
क[7]ल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्ध्यते॥ २॥
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मू[8]लाज्ञानेऽन्यै[9]वाक्यवत्॥ ३॥"
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १३४-३६] इति।

---

१ आगमानुमानजनितास्पष्टं ज्ञानम्। २ व्याहत। ३ सर्वज्ञज्ञानस्य। ४ मोक्षलक्षण। ५ सर्वज्ञः। ६ तेन सर्वज्ञज्ञानेन। ७ तर्हि सर्वज्ञेनैव सर्वज्ञो ज्ञायते इत्युक्ते सत्याह। ८ यतः। ९ मूलस्य वाक्यकारणस्य सर्वज्ञलक्षणस्य। १० अन्यस्य रथ्यापुरुषस्य।

अत्र प्रतिविधीयते[1]। यत्तावदुक्तम्-सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वं साधनम्; तदसिद्धम्; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथाहि-कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्[2], यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति। न तावत्सकलार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्; चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेस्तस्य तत्सिद्धेः, 'सकलमनेकान्तात्मकं[3] सत्त्वात्' इत्यादिव्याप्तिज्ञानोत्पत्तेर्वा। यद्धि[4] यद्विषयं तत्तद्ग्रहणस्वभावम्, यथा रूपादिपरिहारेण रसविषयं रासनविज्ञानं रसग्रहणस्वभावम्, सकलार्थविषयश्चात्मा व्याप्त्यागमज्ञानाभ्यामिति। सोयं[5]

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषान्" [शाबरभा० १।१।२] इति स्वयं ब्रुवाणो विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं साकल्येन व्याप्तिज्ञानं च प्रतिपद्यमानः सकलार्थग्रहणस्वभावतामात्मनो निराकरोतीति कथं स्वस्थः[6]? प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं च प्रागेव प्रसाधितत्वान्नासिद्धम्[7]।

साध्यसाधनयोश्च प्रतिबन्धो न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिज्ञायते येनोक्तदोषानुषङ्गः[8] स्यात्, तर्काख्यप्रमाणान्तरात्तत्सिद्धेः[9]।

यच्चाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुर्न प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम्[10]; तदप्यपेशलम्; न हि सर्वज्ञोऽत्र[11] धर्मित्वेनोपात्तो[12] येनाश्रयासिद्धेरयं दोषः। किं तर्हि? कश्चिदात्मा। तत्र चाविप्रतिपत्तेः। न चापक्षधर्मस्य हेतोरगमकत्वम्;

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते॥" [ ]

इति स्वयमभिधानात्।

यदप्युक्तम्-सत्तासाधने सर्वो हेतुस्त्रयीं दोषजातिं नातिवर्त्तत इति; तत्सर्वानुमानोच्छेदकारित्वादयुक्तम्; शक्यं हि वक्तुं धूम-

१ जैनैः। २ प्रक्षीणः प्रतिबन्धलक्षणः प्रत्ययः करणं यस्य। ३ वस्तु। ४ आत्मा सकलार्थग्रहणस्वभावो भवति सकलार्थविषयत्वादित्युपरिष्टाद्योज्यम्। ५ मीमांसकः। ६ बुद्धिमान्। ७ विशेष्यम्। ८ अनवस्थेतरेतरानुषङ्गः। ९ अर्थसाक्षात्कारित्वे सत्येव प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं लोचने सिद्धं स्तम्भादौ न दृष्टम्। अतः साध्यधर्मिणि साध्यसाधनयोः सम्बन्धसिद्धिर्भवत्येव। १० परेण। ११ अनुमाने। १२ धर्मिणः।

त्वादिर्यद्यग्निमत्पर्वतधर्मस्तदाऽसिद्धः; को[1] हि नामाग्निमत्पर्वतधर्मं हेतुमिच्छन्नग्निमत्त्वमेव[2] नेच्छेत् । तद्विपरीत[3]धर्मश्चेद्विरुद्धः; साध्यविरुद्धसाधनात् । उभयधर्मश्चेद्व्यभिचारी सपक्षेतरयोर्वर्त्तनात् । विमत्यधिकरणभावापन्नधर्मिधर्मत्वे धूमवत्त्वादेः सर्वं सुस्थम् । यथा चाचलस्याचलत्वा[4]दिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धाग्निमत्त्वादिसाध्यधर्मस्य धर्मो हेतुर्न विरुध्यते, तथा प्रसिद्धात्मत्वा[5]दिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणो धर्मः प्रकृतो हेतुः कथं विरुध्येत ?

यदपि अविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते विशेषेण वेत्याद्यऽभिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; सामान्यतस्तत्साधानात्तत्रै[6]व विवा[7]दात् । विशेषविप्रतिपत्तौ पुनर्दृष्टे[8]ष्टाविरुद्धवाक्त्वादर्हत एवाशेषार्थज्ञत्वं सेत्स्यति । कथं वा तत्प्रतिषेधः अत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात्? अर्हतो[9] हि तत्प्रतिषेधसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च न सिध्येत्, दृष्टान्त[10]स्य साध्य[11]शून्यतानुषङ्गात् । अनर्हत[12]श्चेत्; स एव दोषो बुद्धादेः पर[13]स्यासिद्धेः, अनिष्टानुषङ्गश्चार्हतस्तत्[14]प्रतिषेधात् । सामान्यतस्तत्प्रतिषेधे सर्वं सुस्थम्[15] ।

यच्चोक्तम्–एकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतं प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थानां प्रत्यक्षत्वसाधनात् । प्रसिद्धे च तेषां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्यक्षस्यैकत्वमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वात्सिध्येत्, तदपेक्षस्यैवास्या[16]नेकत्वप्रसिद्धेः । तदनपेक्षत्वं च प्रमाणान्तरात्सिद्ध्येत्; तथाहि–योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्, यत्पुनरिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तथा च योगिनः प्रत्यक्षम्, तस्मात्तथेति ।

किञ्च, एवं साध्यविकल्पनेनानुमानोच्छेदः । शक्यते हि वक्तुम्–साध्यधर्मिधर्मोऽग्निः साध्यत्वेनाभिप्रेतः, दृष्टान्तधर्मिधर्मः, उभयधर्मो वा? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः; तद्विरुद्धेन दृष्टान्तध-

१ ज्ञानवान् । २ अतश्च हेतूपन्यासो व्यर्थः । ३ अनग्निमत्पर्वतधर्मः । ४ आदिपदेन स्थूलत्वादिना । ५ आदिपदेन अमूर्त्तत्वम् । ६ सर्वज्ञसाधने । ७ वीतो न सर्वज्ञः पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवदिति । ८ यो यः पुरुषः स सोऽर्हन् सन् सर्वज्ञो न भवतीति । ९ अन्यथा । १० रथ्यापुरुषस्य । ११ सर्वज्ञभाव । १२ सुगतादेः । १३ मीमांसकस्य । १४ तस्य सर्वज्ञत्वस्य । १५ असत्पक्षेपि समान इत्यर्थः । कथम्? सामान्यतः सर्वज्ञसाधने अप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यादिदूषणानि विशेषपक्षोक्तानि नोपढौकन्ते इति । १६ प्रत्यक्षस्य ।

र्मिणि तद्धर्मेणाग्निना धूमस्य व्याप्तिप्रतीतेः । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः[1] स्यात् । द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षादि[2]विरोधः । अथोभयगताग्निसामान्यं साध्यते तर्हि सिद्धसाध्यता[3] ।

यच्चान्यदुक्तम्-प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपं वेत्यादि; तद्धूमादिसकलसाधनोन्मूलनहेतुत्वान्न वक्तव्यम् । तथाहि-साध्यधर्मिधर्मो धूमो हेतुत्वेनोपात्तः, दृष्टान्तधर्मिधर्मो वा स्यात्, उभयगतसामान्यरूपो वा? साध्यधर्मिधर्मत्वे[4] दृष्टान्ते[5] तस्याभावादनन्वयो[6] हेतुदोषः । दृष्टान्तधर्मिधर्मत्वे[7] साध्यधर्मिण्यभावादसिद्धता । उभयगतसामान्यरूपत्वेऽप्यसिद्धतैव, प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वेनात्यन्तविलक्षणमहानसाचलप्रदेशव्यक्तिद्वयाश्रितसामान्यस्यैवासम्भवात् । अथ कण्ठाक्षिविक्षेपादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यान्न महानसाचलप्रदेशाश्रितधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यं येनोभयगतसामान्यासिद्धेरसिद्धता स्यात्; तर्हि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वादिधर्मकलापसाधर्म्यस्यातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणव्यक्तिद्वये[8]ऽत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य[9] सम्भवादुभयसाधारणसामान्यसिद्धेः कथं प्रमेयत्वसामान्यस्यासिद्धिः ?

यच्चेदमुक्तम्-प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां चास्या[10]शेषार्थविषयत्वं बाध्यत इत्यादि; तन्मनोरथमात्रम्; साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र[11] प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम् । व्यापकनिवृत्तौ चावश्यं भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः । न च प्रत्यक्षत्व[12]सत्सम्प्रयोगजत्व[13]विद्यमानो[14]पलम्भनत्वधर्माद्य[15]निमित्तत्वानां व्याप्यव्यापकभावः क्वचित्[16] प्रतिपन्नः । स्वात्मन्येवासौ प्रतिपन्न इत्यप्यसङ्गतम्; चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवप्रत्यक्षस्याव्यवहितदेशकालस्वभावाविप्र[17]कृष्ट[18]प्रतिनियतरूपादिविषयत्वाभ्युपगमात्[19], नियमस्य[20] चाभावाद्विप्र-

१ महानसे पर्वताग्नेरभावात् । २ लौकिक । ३ सिद्धं नः (जैनानां) समीहितमिति पाठान्तरम् । ४ पर्वतधूमवत्त्वादित्युक्ते । ५ महानसे । ६ यो यः पर्वतधूमवान् स सोऽग्निमानित्यन्वयो न । ७ महानसधूमवत्त्वादित्युक्ते । ८ अतीन्द्रियविषयश्चेन्द्रियविषयश्च तयोर्ग्राहकं प्रमाणम् । ९ सदृशत्वप्रवर्त्तकस्येत्यर्थः । १० सर्वज्ञस्य । ११ अनुमाने । १२ व्याप्य । १३ व्यापक । १४ व्याप्य । १५ व्यापक । १६ दृष्टान्ते । १७ समीपवर्त्ति । १८ यसः । १९ यथाविधे प्रत्यक्षे व्याप्यव्यापकभावः साध्यसाधनानां प्रतिपन्नस्तथाविधेऽसौ स्यान्न सर्वज्ञत्वप्रत्यक्षे तत्र व्याप्यव्यापकभावस्याप्रतिपन्नत्वादित्यर्थः । २० यत्प्रत्यक्षशब्दावाच्यं तदव्यवहितदेशकालार्थग्राहकमिति नियमस्य ।

कृष्टार्थग्राहके[1]पि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वदर्शनात् । तथाहि—अनेकयोजनशतव्यवहितार्थग्राहि वैनतेयप्रत्यक्षं रामायणादौ प्रसिद्धम्, लोके चातिदूरार्थग्राहि गृध्रवराहा[2]दिप्रत्यक्षम्, स्मरणसव्यपेक्षेन्द्रिया[3]दिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं च कालविप्रकृष्टस्यातीतकालसम्बन्धित्वस्यातीतदर्शनसम्बन्धित्वस्य[4] च ग्राहि पुरोवस्थितार्थे[5] भवतैवा[6]भ्युपगम्यते । अन्यथा—

"देशकालादि[7]भेदेन तत्रा[8]स्त्यवसरो मितेः[9] ।
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्[10] ॥"
[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० २३३-३४]

इत्यादिना तस्या[11]गृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसम्बन्धित्वलक्षणनित्यत्वग्राहकत्वं च प्रतिपाद्य[12]मानं विरुध्येत । प्रातिभं च ज्ञानं शब्दलिङ्गाक्षव्यापारानपेक्षं 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्याद्याकारमनागतातीन्द्रियकालविशेषणार्थप्रतिभासं जाग्रद्दशायां स्फुटतरमनुभूयते ।

किञ्च, धर्मादेरतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनानुपलम्भः, अविद्यमानत्वाद्वा स्यात्, अविशेषणत्वाद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः; अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेरुपलम्भाभ्युपगमात् । नाप्यविद्यमानत्वात्; भाविधर्मा[13]देरतीतकालादेरिवाविद्यमानत्वेप्युपलम्भसम्भवात् । अविशेषणत्वं तु तस्यासिद्धं सकललोकोपभोग्यार्थजनकत्वेन द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन चास्याखिलार्थविशेषणत्वसम्भवात् । अतीताद्य[14]तीन्द्रियकालादेरिवास्यापि विशेषणग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणोपपत्तेः कथं धर्मं प्रत्यस्या[15]निमित्त[16]त्वसाधने प्रसङ्ग[17]विपर्ययसम्भवः ? प्रश्ना[18]दिमन्त्रादिना च संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टार्थस्य द्रव्यविशेषसंस्कृतं च निर्जीव[19]कादिचक्षुर्जलाद्यन्तरितार्थस्य ग्राहकं दृष्टम्, तथा पुण्यविशेषसंस्कृतं[20] सूक्ष्माद्यशेषार्थग्राहि भविष्यतीति न कश्चिद्दृष्टस्वभावातिक्रमः । 'स्वात्मनि च यावद्भिः कारणैर्जनितं यथाभूतार्थग्राहि प्रत्यक्षं प्रतिपन्नं तथा सर्वत्र सर्वदा प्राण्यन्तरेपि' इति नियमे नक्तञ्चराणामनालोकान्ध-

---

१ ज्ञाने । २ वराहः पिपीलिका । ३ अनिन्द्रियमादिपदेन । ४ धर्मस्य । ५ देवदत्तलक्षणे । ६ मीमांसकेन । ७ स्वभावादिरादिपदेन । ८ पूर्वप्रमाणगृहीते देवदत्तलक्षणे । ९ प्रत्यभिज्ञायाः । १० परिज्ञातम् । ११ प्रत्यभिज्ञानस्य । १२ भवता । १३ योगजधर्मकारणधर्मोपलम्भे । १४ अनागतमादिपदेन । १५ सर्वज्ञज्ञानस्य । १६ अग्राहकत्वसाधने । १७ आदिपदेन संज्ञा । १८ तन्त्रमादिपदेन । १९ कर्णधार । २० योगिचक्षुः ।

कारव्यवहितरूपाद्युपलम्भो न स्यात्स्वात्मनि तथाऽनुपलम्भात्। प्राण्यन्तरे स्वात्मन्यनुपलब्धस्यानालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युपलम्भलक्षणातिशयस्य सम्भवे सूक्ष्माद्युपलम्भलक्षणातिशयोपि स्यात्। जात्यन्तरत्वं चो[1]भयत्र समानम्। अभ्युपगम्य चाक्षजत्वं सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारित्वं समर्थितं नार्थ[2]तः, तज्ज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयोद्भूतत्वात्।

यच्चा[3]स्य ज्ञानं चक्षुरादिजनितं वेत्याद्यभिहितम्; तदप्यचारु; चक्षुरादिजन्यत्वेऽप्यनन्तरं धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्योक्तत्वात्।

यच्चाभ्यासजनितत्वेऽभ्यासो हीत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थसू० ५।३०] इत्यखिलार्थविषयोपदेशस्याविसंवादिनो ज्ञानस्य च सामान्यतः सम्भवात्। न च तज्ज्ञानव[4]त एवाशेषज्ञत्वाद्व्यर्थोऽभ्यासः; तस्य सामान्यतोऽस्पष्टरूपस्यैवाविर्भावात्, अभ्यासस्य त[5]त्प्रतिबन्धकापायसहायस्याशेषविशेषविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तौ व्यापारात्। नाप्यन्योन्याश्रयः; अभ्यासादे[6]र्वाखिलार्थविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तेरनभ्युप[7]गमात्।

शब्दप्रभवपक्षेऽप्यन्योन्याश्रयानुषङ्गोऽसङ्गतः; कारकपक्षे तदसम्भवात्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवं ह्येत[8]स्याशेषार्थज्ञानम्, तस्याप्यन्यसर्वज्ञागमप्रभवम्। न चैवमनवस्थादोषानुङ्गः; बीजाङ्कुरवदनादित्वेनाभ्युपगमादागमसर्वज्ञपरम्परायाः।

यच्चानुमानाविर्भावितत्वपक्षे सम्बन्धासिद्धेरित्युक्तम्; तदसमीचनम्; प्रमाणान्त[9]रात्सम्बन्धसिद्धेरभ्युपगमात्। न खलु कश्चित्तस्यागोचरोस्ति सर्वत्रेन्द्रियातीन्द्रियविषये प्रवृत्ते[10]रन्यथा तत्रानुमानाप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्य तन्निबन्धनत्वात्।

यच्चानुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वादित्यभिहितम्; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; न हि सर्वथा कारणसदृशमेव कार्यं विलक्षणस्याप्यङ्कुरादेर्बीजादेरुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वत्र हि सामग्रीभेदात्कार्यभेदः। अ[11]त्राप्यागमादि[12]ज्ञानेनाभ्यासप्रतिबन्धकापायादि[13]सामग्रीसहायेनासादिताशेषविशेषवैशद्यं विज्ञानमाविर्भाव्यते।

भावनाबलाद्वैशद्ये कामाद्युपप्लुतज्ञानवत्तस्या[14]प्युपप्लुतत्वप्रसङ्गः;

---

१ नक्तञ्चरादौ सर्वज्ञलक्षणे प्राण्यन्तरे च। २ परमार्थतः। ३ सर्वज्ञस्य। ४ पुरुषस्य। ५ अशेषविशेषविषयस्पष्टज्ञान। ६ केवलात्। ७ जैनैः। ८ उत्तरसर्वज्ञस्य। ९ तर्कलक्षणात्। १० इन्द्रियतीन्द्रियाविषये प्रवृत्तिर्न स्याद्यदि। ११ सर्वज्ञे। १२ आदिपदेनानुमानम्। १३ आदिपदेन देशकालादि। १४ अशेषज्ञज्ञानस्य।

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो 'भावनाबलाद् ज्ञानं वैशद्यमनुभवति[1]' इत्येतावन्मात्रेण तज्ज्ञानस्य दृष्टान्तोपपत्तेः। न चाशेषदृष्टान्तधर्माणां साध्य[2]धर्मिण्यापादनं युक्तं सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। न चाशेषज्ञज्ञानं क्रमेणाशेषार्थग्राही[3]ष्यते येन तत्पक्षनिक्षिप्तदोषोपनिपातः; सकलावरणपरिक्षये सहस्रकिरणवद्युगपन्निखिलार्थोद्द्योतनस्वभावत्वात्तस्य कारणक्रमव्यवधानातिवर्त्तित्वाच्च।

यच्चोक्तम्-युगपत्परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासासम्भवः; तदप्यसारम्; तत्र हि तेषामभावादप्रतिभासः, ज्ञानस्यासामर्थ्याद्वा? न तावदभावात्; शीतोष्णाद्य[4]र्थानां सकृत्सम्भवात्। ज्ञानस्यासामर्थ्यादित्यसत्; परस्परविरुद्धानामन्धकारोद्द्योता[5]दीनामेकत्र ज्ञाने युगपत्प्रतिभाससंवेदनात्। सकृदेकत्र विरुद्धार्थानां प्रतिभासासम्भवे 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिव्याप्तिश्च न स्यात्, साध्यसाधनरूपतया तयो[6]र्विरुद्धत्वसम्भवात्। नाप्येकत्र तेषां प्रतिभासे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वविरोधः; अन्धकारोद्द्योतादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि प्रतिनियतार्थग्राहकत्वप्रतीतेः।

यच्चान्यदुक्तम्-एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद्द्वितीयक्षणेऽज्ञः स्यात्; तदप्यसम्बद्धम्; यदि हि द्वितीयक्षणेऽर्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदाऽयं[7] दोषः। न चैवम्, अनन्तत्वात्तद्द्वयस्य। पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा। साप्युत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया। उत्तरकालं तु तद्विपरीतत्वेन ते[8] प्रतिपन्नाः। यदा हि यद्धर्मविशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने[9] तथैव[10] प्रतिभासते नान्यथा विभ्रमप्रसङ्गात् इति कथं गृहीतग्राहित्वेनाप्यस्या[11]प्रामाण्यम्?

यच्चेदं परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमानित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; तथापरिणामो[12] हि तत्त्व[13]कारणं न संवेदनमात्रम्, अन्यथा 'मद्यादिकमेवंविधरसम्' इत्यादिवाक्यात्तच्छ्रोत्रियो यदा प्रतिपद्यते[14] तदाऽस्यापि तद्रसास्वादनदोषः स्यात्। अरसनेन्द्रियजत्वात्तस्या[15]दोषोयम्; इत्यन्यत्रापि[16] समानम्। न हि सर्व-

१ प्राप्नोति। २ सर्वज्ञज्ञाने। ३ जैनैः। ४ धूपदहनाद्यवयविनि। ५ आदिपदेनाहिनकुलादीनां च। ६ कृतकत्वानित्यत्वयोः। ७ अज्ञत्वलक्षणः। ८ भाविनोऽर्थाः। ९ सर्वज्ञज्ञाने। १० उत्पत्स्यमानतादिनिरूपणप्रकारेण। ११ सर्वज्ञज्ञानस्य। १२ रागादिरूपतया। १३ तत्त्वस्य रागादिमत्त्वस्य। १४ जानाति। १५ मद्यादिज्ञानस्य। १६ सर्वज्ञज्ञानेपि।

ज्ञानमिन्द्रियप्रभवं प्रतिज्ञायते । किञ्चाङ्गनालिङ्गनसेवनाद्यभिलाषस्येन्द्रियोद्रेक[1]हेतोराविर्भावाद्रागादिमत्त्वं प्रसिद्धम् । न चासौ प्रक्षीणमोहे भगवत्यस्तीति कथं रागादिमत्त्वस्याशङ्कापि ।

यदप्यभिहितम्–कथं चातीतादे[2]र्ग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवादित्यादि; तदप्यसारम्; यतोऽतीतादेरतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वम्, तज्ज्ञानकालसम्बन्धित्वेन वा? नाद्यः पक्षो युक्तः; वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव स्वकालसम्बन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसम्भवात् । वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वमभिमत[3]मेव, तत्कालसम्बन्धित्व[4]तत्सत्त्वयोः परस्परं भेदात् । न चैतत्कालसम्बन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वम्; [5]वर्त्तमानकालसम्बन्धिनोप्यतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वात् तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गात् सकलशून्यता[6]नुषङ्गः । न चातीतादेः सत्त्वेन ग्रहणे वर्त्तमानत्वानुषङ्गः; स्व[7]कालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात् । ननु चातीतादेस्तज्ज्ञान[8]काले असन्निधानात्कथं प्रतिभासः, सन्निधाने वा वर्त्तमानत्वप्रसङ्गः प्रसिद्धवर्त्तमानवत्; इत्यपि मन्त्रादिसंस्कृतलोचनादिज्ञानेन व्याप्तिज्ञानेन च प्रागेव कृतोत्तरम् ।

अथोच्यते—'पूर्वं [9]पश्चाद्वा यदि क्व[10]चित्कदाचिन्निखिलदर्शिनो विज्ञानं विश्रान्तं तर्हि तावन्मात्रत्वात्संसारस्य कुतोऽनाद्यनन्तता? अथ न विश्रान्तं तर्हि नानेकयुगसहस्रेणापि सकलसंसारसाक्षात्करणम्' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः किमिदं विश्रान्तत्वं नाम? किं किञ्चित्परिच्छेद्याऽपरस्यापरिच्छेदः, सकलविषय[11]देशकालगमनासामर्थ्याद्वा[12]न्तरेऽवस्थानं वा, क्वचिद्विषये उत्पद्य विनाशो वा? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; अन[13]भ्युपगमात् । न खलु सर्वज्ञज्ञानं क्रमेणार्थपरिच्छेदकम्, युगपदशेषार्थोद्योतकत्वात्तस्येत्युक्तम् । द्वितीयविकल्पोप्यनभ्यु[14]पगमादेवायुक्तः । न हि विषयस्य देशं कालं वा गत्वा ज्ञानं तत्परिच्छेदकमिति केनाप्यभ्युपगतम्, अप्राप्यकारिणस्तस्य क्वचिद्गमनाभावात् । केवलं यथाऽनाद्यनन्तरूपतया स्थितोर्थस्तथैव तत्प्रतिपद्यते । तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः; क्वचिद्विषये तस्योत्प[15]न्नस्यात्मस्वभावतया विनाशासम्भवात् । न हि स्वभावो भाव[16]स्य विनश्यति स्फटिकस्य

१ बसः । २ अर्थस्य । ३ जैनानाम् । ४ तस्यातीतार्थस्य । ५ अन्यथा । ६ अतीतकाल । ७ वर्त्तमानज्ञानकाले । ८ उत्तरत्र । ९ अर्थे । १० समाप्तम् । ११ ता । १२ कस्मिंश्चिद्वस्तुनि । १३ जैनानाम् । १४ जैनानाम् । १५ ज्ञानस्य । १६ पदार्थस्य ।

स्वच्छतादिवत्, अन्यथा तस्याप्यभावः स्यात्। औपाधिकमेव हि रूपं नश्यति यथा तस्यैव रक्तिमादि[1]। कथं चैवंवादिनो[2] वेदस्यानाद्यनन्तताप्रतिपत्तिस्तत्राप्युक्तविकल्पानाम[3]वतारात्? कथं वा[4] साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तिः, सामान्येन[5] व्याप्तिप्रतिपत्तावप्यनाद्यनन्तसामान्यप्रतिपत्ता[6]वुक्तदोषानुषङ्ग एव।

यच्चोक्तम्–'कथं चासौ[7] तत्[8]कालेप्यऽसर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते? तदपि फल्गुप्रायम्; विषया[9]परिज्ञाने विषयिणो[10]प्यपरिज्ञानाभ्युपगमे कथं जैमिन्यादेः सकलवेदार्थपरिज्ञाननिश्चयोऽसकलवेदार्थविदाम्[11]? तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थाश्रयणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः? कथं वा व्याकरणादिसकलशास्त्रार्थापरिज्ञाने तदर्थज्ञतानिश्चयो व्यवहारिणाम्? यतो व्यवहारप्रवृत्तिः स्यात्।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाण[12]त्वाच्चाशेषार्थवेदिनो भगवतः सत्त्वसिद्धिः। न चेदमसिद्धम्; तथाहि—सर्वविदोऽभावः प्रत्यक्षेणाधिगम्यः, प्रमाणान्तरेण वा? न तावत्प्रत्यक्षेण; तद्धि सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न भवतीत्येवं प्रवर्त्तते, क्वचित्कदाचित्कश्चिद्वा? प्रथमपक्षे न सर्वज्ञाभावस्तज्ज्ञानवत एवाशेषज्ञत्वात्। न हि सकलदेशकालाश्रितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण प्रत्यक्षतस्तदाधारमसर्वज्ञत्वं प्रत्येतुं शक्यम्। द्वितीयपक्षे तु न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिः।

अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं[13] सर्वज्ञाभावसाधकं किन्तु निवर्त्तमानम्। ननु कारणस्य[14] व्यापकस्य[15] वा निवृत्तौ कार्यस्य[16] व्याप्यस्य वा निवृत्तिः प्रसिद्धा नान्य[18]निवृत्तावन्य[19]निवृत्तिरतिप्रसङ्गात्[20]। न चाशेषज्ञस्य प्रत्यक्षं कारणं[21] व्यापकं वा येन तन्निवृत्तौ सर्वज्ञस्यापि निवृत्तिः। न चैवं[22] घटाद्यभावासिद्धिः एकज्ञानसंसर्गिपदार्था-

---

१ जपाकुसुमादिजनितम्। २ सर्वज्ञज्ञानस्य क्वचिद्विश्रान्तत्वान्न सर्वज्ञत्वमित्येवं वादिनः। ३ वेदस्यानाद्यनन्तताग्राहकं जैमिन्यादिज्ञानं क्वचिद्विश्रान्तमित्यादि। ४ किञ्च। ५ व्याप्तिर्विशेषतः प्रत्येतुं नायाति व्यक्तीनामानन्त्यात्। अतः सामान्येनेत्युक्तम्। ६ सामान्यमनाद्यनन्तमीदृशसामान्यस्य ग्राहकं व्याप्तिज्ञानं क्वचिद्विश्रान्तं न वेत्यादि। ७ सर्वज्ञः। ८ सर्वज्ञ। ९ अर्थे। १० ज्ञानस्य। ११ भवादृशाम्। १२ स्वात्मनि सुखादिवत्। १३ असदादेः। १४ अग्न्यादेः। १५ वृक्षत्वस्य। १६ धूमादेः। १७ शिंशपात्वस्य। १८ अकारणस्याऽव्यापकस्य वा। १९ अकार्यस्याऽव्याप्यस्य वा। २० घटनिवृत्तौ पटनिवृत्तिप्रसङ्गात्। २१ असदादेः। २२ सर्वज्ञाभावासिद्धिप्रकारेण। कथम्? न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं घटाभावसाधकं किन्तु निवर्त्तमानमित्युक्ते ननु कारणस्येत्यादिग्रन्थो निवृत्तिपर्यन्तः। किन्तु सर्वज्ञपदस्थाने घटपदं पठनीयम्।

[1]न्तरोपलम्भात् क्वचित्[2]तत्सिद्धेः। न चात्रा[3]प्ययं [4]न्यायः समानस्तत्संसर्गिण एव [5]कस्यचिदभावत्, [6]अन्यथा सर्वत्र तदभावविरोधो घटादिवत्। तन्न प्रत्यक्षेणाधिगम्यस्तदभावः।

नाप्यनुमानेन; विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रथ्यापुरुषवदित्यनुमाने हि प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, तद्विपरीतस्य वा स्यात्, वक्तृत्वमात्रं वा? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः; प्रमाणान्तरसंवादिसूक्ष्मा[7]द्यर्थवक्तृत्वस्याशेषज्ञे एव भावात्। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्; तथाभूतस्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेना[8]स्माभिरभ्युपगमात्। वक्तृत्वमात्रस्य तु हेतोः साध्य[9]विपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सह सहानवस्थानपरस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधा[10]सिद्धेस्ततो [11]व्यावृत्त्यभावान्न स्वसाध्यनि[12]यतत्वं यतो गमकत्वं स्यात्। सर्वज्ञे वक्तृत्वस्यानुपलब्धेस्ततो [13]व्यावृत्तिरित्यप्यसम्यक्; सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धेः, तेनै[14]व सर्वज्ञान्तरेण वा तत्र तस्योपलम्भसम्भवात्। सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात्सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सिद्धिरित्यसङ्गतम्, प्रमाणान्तरा[15]त्तत्सिद्धावस्य[16] वैयर्थ्यात्। अतः सिद्धौ [17]चक्रकानुषङ्गः। नापि स्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भा[18]त्तद्व्यतिरेक[19]निश्चयः; अस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्।

न चाखिलसाधनेषु दोषस्या[20]स्य समानत्वान्निखिलानुमानोच्छेदः, तत्र विपक्षव्या[21]वृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण [22]प्रमाणान्तरस्य भावात्। न [23]चात्र कार्यकारणभावः प्रसिद्धः; असर्वज्ञत्वध[24]र्मानुविधाना[25]भावाद्वचनस्य। [26]यद्धि यत्कार्यं तत्तद्धर्मानुविधायि प्रसिद्धं [27]वह्न्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धा[28]द्यनुविधायिधूम-

---

१ भूतल। २ घटाद्यभाव। ३ सर्वज्ञेपि। ४ एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् क्वचिद् घटाभावप्रतिपत्तिलक्षणः। ५ प्रदेशस्य। ६ एकज्ञानसंसर्गिकोपि कश्चित्प्रदेशो भवेद्यदि। ७ आदिपदेनान्तरितं दूरम्। ८ जैनैः। ९ सर्वज्ञाभाव। १० अतश्च सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः। ११ वक्तृत्वमात्रस्य। १२ अविनाभूतत्वम्। १३ वक्तृत्वस्य। १४ प्रकृतसर्वज्ञेन। १५ प्रकृतानुमानस्य। १६ वक्तृत्वानुमानस्य। १७ वक्तृत्वानुमानात्सर्वज्ञाभावसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सर्वज्ञात्साधनस्य व्यावृत्तिसिद्धिरतश्चानुमानमिति। १८ वक्तृत्वस्य। १९ सर्वज्ञलक्षणाद्विपक्षाद् व्यावृत्तिनिश्चयः। २० अभावसाध्यसाधकानां निखिलसाधनानां पक्षेनुपलम्भः सर्वसम्बन्धी आत्मसंबन्धीवेत्याद्युक्ते असिद्धानैकान्तिकत्वलक्षणस्य। २१ यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति। २२ ऊहस्य। २३ वक्तृत्वासर्वज्ञत्वयोः। २४ यसः। २५ वचनमसर्वज्ञकार्यं न भवति तद्धर्मानुविधानाभावात्। २६ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सतीदमाह। २७ यसः। २८ आदिपदेन श्रीगन्ध।

वत् । तथाहि असर्वज्ञत्वं सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमभिधीयते । न च तत्तरतमभावाद्वचनस्य तथाभावो दृश्यते तद्विप्रकृष्टमत्यल्पज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तत्र वचनप्रवृत्तेः प्रकर्षो दृश्यते । अथ[१] प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावो[२]ऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं वचनम्; तर्हि ज्ञानरहिते मृतशरीरादौ तस्योपलम्भप्रसङ्गो ज्ञानातिशयवत्सु चाखिलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनातिशयोपलम्भो न स्यात् । न चैवम्, ततो ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात्तस्य तत्[३]कार्यता सातिशयतक्षादि[४]कारणधर्मा[५]नुविधायिप्रासादादिकार्यविशेषवत् । तन्नानुमानात्तदभावसिद्धिः ।

नाप्यागमात्, स हि तत्प्रणीतः, अन्यप्रणीतः, अपौरुषेयो वा तदभावसाधकः स्यात् ? तत्र यद्यागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं साक्षात्प्रतिपद्यते युक्तोसौ त[६]त्र प्रमाणम्, किन्तु विद्यमानोपि न प्रकृता[७]र्थोपयोगी, तथा प्रतिपद्यमानस्य तस्यैवाशेषज्ञत्वात् । न प्रतिपद्यते चेत्; तर्हि रथ्यापुरुषप्रणीतागमवन्नासौ त[८]त्र प्रमाणम् । न ह्यविदितार्थस्वरूपस्य प्रणेतुः प्रमाणभूतागमप्रणयनं नामातिप्र[९]सङ्गात् । द्वितीयविकल्पेप्येतदेव वक्तव्यम् ।

अपौरुषेयोप्यागमो जैमिन्यादिभ्यो यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावं प्रतिपादयेत्तर्हि सर्वस्मै प्रतिपादयेत् के[१०]नचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविरहात् । तथा च—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्[1] ।" [श्वेताश्व० ३।३]

स[2] वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।" [श्वेताश्वत० ३।१९] "हिरण्यगर्भ" [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १० सू० १२१] प्र[११]कृत्य "सर्वज्ञः" इत्यादौ न न कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः स्यात्–'किमनेन[१२] सर्वज्ञः प्रतिपाद्यते क[१३]र्मविशेषो वा स्तूयते' इति । न खलु प्रदीपप्रकाशिते घटादौ कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः—'किमयं घटः पटो वा' इति । न च स्वरू-

---

१ यदि । २ सर्वथा ज्ञानाभावः । ३ ज्ञानातिशय । ४ यसः । ५ सातिशयत्व । ६ सर्वसकलज्ञविकलत्वे । ७ सर्वज्ञाभावलक्षणेऽर्थे । ८ सर्वज्ञाभावे । ९ रथ्यापुरुषस्य प्रमाणभूतागमप्रणेतृत्वं स्यात् । १० मीमांसकेन नैयायिकादिना च । ११ प्रस्तुत्य । १२ वेदवाक्येन । १३ यागलक्षणः ।

---

1 'सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' इत्युत्तरार्द्धम् ।
2 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इति पूर्वार्द्धम् ।

पेऽस्या[1]प्रामाण्यम्। अविसंवादो हि प्रमाणलक्षणं कार्ये[2] स्वरूपे वार्थे, नान्यत्। यत्र[3] सोस्ति तत्प्रमाणम्। न चाशेषज्ञाभावावेदकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, तत्सद्भावावेदकस्यैव श्रुतेः। तन्नागमादप्यस्याभावसिद्धिः।

नाप्युपमानात्; तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति नान्यथा। न चात्रत्येदानीन्तनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम् उपमेयभूताशेषान्यदेशकालपुरुषप्रत्यक्षत्वं चाभ्युपगम्यते; [4]सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गात्, निखिलार्थप्रत्यक्षत्वमन्तरेणाशेषपुरुषपरिषत्साक्षात्कारित्वासम्भवात्।

नाप्यर्थापत्तेस्तदभावावगमः; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपजायमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्यासम्भवात्। वेदप्रामाण्यस्य गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वे सत्येव भावात्। अपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरतो निषेधात्। न चार्थापत्तिरनुमानात्प्रमाणान्तरमित्यग्रे वक्ष्यते। तद्वदत्रापि व्याप्त्यादि[5]चिन्तायां[6] दोषान्तरं[7] चापादनीयम्।

नाप्यभावप्रमाणात्तदभावसिद्धिः; तस्यासिद्धेः, तदसिद्धिश्चाभावप्रमाणलक्षणस्य

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० ११]

इत्यादेः प्रागेव विस्तरतो निराकरणात्सिद्धा। इत्यलमतिप्रसङ्गेन[8]। न चानुमाने तत्सद्भावावेदके सत्येतत्प्रवर्त्तते—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र[9] वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० १]

इत्यभिधानात्। किञ्च, अभावप्रमाणं

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० २७]

इति सामग्रीतः प्रादुर्भवति। न चाशेषज्ञनास्तिताधिकरणाखिलदेशकालप्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसङ्गात्।

---

१ श्रुतिवाक्यस्य। २ प्रवर्त्तकम्। ३ प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतवचनादौ। ४ अभ्युपगम्यते चेत्तर्हि सर्वज्ञो वेदप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः। ५ सपक्षेऽन्वयादि। ६ विचारणायाम्। ७ आश्रयासिद्धिलक्षणाद्दोषादन्यत्सम्बन्धाप्रतिपत्त्यनवस्थेतरेतराश्रयलक्षणं दोषान्तरम्। ८ अभावप्रमाणदूषणविस्तरेण। ९ घटासदंशलक्षणे।

नाप्यशेषज्ञः क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रतिपन्नो येनासौ स्मृत्वा निषेध्येत, सर्वत्र सर्वदा तन्निषेधविरोधात्। न च निषेध्यनिषेध्याधारयोरप्रतिपत्तौ निषेधो नामातिप्रसङ्गात्। न ह्यप्रतिपन्ने भूतले घटे च घटनिषेधो घटते। यथा चाभावप्रमाणस्योत्पत्तिः स्वरूपं विषयो वा न सम्भवति तथा प्राक्प्रपञ्चेनोक्तमिति कृतमतिप्रसङ्गेन।

तन्नाभावप्रमाणादप्यशेषज्ञाभावसिद्धिः। तदेवं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमप्यशेषज्ञस्य प्रसाधकम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन[1]।

ननु चावरणविश्लेषादशेषवेदिनो विज्ञानं प्रभवतीत्यसाम्प्रतम्; तस्या[2]नादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्; तदयुक्तम्; अनादिमुक्तत्वस्यासिद्धेः। तथाहि–नेश्वरोऽनादिमुक्तो मुक्तत्वात्तदन्यमुक्तवत्[3]। बन्धापेक्षया च मुक्तव्यपदेशः, तद्रहिते चास्याप्यभावः[4] स्यादाकाशवत्।

ननु चानादिमुक्तत्वं तस्यानादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृ[5]त्वात्सिद्धम्। न चास्य तत्कर्तृत्वमसिद्धम्; तथाहि—क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात्, यत्कार्यं तद्बुद्धिमद्धेतुकं दृष्टम् यथा घटादि, कार्यं चेदं क्षित्यादिकम्, तस्माद्बुद्धिमद्धेतुकम्। न चात्र कार्यत्वमसिद्धम्; तथाहि—कार्यं क्षित्यादिकं सावयवत्वात्। यत्सावयवं तत्कार्यं प्रतिपन्नम् यथा प्रासादादि, सावयवं चेदम्, तस्मात्कार्यम्।

ननु क्षित्यादिगतात्कार्यत्वात्सावयवत्वाच्चान्यदेव प्रासादादौ कार्यत्वं सावयवत्वं च यदक्रियादर्शिनो[7]ऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकम्, ततो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतो[8]र्धर्मिण्यभावादसिद्धत्व[9]म्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽव्यु[10]त्पन्नान्प्रतिपत्तॄनधिकृत्यैवमुच्यते, व्युत्पन्नान्वा? प्रथमपक्षे धूमादावप्यसिद्धत्वप्रसङ्गात्सकलानुमानोच्छेदः। द्वितीयपक्षे तु नासिद्धत्वम्; कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभा[11]वस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः पर्वतादौ

---

१ सर्वज्ञसद्भावे प्रमाणोपन्यासविस्तरेण। २ अशेषवेदी सावरणो न भवति अनादिमुक्तत्वाद्। यः सावरणः सोनादिमुक्तो न भवति यथा स्तम्भादिः। ३ मुक्तो भवति अनादिमुक्तो भवतीति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सतीदं वक्ष्यमाह। ४ ईश्वरो मुक्तव्यपदेशभाग् न भवति बन्धरहितत्वादाकाशवत्। ५ पुरुषस्य। ६ कार्यत्वस्य सावयवत्वस्य च। ७ प्रासादादौ यदक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादकं दृष्टं कार्यत्वं सावयत्वं वा साधनं तत् क्षित्यादौ नास्तीत्यसिद्धत्वमिति। ८ साध्यासाधनप्रतिपत्तिरहितान्। ९ यथाविधो धूमो दृष्टान्ते प्रतिपन्नस्तथाविधस्य दार्ष्टान्तिकेऽभावात्। १० व्युः

धूमादिवत्। दृष्टान्तोपलब्धकार्यत्वादेस्ततो[1][2] भेदे[3] पर्वतादिधूमान्महानसधूमस्यापि भेदः स्यात्।

ननु कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेनाविनाभावोऽसिद्धः, अकृष्टप्रभवैः[4] स्थावरादिभिर्व्यभिचारात्; तन्न; साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते, न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे हि ततः कर्त्तुरभावनिश्चयः, न च तत्तस्येष्यते[5] ।

अथ क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात्तेषां नातिरिक्तस्य[6] कारणत्वकल्पना अतिप्रसङ्गात्[7]; तर्हि धर्माधर्मयोरपि तत्र कारणता न भवेत्। न च तयोरकारणतैव; तरुतृणादीनां सुखदुःखसाधनत्वाभावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मनिरपेक्षोत्पत्तीनां तदसाधनत्वात्। न चैवम्, न हि किञ्चिज्जगत्यस्ति वस्तु यत्साक्षात्परम्परया वा कस्यचित्सुखदुःखसाधनं न स्यात्।

ननु क्षित्यादिसामग्रीप्रभवेषु स्थावरादिषु 'बुद्धिमतो[8]ऽभावादग्रहणं भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः[9] कार्यत्वस्य; इत्यप्यपेशलम्; सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। यत्र[10] हि वह्नेरदर्शने धूमो दृश्यते तत्र-'किं वह्नेरदर्शनमभावादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इत्यस्यापि[11] सन्दिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकत्वम् । यया सामग्र्या धूमो जन्यमानो[12] दृष्टस्तां नातिवर्त्तते इत्यन्यत्रापि[13] समानम्-कार्यं कर्तृकरणादिपूर्वकं[14] कथं तदतिक्रम्य वर्त्तेतातिप्रसङ्गात्[15] ?

अनुपलम्भस्तु[16] शरीराद्यभावान्न त्वसत्त्वात्, यत्र हि सशरीरस्य कुलालादेः कर्तृता तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भो युक्तोऽत्र[17] तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानान्न[18][19][20] प्रत्यक्षप्रवृत्तिः । न च शरीराद्यभावे कर्तृत्वाभावस्तस्य शरीरेणाविनाभावाभावात् । शरीरान्तररहितोपि हि सर्वश्चेतनः स्वशरीरप्रवृत्तिनिवृत्ती करोतीति, प्रयत्नेच्छावशात्तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणकार्याविरोधे प्रकृतेपि[21] सोस्तु। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम् न सशरीरेतरता, घटादि-

---

१ ता। २ क्षित्यादिगतकार्यत्वादेः(पञ्चमी)। ३ असिद्धत्वे उद्भाविते सकलानुमानोच्छेदः प्रत्युत्तरमित्यर्थः। ४ भूरुहादिभिः। ५ ईश्वरस्य। ६ ईश्वरस्य। ७ कुम्भकारान्वयव्यतिरेकानुविधायिनि घटे तन्तुवायस्य हेतुत्वं स्यात्। ८ कर्तुः। ९ विपक्षव्यावृत्तिः। १० पर्वते। ११ साधनस्य। १२ महानसप्रदेशे। १३ कार्यत्वे। १४ दृष्टम्। १५ घटोपि कुम्भकारहेतुको न स्यात्। १६ ईश्वरस्य। १७ स्थावरादिकार्ये। १८ ज्ञानमात्रेण। १९ कर्तुः। २० प्रेरणात्। २१ स्थावरादौ।

कार्यं कर्त्तुमजानतः सशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वादर्शनात्, जानतोपीच्छापाये तदनुपलम्भात्, इच्छतोपि प्रयत्नाभावे तदसम्भवात्, तत्त्रयमेव कारकप्रयुक्तिं प्रत्यङ्गं न शरीरेतरता।

न च दृष्टान्तेऽनीश्वरासर्वज्ञकृत्रिम[1]ज्ञानवता कार्यत्वं व्याप्तं प्रतिपन्नमित्य[2]त्रापि तथाविधमेवाधिष्ठातारं साधयतीति विशेषविरु[3]द्धता हेतोः इत्यभिधातव्यम्; बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वात्। धूमाद्यनुमानेपि चैतत्समानम्–धूमो हि महानसादिदेशसम्बन्धितार्णपार्णादिविशेषाधारेणाग्निना व्याप्तः पर्वतेपि तथाविधमेवाग्निं साधयेदिति विशेषविरु[4]द्धः। देशादिविशेषत्यागेनाग्निमात्रेणास्य व्याप्तेर्न दोषः इत्यन्य[5]त्रापि समानम्।

सर्वज्ञता चास्याशेषकार्यकरणात्सिद्धा। यो हि यत्करोति स तस्योपादानादिकारणकलापं प्रयोजनं चावश्यं जानाति, अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्कुम्भकारादिवत्। तथा "विश्वतश्चक्षुः" [श्वेताश्वतरोप० ३।३] इत्यागमादप्यसौ[6] सिद्धः

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षर[7]श्चाक्षर[8] एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि[9] कूटस्थो[10]ऽक्षर उच्यते ॥ १ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य[11] बिभर्त्य[12]व्यय ईश्वरः ॥ २ ॥"

[भगवद्गी० १५।१६-१७]

इति व्यासवचनसद्भावाच्च।

न च स्वरूपप्रतिपादकाना[13]मप्राण्यम्; प्रमा[14]जनकत्वस्य सद्भावात्। प्रमाजनकत्वेन हि प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिजनकत्वेन, तच्चेहा[15]स्त्येव। प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदुःखसाधनत्वाध्यवसाये[16] समर्थस्यार्थित्वाद्भवतः। विधेर[17]ङ्गत्वादमीषां[18] प्रामाण्यं न स्वरूपार्थत्वात्; इत्यसत्; स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात्[19]। तथाहि–स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तकत्वं निन्दायास्तु निवर्तकत्वम्, अन्यथा[20] हि त[21]दर्थापरिज्ञाने विहित[22]प्रतिषेधे[23]ष्व-

---

१ अनित्य। २ क्षित्यादौ। ३ नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवान्विशेषस्तेन। ४ धूमः। ५ ईश्वरे। ६ ईश्वरः। ७ अनित्यः संसारी जीवसमूहः। ८ नित्य ईश्वरः। ९ देहसम्बन्धीनि पृथिव्यादीनि। १० नित्यः। ११ प्रविश्य। १२ बिदधाति। १३ वेदवाक्यानाम्। १४ यथार्थानुभवः प्रमा। १५ वेदवाक्ये। १६ सति। १७ प्रवृत्तेः। १८ वेदवाक्यानाम्। १९ वेदवाक्यानाम्। २० वेदवाक्यानां स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्वं निवर्त्तकत्वं वा नास्ति यदि। २१ वेदवाक्य। २२ उपादेय। २३ निषिद्ध।

विशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्। तथा[1] विधिवाक्य[2]स्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्ट[3]मेवं स्वरूप[4]परेष्वपि वाक्येषु स्यात्[5], वाक्यरूपताया अविशेषाद्विशेषहेतोश्चाभावात्। तथा स्वरूपार्थानाम[6]प्रामाण्ये "मेध्या आपो दर्भः पवित्रममेध्यमशुचि" इत्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्यङ्गतायामविशेषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः। न चैतदस्ति, मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तते इत्युपलम्भात्।

एवं प्रमाणप्रसिद्धो भगवान् कारुण्याच्छरीरादिसर्गं प्राणिनां प्रवर्त्तते। न चैवं[7] सुख[8]साधन एव प्राणिसर्गो[9]ऽनुषज्यते; अदृष्टसहकारिणः कर्तृत्वात्। यस्य[10] यथाविधोऽदृष्टः पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफल[11]ोपभोगाय तत्सापेक्ष[12]स्तथाविध[13]शरीरादीन्सृजतीति। अदृष्टप्रक्षयो हि फलोपभोगं विना न शक्यो विधातुम्।

न चादृष्टादेवा[14]खिलोत्पत्तिरस्तु किं कर्तृकल्पनयेति वाच्यम्[15]; तस्याप्यचेतनतयाधिष्ठात्रपेक्षोपपत्तेः। तथाहि–अदृष्टं चेतनाधिष्ठितं[16] कार्ये प्रवर्त्ततेऽचेतनत्वात्तन्त्वादिवत्। न चास्मदाद्यात्मैवाधिष्ठायकः[17]; तस्यादृष्टपरमाण्वादिविषयविज्ञानाभावात्। न च (चा) चेतनस्याकर्म[18]ात्प्रवृत्तिरुपलब्धा, प्रवृत्तौ वा निष्पन्नेपि कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकशून्यत्वात्।

तथा वार्त्तिककारेणापि प्रमाणद्वयं तत्सिद्धये[19]ऽभ्यधायि–"महा[20]भूता[21]दि व्यक्तं[22] चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत्। तथा पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्त्तन्तेऽनित्यत्वाद्वास्यादिवत्।" [न्यायवा० पृ० ४६७]

तथा[23]ऽविद्धकर्णेन च–"तनुकरणभुवनोपादानानि[24] चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादिवत्।" तथा, "द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमतिभावा[25]पन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं स्वार-

---

१ किञ्च। २ प्रवृत्तिप्रतिपादकस्य। ३ विधिवाक्यप्रकारेण। ४ शब्दार्थं। ५ स्वार्थप्रतिपादकद्वारेण विध्यङ्गता। ६ वेदवाक्यानाम्। ७ कारुण्यात्प्रवर्तनेन। ८ सुखजनकः। ९ प्राणिसम्बन्धी शरीरादिसर्गः। १० प्राणिनः। ११ सुखदुःखादिजनक। १२ भगवान्। १३ सुखदुःखादिजनकान्। १४ अपि तु न भगवतः। १५ जैनादिभिः। १६ प्रेरितम्। १७ प्रेरकः। १८ कारणं विना। १९ ईशः। २० परमाणुव्यवच्छेदार्थं महदिति पदम्। २१ पृथिव्यादि। २२ कार्यम्। २३ यथा वार्तिककारेणाभ्यधायीति पूर्वेण सम्बन्धः। २४ परमाण्वादिकारणानि। २५ क्षित्यादिकम्।

[1]स्भंकावयवसन्नि[2]वेशविशिष्टत्वाद् घटादिवत्। [3]वैधर्म्येण परमाणवो यथा" [ ] द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं पृथिव्यप्तेजोलक्षणं त्रिविधं द्रव्यमग्राह्यं [4]वाय्वादिकम् । वायौ हि रूपसंस्काराभावादनुपलब्धिः रूपसंस्कारो रूपसमवायः । द्व्यणुकादीनां त्वऽमहत्वात् । उक्तं च-"[5]महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषा[6]च्च रूपोपलब्धिः" [वैशे० सू० ४।१।६]

प्रशस्तमतिना च; "[7]सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा [8]मात्राद्युपदेशपूर्वकः" [ ] इति।

उद्द्योतकरेण च; "भुवनहेतवः [9]प्रधानप[10]रमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठितारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवत्। तथा, बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादि व्यक्तं सुखदुःखनिमित्तं भवत्यचेतनत्वात्कार्यत्वाद्विनाशित्वाद्रूपादिमत्वाद्वा वास्यादिवत्।" [न्यायवा० पृ० ४५७] इत्यनवद्यं भगवतः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानाद्यतिशयस्य साधनम्।

अत्र प्रतिविधीयते-सावयवत्वात्कार्यत्वं क्षित्यादेः प्रसाध्यते। तत्र किमिदं सावयवत्वं नाम? सहावयवैर्वर्त्तमानत्वम्, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा? प्रथमपक्षे सामान्यादिनानेकान्तः; गोत्वादि सामान्यं हि [11]सहावयवैर्वर्त्तते, न च [12]कार्यम्। द्वितीयपक्षेप्यसिद्धो हेतुः; [13]परमाण्वाद्यवयवानां प्रत्यक्षतोऽसिद्धौ क्षित्यादेस्तज्जन्यमानत्वस्याप्यसिद्धेः। [14]प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनश्च कार्यकारणभावः। द्व्यणुकादिकं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्धं [15]कार्यत्वात्पटादिवदित्यनुमाना[16]त्तेषां प्रसिद्धिः; इत्यप्यसमीचीनम्; [17]चक्रकप्रसङ्गात्—परमाणुप्रसिद्धौ हि क्षित्यादे-

---

१ परमाणु। २ रचनाविशेष। ३ व्यतिरेकेण। ४ आदिपदेन द्व्यणुकादिकम्। ५ अनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्चेत्युच्यमाने द्व्यणुकादौ रूपोपलब्धिः स्यात्तद्व्यवच्छेदार्थं महतीति पदम्। ६ महत्यनेकद्रव्यत्वादित्युच्यमाने वायावपि रूपोपलब्धिः स्यात्तद्व्यवच्छेदार्थं रूपविशेषादित्युक्तम्। ७ सृष्टिप्रारम्भे। ८ आदिपदेन पित्रादि। ९ साङ्ख्योद्देशेनास्य प्रयोगः। १० मीमांसकाद्युद्देशेनास्य पदस्य प्रयोगः। ११ खण्डमुण्डशावलेयत्वादिस्वव्यक्तिभिः सह वर्त्तते। १२ नित्यत्वात्तस्य। १३ द्व्यणुकादि। १४ घटमृत्पिण्डादौ कार्यकारणभावः प्रत्यक्षतः सिद्धो द्व्यणुकपरमाण्वादौ तु कार्यकारणभावोऽनुमानादिति भावः। १५ बुध्या (व्यापकत्वान्महत्परिमाणोपेतात्मनः कार्यत्वाद्बुध्यादेः) व्यभिचारपरिहारार्थं द्रव्यत्वे सतीति विशेषणं द्रष्टव्यम्। १६ परमाण्वादीनाम्। १७ त्रिभिरावर्त्तनं चक्रकदूषणम्।

स्तैर्जन्यमानत्वलक्षणसावयवत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यत्वसिद्धिः, ततश्च परमाणुप्रसिद्धिरिति । महापरिमाणोपेतप्रशिथिलावयवकर्पासपिण्डोपादानेन अतिनिविडावयवाल्पपरिमाणोपेतकर्पासपिण्डेन अनेकान्तश्च । बलवत्पुरुषप्रयत्नप्रेरितहस्ताद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयवविभागात् संयोगविनाशात् महाकर्पासपिण्डविनाशः, अल्पकर्पासपिण्डोत्पादस्तु स्वारम्भकावयवकर्म[1]संयोगविशेषवशादेव भवति; इत्यपि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषण[2]मात्रम्, प्रमाणतोऽप्रतीतेः । कर्पासद्रव्यं हि महापरिमाणपिण्डाकारपरित्यागेनाल्पपरिमाणपिण्डाकाकारतयोत्पद्यमानं प्रमाणतः प्रतीयते[3] । आशूत्पत्तेर्भेदानवधारणात्तथा प्रतीतिरित्यप्यसङ्गतम्; सकलभावानां क्षणिकत्वानुषङ्गात् । [4]अभेदाध्यवसायस्तु सदृशापरापरोत्पत्तिविप्र[5]लम्भादित्यनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात्[6] । नाप्यागमात्परमाण्वादिप्रसिद्धिस्तत्प्रामाण्याप्रसिद्धेः ।

सावयवमिति बुद्धिविषयत्वमपि, आत्मा[7]दिनानैकान्तिकं तस्याकार्यत्वे[8]पि तत्प्रसिद्धेः । सावयवार्थसंयोगान्निरवयवत्वेप्यस्य तद्बुद्धिविषयत्वमित्यौपचारिकम्; तदप्यसङ्गतम्; तस्य निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत् । तदपि ह्यौपचारिकमेव स्यात् । तदेवं सावयवत्वासिद्धेः कथं ततः क्षित्यादेः कार्यत्वसिद्धिः ?

प्रागसतः स्व[9]कारणसं[10]मवायात्, सत्तासमवायाद्वा [11]तत्सिद्धिश्चेत्; कुतः प्राक् ? कारणसमवायाच्चेत्; तत्समवायसमये प्रागिवास्य स्वरूपसत्त्वस्याभावः, न वा ? अभावे 'प्राक्' इति विशेषणमनर्थकम् । [12]कार्यस्य हि कारणसमवायसमये स्वरूपेण सत्त्वसम्भवे तद्वत्प्रागपि सत्त्वे कार्यता न स्यात् । ततः प्रागित्यर्थवत्[13] स्यात् । प्रागिव [14]तत्समवायसमयेप्यस्य स्वरूपसत्त्वाभावे तु 'असतः' इत्येवाभिधातव्यम् । न चासतः कारणसमवायः; खरविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात् । न चास्य कारणाभावान्न तत्प्रसङ्गः; इत्यभि[15]धातव्यम्[16]; क्षित्यादेरपि तदभावप्रसङ्गादसत्त्वाविशेषात् । क्षित्यादेः कारणोपलम्भान्न दोषः; इत्यप्यसारम्; कार्यकारणयोरुपलम्भे हीदमस्य कारणं कार्यं चेदमिति प्रति(वि)भागः स्यात् । न च प्रत्यक्षतः क्षित्यादेरुपलम्भोऽसतस्तस्य तज्जनकत्वविरोधात्

---

१ क्रिया । २ कथनमात्रम् । ३ पूर्वपिण्डविनाश एवोत्तरपिण्डोत्पत्तिरित्यभेदतया । ४ आशुवृत्तेः । ५ विसंवादात् । ६ क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वादित्यस्य । ७ आदिपदेनाकाशादिना । ८ शरीरादिमूर्त्तिमद्भिः । ९ परमाणु । १० इह तन्तुषु पटसमवायो यथा । ११ क्षित्यादिकार्यत्वस्य । १२ क्षित्यादिकार्यत्वस्य । १३ नासतः इति विशेषणम् । १४ कारण । १५ न प्रागिति । १६ परेण त्वया ।

खरविषाणवत् । न चाजनकं[1][2] विषयः[3], उपलम्भकारणमुपलम्भविषय[4][5] इत्यभ्युपगमात् ।

प्रागसतः सत्तासम्बन्धेऽप्येतत्[6] सर्वं[7] समानम् । न समानम्; खरशृङ्गादेः क्षित्यादिकार्यस्य, विशेषसम्भवात् । तद्धयत्यन्ताऽसत्, क्षित्यादिकं न सन्ना[8]ऽप्यसत्[9]सत्तासम्बन्धात्तु सत्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सत्त्वासत्त्वयोरेकत्रैकदा प्रतिषेधविरोधात् । 'न सत्' इत्यभिधानात्तस्य सत्तासम्बन्धात्प्रागभावः स्यात्सत्प्रतिषेधलक्षणत्वादस्य, 'नाप्यसत्' इत्यभिधानात्तु भावः[10], असत्त्वप्रतिषेधरूपत्वात्तस्य रूपान्तराभावात् । ततोऽसदेव तदभ्युपगन्तव्यम्[11] । तन्नास्य खरशृङ्गादेर्विशेषः ।

किञ्च, सत्ता सती, असती वा? यद्यऽसती; कथं तया वन्ध्यासुतयेव सम्बन्धाद[12]न्येषां सत्त्वम्? सती चेत्स्वतः, अन्यसत्तातो वा? यद्यन्यसत्तातोऽनवस्था । स्वतश्चेत् पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम् ।

एतेन द्वितीयविकल्पो[13]ऽप्यपास्तः । कार्यस्य हि स्वतः सत्त्वोपगमे किं तत्[14]कल्पनया साध्यम्? अनवस्थाप्रसङ्गात् । तदेवं कार्यत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुः ।

किञ्च, कथञ्चित्कार्यत्वं क्षित्यादेः, सर्वथा[15] वा? सर्वथा चेत्पुनरप्यसिद्धत्वं द्रव्यतोऽशेषार्थानामकार्यत्वात् । कथञ्चित् चेद्विरुद्धत्वम्; सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथञ्चिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात् ।

अनैकान्तिकं च आत्मादिभिः; तेषां बुद्धिमन्निमित्तत्वाभावेपि तत्[16]सम्भवात् । कथञ्चिदप्यकार्यत्वे चैतेषां कार्यकारित्वस्याभाव[17]स्तस्याऽकर्तृरूपत्यागेन कर्तृरूपोपादानाविनाभावित्वात् । तत्त्यागोपादानयोश्चैकरूपे[18] वस्तुन्यसम्भवात्सिद्धं कथञ्चित् कार्यत्वं तेषाम् । कर्त्तृत्वाकर्त्तृत्वरूपयोरात्मादिभ्योऽर्थान्तरत्वान्न तद्विनाशोत्पादाभ्यां तेषामपि तथाभावो[19] यतः कार्यत्वं स्यात्; इत्यपि

---

१ प्रत्यक्षस्याजनकक्षित्यादिकम् । २ असत्त्वादेवाजनकम् । ३ प्रत्यक्षस्य । ४ प्रत्यक्षकारणं प्रत्यक्षजनकमित्यर्थः । ५ प्रत्यक्षविषयः । ६ प्रागित्यादि । ७ सत्तासम्बन्धवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । ८ खरविषाणादेरपि सत्तासम्बन्धप्रसङ्गात् । ९ न सदित्यस्य । १० सद्भावः । ११ परेण । १२ क्षित्यादीनाम् । १३ न वेत्ययम् । १४ कारणसमवायसत्तासमवायकल्पनया । १५ द्रव्यपर्यायाभ्याम् । १६ कार्यत्व । १७ कूटस्थनित्यस्येव । १८ नित्ये । १९ विनाशोत्पादः ।

श्रद्धामात्रम्; तयोस्ततोऽर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिप्रसङ्गात्। समवायादेश्च कृतोत्तरत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन[1]।

बुद्धिमत्कारणमित्यत्र च[2] मत्वर्थस्य साध्यविशेषण[3]स्यानुपपत्तिः। बुद्धिमतो हि बुद्धिर्व्यतिरिक्ता वा, अव्यतिरिक्ता वा? तत्र तस्यास्ततो व्यतिरेकैकान्ते तस्येति सम्बन्धस्याभावः। सा हि तस्य तद्गुणत्वात्, तत्समवायाद्वा, तत्कार्यत्वाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा स्यात्? न तावत्तद्गुणत्वात्सा तस्येत्यभिधातव्यम्[4]; ततो व्यतिरेकैकान्ते सा तस्यैव गुणो नाकाशादेरिति व्यवस्थापयितुमशक्तेः। नापि तत्समवायात्; तस्यैवासम्भवात्। सम्भवे वा तस्य ताभ्यां[5] भेदैकान्ते व्यवस्थापकत्वा[6]योगात्सर्वत्रा[7]विशेषाच्च। तत्कार्यत्वात्सा तस्येति चेत्; कुतस्तत्कार्यत्वम्? तस्मिन्सति भावात्[8]; आकाशादौ प्रसङ्गः[9]। तदभावेऽभावाच्चेन्न; नित्यव्यापित्वाभ्यां तस्य तदयोगात्। तदाधेयत्वात्सा तस्येति चेत्; किमिदं तदाधेयत्वं नाम? समवायेन तत्र वर्त्तनं चेत्तत्कृतोत्तरम्। तादात्म्येन वर्त्तनं चेन्न; अनभ्युपगमात्। सम्बन्धमात्रेण वर्त्तनं चेत्; तर्हि घटादेर्भूतलादिगुणत्वप्रसङ्गः, सम्बन्धमात्रेण वर्त्तमानस्य तस्य तदाधेयत्वसम्भवात्।

किञ्च, व्याप्त्या[10] तेनास्यास्तत्र वर्त्तनम्, अव्याप्त्या वा? न तावद्व्याप्त्या; आत्मविशेषगुणत्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवत्। परममहापरिमाणेन[11] व्यभिचारः; इत्ययुक्तम्; तत्र विशेषगुणत्वा[12]भावात्। नन्वेवम[13]स्मदादिबुद्ध्यादौ सकलार्थग्राहित्वाभावो दृष्टः सोपि तत्र[14] स्यादिति चेत्; अस्तु नाम, दृष्टान्ते व्याप्तिदर्शनमात्रात्सर्वत्र साध्यसिद्धेर्भवता[15]भ्युपगमात्। कथमन्यथा प्रकृत[16]सिद्धिः? यथा चास्मदादिबुद्धि[17]वैलक्षण्यं तद्बुद्धेरदृष्टं परिकल्प्यते[18] तथा घटादौ कर्म[19]कर्तृ[20]करण[21]निर्वर्त्त्यकार्यत्वं दृष्टं वने वनस्पत्यादिषु चेतनकर्तृरहितमपि स्यादित्येतैर्व्यभिचारो हेतोः। अथाऽव्याप्त्या; तर्हि देशान्तरोत्पत्तिमत्कार्येषु कथं तस्या व्यापारः असन्निधानात्?

---

१ समवायादिसम्बन्धनिराकरणविस्तरेण। २ किञ्च। ३ साध्यं कारणं तस्य विशेषणं बुद्धिमत्। ४ परेण यौगेन। ५ बुद्धिबुद्धिमद्भ्याम्। ६ बुद्धिमत इयं बुद्धिरिति। ७ गगनादौ समवायस्य व्यापकत्वात्। ८ चेत्तर्हि। ९ खमपि सर्वदाऽस्ति यतः। १० सामस्त्येन। ११ आत्मविशेषगुणेन। १२ आकाशगुणत्वात्परममहापरिमाणस्य जैनानाम्। आत्मा तु तेषां देहपरिमाण इति। १३ व्याप्त्या वर्त्तमानत्वप्रतिषेधे। १४ ईश्वरलक्षणे बुद्धिमति। १५ नैयायिकेन। १६ बुद्धिमत्कारणत्वस्य। १७ का। १८ परेण। १९ घट। २० कुम्भकार। २१ चक्रादि।

तथापि व्यापारेऽदृष्टस्याप्यग्न्यादिदेशेऽसन्निहितस्योर्ध्वज्वलनादिहेतुता स्यादिति–“अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्” [प्रश० व्यो० पृ० ४११] इत्याद्यात्मसर्वगतत्वसाधनमयुक्तम्। अव्यतिरेकैकान्ते चात्ममात्रं बुद्धिमात्रं वा स्यात्, तत्कथं मत्वर्थः? न हि तदेव तेनैव तद्वद्भवति।

किञ्च, असौ तद्बुद्धिः क्षणिका, अक्षणिका वा? यदि क्षणिका; तदा तस्याः कथं द्वितीयक्षणे प्रादुर्भावः कारणत्रयाधीनत्वात्तस्य? न चेश्वरेऽसमवायिकारणमात्ममनःसंयोगस्तच्छरीरादिकं च निमित्तं कारणमस्ति। कारणत्रयाभावेप्यस्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यात्तस्याः प्रादुर्भावे क्षित्यादिकार्यस्य घटादिकार्यवैलक्षण्याद्बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्युत्पत्तिः किन्न स्यात्? महेश्वरबुद्धिवच्च मुक्तात्मनामप्यानन्दादिकं शरीरादिनिमित्तकारणमन्तरेणाप्युत्पत्स्यत इति कथं बुद्ध्यादिविकलं जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात्?

अथाऽक्षणिका तद्बुद्धिः। नन्वत्रापि ‘क्षणिकश्शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्’ इत्यत्रानुमानेऽनयैव हेतोरनेकान्तोऽस्या इव विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽन्यस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्वेपि नित्यत्वसम्भवात्। तथा ‘क्षणिका महेश्वरबुद्धिर्बुद्धित्वादस्मदादिबुद्धिवत्’ इत्यनुमानविरोधश्च। अथ बुद्धित्वाविशेषेपि ईशास्मदादिबुद्ध्योरक्षणिकत्वेतरलक्षणो विशेषः परिकल्प्यते तथा घटादिक्षित्यादिकार्ययोरप्यकर्तृककर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषः किन्नेष्यते? तथा च कार्यत्वादिहेतोरनेकान्तः। तदेवं बुद्धिमत्त्वासिद्धेः कथं तत्कारणत्वेन कार्यत्वं व्याप्येत?

अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्वव्याप्तं कार्यत्वम्; तथाप्यत्र यादृग्भूतं बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदक्रियादर्शिनोपि जीर्णकूपप्रासादादौ लौकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं तादृग्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धेरसिद्धो हेतुः। सिद्धौ वा जीर्णकूपप्रासादादाविवाऽ-

१ सुकृतस्य। २ अग्नेरूर्ध्वंस्थितमन्नादि, तस्य शुभपचनं भोक्तृदेवदत्तादृष्टेनेति। ३ नैयायिकमते आत्मनः सर्वंगतत्वात्तद्गुणोऽदृष्टमपि सर्वंगतमेवातो देशान्तरे कालान्तरे चान्नपाकपटमुक्ताफलादीन् तद्भोक्तृदेवदत्तादृष्टं तत्र गत्वा सहकारिभूयोत्पादयति। ४ समवाय्यसमवायिनिमित्तेति। ५ समवायिकारणं त्वात्मास्ति। ६ नैयायिकमते। ७ अक्षणिकबुद्धिपक्षेपि। ८ परममहापरिमाणेन व्यभिचारपरिहारार्थमेतत्। ९ परः। १० इतरः परीक्षकः।

क्रियादर्शिनोपि कृत[1]बुद्धिप्रसङ्गः । न च प्रकृत्या[2]ऽत्यन्तभिन्नोपि धर्मः शब्दमात्रेणा[3]भेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमत[4]साध्यसिद्धये समर्थो भवत्यन्यत्रा[5]प्यस्या[6]विरोधेनाशङ्का[7]ऽनिवृत्तेः । यथा वल्मीके धर्मिणि[8] कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारत्वमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानम् ।

नन्वेतत्[9]कार्यसमं नाम जात्युत्तरम् । तदुक्तम्—"कार्यत्वा[10]न्यत्वलेशेन यत्[11]साध्यासिद्धिदर्शनं तत्कार्यसमम्" [ ] इति । अस्य चासदुत्तरत्वान्नातः[12] प्रकृतसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धोऽन्यथा सकलानुमानोच्छेदः । शब्दानित्यत्वे हि साध्ये किं घटादिगतं कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादीयते, किं वा शब्दगतम्, उभयगतं वा ? प्रथमपक्षे हेतो[13]रसिद्धिः; न ह्यन्यगतो धर्मोऽन्यत्र वर्त्तते । द्वितीये तु साधनविकलो[14] दृष्टान्तः । तृतीयेप्युभयदोषानुषङ्गः; इत्यप्यसारम्; कारणमात्रजन्यतालक्षणस्य कृतकत्वस्य विपक्षे[15] बाधक[16]प्रमाणबलादनित्यत्वमात्रव्याप्तत्वेनाऽवधारितस्य शब्देप्युपलम्भात् तत्रोक्तदूषणस्यासदुत्तरत्वाज्जात्युत्तरत्वम् । न चैवं कार्यसामान्यं बुद्धिमत्कारणत्वमात्रव्याप्तं क्षित्यादावुपलभ्यते, विपक्षे[17] बाधकप्रमाणाभावेन सन्दिग्धानैकान्तिक[18]त्वात्तस्य[19], अन्यथा[20]ऽक्रियादर्शिनोपि कृत[21]बुद्धि[22]प्रसङ्गः । यदि च घटादिलक्षणं विशिष्टकार्यं तन्मात्र[23]व्याप्तं प्रतिपद्याऽविशिष्टकार्यस्या[24]पि क्षित्यादेस्तत्पूर्वकत्वं साध्यते[25]; तर्हि पृथ्वीलक्षणभूतस्य रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वं प्रतिपद्य भूतत्वादेव वायोरपि तत्साध्यताम् । अथाऽत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधः, सोऽन्यत्रा[26]पि समानः ।

---

१ क्षित्यादौ । २ स्वभावेन । ३ कार्यत्वशब्देन । ४ बुद्धिमद्धेतुकत्व । ५ विपक्षेऽबुद्धिमद्धेतुकत्वादौ । ६ कृतबुद्ध्युत्पादकरूपस्य कार्यस्य । ७ क्षित्यादिकं घटादिवद् बुद्धिमद्धेतुकं तर्वादिवदबुद्धिमद्धेतुकं वेत्याशङ्का । ८ वल्मीकः कुम्भकारकृतो भवति मृद्विकारत्वाद् घटादिवत् । ९ पूर्वोक्तम् । १० भेदलेशः स कीदृशः कृतबुद्ध्यनुत्पादकः । ११ बुद्धिमद्धेतुकत्व । १२ कार्यसमजात्युत्तरात् । १३ घटादिगतकृतकत्वस्य शब्देऽभावात् । १४ शब्दगतकृतकत्वस्य घटादावभावात् । १५ नित्ये । १६ यन्नित्यं तन्न कृतकं यथाकाशमिति ज्ञानबलात् । १७ बुद्धिमत्कारणरहिते तर्वादौ । १८ बुद्धिमत्कारणरहिते तर्वादौ कार्यसामान्यं वर्त्तते बुद्धिमत्कारणसहिते घटादौ च कार्यसामान्यं वर्त्तते । तत्किं बुद्धिमद्धेतुकमबुद्धिमद्धेतुकं वेति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम् । १९ कार्यत्वस्य । २० विपक्षे बाधकं प्रमाणं यदि स्यात् । २१ क्षित्यादौ । २२ दृष्टान्ते इव । २३ अक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वमात्रव्याप्तम् । २४ अक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्यनुत्पादकस्य । २५ परेण । २६ क्षित्यादौ बुद्धिमद्धेतुपूर्वकत्वेपि ।

यदप्युक्तम्-व्युत्पन्नप्रतिपत्तृणां नासिद्धत्वं कार्यत्वादेः; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रतिबन्ध[1]प्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषाम्, तद्व्यतिरिक्ता वा स्यात्? प्रथमपक्षे क्षित्यादिगतकार्यत्वादौ[2] प्रकृतसाध्यसाधनाभिप्रेते व्युत्पत्त्यसम्भवः, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य तत्र[3] तस्याभावात्। भावे वा सशरीरस्यास्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मकलापोपेतस्य घटादौ तद्व्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्यात्र[5] ततः सिद्धिः। न खलु हेतुव्यापकं विहायाव्यापकस्यात्यन्तविलक्षण[6]साध्यधर्मस्य धर्मिणि प्रतिपत्तौ हेतोः सामर्थ्यम्। कारण[7]मात्रप्रतिपत्तौ तु सिद्धसाध्यता।

ननु बुद्धिमत्कारणमात्रं ततस्तत्र सिध्यत्पक्षधर्मताबलाद्विशिष्टविशेषाधारमेव सेत्स्यति, निर्विशेषस्य सामान्यस्यासम्भवात्, घटादौ प्रतिपन्नस्य चास्मदादेस्तन्[10]निर्माणासामर्थ्यात्। नन्वेवं क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वासिद्धिरेव स्यादस्मदादेस्तन्निर्माणासामर्थ्यादन्यस्य च हेतु[11]व्यापकत्वेन कदाचनाप्यप्रतिपत्तेः खरविषाणवत्, निराधारस्य च सामान्यस्यासम्भवात्। न हि गोत्वाधारस्य खण्डादिव्यक्तिविशेषस्यासम्भवे तद्विलक्षणमहिष्याद्याश्रितं गोत्वं कुतश्चित्प्रसिद्ध्यति।

अस्मादृशान्यादृशविशेषपरित्यागेन कर्तृत्वमात्रानुमाने च चेतनेतरविशेषत्यागेन कारणमात्रानुमानं किन्नानुमन्यते? धूममात्रात्पावकमात्रानुमानवत्। यादृशमेव हि पावकमात्रं पैङ्गल्यादिधर्मोपेतं कण्ठाक्षि[12]विक्षेपकादित्वापाण्डुरत्वादिधर्मोपेतधूममात्रस्य प्रत्यक्षानु[13]पलम्भप्रमाणजनितोहाख्यप्रमाणात्सर्वोपसंहारे[14]ण व्यापकत्वेन महानसादौ प्रतिपन्नं तादृशस्यैवान्यत्रा[15]प्यतोनुमानं नात्यन्तविलक्षणस्य[16], व्यक्ति[17]सम्बन्धित्वमात्रस्यैव भेदात्। न च व्यक्तीनामप्यात्यन्तिको भेदो महानसादिवदन्या[18]सामपि दृश्यते[19]योपगमात्। न च कार्यविशेषस्य[20] कर्तृ[21]विशेषमन्तरेणानुपलम्भात् तन्[22]मात्रमपि कर्तृविशेषानुमापकं युक्तम्; तस्य[23] कारणत्वमात्रेणैवाविनाभावनिश्चयात्, धूममात्रस्याग्निमात्रेणाविनाभावनिश्चयवत्।

---

१ प्रतिबन्धोऽविनाभावः। २ अक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणे। ३ क्षित्यादौ। ४ कार्यत्व। ५ क्षित्यादौ। ६ अशरीरसर्वज्ञनित्यज्ञानत्वादिलक्षण। ७ प्रोक्तक्षित्यादिके। ८ वसः। ९ क्षित्यादि। १० सर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेतस्येश्वरस्य। ११ कार्यत्वेति। १२ नेत्रादि। १३ परोक्ष। १४ स्वीकारेण। १५ पर्वतादौ। १६ जलस्य। १७ महानसाख्य। १८ पर्वतादिरूपव्यक्तीनाम्। १९ उभयत्र। २० अक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादकलक्षणस्य। २१ बुद्धिमदर्थलक्षण। २२ कार्यमात्रम्। २३ कार्यमात्रस्य।

घटादिलक्षणकार्यविशेषस्य तु कारणविशेषेणाविनाभावावगमः चान्दनादिधूमविशेषस्याग्निविशेषेणाविनाभावावगमवत् । त[1]थापि कार्यमात्रस्य कारणविशेषानुमापकत्वे धूमादिकार्यविशेषस्य महानसादौ तत्कालवन्ह्यविनाभावोपलम्भाद् धू[2]मघटिकादौ तन्मात्रं तत्कालवन्ह्यनुमापकं स्यात् । अथ तत्र तत्कालवन्ह्यनुमाने प्रत्यक्षविरोधः; सोऽकृष्टजाते भूरुहादौ कर्त्रऽनुमानेपि समानः । तत्कर्तुरतीन्द्रियत्वात्तदविरोधे धूमघ[3]टिकादौ वह्नेरप्यतीन्द्रियत्वात्सोस्तु । भास्वररूपसम्बन्ध्यवयविद्रव्यत्वान्नातीन्द्रियत्वं तस्येति चेत्; एतदेव कुतोऽवसितम्? महानसादौ तथाभूतस्यास्योपलम्भाच्चेत्; तर्हि क्षित्यादिकर्तुः शरीरसम्बन्धिनोऽतीन्द्रियत्वं मा भूत्कुम्भकारादौ तस्यानुपलम्भात् ।

ननु वृक्षशाखाभङ्गादौ पिशाचादिः, स्वशरीरावयवप्रेरणे चात्मा[4]ऽशरीरोऽपि कर्त्तोपलब्धः; इत्यप्यसुन्दरम्; पिशाचादेः शरीरसम्बन्धरहितस्य कार्यकारित्वानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत् । तत्सम्बन्धेनैव हि कुम्भकारादौ कार्यकारित्वं दृष्टं नान्यथा । तत्सम्बन्धोप[5]गमे चास्य दृश्यत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत् । तच्छरीरस्य दृश्यत्वाद्दृश्योसौ न पिशाचादिर्विपर्ययादिति चेत्; ननु शरीरत्वाविशेषेपि यथास्मदादिशरीरविलक्षणं त[6]च्छरीरमभ्युपगम्यते तथा घटादिकार्यविलक्षणं भूरुहादिकार्यं कार्यत्वाविशेषेप्यभ्युपगम्यताम् । तथा चाने[7]नं प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी । तथास्मदादेः शरी[8]रसम्बन्धमात्रेणैव तदवयवानां प्रेरकत्वोपपत्तेर्नापरशरीरसम्बन्धस्त[9]त्रोपयोगी 'तत्सम्बन्धमन्तरेण हि चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यकारित्वं नास्त्यनुपलम्भात्' इत्येतावन्मात्रमेव नियम्यत इ[10]ति महेश्वरस्यापि शरीरसम्बन्धेनैव कर्तृत्वमभ्युपगन्त[11]व्यम् ।

तच्छरीरं च[12] तत्कृतं यद्य[13]भ्युपगम्यते; तर्हि शरीरान्तरं तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्थातः प्र[14]कृतकार्ये तस्याऽव्यापारोऽपरापरशरीरनिर्वर्त्तने एवोपक्षीणशक्तिकत्वात् । तदनिष्पाद्यं चेत्; तत्किं कार्यम्, नित्यं वा? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारस्तस्य कार्यत्वेप्यबुद्धिमत्पूर्वकत्वात् । बुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वे चानवस्था, तच्छरीरस्याप्यपरबुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वात् । नित्यं चेत्;

१ कार्यविशेषस्यैव कारणविशेषेण व्याप्तिसिद्धावपि । २ गोपालघटिकादौ । ३ गोपालघटिकादौ । ४ असदाद्यात्मा । ५ परेण । ६ ईश्वरस्य । ७ भूरुहादिना । ८ अवयवप्रेरणे । ९ अवयवप्रेरणे । १० तर्हि । ११ परेण । १२ हि । १३ परेण । १४ क्षित्यादिकार्ये ।

तर्हि तच्छरीरस्य शरीरत्वाविशेषेपि नित्यत्वलक्षणः स्व[1]भावातिक्रमो यथाभ्युपगम्यते, तथा भूरुहादेः कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृपूर्वकत्वलक्षणोप्यभ्युपगम्यताम् इति स[2] एव तै[3]र्व्यभिचारः कार्यत्वादेः । तन्न प्रति[4]बन्धप्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषा[5]म् ।

अथ तद्व्यतिरिक्ता व्युत्पत्तिः; सा स्व[6]दुरागमाहितवासनावतां भवतु, न पुनस्तावन्मात्रेण कार्यत्वादेः साध्यं प्रति गमकत्वम् । अन्यथा वेदे मीमांसकस्य वेदाध्ययनवाच्यत्वादेरपौरुषेयत्वं प्रति गमकत्वं स्यात् ।

य[7]च्चोक्तम्–'साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते । न च तत्र कर्त्र[8]भावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम्' इति; तदुक्तिमात्रम्; प्रमाणाविषयत्वेपि स्थावरादौ कर्त्र[9]ऽभावानिश्चये गगनादौ रूपाद्यभावानिश्चयः स्यात् । तत्र रूपादीनां बाधकप्रमाणसद्भावेनाभावनिश्चये अत्रापि तथा कर्त्रभावनिश्चयोस्तु । न चा[10]स्यानुप[11]लब्धिलक्षणप्राप्तत्वादभावानिश्चयः; शरीरसम्बन्धेन हि कर्तृत्वं नान्यथा मुक्तात्मवत्, तत्सम्बन्धे चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत् । तस्य हि शरीरसम्बन्ध एव दृश्यत्वं नान्यत्, स्वरूपेणात्मनोऽदृश्यत्वात् पिशाचादिशरीरवत् । त[12]च्छरीरस्यादृश्यत्वोपगमे च किञ्चित्कार्यमप्यबुद्धिपूर्वकं स्यादित्युक्तम् ।

यत्तूक्तम्–क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तेषामेव कारणत्वे धर्माधर्मयोरपि तन्न स्यात्; तन्न सूक्तम्; जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या तयोस्तत्कारणत्वप्रसिद्धेः । भूम्यादेः खलु सकलकार्यं प्रति साधारणत्वात् अदृष्टाख्यविचित्रकारणमन्तरेण तद्वैचित्र्यानुपपत्तिः सिद्धा ।

यदप्युक्तम्–तत्र बुद्धिमतोऽभावादग्रहणं भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वेति सन्दिग्धव्यतिरेकित्वे सकलानुमानोच्छेदः । यया सामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टस्तां नातिवर्त्तत इत्यन्यत्रापि समानम्; तदप्ययुक्तम्; या[13]दृग्भूतं हि घटादिकार्यं यादृग्भूतसाम[14]ग्रीप्रभवं दृष्टं ता[15]दृग्भूतस्यैव तदतिक्रमाभावो नान्यादृग्विधस्य धूमादिवदेवेत्युक्तं प्राक् ।

---

१ अनित्यत्वरूपस्वभावस्य। २ पूर्वोक्त एव। ३ स्थावरादिभिः। ४ भूरुहादीनाम्। ५ व्युत्पन्नानाम्। ६ यौग। ७ परेण। ८ कर्तुः। ९ कर्तुः। १० ईश्वरस्य। ११ अशरीरत्वात्तस्य। १२ ईश्वर। १३ अक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादकम्। १४ चक्रादिरूप। १५ कार्यस्य।

यच्चेदमुक्तम्-ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृता न सशरीरेतरता; इत्यप्यसङ्गतम्; शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसम्भवान्मुक्तात्मवत्। तेषां खलूत्पत्तौ आत्मा समवायिकारणम्, आत्ममनःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादिकं निमित्तकारणम्। न च कारणत्रयाभावे कार्योत्पत्तिरनभ्युपगमात्। अन्यथा मुक्तात्मनोपि ज्ञानादिगुणोत्पत्तिप्रसङ्गात् "नवानां गुणनामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः" [ ] इत्यस्य[1] व्याघातः। निमित्तकारणमन्तरेणाप्येषामुत्पत्तौ च बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्यङ्कुरादेः किं नोत्पत्तिः स्यात्? नित्यत्वाभ्युपगमात्तेषामदोषोयमित्ययुक्तम्; प्रमाणविरोधात्। तथाहि-नेश्वरज्ञानादयो नित्यास्तत्त्वादस्मदादिज्ञानादिवत्। तज्ज्ञानादीनां दृष्टस्वभावातिक्रमे भूरुहादीनामपि स स्यात्।

न चाऽचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य[2] वास्यादिवत्प्रवृत्त्यसम्भवात्, सम्भवे वा निरभिप्रायाणां[3] देशादिनियमाभावप्रसङ्गात् तदधिष्ठातेश्वरः सकलजगदुपादानादिज्ञाताभ्युपगन्तव्यः इत्यभिधातव्यम्[4]; तज्ज्ञत्वेनास्याद्याप्यसिद्धेः। न चास्य तत्कर्तृत्वादेव तज्ज्ञत्वम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-सिद्धे हि सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे तत्कर्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदभिज्ञत्वसिद्धिः। अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितस्य विष्टिकर्मकरादिवत्[5] प्रवृत्त्युपलम्भात्, महेश्वरेप्यधिष्ठातृ चेतनान्तरं परिकल्पनीयम्। स्वामिनोऽनधिष्ठितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भोऽदृष्टोत्पन्नाङ्कुराद्युपादाने[6] समानः। घटाद्युपादानस्यानधिष्ठितस्याप्रवृत्त्युपलम्भात् तथाङ्कुराद्युपादानस्यापि कल्पने विष्टिकर्मकरादेः स्वाम्यनधिष्ठितस्याप्रवृत्तेर्महेश्वरेपि तथा स्यात्, तथा चानवस्था। चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य[7] प्रवृत्त्यभ्युपगमे च 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इत्यत्र प्रयोगेऽचेतनमिति धर्मिविशेषणस्याचेतनत्वादिति हेतोश्चापार्थकत्वम्, व्यवच्छेद्याभावात्[8]। स्वहेतु[9]प्रति[10]नियमाच्च[11] अचेतनस्यापि देशादिनियमो ज्यायान्[12], तस्य भवता[13]प्यवश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वकार्याणामुत्पत्तिः स्यात्, चेतनस्याधिष्ठातुर्नित्यव्यापित्वाभ्यां सर्वत्र सर्वदा सन्निधानात्।

---

१ ग्रन्थस्य। २ अप्रेरितस्य। ३ ज्ञानशून्यानाम् (कारणानां)। ४ परेण। ५ पालकि डोली इति वा लोके ख्याता संस्कृते च शिविकेति। ६ तर्हि। ७ चेतनस्य। ८ फलाभावात्। ९ स्वस्य कार्यस्य। १० उपादानकारण। ११ अदृष्टादेः। १२ युक्त इत्यर्थः। १३ यौगेन।

न च कारकशक्तिपरिज्ञानाविनाभावि तत्प्रयोक्तृत्वम्[1], तस्यानेकधोपलम्भात् । किञ्चित्खलूपादानाद्यपरिज्ञानेपि प्रयोक्तृत्वं दृष्टम्, यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थायां शरीरा[2]वयवानाम् । किञ्चित्पुनः कतिपयकारकपरिज्ञाने[3]; यथा कुम्भकारादेः करादिव्यापारेण दण्डादिप्रयोक्तृत्वम् । न खलु तस्याखिलकारकोपलम्भोस्ति; धर्माधर्मयोस्त[4]द्धेतुभूतयोरनुपलम्भात् । उपलम्भे वा तयोर्देशादिनियतेषु कार्ये[5]ष्विच्छाव्याघातो न स्यात्, सर्वश्चाऽतीन्द्रियार्थदर्शी स्यात् । न हि कश्चित्तादृशो बुद्धिमानस्ति यो न किञ्चित्करोति कार्यं वा तादृशं विद्यते यत्राऽदृष्टं नोपयुज्यते । कारणशक्तेश्चातीन्द्रियत्वात्तदपरिज्ञानं सर्वप्राणिनां सुप्रसिद्धम् । यथास्थानं चास्याः सद्भावो निवेदितः । अन्यत्तु[8] शरीराऽनायासतो वाग्व्यापारमात्रेण; यथा स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वम् । अस्तु वा कारकप्रयोक्तृत्वस्य परिज्ञानेनाविनाभावः, तथाप्यशरीरेश्वरे तस्यासम्भवः, सर्वत्र शरीरसम्बन्धे सत्येवास्योपलम्भात् ।

यदप्यभ्यधायि–बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वान्न विशेषविरुद्धता कार्यत्वस्य, अन्यथा धूमाद्यनुमानोच्छेदः[9]; तदप्यभिधानमात्रम्; कार्यमात्राद्धि कारणमात्रानुमाने विशेषविरुद्धताऽसम्भवस्तस्य तेन व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनर्बुद्धिमत्कारणानुमाने तस्य[10] तेना[11]व्याप्तेः प्रतिपादितत्वात् । व्याप्तौ वा अनीश्वरासर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेत एव कर्त्ता[12]त्र सिद्ध्येत्, तथाभूतेनैव घटादौ व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनरीश्वरत्वादिविरुद्धधर्मापेतैः[13], तस्य[14] तद्व्याप[15]कत्वेन स्वप्नेप्यप्रतिपत्तेः । तथाप्यस्य[16] तं[17] प्रति गमकत्वे महानसप्रदेशे वन्हिव्याप्तो धूमः प्रतिपन्नो गिरिशिखरादौ प्रतीयमानो वन्हिविरुद्धधर्मोपेतोदकं प्रति गमकः स्यात् । धूमाद्यनुमानोच्छेदासम्भवश्च प्राक्प्रबन्धेन[18] प्रतिपादितः ।

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वज्ञता चाशेषकार्यकारणात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; कार्यकारित्वस्य कारणपरिज्ञानाविनाभावासम्भवस्योक्तत्वात् । एकस्याशेषकार्यकारिणो व्यवस्थापकप्रमाणाभावात्, कार्यत्वादेश्च कृतोत्तरत्वात्कथमतः सर्वज्ञतासिद्धिः ?

---

१ प्रेरकत्वम् । २ प्रेरकत्वम् । ३ प्रेरकत्वम् । ४ तस्य घटादिकार्यस्य । ५ अस्यादृष्टेनेदं कार्यं भवत्वेवेदं न भवत्वेवेतीच्छा । ६ न च तथा । ७ नेति संबन्धः । ८ प्रयोक्तृत्वम् । ९ विशेषविरुद्धताया असम्भवो न च । १० कार्यत्वस्य । ११ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन । १२ क्षित्यादौ । १३ कर्त्ता । १४ ईश्वरसर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेतसाध्यस्य । १५ कार्यत्व । १६ कार्यत्वस्य । १७ ईश्वरसर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेतसाध्यं प्रति । १८ विस्तरेण ।

यच्चोक्तम्-'तथा विश्वतश्चक्षुः' इत्यागमादप्यसौ[1] सिद्धः; तदप्युक्तिमात्रम्; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-प्रसिद्धप्रामाण्यो ह्यागमस्त[2]त्प्रसाधको नान्यथातिप्रसङ्गात्[3] ततस्[4]तत्प्रामाण्यप्रसिद्धौ महेश्वरसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रणीतत्वेनागमप्रामाण्यप्रसिद्धिः। अन्येश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ तस्याप्यन्येश्वरप्रणीतागमात्सिद्धावीश्वरागमानवस्था। पूर्वेश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रयः। स्वप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ चान्योन्यसंश्रयः। नित्यस्य त्वागमस्य परैः[5] प्रामाण्यं नेष्यते महे[6]श्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ चेश्वरसद्भावस्याकिञ्चित्करत्वात्।

यदप्युक्तम्-कारुण्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिनां प्रवर्त्तते; तदप्ययुक्तम्; सुखोत्पादकस्यैव शरीरादिसर्गस्योत्पादकस्य प्रसङ्गात्। न हि करुणावतां या[7]तनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिनां दुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। धर्माधर्मसहकारिणः कर्त्तृत्वात्[8]सुखदुःखस्याप्युत्पादकोऽसौ, फलोपभोगेन हि तयोः प्रक्षयादपवर्गः प्राणिनां स्यात् इति करुणयापि तद्विधाने[9] प्रवृत्त्यविरोधः; इत्यप्यसङ्गतम्; तयोरीश्वरानायत्तत्वे[10] कार्यत्वे च आभ्यामेव कार्यत्वादेरनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्, तदुत्पत्तौ तस्याव्यापारे च विनाशेप्यव्यापारोस्तु, कारणान्तरोत्पन्नसुखदुःखलक्षणफलोपभोगेनानयोः प्रक्षयसम्भवात्। न हीश्वरस्यापि तत्फलोत्पादनादन्यत्तयोः क्षयकर्त्तृत्वम्।

किञ्च, धर्माधर्मौ निष्पाद्य पुनस्तयोः क्षयकरणे किमुत्पत्तिकरणप्रयासेन? न हि प्रेक्षाकारी खात्वा[11] पुनः समीकरणन्यायेनात्मानमायासयति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" [　　] इति प्रसिद्धेश्च। अन्यथा प्रक्षालिताशुचिमोदकपरित्यागन्यायानुसरणप्रसङ्गः।

अपवर्गविधानार्थं चास्य प्रवृत्तौ कथमपूर्वकर्मसञ्चयकर्त्तृत्वम्? तत्सहकारिणश्चास्य सुखदुःखोत्पादकशरीरोत्पादकत्वे वरं तत्[12]फलोपभोक्तृप्राणिगणस्यैव तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमस्तु किमदृष्टे[13]श्वरपरिकल्पनया? सर्वत्र कार्येऽदृष्टस्य व्यापारात्। तथाहि[14]-

१ ईशः। २ ईश्वर। ३ अप्रसिद्धप्रामाण्यादागमादन्येषामीश्वराभावः स्याद्यदि। ४ यतः प्रसिद्धप्रामाण्यागमः ईश्वरप्रतिपादकः। ५ नैयायिकैः। ६ अन्यथा। ७ तीव्रवेदनाजनक। ८ सुखदुःख। ९ महेश्वरस्य। १० ईशकारणरहितत्वे। ११ भूमिं खनित्वा। १२ तयोर्धर्माधर्मयोः। १३ अप्रसिद्धस्य। १४ निखिलं कार्यं धर्मि प्राण्यदृष्टपूर्वकं भवतीति साध्यो धर्मः तदुपभोग्यत्वात्।

यद्[1]यदु[2]पभोग्यं तत्तददृष्टपूर्वकम् यथा सुखादि, उपभोग्यं च प्राणिनां निखिलं कार्यमिति।

ननु यथा प्रभुः[3] सेवाभेदा[4]नुरोधा[5]त्फलप्रदो नाप्रभुस्तथेश्वरोपि कर्मापेक्षः फलप्रदो नान्यः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; राज्ञो हि सेवायत्तफलप्रदस्य यथा रागादियोगो नैर्घृण्यं[6] सेवायत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत्सर्वं स्यात्, अन्यथाभूतस्य अन्यपरिहारेण क्वचिदेव सेवके सुखादिप्रदत्वानुपपत्तेः।

अथ यथा स्थ[7]पत्यादीनामेकसूत्रधारनियमितानां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः, तथात्राप्येकेश्वरनियमितानां सुखाद्यनेककार्यकरणे प्राणिनां प्रवृत्तिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; नियमाभावात्। न ह्ययं नियमः-निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्, नाप्येकनियतैर्बहुभिरिति; अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्। तथाहि-क्वचिदेक एवैककार्यस्य कर्त्तोपलभ्यते यथा कुविन्दः पटस्य। क्वचिदेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटघटीशरावोदञ्चनादीनां कुलालः। क्वचिदनेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटपटमकुटशकटादीनां कुलालादिः। क्वचिदनेकोप्येककार्यस्य यथा शिबिकोद्वहनादिकार्यस्यानेकपुरुषसंघातः। न चानेकस्थपत्यादिनिष्पाद्ये प्रासादादिकार्येऽवश्यतयैकसूत्रधारनियमितानां तेषां तत्र व्यापारः; प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमितानां तत्करणाविरोधात्।

किञ्च, अदृष्टापेक्षस्यास्य[8] कार्यकर्तृत्वे तत्कृतो[9]पकारोऽवश्यंभावी अनुपकारकस्यापेक्षायोगात्। तस्य चातो भेदे सम्बन्धासम्भवः। सम्बन्धकल्पनायां चानवस्था। अभेदे तत्करणे महेश्वर एव कृत इत्यदृष्टकार्य[10]तास्य। नाऽस्यादृष्टेन किञ्चित्क्रियते सम्भूय[11] कार्यमेव विधीयते सहकारित्वस्यैककार्यकारित्वलक्षणत्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; सहकारिसव्यपेक्षो हि कार्यजननस्वभावः तस्यादृष्टादिसहकारिसन्निधानाद्यदि प्रागप्यस्ति तदोत्तरकालभाविसकलकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात्। तथाहि-यद्य[12]दा यज्जननसमर्थं तत्तदा तज्जनयत्येव यथान्त्यावस्था[13]प्राप्तं बीजमङ्कुरम्, प्रागप्युत्तर-

---

१ वस्तु। २ यस्य पुरुषस्य। ३ स्वामी। ४ विशेष। ५ अनुसरणात्। ६ निष्कृपत्वम्। ७ तक्षकादीनाम्। ८ ईश्वरस्य। ९ ईश्वरात्। १० ततश्चेश्वरस्य नित्यत्वं विलीयते। ११ ईश्वरादृष्टाभ्यामेकीभूय। १२ एकस्वभावतयाभ्युपगतो महेश्वरो धर्मी उत्तरकालभावि सकलं कार्यमदृष्टादिसन्निधानात्प्रागपि जनयतीति साध्यो धर्मः तदा तस्य तज्जननसामर्थ्यादिति शेषः। १३ नश्यदवस्थाप्राप्तम्।

कालभाविसकलकार्यजननसमर्थश्चैकस्वभावतयाभ्युपगतो महेश्वर इति । तदा तद्जनने वा तज्जननसामर्थ्याभावः, यद्धि यदा यन्न जनयति न तत्तदा तज्जननसमर्थस्वभावम् यथा कुसूलस्थं बीजमङ्कुरमजनयन्न तज्जननसमर्थस्वभावम्, न जनयति चोत्तरकालभावि सकलं कार्यं पूर्वकार्योत्पत्तिसमये महेश्वर इति ।

तज्जननसमर्थस्वभावोप्यसौ सहकार्यऽभावात्तथा तन्न जनयति; इत्यपि वार्त्तम्; समर्थस्वभावस्यापरापेक्षाऽयोगात् । 'समर्थस्वभावश्चापरापेक्षश्च' इति विरुद्धमेतत्, अनाधेया[1]ऽप्रहेया[2]तिशयत्वात्तस्य ।

किञ्च, एते सहकारिणः किं तदायत्तोत्पत्तयः, अतदायत्तोत्पत्तयो वा? प्रथमपक्षे किं नैकदैवोत्पद्यन्ते? तदुत्पादकान्यसहकारिवैकल्याच्चेदनवस्था । तथा चास्यापरापरसहकारिजनने एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न प्रकृतकार्ये व्यापारः । बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य नानवस्था दोषायेत्यभ्युपगमे महेश्वरकल्पनावैयर्थ्यम्, स्वसामग्र्यधीनोत्पत्तितया पूर्वपूर्वसामग्रीविशेषवशादुपरापराखिलकार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः । अथातदायत्तोत्पत्तयः[3]; तर्हि तै[4]रेव कार्यत्वादिहेतवोऽनैकान्तिकाः इति ।

ए[5]तेन 'महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत्' इत्यादीनि वार्त्तिककारादिभिरुपन्यस्तप्रमाणानि निरस्तानि; यादृशं हि रूपादिमत्त्वमनित्यत्वं च चेतनाधिष्ठितं वास्यादौ प्रसिद्धं तादृशस्य क्षित्यादावसिद्धेः । रूपादिमत्त्वमात्रस्य च चेतनाधिष्ठितत्वेन प्रतिबन्धासिद्धेः[6] आशङ्कि[7]तविपक्षवृत्तितयाऽनैकान्तिकत्वम् । प्रतिबन्धाभ्युपगमे चेष्टवि[8]परीतसाधनाद्विरुद्धमित्यादि पूर्वोक्तं सर्वमत्रापि योजनीयम् ।

किञ्च, ईश्वरबुद्धेरनित्यत्वप्रसाधनात्तदभिन्नस्येश्वरस्यानित्यत्वप्रसिद्धेस्तस्याप्यपरबुद्धिमदधिष्ठितत्वप्रसङ्गः स्यादित्यनवस्था । तदनधिष्ठितत्वे वा तेनैवानेकान्तो हेतोः ।

यच्चोक्तम्–'सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारः' इत्यादि; तत्रोत्तरकालं प्रबुद्धानामित्येतद्विशेषणमसिद्धम् । न खलु प्रलयकाले प्रलुप्त-

---

१ आरोपयितुमशक्योऽतिशयोऽनाधेयः । २ अन्यैः स्फोटयितुमशक्योऽतिशयोऽप्रहेयः । ३ ईश्वरानपेक्षोत्पत्तयः ४ सहकारिभिः । ५ सावयवकार्यत्वहेतुनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । ६ अविनाभावासिद्धेः । ७ भूरुहादिवच्चेतनानधिष्ठिते महाभूतादिव्यक्ते रूपादिमत्त्वं वर्तते वास्यादिवच्चेतनाधिष्ठिते वा इति । ८ सर्वज्ञत्वादिधर्मोपेताद्विपरीतस्यासर्वज्ञत्वादिधर्मोपेतस्य ।

ज्ञानस्मृतयो वितनुकरणाः पुरुषाः सन्ति, तस्यैव सर्वथाऽप्रसिद्धेः। सिद्धौ वा स्वकृतकर्मवशाद्विशिष्टज्ञानान्तरेषु[1](न्तरो)त्पत्तेस्तेषां कथं वितनुकरणत्वं प्रलुप्तज्ञानस्मृतित्वं वा ? सन्दिग्धविपक्ष[2]व्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकश्च हेतुः।

किञ्च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता; अनादेर्व्यवहारस्याशेषपुरुषाणामन्योपदेशपूर्वकत्वेनेष्टत्वात्[5]। ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वे तु साध्येऽनैकान्तिकता[3], अन्यथापि[4] तत्सम्भवात्। साध्यविकलता[6] च दृष्टान्तस्य। न चास्योपदेष्टृत्वसम्भवो विसु[7]खत्वान्मुक्तात्मवत्। तच्च वितनुकरणतयोपगमात्प्रसिद्धम्।

'स्थित्वा प्रवृत्तेः[8]' इति चेश्वरेणैवानैकान्तिकम्, स हि क्रमवत्कार्येषु स्थित्वा प्रवर्त्तते न च चेतनान्तराधिष्ठितोऽनवस्थाप्रसङ्गात् इति।

अनयैव दिशा 'सप्तभुवनान्येकबुद्धिमन्निर्मितानि एकवस्त्व[9]न्तर्गतत्वादेकावसथा[10]न्तर्गतापवरकवत्' इत्यादिपरकीयप्रयोगोऽभ्यूह्यः। न ह्येकावसथान्तर्गतानामपवरकादीनामेकसूत्रधारनिर्मितत्वनियमः येनेश्वरः सकलभुवनैकसूत्रधारः सिद्ध्येत्, अनेकसूत्रधारनिर्मितत्वस्याप्युपलम्भात्।

एकाधिष्ठाना[11] ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः परस्परातिशयवृत्तित्वात्, इह येषां परस्परातिशयवृत्तित्वं तेषामेकायत्तता दृष्टा यथेह लोके गृहग्रामनगरदेशाधिपतीनामेकस्मिन्सार्वभौमनरपतौ, तथा भुजगरक्षोयक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वं च, तेन मन्यामहे तेषामेकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्; इत्यसम्यक्; अत्र हि 'ईश्वराख्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठानाः' इति साध्येऽनैकान्तिकता[12] हेतोर्विपर्यये[13] बाधकप्रमाणाभावात् प्रतिबन्धा[14]सिद्धेः। दृष्टान्तस्य च साध्य[15]विकलता। 'अधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठानाः' इति साध्ये सिद्धसाध्यता, स्वनिकायस्वामिनः शक्रादेर्भवान्तरोपात्ताऽदृष्टस्य चाधिष्ठायकतयाभ्युपगमात्।

---

१ प्रलयकालसमये एव न तु पश्चात्। २ परोपदेशरहिते मैथुनादिव्यवहारवति पुंसि। ३ (हेतोः)। ४ ईश्वरोपदेशं विनापि। ५ व्यवहारे प्रत्यर्थनियतत्वस्य। ६ पुत्रादीनां मात्राद्युपदेशपूर्वकत्वेनेश्वरोपदेशपूर्वकत्वाभावात्। ७ विगतमुखत्वात्। ८ साधनम्। ९ आकाश। १० मन्दिर। ११ ईश्वराश्रिताः कार्यकरणे। १२ सन्दिग्धानैकान्तिकता। १३ विपक्षे=कदाचित्स्वतन्त्रेषु गृहग्रामनगरदेशाधिपतिषु। १४ ईश्वराख्येनैकाधिष्ठायकेन परस्परातिशयवृत्तित्वस्याविनाभावासिद्धेः। १५ सार्वभौमनरपतौ ईश्वरप्रेरणत्वासिद्धेः।

ततो महेश्वरस्याशेषजगत्कर्तृत्वप्रसाधकस्यानवद्यप्रमाणस्यासम्भवात् कुतोऽनादिमुक्तत्वसिद्धिर्यतोऽनाद्यशेषज्ञत्वमस्य स्यात्? प्रयोगः-क्षित्यादिकं नैकैकस्वभावभावपूर्वकं विभिन्नदेशकालाकारत्वात्, यदित्थं तदित्थम् यथा घटपटमकुटशकटादि, विभिन्नदेशकालाकारं चेदम्, तस्मान्नैकैकस्वभावभावपूर्वकमिति। न चेदमसिद्धं साधनम्; उर्वीपर्वततर्वादौ धर्मिणि विभिन्नदेशकालाकारत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्। नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा; विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वा वृत्तेरभावात्।

नन्वेकस्याप्यनेककार्यकरणकुशलस्य कर्तुर्विचित्रसहकारिसान्निध्ये विचित्रकार्यकारित्वं दृश्यते, अतोऽनेकान्तः; इत्यप्यनुपपन्नम्; तत्राप्येकस्वभावत्वस्यासिद्धेः, स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वस्यासम्भवप्रतिपादनात्। नापि कालात्ययापदिष्टम्; प्रत्यक्षागमाभ्यां पक्षस्याबाध्यमानत्वात्। न हि क्षित्यादौ विचित्रकार्ये प्रत्यक्षेणैकैकस्वभावः कर्त्तोपलभ्यते, तस्यातीन्द्रियतया प्रत्यक्षागोचरत्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्, आगमस्यापि तत्प्रतिपादकस्य प्रागेव प्रतिषेधात्। नापि सत्प्रतिपक्षम्; विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्याभावात्, कार्यत्वादिहेतूनां चात्रैवानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनादिति।

ननु साधूक्तमावरणापाये सर्वज्ञत्वमिति। तत्तु प्रकृतेरेव अत्रैवावरणसम्भवात्, नात्मनस्तस्यावरणाभावात् "प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यभिधानात्। निखिलजगत्कर्तृत्वाच्चास्या एवाशेषज्ञत्वमस्तु; तदेतदप्यसमीक्षिताभिधानम्; कर्मणः प्रधानपरिणामताप्रतिषेधात् सकलजगत्कर्तृत्वस्य चासिद्धेः। ननु प्रकृतिप्रभवैवेयं जगतः सृष्टिप्रक्रिया, तत्कथं तस्यास्तत्कर्तृत्वासिद्धिः? तथा हि—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥"

[सांख्यका० २१]

प्रथमं हि प्रकृतेर्महान्=विषयाध्यवसायलक्षणा बुद्धिरुत्पद्यते। बुद्धेश्चाहङ्कारोऽहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिमानलक्षणः। अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि, इन्द्रियाणि चैकादश पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञानि,

---

१ कल्पनातिशयमकुर्वताम्। २ प्रकृतेः। ३ क्रमः।

मनश्च सङ्कल्पलक्षणम्-'भोजनार्थं हि तत्र गृहे यास्यामि किं दधि भविष्यति गुडो वा भविष्यति' इत्येवं सङ्कल्पवृत्तिर्मनः। पञ्चभ्यश्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि—शब्दादाकाशं, स्पर्शाद्वायू, रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथ्वीति। पुरुषश्चेति। पञ्चविंशतितत्त्वानि।

प्रकृत्यात्मकाश्चैते महदादयो भेदाः न त्वतोऽत्यन्तभेदिनो लक्षणभेदाभावात्। तथाहि—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं[1] तथा प्रधानं तद्[2]विपरीतस्तथा च पुमान्॥"
[सांख्यका० ११]

लोके[3] हि यदात्मकं कारणं तदात्मकमेव कार्यमुपलभ्यते यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः। एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम्, तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि। तथाऽविवेकि-'इमे सत्त्वाद्[4]य इदं च महदादि व्यक्तम्' इति पृथक्कर्तुं न शक्यते। किन्तु 'ये गुणा[5]स्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते गुणाः' इति। तथा व्यक्ताव्यक्तद्वयमपि विषयो भोग्यस्वभावत्वात्। सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात्पण्यस्त्रीवत्। अचेतनात्मकं च सुखदुःखमोहावेदकत्वात् प्रसवधर्मिवत्। तथाहि-प्रधानं बुद्धिं जनयति, बुद्धिरप्यहङ्कारम्, अहङ्कारोपि तन्मात्राणीन्द्रियाणि चैकादश, तन्मात्राणि च महाभूतानीति[6]।

प्रकृति[7]विकृतिभावेन परिणामविशेषाल्लक्षणभेदोप्यविरुद्धः। यथोक्तम्—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं[8] विपरीतमव्यक्तम्[9]॥"
[सांख्यका० १०]

व्यक्तमेव हि कारणवत्; तथाहि-प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः, बुद्ध्या चाहङ्कारः[10], अहङ्कारेण पञ्च तन्मात्राण्येकादश चेन्द्रियाणि, भूतानि[11] तन्मात्रैः। न त्वेवमव्यक्तम्—तस्य कुतश्चि[12]दनुत्पत्तेः। तथा व्यक्तमनित्यम् उत्पत्तिधर्मकत्वात्, नाव्यक्तम् तस्यानु-

---

१ महादादिकार्यं त्रिगुणादिरूपेण व्यक्तम्। २ व्यक्ताऽव्यक्ताभ्याम्। ३ प्रधानमेव त्रिगुणात्मकम्। महदादिकार्यं कथं त्रिगुणात्मकं स्यादित्युक्ते सत्याह। ४ आदिपदेन रजस्तमसी। ५ पुरुषेण। ६ स्वरूपावस्थानम्। ७ लक्षणभेदाभावात्कथं कार्यकारणभावः स्यादित्युक्ते आह। ८ महदादि। ९ प्रधानम्। १० हेतुमान्। ११ महदादि कार्यम्। १२ कारणात्।

त्पत्तिमत्त्वात् । यथा च प्रधानपुरुषौ दिवि चान्तरिक्षेऽत्र सर्वत्र व्यापितया वर्तेते न तथा व्यक्तम् । यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यऽहङ्कारेन्द्रियलक्षणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीरादिकं व्यक्तं संसरति, नैवमव्यक्तं तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात् । बुद्ध्यहङ्कारादिभेदेन चानेकविधं व्यक्तम्, नाव्यक्तम् तस्यैकस्यैव सतो लोकत्रयकारणत्वात् । आश्रितं च व्यक्तम्, यद्यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात् । न त्वेवमव्यक्तम् तस्याकार्यत्वात् । लिङ्गं च 'लयं गच्छति' इति कृत्वा, प्रलयकाले हि भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिश्च प्रधाने । न चाव्यक्तं क्वचिदपि लयं गच्छतीति तस्याविद्यमानकारणत्वात् । सावयवं च व्यक्तम् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात् । न त्वेवमव्यक्तम् प्रधानात्मनि शब्दादीनामनुपलब्धेः । यथा च पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात्परतन्त्रम् । न त्वेवमव्यक्तं तस्य नित्यमकारणाधीनत्वत् ।

ननु प्रधानात्मनि कुतो महदादीनां सद्भावसिद्धिर्यतः प्रागुत्पत्तेः सदेव कार्यमिति चेत्;

"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥"
[सांख्यका० ९]

इति हेतुपञ्चकात् । यदि हि कारणात्मनि प्रागुत्पत्तेः कार्यं नाभविष्यत्तदा तन्न केनचिदकरिष्यत । यदसत्तन्न केनचित्क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च प्रागुत्पत्तेः परमते कार्यमिति । क्रियते च तिलादिभिस्तैलादिकार्यम्, तस्मात्तच्छक्तितः प्रागपि सत्, व्यक्तिरूपेण तु कापिलैरपि प्राक् सत्त्वस्यानिष्टत्वात् ।

यदि चासद्भवेत्कार्यं तर्हि पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात् । यथाहि-शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्त्वं तथा कोद्रवबीजादिष्वपि । तथा च कोद्रवबीजादयोपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन् । न चैवम्, तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते ।

---

१ प्रवर्तेते । २ गच्छति । ३ व्यापकत्वेन । ४ तिरोभावम् । ५ परमते प्रागुत्पत्तेः कार्यं धर्मि, न केनचित्क्रियते इति साध्यो धर्मः—असत्त्वात् । ६ जैनादिमते । ७ मृत्पिण्डे घटो नास्ति पटोपि नास्ति तदा मृत्पिण्डो घटस्योपादानं पटस्य न, तस्य तु तन्तव एवेति नियतोपादानम् । ८ शाल्यादि ।

यदि चासदेव कार्यं सर्वस्मात्[1] तृणपांशुलोष्ठादिकात्सर्वं सुवर्णरजतादि कार्यं स्यात्, तादात्म्यविगमस्य[2] सर्वस्मिन्न[3]विशिष्टत्वात्। न च सर्वं[4] सर्वतो भवति तस्मात्तत्रैव[5] तस्य सद्भावसिद्धिः।

ननु कारणानां प्रतिनियतेष्वेव[6] कार्येषु प्रतिनियताः शक्तयः। तेन कार्यस्यासत्त्वाविशेषेपि किञ्चिदेव कार्यं कुर्वन्ति; इत्यप्यनुत्तरम्; शक्ता अपि हि हेतवः शक्यक्रियमेव कार्यं कुर्वन्ति नाशक्यक्रियम्। यच्चा[7]सत्तन्न शक्यक्रियं यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च परमते कार्यमिति।

बीजादेः कारणभावाच्च सत्कार्यं कार्यासत्त्वे तदयोगात्। तथाहि-न कारणभावो बीजादेः अविद्यमानकार्यत्वात्खरविषाणवत्। तत्सिद्धमुत्पत्तेः प्राक्कारणे कार्यम्[10]।

तच्च कारणं प्रधानमेवेत्यावेदयति हेतुपञ्चकात्—

"भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥"
[सांख्यका० १५]

लोके हि यस्य[8] कर्त्ता भवति तस्य परिमाणं दृष्टम् यथा कुलालः परिमितान्मृत्पिण्डात्परिमितं प्रस्थग्राहिणमाढकग्राहिणं च घटं करोति। इदं च महदादि व्यक्तं परिमितं दृष्टम्-एका बुद्धिः, एकोऽहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चभूतानीति। अतो यत्परिमितं व्यक्तमुत्पादयति तत्[11]प्रधानमित्यवगमः।

इतश्चास्ति प्रधानं भेदानां समन्वयदर्शनात्। यज्जातिसम[12]न्वितं हि यदुपलभ्यते तत्तन्मयकारणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा मृज्जातिसमन्विता मृदात्मककारणसम्भूताः, सत्त्वरजस्तमोजातिसमन्वितं चेदं व्यक्तमुपलभ्यते। सत्त्वस्य हि प्रसादलाघवोद्धर्ष[13]प्रीत्यादयः कार्यम्। रजसस्तु तापशोषोद्वेगादयः। तमसश्च दैन्यबीभत्सगौरवादयः। अतो महदादीनां प्रसाददैन्यतापादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्व[14]सिद्धिः।

---

१ तर्हि। २ अभावस्य। ३ उपादानेऽनुपादाने च। ४ कारणे। ५ तदुपादाने। ६ शक्यक्रियेषु। ७ परमते कार्यं धर्मि शक्यक्रियं न भवति असत्त्वादिति शेषः। ८ महदादि। ९ महदादीनाम्। १० कार्यस्य। ११ महदादिव्यक्तमेककारणपूर्वकं परिमितत्वाद् घटादिवत्। १२ महदादिव्यक्तमेककारणसम्भूतमेकस्वरूपान्वितत्वाद्वा घटघटीशरावोदञ्चनादिवत्। १३ उत्सव। १४ महदादिव्यक्तस्य।

इतश्चास्ति प्रधानं शक्तितः[1] प्रवृत्तेः। लोके हि यो यस्मिन्नर्थे[2] प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यथा तन्तुवायः पटकरणे, प्रधानस्य चास्ति शक्तिर्यया व्यक्तमुत्पादयति, सा च निराधारा न सम्भवतीति प्रधानास्तित्वसिद्धिः।

कार्यकारणविभागाच्च[3]; दृष्टो हि कार्यकारणयोर्विभागः, यथा मृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम्। स च मृत्पिण्डाद्विभक्तस्वभावो घटो मध्वोदकादिधारणाहरणसमर्थो न तु मृत्पिण्डः। एवं महदादि कार्यं दृष्ट्वा साधयामः-'अस्ति प्रधानं यतो महदादिकार्यमुत्पन्नम्' इति।

इतश्चास्ति[4] प्रधानं वैश्वरूप्यस्याविभागात्। वैश्वरूप्यं हि लोकत्रयमभिधीयते। तच्च प्रलयकाले क्वचिदविभागं[5] गच्छति। उक्तं च प्राक्-'पञ्चभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति' इत्यादि। अविभागो हि नामाविवेकः। यथा क्षीरावस्थायाम् 'अन्यत्क्षीरमन्यद्दधि' इति विवेको न शक्यते कर्त्तुं तद्वत्प्रलयकाले व्यक्तमिदमव्यक्तं चेदमिति। अतो मन्यामहेऽस्ति प्रधानं यत्र महदाद्यविभागं गच्छतीति।

अत्र प्रतिविधीयते[6]-प्रकृत्यात्मकत्वे महदादिभेदानां कार्यतया ततः[7] प्रवृत्तिविरोधः। न खलु यद्यस्मात्[8]सर्वथाऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वा युक्तं भिन्नलक्षणत्वात्तयोः। अन्यथा[9] तद्व्यवस्था सङ्कीर्येत। तथा च यद्भवद्भिर्मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणषोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राणां पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्वं कारणत्वं चेति प्रतिज्ञातं तन्न स्यात्। तथा चेदमसङ्गतम्—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥"

[सांख्यका० ३] इति।

सर्वेषामेव[10] हि परस्परमव्यतिरेके कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रस-

---

१ महदादिभेदानाम्। २ कार्यप्रवृत्तिः शक्तिपूर्विका प्रवृत्तित्वात्तन्तुवायप्रवृत्तिवत्। ३ महदादिव्यक्तमेककारणपूर्वकं कार्यरूपत्वाद् घटादिवत्। ४ महदाद्यविभागः क्वचिदाश्रितः अविभागत्वात्क्षीरे दध्याद्यविभागवत्। ५ एकत्वम्। ६ जैनैः। ७ प्रकृतेः। ८ प्रधानं महदादेः कारणं न भवति तस्मात्सर्वथाऽव्यतिरिक्तत्वात्। महदादि प्रधानकार्यं न भवति तस्मात्सर्वथाऽव्यतिरिक्तत्वात्। ९ भिन्नलक्षणाभावे। १० प्रकृत्यादि कार्यरूपं कार्यरूपान्महदादेरव्यतिरेकात्।

ज्येत । आ[1]पेक्षिकत्वाद्[2]वा तद्भावस्य[3], रूपान्तरस्य चापेक्षणीयस्याभावात्सर्वेषां पुरुषवत्प्रकृतिविकृतित्वाभावः । अन्य[4]था पुरुषस्यापि प्रकृतिविकृतिव्यपदेशः स्यात् ।

यच्चेदम्–हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्; तदपि बालप्रलापमात्रम्; न हि यद्य[5]स्मादभिन्नस्वभावं तत्तद्विपरीतं युक्तं भिन्नस्वभावलक्षणत्वाद्विपरीतत्वस्य । अ[6]न्यथा भेदव्यवहारोच्छेद्यः(दः) स्यात् । सत्त्वरजस्तमसां चान्योन्यं भिन्नस्वभावनिबन्धनो भेदो न स्यादिति विश्वमेकरूपमेव स्यात् । ततो व्यक्तरूपाव्यतिरेकादव्यक्तमपि हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यात् व्यक्तस्वरूपवत् । व्यक्तं वाऽहेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यादव्यक्तस्वरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवदित्येकान्तः[7] ।

किञ्च, अन्वयव्यतिरेकनिश्चयसमधिगम्यो लोके कार्यकारणभावः प्रसिद्धः । न च प्रधानादिभ्यो महदाद्युत्पत्तिनिश्चयेऽन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतोस्ति येन प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कार इत्यादि सिद्ध्येत् ।

न च नित्यस्य कारणभावोस्ति, क्रमाऽक्रमाभ्यां तस्यार्थक्रियाविरोधात् । ननु नित्यमपि प्रधानं कुण्डलादौ[8] सर्पवन्महदादिरूपेण परिणामं गच्छत्तेषां कारणमित्युच्यते, ते च तत्परिणामरूपत्वात्तत्कार्यतया व्यपदिश्यन्ते । परिणामश्चैकवस्त्वऽधिष्ठानत्वादभेदेपि न विरुध्यते; इत्यप्यनेकान्तावलम्बने प्रमाणोपपन्नं नित्यैकान्ते परिणामस्यैवासिद्धेः । स हि तत्र भवन् पूर्वरूपत्यागाद्वा भवेत्, अत्यागाद्वा? यद्यत्यागात्; तदाऽवस्थासाङ्कर्यं वृद्धाद्यवस्थायामपि युवाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गात् । अथ त्यागात्; तदा स्वभावहानिप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वथा तत्त्यागः, कथञ्चिद्वा[9]? सर्वथा चेत्; कस्य परिणामः? पूर्वरूपस्य सर्वथा त्यागादपूर्वस्य चोत्पादात् । कथञ्चित् चेत्; न किञ्चिद्विरुद्धम्, तस्यै[10]वार्थस्य प्राच्य[11]रूपत्यागेना-

१ अपेक्षणीयाभावेपि प्रकृतिविकृतिभावो भविष्यतीत्युक्ते आह । २ भिन्नलक्षणत्वात्कार्यकारणभावयोरित्यस्यापेक्षया वाशब्दः । ३ कार्यकारणभावस्य । ४ अपेक्षणीयस्याभावेपि कस्यचित्प्रकृतित्वं वा घटते चेत् । ५ अव्यक्तं धर्मि व्यक्ताद्विपरीतं न भवति तस्मादभिन्नस्वभावत्वात् । ६ विपरीतत्वं भिन्नस्वभावनिबन्धनं न भवतीति चेत् । ७ सर्वं व्यक्तरूपमेवाऽव्यक्तरूपमेव वा स्यादिति । ८ ऋजुः सर्पो यथा कुण्डलाकारेण जायते स एव ऋज्वाकारेण जायते । कुण्डलादौ स्वर्णवदिति पाठान्तरम् । ९ द्रव्यतया पर्यायतया च । १० प्रधानस्यैव । मनुष्यलक्षणस्य वा । ११ बालावस्थायाः ।

[1]न्यथाभावलक्षणपरिणामोपपत्तेः । नित्यैकान्तता तु तस्य[2] व्याहन्येत । अत्र हि नैकदेशेन तत्त्यागो[3] निरंशस्यैकदेशाभावात् । नापि सर्वात्मना; नित्यत्वव्याघातात् ।

किंच, प्रवर्त्तमानो[4] निवर्त्तमानश्च[5] धर्मो धर्मिणो[6]ऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्, अनर्थान्तरभूतो वा? यद्यर्थान्तरभूतः; तर्हि धर्मी तदवस्थ[7] एवेति कथमसौ परिणतो नाम? न ह्यर्थान्तरभूतयोरर्थयोरुत्पादविनाशे सत्यविचलितात्मनो वस्तुनः[8] परिणामो भवति, अन्यथाऽऽत्मापि परिणामी स्यात् । तत्सम्बद्धयोर्धर्मयोरुत्पादविनाशात्तस्य[9] परिणामः; इत्यप्यसुन्दरम्; धर्मिणा सदसतोः सम्बन्धाभावात् । सम्बन्धो हि धर्मस्य सतो भवेत्, असतो वा? न तावत्सतः; स्वातन्त्र्येण[10] प्रसिद्धाशेषस्वभावसम्पत्तेरनपेक्षतया क्वचित्पारतन्त्र्या[11]सम्भवात् । नाप्यसतः; तस्य सर्वोपाख्या[12]विरहलक्षणतया क्वचिदप्याश्रितत्वानुपपत्तेः । न खलु खरविषाणादिः क्वचिदाश्रितो युक्तः । न च प्रवर्त्तमानाप्रवर्त्तमानधर्मद्वयव्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दर्शनपथप्रस्थायी कस्यचिदिति । अतः स तादृशोऽसद्व्यवहारविषय एव विदुषाम् । अथानर्थान्तरभूतः; तथाप्येकस्माद्धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात्तयो[13]रेकत्वमेवेति कथं परिणामो धर्मिणः, धर्मयो[14]र्वा विनाशप्रादुर्भावौ धर्मिस्वरूपवत्? धर्माभ्यां[15] च धर्मिणो[16]ऽनन्यत्वाद्धर्मस्वरूपवदपूर्वस्योत्पादः पूर्वस्य विनाश इति नैव कस्यचित्परिणामः सिध्यति । तस्मान्न परिणामवशादपि भवतां कार्यकारणव्यवहारो युक्तः ।

यच्चेदमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य सत्त्वसमर्थनार्थमसदकरणादिहेतुपञ्चकमुक्तम्; तद् असत्कार्यवादपक्षेऽपि तुल्यम् । शक्यते ह्येवमप्यभिधातुम्–'न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्व[17]सम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।' न सत्कार्यमिति सम्बन्धः ।

किञ्च, सर्वथा सत्कार्यम्, कथञ्चिद्वा? प्रथमपक्षोऽसम्भाव्यः; यदि हि क्षीरादौ[18] दध्यादि[19]कार्याणि सर्वथा विशिष्टरसवीर्यविपाका-

---

१ युवावस्थायाः । २ प्रधानस्य । ३ पूर्वरूपत्यागः । ४ उत्तरपरिणामलक्षणः । ५ पूर्वपरिणामलक्षणः । ६ पुरुषादेः । ७ सा अवस्था यस्य । पूर्वावस्थास्थः । ८ नित्यस्य । ९ प्रधानस्य । १० अभिन्नत्वात् । ११ पारतन्त्र्यं हि सम्बन्ध इति वचनात् । १२ उपाख्या स्वभावः । १३ धर्मिधर्मयोः । १४ धर्मयोर्विनाशप्रादुर्भावौ धर्मिणो न भवत इति साध्यो धर्मिणोऽनर्थान्तरत्वात् । १५ धर्मी उत्पादविनाशवान् उत्पादविनाशरूपधर्माभ्यामभिन्नत्वाद्धर्मस्वरूपवत् । १६ सकाशात् । १७ सर्वेभ्यः कारणेभ्यः । १८ कारणे । १९ आदिना नवनीततक्रादि ।

दिना विभक्तरूपेण मध्यावस्था[1]वत्सन्ति, तर्हि तेषां किमुत्पाद्यमस्ति येन तानि कारणैः क्षीरादिभिर्जन्यानि स्युः? तथा च प्रयोगः- य[2]त्सर्वाकारेण सत्तन्न केनचिज्जन्यम् यथा प्रधानमात्मा वा, सच्च सर्वात्मना परमते दध्यादी[3]ति न महदादेः कार्यता। नापि प्रधानस्य कारणता; अविद्यमानकार्य[4]त्वात्। यदविद्यमानकार्यं तन्न कारणम् यथात्मा, अविद्यमानकार्यं च प्रधानमिति। क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां पश्चादिवोपलम्भप्रसङ्गश्च। अथ कथञ्चिच्छक्तिरूपेण सत्कार्यम्; ननु शक्तिर्द्रव्यमेव, तद्रूपतया सतः पर्यायरूपतया चासतो घटादेरुत्पत्त्यभ्युपगमे जिनपतिमतानुसरणप्रसङ्गः।

किञ्च, तच्छक्तिरूपं दध्यादेर्भिन्नम्, अभिन्नं वा? भिन्नं चेत्; कथं कारणे कार्यसद्भा[5]वसिद्धिः? कार्य[6]व्यतिरिक्तस्य शक्त्याख्यपदार्थान्तरस्यैव सद्भावाभ्युपगमात्। आविर्भूतविशिष्टरसादिगुणोपेतं हि वस्तु दध्यादि कार्यमुच्यते। तच्च क्षीराद्यवस्थायामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेर्नास्ति। यच्चास्ति शक्तिरूपं तत्कार्यमेव न भवति। न चान्य[9]स्य भावेऽन्यदस्त्यतिप्रसङ्गात्। अथाभिन्नम्; तर्हि दध्यादेर्नित्यत्वात्कारणव्यापारवैयर्थ्यम्।

अभिव्यक्तौ कारणानां व्यापारान्न वैयर्थ्यम्; इत्यप्यसत्; यतोऽभिव्यक्तिः पूर्वं सती, असती वा? सती चेत्; कथं क्रियेत? अन्य[10]था कारकव्यापारानुपर[11]मः स्यात्। अथासती; तथाप्याकाशकुशेशयवत्कथं क्रियेत? असदकरणादित्यभ्युप[12]गमाच्च।

[13]सर्वस्य सर्वथा सत्त्वेन च कार्यत्वासम्भवादुपादानपरिग्रहोपि न प्राप्नोति। सर्वसम्भवाभावोपि प्रतिनियतादेव क्षीरादेर्दध्यादीनां जन्मो[14]च्यते। तच्च सत्कार्यवादपक्षे दूरोत्सारितम्। शक्तस्य शक्यकरणादिति चात्रासम्भाव्यम्; यदि हि केनचित् किञ्चिन्निष्पाद्येत तदा निष्पा[15]दकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत निष्पा[16]द्यस्य च करणं नान्यथा[17]। कारणभावोप्यर्थानां न घ[18]टते कार्यत्वा[19]भावादेव।

---

१ दध्यवस्थावत्। २ दध्यादि धर्मि केनचिज्जन्यं न भवति पूर्वमेव सर्वाकारेण सत्त्वादित्युपरिष्टाद्योज्यम्। ३ इति=अनुमानात्। ४ प्रधानं कस्यचित्कारणं न भवति। ५ दध्यादिकार्यं धर्मि शक्तिरूपे कारणे नास्ति ततो भिन्नत्वात्। ६ ततो भिन्नत्वं स्यात्कारणे विद्यमानत्वं च स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ७ शक्तिरूपस्य। ८ व्यक्तिरूपं दध्यादिकार्यम्। ९ घटस्य भावे पटस्य भावप्रसङ्गात्। १० विद्यमानापि क्रियमाणा चेत्। ११ अविश्रान्तिः। १२ परेणैव। १३ पदार्थस्य। १४ जैनैः। १५ कारणस्य। १६ कार्यस्य। १७ निष्पाद्यनिष्पादकभावाभावे शक्तिः करणं वा न व्यवस्थाप्यते। १८ कार्यस्य सर्वथा सत्त्वात्। १९ कारणापेक्षया।

किञ्च, एते हेतवो भवत्पक्षे प्रवृत्ताः किं कुर्वन्ति? स्वविषये हि प्रवृत्तं साधनं द्वयं करोति-प्रमेयार्थविषये प्रवृत्तौ संशयविपर्यासौ निवर्त्तयति, निश्चयं चोत्पादयति। तच्च सत्कार्यवादे न सम्भवति। संशयविपर्यासौ हि भवतां मते चैतन्यात्मकौ, बुद्धिमनःस्वभावौ वा? पक्षद्वयेपि न तयोर्निवृत्तिः सम्भवति; चैतन्यबुद्धिमनसां नित्यत्वेनानयोरपि नित्यत्वात्। नापि निश्चयस्योत्पत्तिः; तस्यापि सदा सत्त्वात्, इति साधनोपन्यासवैयर्थ्यम्। तस्मात्साधनोपन्यासस्यार्थवत्त्वमिच्छता निश्चयोऽसन्नेव साधनेनोत्पाद्यत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तथा चासदकरणादेर्हेतुगणस्यानेनैवानैकान्तिकता। यथा चासतोपि निश्चयस्य करणम्, तन्निष्पत्तये च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहः, यथा चास्य न सर्वस्मात्साधनाभासादेः सम्भवः, यथा चासावसन्नपि शक्तैर्हेतुभिः क्रियते, तत्र च हेतूनां कारणभावोस्ति तथान्यत्रापि भविष्यति।

अथ यद्यपि साधनप्रयोगात्प्राक्सन्नेव निश्चयः, तथापि न तत्प्रयोगवैयर्थ्यं तदभिव्यक्तौ तस्य व्यापारात्। तत्र केयमभिव्यक्तिः-किं स्वभावातिशयोत्पत्तिः, तद्विषयज्ञानं वा, तदुपलम्भावरणापगमो वा? न तावत्स्वभावातिशयः; स हि निश्चयस्वरूपादभिन्नः, भिन्नो वा? यद्यभिन्नः; तर्हि निश्चयस्वरूपवत् सर्वदा सत्त्वान्नोत्पत्तिर्युक्ता। अथ भिन्नः; तस्यासाविति सम्बन्धाभावः। स ह्याधाराधेयभावलक्षणो वा, जन्यजनकभावलक्षणो वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; परस्परमनुपकार्योपकारकयोस्तदसम्भवात्। उपकारे वा तस्याप्यर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिरनवस्था च। अनर्थान्तरत्वे साधनप्रयोगवैयर्थ्यं निश्चयादेवोपकाराऽनर्थान्तरस्यातिशयस्योत्पत्तेः। अमूर्त्तत्वाच्चातिशयस्याधोगमनाभावान्न तस्य कश्चिदाधारो युक्तः, अधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्यावस्थितेः। नापि जन्यजनकभावलक्षणः; सर्वदैव निश्चयाख्यकारणस्य सन्निहितत्वेन नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तम्; अनुपकारिण्यपेक्षाऽयोगात्। उपकारित्वे वा पूर्ववद्दोषोऽनवस्था च।

अपि चायमतिशयः सन्, असन्वा क्रियेत? असत्त्वे पूर्ववत्साधनानामनैकान्तिकतापत्तिः। सत्त्वे च साधनवैयर्थ्यम्।

---

१ महदादावपि। २ निश्चयस्वभावातिशययोः। ३ निश्चयेनातिशयस्य। ४ अतिशयात्। ५ ग्रन्थस्य। ६ निश्चयेनातिशयस्य क्रियमाण उपकारः अतिशयादनर्थान्तरमित्यस्मिन् दूषणमाह। ७ उपकाराय। ८ न तूपकारकस्योत्पत्तिः।

तत्रा[1]प्यभिव्यक्ता[2]वनवस्था[3]। तन्न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः।

नापि तद्विषयज्ञानम्[4]; सत्कार्यवादिनो मते तस्यापि नित्यत्वात्, द्वितीय[5]ज्ञानस्यासम्भवाच्च। एकमेव हि भवतां[6] मते विज्ञानम्-"आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" [ ] इति सिद्धान्तस्वीकारात्।

तदुपलम्भा[7]वरणापगमो[8]प्यभिव्यक्तिर्न युक्ता; तदावरणस्य नित्यत्वेनापगमासम्भवात्। तिरोभावलक्षणोप्यपगमो न युक्तः; अत्यक्तपूर्वरूपस्य[9] तिरोभावासम्भवात्। द्वितीयोपलम्भस्य चासम्भवात्कथं तदावरणसम्भवो येनास्यापगमोभिव्यक्तिः स्यात्? न ह्यावरणमसतो युक्तं सद्वस्तुविषयत्वात्तस्य।

बन्धमोक्षाभावश्च सत्कार्यवादिनोऽनुषज्यते। बन्धो हि मिथ्याज्ञानात्, तस्य च सर्वदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषां[10] बद्धत्वात्कुतो मोक्षः? प्रकृतिपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानाच्च[11] मोक्षः, तस्य च सदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषां मुक्तत्वात्कुतो बन्धः? सकलव्यवहारो[12]च्छेदप्रसङ्गश्च; लोकः खलु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवर्त्तते। सत्कार्यवादपक्षे तु न किञ्चिदप्राप्यमहेयं चास्तीति निरीहमेव जगत्स्यात्।

यद[13]सत्तन्न केनचित्क्रियते इति चासङ्गतम्; हेतोर्विपक्षे[14] बाधकप्रमाणाभावेनानेकान्तात्। कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासत्क्रियते यस्योत्पादकं कारणमस्ति। यस्य तु गगनाम्भोरुहादेर्नास्ति कारणं तन्न क्रियते। न हि सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम्। नापि 'यद्यदसत्तत्तत्क्रियते एव' इति व्याप्तिरिष्टा। किं तर्हि? 'यत्क्रियते तत्प्रागुत्पत्तेः कथञ्चिदसदेव' इति। ननु तुल्येप्यसत्कारित्वे कारणानां किमिति सर्वं सर्वस्यासतः[15] कारणं न स्यादित्यन्यत्रापि समानम्। समाने हि सत्कारित्वे किमिति सर्वं सर्वस्य सतः[16] कारणं न स्यात्? कारणशक्तिप्रतिनियमात् 'सदप्यात्मादि न क्रियते' इत्यन्यत्रा[17]पि समानम्। प्रतिपादितप्रकारेण सर्वथा

---

१ स्वभावातिशयेपि। २ साधनेन। ३ प्रागुक्तप्रकारेण ग्रन्थानवस्था। ४ तन्निश्चयम्। ५ निश्चयलक्षणज्ञानापेक्षया निश्चयव्यवस्थापकज्ञानस्य (तद्विषयज्ञानस्य) द्वितीयत्वम्। ६ सांख्यानाम्। ७ निश्चयस्य। ८ निश्चयज्ञानस्य। ९ आवरणस्य अव्यक्तरूपं न संभवति-नित्यत्वात्। १० प्राणिनाम्। ११ विवेकख्यातिलक्षणादेः। १२ बन्धमोक्षलक्षणस्य। १३ परमते दध्यादिकार्यं धर्मि न केनचित्क्रियते। १४ असन्नपि क्रियत इत्यस्मिन्। १५ खरविषाणादेः। १६ आत्मादेः। १७ असत्कार्यवादपक्षेपि।

सतः कार्यत्वासम्भवात्कथं[1]ञ्चिदसत्कार्यवादे एव चोपादानग्रहणादित्यादेर्हेतुचतुष्टयस्य विरुद्धता साध्य[2]विपर्य[3]यसाधनात्। तन्नोत्पत्तेः प्राक्कारण(णे)कार्यसद्भावसिद्धिः।

यच्चोक्तम्-भेदानां परिमाणादित्यादिहेतोः कारणं च प्रधानमेवैकं सिद्ध्यति; तदप्युक्तिमात्रम्; 'भेदानां परिमाणात्' इत्यस्यैककारणपूर्वकत्वेनाविनाभावासिद्धेः, अनेककारणपूर्वकत्वेप्यस्याविरोधात्। कारणमात्रपूर्वकत्वेनैव हि तस्याविनाभावः, तत्साधने च सिद्धसाधनम्।

'भेदानां समन्वयदर्शनात्' इति चासिद्धम्; न खलु सुखदुःखमोहसमन्वितं प्रमाणतः [4]प्रसिद्धम्, शब्दादिव्यक्तस्याचेतनतया चेतनसुखादिसमन्वयविरोधात्। प्रयोगः-ये चैतन्यरहिता न ते सुखादिसमन्वयाः यथा गगनाम्भोजादयः, चैतन्यरहिताश्च शब्दादय इति।

ननु चैतन्येन सुखादिसमन्वयस्य यदि व्याप्तिः प्रसिद्धा, तदा[5] तन्निवर्त्तमानं शब्दादिषु सुखादिसमन्वयत्वं निवर्त्तयेत्। न चासौ सिद्धा, पुरुषस्य चेतनत्वेपि सुखादिसमन्वयासिद्धेः; इत्यप्यपेशलम्; स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे सुखादिस्वभावतयात्मनः प्रसाधनात्।

यच्चान्यदुक्तम्-प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्वसिद्धिः; तदप्ययुक्तम्; अनेकान्तात्, कापिलयोगिनां हि पुरुषं प्रकृतिविभक्तं[6] भावयतां पुरुषमालम्ब्य स्वभ्यस्तयोगानां प्रसादो भवति प्रीतिश्च, अनभ्यस्तयोगानां क्षिप्रतरमात्मानमपश्यतामुद्वेगः, प्रकृत्या जडमतीनां मोहो जायते, न चासौ पुरुषः प्रधानान्वितः परैरिष्टः। सङ्कल्[7]पात्प्रीत्याद्युत्पत्तिर्न पुरुषादिति शब्दादिष्वपि समानम्[8]। सङ्कल्पमात्रभावित्वे च प्रीत्यादीनामात्मरूपताप्रसिद्धिः, सङ्कल्पस्य ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य चात्मधर्मतया स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात् इत्यलम[9]तिप्रसङ्गेन।

अस्तु वा प्रीत्यादिसमन्वयो व्यक्ते, तथापि न प्रधानप्रसिद्धिः, साधनस्य[10]ान्वया[11]सिद्धेः। न खलु यथाभूतं त्रिगुणात्मकमेकं नित्यं व्यापि चास्य कारणं साधयितुमिष्टं तथाभूतेन क्वचि[12]द्धेतोः प्रति-

१ पर्यायरूपतया। २ परमते सर्वथा सत्कार्यं साध्यम्। ३ कथञ्चिदसत्कार्यस्य। ४ शब्दादिव्यक्तम्। ५ तथा इति मूलपुस्तके पाठः। ६ भिन्नम्। ७ मनसः। ८ सङ्कल्पात्प्रीत्यादिहेतुः शब्दादिरिति। ९ ज्ञानस्यात्मधर्मत्वसमर्थनविस्तरेण। १० समन्वयदर्शनादित्यस्य। ११ व्याप्त्यसिद्धेः। १२ दृष्टान्ते।

वन्धः सिद्धः। नापि य[1]दात्मकं कार्यमुपलभ्यते कारणेनाप्यवश्यं तदात्मना भाव्यम्, अन्यथा महदादौ हेतुमत्त्वानित्यत्वाव्यापित्वादिधर्मोपलम्भात् प्रधानेपि ताद्रूप्यप्रसिद्धिप्रसङ्गा[2]द्धेतोर्विरुद्धतानुषङ्गः।

यच्चेदं निदर्शनमुक्तम्-'यथा घटशरावादयो मृज्जातिसमन्विताः' इति; तदप्यसङ्गतम्; साध्यसाधनविकलत्वादस्य। न हि मृत्त्वसुवर्णत्वादिजातिर्नित्यनिरंशव्याप्येकरूपा प्रमाणतः प्रसिद्धा येन त[3]दात्मककारणसम्भूतत्वं त[4]त्समन्वितत्वं च प्रसिद्ध्येत्, प्रतिव्यक्ति तस्याः प्रतिभासभेदाद्भेदसिद्धेः। विस्तरेण चास्याः सिद्ध्यभावं सामान्यविचारप्रस्तावे प्रतिपादयिष्याम इत्यलमतिविस्तरे[5]ण।

तथा 'स[6]मन्वयात्' इत्य[7]स्यानेकान्तः; चेतनत्वभोक्तृत्वादिधर्मैः पुरुषाणाम्, प्रधानपुरुषाणां च नित्यत्वा[8]दिधर्मैः समन्वितत्वेपि तथाविधैककारणपूर्वकत्वानभ्यु[9]पगमात्।

ए[10]तेन शक्तितः प्रवृत्तेरित्या[11]द्यप्यनैकान्तिकत्वादिदोषदुष्टत्वादेककारणपूर्वक[12]त्वासाधनमित्यवसातव्यम्। तथा हि-प्रेक्षावत्कारणमेते[13]भ्यः प्रसाध्यते, कारणमात्रं वा? प्रथमविकल्पे अनेका[14]न्तः, विनापि हि प्रेक्षावता कर्त्रा स्वहेतुसामर्थ्यप्रतिनियमात्प्रतिनियतकार्यस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधानं प्रेक्षावद्युक्तं तस्याचेतनत्वात् प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात्। अथ कारणमा[15]त्रं साध्यते, तर्हि सिद्धसाध्यता। न ह्यस्मा[16]कं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टः। कारणमात्रस्य च 'प्रधानम्' इति संज्ञाकरणे न किञ्चिद्विरुध्यतेऽर्थभेदाभावा[17]त्।

किञ्च, शक्तितः प्रवृत्तेरित्यनेन यदि कथ[18]ञ्चिदव्यतिरिक्तशक्तियो[19]गिकारणमात्रं साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता। अथ व्यतिरिक्त-

---

१ सत्त्वादि। २ समन्वयादिति हेतुर्नित्यत्वादिधर्मोपेते प्रधाने साध्ये प्रयुक्तोऽनित्यत्वादिधर्मोपेतप्रधानप्रसाधनाद्विरुद्धः। ३ सा नित्यनिरंशव्याप्येकरूपजातिः। ४ तया नित्यनिरंशव्याप्येकरूपजात्या। ५ नित्यनिरंशव्याप्येकरूपजातिनिराकरणविस्तरेण। ६ नित्यनिरंशव्याप्येकरूपजात्या। ७ हेतोः। ८ निरंशत्वादिभिश्च। ९ परेण। १० हेतुद्वयनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। ११ हेतुत्रयमपि। १२ नित्यत्वमेषां यतः। १३ हेतुभ्यः। १४ अकृष्यभूरुहादिकं प्रेक्षावत्कारणमन्तरेणापि दृश्यतेऽतः सर्वं प्रेक्षावत्कारणपूर्वकं वा नेति सन्दिग्धानेकान्तः। १५ कारणसामान्यम्। १६ जैनानाम्। १७ अस्माभिः कारणमात्रं भवद्भिः प्रधानं प्रतिपाद्यते इत्यत्र। १८ द्रव्यस्वभावेन। १९ कार्यनिष्पादने।

विचित्रशक्तियुक्त[1]मेकं नित्यं कारण[2]म्; तदानै[3]कान्तिकता हेतोः । तथाभूतेन क्वचिदन्वयासिद्धेरसिद्धता च, न खलु व्यतिरिक्तशक्तिवशात् कस्यचित्कारणस्य क्वचित्कार्ये प्रवृत्तिः प्रसिद्धा, शक्तीनां स्वात्मभूतत्वात् ।

यच्चेदमुक्तम्-अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य; तदप्यसाम्प्रतम्; प्रलयकालस्यैवाप्रसिद्धेः । सिद्धौ वा तदासौ महदादीनां लयो भवन् पूर्वस्वभावप्रच्युतौ भवेत्, अप्रच्युतौ वा? यदि प्रच्युतौ; तर्हि तेषां तदा विनाशसिद्धिः स्वभावप्रच्युतेर्विनाशरूपत्वात् । अथाप्रच्युतौ; तर्हि लयानुपपत्तिः, नहि अविकलमात्म[4]नस्तत्त्व[5]मनुभवतः कस्य[6]चिल्लयो युक्तोऽतिप्रसङ्गा[7]त् । परस्परविरुद्धं[8] चेदम् 'अविभागो[9] वैश्व[10]रूप्यम्' इति च । वैश्वरूप्यं च प्रधानपूर्वत्वे नोपपद्यत एव, तन्मयत्वेन सर्वस्य जगतस्तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसङ्गात्, इति कस्याऽविभा[11]गः स्यादिति? तन्न प्रधानस्य सकलजगत्कर्तृत्वं सिद्धम्, यतस्तत्सिद्धौ प्रधानस्य सर्वज्ञता, कर्तृत्वस्य कारणशक्तिपरिज्ञानाविनाभावासिद्धेरित्युक्तं प्रागीश्वरनिराकरणे, तदलमतिप्रसङ्गेन[12] ।

[13]एतेन सेश्वरसाङ्ख्यैर्यदुक्तम्-'न प्रधानादेव केवलादमी [14]कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते तस्याचेतनत्वात् । न ह्यचेतनोऽधिष्ठाय[15]कमन्तरेण कार्यमारभमाणो दृष्टः । न चान्यात्मा[16]ऽधिष्ठायको युक्तः; सृष्टिकाले तस्याज्ञत्वात् । तथा हि-बुद्ध्यध्यवसितमेवार्थं पुरुषश्चेतयते । बुद्धिसंसर्गाच्च पूर्वमसावज्ञ एव, न जातु कश्चिदर्थं विजानाति । न चाज्ञातमर्थं[17] कश्चित्कर्त्तुं शक्तः । अतो नासौ कर्त्ता । तस्मादीश्वर एव प्रधानापेक्षः कार्यभेदानां कर्त्ता, न केवलः । न खलु देवदत्तादिः केवलः पुत्रम्, कुम्भकारो वा घटं जनयति' इति; तदपि प्रतिव्यूढम्; प्रत्येकं तयोः कर्तृत्वस्यासम्भवे सहितयोरप्यसम्भवात्, अन्य[18]था प्रत्येकपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गः ।

अथोच्यते-यदि नाम प्रत्येकं तयोः कर्तृत्वासम्भवस्तथापि सहितयोः कथं तदभावः? न हि केवलानां चक्षुरा[19]दीनां रूपादि-

---

१ धर्मस्वभावे भेदः । २ साध्यते इति शेषः । ३ सन्दिग्धरूपा । ४ स्वस्य । ५ स्वरूपम् । ६ वस्तुनः । ७ प्रधानात्मनोरपि लयप्रसङ्गात् । ८ अविभागाद्वैश्वरूप्यमिति । ९ एकत्वम् । १० अनेकत्वम् । ११ लोके आदौ विभागोस्ति यदि तदा पश्चाद्विभागानामविभागः स्यात् । १२ कर्तृत्वं कारणशक्तिज्ञानाविनाभावि न भवतीति समर्थनेन । १३ प्रकृतीश्वरनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । १४ महदादयः । १५ ईश्वरं प्रेरकम् । १६ संसार्यात्मा । १७ कार्यम् । १८ सहितयोस्तयोः कर्तृत्वसम्भवश्चेत् । १९ आलोकादीनां च ।

ज्ञानोत्पत्तिसामर्थ्याभावे सहितानामप्यसौ युक्तः; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः साहित्यं नामानयोरन्योन्यं सहकारित्वम्। तच्चान्योन्यातिशयाधानाद्वा स्यात्, एकार्थकारित्वाद्वा? न तावदाद्यकल्पना युक्ता; नित्यत्वेनानयोर्विकाराभावात्। नापि द्वितीयकल्पना युक्ता; कार्याणां यौगपद्यप्रसङ्गात्। अप्रतिहतसामर्थ्यस्येश्वरप्रधानाख्यकारणस्य सदा सन्निहितत्वेनाविकलकारणत्वात्तेषाम्। तथाहि–यद्यदाऽविकलकारणं तत्तदा भवत्येव यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽङ्कुरः, अविकलकारणं चाशेषं कार्यमिति।

ननु यद्यपि कारणद्वयमेतन्नित्यं सन्निहितं तथापि क्रमेणैवामी कार्यभेदाः प्रवर्त्तिष्यन्ते। महेश्वरस्य हि प्रधानगताः सत्त्वादयस्त्रयो गुणाः सहकारिणः, तेषां च क्रमवृत्तित्वात्कार्याणामपि क्रमः। तथाहि–यदोद्भूतवृत्तिना रजसा युक्तो भवत्यसौ तदा सर्गहेतुः प्रजानां भवति प्रसव[1]कार्यत्वाद्रजसः, यदा तु सत्त्वमुद्भूतवृत्ति संश्रयते[2] तदा लोकानां स्थितिकारणं भवति सत्त्वस्य स्थितिहेतुत्वात्, यदा तमसोद्भूतशक्तिना समायुक्तो भवति तदा प्रलयं सर्वजगतः करोति तमसः प्रलयहेतुत्वात्। तदुक्तम्–

"रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय[3] सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय[4] त्रिगुणात्मने[5] नमः ॥ १ ॥" [कादम्बरी पृ० १]

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः प्रकृतीश्वरयोः सर्गस्थितिप्रलयानां मध्येऽन्यतमस्य क्रियाकाले तदपरकार्यद्वयोत्पादने सामर्थ्यमस्ति, न वा? यद्यस्ति; तर्हि सृष्टिकालेपि स्थितिप्रलयप्रसङ्गो[6]ऽविकलकारणत्वादुत्पादवत्। एवं स्थितिकालेप्युत्पादविनाशयोः, विनाशकाले च स्थित्युत्पादयोः प्रसङ्गः, न चैतद्युक्तम्। न खलु परस्परपरिहारेणावस्थितानामुत्पादादिधर्माणामेकत्र धर्मिण्येकदा[7] सद्भावो युक्तः। अथ नास्ति सामर्थ्यम्; तदैकमेव स्थित्यादिनां मध्ये कार्यं सदा स्यात् यदुत्पादने तयोः सामर्थ्यमस्ति, नापरं कदाचनापि तदुत्पादने तयोः सदा सामर्थ्याभावात्। अविकारिणोश्च प्रकृतीश्वरयोः पुनः सामर्थ्योत्पत्तिविरोधात्, अन्यथा[8] नित्यैकस्वभावताव्याघातः।

अथ तत्स्वभावेपि प्रधाने सत्त्वादीनां मध्ये यदेवोद्भूतवृत्ति तदेव कारणतां प्रतिपद्यते नान्यत्, तत्कथं स्थित्यादीनां यौगपद्य-

१ प्रसव उत्पत्तिः। २ ईश्वरः कर्ता। ३ न जायते इत्यजो रुद्रस्तस्मै। ४ त्रयी वेदास्त्रयी। ५ सत्त्वरजस्तमोरूपाय। ६ स्थितिप्रलयौ धर्मिणौ सृष्टिकाले भवतः तदा अविकलकारणत्वात्। ७ प्रजालक्षणे। ८ सामर्थ्यमुत्पद्यते चेत्।

प्रसङ्ग इति ? अत्रोच्यते-तेषामुद्भूतवृत्तित्वं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावन्नित्यम्; कादाचित्कत्वात्, स्थित्यादीनां यौगपद्यप्रसङ्गाच्च। अथानित्यम्; कुतोऽस्य प्रादुर्भावः ? प्रकृतीश्वरादेव, अन्यतो वा हेतोः, स्वतन्त्रो वा ? प्रथमपक्षे सदास्य सद्भावप्रसङ्गः, प्रकृतीश्वराख्यस्य [1]हेतोर्नित्यरूपतया सदा सन्निहितत्वात्। न चान्यतस्तत्प्रादुर्भावो युक्तः; प्रकृतीश्वरव्यतिरेकेणापरकारणस्यानभ्युपगमात्। तृतीयपक्षे तु कादाचित्कत्वविरोधोऽस्य स्वातन्त्र्येण [2]भवतो देशकालनियमायोगात्। [3]स्वभावान्तरायत्त[4]वृत्तयो हि भावाः कादाचित्काः स्युः तद्भावाभावप्रतिबद्धत्वात्[5]तत्सत्त्वासत्त्वयोः, नान्ये तेषामपेक्षणीयस्य कस्यचिदभावात्।

किञ्च, [6]आत्मानं जनयति [7]भावो निष्पन्नः, अनिष्पन्नो वा ? न तावन्निष्पन्नः; [8]तस्यामवस्थायामात्मनोपि निष्पन्नरूपाव्यतिरेकितया निष्पन्नत्वान्निष्पन्नस्वरूपवत्। नाप्यनिष्पन्नः; अनिष्पन्नस्वरूपत्वादेव गगनाम्भोजवत्। तस्मात्प्रकारान्त[9]रेणाशेषज्ञत्वासिद्धेरावरणापाये एवाशेषविषयं विज्ञानम्। तच्चात्मन एवेति परीक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। तच्च विज्ञानमनन्तदर्शनसुखवीर्याविनाभावित्वादनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमात्मनः प्रसाधयतीति सिद्धो मोक्षो जीवस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणः, तस्यापेतप्रतिबन्धकस्या[10]त्मस्वरूपतया जीवन्मुक्तिवत्परममुक्तावप्यभावासिद्धेः॥

[11]ये त्वात्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छन्ति तेषां तत्रास्यानन्तचतुष्टयस्वभावाभावोऽनन्तसुखविरहात्। तद्विरहश्च बुभुक्षाप्रभवपीडाक्रान्तत्वात्। तत्पीडाप्रतीकारार्थो हि निखिलजनानां कवलाहारग्रहणप्रयासः प्रसिद्धः। ननु भोजनादेः सुखाद्यनुकूलत्वात्कथं भगवतोऽतोऽनन्तसुखाद्यभावः ? दृश्यते ह्यस्मदादौ क्षुत्पीडिते निश्शक्तिके च भोजनसद्भावे सुखं वीर्यं चोत्पद्यमानम्; इत्यप्ययुक्तम्; अस्मदादिसुखादेः कादाचित्कतया विषयेभ्य एवोत्पत्तिसम्भवात्। भगवत्सुखादेश्च तत्सम्भवेऽनन्तताव्याघातः। तथाहि-क्षुत्क्षामकुक्षिर्निश्शक्तिकश्चासौ यदा कवलाहारग्रहणे प्रवृत्तस्तदैव [12]तदीयसुखवीर्ययोर्नष्टत्वात्कुतोऽनन्तता ? वीतरागद्वेषत्वाच्चास्य तद्ग्रहणप्रयासायोगः। प्रयोगः-केवली न

---

१ कारणस्य। २ जायमानस्य। ३ कार्यलक्षणाद्भावादपरः कारणलक्षणो भावः स्वभावान्तरम्। ४ कारणाधीनवृत्तय इत्यर्थः। ५ तस्य कार्यस्य। ६ स्वरूपम्। ७ कार्यलक्षणः। ८ निष्पन्नायाम्। ९ जगत्कर्तृत्वादिलक्षणेन। १० जीवमयत्वेन। ११ श्वेतपटाः। १२ भगवदीय।

भुङ्क्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्तेः[1]। ननु[2] सममित्रशत्रूणां साधूनां भोजनादिकं कुर्वतामपि वीतरागद्वेषत्वसम्भवादनैकान्तिको हेतुः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; मोहनीयकर्मणः सद्भावे भोजनादिकं कुर्वतां प्रमत्तगुणस्थानप्रवृत्तीनां साधूनां परमार्थतो वीतरागत्वासम्भवात्। तन्नानैकान्तिकोयं हेतुः। नापि विरुद्धो विपक्षे[3] वृत्तेरभावात्।

कवलाहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसङ्गः। प्रयोगः—यो यः कवलं भुङ्क्ते स स न वीतरागः यथा रथ्यापुरुषः, भुङ्क्ते च कवलं भवन्मतः केवलीति। कवलाहारो हि स्मरणाभिलाषाभ्यां भुज्यते, भुक्तवता च कण्ठोष्ठप्रमाणतस्तृप्तेनाऽरुचितस्त्यज्यते। तथा चाभिलाषाऽरुचिभ्यामाहारे प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्कथं वीतरागत्वम्? तदभावान्नाप्तता। अथाभिलाषाद्यभावेप्याहारं गृह्णात्यसौ [4]तथाभूतातिशयत्वात्, ननु चाहाराभावलक्षणोप्यतिशयोऽस्याभ्युपगन्तव्योऽनन्तगुणत्वाद्गगनगमनाद्यतिशयवत्।

अथाहाराभावे देहस्थितिरेवास्य न स्यात्; तथाहि—भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। नन्वनेनानुमानेनास्याहारमात्रम्, कवलाहारो वा साध्येत? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, 'आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः' इत्यभ्युपगमात्, तत्र च कवलाहाराभावेप्यन्यस्य कर्मनोकर्मादानलक्षणस्याविरोधात्। षड्विधो ह्याहारः—

"णोकम्म[6] कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥" [ ]

इत्यभिधानात्। न खलु कवलाहारेणैवाहारित्वं जीवानाम्; एकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानामभुञ्जानतिर्यग्मनुष्याणां चानाहारित्वप्रसङ्गात्। न चैवम्—

"विग्गह[7]गइमावण्णा केवलिणो[8] समुहदो अजोगी[9] य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥"

[जीवकाण्ड गा० ६६५, श्रावकप्रज्ञ० गा० ६८]

---

१ कवलाहाराभावमन्तरेणानुपपत्तेस्तयोः। २ हेतोरेकांशं गृहीत्वा दूषयति। ३ कवलाहारिणि। ४ अभिलाषाद्यभावेप्याहारग्रहणलक्षण। ५ जैनैः। ६ नोकर्म (१), कर्माहारः (२), कवलाहारः (३), लेप्यः आहारः (४) ओजः (५), मानसिकः (६) अपि च क्रमशः आहारः षड्विधो ज्ञेयः। ७ विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्घात (दण्डकपाटेति समुद्घातद्वय) गताः अयोगिनश्च। सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारिणो जीवाः। ८ दण्डकवाटावस्थायाम्। ९ अर्हदवस्थातः अन्ते सिद्धावस्थात आदौ या अवस्था सा अयोगावस्था।

इत्यभिधानात्। द्वितीयपक्षे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः; तेषां कवलाहाराभावेपि देहस्थितिसम्भवात्। अथ 'औदारिकशरीरस्थितित्वात्' इति विशेष्योच्यते। तथाहि-या या औदारिकशरीरस्थितिः सा सा कवलाहारपूर्विका यथास्मदादीनाम्, औदारिकशरीरस्थितिश्च भगवतः, इति न त्रिदशशरीरस्थित्या व्यभिचारः; इत्यप्यसारम्; तदीयौदारिकशरीरस्थितेः परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतयाऽस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात्। तस्याश्च केवलावस्थायां केशादिवृद्ध्यभाववद्भुक्त्यभावोप्यविरुद्ध एव।

कथं चैवं वा[1]दिनो भगवत्प्रत्यक्षमतीन्द्रियं स्यात्? शक्यं हि वक्तुम्-तत्प्रत्यक्षमिन्द्रियजं प्रत्यक्षत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत्। तथा सरागोऽसौ वक्तृत्वात्तद्वदेव। न ह्यस्मदादौ दृष्टो धर्मः[2] कश्चि[3]त्तत्र साध्यः कश्चिन्नेति वक्तुं युक्तम्, स्वेच्छाकारित्वानुषङ्गात्। त[4]था च न कश्चित्केवली वीतरागो वा, इति कस्य भुक्तिः प्रसाध्यते? यदि चैकत्र[5] तच्छरीरस्थितेः कवलाहारपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र तथाभावः साध्यते; तर्हि घटादौ सन्निवेशादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वोपलम्भात्तन्वादीनामप्यतो बुद्धिमत्पूर्वकत्वसिद्धिः स्यात्। द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वोपलम्भाच्चाखिलप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गः स्यात्। अथ यादृ[6]शं बुद्धिमत्कारणव्याप्तं सन्निवेशादि घटादौ दृष्टं तादृशस्य तन्वादिष्वभावान्नातस्तेषां तत्पूर्वकत्वसिद्धिः; तर्हि या[7]दृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमस्मदादौ त[8]द्भुक्तिपूर्वकं दृष्टं तादृशस्य भगवत्परमौदारिकशरीरस्थितावभावान्नातस्[9]तस्यास्त[10]द्भुक्तिपूर्वकत्वसिद्धिः। यथा च प्रत्ययत्वाविशेषेपि कस्य[11]चिन्निरालम्बनत्वमन्य[12]स्यान्य[13]त्वम्, तथा च तच्छरीरस्थितेस्तत्त्वाविशेषेपि निराहारत्वमित[14]रच्चेष्यतामविशेषात्।

अथ 'अन्या[15]दृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमन्या[16]दृशाश्च पुरुषा न सन्ति' इत्युच्यते तर्हि मीमांसकमतानुप्रवेशः[17]। अतो यथान्या-

१ औदारिकशरीरस्थितित्वात्कवलाहारित्वमेवेति। २ कवलाहारलक्षणः। ३ सरागत्वसेन्द्रियत्वलक्षणः। ४ भगवतः सरागत्वे तत्प्रत्यक्षसेन्द्रियजत्वे च। ५ अस्मदादौ। ६ अक्रियादर्शिनः कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्। ७ सप्तधातुमलोपेतम्। ८ तस्य=कवलस्य। ९ औदारिकशरीरस्थितित्वादिति हेतोः। १० कवलस्य। ११ द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य। १२ घटादिप्रत्ययस्य। १३ सालम्बनत्वम्। १४ आहारपूर्वकत्वम्। १५ परमौदारिकम्। १६ अनाहारिणः। १७ मीमांसकमतेपि सर्वज्ञलक्षणोऽन्यादृशः पुरुषो नास्ति।

दृशाः सन्ति पुरुषास्तथा तत्स्थितित्वमपि। कथमन्यथा सप्तधातुमलापेतत्वं तच्छरीरस्य स्यात्? तत्सम्भवे तत्स्थितेर[1]तद्[2]भुक्तिपूर्वकत्वमपि स्यात्।

तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चाभुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः? दृश्यते च पञ्चकृत्वो भुञ्जानस्य यादृशी तच्छरीरस्थितिस्तादृश्येव प्रतिपक्ष[3]भावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि। तथा प्रतिदिनं भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येवैकद्व्यादिदिनान्तरितभोजिनोपि। श्रूयते च बाहुबलिप्रभृतीनां संवत्सरप्रमिताहारवैकल्येपि विशिष्टा शरीरस्थितिः। आयुःकर्मैव हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिस्तु सहायमात्रम्। तच्छरीरोपच[4]योपि लाभान्तरायविनाशात्प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां दिव्यपरमाणूनां लाभाद् घटते। एवं छद्मस्थावस्थावच्च केवल्यवस्थायामप्यस्य[5] भुक्त्यऽभ्युपगमे अक्षिपक्ष्मनिमेषो नखकेशवृद्ध्यादिश्चाभ्युपगम्यताम्। तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोप्यभ्युपगन्तव्यो विशेषा[6]भावात्।

ननु मासं वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाऽऽकालं तत्स्थितिः पुनस्तदाहारे प्रवृत्त्युपलम्भादिति चेत्; कुत एतत्? आकालं तत्स्थितेरनुपलम्भाच्चेत्; सर्वज्ञवीतरागस्याप्यत एवासिद्धेर्लाभं[10]मिच्छतो मूलो[11]च्छेदः स्यात्। दोषा[12]वरण[13]योर्हान्यतिशयोपलम्भेन[14] क्व[15]चिदात्यन्तिकप्रक्षयसिद्धेस्तत्सिद्धौ क्वचिच्छरीरिण्यात्यन्तिको भुक्तिप्रक्षयोपि प्रसिध्येत् तदुपलम्भस्यात्राप्यविशेषात्। तन्न शरीरस्थितेर्भगवतो भुक्तिसिद्धिः।

अथोच्यते–वेदनीयकर्मणः सद्भावात्तत्सिद्धिः; तथाहि–भगवति वेदनीयं स्वफल[16]दायि कर्मत्वादायुःकर्मवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽतोप्यनुमानात्तत्फलमात्रं सिध्येन्न पुनर्भुक्तिलक्षणम्। अथ क्षुदादिनिमित्तवेदनीयसद्भावाद्भुक्तिसिद्धिः; ननु तन्निमित्तं तत्त्रास्तीति कुतः? क्षुदादिफलाच्चेदन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि भगवति तन्निमित्तकर्मसद्भावे तत्फलसिद्धिः, तस्याश्च तन्निमित्तकर्मसद्भावसिद्धिरिति।

---

१ अन्यादृशौदारिकशरीरस्थितेः। २ अकवल। ३ भोजने विरक्तभावनोपेतस्य। ४ पुष्टिः। ५ वीतरागस्य। ६ अतिशये। ७ कालमभिव्याप्य। मरणपर्यन्तमित्यर्थः। ८ कवलाहारमन्तरेण। ९ तस्य कवलस्य। १० सर्वज्ञसद्भावम्। (कवलाहारत्वम्) ११ सर्वज्ञसद्भावोच्छेदः। १२ दोषा रागादिभावकर्म। १३ आवरणं द्रव्यकर्म। १४ दृष्टान्ते। १५ आत्मनि। १६ स्वफलं क्षुदादिदुःखम्।

अथाऽसातवेदनीयोदयात्तत्र तत्सिद्धिः[1]; न; सामर्थ्यवैकल्यात् तस्य। अविकलसामर्थ्यं ह्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम्। यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम्। यथा च मन्त्रेण निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादिकं कर्त्तुं समर्थम्, तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभु सामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः।

मोहनीयाभावश्च प्रसिद्धो भगवतः, तीव्रतरशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघनघातिकर्मेन्धनत्वात्। यदि च तदभावेपि तदुदयः स्वकार्यकारी स्यात्; तर्हि परघातकर्मोदयात्परान् यष्ट्यादिभिस्ताडयेत् स एव वा परैस्ताड्येत। परघातोदयोपि हि संयतानामर्हदवसानानामस्ति[2]। अथ परमकारुणिकत्वात्तदुदयेपि न परांस्ताडयति उपसर्गाभावाच्च न च तैस्ताड्यते; तर्ह्यनन्तसुखवीर्यत्वाद्बाधाविरहाच्चासातादिवेदनीयोदये सत्यपि भोजनादिकं न कुर्यात्। मोहकार्यत्वाच्च करुणायाः कथं तत्क्षये परमकारुणिकत्वं तस्य स्यात्?

किञ्च, कर्मणां यद्युदयो निरपेक्षः कार्यमुत्पादयति; तर्हि त्रिवेदानां कषायाणां वा प्रमत्तादिषूदयोस्तीति मैथुनं भ्रूकुट्यादिकं च स्यात्। ततश्च मनसः संक्षोभात्कथं शुक्लध्यानाप्तिः क्षपकश्रेण्यारोहणं वा? तदभावाच्च कथं कर्मक्षपणादि घटेत?

नन्वेवं[3] नामाद्युदयोपि तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्यप्यसङ्गतम्; शुभप्रकृतीनां तत्राप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारित्वसम्भवात्। यथा हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा[4] लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोपि न स्वदुष्टाचरणस्य विधातारः सुजनास्त्वप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारस्तथा प्रकृतमपि[5]। कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेवार्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यम् न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत्; उच्यते—अशुभप्रकृतीनामर्हन्नऽनुभागं[6] घातयति न तु शुभानाम्, यतो गुणघातिनां दण्डो नाऽदोषाणाम्। यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात्; तर्हि दण्डकवाटप्रतरादिविधानं भगवतो व्यर्थम्। तद्धि यदा न्यूनमायुर्वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति तदाऽनेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते। न चाधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म उपायशतेनाप्यन्यथा

१ इति चेन्न। २ केवलिगुणस्थानान्तानाम्। ३ उदितस्य कर्मणः स्वकार्यकारित्वाभावप्रकारेण। ४ दुष्टनिग्रहशिष्टपालनकारिणा। ५ शुभाशुभकर्म। ६ शक्तिम्।

कर्त्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यान्निर्जीर्णमधिकस्थितिकत्वेन फलदानासमर्थम् आयुःकर्मसमानं क्रियते[1]; तथा वेद्यम्[2]अपि क्रियतामविशेषात्[3]।

एतेनेदमप्यपास्तम्-यदि वेदनीयमफलम्[4] तत्र तन्नास्त्येव ज्ञानावरणादिवत्, तथा च कर्मपञ्चकस्याभावस्तत्र प्राप्नोतीति। कथम्[5]? यद्यायुरधिकानि वेद्यादीनि स्वफलदानसमर्थानि; तर्हि मुक्त्यभावः। नो[6] चेन्न[7] तेषां कर्मत्वम्[8]इति तदपनयनाय योगिनो लोकपूरणादिप्रयासो व्यर्थः। अनुष्ठानविशेषेणापहृतसामर्थ्यानाम्[9]अवस्थानं[10] वेद्येपि समानम्। न च कारणमस्तीत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः, अन्यथेन्द्रिय[11]आदिकार्य[12]स्याप्यनुषङ्गाद्भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनां च प्रसङ्गः। अथावरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहान्नेन्द्रियादि स्वकार्यं व्याप्रियते; अत एव वेदनीयमपि न व्याप्रियेत। न ह्यत्यन्तमात्मनि परत्र वा विरतव्यामोहस्तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा प्रवर्त्तते। प्रयोगः-यो यत्रात्यन्तं व्यावृत्तव्यामोहः स तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा न प्रवर्तते यथा व्यावृत्तव्यामोहा माता पुत्रे, व्यावृत्तात्यन्तव्यामोहश्च भगवान्, ततः सोपि भोजनमादातुं क्षुदादिकं वा हातुं न प्रवर्त्तते। प्रवृत्तौ वा मोहवत्त्वप्रसङ्गः; तथाहि-यस्तदादातुं हातुं वा प्रवर्त्तते स मोहवान् यथाऽस्मदादिः, तथा चायं श्वेतपटाभिमतो जिन इति। तथा च कुतोऽस्याप्तता रथ्यापुरुषवत्?

न चेयं बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम्, येनात्यन्तव्यावृत्तव्यामोहेप्यस्याः सम्भवः। भोक्तुम्[13]इच्छा[14] हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम्? इतरथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसा तत्कार्यं स्यात्। तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गान्नेश्वरादस्य विशेषः । यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि। प्रयोगः-भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकाङ्क्षात्वात् स्त्र्याद्याकाङ्क्षावत् । नन्वस्तु तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः, पुनस्तदभावे प्रवृत्तिरित्येतत् स्त्र्याद्याकाङ्क्षायामपि समानम् । यथा चास्याश्चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वादत्यन्तनिवृत्तिस्तथा प्रकृताकाङ्क्षाया अपि ।

---

१ शुक्लध्यानतपोमाहात्म्येन भगवता। २ फलदानासमर्थम्। ३ अघातिकर्मत्वस्य। ४ फलदानासमर्थम्। ५ कथमपास्तमित्युच्यते। ६ फलदानसमर्थानि न भवन्तीति चेत्। ७ तर्हीत्यध्याह्रियते। ८ इति सप्तानामभावेन परस्यानिष्टापादनम्। ९ नामगोत्रविशेषाणाम्। १० कर्मत्वेन। ११ आदिना त्रिवेदम्। १२ मतिज्ञानस्य रागादेश्च। १३ इच्छा हि लोभभेदत्वेन मोहनीयस्य कार्यम्। १४ नरस्य।

अथाकाङ्क्षारूपा क्षुन्न भवति, तेन वीतमोहेप्यस्याः सम्भवः; तदप्ययुक्तम्; अनाकाङ्क्षारूपत्वेप्यस्या दुःखरूपतयाऽनन्तसुखे भगवत्यसम्भवात्। तथाहि-यत्र यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्राभ्युदितकारणमपि तद्भवति यथाऽत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि बलवत् केवलिन्यनन्तसुखम्। तथा यत्[2]कार्य[3]विरोध्य[4]निवर्त्त्यं[5] यत्रास्ति तत्र तद[6]विकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धानिवर्त्यपित्तविकाराक्रान्ते[7] न दध्यादि[8] श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्यसुखं[9] च भगवतीति।

अस्तु वा वेद्यं[10] तत्र बुभुक्षाफलप्रदायि, तथापि-बुभुक्षातः समवसरणस्थित एवासौ भुङ्क्ते, चर्यामार्गेण वा गत्वा? प्रथमपक्षे मार्गस्तेन[11] नाशितः स्यात्। कथं च बुभुक्षोदयानन्तरमाहारासम्पत्तौ ग्लानस्य[12] यथावद्बोधहीनस्य मार्गोपदेशो घटेत? अथ तदुदयानन्तरं देवास्तत्राहारं सम्पादयन्ति; न; अत्र[13] प्रमाणाभावात्। 'आगमः' इति चेन्न; उभयप्रसिद्धस्यास्याप्यभावात्। स्वप्रसिद्धस्य[14] भावेपि नातस्तत्सिद्धिः, 'भुक्त्युपसर्गाभावः' इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य[15] भावात्। अथ चर्यामार्गेण गत्वासौ भुङ्क्ते; तत्रापि किं गृहं गृहं गच्छति, एकस्मिन्नेव वा गृहे भिक्षालाभं ज्ञात्वा प्रवर्त्तते? तत्राद्यपक्षे भिक्षार्थं गृहं गृहं पर्यटतो जिनस्याज्ञानित्वप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षे तु भिक्षाशुद्धिस्तस्य न स्यात्। कथं चासौ मत्स्यादीन् व्याधलुब्धकप्रभृतिभिः सर्वत्र सर्वदा व्याहन्यमानान्प्राणिनस्तेषां पिशितानि च तथाऽशुच्यादींश्चार्थान् साक्षात्कुर्वन्नाहारं गृह्णीयात्? अन्यथा निष्करुणः स्यात्। जीवानां हि वधं विष्ठादिकं च साक्षात्कुर्वन्तो व्रतशीलविहीना अपि न भुञ्जते, भगवांस्तु व्रतादिसम्पन्नस्तत्साक्षात्कुर्वन् कथं भुञ्जीत? अन्यथा तेभ्योप्यसौ हीनसत्त्वः स्यात्।

यदप्युच्यते-यत्किञ्चिद्दृष्टं शुद्धमशुद्धं तत्स्मरन्तो यथास्मदादयो भोजनं कुर्वन्ति तथा केवली साक्षात्कुर्वन्निति; तदप्युक्तिमात्रम्; न ह्यस्मदादीनां परमचारित्रपदप्राप्तेनाशेषज्ञेन भगवता साम्यमस्ति। अस्मदादयोपि हि यथा(यदा)[16]कथञ्चित्किञ्चिदशुद्धं वस्तु दृष्टं

---

१ क्षुदादिदुःखं धर्मि। २ यस्य वेदनीयस्य। ३ कार्यं क्षुत्। ४ अनन्तसुखम्। ५ न केनापि निराकर्त्तुं शक्यम्। ६ वेदनीयम्। ७ (नरे)। ८ श्लेष्मादिलक्षणस्य कार्यस्य करणे अविकलमपि। ९ अनन्तसुखम्। १० वेदनीयम्। ११ श्वेतपटस्य। १२ भगवतः। १३ अर्थे। १४ श्वेतपटमते प्रसिद्धस्यागमस्य। १५ जैनागमस्य। १६ केनचित्प्रकारेण मार्गादिगमनलक्षणेन।

स्मरन्तो भोजनपरित्यागेऽसमर्थास्तद्भुञ्जते तदा तद्दोषविशुद्ध्यर्थं गुरुवचनादात्मानं निन्दन्तः प्रायश्चित्तं कुर्वन्ति। ये तु तत्त्यागे समर्थाः पिण्डविशुद्धावुद्यतमनसो निर्वेदस्य परां काष्ठामापन्नास्त्यक्तशरीरापेक्षा जितजिव्हा अन्तरायविषये निपुणमतयस्ते स्मरन्तोपि न भुञ्जते।

किञ्च, असौ भोजनं कुर्वाणः किमेकाकी करोति, शिष्यैर्वा[1] परिवृतः? यदि एकाकी; पश्चाल्लग्नान्[2] शिष्यान्विनिवार्य श्रावकानां गृहे गत्वा भुङ्क्ते तर्हि दीनः स्यात्। अथ तैः परिवृतः; तर्हि सावद्यप्रसङ्गः।

किञ्च, असौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति वा, न वा? करोति चेत्; अवश्यं दोषवान् सम्भाव्यते, तत्करणान्यथानुपपत्तेः। न करोति चेत्; तर्हि भुजिक्रियातः समुत्पन्नं दोषं कथं निराकुर्यात्? [3]आहारकथामात्रेणापि ह्यप्रमत्तोपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति, नार्हन्भुञ्जानोपीति[4] श्रद्धामात्रम्। प्रमत्तत्वे चास्य श्रेणितः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वम्।

किमर्थं चासौ भुङ्क्ते-शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानध्यानसंयमसंसिद्ध्यर्थं वा, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं वा, प्राणत्राणार्थं वा? न तावच्छरीरोपचयार्थम्; लाभान्तरायप्रक्षयात्प्रतिसमयं विशिष्टपरमाणुलाभतस्तत्सिद्धेः। तदर्थं तद्ग्रहणे चासौ कथं निर्ग्रन्थः स्यात् प्राकृतपुरुषवत्[5]? नापि ज्ञानादिसिद्ध्यर्थम्; यतो ज्ञानं तस्याखिलार्थविषयमक्षयस्वरूपम्, संयमश्च यथाख्यातः सर्वदा विद्यते। ध्यानं तु परमार्थतो नास्ति निर्मनस्कत्वात्, योगनिरोधत्वेनोपचारतस्तत्रास्य सम्भवात्। नापि प्राणत्राणार्थम्; अपमृत्युरहि[6]तत्वात्। नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्; अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवाभावस्योक्तत्वात्।

ननु भगवतो भोजनाभावे कथम् 'एकादश जिने परीषहाः' इत्यागमविरोधो न स्यात्? तदसत्; तेषां तत्र[7]ोपचारेणैव प्रतिपादनात्, उपचारनिमित्तं च वेदनीयसद्[8]भावमात्रम्। परमार्थतस्तु तत्र तेषां सद्भावे क्षुदादिपरीषहसद्भावाद्बुभुक्षावद् रोगवधतृणस्पर्शपरीषहसद्भावान्महद्दुःखं स्यात्, तथा च दुःखितत्वान्नासौ जिनोऽस्मदादिवत्। [9]तथा भोजनं रसनेन शीतादिकं च

---

१ यतयः। २ पृष्ठे। ३ भगवतो भुक्तिक्रियातो दोष एव न सम्पद्यते इत्युक्ते आह। ४ प्रमत्तो न भवतीति यावत्। ५ प्राकृतो नीचः। ६ आयुषोऽपवर्तरहितत्वात्। ७ जिने। ८ द्रव्यरूपेण। ९ भोजनं रसनेनानुभवेद्वा केवलज्ञानेन वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह।

स्पर्शनादिनेन्द्रियेण यद्यसावनुभवेत्; तर्हि भगवतो मतिज्ञानानुषङ्गः। अथ केवलज्ञानेन; तत्रापि[1] सर्वं भोजनादिकं पर[2]शरीरस्थमप्यस्यानुषज्यते। न चात्मशरीरस्थमेवास्य तज्ज्ञान्यदित्यभिधातव्यम्; भगवतो वीतमोहस्य स्वपरशरीरमतिविभागाभावात्।

यच्चोपचारतोप्यस्यैकादश परीषहा न सम्भाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य[3], 'एकेनाधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने' इति व्युत्पत्तेः। प्रयोगः-भगवान् क्षुदादिपरीषहरहितोऽनन्तसुखत्वात्सिद्धवत्।

किञ्च, भोजनं कुर्वाणो भगवान् किल लोकैर्नावलोक्यते चक्षुषेत्यभिधीयते भवता। तत्रा[4]दर्शनेऽयुक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा? तत्राद्यपक्षे पारदारिकवद्दीन[5]वद्वा दोषसम्भावनाप्रसङ्गः। अन्धकारस्तु न सम्भाव्यते, तद्देहदीप्त्या तस्य निहतत्वात्। विद्याविशेषोप[6]योगे चास्य निर्ग्रन्थत्वाभावः। कथं चादृश्याय तस्मै दानं दातृभिर्दीयते? अथातिशयविशेषः कश्चित्तस्य, येन भुञ्जानो नावलोक्यते; तर्हि भोजनाभावलक्षण एवास्यातिशयोस्तु किं मिथ्याभिनिवेशेन? ततो जीवन्मुक्तस्यात्मनोऽनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमिच्छता कवलाहाररहितत्वमेवैष्टव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन[7]।

ननु च 'अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभो मोक्षः' इत्ययुक्तम्; बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वात्तस्य। तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां[8] सं[9]तानोऽत्यन्त[10]मुच्छिद्यते सन्तानत्वात् प्रदीपसन्तानवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः; सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; पक्षसपक्षवद्विपक्षे[11] परमाण्वादावप्रवृत्तेः। नापि कालात्ययापदिष्टः; विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरसम्भवात्। नापि सत्प्रति[12]पक्षः; प्रतिपक्षसाधनाभावात्।

---

१ तर्हि। २ केवलज्ञानेन तत्राप्यनुभवोस्तीति भावः। ३ (एकादश जिने इति सूत्रस्य जिननिष्ठैकादशपरीषहाणां निषेधपरत्वात्)। ४ ग्रन्थे। ५ मां दृष्ट्वा कश्चिद्भोजनं याचिष्यत इति दीनचित्तत्वं दोषो दीनचित्तस्य। ६ व्यापारे। ७ प्रपञ्चेन। ८ बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारलक्षणानाम्। ९ धर्माधर्माभ्यां बुद्धिरुत्पद्यते बुद्धेः संस्कारः संस्कारादिच्छाद्वेषौ इच्छाद्वेषाभ्यां प्रयत्नस्तस्मात्सुखदुःखे भवत इति नवानां गुणानां सन्तानः। १० सर्वथा। ११ नित्ये। १२ प्रतिपक्षसाधको हेतुः सत्प्रतिपक्षः।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेपि मोक्षे हेतुर्वाच्यो निर्हेतुकविनाशानभ्युपगमात्; इत्यप्यचोद्यम्; तत्त्वज्ञानस्य विपर्यय[1]ज्ञानव्यवच्छेद[2]क्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वोपपत्तेः। दृष्टं च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम्। ननु चातत्त्वज्ञान[3]स्यापि तत्त्वज्ञानो[4]च्छेदे सामर्थ्यं दृश्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधित्वेन मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानोच्छेदप्रतीतेः; इत्यप्ययुक्तम्; यतो नानयोरुच्छेदमात्रमभिप्रेतम्। किं तर्हि? सन्तानोच्छेदः[5]। यथा च सम्यग्ज्ञानान्[6]मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदो नैवं मिथ्याज्ञानात्[7]सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, अस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात्। निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो न सम्भवन्ति कारणाभावे कार्यानुत्पादात्। रागाद्यभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते। तदभावे च धर्माधर्मयो[8]रनुत्पत्तिः। आरब्ध[9]शरीरेन्द्रियविषयकार्ययोर्स्तु सुखदुःखफलोपभोगात्प्रक्षयः। अनारब्धतत्कार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः। तथा चागमः—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इति।

अनुमानं च, पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरकर्मवत्। न चोपभोगात्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यं भावात्संसारानुच्छेदः; समाधि[10]बलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्या[11]वगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्योपात्त[12]कर्मप्रक्षयात्, भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलत्वाच्च संसारोच्छेदोपपत्तेः। अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ 'अनुसन्धीयते[13] गतं[14] चित्तं[15]माभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः। न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासम्भवाद्भोगा[16]नुपपत्तिः; तदुपभोगं[17] विना हि कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेः तत्त्वज्ञानिनोपि कर्मक्षयार्थितया प्रवृत्ते[18]र्वैद्योपदेशेनातुरवदौषधाचरणे। यथैव[19] ह्यातुरस्यानभिलषितेप्यौषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः, तद्व्यतिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेस्तथात्रापि[20]।

---

१ मिथ्या। २ सम्यग्ज्ञानान्मिथ्याज्ञानाभावस्तदभावाद्रागाद्यभावस्तदभावाच्च मनोवाक्कायप्रवृत्तिरूपप्रयत्नाभावस्तदभावाद्धर्माधर्मयोरभाव इति। ३ द्विचन्द्रादिज्ञानस्य। ४ एकचन्द्रज्ञानस्य। ५ आमूलतः सन्ततिच्छेदे एवाभिप्रायः। ६ स्रग्वनितादिकं सुखहेतुरिति अहिकण्टकादिकं दुःखहेतुरिति च सम्यग्ज्ञानात्। ७ स्रग्वनितादिकं दुःखहेतुरिति ज्ञानात्। ८ धर्माधर्मयोः। (वसः)। ९ प्रारब्धं शरीरं येन तच्च तत्कर्म च। १० ध्यान। ११ नुः। १२ पूर्वोपात्त। १३ सम्बध्यते। १४ अनेन पूर्वं ममेदृग्विधं दुःखादिकं दत्तमिति। १५ बुद्धिः। १६ तत्त्वज्ञानिनः पुरुषस्य। १७ कर्मफलस्य। १८ कर्मफलोपभोगे। १९ उक्तमेव समर्थयति। २० कर्मफलोपभोगे तत्त्वज्ञानिनः।

ननु तत्त्वज्ञानिनां तत्त्वज्ञानादेव सञ्चितकर्मप्रक्षय इत्यप्यागमोस्ति—

"यथैधांसि संमिद्धो[1]ऽग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"
[भगवद्गी० ४।३७] इति।

तथा[2] च विरुद्धार्थत्वादुभयो[3]रेकत्रार्थे[4] कथं प्रामाण्यम्? इत्ययुक्तम्; तत्त्वज्ञानस्य साक्षात्तद्विनाशे व्यापाराभावात्। तद्धि कर्मसामर्थ्यावगमतोऽशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्मणां विनाशे व्याप्रियते इत्यग्निरिवोपचर्यते ज्ञानमित्यागमव्याख्यानादविरोधः। न चैतद्[5]वाच्यम्—'तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानादितरेषां[6] तूपभोगात्' इति[7]; ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात्, फलोपभोगात्तु तत्प्रक्षये तत्सद्भावात्[8]।

अन्ये तु मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य[10] सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीराद्यारम्भकाणी[11]ति मन्यन्ते[12]; तेषामनुत्पादितकार्यस्यादृष्टस्या[13]प्रक्षयान्नित्यत्वसङ्गः[14]। अनागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे[15] तत्त्वज्ञानिनो[16] नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं किमर्थमिति चेत्? प्रत्यवाय[17]परिहारार्थम्। न च मिथ्याज्ञानाभावे दुष्कर्मणोऽभावात् कस्य परिहारार्थं तदित्यभिधातव्यम्[18]; यतो मिथ्याज्ञानाभावे निषिद्धा[19]चरणनिमित्तस्यैव प्रत्यवायस्याभावो न विहिता[20]ननुष्ठाननिमित्तस्य,

"अकुर्वन्विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" [ ] इत्यागमात्। ततस्तदनुष्ठानं तत्परिहारार्थं युक्तम्। तदुक्तम्—

"नित्यनैमित्तिके[21] कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया।
मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्य[22]निषिद्ध[23]योः[24] ॥ १ ॥
[मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११०]

---

१ दीप्तः। २ तथाप्यागमसद्भावे च। ३ आगमयोः। ४ मोक्षोपायलक्षणे। ५ अग्रे वक्ष्यमाणम्। ६ अतत्त्वज्ञानिनाम्। ७ कुतः?। ८ प्रारब्धशरीरकर्मवदिति। ९ तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने सतीति शेषः। १० भावनारूपस्य। ११ इन्द्रियविषयादेश्च। १२ नैयायिकविशेषाः। १३ धर्माधर्मस्य। १४ ततोऽनुभवनप्रकारेणैव मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः। १५ सति। प्रागुक्तन्यायेन। १६ नरस्य। १७ दुष्कर्म। १८ जैनादिना। १९ विप्रवधादि। २० नित्यनैमित्तिकादेः। २१ कर्मणी। २२ काम्यं यागः। २३ निषिद्धं विप्रवधादि। २४ कर्मणोः।

नित्यनैमित्तिकैरेव[1] कुर्वाणो[2] दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्[3] ॥ २ ॥
अभ्यासात्पक्वविज्ञानः[4] कैवल्यं[5] लभते नरः ।
काम्ये निषिद्धे च परं[6] प्रवृत्तिप्रतिषेधतः ॥ ३ ॥" [ ]

'स्वर्गकामः' इत्याद्यागमजनितकामेन यागाभिलाषेण निर्वर्त्यं[7] हि काम्यमग्निष्टोमादि । कैवल्यं तु सकलविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपं निर्वाणम् । न च विपर्ययज्ञानप्रध्वंसादिक्रमेण[8] तद्विशिष्टात्मस्वरूपनिर्वाणस्य तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्; यतो विशेषगुणोच्छेदस्यानित्यत्वमापाद्यते[9], तद्विशिष्टात्मनो वा? न तावद्विशेषगुणोच्छेदस्य; अस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वात् । कार्यवस्तुनो ह्यनित्यत्वं प्रसिद्धम् । तद्विशिष्टात्मनश्च वस्तुत्वेपि कार्यत्वाभावान्नानित्यत्वम् । न च बुद्ध्यादिविनाशे गुणिनस्तथाभावो युक्तः; तयोर्[10]रत्यन्तभेदात् । तत्तादात्म्ये[11] त्वयं[12] दोषः स्यादेव ।

अथ[13] मोक्षावस्थायां चैतन्यस्या[14]प्युच्छेदान्न[15] कृतबुद्धयस्[16]तत्र प्रवर्त्तन्ते इत्यानन्दरूपो मोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः[17]—

"आनन्दं ब्रह्मणो[18] रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते[19]" [ ]

इत्यागमात् । 'आत्मा[20] सुखस्वभावोऽत्यन्त[21]प्रियबुद्धि[22]विषयत्वात्, अनन्य[23]परतयो[24]पादीयमानत्वाच्च[25] । यद्यदेवंविधं तत्तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा[26] चात्मा एवंविधः, तस्मात्सुखस्वभावः' इत्यनुमानाच्चास्यानन्दस्वभावताप्रतीतिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतस्तत्सुखं नित्यम्, अनित्यं वा? न तावदनित्यम्; तत्स्वभावतयात्मनोप्यनित्यत्वप्रसङ्गात् । नित्यं[27] चेत्; तत्संवेदनमपि नित्यम्,

---

१ अनुष्ठानैः । २ मनुष्यः । ३ विस्तारयेत् । ४ उत्कृष्टविज्ञानः । ५ मोक्षम् । ६ (मूलपाठस्त्वत्र 'केवलं' इति । अनेन त्रिमात्रिकाक्षरेण छन्दोभङ्गः स्यादिति 'परं' शब्दो नियोजितः । केवलशब्दस्य परशब्दोर्थः टिप्पण्यां लिखितश्च) । ७ निष्पाद्यमनुष्ठानम् । ८ मिथ्याज्ञान । ९ निस्स्वरूपत्वात् । १० गुणगुणिनोः । ११ गुणगुणिनोः । १२ गुणविनाशे गुणिविनाशलक्षणः । १३ वेदान्ती भास्करीयः । १४ बुद्धेः । १५ विनाशात् । १६ प्रेक्षावन्तः । १७ वैशेषिकेण । १८ आत्मनः । १९ व्यक्तीक्रियते । २० संसारिमुक्तात्मनोः साधारणमनुमानम् । २१ पुत्रादिशरीरेण व्यभिचारपरिहारार्थमत्यन्तपदोपादानम् । २२ आत्मनः । २३ वनिताशरीरेण व्यभिचारपरिहारार्थमनन्यपरतयेत्युक्तम् । २४ स्वप्रधानत्वेनेत्यर्थः । २५ अनन्यपरतयोपादीयमानत्वादिति कोर्थः? आत्मन आत्मनि लीनतया स्वस्वरूपस्योपादीयमानत्वं ग्राह्यमाणत्वं यस्यात्मन इति । २६ वैषयिकसुखप्रकारेण । २७ संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां च ।

अनित्यं वा? यदि नित्यम्; मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः तत्सुखसंवेदनयोर्नित्यत्वेनोभयत्र[1] सत्त्वाविशेषात्। स्मरणानुपपत्तिश्च[2]; अनुभवस्यैवावस्थानात्[3]। संस्कारानुपपत्तिश्च[4,5,6]; अनुभवस्य निरतिशयत्वात्। करणजन्यसुखेन चास्य[7] संसारावस्थायां साहचर्यग्रहणप्रसङ्गात्[8] सुखद्वयोपलम्भः सदा[9] स्यात्।

अथ धर्माधर्मफलेन[10] सुखादिना[11] शरीरादिना[12] वा नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबद्धत्वेनानुभवाभावान्न[13] मुक्तेतरावस्थयोरविशेषः सदा सुखद्वयोपलम्भो वा; तदयुक्तम्; शरीरादेः सुखार्थत्वेन[14,15] तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात्। न हि यद्यदर्थं तत्तस्यैव प्रतिबन्धकं[16] युक्तम्[17]। नापि वैषयिकसुखाद्यनुभवेन तत्प्रतिबन्धः। तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; द्वयोरपि[18] नित्यत्वाभ्युपगमात्[19]। न च संसारावस्थायां बाह्यविषयव्यासङ्गाद्विद्यमानस्याप्यनुभवस्यासंवेदनम्[20], तदभावात्तु मोक्षावस्थायां संवेदनमित्यभिधातव्यम्[21]; तदनुभवस्य नित्यत्वेन व्यासङ्गानुपपत्तेः[22]। आत्मनो हि व्यासङ्गो रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे[23] ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्याप्येकस्मिन्[24] विषये[25] ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे[26] ज्ञानाजनकत्वम्। स चात्रानुपपन्नः[27]; सुखवत्तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात्। शरीरादेस्तु प्रतिबन्धकत्वे[28] तदपहन्तुर्हिंसाफलं[29] न स्यात्, प्रतिबन्धकविघातकारकस्योपकारकत्वेन लोके प्रतीतेः।

अथानित्यं तत्संवेदनम्; तदोत्पत्तिकारणं वाच्यम्[30]। अथ योगजधर्मापेक्षः पुरुषान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणम्[31,32,33]। ननु[34] योगजधर्मस्य मुक्तावसम्भवात् कथमसौ तत्संयोगेनापेक्ष्येत

---

१ संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां च। २ अस्ति च संसारावस्थायां सुखस्मरणम्। ३ प्रत्यक्षस्य। ४ प्रत्यक्षविशेषो धारणाज्ञानं संस्कारः। ५ अस्ति च संस्कारस्योत्पत्तिः संसारावस्थायाम्। ६ भावरूपस्य। ७ नित्यसुखस्य। ८ नित्यानित्यसुखद्वयस्य। ९ यदा यदा वैषयिकं सुखमुत्पद्यते तदा तदा द्वयोरुपलम्भ इत्यर्थः। १० कार्येण। ११ दुःखादिना च। १२ इन्द्रियादिना च। १३ प्रतिहतत्वेन। १४ अत्रार्थः प्रयोजनम्। १५ भोगायतनं शरीरमिति वचनात्। १६ प्रतिपक्षम्। १७ वनितादिवत्। १८ नित्यसुखसंवेदनयोः। १९ वेदान्तिना। २० नित्यसुखानुभवस्य। २१ वेदान्तिना। २२ आत्मन इन्द्रियस्य वा। २३ तत्समये। २४ व्यासङ्गः। २५ रूपे। २६ रसे। २७ नित्यसुखे। २८ सुखतत्संवेदनयोः। २९ नरस्य। ३० वेदान्तिना। ३१ मनः। ३२ आत्मा तु समवायिकारणम्। ३३ नित्यसुखसंवेदनस्य। ३४ वैशेषिकः।

यतस्तत्र ततस्त[1]दुत्पत्तिः स्यात्? अथा[2]यं योगजधर्मापेक्षान्तःकरणसंयोगो विज्ञानं जनयति तच्चापेक्ष्योत्तरोत्तरं [3]ज्ञानम्; तदप्ययुक्तम्; न हि शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवान्तःकरणसंयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणं दृष्ट[4]म्। न च दृष्टविपरीतं शक्यं कल्पयितुमतिप्रसङ्गात्[5]। आकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव, अहेतोः सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्।

किञ्च, यथा मुक्तावस्थायामनित्यसुखमतिक्रम्य नित्यं परिकल्प्य[6]ते, तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं शरीरा[7]दिकमपि परिकल्पनीयम्। कार्यत्वात् तस्य कथं नित्यत्वधर्माधिकरणत्वम् दृष्टविरोधादप्रमाणकत्वाच्च? इत्यन्य[8]त्रापि समानम्। न खलु नित्यसुखसाधकत्वेन प्रत्यक्षानुमानागमानां मध्ये किञ्चित्प्रवर्त्तते, अस्मदादीन्द्रियजप्रत्यक्षस्यात्र व्यापारानुपलम्भात्। 'योगिप्रत्यक्षं त्वेवं प्र[9]वर्त्ततेऽन्य[10]था वा' इत्यद्यापि विवादपदापन्नम्।

यच्चात्मा सुखस्वभाव इत्यनुमानं तदपि न नित्यसुखस्वभावतासाधकम्; सुखस्वभावतामात्रस्यैवातः प्रसिद्धेः।

किञ्च, सुखस्वभावत्वं सुखत्वजा[11]तिसम्बन्धित्वम्; तन्नात्मनि सम्भाव्य[12]ते [13]गुणे एवास्योपलम्भात्। न ह्येका काचिज्जातिर्द्रव्य[14]गुणयोः साधारणोपलभ्यते। अथ सुखाधि[15]करणत्वम्; त[16]न्न; अस्य नित्यानित्यविकल्पानुप[17]पत्तेः। त[18]था सुखत्वस्य सुखस्य वाधिकर[19]णतायां तज्ज्ञानस्यापि नित्यानित्यविकल्पः समानः।

साधनं च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमनन्यपरतयोपादीयमानत्वं चानैकान्तिकत्वादसाधनम्; दुःखाभा[20]वेपि भावा[21]त्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वं चासिद्धम्; न ह्यात्माऽन्यार्थं नोपादीयते; सुखा[22]र्थ-

---

१ नित्यसुख। २ नित्यसुखसंवेदनम्। ३ आत्मान्तःकरणसंयोगो जनयति। ४ किन्तु शरीरसम्बन्धापेक्षं सद्विज्ञानं सहकारिकारणं दृष्टम्। ५ सौगतादेरपि संवेदनस्य क्षणिकत्वादिसिद्धिप्रसङ्गात्। ६ वेदान्तिना भवता। ७ इन्द्रियं च। ८ नित्यसुखे। ९ नित्यसुखग्राहकत्वेन। १० नित्यासुखाग्राहकत्वेन। ११ जातिः=सामान्यम्। १२ निश्चीयते। १३ सुखलक्षणे। १४ सुखाधिकरणत्वस्य सुखस्वभावत्वस्य। १५ अन्यलीनतया। १६ वैशेषिकः। १७ नित्यं चेन्मुक्तेतरावस्थाया अविशेषप्रसङ्ग इत्यादि दूषणम्। अनित्यं चेदुत्पत्तिकारणं वाच्यमित्यादि दूषणम्। १८ तथा दूषणान्तरसमुच्चये। १९ आत्मनः। २० दुःखाभावो हि त्यक्तभरस्यात्यन्तप्रियबुद्धिविषयः अनन्यपरतयोपादीयमानश्च। न त्वसौ सुखस्वभावस्तस्य तुच्छरूपत्वात्। २१ अभावस्य निःस्वरूपत्वान्नैयायिकादिमते। २२ सुखलीनतयाऽहं सुखीत्युल्लेखेन।

मस्योपादानात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्; दुःखितायां[1]मप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमो नित्यसुखसद्भावावेदकः; इत्यप्यसमीचीनम्; तस्यैतदर्थत्वासिद्धेः । आनन्दशब्दो ह्यात्यन्तिकदुःखाभावे प्रयुक्तत्वाद्गौणः । दृष्टश्च[2] दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः, यथा भाराक्रान्तस्य ज्वरादिसन्तप्तस्य वा तदपाये ।

किञ्च, आत्मस्वरूपात्तन्नित्यसुखमव्यतिरिक्तम्, तद्व्यतिरिक्तं[4] वा? प्रथमपक्षे आत्मस्वरूपवत् सर्वदा सुखसंवित्तिप्रसङ्गाद्बद्ध[3]मुक्तयोरविशेषप्रसङ्गः ।

अनाद्यविद्याच्छादितत्वान्न स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिः संसारिणः; इत्यप्यपेशलम्; आच्छाद्यते ह्यप्रकाशस्वरूपं वस्तु, यत्तु प्रकाशस्वरूपं तत्कथमन्येनाच्छाद्येत? मेघादिना त्वादित्यादेराच्छादनं युक्तम् तस्यातोऽर्थान्तरत्वात्, मूर्त्तस्य मूर्त्तेनाच्छादनापत्तेः (दनोपपत्तेः)। अविद्यायास्तु सत्त्वान्यत्वा[5]भ्यामनिर्वचनीयतया तुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशानन्दाच्छादकत्वम् । तन्नाद्यः पक्षो युक्तः ।

द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; नित्यसुखस्यात्मनोऽर्थान्तरस्य प्रत्यक्षादेः प्रतिपादकस्य प्रतिषिद्धत्वाद्बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् । तन्न परमानन्दाभिव्यक्तिर्मोक्षः ।

ना[6]पि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः[7]; रागादिमतो विज्ञानात्तद्रहितस्यास्योत्पत्तेरयोगात् । यथैव हि बोधा[8]द्बोधरूपता ज्ञाना[9]न्तरे तथा रागादेरपि स्यात्तादात्म्यात्[10], अन्य[11]था तादात्म्याभावः स्यात् । न च 'बोधादेव बोधरूपता' इति प्रमाणमस्ति; विल[12]क्षणादपि कारणाद्वि[13]लक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् । बोध[14]स्य च बोधान्तरहेतुत्वे पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वमेक[15]सन्तानत्वं वा न हेतुः; व्यभिचारात्; तथाहि–पूर्वकालभावित्वं त[16]त्समानक्ष[17]णैः, समानजातीय[18]त्वं च सन्तानान्तरज्ञा[19]नैर्व्यभिचारि, तेषां हि पूर्वकालभावित्वे त[20]त्समानजातीयत्वे च सत्यपि न विवक्षित[21]ज्ञानहेतुत्वम् ।

१ अवस्थायाम् । २ आगमे । ३ बद्धः संसारी । ४ ब्रह्मणः सकाशात् । ५ विद्यमानत्वाविद्यमानत्वाभ्याम् । ६ सौगतमाशङ्क्य । ७ मोक्षः । ८ पूर्वज्ञानात् । ९ उत्तरज्ञाने । १० बोधस्य रागादिना । ११ रागादिर्यदि न स्यात् । १२ बीजादेः । १३ अङ्कुरादेः । १४ प्रथमस्य । १५ एकात्मत्वम् । १६ उत्तरज्ञानजनकप्राक्तनबोधस्य । १७ पुरुषान्तरबोधैः पूर्वकालभाविभिः । १८ ज्ञानत्वेन समानजातीयत्वम् । १९ पुरुषान्तरबोधैः पूर्वकालभाविभिः । २० पूर्वज्ञानस्य । २१ विवक्षितमुत्तरम् ।

एकसन्तानत्वं च अन्त्य[1]ज्ञानेन[2] व्यभिचारि। अथ नेष्यत[3] एवान्त्यज्ञानं सर्व[4]दाऽऽरम्भात्[5]; तथाहि–मरणशरीरज्ञानमपि[6] ज्ञानान्तरहेतुर्जाग्रदवस्थाज्ञानं[7] च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्ये[8]ति। नन्वेवं मरणशरीरज्ञानस्यान्तरा[9]भवशरीरज्ञानहेतुत्वे गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे वा सन्तानान्तरेपि ज्ञानजनकत्वं किन्न स्यान्नियतहेतोरभावात्? अथेष्य[10]न्ते एव उपाध्यायज्ञानं शिष्यज्ञानस्य हेतुः। अन्य[11]स्य[12] कस्मान्न भवति? [13]कर्म[14]वास[15]ना निया[16]मिका चेन्न[17]; तस्या ज्ञानव्यतिरेकेणासम्भवात्। [18]तत्तादात्म्ये हि विज्ञानं बोधरूपतया अवि[19]शिष्टं[20] बोधाच्च बोधरूपते[21]स्य[22]विशेषेण ज्ञानं[23] विदध्यात्[24]।

सुषुप्तावस्थाज्ञानस्य जाग्रदवस्थाज्ञानं कारणम्; इत्यप्यसम्भाव्यम्; सुषुप्तावस्थायां च ज्ञानाभ्युपगमे[25] जाग्रदवस्थातो[26] विशेषो न स्यादुभय[27]त्रापि स्वसंविदितज्ञानसद्भावाविशेषात्। मिद्धेना[28]भिभूतत्वं[29] विशेषः; इत्यप्यसत्; तस्यापि तद्धर्म[30]तया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात्। तद्व्य[31]तिरेके तु[32] रूपवेदनादि[33]पदार्थस्वरूपव्यतिरिक्तं तत्स्वरूपं निरूप्यताम्। अभिभवश्च यदि विनाशः; कथं तत्र[34] ज्ञानस्य सत्त्वं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्? अथ तिरोभावः; न; विज्ञानसत्त्वैव संवेदनमित्यभ्युपगमे तस्या[35]नुपपत्तेः। अतः सुषुप्तावस्थायां विज्ञानासत्त्वेनान्त्यज्ञानसद्भावादेकसन्तानत्वं व्यभिचारीति।

यच्चोच्य[36]ते–विशिष्टभावनाभ्यासवशाद्रागादिविनाशः; तदप्यसङ्गतम्; निर्हेतुकत्वाद्विनाशस्य अभ्यासानुपपत्तेश्च[37]। अभ्यासो

---

१ बौद्धानां मते योगिनां मरणे चरमचित्तमुत्तरचित्तं नोत्पादयतीति भावः। २ योगिचरमचित्तेन। ३ मया। ४ पूर्वविज्ञानेन विज्ञानान्तरस्य। ५ जननात्। ६ गर्भशरीरज्ञानस्य। ७ (जाग्रदवस्थाज्ञानवदिति सुष्ठुतरम्) (?)। ८ जैनमतमङ्गीकृत्य यौगं प्रति सौगतेनोक्तम्। ९ मध्यभवशरीरस्य कार्मणस्य। १० बौद्धेन। ११ वैशेषिकः। १२ शिष्यात्। १३ बौद्धः। १४ वासना ज्ञानरूपैव। १५ अदृष्टं क्रिया च। १६ कथं नियामिका? मरणशरीरज्ञानादन्तराभवशरीरज्ञानं गर्भशरीरज्ञानं चोत्पद्यते उपाध्यायज्ञानाच्छिष्यज्ञानं चेति। १७ वैशेषिकः। १८ विज्ञानस्य। १९ साधारणम्। २० विशेषरहितम्। २१ हेतोः। २२ सन्तानान्तरेपि। २३ उत्तरम्। २४ पूर्वज्ञानं कर्तृ। २५ बौद्धेन त्वया। २६ सुषुप्तावस्थाजाग्रदवस्थयोः। २७ सुषुप्तावस्थाजाग्रदवस्थयोः। २८ अतिजाड्येनातिनिद्रया वा। २९ पराभवः। ३० बौद्धानां मते यथा नैर्मल्यादिगुणो ज्ञानस्य तथा मिद्धादिदोषोपि ज्ञानस्य धर्म इति। ३१ ज्ञानात्। ३२ मिद्धस्य। ३३ आदिशब्देन विज्ञानसंज्ञासंस्कारा गृह्यन्ते। ३४ सुषुप्तावस्थायाम्। ३५ विज्ञानस्य (तिरोभावस्य)। ३६ बौद्धेन। ३७ किञ्च।

ह्यवस्थिते ध्यातर्य[1]तिशयाधायकत्वेन स्यान्न क्षणिकज्ञानमात्रे। न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयो युक्तः; तस्यैवासत्त्वात्, अ[4]विशिष्टा-द्वि[2]शिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च[3]। अविशिष्टाद्धि पूर्वज्ञानादुत्तरोत्तरं सातिशयं कथमुत्पद्येत? तत्कथं योगिनां सकलकल्पनाविकलज्ञान-सम्भव इति?

यच्च 'सन्तानोच्छित्तिर्निःश्रेयसम्' इति म[5]तम्; तत्र निर्हेतुक-तया विनाशस्योपा[6]यवैयर्थ्यमयत्नसि[7]द्धत्वादिति।

अ[8]न्ये त्वनेकान्तभावनातो विशिष्टप्र[9]देशेऽक्षयश[10]रीरादिला[11]भो निःश्रेयसमिति मन्यन्ते। तथाहि–नित्यत्वभावनायां ग्र[12]होऽनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभा[13]वना; इत्यप्यपरीक्षिताभि-धानम्; मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वायोगात्। अनेकान्त-ज्ञानं मिथ्यैव विरोधवैयधिकरण्याद्यनेकबाधकोपनिपातात्। स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिषु चासत्त्वम् इतरेतराभावादि[14]ष्यते एव। स्वकार्येषु कर्तृत्वं कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वं न प्रतिषिध्यते, य[15]द्य[16]स्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियमाणमुपलब्धं तत्तस्य कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगमात्। त[17]था मुक्तावप्यनेकान्तो न व्याव-र्तेत इति 'स एव मुक्तः संसारी च' इति प्रसक्तम्। तथाऽनेका-न्तेप्यनेकान्तप्रसङ्गात् सदसन्नित्यानित्यादिरूपव्यतिरिक्तं रू[18]पा-न्तरमपि प्रसज्येतेति।

अ[19]न्ये त्वात्मैकत्वज्ञानात्परमात्मनि ल[20]यः सम्पद्यते इति ब्रु[21]वते। तथाहि–आत्मैव परमार्थसंस्ततोऽन्यत्र भेदे प्रमाणाभावात्। प्र[22]त्यक्षं हि प[23]दार्थानां सद्भावस्यैव ग्राहकं न भेदस्येत्य[24]वि[25]द्यासमा[26]रो-पितो भेदः; तेप्यतत्त्वज्ञाः; आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाऽसाधकत्वात्। तन्मिथ्यात्वं चा[27]र्थानां प्र[28]माणतो वा[29]स्त-वभेदप्रसिद्धेः।

---

१ रागादिसहितत्वेन। २ विशुद्धज्ञानोत्पत्तेः। ३ किञ्च। ४ निर्विशेषस्य। ५ योगाचारस्य। ६ ध्यानादेः। ७ विनाशस्य। ८ जैनाः। ९ मोक्षशिलोपरि। १० स्वरूपदेहो वा। ११ आदिशब्देन ज्ञानादि। १२ स्नेहः। १३ युक्ता। १४ वैशेषिकेणापि मया। १५ कारणम्। १६ कार्यस्य। १७ दूषणान्तरम्। १८ सत्त्वे सत्त्वमसत्त्वं चेत्यनेन प्रकारेण। १९ ब्रह्माद्वैतवादिनः। २० प्रवेशः। २१ मोक्षम्। २२ निर्विकल्पकम्। २३ घटापटादीनाम्। २४ हेतोः। २५ मिथ्याज्ञानेन। २६ कल्पितः। २७ घटपटादीनाम्। २८ प्रत्यक्षादेः। २९ परमार्थं।

एवं[1] शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाप्रसाधकं द्रष्टव्यम्। निरस्तं चात्माद्वैतं शब्दाद्वैतं च प्राक्प्रबन्धेनेत्यलमतिप्रसङ्गेन[2]।

प्रकृति[3]पुरुषविवेकोप[4]लम्भः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानलक्षणनिःश्रेयसस्य साधनमित्यन्ये। तथाहि–पुरुषार्थसम्पादनाय प्रधानं प्रवर्त्तते। पुरुषार्थश्च द्वेधा–शब्दादिविषयोपलब्धिः, प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भश्च। सम्पन्ने हि पुरुषार्थे चरितार्थत्वात्प्रधानं न शरीरादिभावेन परिणमते, विज्ञानं(तं) वा दुष्टतया कुष्ठिनीस्त्रीवद्भोगसम्पादनाय पुरुषं[5] नोपसर्पति; इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रधानासत्त्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्। सति हि प्रधाने पुरुषस्य तद्विवेकोपलम्भः स्यात्। अस्तु वा तत्; तथापि पुरुषस्थं निमित्तमनपेक्ष्य तत्प्रवर्त्तेत, अपेक्ष्य वा? न तावदनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अथापेक्ष्य प्रवर्त्तते; किं तदपेक्ष्यम्? विवेका[6]नुपलम्भः, अदृष्टं वा? न तावद्विवेकानुपलम्भः; तस्य विवेकोप[7]लम्भविनष्टत्वेन मुक्तात्मन्यपि सम्भवात्। न[8] चा[9]नुत्पत्तिविनाशयोरसत्त्वेन विशेषं पश्यामः। द्वितीयविकल्पोप्ययुक्तः; अदृष्टस्यापि प्रधाने शक्तिरूपतया व्यवस्थितस्योभयत्रा[10]विशेषात्।

दुष्टतया च विज्ञातं प्रधानं पुरुषं नोपसर्पतीति चायुक्तम्; तस्याचेतनतया 'अहमनेन[11] दुष्टतया विज्ञातम्' इति ज्ञानासम्भवात्। ततः पूर्ववत्प्रवृत्तिरविशेषेणैव स्यात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन[12]।

'तदा[13][14] द्रष्टुः[15] स्वरूपे[16]ऽवस्थानं मोक्षः' इति चाभ्यु[17]पगतमेव[18], विशेषगुणरहितात्मस्वरूपे तस्यावस्थानाभ्युपगमात्। 'चिद्रू[19]पेऽवस्थानम्' इत्येतत्तु न घटते; अनित्यत्वेन चिद्रूपताया विनाशात्। न चाक्षाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यास्तस्या नित्यत्वे

१ वास्तवभेदसिद्धिप्रकारेण। २ अद्वैतनिराकरणस्य। ३ का। ४ भेदभावनाज्ञानम्। ५ प्रति प्रधानं। ६ भेदभावनाभावः। ७ भेदभावनाया योग्यवस्थायां सम्भवात्। मुक्त्यवस्थायां तु तस्या विनाशात्प्रयोजनाभावात्। ८ किञ्च। ९ विवेकानुपलम्भो नाम विवेकोपलम्भाभावः। कथम्? विवेकोपलम्भस्यानुत्पत्तिः संसार्यात्मनि विवेकोपलम्भस्य विनाशो मुक्तात्मनि। १० संसारिमुक्तात्मनोः। ११ पुरुषेण। १२ साङ्ख्यपरिकल्पितमुक्त्युपायनिराकरणेन। १३ उक्तरीत्या मोक्षोपायस्वरूपं विचार्यमाणं नास्ति चेन्मा भून्मोक्षस्वरूपं तु स्यादित्युक्ते आह। १४ मुक्त्यवस्थायाम्। १५ आत्मनः। १६ (आत्मनः)। १७ यौगेन। १८ स्वरूपे निर्दिष्टमेतत्। १९ यौगमते चिद्रूपं बुद्धिः।

प्रमाणमस्ति । आत्मस्वरूपतास्तीति चेत्; ननु चिद्रूपतात्मनोऽभिन्ना, भिन्ना वा स्यात्? अभेदे पर्याय[1]मात्रम् 'आत्मा, चिद्रूपता च' इति, तस्य च नित्यत्वाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यता। भेदे तु संयोगादिभिरनैकान्तिकत्वम्; तेषामात्मधर्मत्वेपि नित्यत्वाभावात् । गुणगुणिनोश्च तादात्म्यविरोधादित्यु[3]परम्यते । ततो बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूप एव मोक्षस्तत्त्वज्ञानादिति स्थितम् ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोत्यन्तमुच्छिद्यते; तत्रात्मनो भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्मन्येव समवाया[4]दिना वृत्त्यसिद्धेः[6] प्रागेवोक्तत्वात् कथमात्मविशेषगु[5]णानां सन्तानः सिद्धो यतः हेतोराश्रयासिद्धिर्न स्यात्? तथा तेषां परेणा[7]स्वसंविदितत्वेनाभ्युपगमात् । ज्ञा[8]नान्तरग्राह्यत्वे चानवस्था[9]दिदोषप्रसक्तेः, अज्ञानस्य च सत्त्वाप्रसिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्धत्वम्। आत्मनोऽभिन्नानां तत्साधने तु तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्षः? कथञ्चिदभेदस्तु नाभ्युपग[11]म्यते। अभ्युपगमे वा नात्यन्तोच्छेदसिद्धिः इत्य[12]नन्तरं वक्ष्यामः।

सन्तानत्वं च हेतुः सामान्यरूपम्, विशेषरूपं वा? सा[13]मान्यरूपं चेत्; परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा? प्रथमपक्षे गगनादिनानेकान्तः; अत्यन्तोच्छेदा[14]भावेप्यत्र हेतोर्वर्तनात्। सत्तासामान्यरूपत्वे च[15] सन्तानत्वस्य 'सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात् न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम् । अ[16]थ विशेषगुणाश्रिता जा[17]तिः सन्तानत्वम्; तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपदृष्टान्ते तस्याऽसम्भवात्साधनविकलो दृष्टान्तः । न च[18] सन्तानत्वं परमपरं वा सामान्यं सर्वथा भिन्नं बुद्ध्यादिषु वृत्तिमत्प्रसिद्धम्; तद्वृत्तेः समवायस्य प्रतिषिद्धत्वात् इति स्वरूपासिद्धत्वम्।

अथ विशेष[19]रूपम्; तत्राप्युपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिलक्षणक्षणविशेषरूपम्, पूर्वा[20]परस[21]मानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्यासाधारणानैकान्तिकत्वं तथाभूतस्यास्या-

---

१ नाममात्रम् । २ पराभ्युपगतमोक्षनिराकरणे । ३ मया । ४ तदाधेयत्वं तद्गुणत्वादि । ५ बुद्ध्यादीनाम् । ६ उच्छेद इत्यन्वयः । ७ वैभाषिकेण । ८ बुद्ध्यन्तर । ९ आदिनेतरेतराश्रयः । १० सन्तानस्य । ११ परेण । १२ अस्मिन्नेव वादे । १३ सत्ताख्यम् । १४ साध्याभावे । १५ किञ्च । १६ द्वितीयविकल्पः । १७ सामान्यम् । १८ किञ्च । १९ सन्तानत्वम् । २० सह । २१ रूपत्वेन सजातीयत्वम् ।

न्यत्रा[1]नुवृत्तेः। अभ्युपगमविरोधश्च; न खलु परेण बुद्ध्यादिक्षणोपादानोऽपरो[2]ऽखिलो बुद्ध्यादिक्षणोऽभ्युपगम्यते। अन्यथा मुक्त्यऽवस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गान्न बुद्ध्यादिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेदः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमाणुरूपादि[3]नानेकान्तः; तथाविधसन्तानत्वस्यात्र सद्भावेप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्।

विरुद्धश्चायं हेतुः; कार्यकारणभूतक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य एकान्तनित्यवदनित्येप्यसम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्यानेकान्ते[4] एव प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

शब्दविद्युत्प्रदीपादीनामप्यत्यन्तोच्छेदासम्भवात् साध्यविकलो दृष्टान्तः। न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपादेः परिणामा[5]न्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा; वारि[6] स्थिते तेजसि[7] भासुररूपाभ्युपगमेपि तत्प्रसङ्गात्। अथोष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवात् तत्रानुद्भूतस्यास्य परिकल्पनमनुमानतः; तर्हि 'प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽपरापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्त्वकृतकत्वादिकं न सम्भवति' इत्यनुमानतस्तत्सन्तत्यनुच्छेदः किन्न कल्प्यते? तथाहि–पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपादिः सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा घटादिवत्।

सत्प्रतिपक्षश्च[9]; तथाहि–बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वात्, य एवं स न तत्त्वेनोपेयो[10] यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति। न च प्रस्तुतानुमानत[11] एव सन्तानोच्छेदप्रतीतेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्वमसिद्धम्; सन्तानत्वसाधनस्यासत्प्रतिपक्षत्वासिद्धेः, तत्सिद्धौ हि हेतोर्गमकत्वम्। कालात्ययापदिष्टत्वं च; अनेनैवानुमानेन बाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्।

यच्च तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमित्युक्तम्; तदप्युक्तिमात्रम्; ततो विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण धर्माधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्याभावासिद्धेः। इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानोच्छेदसाधने च सिद्धसाधनम्। इन्द्रियाद्य-

---

१ दृष्टान्ते प्रदीपे। २ उपादेयः। ३ आदिना गन्धरसादि। ४ कथञ्चिन्नित्यानित्ये। ५ तमोरूपेण। ६ उष्णे। ७ अग्नौ। ८ ईपू। ९ सन्तानत्वं हेतुः। १० अभ्युपगम्यः। ११ सन्तानत्वादित्यतः।

पाये ज्ञानादिसन्तानसद्भावश्चाशेषज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितः । कथं चातीन्द्रिय[1]ज्ञानाद्यनभ्युपगमे महेश्वरे तत्सद्भावः स्यात् ? नित्यत्वं चेश्वरज्ञानस्येश्वरनिराकरणे प्रतिषिद्धम् । शरीराद्यपायेप्यस्य ज्ञानाद्यभ्युपगमेऽन्यात्मनोपि सोस्तु तत्[2]स्वभावत्वात् । न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानम्[3]अतिप्रसङ्गात् ।

यत्तूक्तम्-आरब्धकार्ययोश्चोपभोगात्प्रक्षयः; तदपि न सूक्तम्; उपभोगात्कर्मणः प्रक्षये त[4]दुपभोगसमये अपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादेः सम्भवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः[5] कथमात्यन्तिकः प्रक्षयः ? सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञानोच्छेद[6]क्रमेण वाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहित[7]स्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् सञ्चितकर्मक्षयेपि सामर्थ्यं सम्भाव्यत एव । यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ सामर्थ्यवत् प्रवृत्ततत्[8]स्पर्शादिध्वंसेपि सामर्थ्यं प्रतीयते । किन्तु[9] परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानम्, न पुनरेकान्तनित्यानित्यात्मादिविषयम्; तस्य[10] विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्ते[11]रित्यग्रे निवेदयिष्यते । अतो यदुक्तम्-'यथैधांसि' इत्यादि; तत्सर्वं संवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्याभ्युपगमात्सिद्धसाधनम् ।

यच्चाभ्यधायि-समाधिवलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावेऽङ्गनाद्युपभोगासम्भवात् । तत्सम्भवे वावश्यंभावी गृद्धिमतो[12] भवदभिप्रायेण योगिनोपि प्रचुरतरधर्माधर्मसम्भवो नृपत्यादेरिवातिभोगिनः । वैद्योपदेशादातुरो[13]प्यौषधाद्याचरणे नीरुग्भावाभिलाषेणैव प्रवर्त्तते, न पुनर्ज्ञानमात्रात् । तन्नाशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य, इत्यलं विवादेन[14], जीवन्मुक्ते[15]रपि त्रितयात्मकादेव हेतोः[16] सिद्धेः । संसारकारणं हि

१ किञ्च । २ तद्=ज्ञानम् । ३ पृथुबुध्नोदराद्याकाराभावे घटावस्थानप्रसङ्गात् । ४ तस्य कर्मफलस्य । ५ उत्पद्यमानस्य । ६ सम्यग्ज्ञानान्मिथ्याज्ञानाभावः, मिथ्याज्ञानाभावाद्रागाद्यभावः, रागाद्यभावाद्वाह्या (वचनादि) भ्यन्तर (चिन्तन) क्रियानिवृत्तिरिति । ७ सहितस्य । ८ अङ्गकम्पउद्धर्षणादेः । ९ असदीयमपि तत्त्वज्ञानं सञ्चितकर्मक्षयनिबन्धनमागामिकर्मानुत्पत्तिकारणं स्यादित्युक्ते आह । नित्यादिवस्तुविषयज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानता न प्रतीयते किन्तु इत्यादि । १० नित्यात्मादिविषयज्ञानस्य । ११ अनेकान्तसिद्धौ । १२ आकाङ्क्षावतः । १३ न केवलं योगी । १४ सम्यग्दर्शनादित्रयमोक्षकारणविषयविवादेन । १५ न केवलं परममुक्तेः । १६ कारणात् ।

मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकं न पुनर्मिथ्याज्ञानमात्रात्मकम्, तच्चैकस्मात्सम्यग्ज्ञानमात्रात्कथं व्यावर्त्तेत इत्युक्तं सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे।

यच्चान्यदुक्तम्–नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक् काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुः; तदिष्टमेवास्माकम्।

आनन्दरूपता तु मोक्षस्याभीष्टैव। एकान्तनित्यता तु तस्याः प्रतिषिध्यते। चिद्रूपतावदानन्दरूपताप्येकान्तनित्या; इत्यप्ययुक्तम्; चिद्रूपताया अप्येकान्तनित्यत्वासिद्धेः, सकलवस्तुस्वभावानां परिणामिनित्यत्वेनाग्रे[1] समर्थयिष्यमाणत्वात्।

अथानित्यत्वे तस्याः तत्संवेदनस्य चोत्पत्तिकारणं वक्तव्यम्; ननूक्तमेव प्रतिबन्धापायलक्षणं तत्कारणं सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे। आत्मैव हि प्रतिबन्धकापायोपेतो मोक्षावस्थायां तथाभूत[2]ज्ञानसुखादिकारणम्[3], घटाद्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत्[4] स्वपरप्रकाशकापर[5]प्रदीपक्षणोत्पत्तौ, तदुत्पादन[स्व]भावस्य[6]ान्या[7]पेक्षायोगात्। यद्धि[8] यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् यथान्त्या कारणसामग्री[9] स्वकार्योत्पादने[10], तदुत्पादनस्वभावश्चा[11]तीन्द्रियज्ञानसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मेति। संसारा[12]वस्थायामप्युपलभ्यते–वासी[13]चन्दनकल्पानां[14] सर्वत्र[15] समवृत्तीनां विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितानां[16] सेन्द्रियशरीरव्यापाराऽजन्यः परमाल्हादरूपोऽनुभवः। अस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरावस्थामासादयतः परम[17]काष्ठा गतिः सम्भाव्यत[18] एव।

आनन्दरूपताभिव्यक्तिश्चानाद्यऽविद्याविलयात्; इत्यभीष्टमेव; अष्टप्रकारपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपाऽनाद्यविद्याविलयाद् अनन्तसुखसंज्ञानादिस्वरूपप्रतिपत्ति[19]लक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात्।

विशुद्धज्ञानसन्तानोत्पत्तिलक्षणो[20]ऽप्यसौ मोक्षोऽभ्युपगम्यते। स तु चित्त[21]सन्तानः सान्वयो[22] युक्तः। बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः।

---

१ चतुर्थपरिच्छेदे। २ अतीन्द्रिय। ३ एव। ४ घटस्थप्रदीपवत्। ५ उत्तर। ६ आत्मनः। ७ इन्द्रियवनितादेः। ८ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा धर्मी अतीन्द्रियज्ञानसुखाद्युत्पत्तौ अन्यं नापेक्षते इति साध्यं, तदुत्पादनस्वभावत्वादिति शेषः। ९ अन्त्यतन्तुसंयोगः। १० पटलक्षणस्य। ११ स प्रसिद्ध उत्पादनस्वभावो यस्यात्मनः। १२ असिद्धत्वे हेतोरुद्भाविते परिहारमाह। १३ कुठार। १४ तुल्यानाम्। १५ शत्रुमित्रयोः। १६ आदिना दानम्। १७ भेदः। १८ निश्चीयते। १९ प्राप्ति। २० बौद्धविशेषैरभ्युपगतः। २१ ज्ञानस्य। २२ सद्रव्यः।

न च[2] निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः । तत्र ह्यन्यो[1] बद्धोऽन्यश्च मुच्यते ।

सन्तानैक्याद्बद्धस्यैव मुक्तिरपीति[3] चेत्; ननु यदि सन्तानार्थः[4] परमार्थसन्; तदात्मैव सन्तानशब्देनोक्तः स्यात् । अथ संवृतिसन्[5]; तदेकस्य[6] परमार्थसतोऽसत्त्वात् 'अन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते' इति मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् । अथात्यन्तनानात्वेपि[7] दृढतरैकत्वाध्यवसायाद् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः[8] प्रवृत्तेर्नायं दोषः; न तर्हि नैरात्म्यदर्शनम्[9], इति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः? अथास्ति तद्दर्शनं शास्त्रसंस्कारजम्; न तर्ह्येकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप[10] इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्? तथा[11] च—

"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि[12] मोक्तरि" [प्रमाणवा० २।१९२] इति ब्रुवते[13] । तस्मात्[14] सान्वया[15] चित्तसन्ततिरभ्युपगन्तव्या, सकलविज्ञानक्षणत्वेपि जीवाभावे बन्धमोक्षयोस्तदर्थं वा प्रवृत्तेरनुपपत्तेः । न चान्योन्यविलक्षणाऽपरापरचित्तक्षणानामनुयायिजीवाभावो[16] विरोधात्; इत्यभिधातव्यम्[17]; स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण[18] तत्रानुयायिरूपतया तस्य प्रतीतेः । प्रतीयमानस्य च कथं विरोधो नाम अनुपलम्भसाध्यत्वात्तस्य?

तद्व्यापारे चासति आत्मनि प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्य प्रादुर्भावो न स्यात् । अथात्मन्यप्यारोपितैकत्वविषयत्वादस्य[19][20][21] प्रादुर्भावः[22]; न; अस्यारोपितैकत्वविषयत्वे स्वात्मन्यनुमानात्क्षणिकत्वं[23][24] निश्चिन्वतो निवृत्तिप्रसङ्गात्[25], निश्चयारोपमनसोर्विरोधात्[26][27][28][29][30] । निवर्तत एवेति[31]

---

१ पूर्वक्षणः । २ उत्तरक्षणः । ३ अपिशब्दाद्बन्धोपि । ४ बौद्धानां मते पूर्वोत्तरक्षणानामेक आधारभूतः सन्तानः स अपरमार्थः सन्केवलः पूर्वक्षणः उत्तरक्षणः सन्तानी स तु परमार्थसन् । ५ कल्पनासन् । ६ आत्मनः । ७ क्षणानाम् । ८ अभिप्रायवतः । ९ निर्विकल्पकस्य । १० भावना । ११ बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्त्यभावे च । १२ नैरात्म्यभावनालक्षणः । १३ विनश्यति । १४ अन्वयाभावे बन्धो मोक्षो वा न घटते यतः । १५ सद्रव्या । १६ अन्यथा । १७ परेण । १८ पूर्वक्षणे अहमेव दुःखी उत्तरक्षणेऽहमेव सुखीति । १९ स्वस्मिन् । २० न केवलं बहिः । २१ संवृत्या । २२ चेदिति शेषः । २३ स्वरूपे । २४ यत्सत्तत्क्षणिकमित्यादि । २५ आरोपितैकत्वविषयस्य प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययस्य । २६ अनुमानेन । २७ सोऽहं प्रत्यभिज्ञानरूपो विकल्पः । २८ मनः=ज्ञानम् । २९ एकत्र । ३० अनुमानमनित्यत्वसाधने एकस्मिन्वस्तुनि प्रवृत्तं प्रत्यभिज्ञानं त्वेकत्वसाधने इति विरोधः । ३१ क्षणिकत्वनिश्चयसमये एकत्वविषयं प्रत्यभिज्ञानम् ।

चेत्; तर्हि सहज[1]स्याभिसंस्कारिक[2]स्य च सत्त्व[3]दर्शन[4]स्याभावात्तदैव[5] तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्। भ्रान्तत्वे चास्य प्रत्यक्षस्याशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गः[6], बाह्याध्यात्मिकभावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाशेषप्रत्यक्षाणां प्रवृत्तिप्रतीतेः। तथा च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविशेषणम्[7]असम्भाव्यमेव स्यात्। समर्थयिष्यते च प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्यानारोपितार्थग्राहकत्वमभ्रान्तत्वं च। तन्नैकत्वाभावः। अनुभूयमानस्यापि चै[8]कत्वस्यानेक[9]त्वेन विरोधे. ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणविरुद्धरूपत्रयाध्यासितज्ञानस्य, अर्थस्व[10]लक्षणस्य चैकदा स्वपरकार्य[11]कर्तृत्वा[12]कर्तृत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्य एकत्वविरोधः स्यात्।

यच्चान्यत्-रागादिमतो विज्ञानान्न तद्रहितस्यास्योत्पत्तिरित्याद्युक्तम्; तदप्यसाम्प्रतम्; रागादिरहितस्याखिलपदार्थविषयविज्ञानस्याशेषज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात्। न च बोधाद्बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति; इत्यप्ययुक्तम्; विलक्षण[13]कारणाद्विलक्षण[14]कार्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमे अचेतनाच्छरीरादेश्चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गाच्चार्वाकमतानुषङ्गः। प्रसाधित[15]श्च परलोकी प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चाभ्यधायि-सुषुप्तावस्थायां विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्; तदप्यभिधानमात्रम्; यतस्तदा विज्ञानसद्भा[16]वेपि अतिनिद्रयाभिभूतत्वान्न जाग्रदवस्थातोऽविशेषः, मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायां मदिराद्युत्पादितमद[17]वेदना[18]द्य[19]भिभूतविज्ञानवत्।

ननु कोयं मिद्धेनाभिभवः? ज्ञानस्य नाशश्चेत्; कथं तस्य सत्त्वम्[20]? तिरोभावश्चेत्; न; स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यसम्भवात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; मणिमन्त्रादिनाग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिबन्धे च समानत्वात्। न हि तत्रा[21]प्यग्न्यादेर्नाशः प्रतिबन्धः; प्रत्यक्षविरोधात्। नापि तिरोभावः; स्वपरप्रकाशस्वभावस्य स्फोटादिकार्यजननसमर्थस्य तिरोभावस्याप्यस-

---

१ ग्राम्यजनसम्बन्धिनः। २ पण्डितजनसम्बन्धिनः। ३ जीव। ४ प्रत्यभिज्ञानस्य। ५ क्षणिकत्वनिश्चयसमये एव। ६ सौगतस्य। ७ प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्यत्र सूत्रे। ८ किञ्च। ९ सुखदुःखनानालक्षणोपलम्भेन। १० नीलस्वलक्षणस्य। ११ उत्तरनीलादिक्षणस्य। १२ अर्थान्तरपीतादेः। १३ अचेतनादात्मनः। १४ ज्ञानलक्षणस्य। १५ दूरस्थितेन चार्वाकेणोक्तमस्मदीयमतमेवास्तु। तत्राह। १६ सुप्तावस्था ज्ञानवती आत्मनः अवस्थात्वान्मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थावत्। १७ मत्तता। १८ पीडा। १९ विषयपीडा। २० सुषुप्तावस्थायाम्। २१ मणिमन्त्रशरावादिना अग्निप्रदीपप्रतिबन्धे।

म्भवात्। प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्व[1]रूपसामर्थ्य[2]प्रतिबन्धाभ्युपगमोऽन्यत्रापि समानः। मिद्धादिसामग्रीविशेषवशाद्धि बाह्याध्यात्मिकार्थविचारविधुरं गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानसमानं सुषुप्तावस्थायां ज्ञानमास्ते।

न हि स्वपरप्रकाशस्वभावत्वमात्रेणैवास्य[2] तन्निरूपणसामर्थ्यम्; सर्वत्रा[3]नभिभूतस्यैवार्थस्य स्वकार्यकारित्वप्रतीतेः, अन्यथा[4] दहनादिस्वभावस्याग्नेः सदा[5] दाहकत्वप्रकाशकत्वप्रसङ्गः; गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्य वा तदर्थनिरूपकत्वानुषङ्गः। अथात्र मनोव्यासङ्गो[6][7]ऽस्मरणकारणम्; अन्यत्र मिद्धादिकमित्यविशेषः। अस्ति चात्र[8] स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्–'एतावत्कालं निरन्तरसुप्तोहमेतावत्कालं सान्तरम्[9]' इत्यनुस्मरणप्रतीतेः। न च स्वापलक्षणार्थाननुभवेपि सुप्तोत्थानानन्तरं 'गाढोहं तदा सुप्तः' इत्यनुस्मरणं घटते; तस्यानुभूतवस्तु[10]विषयत्वेनानुभवाविनाभावित्वात्, अन्यथा[11] घटाद्यर्थाननुभवेपि तत्रानुस्मरणसम्भवात्कुतस्तदनुभवोपि सिद्ध्येत्? न च मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि विज्ञानाभावाद् दृष्टान्तस्य साध्यविकलता; इत्याशङ्कनीयम्; तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तरकालं 'मया न किञ्चिदप्यनुभूतम्' इत्यनु[12]भवाभावप्रसङ्गात्, स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वात्। अतो येनानुभवेन सतात्मा निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः।

किञ्च, सुप्ताद्यवस्थायां विज्ञानाभावं स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो[13] वा? स एव चेत्; ततः[14] एव ज्ञानात्, तदभावाद्वा, ज्ञानान्तराद्वा? न तावत्तत एव; अस्यासत्त्वात्, 'तदेव नास्ति तत्र, तत एव चाभावगतिः' इत्यन्योन्यं विरोधात्। ज्ञानाभावात्तत्र तदभावपरिच्छित्तिः; इत्ययुक्तम्; परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मतयाऽभावे[15]ऽसम्भवात्, अन्यथा[16] ज्ञानस्यैव 'अभावः' इति नामकृतं स्यात्[17]।

अथ ज्ञानान्तरात्तत्र तदभावगतिः; किं तत्कालभाविनः, जाग्रत्प्रबोधकालभाविनो वा? प्रथमपक्षे कथं सुषुप्ताद्यवस्थायां सर्वथा ज्ञानाभावः? अथ जाग्रत्प्रबोधकाल[18]भाविज्ञानाभ्यामन्तराले ज्ञाना-

---

१ ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशरूपं तिरोहितमतिरोहितं चैतन्यम्। २ चैतन्यस्य। ३ देशे। ४ अभिभूतस्य स्वकार्यकारित्वं यदि स्यात्। ५ प्रतिबन्धसमयेपि। ६ कार्यान्तरे प्रवृत्तिः। ७ असावधानत्वं वा। ८ किञ्च। ९ सुप्तोहमिति शेषः। १० प्रत्यक्षेण। ११ अनुभवाविनाभावित्वं स्मरणस्य यदि न स्यात्। १२ स्मृति। १३ अन्यः। १४ सुषुप्तावस्थायां यस्य ज्ञानस्याभावस्तस्मादेव ज्ञानात्। १५ ज्ञानस्य। १६ ज्ञानाभावे परिच्छेदो यदि स्यात्। १७ ज्ञानमन्तरेण परिच्छेदानुपपत्तिर्यतः। १८ सन्ध्याकालप्रातःकालः, तत्र भावि।

भावोऽवसीयते; ननु तद्दशाभावविज्ञानयोः सुषुप्ताद्यवस्थाभावविज्ञानं नोपलब्धिलक्षणप्राप्तम्, तत्कथं ताभ्यां तदभावोऽवसीयेत[2]? अन्यथा[3]ऽदृष्टस्यापि परलोकादेरभावोऽध्यक्षत एव स्यात्। तथा च "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः" [ ] इत्याद्य[4]ऽसङ्गतम्।

नापि पार्श्वस्थोन्यस्तत्र तदभावं प्रतिपद्यते; कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धेर्विरुद्धविधेर्वा तदभावाविनाभाविनो लिङ्गस्यात्रानुपलब्धेः। न तत्र विज्ञानसद्भावेपि लिङ्गाभावः समान इत्यभिधातव्यम्; स्वात्मनि स्वसंविदितज्ञानाविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेस्तत्सद्भावावेदिनो लिङ्गस्यात्रोपलब्धेः, जाग्रद्दशायामप्यन्यचेतोवृत्तेस्तद्व्यतिरेकेणान्यतोऽप्रतीतेः।

ननु द्विविधोत्र[6] प्राणादिः चैतन्यप्रभवो जाग्रद्दशायाम्, प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति। तत्र[7] चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद्दशायां चैतन्यानुमानं युक्तम्, न पुनः प्राणादिर्प्राणादेः। न खलु गोपालघटादौ धूमप्रभवधूमादग्न्यनुमानं दृष्टम्, अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्; इत्यप्यसङ्गतम्; सुषुप्तेतरावस्थयोः प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीतेः। यथैव हि सुषुप्तः[10] प्राणिति[11] तथेत[12]रोपि, अन्यथा[13] 'किमयं सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात्[14]। यदि[15] चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्युः किन्तु प्राणादिप्रभवाः; तर्हि जाग्रतः परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशामेव[16] तेषां भावो न स्यात्। न ह्यग्नेर्जायमानो धूमः प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो[17] वा जायते धूमप्रभवो[18] वाग्नेरिति[19]। दृश्यन्ते च ते यादृशा एव सुषुप्तस्य तादृशा एवास्यापि। तन्नैते भिन्नकारणप्रभवाः। चैतन्येतर[20]प्रभवांश्च प्राणादीन् विवेचयन्वीतरागेतरप्रभवव्यापारादीनपि विवेचयतु। तथा च

"सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागवदिति वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्यः।" [ ] इति प्लवते।

---

१ तादृशि:। २ यथा घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तो भवति तदा पश्चादन्यत्र घटाभावोऽवसीयते। ३ अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य प्रत्यक्षाद्यभावः स्याद्यदि। ४ प्रतिषेधाच्च कस्यचिदितिपर्यन्तम्। ५ अन्यपुरुषैः। ६ आत्मावस्थायाम्। ७ उभयोर्मध्ये। ८ प्रभव। ९ पुरुषः। १० श्वासोच्छ्वासं गृह्णाति। ११ जीवति। १२ जाग्रत्। १३ उभयोः श्वासे विशेषश्चेत्। १४ यतः सादृश्ये एव सन्देहः। अस्ति च सन्देहः। १५ किञ्च। १६ सुषुप्तस्य यादृशः प्राणः। १७ घटादेः। १८ धूमः। १९ न जायते। २० प्राण।

धूमश्चाग्नेर्धूमाच्चोत्पद्यमानो यथा प्रतिपन्नस्तथा प्राणादिश्चैतन्यात्तदभावाच्चोत्पद्यमानः स्वात्मनि परत्र चानेन[1] प्रत्येतुं न शक्यते क्वचित्तदभावस्य निश्चेतुमशक्यत्वादित्युक्तम्। धूमे च 'किमयं धूमोऽग्नेः, धूमान्तराद्वा' इति सन्देहः प्रवृत्तस्याग्निदर्शनेतराभ्यां निवर्त्तते[2]। प्राणादौ तु 'किमयमनन्तरचैतन्यप्रभवः, किं वा भूतभाविजन्मान्तरचैतन्यप्रभवः[3]' इति सन्देहः कुतो निवर्त्तेत परचैतन्यस्य द्रष्टुमशक्यत्वात्? ततोऽस्य[4] न निश्शङ्कं परप्रतिपादनार्थं शास्त्रप्रणयनं युक्तम्। सन्देहात्तु तत्प्रणयनं चार्वाकस्याप्यविरुद्धम्, इत्ययुक्तमुक्तम्-"अन्यधियो गतेः" [　　　] इति।

सुषुप्तादौ चाद्यः[5] प्राणादिः कुतो जायताम्? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणोजाग्रत्प्राणादेरिति चेत्; न; एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानादनन्तरभावीप्राणादिः कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्या[6]सम्भाव्यमानत्वात्। न ह्येकस्मात्सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्यद्वयसम्भवो नाम, अन्यथा[7] नित्यादप्यक्रमात्[8]क्रमवत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तथाच "नाऽक्रमात्क्रमिणो भावाः" [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोधः। तस्मात्तत्काल[9]भाविन एव ज्ञानात् प्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्कथं तत्र[10] ज्ञानाभावसिद्धिः?

स्वापसुखसंवेदनं चात्र[11][12] सुप्रतीतम्-'सुखमहमस्वापम्' इत्युत्तरकालं तत्प्रतीत्यन्यथा[13]नुपपत्तेः। न ह्यननुभूते वस्तुनि स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चोपपद्यते। न च तदा[14] स्वापसुखनिरूपणाभावात्तत्संवेदनाभावः; तदहर्जातवालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्य[15]जनितसुखसंवेदनेन व्यभिचारात्। न खलु तत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते।

न च दुःखाभावात्सुखशब्दप्रयोगो[16]ऽत्र[17] गौणः[18]; अभावस्य[19] प्रतियोगिभावान्तर[20]स्वभावतया व्यवस्थितेः इत्यलमतिप्रसङ्गेन[21]।

यच्चोक्तम्-अनेकान्तज्ञानस्य वाधकसद्भावेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्न निःश्रेयससाधकत्वम्; तदप्युक्तिमात्रम्; तज्ज्ञानस्यैवावाधित-

---

१ सौगतेन। २ इतरदग्न्यदर्शनम्। ३ जाग्रद्दशायाम्। ४ तथागतस्य। ५ किञ्च। ६ मतस्य। ७ एकस्मात्कार्यद्वयसम्भवश्चेत्। ८ एकरूपात्। ९ स्वापदशा। १० सुषुप्तावस्थायाम्। ११ किञ्च। १२ सुषुप्तावस्थायाम्। १३ सुखसंवेदनं विना। १४ सुषुप्तावस्थायाम्। १५ दुग्ध। १६ दुःखाभावे सुखशब्दो न पारमार्थिकसुखस्य वाचक इति हेतोः। १७ सुखमहमस्वापमित्यस्मिन्वाक्ये। १८ औपचारिकः। १९ दुःखस्य। २० दुःखलक्षणाद्भावादपरं सुखलक्षणं भावान्तरम्। २१ स्वापावस्थायां ज्ञानसद्भावसाधनविस्तरेण।

तया सम्यक्त्वेन [1]वक्ष्यमाणत्वात्। नित्यानित्यत्वयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वाद[2]भिन्ने धर्मिण्यभावः; इत्याद्यप्ययुक्तम्; [3]प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येन रूपेण नित्यत्वविधिस्तेनैवानित्यत्वविधिः, येनैकत्र विरोधः स्यात्; अनुवृत्त-व्यावृत्ताकारतया नित्यानित्यत्वविधेरभ्युपगमात्[5]। विभिन्नधर्मनि[4]मित्तयोश्च विधिप्रतिषेधयोर्नैकत्र प्रतिषेधः अति[6]प्रसङ्गात्। न चानुवृत्तव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपतयाऽऽत्यन्तिको भेदः; पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येनावस्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याध्यात्मिका[7]र्थेषु प्रत्यक्षप्रतीतौ प्रतिभासनादित्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते।

स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं च वस्तुनोऽभ्युपगम्यत एवेतरेतराभावात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; इतरेतराभा[8]वस्य घटादभेदे तद्विनाशे पटो[9]त्पत्तिप्रसङ्गात् पटा[10]भावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद्भिन्नोऽसौ; तर्हि घटादीनामन्योन्यं भेदो न स्यात्। यथैव हि घटस्य घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा [11]पटादेरपि स्यात्। नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः कर्त्तुं शक्यः; भिन्नाभिन्नभेद[12]करणे तस्या[13]किञ्चित्करत्वप्रसङ्गात्। नापि भेदव्य[14]वहारः; स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकलभावानां प्रत्यक्षे प्रतिभासनादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेः। प्रतिक्षिप्तश्चेतरेतराभावः प्रागेवेति कृतं [15]प्रयासेन।

कार्यान्तरेषु चाऽकर्त्तृत्वं न प्रतिषिध्यते; इत्याद्यप्यसारम्; एकान्तपक्षे कार्यकारित्वस्यैवासम्भवात्।

यच्च मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते; तदिष्यते एव। अनेकान्तो हि द्वेधा–क्रमानेकान्तः, अक्रमानेकान्तश्च। तत्र क्रमानेकान्तापेक्षया य एव प्रागमुक्तः स एवेदानीं मुक्तः संसारी चेत्यविरोधः। अने[16]कान्तेऽनेकान्ताभ्युपगमोप्यदूष[17]णमेव; प्रमाण-

---

१ अनेकान्तसिद्धौ। २ एकस्मिन्। ३ नित्यानित्यात्मकतया। ४ वसः। ५ अन्यथा। ६ कर्तृत्वाकर्तृत्वधर्मयोरेकत्र धर्मिणि प्रतिषेधप्रसङ्गात्। ७ अनेकान्तसिद्धौ। ८ घटे पटाभावः पटे घटाभाव इतीतरेतराभावः। ९ कपालेषु। १० घटे। ११ घटाभावाद्भिन्नरूपत्वाद् घटरूपता। १२ वसः। १३ अभिन्नभेदकरणे पदार्थ एव कृतो भवेद्। भिन्नभेदकरणे पदार्थसाङ्कर्यम्। १४ अभावकृतः। १५ इतरेतराभावनिराकरणप्रयासेनालम्। १६ अनेकान्त एवेति योसावेकान्तः (सर्वथा) सोऽनेकान्ते प्रतिषिध्यते। केन? द्वितीयानेकान्तपदेन। कथम्? न विद्यते अनेकान्त एवेति एकान्तो यस्यानेकान्तस्य तस्याभ्युपगमः। १७ अनवस्थादिकम्।

परिच्छेद्यस्यानेकधर्माध्यासितवस्तु[1]स्वरूपानेकान्तस्य नयपरिच्छेद्यैकान्ताविनाभावित्वात्।

'आत्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमर्हति।

न च गुण[2]पुरुषा[3]न्तरविवेक[4]दर्शनं निःश्रेयससाधनं घटते; प्रकर्षपर्यन्ताव[5]स्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्।

अथ फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं तत्त्वज्ञानं परंनिःश्रेयसस्य साधनम्, तदनपेक्षं चाऽपरनिश्रेयसस्येत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्। तस्यौपक्रमिकत्वे कुतस्तदुपक्रमोऽन्यत्र[10] तपोतिशयात्, इति तत्त्वज्ञानं तपोतिशयसहायमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनिःश्रेयसकारणमित्यनि[11]च्छतोऽप्या[12]यातम्। तस्यानौपक्रमिकत्वे तु सदा सद्भावानुषङ्गः[13]।

यच्च स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्ष इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादिस्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादिस्वरूपं नात्मन इत्यसत्; तस्याचेतनत्वेनाकाशादिवत्तद्विरोधात्। ज्ञानादेरप्यचेतनत्वात् प्रधानस्वभ(भा)वत्वाविरोधश्चेत्; कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः? 'अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवत्' इत्यनुमानाच्चेत्; न; हेतोरनु[14]भवेनानेकान्तात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात्। न चोत्पत्ति[15]मत्त्वमसिद्धम्; परापेक्षत्वाद्बुद्ध्यादिवत्। परापेक्षोसौ बुद्ध्यध्यव[16]सायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितम[17]र्थं पुरुष[18]श्चेतयते[19]" [ ] इत्यभिधानात्।

कालात्ययापदिष्टश्चायं हेतुः; ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। चेतनसंसर्गात्तेषां चेतनत्वप्रसिद्धिः; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; शरीरादेरपि तत्प्रसिद्धिप्रसङ्गात् चेतनप्र(त्व)संसर्गाविशेषात्। शरीराद्यसम्भवी तेषां

---

१ यसः। कथम्? स चासावनेकान्तश्च तस्य। २ प्रकृतिसत्त्वादिगुणयोरभेदाद्गुण इत्युक्ते प्रकृतिर्ग्राह्या। ३ पुरुषविशेष। ४ भेदभावनाज्ञानम्। ५ विवेकदर्शनस्य। ६ असन्मते तु सम्यग्दर्शनादिकं परमप्रकर्षप्राप्तं शरीरेण सहावस्थायि न भवति अयोगिचरमसमये एव शरीराभावलक्षणे तत्सद्भावात्। ७ जीवन्मुक्तिः। ८ सकामनिर्जरा अकामनिर्जरा चेति। ९ भेद। १० वर्जने। ११ यौगस्य। १२ फलोपभोगश्चेति कृत्वा। १३ सदा मुक्तिप्रसङ्गः। १४ दर्शनेन। १५ अनुभवस्य। १६ अर्थप्रतिबिम्बन। १७ निश्चितम्। १८ आत्मा। १९ अनुभवति।

संसर्गविशेषोस्तीति चेत्; स कोन्यो ऽन्यत्र[1] कथञ्चित्तादात्म्यात्? तद्[2]दृष्टकृतकर्तृत्वा[3]देः शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादयः स्वसंवेद्यत्वादनुभववत्। स्वसंवेद्यास्ते पर[4]संवेदनान्य[5]थानुपपत्तेरिति स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितम्। तथा[6] चात्मस्वभावास्ते चेतनत्वादनुभववत्। सुखमप्यात्मस्वभाव एव मोक्षेऽभिव्यज्यमानत्वाद् ज्ञानवत्। अनात्मस्वभा[7]वत्वे तत्र तदभिव्यक्तिर्न स्याद्दुःखवत्।

तथा सुखात्मको मोक्षश्चेतनात्मकत्वे[8] सत्यखिलदुःखविवेका[9]त्मकत्वात् संहृतसकलविकल्पध्यानावस्थावत्। तथानन्तं तत् आत्मस्वभावत्वे[10] सत्यपेत[11]प्रतिबन्धत्वात् ज्ञानवदेव। अपेतप्रतिबन्धत्वं तु मोहनीयादेः प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽपायात्प्रसिद्धमेव। इति सिद्ध[12]मनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानं पुंसो मोक्ष इति।

[13]ननु पुंस एवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभलक्षणो मोक्ष इत्ययुक्तम्; स्त्रीणामप्यस्योपपत्तेः। तथाहि-अस्ति स्त्रीणां मोक्षोऽविकलकारणत्वात् पुरुषवत्; तदसत्; हेतोरसिद्धेः, तथाहि-मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्। यदि नाम तत्र तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमायातम्? कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावाभावे हि तयोः[14] कथमन्यस्या[15]भावेऽन्यस्या[16]भावोऽतिप्रसङ्गात्[17] इति चेत्; सत्यम्; अयं हि तावन्नियमो[18]स्ति-यद्भेदस्य[19] मोक्षहेतुपरमप्रकर्ष[20]स्तद्भेदस्य तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षो[21]प्यस्त्येव, यथा पुंवेदस्य[22]। न च चरमशरीरेण[23] व्यभिचारः; पुंवेदसामान्यापेक्षयोक्तेः।

---

१ विना। २ पुरुषादृष्टकृतः अन्यः संसर्गविशेषो ज्ञानादिभिरात्मनोऽस्तीत्युक्ते आह। ३ संसर्गस्य। ४ पटादिः परः। ५ ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वाभावे। ६ चेतनत्वसिद्धितया। ७ सुखस्य। ८ अखिलदुःखविवेकात्मकत्वादित्युक्ते घटेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं चेतनात्मकत्वे सतीत्युक्तम्। ९ चेतनात्मकत्वादित्युच्यमाने खण्ड्यमाननरेण व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमखिलदुःखविवेकात्मकत्वादित्युक्तम्। १० आत्मस्वभावत्वादित्युच्यमाने दुःखेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमपेतप्रतिबन्धत्वादित्युक्तम्। ११ अपेतप्रतिबन्धत्वादित्युच्यमाने प्रदीपेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमात्मस्वभावत्वे सतीत्युक्तम्। १२ लक्षणम्। १३ श्वेतपटः। १४ मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षतत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षयोः। १५ अकारणस्याव्यापकस्य वा। १६ अकार्यस्याव्यापकस्य वा। १७ घटाभावे त्रैलोक्याभावो भवेत्। १८ अविनाभावः। १९ पुंसि सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यप्रकर्षोस्ति मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षस्वात्। २० व्याप्यो हेतुः। २१ साध्यो व्यापकः। २२ इति पुंसि अनयोर्व्याप्यव्यापकभावः सिद्धः सन् स्त्रीषु व्यापकाभावे व्याप्याभावं साधयत्येवेति भावः। २३ आत्मना।

विपरीत[1]स्तु नियम[2]ो न सम्भवत्येव; नपुंसकवेदे तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षे सत्यप्यन्यस्यानभ्युपगमात् पुंस्यभ्युपगमाच्च, अनित्य[3]त्वस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वेतरत्ववत्। ततश्च[4] स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्षहेतुः परमप्रकर्षः स्यात्, तदा तदभ्युपगमादेवापरोप्यनिष्टोऽवश्यमापद्यते, अन्यथा[5] पुंस्यपि न स्यात्। सिद्धे च प्रतिबन्धद्वय[6]याभावेपि कृतिकोदयादिवदुक्त[7]प्रकर्षयोरविनाभावे स्त्रीणां तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्ष[8]प्रतिषेधेन मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो निषिध्यते।

न च 'नपुंसकस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षोऽस्ति तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षसद्भावात् पुंवत्। पुंसो वा नास्त्य[9]त एव नपुंसकवत्। तत्कारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षो वा नपुंसके नास्ति परमप्रकर्षत्वात् स्त्रीवदित्यप्यनिष्टापत्तिः उभयप्रसिद्धाद्धेतोरुभयप्रसिद्धस्य निषेधेनोभयो[10]स्तुल्य[11]त्वात्' इत्यभिधातव्यम्; उभयाभिप्रेतागमेन बाधनात्[12]। स्त्रीणां तु तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षं परा[13]भ्युपगतेनैव मोक्षहेतुपरमप्रकर्षेणापाद्य तत्प्रतिषेधेन तद्धेतुरेव प्रतिषिध्यत इत्यस्ति विशेषः[14]।

यद्वा[15] नोक्तानुमाने तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावाद्धेतोर्मोक्ष[16]हेतुपरमप्रकर्षः स्त्रीषु निषिध्यते, अपि तु परमप्रकर्षत्वाद् दृष्टान्ते दृष्टसाध्यव्याप्तिकात्[17]। न चात्र[18] केनचिद्व्यभिचारः; स्त्रीसम्बन्धिनः कस्यचित्परमप्रकर्षस्यासम्भवात्। मायापरमप्रकर्षोऽस्तीति चेत्; न; स्त्रीणां मायाबाहुल्य[19]मात्रस्यैवागमे प्रसिद्धेः। अन्यथा[20] पुंवत्सप्तमपृथिवीगमनानुषङ्गः। 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा[21] न दोषः[22]। तत्र ज्ञानादिपरमप्रकर्षो मोक्षहेतुस्तत्रास्तीत्य[23]-

---

१ मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो व्यापकः साध्यं तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षो व्याप्यो हेतुरिति। २ अविनाभावः। ३ शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वादित्यत्रानित्यत्वस्य व्याप्यरूपस्य हेतोर्यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वम्। ४ नियमः सिद्धो यतः। ५ मोक्षहेतुपरमप्रकर्षसद्भावेपि अपरोऽनिष्टो नोपपद्यते चेत्। ६ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणे द्वे। ७ मोक्षहेतुपरमप्रकर्षसप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षलक्षणयोः। ८ मोक्षहेतुपरमप्रकर्षः। ९ साध्यस्य। १० वादिप्रतिवादिनोः। ११ सितपटप्रसिद्धस्य स्त्रीनिर्वाणस्यास्माभिः प्रतिषेधादसत्प्रसिद्धस्य सितपटेन प्रतिषेधात् इति तुल्यत्वम्। १२ सितपटपक्षस्य। १३ परः सितपटः। १४ इति कथं तुल्यत्वमुभयोः?। १५ प्रागुक्तस्य परिहारान्तरे यद्वाशब्दः। १६ व्यापकाभावाद् व्याप्याभावं न कुर्म इत्यर्थः। १७ यो यः परमप्रकर्षः स स स्त्रीषु नास्तीति। १८ स्त्रीषु मोक्षप्रतिषेधे। १९ प्राचुर्यमात्रं न तु परमप्रकर्षः। २० मायापरमप्रकर्षः स्त्रीष्वस्ति यदि। २१ परमप्रकर्षत्वे। २२ व्यभिचारलक्षणः। २३ परमप्रकर्षत्वादित्यत्रानुमाने।

सिद्धो हेतुः[1]। न खलु ज्ञानादयो यथा पुरुषे प्रकृष्यमाणाः प्रमाणतः प्रतीयन्ते तथा स्त्रीष्वपि, [2]अन्यथा नपुंसके ते तथा स्युः, तथा[3] चास्याप्यपवर्गप्रसङ्गः।

संयमस्तु[4] तद्धेतुस्तत्रासम्भाव्य एव; तथाहि-स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथा[5]नुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धीनाम्[6]अप्यहेतुः तत्रासौ कथं निःशेषकर्मविप्रमोक्षलक्षणमोक्षहेतुः स्यात्? नियमेन च स्त्रीणामेव ऋद्धिविशेषहेतुः संयमो नेष्यते, न तु पुरुषाणाम्। यदि हि नियमेन लब्धिविशेषस्याजनकः संयमः क्वचिदन्यत्राविवादास्पदीभूते मोक्षहेतुः प्रसिद्ध्येत् तदा तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्राप्यसौ तथा प्रत्येतुं शक्येत, नान्यथा[7]तिप्रसङ्गात्[8]। संयममात्रं तु सदप्यासां न तद्धेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसंयमवत्।

सचेलसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसंयमवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; न हि स्त्रीणां निर्वस्त्रः[9] संयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। न च प्रवचनाभावेपि मोक्षसुखाकाङ्क्षया तासां वस्त्रत्यागो युक्तः; अर्हत्प्रणीतागमोल्लङ्घनेन मिथ्यात्वाराधनाप्राप्तेः। यदि पुनर्नृणामचेलोसौ तद्धेतुः स्त्रीणां तु सचेलः; तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेदः स्वर्गादिवत्[10]। देशसंयमिनश्चैवं[11] मुक्तिः प्रसज्यते। तथा च लिङ्ग[12]ग्रहणमनर्थकम्। सचेलसंयमश्च मुक्तिहेतुरिति कुतोऽवगतम्? स्वागमाच्चेत्; न; अस्यास्मान् प्रत्यागमाभासत्वाद् भवतो[13] यज्ञानुष्ठा[14]नागमवत्।

स्त्रियो न मोक्षहेतुसंयमवत्यः साधूनामवन्द्यत्वाद् गृहस्थवत्। न चात्रा[15]सिद्धो हेतुः;

"वरिस[16]सयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण[17]वंदण[18]णमंसण[19]विणएण सो पुज्जो॥" [ ]

इत्यभिधानात्।

वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्त्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत्। न चायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षेणावगतो हि वस्त्रग्रहणादिबाह्यपरिग्रहोऽभ्य-

---

१ अविकलकारणत्वादिति। २ स्त्रीषु ज्ञानादयः प्रकृष्यमाणाश्चेत्तर्हि। ३ स्त्रीणां मोक्षहेतुसंयमो विद्यते चेत्। ४ तु पुनः। ५ स्त्रीणां मोक्षहेतुसंयमो विद्यते चेत्तर्हि। ६ ऋद्धीनाम्। ७ दृष्टान्तत्वमन्तरेण। ८ गृहस्थस्यापि मोक्षः स्यात् स्वसंयमात्। ९ निर्वस्त्रसंयमः। १० अदृष्टलक्षणकारणभेदाद्यथा स्वर्गादेः प्रथमद्वितीयादिप्रकारेण भेदः। ११ सचेलसंयमवत्स्त्रीमुक्तिप्रकारेण। १२ निर्ग्रन्थतालक्षणम्। १३ सितपटस्य। १४ महेश्वराय। १५ अनुमाने। १६ वर्षशतदीक्षितायाः आर्यिकायाः अद्य दीक्षितः साधुः। अभिगमनवन्दननमस्कारेण विनयेन स पूज्यः। १७ सम्मुखगमन। १८ गुरुभक्तिपूर्वक। १९ नमस्कार।

न्तरं स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति । न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपघातनिवारणार्थं स्वशरीरानुरागाद्यभावेप्य-स्तावुपादीयते इत्यभिधेयम्; पुंसामाचेलक्यव्रतस्य हिंसात्वानुषङ्गात्। तथा चार्हदादयो मुक्तिभाजस्तदुपदेष्टारो वा न स्युः, किन्तु सवस्त्रा एव गृहस्था मुक्तिभाजो भवेयुः । न चाचेलक्यं नेष्यते

"आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहररायपिंडकिदिकम्म" [जीतकल्प-भा० गा० १९७२] इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् ।

किञ्च, गृहीतेपि वस्त्रे जन्तूपघातस्तदवस्थः, तेनानावृतपाणिपादादिप्रदेशोष्मणा तदुपघातस्य परिहर्त्तुमशक्तेः । वस्त्रस्य यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणत्वाच्च । तथाविधस्यापि स्वीकरणे मूर्द्धजानां लुञ्चनादिक्रिया न स्यात् । वस्त्राकुञ्चनादेर्जातवातेनाकाशप्रदेशावस्थितजन्तूपपीडनाच्च व्यजनादिवातवत् ।

किञ्च, एवमनेकप्राण्युपघातनिवारणार्थमविहारोप्यनुष्ठेयो वस्त्रग्रहणवदविशेषात् । प्रयत्नेन गच्छतो जन्तूपघातेप्यहिंसा निश्चलेपि समा । यथा च यज्ञानुष्ठानं पशुहिंसाङ्गत्वेनाऽश्रेयस्करत्वात् त्याज्यं तथा वस्त्रग्रहणमप्यविशेषात् ।

एतेन संयमोपकरणार्थं तदित्यपि निरस्तम् ।

किञ्च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः संयमः । स च याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमनःसंक्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात्? प्रत्युत संयमोपघातकमेव तत् स्याद्बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात् ।

ह्रीशीतार्तिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते ।
कामिन्यादि[12]स्तथा[13] किन्न[14] कामपीडादिशान्तये ? ॥ १ ॥
येन येन विना पीडा[15] पुंसां समुपजायते ।
तत्तत्सर्वमुपादेयं लावका[16]दिपलादि[17]कम् ॥ २ ॥

---

१ परेण । २ आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोक्षाकृतिकर्मव्रतरोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणं मासिकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः । ३ अनुप्रेक्षासंयमस्य । ४ यूकाद्यनेकजन्तुसम्मूर्छनाधिकरणत्वाविशेषात् एषां निवारणार्थम् । ५ प्रसारणाच्च । ६ व्यञ्जक । ७ जन्तूपघातपरिहारार्थं वस्त्रस्योपादानप्रकारेण । ८ अगमनम् । ९ वस्त्रस्य जन्तूपघातसमर्थनपरेण ग्रन्थेन । १० विशेषतः । ११ विरोधित्वात् । १२ ताम्बूलादिश्च । १३ वस्त्रग्रहणप्रकारेण । १४ गृह्यते । १५ यदि तर्हीति शेषः । १६ लावकः पक्षिविशेषः । पलं मांसम् । १७ उपादेयम् ।

वस्त्रखण्डे गृहीतेपि विरक्तो यदि तत्त्वतः ।
स्त्रीमात्रेपि तथा किन्न तुल्या[1]क्षेपसमाधितः ॥ ३ ॥
नापि तन्वीमनःक्षोभनिवृ[2]त्त्यर्थं तदाहृतम् ।
तद्वाञ्छाऽहेतुकत्वेन तन्निषेधस्य सम्भवात् ॥ ४ ॥
चक्षुरुत्पाटनं पट्टबन्धनं च प्रसज्यते ।
लोचना[3]देस्तदुत्पत्तौ निमित्तत्वाविशेषतः ॥ ५ ॥
चलच्चित्ताङ्गना काचित्संयतं च तपस्विनम् ।
यदीच्छति भ्रा[4]तृवत्किं दोषस्तस्य मतो नृणाम् ॥ ६ ॥
वीभत्सं मलिनं साधुं दृष्ट्वा शवशरीरवत् ।
अङ्गना नैव रज्यन्ते विरज्यन्ते तु तत्त्वतः ॥ ७ ॥
स्त्रीपरीषहभग्नैश्च बद्धरागैश्च विग्र[5]हे ।
वस्त्रमादीयते यस्मा[6]त्सिद्धं ग्र[7]न्थद्वयं त[8]तः ॥ ८ ॥

न चै[9]वं जन्तुरक्षागण्डा[10]दिप्रतीकारार्थं पिच्छौषधादौ गृह्यमाणेप्ययं दोषः समानः; त्रिचतुरपिच्छग्रहणस्य जन्तुरक्षार्थत्वात्, शरीरे ममेदं[11]भावाऽसूचकत्वाच्च, औषधस्यापि प्रतिपन्नसामर्थ्यस्य गण्डादेर्व्यावृत्तिहेतुत्वात् नाग्न्या[12]विरोधित्वाच्च, वस्त्रे तु विपर्ययात्[13], परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्ध्यर्थं पिच्छस्याप्यग्रहणाच्चौ[14]षधवत्[15] । पिण्डौषध्यादयो हि सिद्धान्तानुसारेणोद्गमादिदोषरहिता रत्नत्रयाराधनहेतवो गृह्यमाणा न कस्यापि मोक्ष[16]हेतोः हन्तारः । न हि तद्ग्रहणे रागादयोऽन्तरङ्गा वहिरङ्गा वा स्वभू[17]षा[18]विषाद[19]यो ग्रन्था जायन्ते, अतस्ते मोक्षहेतोरुपकर्त्तार एव । पिण्डग्रहणमन्तरेण ह्यपूर्णकालेपि विपत्तेरापत्तेरात्मघातित्वं स्यात्, न तु व[20]स्त्रे । षष्ठाष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डोपि त्यज्यते, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् ।

---

१ रागादिसद्भावे सत्येव स्त्रीपरिग्रह इत्याक्षेपो वस्त्रेपि समान इति समाधानम् । एवं यदि वस्त्रमात्रे गृहीते न रागस्तर्हि स्त्रीमात्रपरिग्रहेपि न रागः । २ स्वस्य । ३ श्रोत्रादेश्च । ४ यथा भ्रातृसमानत्वं वनितायाम् । कुत एतत्तस्य ? इच्छारहितत्वात्तस्य तपस्विनः । ५ शरीरे । ६ कारणात् । ७ वस्त्ररागलक्षणबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहः । ८ तत इत्ययं शब्दः श्लोकादौ द्रष्टव्यस्तेनायमर्थः वस्त्रस्वीकरणे अपरं प्रयोजनं नास्ति यतस्ततः । ९ वस्त्रप्रकारेण । १० गण्डो रोगविशेषः । ११ मूर्च्छा- । १२ नैर्ग्रन्थ्य- । १३ जन्तुरक्षार्थाभावान्ममेदम्भावसूचकत्वाद् गण्डाद्यन्यावृत्तिहेतुत्वाद् नाग्न्यविरोधित्वाच्च । १४ किञ्च । १५ औषधादेर्यथाऽग्रहणम् । १६ सम्यग्दर्शनादेः । १७ अलङ्कार- । १८ मण्डन- । १९ देशनैयत्येन वस्त्रपरिधानादिलक्षणो द्वेषः । २० अगृह्यमाणे आत्मघातित्वं स्यादिति शेषः ।

अथ वस्त्रादन्यस्याखिलस्य त्यागात्साकल्येनासां वाह्यं नैर्ग्रन्थ्यम्; तर्हि लोभादन्यकषायत्यागादेवावाह्यमपि स्यात् । न च गृहीतेपि वस्त्रे ममेदम्भावस्याभावात्तदवतिष्ठते; विरोधात्-'बुद्धिपूर्वकं हि हस्तेन पतितवस्त्रमादाय परिदधानोपि तन्मूर्च्छारहितः' इति कश्चेतनः श्रद्दधीत? तन्वीमाश्लिष्यतोपि तं[1]द्रहितत्वप्रसङ्गात् । ततो वस्त्रग्रहणे वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहप्राप्तेर्नैर्ग्रन्थ्यद्वयासम्भवान्न स्त्रीणां मोक्षः । स हि वाह्याभ्यन्तरकारणजन्यः कार्यत्वान्माषपाका[2]दिवत् । तच्च वाह्यमभ्यन्तरं च कारणमाकिञ्चन्यम्, तदभावे कथं स स्यात्? इति पै[3]रहेतोरसिद्धेर्नानुमानात् स्त्रीमुक्तिसिद्धिः ।

नाप्यागमात्; तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात् ।

"पुंवेदं वेदंतो[4] जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण[5] वि तहा झाणुव[6]जुत्ता य ते[7] दु सिज्झंति ॥"
[ ]

इत्यादेरप्यागमस्य स्त्रीमुक्तिप्रतिपादकत्वाभावः । स हि पुंवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवर्गा[8]वेदक उभयत्रापि 'पुरुषाः' इत्यभिसम्बन्धात् । उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

स्त्रीत्वान्यथानुपपत्तेश्चासां न मुक्तिः । आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवैः उत्कर्षेण द्वित्रैर्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्य मुक्तिरुक्ता । यदा चास्य सम्यग्दर्शनाराधकत्वम् तत्प्रभृति सर्वा[9]सु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न सम्भवतीति कथं स्त्रीमुक्तिसिद्धिः ।

ननु चानादिमिथ्यादृष्टिरपि जीवः पूर्वभवनिर्जीर्णाशुभकर्मा प्रथमतरमेव रत्नत्रयमाराध्य भरतपुत्रादिवन्मुक्तिमासादयत्यतः स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्यापि मुक्तिरविरुद्धेति; तदप्ययुक्तम्; पूर्वं निर्जीर्णाशुभकर्मणः स्त्रीवेदेनोत्पत्तेरसम्भवात्, तस्याप्यशुभकर्मत्वेन निर्जीर्णत्वात् । कथं पुनः स्त्रीवेदस्याशुभकर्मत्वमिति चेत्; सम्यग्दर्शनोपेतस्य तत्त्वेनोत्पत्तेरयोगात् ।

त[10]तो नास्ति स्त्रीणां मोक्षः पुरुषादन्यत्वात् नपुंसकवत् । [11]अन्यथाऽस्याप्यसौ स्यात् । न चैतद्वाच्यम्-नास्ति पुंसो मोक्षः स्त्रीतो-

---

१ तत्=रागादि । २ वाह्यमभ्यादिकमन्तरा शक्तिरेव यथा न हेतुः । ३ सितपटप्रयुक्तस्य अविकलकारणत्वादित्यस्य । ४ अनुभवन्तः । ५ नपुंसकस्त्रीवेदोदयेनापि । ६ ध्यानोपयुक्ताः । ७ पुरुषाः । ८ मुक्तिसद्भावे सति । ९ दिव्यस्त्र्यादिषु । १० अन्यथानुपपत्तिः सिद्धा यतः । ११ स्त्रीणां मोक्षश्चेत् ।

न्यत्वात् नपुंसकवत्; उभयवादिसम्मतागमेन बाधितत्वात्, [1]भवदागमस्य चास्मान्प्रति अप्रमाणत्वात्।

तथा स्त्रीणां मोक्षो नास्ति उत्कृष्टध्यानफलत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनवत्। अतोपि न तासां मुक्तिसिद्धिः। ततोऽनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणो मोक्षः पुरुषस्यैवेति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

[2]मुख्यं सांव्यवहारिकं च गदितं भानुप्रदीपोपमम्,
प्रत्यक्षं विशदस्वरूपनियतं साकल्यवैकल्यतः।
निर्बाधं नि[3]यतस्वहेतुजनितं मिथ्येत[4]रैः [5]कल्पितम्,
तल्लक्ष्मेति विचारचारुधिषणैश्चेतस्यलं चिन्त्यताम्॥ १॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः॥ २॥

---

१ पुरुषादन्यत्वादित्यनुमानं न वक्तव्यमसदागमेन बाधितत्वादिति सितपटेनोक्तं तं मत्वाह सूरिः। २ अनेन पद्येन परिच्छेदार्थमुपसंहरन्नाह। ३ सामग्रीविशेषेत्यादिकमिन्द्रियानिन्द्रियं च। ४ नैयायिकादिभिः। ५ कृतम्।

। श्रीः ।

॥ अथ तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ॥

अथेदानीं परोक्षप्रमाणस्वरूपनिरूपणाय—

परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

इत्याह । प्रतिपादितविशदस्वरूपविज्ञानाद्यदन्यदऽविशदस्वरूपं विज्ञानं तत्परोक्षम् । तथा च प्रयोगः—अविशदज्ञानात्मकं परोक्षं परोक्षत्वात् । यन्नाऽविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम् यथा मुख्येतरप्रत्यक्षम्, परोक्षं चेदं वक्ष्यमाणं विज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकमिति ।

तन्निमित्त[2]प्रकार[3]प्रकाशनाय प्रत्यक्षेत्याद्याह—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्य, स्मृत्यादयो भेदा यस्य तथोक्तम् ।

तत्र स्मृतेस्तावत्संस्कारेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥

संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा । तस्योद्बोधः[5] प्रबोधः[6] । स निबन्धनं यस्याः तदित्याकारो यस्याः सा तथोक्ता स्मृतिः ।

विनेयानां सुखाववोधार्थं दृष्टान्तद्वारेण तत्स्वरूपं निरूपयति—

यथा स देवदत्त इति ॥ ४ ॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने । स देवदत्त इति । एवंप्रकारं तच्छब्दपरामृष्टं यद्विज्ञानं तत्सर्वं स्मृतिरित्यवगन्तव्यम् । न चासावप्रमाणं

---

१ स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमविशेषाः स्वभाविनो धर्मिणः प्रसिद्धाः । तत्र परोक्षत्वं सामान्यरूपं वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धस्वभावः—तेन वस्तुनोऽनेकधर्मात्मकत्वात् । तत्र स्थितो द्वितीयोऽविशदज्ञानात्मकोऽप्रसिद्धः साध्यते इति विशेषं स्वभाविनं (स्वभावस्वभाविनोर्भेदात्) सामान्यस्वभावं ब्रुवतां दोषाभावात् । २ कारण । ३ भेद । ४ स्मृतिः प्रत्यक्षपूर्विका । प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षस्मरणपूर्वकम् । तर्कः प्रत्यक्षस्मरणप्रत्यभिज्ञानपूर्वकः । अनुमानं प्रत्यक्षस्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कपूर्वकम् । आगमस्तु श्रावणाध्यक्षसङ्केतस्मृतिपूर्वकः । ५ संस्कारस्य कारणमाद्यं देवदत्तदर्शनम् । उद्बोधस्य कारणं पाश्चात्यं तत्सदृशतत्कार्यादिदर्शनम् । ६ प्राकट्यम् ।

संवादकत्वात्। यत्संवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्।

न[1]नु कोयं स्मृतिशब्दवाच्योर्थः-ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम्? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिशब्दवाच्यत्वानुषङ्गः। तथा च कस्य दृष्टान्तता? न खलु तदेव तस्यैव दृष्टान्तो भवति। द्वितीयपक्षेऽपि देवदत्तानुभूतार्थे यज्ञदत्तादिज्ञानस्य स्मृतिरूपताप्रसङ्गः। अथ 'येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिः' इत्युच्यते ननु 'अनुभूते जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयताम्? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात्[2]। न चासती विषयीकर्त्तुं शक्या। न चाविषयीकृता 'त[3]त्रोपजायते' इत्यधिगतिः। न चानुभवकालेऽर्थस्यानुभूततास्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात्, त[4]था च 'अनुभूयमाने स्मृतिः' इति स्यात्। अथ 'अनुभूते स्मृतिः' इत्येतत्स्मृतिरेव प्रतिपद्यते; न; अनयाऽतीता[5]नुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्। तद्विषयीकरणे वा निखिलातीतविषयीकरणप्रसङ्गोऽविशे[6]षात्। यदि चानुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्; तदा स्मृ[7]तिरपि जानीयात् 'अहमनुभूते समुत्पन्ना' इति अनुभवानुसारित्वात्तस्याः। न चासौ प्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्मृतिशब्दवाच्यार्थस्य प्रागेव प्ररूपितत्वात्। 'तदित्याकारानुभूतार्थविषया हि प्रतीतिः स्मृतिः' इत्युच्यते।

ननु चोक्तमनुभूते स्मृतिरित्येतन्न स्मृतिप्रत्यक्षाभ्यां प्रतीयते; तदप्यपेशलम्; मतिज्ञानापेक्षेणात्मना अनुभूयमानो[9]ऽनुभूतार्थविषयतायाः स्मृतिप्रत्यक्षाकारयोश्चानुभवसम्भवात् चित्राकारप्रतीतिवत् चित्रज्ञानेन। यथा चाशक्यविवेचनत्वाद् युगपच्चित्राकारतैक[10]स्याविरुद्धा, तथा क्रमेणापि अवग्रहेहावायधारणास्मृत्या[10]दिचित्रस्वभा[11]वता। न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे तदैवार्थेऽनुभूततायाः अप्यनुभवोऽनुषज्यते; स्मृतिविशेष[12]णापेक्षत्वात्तत्र तत्प्रतीतेः, नीलाद्याकारविशेषणापेक्षया ज्ञाने चित्रप्रतिपत्तिवत्।

न चानुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्गृहीतग्राहित्वेनाऽप्रामाण्यम्; [प]रिच्छित्तिविशेषसम्भवात्। न[13] खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकार-

१ सौगतो वक्ति। २ अनुत्पन्नत्वेन। ३ अनुभूतेऽर्थे। ४ अनुभवकालेऽर्थस्यानुभूयमानत्वे च। ५ अनुभवश्चार्थश्च अनुभवार्थौ। अतीतौ च तावनुभवार्थौ च। ६ अतीतत्वस्य। ७ कर्त्री। ८ प्रत्यक्षस्मरणयोः। ९ विज्ञानस्य। १० आदिना प्रत्यभिज्ञानादि। ११ एकस्यात्मनोऽविरुद्धा। १२ उत्तरकालमात्मनः। १३ तमेव दर्शयति।

तया वस्तुप्रतिभासः तथैव स्मृतौ तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याऽप्रतीतेः। पुनः[1] पुनर्भावयतो[2] वैशद्यप्रतीतिस्तु भावनाज्ञानम्, तच्च तद्रूपतया भ्रान्तमेव स्वप्नादिज्ञानवत् । तथाप्यनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्याः प्रामाण्यानभ्युपगमे अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात् । असत्यतीतेर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्काले[3]ऽसत्त्वात्। तज्जन्मादेः[4] तत्रास्य प्रामाण्ये स्मरणेपि तदस्तु । निराकृतं चार्थजन्मादि ज्ञानस्य प्रागेवेति कृतं प्रयासेन[5]।

न चाविसंवादकत्वं स्मृतेरसिद्धम्; स्वयं स्थापितनिक्षेपादौ तद्गृहीतार्थे प्राप्तिप्रमाणान्तर[6]प्रवृत्तिलक्षणाविसंवादप्रतीतेः । यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत् । विसंवादकत्वे चास्याः कथमनुमानप्रवृत्तिः सम्बन्धस्यातोऽप्रसिद्धेः ? न च सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानमुदेत्यतिप्रसङ्गात्[7]।

किञ्च, सम्बन्धाभावात्[8]तस्याः विसंवादकत्वम्, कल्पितसम्बन्धविषयत्वाद्वा, सतोप्यस्याऽनया विषयीकर्त्तुमशक्यत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कुतोऽनुमानप्रवृत्तिः ? अन्यथा[9] यतः कुतश्चित्सम्बन्धरहितात्[10]यत्र क्वचिदनुमानं स्यात् । कल्पितसम्बन्धविषयत्वेनास्याः विसंवादित्वे दृश्य[11]प्राप्यैकत्वे प्राप्यविकल्प्यैकत्वे[12] च प्रत्यक्षानुमानयोरविसंवादो न स्यात् । तत्[13]सम्बन्धस्य कल्पितत्वे च अनुमानमप्येवंविधमेव स्यात्। तथा च कथमतोऽभीष्ट[14]तत्त्वसिद्धिः ? अथ सन्नपि सम्बन्धो[15]ऽनया विषयीकर्त्तुं न शक्यते, यत्तु विषयीक्रियते सामान्यं[16] तस्याऽसत्त्वात् स्मृतेर्विसंवादित्वम्; तदेतद्[17]अनुमानेपि समानम्। अध्यव[18]सितं[19]स्वलक्षणा[20]व्यभिचारित्वं स्मृतावपि[21]।

---

१ वैशद्यमेव नास्ति कुतः परिच्छित्तिविशेषः इत्यभिप्रायं वक्ति बौद्धः। २ अवग्राहादिभेदेनानुभवतो नरस्य। ३ क्षणिकत्वात्। ४ आदिना ताद्रूप्यम्। ५ अर्थजन्मादिनिराकरणप्रयासेन। ६ प्रत्यक्ष। ७ विस्मृतसम्बन्धस्यापि अनुमानोत्पत्तिप्रसङ्गात्। ८ दृष्टान्तसाध्यसाधनयोः। ९ सम्बन्धाभावे अनुमानप्रवृत्तिर्यदि स्यात्। १० अर्थाल्लिङ्गस्थानीयात्। ११ यदेव दृष्टं जलस्वलक्षणं तदेव प्राप्तमिति। १२ अनुमानलक्षणो विकल्पः। विकल्पस्य विषयो विकल्प्यो यो जलादिः। पूर्वं विकल्प्यः पश्चात्प्राप्य इति। कथम्? विवादापन्नो देशः प्रवृत्तस्य स्नानादिमान् जलत्वात्सम्प्रतिपन्नदेशवत्। इति यदेवानुमितं स्नानादिकं तदेव प्राप्तमिति। १३ स्मृतिगृह्यमाण। १४ सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति क्षणिकत्वसिद्धिः। १५ तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणः। १६ अन्यापोहः। १७ न्यायरूपमनुमानेन स्वलक्षणं विद्यमानं न विषयीक्रियते (यद्विषयीक्रियते) सामान्यं तद्विद्यमानं न भवतीति। १८ प्रत्यक्षेण। १९ यतः। २० स्वलक्षणं न व्यभिचरतीति न स्मृतेश्चेति। २१ समानम्।

किञ्च[1], लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुः, तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा? तत्राद्यविकल्पे नालिकेरद्वीपायातस्याप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात्। न चाविज्ञातः सम्बन्धोस्ति उपलम्भ[2]निबन्धनत्वात्सद्व्यवहारस्य, अन्यथा[3]तिप्रसङ्गात्[4]। तद्दर्शनमात्रेण तत्प्रवृत्तौ बालावस्थायां प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धदशायां[5] धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, न चैवम्। तत्स्मृतावस्त्येवेति[6] चेत्; कथं नासौ प्रमाणम्? को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात्? अनुमानस्यापि निराकरणानुषङ्गात्। न खलु कारणाभावे कार्योत्पत्ति[7]र्नामाऽतिप्रसङ्गात्[8]।

समारोप[9]व्यवच्छेदकत्वाच्चास्याः प्रामाण्यमनुमानवत्। न च स्मृतिविषयभूते सम्बन्धादौ समारोपस्यैवासम्भवात् कस्य व्यवच्छेद इत्यभिधातव्यम्; साधर्म्यदृष्टान्ता[10]भिधानानर्थक्यप्रसङ्गात्। तत्र स्मृतिहेतुभूतं हि तत्, अन्यथा[11] हेतुरेव केवलोभिधीयेत। ततस्तदभिधानान्यथानुपपत्तेस्तद्विषयभूते सम्बन्धादौ विस्मरणसंशयविपर्यासलक्षणः समारोपोस्तीत्यवगम्यते। तन्निराकरणाच्चास्याः प्रामाण्यमिति।

अथेदानीं प्रत्यभिज्ञानस्य कारणस्वरूपप्ररूपणार्थं दर्शनेत्याद्याह—

दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥५

दर्शनस्मरणे कारणं यस्य तत्तथोक्तम्। सङ्कलनं विवक्षितधर्म[12]युक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं[13] प्रत्यभिज्ञानम्। ननु[14] प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपत्वात् परोक्षरूपतयात्रा[15]भिधानमयुक्तम्; तथाहि—प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत्। न च स्मरणपूर्वकत्वात्तस्याः प्रत्यक्षत्वाभावः; सत्सम्प्रयोगज[16]त्वेन स्मरणपश्चाद्भावित्वेप्यस्याः प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। उक्तं च—

---

१ परपक्षप्रतिक्षेपं करोति सूरिः। २ ग्रहण। ३ अज्ञातस्यापि सत्त्वसिद्धिश्चेत्। ४ ईश्वरादेरपि सत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। ५ विस्मृतसम्बन्धस्य। ६ अनुमानप्रवृत्तिः। ७ मृत्पिण्डाभावे घटोत्पत्तिप्रसङ्गात्। ८ साध्यसाधनविषये। ९ समारोपाभावे इति शेषः। १० यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा जलधरः। ११ सम्बन्धस्मृतिहेतुभूतो दृष्टान्तो यदि न स्यात्। १२ एकत्वसादृश्यादिलक्षण। १३ पुनर्ग्रहणम्। १४ मीमांसकः। १५ परोक्षप्रमाणे। १६ सतो विद्यमानस्यार्थस्येन्द्रियेण सह संयोगः सन्निकर्षस्तस्माज्जातः सत्सम्प्रयोगजस्तस्य भावस्तत्त्वं तेन।

"न हि स्मरणतो [1]यत्प्राक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम् ।
वचनं राजकीयं वा लौकिकं वापि विद्यते ॥ १ ॥
न [2]चापि स्मरणात्पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ।
वार्यते केनचिन्नापि तत्त[3]दानीं [4]प्रदुष्यति ॥ २ ॥
[5]तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः ।
विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥ ३ ॥"
[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३४–२३७]

[6]अनेकदेशकालावस्थासमन्वितं [7]सामान्यं द्रव्या[8]दिकं च वस्त्वस्याः प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः । तदुक्तम्—

"गृहीतमपि गोत्वादि स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि ।
तथापि [9]व्यतिरेकेण [10]पूर्वबोधात्प्रतीयते ॥ १ ॥
[11]देश[12]कालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो [13]मितेः ।
यः पूर्वमवगतो[14]ऽंशः स न नाम प्रतीयते ॥ २ ॥
[15]इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ।"
[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३२–२३४]

तदप्यसमीचीनम्; प्रत्यभिज्ञानेऽक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धेः, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेप्यस्योत्पत्तिः स्यात् । पुनर्दर्शने [16]पूर्व[17]दर्शना[18]हित[19]संस्कार[20]प्रबोधोत्[21]पन्नस्[22]मृतिसहा[23]यमिन्द्रियं तज्जनयति; इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वाभावः स्यात् ।

देशकालेत्याद्यप्ययुक्तमुक्तम्; यतो देशादिभेदेनाप्यध्यक्षं चक्षुःसम्बद्धमेवार्थं प्रकाशयत्प्रतीयते । न च प्रत्यभिज्ञा तं प्रकाशयति पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्येकत्वविषयत्वात्तस्याः । [24]वर्त्तमानश्चायं चक्षुःसम्बद्धः प्रसिद्धः ।

---

१ ज्ञानम् । २ स्मरणानन्तरमिन्द्रियमर्थग्रहणाय न प्रवर्त्तते इत्युक्ते आह । ३ स्मरणोत्तरकालम् । ४ दुष्टं भवति । ५ राजकीयं लौकिकं वचनं न विद्यते येन । स्मरणादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनं वा केनचिद्वा न विचार्यते येन । इन्द्रियं वा दुष्टं न भवति येन कारणेन । ६ प्रत्यक्षस्मरणगृहीतग्राहित्वात्प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमप्रमाणं स्यादित्यारेकायामाह । ७ तिर्यक्सामान्यम् । ८ आदिना गुणः । ९ भेदेन । १० स्मरणप्रत्यक्षरूपात् । ११ कथं पूर्वबोधाद्भेदेन प्रतीयते इत्युक्ते आह । १२ अवस्थाभेदेन । १३ प्रत्यभिज्ञानलक्षणप्रत्यक्षप्रमाणस्य । १४ प्रत्यभिज्ञानलक्षणप्रत्यक्षस्य । १५ पूर्वादिपर्यायः । १६ आद्य । १७ यसः । १८ मासः । १९ यसः । २० तासः । २१ कासः । २२ यसः । २३ बसः । २४ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे उद्भाविते इदं वाक्यं परिहारः ।

यदप्युच्यते–स्मरतः[1] पूर्वदृष्टार्थानुसन्धा[2]नादुत्पद्यमाना मतिश्चक्षुःसम्बद्धत्वे[3] प्रत्यक्षमिति; तदप्यसारम्; न हीन्द्रियमतिः स्मृतिविषयपूर्वरूपग्राहिणी, तत्कथं सा तत्सन्धानमात्मसात्कुर्यात्? [4]पूर्वदृष्टसन्धानं हि तत्प्रतिभासनम्, तत्सम्भवे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रतिभासता न स्यात्। यदि च स्मृतिविषयस्वभावतया दृश्यमानोर्थः प्रत्यक्षप्रत्ययैरवगम्येत तर्हि स्मृतिविषयः पूर्वस्वभावो वर्त्तमानतया प्रतिभातीति विपरीतख्यातिः[5] सर्वं प्रत्यक्षं स्यात्[6]। अव्यवधानेन[7] प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावाच्च न प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन[8]।

तच्च[9] तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिप्रकारं प्रतिपत्तव्यम्। तदेवोक्त[10]प्रकारं प्रत्यभिज्ञानमुदाहरणद्वारेणाखिलजनावबोधार्थं स्पष्टयति—

यथा स एवायं देवदत्तः ॥ ६ ॥

गोसदृशो गवयः ॥ ७ ॥

गोविलक्षणो महिषः ॥ ८ ॥

इदमस्माद्दूरम् ॥ ९ ॥

वृक्षोयमित्यादि[11] ॥ १० ॥

ननु[12] स एवायमित्यादि प्रत्यभिज्ञानं नैकं विज्ञानम्–'सः' इत्युल्लेखस्य स्मरणत्वात् 'अयम्' इत्युल्लेखस्य चाध्यक्षत्वात्। न चाभ्यां व्यतिरिक्तं ज्ञानमस्ति यत्प्रत्यभिज्ञानशब्दाभिधेयं स्यात्। नाप्यनयोरैक्यं प्रत्यक्षानुमानयोरपि तत्प्रसङ्गात्। स्पष्टेतररूपतया तयोर्भेदेऽत्रापि सोऽस्तु; तदसाम्प्रतम्; स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्त्यैकद्रव्यविषयस्य सङ्कलनज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन सुप्रतीतत्वात्। न खलु स्मरणमेवातीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्तिद्रव्यं सङ्कलयितुमलं तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापि दर्शनम्;

---

१ पुरुषस्य। २ प्रतिभासात्। ३ तर्कस्य प्रत्यक्षतापरिहारार्थमाह। ४ इन्द्रियमतिः स्मृतिविषयरूपग्राहिणी न भवति इन्द्रियमतित्वादित्यस्मिन्ननुमाने सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे परिहारे इदं वाक्यम्। ५ दृश्यमानार्थाद्विपरीतस्मृतिविषयो विपरीतख्यातिः। ६ इत्यापद्यते। ७ पूर्वस्मरणमुत्तरदर्शनं च व्यवधायकं प्रत्यभिज्ञानस्य। ८ प्रत्यभिज्ञानभेदलक्षणप्रत्यक्षप्रमाणस्य निराकरणविस्तरेण। ९ प्रत्यभिज्ञानभेदं दर्शयति। १० प्रागुक्तलक्षणलक्षितमेव। ११ तेन सदृश इत्यादि च। १२ अत्राह सौगतः।

तस्य वर्तमानमात्रपर्यायविषयत्वात्। [1]तदुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानं तत्सङ्कलयतीति कल्पने तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्।

प्रत्यभिज्ञानानभ्युपगमे च 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्' इत्याद्यनुमानवैयर्थ्यम्। तद्ध्येकत्वप्रतीतिनिरासार्थम् न पुनः क्षणक्षयप्रसिद्ध्यर्थं तस्याध्यक्षसिद्धत्वेनाभ्युप[2]गमात्। समारोपनिषेधार्थं तत्; इत्यप्यपेशलम्; सोयमित्येकत्वप्रतीतिमन्तरेण समारोपस्याप्यसम्भवात्। तदभ्युपगमे च 'अयं सः इत्यध्यक्षस्मरणव्यतिरेकेण नापरमेकत्वज्ञानम्' [3]इत्यस्य विरोधः। न चाध्यक्षस्मरणे एव समारोपः; तेनानयोर्व्यवच्छेदेऽनुमानस्यानुत्पत्तिरेव स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्य। [4]कथं चास्याः प्रतिक्षेपेऽभ्यासेतरावस्थायां प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यप्रसिद्धिः? प्रत्यभिज्ञाया अभावे हि 'यद्दृष्टं यच्चानुमितं तदेव प्राप्तम्' इत्येकत्वाध्यवसायाभावेनानयोरविसं[5]वादासम्भवात्। तथा च "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्रमाणवा० २।१] इति [6]प्रमाणलक्षणप्रणयनमयुक्तम्। [7]अन्यद् दृष्टमनुमितं वा प्राप्तं [8]चान्यदित्येकत्वाध्यवसायाभावेप्यविसंवादे प्रामाण्ये चानयोरभ्युपगम्यमाने मरीचिकाचक्रे जलज्ञानस्यापि तत्प्रसङ्गः।

न [9]चैवंवादिनो नैरात्म्यभावनाभ्यासो युक्तः फलाभावात्। न चात्मदृष्टि[10]निर्वृत्तिः फलम्; [11]तस्या एवासम्भवात्। 'सोहम्' इत्यस्तीति चेत्; न; स्मरणप्रत्यक्षोल्लेखव्यतिरेकेण तदनभ्युपगमात्। तथा च कुतस्तन्निमित्ता रागादयो यतः संसारः स्यात्?

ननु पूर्वापरपर्याययोरेकत्वग्राहिणी प्रत्यभिज्ञा, तस्य चासम्भवात् कथमियमविसंवादिनी यतः प्रमाणं स्यात्? प्रत्यक्षेण हि [12]तद्यद्रूपयोः प्रतीतिः स्वकालनियतार्थविषयत्वात्तस्य; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सर्वथा [13]क्षणिकत्वस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। प्रत्यक्षेणाऽ[14]तद्यद्रूपतयार्थप्रतीतेश्चानुभवात् कथं विसंवादकत्वं तस्याः? ततः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा स्वगृहीतार्थाविसंवादित्वात् प्रत्यक्षादिवत्। नीलाद्यनेकाकाराक्रान्तं [15]चैकज्ञानमभ्युपगच्छतः 'स एवायम्' इत्याकारद्वयाक्रान्तैकज्ञाने को विद्वेषः?

---

१ तदुभयस्य कार्यः संस्कारः सौगताभिप्रायेण वा सता तेन जनितम्। २ प्रथममेव विशरारवः (क्षणक्षयिनः) परमाणवः प्रत्यक्षेण निश्चीयन्ते इति वचनात्। ३ ग्रन्थस्य। ४ किञ्च। ५ अर्थाव्यभिचारित्वमविसंवादः। ६ प्रमाणे अविसंवादित्वादिति प्रसिद्धहेतुभूतधर्मेण प्रामाण्यमप्रसिद्धधर्मः साध्यते इति प्रामाण्याविसंवादयोर्भेदः। ७ जलम्। ८ अन्यज्जलमित्यर्थः। ९ प्रत्यभिज्ञानाभावादित्येवंवादिनः। १० पश्चादात्मदर्शनाभावः। ११ कुतः। १२ नश्यद्रूपयोः। १३ चतुर्थपरिच्छेदे। १४ अन्वयरूपतया। १५ परस्परतादात्म्येन।

ननु स एवायमित्याकारद्वयं किं परस्परा[1]नुप्रवेशेन प्रतिभासते; अननुप्रवेशेन वा? प्रथमपक्षेऽन्यतरा[2]कारस्यैव प्रतिभासः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु परस्परवि[3]विक्तप्रतिभासद्वयप्रस[4]ङ्गः। अथ प्रतिभासद्वयमेका[5]धिकरणमित्यु[6]च्यते; न; एकाधिकरणत्वासिद्धेः। न खलु परोक्षापरोक्षरूपौ प्रतिभासावेकमधिकरणं बिभ्राते सर्व[7]संविदामेकाधिकरणत्वप्रसङ्गात्। इत्यप्यसारम्; तदाकारयोः कथ[8]ञ्चित्परस्परानुप्रवेशेनात्माधिकरणतयात्मन्येवानुभवात्। कथं चैवंवादिनश्चित्रज्ञानसिद्धिः? नीलादिप्रतिभासानां परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपतानुषङ्गात् कुतश्चित्रतैकनीलाकारज्ञानवत्? तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ताननीलादिप्रतिभासानामिवात्यन्तभेदसिद्धेर्नितरां चित्रताऽसम्भवः। एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितदोषाभावे प्रकृतेप्यसौ मा भूत्त[9]त एव।

अथोच्यते–'पूर्वमुत्तरं वा द[10]र्शनमेकत्वेऽप्रवृत्तं कथं स्मरणसहायमपि प्रत्यभिज्ञानमेक[11]त्वे जनयेत्? न खलु परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुर्गन्धे ज्ञानमुत्पादयति' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; तथा च तज्जनक[12]त्वस्यात्र प्रमाण[13]प्रतिपन्नत्वात्। न च प्रमाणप्रतिपन्नं वस्तुस्वरूपं व्यलीकविचारसहस्रेणाप्य[14]न्यथाकर्त्तुं शक्यं सहकारिणां चाचिन्त्यशक्तित्वात्। क[15]थमन्यथाऽसर्वज्ञज्ञानमभ्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत्? एकत्वविषयत्वं च दर्शनस्या[16]पि, अन्यथा[17] निर्विषयकत्वमेवास्य स्यादेकान्ताऽनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीतेः। केवलं तेनैकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतयार्थस्य प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षजनितप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणानुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेषः।

न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा; क्षणक्षयैकान्तस्यानुपलम्भात्। तदुपलम्भे हि सा निर्विषया स्यात् एकचन्द्रोपलम्भे द्विचन्द्रप्रतीतिवत्। लूनपुनर्जातनखकेशादौ च 'स एवायं नखकेशादिः' इत्येकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानं 'लूननखकेशादिसदृशोयं पुनर्जातनखकेशादिः' इति सादृश्यनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणं प्रसिद्धम्, न पुनः सादृश्यप्रत्यवमर्शि तत्रास्याऽबाध्यमानतया प्रमाणत्व-

१ उभयोर्मध्ये। २ एकज्ञानस्य। ३ भिन्न। ४ एकत्वहानिः स्यादिति दूषणम्। ५ एकज्ञान। ६ जैनैः। ७ देवदत्तयज्ञदत्तादि। ८ द्रव्यापेक्षया। ९ एकाधिकरणप्रतीतेः। १० प्रत्यक्षम्। ११ पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकत्वे। १२ दर्शनस्य। १३ प्रत्यक्ष। १४ अभावरूपत्वेन। १५ सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वं यदि न स्यात्। १६ न केवलं प्रत्यभिज्ञानस्य। १७ दर्शनमेकत्वविषयं यदि न स्यात्।

प्रसिद्धेः । न चैकत्रैकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यात्वदर्शना[1]त्सर्वत्रास्य मिथ्यात्वम्; प्रत्यक्षस्यापि सर्वत्र भ्रान्तत्वानुषङ्गान्न किञ्चि[2]त्कुत[3]श्चित्कस्य[4]चित्प्रसिद्ध्येत् । त[5]तो यथा शुक्ले शङ्खे पीताभासं प्रत्यक्षं तत्रैव शुक्लाभासप्रत्यक्षान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणम्, न पुनः पीते कनकादौ तथा प्रकृतमपीति ।

कथं च प्रत्यभि[6]ज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिः ? येनै[7]वं हि पूर्वधूमोऽग्ने[8]र्दृष्टस्तस्यैव पुनः पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यस्यान्य[9]दर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्' इति प्रतिपत्तिरस्ति; पूर्वप्रत्यक्षेणो[10]त्तरस्य तत्प्रत्यक्षेण च पूर्व[11]स्याग्रहणात्, द्वयप्रतिपत्तिनिवन्धनत्वादुभयसादृश्यप्रतिपत्तेः [12]सम्बन्धप्रतिपत्तिवत् । ततः प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमभ्युपगन्तव्या ।

तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात्, स्मरणानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमानत्वाद्वा स्यात्? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यमित्युक्तम् । तद्गृहीतातीतवर्त्तमानविवर्त्ततादात्म्येनावस्थितद्रव्यस्य [13]कथञ्चित्पूर्वार्थत्वेपि तद्विषयप्रत्यभिज्ञानस्य नाप्रामाण्यम्, लैङ्गि[14]कादेरप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः, सम्वन्धग्राहिवि[15]ज्ञानविषयसाध्या[16]दिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेय[17]स्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् कथञ्चित्पूर्वार्थत्वसिद्धेः । तन्न गृहीतग्राहित्वात्तत्राप्रामाण्यम् ।

नापि स्मरणानन्तरभावित्वात्; रूपस्मरणानन्तरं रससन्नि[18]पाते समुत्पन्नरसज्ञानस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् । तत्र हि रूपस्मृतेः पूर्वकालभावित्वात् समनन्तरकारणत्वं "बोधाद्बोधरूपता" [ ] इत्यभ्युपगमात् । न[19] चात्र बोधरूपतया समनन्तरकारणत्वमन्य[20]त्र स्मृतिरूपतयेत्यभिधातव्यम्; स्मृतिरूप-बोधरूपयोस्तादात्म्ये क्वचिद्बोधरूपतया तत्तस्य क्वचित्तु स्मृतिरूपतयेति व्यवस्थापयितुमशक्तेः । कथं चैवंवा[21]दिनोऽनुमानं प्रमाणम्? तद्धि लिङ्गलिङ्गि-

---

१ देवदत्तादावपि । २ किञ्चिद्वस्तु । ३ प्रमाणात् । ४ प्रतिपत्तुः । ५ अप्रसिध्येयतः । ६ एकत्वनिबन्धस्य सादृश्यनिबन्धनस्य च । ७ देवदत्तेन । ८ यज्ञदत्तस्य । ९ विपक्षलक्षणप्रस्तरदर्शनात् । १० वृद्धत्वादिपर्यायस्य । ११ युवादिपर्यायस्य । १२ संयोगादि । १३ द्रव्यापेक्षया । १४ आदिना शब्दस्य । १५ तर्क । १६ आदिना साधनम् । १७ अग्न्यादेः । १८ सान्निध्ये । १९ स्मृतिरूपता बोधरूपता चास्ति स्मरणज्ञानस्य । २० स्मृतौ । २१ स्मरणानन्तरभावित्वान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा इत्येवम् ।

सम्बन्धस्मरणानन्तरमेवोपजायते, अन्यथा साधर्म्यदृष्टान्तोपन्यासो व्यर्थः स्यात्।

शब्दाकारधारित्वं[1] च प्रागेव[2] प्रतिषिद्धम्।

बाध्यमानत्वं चासिद्धम्; न खलु प्रत्यक्षं तद्बाधकम्; तस्य तद्विषयप्रवृत्त्यऽसम्भवात्। यद्धि यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्र तस्य साधकं बाधकं वा यथा रूपज्ञानस्य रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञानस्य विषये प्रत्यक्षमिति। नाप्यनुमानं तद्बाधकम्; प्रत्यभिज्ञानविषये तस्याप्यप्रवृत्तेः, क्वचिद्[3]नुमेयमात्रे प्रवृत्तिप्रसिद्धेः। तस्य तद्विषये प्रवृत्तौ वा सर्वथा बाधकत्वविरोधः। ततः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा सकलबाधकरहितत्वात्प्रत्यक्षादिवत्।

एतेनैव[4] 'गोसदृशो गवयः' इत्यादि[5] सादृश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमावेदितं प्रतिपत्तव्यम्, तस्यापि स्वविषये बाधविधुरत्वस्य संवादकत्वस्य च प्रसिद्धेः।

ननु सादृश्यस्यार्थेभ्यो भिन्नाभिन्नादि[6]विकल्पैर्विचार्यमाणस्यायोगात्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधविधुरत्वमविसंवादकत्वं चासिद्धम्; इत्यप्यास्तां तावत्, प्रत्यक्षादि[8]प्रमाणविषयभूतत्वेनाबाधिततत्स्वरूपस्य सामान्यसिद्धिप्रक्रमे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च तस्मिन्नेव[9] स्वपुत्रादौ 'तादृशोयम्' इति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनं 'स एवायम्' इत्येकत्वनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमानमप्रमाणं प्रतिपाद्य स्वपुत्रादिना सदृशे पुरुषे 'तादृशोयम्' इत्यपि प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं प्रतिपादयितुं युक्तम्; तस्याबाध्यमानत्वेन प्रमाणत्वात्।

स्यान्मतम्-प्रत्यभिज्ञानमनुमानत्वेन प्रमाणमिष्यत एवं[10]; तथाहि-पूर्वोत्तरा[11]र्थक्षणयोरनर्थान्तरभूतं सादृश्यं तत्प्रत्यक्षाभ्यां प्रतीयत एव। यस्तु तथा प्रतिपद्यमानोपि सादृश्यव्यवहारं न करोति घटविविक्तभूतलप्रतिपत्तावपि घटाभावव्यवहारवत्[12], स 'प्रागुपलब्धार्थ[13]समानो[14]यं तत्सदृशाकारोपलम्भात्[15]' इत्युभय[16]-

---

१ ज्ञाने। २ शब्दाद्वैतनिराकरणे। ३ अग्न्यादौ। ४ एकत्वनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यसमर्थनग्रन्थेन। ५ देवदत्तेन सदृशो यज्ञदत्त इत्यादि च। ६ आदिना उभयग्रहणम्। ७ पुनः। ८ आदिनानुमानादि। ९ एकस्मिन्। १० बौद्धसिद्धान्तोयम्। ११ गोगवयलक्षणौ पूर्वोत्तरकालभाविप्रत्यक्षसम्बन्धित्वेन पूर्वोत्तरार्थक्षणौ। १२ यथा घटभावे व्यवहारं न करोति साङ्ख्यः इत्यर्थः। १३ पूर्वदृष्टेन यज्ञदत्तादिना। १४ दृश्यमानो देवदत्तादिः। १५ अयं दृश्यमानो गवयो गोसदृशः गोसदृशाकारत्वाद्गोगवयप्रत्यक्षत्वे सति सादृश्यव्यवहारात्। १६ व्यक्तिद्वयगत।

गतसदृशाकारदर्शनेन तथा व्यवहारं कार्यते, दृश्यानुपलम्भोपदर्शनेन घटाभावव्यवहार[1]वत्; तदप्यसङ्गतम्; 'प्राक्प्रतिपन्नधूमसदृशोयं धूमः' [2]इत्यादिलिङ्गप्रत्यभिज्ञाज्ञान[3]स्य लैङ्गि[4]कत्वे तल्लिङ्ग[5]प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यापि लैङ्गिकत्वमित्य[6]नवस्थाप्रसङ्गात्।

किञ्च, [7]अर्थे सादृश्यव्यवहारस्य सदृशाकारनिबन्धनत्वे सदृशाकारेपि कुतस्तद्व्यवहारसिद्धिः? अपरतद्गतसदृशधर्मदर्शनाच्चेत्; [8]अनवस्था। धर्मि[9]सादृश्यव्यवहारे चान्योन्याश्रयः। तन्नेयं सादृश्यप्रत्यभिज्ञा लिङ्गजाभ्युपगन्तव्या।

[10]ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनर्गवयदर्शना[11]द्ध्वि स्मरणे सति 'अनेन समानः सः' इत्येवमाकारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता। सादृश्यविशिष्टो हि [12]विशेषो विशेषविशिष्टं वा [13]सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्। उक्तं च—

"[14]तस्मा[15]द्यत्[16]स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा [17]तद[18]न्वितम् ॥ १ ॥
[19]प्रत्यक्षेणावबुद्धेपि [20]सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्ट[21]स्या[22]न्य[23]तः सिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३८] इति।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; एकत्वसादृश्यप्रतीत्योः सङ्कलना(न)ज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात्। 'स एवायम्' इति हि यथोत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेणैकताप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीति[24]रपि 'अनेन सदृशः' [25]इत्यविशेषात्। पूर्वोत्तर-

---

१ अत्र घटो नास्ति दृश्यत्वे सत्यनुपलब्धेरिति। २ इयं शिंशपा पूर्वदृष्टशिंशपासमाना इति च। ३ लिङ्गरूपस्य। ४ अनुमानरूपत्वे अङ्गीक्रियमाणे। ५ तद्गतधर्मस्य। ६ पर्वतधूमः पूर्वदृष्टधूमसदृशस्तत्सदृशाकारत्वात्सम्प्रतिपन्नधूमवत्। तत्सदृशाकारत्वेन समानं सदृशाकारत्वात् सम्प्रतिपन्नसदृशाकारवत्। ७ गोगवयलक्षणे। ८ गोगवयौ सदृशौ सदृशाकारत्वाद्देवदत्तयज्ञदत्तवत्। गोगवयाकारौ सदृशौ सादृशाकारत्वात् तद्वत्। द्वितीयौ आकारौ सादृशौ सदृशाकारत्वादित्यादि। ९ त्वादि। १० मीमांसकः। ११ पश्चात्। १२ गोलक्षणो धर्मी। १३ धर्मः। १४ दृश्यमानात्। १५ गवयात्। १६ स्मर्यमाणम्। १७ वस्तु। १८ स्मर्यमाणगवान्वितम्। १९ उपमानस्यैवेत्यत्र यः एवकारस्तस्य संवादं दर्शयति। २० गवयगते। २१ सादृश्यविशिष्टस्य गोस्तद्विशिष्टस्य वा सास्नादेः। २२ स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम्। २३ स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां सकाशादन्यदुपमानं ततः। २४ प्रत्यभिज्ञा। २५ सङ्कलनरूपतायाः।

प्रत्ययवेद्यैकत्वगोचरत्वात्तस्याः प्रत्यभिज्ञानत्वे सादृश्यप्रतीतावपि [1]तत्स्यात्। न हि तत्ताभ्यां न परिच्छिद्यते[2]—

"वस्तुत्वे सति [3]चास्यैवं सम्बद्धस्य च चक्षुषा।
[4]द्वयोरे[5]कत्र वा [6]दृष्टौ प्रत्यक्षत्वं न वार्यते ॥ १ ॥
[7]सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३४-३५]

इत्यस्य विरोधानुषङ्गात्। [8]यथा च पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्यां गवयगवादिविशिष्टमप्रतिपन्नं सादृश्यमनेन प्रतीयते तथा पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानेन।

यदि च 'एकत्वज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञा सादृश्यज्ञानं तूपमानम्' इत्यभ्युपगमः; तर्हि वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात्? यथैव हि गोदर्शनाहितसंस्कारस्य गवयदर्शिनः 'अनेन समानः सः' इति प्रतिपत्तिस्तथा महिष्यादिदर्शिनः 'अनेन विलक्षणः सः' इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति। सा च न प्रत्यभिज्ञोपमानयोरन्यतरा [11]तदेकत्वसादृश्याविषयत्वात्, अतः प्रमाणान्तरं[12] प्रमाणसंख्यानियमविघातकृद्भवेत्परस्य[13]।

ननु सादृश्याभावो वैलक्षण्यम्, तस्याभावप्रमाणविषयत्वान्न प्रमाणसंख्यानियमविघातः; तर्हि वैलक्षण्याभावः सादृश्यमिति स [14]एव दोषः। नन्वनेकस्य[15] समान[16]धर्मयोगः सादृश्यम्, तत्कथं वैलक्षण्याभावमात्रं[17] स्यादिति चेत्; तर्हि वैलक्षण्यमपि विसदृश[18]धर्मयोगः, तत्कथं सादृश्याभावमात्रं स्यादिति समानम्?

[19]एतेन '[20]गौरिव गवयः' इत्युपमानवाक्याहितसंस्कारस्य पुनर्वने गवयदर्शनात् 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इति संज्ञा[21]संज्ञि[22]सम्बन्धप्रति-

---

१ पूर्वोत्तरप्रत्ययवेद्यत्वाविशेषात्। २ अन्यथा। ३ उक्तप्रकारेण मीमांसकग्रन्थापेक्षया सादृशस्य वस्तुत्वं कथमिति प्रश्ने अवयवसामान्ययोगप्रकारेण वस्तुत्वम्। ४ गोगवयलक्षणयोर्विशेषयोः। ५ गवये वा। ६ प्रत्यक्षे सति। ७ एकत्र प्रत्यक्षत्वं कथं न वार्यते इत्युक्ते आह। ८ ग्रन्थस्य। ९ एतावता ग्रन्थेन एकत्वप्रतीतिवत्सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्यापि पूर्वोत्तरप्रत्ययवेद्यसादृश्यगोचरत्वमस्तीति समर्थितम्। १० अप्रतिपन्नं प्रतीयते। ११ प्रत्यभिज्ञानस्य उपमानस्य च। १२ वैलक्षण्यज्ञानं। १३ मीमांसकस्य। १४ वैलक्षण्याभावलक्षणसादृश्यस्याभावप्रमाणवेद्यत्वात् उपमानप्रमाणभावे सति। १५ गोगवयलक्षणार्थस्य। १६ गवय। १७ तुच्छाभावरूपम्। १८ अवयव। १९ मीमांसकं प्रत्युपमानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वसमर्थनपरेण ग्रन्थेन। २० उपमानस्य। २१ गवयशब्दस्य। २२ गवयपिण्डस्य।

पत्तिरुपमानमिति नैयायिकमतमपि प्रत्युक्तम्। यथैव ह्येकदा घटमुपल[1]ब्धवतः पुनस्तस्यैव दर्शने 'स एवायं घटः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा, तथा 'गोसदृशो गवयः' इति सङ्केतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रति[2]पद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते? न खलु पूर्वमप्रतिप[3]न्नेऽपूर्व[4]दर्शनात्स्मृतिर्युक्ता, यतस्तथा प्रतिपत्तिः स्यात्।

गोविलक्षणमहिष्यादिदर्शनाच्च 'अयं गवयो न भवति' इति [5]तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिषेधप्रतिपत्तिश्च यद्युपमानम्–"प्रसिद्ध[6]साधर्म्यात्[7]साध्यसा[8]धनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इति व्याहन्येत। अथ प्रसिद्धा[9]र्थवैध[10]र्म्यादपी[11]ष्यते; तर्हि 'प्रसिद्धा[12]र्थवैध[13]र्म्याच्च [14]साध्यसाधनमुपमानम्' इत्युप[15]ख्यानं [16]सूत्रे कर्त्तव्यम्।

किञ्च, प्रसिद्धा[17]र्थैकत्वात्[18]साध्यसाधनमुप[19]मानमित्यप्यभ्युपगम्यताम्। [20]तथा च प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षेन्तर्भावोऽयुक्तः।

तथा स्वसमीपवर्त्तिप्रासादादिदर्शनोपजनितसंस्कारस्य तत्प्रतियोगिभूधराद्युपलम्भात् 'इदमस्माद्दूरम्' इति प्रतिपत्तिः, आमलकदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत्सूक्ष्मम्' इति, [21]ह्रस्वदर्शनाविर्भूतसंस्कारस्य तद्विपरीतार्थोपलम्भात् 'अतोयं प्रांशुः' इति च प्रतिपत्तिः किं नाम [22]मानं स्यात्?

तथा वृक्षाद्यनभिज्ञो यदा कश्चित्कञ्चित्पृच्छति कीदृशो वृक्षादिरिति? स तं प्रत्याह–'शाखादिमान्वृक्ष एकशृङ्गो गण्डकोऽष्टपादः शरभः चारुसटान्वितः सिंहः' इत्यादि। [23]तद्वाक्याहितसंस्कारः प्रष्टा यदा शाखादिमतोर्थान् प्रतिपद्य 'अयं स वृक्षशब्दवाच्यः' इत्यादिरूपतया [24]तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते तदा किं नाम [25]तत्प्रमाणं स्यात्? उपमानम्; इत्यसम्भाव्यम्; सर्वत्रोक्तप्रकारप्रति[26]पत्तौ प्रसिद्धार्थसाधर्म्यासम्भवात्। ततः प्रति-

---

१ ज्ञानवतः। २ आटविकाद् ज्ञात्वा। ३ वाच्यवाचकसम्बन्धे। ४ गवय। ५ गोः। ६ ज्ञातार्थसम्बन्धसाधर्म्यात्। ७ गवयस्य। ८ साध्यस्य अयं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य। ९ गवा। १० महिषस्य। ११ साध्यसाधनमुपमानम्। १२ गोगवयलक्षणेन। १३ महिषस्य। १४ साध्यस्य अयं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य। १५ गणना। १६ तन्नास्त्येव भवदीये सूत्रे। १७ पूर्वपर्यायेण। १८ उत्तरपर्यायस्य। १९ स एवायमित्यादि। २० दूषणान्तरसमुच्चये। २१ कुब्ज। २२ प्रमाणम्। २३ पृच्छ्यमानपुरुषस्य। २४ ते च ते संज्ञासंज्ञिनश्च, वृक्ष इति संज्ञा, शाखादिमान् पदार्थः संज्ञी। २५ अयं वृक्षशब्दवाच्य इत्यादिकम्। २६ इदमस्माद्दूरमित्यादौ च।

नियतप्रमाणव्यवस्थामभ्युपगच्छता प्रतिपादित[2]प्रकारा प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञैवेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

अथेदानीमूहस्योपलम्भेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥

उपलम्भानुपलम्भौ साध्यसाधनयोर्यथाक्षयोपशमं [3]सकृत् पुनःपुनर्वा दृढतरं निश्चया[4]निश्चयौ न भूयोदर्शना[5]दर्शने । [6]तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमाननिश्चयानि[7]श्चयहेतुकसम्बन्धबोधस्यापि[8] सङ्ग्रहान्नाव्याप्तिः । [9]यथा 'अस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टसुखादिसद्भावान्यथानुपपत्तेः' इत्या[10]दौ, 'आदित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्या[11]दौ च । न खलु धर्मविशेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत्तुं शक्यः, नाप्यतोनुमानादन्यतः कुतश्चित्प्रमाणादादित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धः साध्यत्वाभिमतः, साधनं वा गतिमत्त्वं देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वानुमानादन्यत इति । तौ निमित्तं यस्य व्याप्तिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । व्याप्तिः साध्यसाधनयोरविनाभावः, तस्य ज्ञानमूहः ।

न च बालावस्थायां निश्चयानिश्चयाभ्यां प्रतिपन्नसाध्यसाधनस्वरूपस्य पुनर्वृद्धावस्थायां तद्विस्मृतौ तत्स्वरूपोपलम्भेप्यविनाभावप्रतिपत्ते[12]रभावात्तयोस्तदहेतुत्वम्; [13]स्मरणा[14]देरपि तद्धेतुत्वात् । भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मर्यमाणप्रत्यभिज्ञायमानौ तत्कारणमिति स्मरणादेरपि तन्निमित्तत्वप्रसिद्धिः । मूलकारणत्वेन तूपल[15]म्भादेरत्रो[16]पदेशः, स्मरणादेस्तु प्र[17]कृतत्वादेव तत्कारणत्वप्रसिद्धेरनुपदेश इत्यभिप्रायो गुरूणाम् ।

तच्च व्याप्तिज्ञानं तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां प्रवर्त्तत इत्युपदर्शयति–इदमस्मिन्नित्यादि ।

---

१ प्रसिद्धार्थेन पूर्वप्रतिपन्नेन प्रासादादिना शाखादिमान्वृक्ष इत्यादिवाक्येन । २ तत्सदृशं तद्विलक्षणमित्यादिरूपा । ३ एकवारम् । ४ अन्वैरनुपलम्भो भावान्तरोपलम्भोऽनिश्चयः । ५ प्रत्यक्षेण साध्यसाधनयोः । ६ उपलम्भानुपलम्भौ निश्चयानिश्चयौ येन कारणेन । ७ तौ हेतू यस्य सम्बन्धबोधस्य । ८ प्रत्यक्षपूर्वकनिश्चयानिश्चययोः सङ्ग्रहः अपिशब्दात् । ९ निश्चयानिश्चयहेतुकसम्बन्धबोधस्य सङ्ग्रहः क इत्युक्ते आह । १० अस्य प्राणिनोऽधर्मविशेषोस्ति दुःखादिसद्भावादित्यादौ च । ११ चन्द्रो गमनशक्तियुक्तो गतिमत्त्वादित्यादौ च । १२ केवलमुपलम्भानुपलम्भयोः । १३ साध्यसाधनयोः । १४ आदिना प्रत्यभिज्ञानम् । १५ अनुपलम्भस्य च । १६ सूत्रे । १७ प्रस्तुतत्वात् ।

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति ॥ १२ ॥

इदं[1] साधनत्वेनाभिप्रेतं वस्तु, अस्मिन्साध्यत्वेनाभिप्रेते वस्तुनि सत्येव सम्भवतीति तथोपपत्तिः। अन्यथा साध्यमन्तरेण न भवत्येवेत्यन्यथानुपपत्तिः। वाशब्द उभयप्रकारसूचकः।

तौ[2]वेवोभयप्रकारौ सुप्रसिद्धव्यक्तिनिष्ठतया सुखाववोधार्थं प्रदर्शयति-

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥१३॥

ननु चास्याऽप्रमाणत्वात्किं कारणस्वरूपनिरूपणप्रयासेन; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतोस्याप्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वात्, विसंवादित्वाद्वा स्यात्, प्रमा[3]णविष[4]यपरिशोधकत्वाद्वा? प्रथमपक्षे साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिः प्रत्यक्षात् प्रतीयते, अनुमानाद्वा? न तावत्प्रत्यक्षात्; तस्य सन्निहितमात्रगोचरतया देशादिविप्रकृष्टाशेषार्थालम्बनत्वानुपपत्तेः, तत्रास्य वैशद्यासम्भवाच्च। न खलु सत्त्वानित्य[5]त्वादयोऽग्निधूमादयो[6] वा सर्वे भावाः सन्निधानवत् प्रत्यक्षे विशदतया प्रतिभान्ति, प्रा[7]णिमात्रस्य सर्वज्ञतापत्तेरनुमानानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। अ[8]विचारकतया चाध्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽपि देशान्तरे कालान्तरे वाग्निजन्माऽन्यजन्मा वा न भवति' इत्येतावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थम्। पुरोव्यवस्थितार्थेषु प्रत्यक्षतो व्याप्तिं प्र[9]तिपद्यमानः सर्वोपसंहारेण प्रतिपद्यते; इत्यप्यसुन्दरम्; अवि[10]षये सर्वोपसंहारायोगात्।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावः, तथा[11] चानिश्चितप्रतिबन्धकत्वाद्देशान्तरादौ सा[12]धनं साध्यं न गमयेत्।

ननु कार्यं धूमो हुत[13]भुजः का[14]र्यधर्मानुवृत्तितो विशिष्टप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चितः, स देशान्तरादौ तदभावेपि भवंस्तत्कार्य-

---

१ उल्लेखोयम्। २ तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपौ। ३ अनुमान। ४ अनिर्णयरूपत्वात्तर्कस्याप्रामाण्यमित्यभिप्राये सत्याह। ५ क्षणिकत्व। ६ अन्यथेति शेषः। ७ निर्विकल्पकस्य परामर्शशून्यत्वात्। ८ न विद्यते विचारः यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्येति। ९ जनः। १० प्रत्यक्षस्य। ११ प्रत्यक्षतः सर्वोपसंहारे व्याप्तिग्रहणाभावे च। १२ कर्तृ। १३ अग्नेः। १४ कार्यस्य धर्मः कारणे सति भवनलक्षणस्तदभावे अभवनलक्षणः।

तामेवातिवर्त्तेत[1], इत्याकस्मिको[2]ऽग्निनिवृत्तौ न कंचिदपि[3] निवर्त्तेत, नाप्यवश्यंतया तत्सद्भावे एव स्यादिति[4], अहेतोः खरविषाणवत्तस्यासत्त्वात् क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारेण वोपलम्भः स्यात्। स्वभावश्च[5] 'तद्धेतोर्[6]थस्याभावेपि यदि स्यात्तदार्थस्य निःस्वभावत्वं स्वभावस्य वाऽसत्त्वं स्यात्, तत्स्वभावतया चास्य कदाचिदप्युपलम्भो न स्यात्। उक्तञ्च—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः।
सम्भवंस्तदभावेपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत्॥"
[प्रमाणवा० १।३५]

"स्वभावेप्यविनाभावो भावमात्रानुब[7]न्धिनि[8]।
तद[9]भावे स्वयं भा[10]वस्याभावः स्या[11]द्भेद[12]तः[13]॥"
[प्रमाणवा० १।४०] इति।

व्याप्तिप्रतिपत्तावपि तन्निश्चयकालोपलब्धेनैव व्यापकेन व्याप्यस्य व्याप्तिः स्यात् त[14]स्यैव त[15]था निश्चयात्, न ता[16]दृशस्य। ता[17]दृशस्यापि साध्यव्याप्तत्वग्रहणे तद्ग्राहिणो विकल्पस्या[18]गृहीतग्राहित्वं कथं न स्यात्? यत्तु प्रत्यक्षेण क्वचित्[19]प्रदेशे साध्यव्याप्तत्वेन प्रतिप[20]न्नं ततस्तस्या[21]नुमाने विशेषतो दृ[22]ष्टानुमानं स्यात्, अन्यदेशादिस्थसाध्येनास्याव्याप्तेः।

पारिशेष्यात्[23]तादृशेन व्यापकेनान्य[24]त्र तादृशस्य व्याप्तिसिद्धिश्चेत्, ननु किमिदं पारिशेष्यम्-प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षम्; देशान्तरस्थस्यानुमेयस्य प्रत्यक्षेणाप्रतिपत्तेः, अन्यथानुमानानर्थक्यानुषङ्गः। नाप्यनु[25]मानम्; तत्राप्यनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, तेनैव तत्प्रतिपत्तावन्योन्याश्रयः।

---

१ अतिक्रमेत्। २ अकारणकः। ३ भूधरप्रदेशे। ४ सत्त्वलक्षणहेतुर्व्याप्यः। ५ स्वलक्षणो हेतुर्व्याप्यः। ६ अनित्यत्वलक्षणस्य साध्यस्य व्यापकस्य। ७ अनुयायिनि। ८ इति स्थितिः। ९ स्वभावस्य भावस्य वा। १० स्वभावस्य अर्थस्य वा। ११ साध्यसाधनयोः। १२ स्वातन्त्र्येणानवस्थानाभावात्स्वभावस्य। १३ अविशेषादित्यर्थः। १४ व्याप्तिनिश्चयकालोपलब्धस्य व्याप्यस्य साधनस्य। १५ साध्येन व्याप्तत्वप्रकारेण। १६ पूर्वदृष्टधूमसदृशस्य धूमस्य न तथा निश्चयः। १७ पूर्वदृष्टसदृशस्यापि धूमस्य। १८ सादृश्यमगृहीतम्। १९ महानसे। २० साधनम्। २१ साध्यस्य। २२ विशेषतः खदिरादिरूपतया दृष्टस्य महानसादौ यादृशाग्निः प्रतिपन्नस्तस्य भूधरादौ अनुमानस्य। २३ महानसस्थाग्निसदृशेन। २४ भूधरनितम्बादौ २५ अयं धूमोऽग्निना व्याप्तो धूमत्वान्महानसधूमवदिति।

एतेन[1] साध्यसाधनयोः साकल्येनानुमानाद्व्याप्तिप्रतिपत्ते[2]स्तर्कस्याप्रामाण्यमिति प्रत्युक्तम् । तन्न प्रत्यक्षानुमानयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् ।

अथास्मदादिप्रत्यक्षस्य व्याप्तिप्रतिपत्तावसामर्थ्येऽपि योगिप्रत्यक्षस्य तत् स्यात्; इत्यप्यसत्; तस्याप्यविचारक[3]तया तावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थत्वाविशेषात् । कुतश्चास्योत्पत्तिः-विकल्पमात्राभ्यासात्, अनुमानाभ्यासाद्वा? प्रथमपक्षे कामशोकादिज्ञानवत्तस्याप्रामाण्यप्र[4]सङ्गः । द्वितीयपक्षेऽप्यन्योन्याश्रयः-व्याप्तिविषये हि योगिप्रत्य[5]क्षे सत्यनुमानम्, तस्मिंश्च सति तदभ्यासाद्योगिप्रत्यक्षमिति । अस्तु वा योगिप्रत्यक्षम्; तथापि-तत्प्रतिपन्नार्थेष्वनुमानवैयर्थ्यम् । साध्यसाधनविशेषेषु स्पष्टं प्रतिभातेष्वपि अनुमाने सर्व[6]त्रानुमानानुषङ्गात् स्वरूपस्याप्यध्यक्षतोऽप्रसिद्धिः ।

परार्थं तस्यानुमानमिति चेत्; तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? गृहीतव्याप्तिकं चेत्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्तिः? न तावत्स्वसंवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानैः; तेषां तदविषयत्वात् । योगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानवैयर्थ्यमित्युक्तम् । अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिरतिप्रसङ्गा[7]त् ।

मानसप्रत्यक्षाद्व्याप्तिप्रतिपत्तिरि[8]त्यन्ये; तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवत्वाभ्युपगमा[9]त् । अ[10]णुस्वभावमनसो युगपदशेषार्थैस्तत्सम्बन्धस्य च प्रागेव प्रतिविहितत्वात् कथं तत्प्रत्ययेनापि व्याप्तिप्रतिपत्तिः?

ननु साध्यसाधन[11]धर्मयोः क्वचिद्व्यक्तिविशेषे प्रत्यक्षत एव सम्बन्धप्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; साकल्येन तत्प्रतिपत्त्यभावानुषङ्गात् । साध्यं च किमग्नि[12]सामान्यम्, अग्निविशे[13]षः, अग्निसामान्यविशेषो वा? न तावदग्निसामान्यम्; त[14]दनुमाने सिद्ध[15]साध्यता[16]पत्तेः, विशेष[17]तोऽसिद्धेश्च[18]? नाप्यग्निविशेषः; तस्यानन्वयात् ।

---

१ अनुमानेन व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयत्वनिरूपणपरेण ग्रन्थेन । २ तद्ग्राहित्वादस्याप्रामाण्यमित्यत्रासौ यो विकल्पः । ३ निर्विकल्पकत्वेन । ४ विकल्पस्याप्रमाणत्वेनाऽङ्गीकरणात् । ५ उत्पन्ने । ६ स्वस्वरूपादौ । ७ भूभवनवार्द्धितोत्थितमपि नरं प्रतिपादयेत् । ८ यौगाः । ९ तैरेव । १० अणुपरिमाणं मनः । ११ ते एव धर्मौ । १२ अग्नित्वसामान्यम् । १३ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र खदिराग्निरिति । १४ अग्नित्वस्य । १५ साधनवैयर्थ्यमिति भावः । १६ तत्राविवादाद्व्याप्तिग्रहणकाले एवास्य प्रसिद्धेः । कथमन्यथा साध्यसाधनयोर्व्याप्तिनिर्णीतिः स्यात्? । १७ देशादिना । १८ अग्नित्वस्य ।

अग्निसामान्यविशेषस्य साध्यत्वे तेन धूमस्य सम्बन्धः कथं सकलदेशकालव्याप्त्याध्यक्षतः सिद्ध्येत्? तथा तत्सम्बन्धासिद्धौ च यत्र यत्र यदा यदा धूमोपलम्भस्तत्र तत्र तदा तदाग्निसामान्यविशेषविषयमनुमानं नोदयमासादयेत्। न ह्य[1]न्यथा सम्बन्धग्रहणमन्य[2]थानुमानोत्थानं नाम, अतिप्र[3]सङ्गात्। ततः सर्वाक्षेपेण[4] व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणयितव्यः।

ननु 'यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवति' इत्यूहा[5]पो[6]हविकल्पज्ञानस्य सम्बन्धग्राहिप्रत्यक्षफलत्वान्न प्रामाण्यम्; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रत्यक्षस्य स[7]म्बन्धग्राहित्वप्रतिषेधात्। तत्फलत्वेन चास्याऽप्रामाण्ये विशेषणज्ञान[8]फलत्वाद्विशेष्य[9]ज्ञानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः। हानोपादानोपेक्षाबुद्धिफलत्वात्तस्य प्रामाण्ये च ऊहापोहज्ञानस्यापि प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषा[10]भावात्। तन्नास्य[11] गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम्।

नापि विसंवादित्वात्; स्वविषयेऽस्य संवादप्रसिद्धेः। सा[12]ध्यसाधनयोरविनाभावो हि तर्कस्य विषयः, तत्र चाविसंवादकत्वं सुप्रसिद्धमेव। कथमन्य[13]थानुमानस्याविसंवादकत्वम्? न खलु तर्कस्यानुमाननिबन्धनसम्ब[14]न्धे संवादाभावेऽनुमानस्यासौ घटते।

ननु चास्य निश्चितः संवादो नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वात्; तदसत्; तर्कस्य संवादसन्देहे हि कथं निस्सन्देहानुमानोत्थानम्? तदभावे च कथं सामस्त्येन प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यव्यवच्छेदेन प्रा[15]माण्यप्रसिद्धिः? त[16]तो निस्सन्देहमनुमानमिच्छता साध्यसाधनसम्बन्धग्राहि प्र[17]माणमसन्दिग्धमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्य प्रामाण्यमनुमानवत्।

प्रमाण[18]विषयपरिशोधकत्वान्नोहः[19] प्रमाणम्; इत्यपि वार्त्तम्; प्रमाणविषयस्याप्रमाणेन परिशोधनविरोधात् मिथ्याज्ञानवत्प्रमेयार्थवच्च। प्रयोगः-प्रमाणं तर्कः प्रमाणविषयपरिशोधकत्वादनुमाना[20]दिवत्। यस्तु न प्रमाणं स न प्रमाणविषयपरिशोधकः

१ अग्निसामान्यविशेषेण। २ देशान्तरकालान्तरसम्बन्धित्वेन। ३ अग्न्यविनाभूतधूमाज्जलानुमानोत्पत्तिप्रसङ्गात्। ४ स्वीकारेण। ५ अन्वय। ६ व्यतिरेक। ७ साकल्येन। ८ दण्डज्ञान। ९ दण्डि। १० अनुमानलक्षणफलसद्भावात्। ११ तर्कस्य। १२ साकल्येन। १३ तर्कस्य अविसंवादकत्वं सुप्रसिद्धं यदि न स्यात्। १४ विषये। १५ प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादकत्वादिति। १६ तर्कस्य संवादसन्देहे निस्सन्देहानुमानोत्थानं न स्याद्यतः। १७ तर्कः। ८ अनुमान। ९ तर्कः। २० दूरस्थितस्यार्थस्य प्रत्यक्षविषयस्य यथानुमानं परिशोधकम्।

यथा मिथ्याज्ञानं प्रमेयो वार्थः, प्रमाणविषयपरिशोधकश्चायम्, तस्मात्प्रमाणम् ।

तथा, प्रमाणं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकत्वात्, यत्प्रमाणानामनुग्राहकं तत्प्रमाणम् यथा प्रवचनानुग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानं वा, प्रमाणानामनुग्राहकश्चायमिति । न चायमसिद्धो हेतुः; प्रमाणानुग्रहो हि प्रथम[1]प्रमाणप्रतिपन्नार्थस्य[2] प्रमाणान्तरेण[3] तथैवावसायः, प्रतिपत्तिदार्ढ्यविधानात् । स चात्रास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणेनावगतस्य देशतः[4] साध्यसाधनसम्बन्धस्य दृढतरमनेनावगमात्[5] । ततः साध्यसाधनयोरविनाभावाववोधनिबन्धनमूहज्ञानं परीक्षादक्षैः प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम् ।

न[6] चोहः सम्बन्धज्ञानजन्मा यतोऽपरापरोहानुसरणादनवस्था स्यात्; प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात्तस्य । स्वयोग्यता[7]विशेषवशाच्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं प्रत्यक्षवत् । प्रत्यक्षे हि प्रतिनियतार्थपरिच्छेदो योग्यतात एव न पुनस्तदुत्पत्त्यादेः, ततस्तत्परिच्छेदकत्वस्य प्राक्प्रतिषिद्धत्वात् । योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येवास्य स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषः प्रतिपत्तव्यः ।

ननु यथा तर्कस्य स्वविषये सम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा प्रवृत्तिस्तथानुमानस्याप्यस्तु सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशमस्य स्वार्थप्रकाशनहेतोरविशेषात्, तथा चानर्थकं सम्बन्धग्रहणार्थं तर्कपरिकल्पनम्; तदप्यसमीचीनम्; यतोऽनुमानस्याभ्युपगम्यत एव स्वयोग्यताग्रहणनिरपेक्षमनुमेयार्थप्रकाशनम्, उत्पत्तिस्तु लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा नास्ति, अगृहीततत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुः क्वचित्कदाचित्तदुत्पत्त्यप्रतीतेः । न च प्रत्यक्षस्याप्यु[10]त्पत्तिः करणा[11]र्थ[12]सम्बन्धग्रहणापेक्षा प्रतिपन्ना; स्वयमगृहीततत्सम्बन्धस्यापि प्रतिपत्तुस्तदुत्पत्तिप्रतीतेः । तद्वदूहस्यापि स्वार्थ[13]सम्बन्धग्रहणानपेक्षस्योत्पत्तिप्रतिपत्तेर्नोत्पत्तौ सम्बन्धग्रहणापेक्षा युक्तिमतीत्यनवद्यम्[14] ।

अथेदानीमनुमानलक्षणं[15] व्याख्यातुकामः साधनादित्याद्याह—

---

१ प्रत्यक्ष । २ दूरस्थजललक्षणस्य । ३ द्वितीयप्रत्यक्षेण । ४ एकदेशतः । ५ निश्चयात् । ६ यथानुमानं साध्यसाधनसम्बन्धग्राहितर्कपूर्वकमूहोपि तथा स्यात्, तथा चानवस्था इत्युक्ते आह । ७ धूमधूमध्वजविषय एक एवोहः सकलानुमानव्यवस्थापकः कुतो न स्यादित्युक्ते आह । ८ तस्य अर्थस्य । ९ स्वस्यानुमानस्य कारणभूता योग्यता । १० अपिशब्देनानुमानस्य सङ्ग्रहः । ११ इन्द्रिय । १२ घटादि । १३ स्वमात्मीयं तत्किमुपलम्भानुपलम्भौ अर्थं इति सम्बन्धः, अथवा उपलम्भानुपलम्भयोश्च सम्बन्धः । १४ व्याप्तिज्ञानस्य कारणस्वरूपनिरूपणम् । १५ स्वरूपम् ।

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥ १४ ॥

साध्याऽभावाऽसम्भवनियमनिश्चयलक्षणात् साधनादेव हि शंक्या[१]ऽभिप्रेता[२]प्रसिद्धत्व[३]लक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम् । प्रोक्त[४]विशेषण[५]योरन्य[६]तरस्याप्यपाये ज्ञानस्यानुमानत्वाऽसम्भवात् ।

ननु चास्तु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । तत्तु साधनं निश्चितपक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम् । पक्षधर्मत्वं हि तस्यासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं लक्षणं निश्चीयते । सपक्ष एव सत्त्वं तु विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थम् । विपक्षे[७] चासत्त्वमेव अनैकान्तिकत्वव्यवच्छित्तये । तदनिश्चये साधनस्यासिद्धत्वादिदोषत्रयपरिहारासम्भवात् । उक्तञ्च—

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तैर्न[८] वर्णितः ।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारि[९]विपक्षतः ॥" [प्रमाणवा० १।१६] इत्याशङ्क्याह—

साध्याविनाभावित्वेन[१०] निश्चितो हेतुः ॥ १५ ॥

असाधारणो हि स्वभावो भावस्य लक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत् । न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता; हेतौ तदाभासे च तत्सम्भवात्पञ्चरूपत्वादिवत् । असिद्धत्वादिदोषपरिहारश्चास्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणत्वादेव प्रसिद्धः, स्वयमसिद्धस्यान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवाद् विरुद्ध[११]नैकान्तिकवत्[१२] ।

किञ्च, त्रैरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्, विशिष्टं वा त्रैरूप्यम्? तत्राद्यविकल्पे धूमवत्त्वादिवद्वक्तृत्वादावप्यस्य सम्भवात्कथं तल्लक्षणत्वम्? न खलु 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्' इत्यत्र[१३] हेतोः पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसद्भावे परै[१४]र्गमकत्वमिष्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वविरहात् । द्वितीयविकल्पे तु कुतो वैशिष्ट्यं त्रैरूप्यस्यान्यत्रा[१५]न्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयात्, इति स एवास्य लक्षणमक्षूणं[१६] परीक्षादक्षैरुपलक्ष्यते । तद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेपि 'उदे-

---

१ शक्यं=प्रत्यक्षाद्यबाधितम् । २ अभिप्रेतम्=इष्टम् । ३ अप्रसिद्धत्वम्=असिद्धम् । ४ वसः । ५ साध्यसाधनयोः । ६ साध्यस्य साधनस्य वा । ७ सपक्षे एव सत्त्वमित्युच्यमाने विपक्षे एकदेशेन सत्त्वनिवृत्तिः स्यात् । तद्व्यवच्छेदार्थं साध्येन विपक्षे हेतोरसत्त्वं यथा स्यादिति विपक्षे चासत्त्वं चेत्युक्तम् । ८ दिग्नागेन । ९ एते एव विपक्षास्तेभ्यस्ततः । १० स्वरूपेण । ११ यसः । १२ ताद्विः । १३ अनुमाने । १४ बौद्धैः । १५ वर्जने । १६ परिपूर्णम् ।

ष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादेर्गमकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्, सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादेः शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतेः।

ननु नित्यादाकाशादेर्विपक्षादिव सपक्षादप्यनित्याद् घटादेः सतो[2] व्यावृत्तत्वेन श्रावणत्वादेरसाधारणत्वादनैकान्तिकता; तदसत्यम्; असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्य[3]ऽसिद्धेः। सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारणः, संशयितो वा? निश्चितश्चेत्; कथमनैकान्तिकः? पक्षे[4] साध्या[5]भावेनुपपद्यमानतया निश्चितत्वेन संशय[6]हेतुत्वाभावात्।

श्रा[7]वणत्वं हि श्रवणज्ञानग्राह्यत्वम्, तज्ज्ञानं च शब्दादात्मानं लभमानं तस्य ग्राहकम् नान्यथा, "नाकारणं विषयः" [ ] इत्यभ्युपगमात्। शब्दश्च नित्यस्तज्जननैकस्वभावो यदि; तर्हि श्रवणप्रणि[8]धानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। न ह्यविकले का[9]रणे का[10]र्यस्यानुत्पत्तिर्युक्ता अतत्कार्यत्वप्रसङ्गात्। प्र[11]योगः-यस्मिन्नविकले सत्यपि यन्न भवति न तत्तत्कार्यम् यथा सत्यप्यविकले कुलाले अभवन्पटो न तत्कार्यः, सत्यपि शब्दे पूर्वं पश्चाच्चाविकले न भवति च तज्ज्ञानमिति। ननु च श्रोत्रप्रणिधानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानजननैकस्वभावोपि शब्दस्तन्न जनयत्यावृत[12]त्वात्; तदप्यसङ्गतम्; आवरणं हि द्र[13]ष्टृदृश्ययोर[14]न्तराले वर्तमानं वस्तु लोके प्रसिद्धम्, यथा काण्ड[15]पटादिकम्। श्रोत्रशब्दयोश्च व्यापकत्वे सर्वत्र सर्वदा तत्करणैकस्वभावयोरत्यन्तसंश्लिष्टयोः किं नामान्तराले वर्तेत? वृत्तौ वा तयोर्व्यापकत्वव्याघातः, तदवष्टब्धदेशपरिहारेणानयोर्वर्तनादिति 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' (परीक्षामु० ३।१००) इत्यत्र विस्तरेण[16] विचारयिष्यामः। तन्नास्या[17]ऽऽवृतत्वात्तज्ज्ञानाजनकत्वं किन्त्वसत्त्वादेव, इति श्रावणत्वादेः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वेपि पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चितत्वाद्गमकत्वमेव। न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चितः[18] पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यः; स[19]र्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्।

---

१ शब्दत्वादेश्च। २ विद्यमानात्। ३ यद्यदसाधारणं तत्तदनैकान्तिकमिति। ४ शब्दे। ५ अनित्यत्वस्य। ६ श्रावणत्वहेतोः। ७ साध्याभावे अनुपपद्यमानतया निश्चितत्वं हेतोः कथमित्युक्ते आह। ८ एकाग्रतायाः। ९ शब्दक्षणे। १० श्रवणज्ञानस्य। ११ श्रवणज्ञानं शब्दकार्यं न भवति शब्देऽविकले सति पूर्वं पश्चाच्चानुत्पद्यमानत्वात्। १२ आवारकवायुभिः। १३ द्रष्टृदृश्ययोः। १४ मध्ये। १५ वस्त्रविशेषः। १६ आवरणाभावं। १७ शब्दस्य। १८ हेतुः। १९ सर्वमनित्यं सत्त्वादिति।

न खलु सत्त्वादिर्विपक्ष[1] एवासत्त्वेन निश्चितः, सपक्षेपि तदसत्त्वनिश्चयात्।

सपक्षस्याभावात्तत्र सत्त्वादेरसत्त्वनिश्चयान्निश्चयहेतुत्वम्, न पुनः श्रावणत्वादेः[2] सद्भावे[3]पीति[4] चेत्; ननु श्रावणत्वादिरपि[5] यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्याप्नुयादेवेति समानान्तर्व्याप्तिः। सति विपक्षे[6] धूमादिश्चासत्त्वेन[7] निश्चितो निश्चयहेतुर्मा[8] भूत्[9]। विपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चितः साध्याविनाभावित्वाद्धेतुरेवेति चेत्; तर्हि सपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चितो[10] हेतुरस्तु तत एव। नन्वेवं[11] सपक्षे तदेकदेशे[12] वा सन्कथं हेतुः? 'सपक्षेऽसन्नेव हेतुः' इत्यनवधारणात्[13]। विपक्षेपि[14] तदसत्त्वानवधारणमस्तु; इत्ययुक्तम्; साध्याविनाभावित्वव्याघातानुषङ्गात्।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन संशयितोऽसाधारण इत्युच्यते; तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया संशयितया वाऽनैकान्तिकत्वं हेतोरित्यायातम्। न च श्रावणत्वादौ सास्तीति गमकत्वमेव। विरुद्धताप्येतेन[15] प्रत्युक्ता। यो हि विपक्षैकदेशेपि न वर्त्तते, स कथं तत्रैव वर्त्तेत? असिद्धता तु दूरोत्सारितैव, श्रावणत्वस्य शब्दे सत्त्वनिश्चयात्। तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम्।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव। इति तदेव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु किमत्र लक्षणा[16]न्तरेण? न च सपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः; अन्त[17]र्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न खलु दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं[18] वैधर्म्यं[19] वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्[20]।

---

१ नित्ये। २ निश्चयहेतुत्वम्। ३ सपक्षस्य। ४ सपक्षेऽसत्त्वनिश्चयादिति शेषः। ५ सपक्षे (पक्षे)। ६ श्रावणत्वादेः सति विपक्षे तत्रासत्त्वेन निश्चितस्य स्वसाध्यसाधकत्वे अङ्गीक्रियमाणे। ७ पक्षे। ८ स्वसाध्यस्य। ९ सति विपक्षे असत्त्वाविशेषात्। १० हेतुः। ११ सपक्षे असत्त्वेन निश्चितस्य हेतुत्वप्रकारेण। १२ चेतनास्तरवः स्वापादिमत्त्वात् सत्त्वादिति हेतुः सिद्धेपु न प्रवर्त्तते अन्यत्र प्रवर्तते। १३ नित्ये। १४ न केवलं सपक्षे। १५ अनैकान्तिकत्वनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। १६ पक्षधर्मत्वसपक्षेसत्त्वलक्षणेन। १७ पक्षे एव। १८ अन्वयः। १९ व्यतिरेकः। २० दृष्टान्तस्यासत्त्वात्।

न[1]नु त्रैरूप्यं हेतोर्लक्षणं मा भूत् 'पक्वान्येतानि फलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्त[2]फलवत्' इत्या[3]दौ 'मूर्खोऽयं देवदत्तस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्या[4]दौ च तदाभासेपि तत्सम्भवात्। पञ्चरूपत्वं तु तल्लक्षणं युक्तमेवानवद्यत्वात्, एकशाखाप्रभवत्वस्याबाधितविषयत्वासम्भवाद् आत्मताग्राहिप्रत्यक्षेणैव तद्वि[5]षयस्य बाधितत्वात्, तत्पुत्रत्वादेश्चासत्प्रतिपक्षत्वाभा[6]वात्[7] तत्प्रतिपक्षस्य शास्त्रव्याख्यानादिलिङ्गस्य सम्भवात्।

प्रकरणसमस्याप्यसत्प्रतिपक्षत्वाभावादहेतुत्वम्। तस्य हि लक्षणम् "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः"। [न्यायसू० १।२।७] इति। प्रक्रियेते साध्यत्वेना[8]धिक्रियेते [9]अनि[10]श्चितौ[11] पक्षप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्। तस्य चिन्ता संश[12]यात्प्रभृत्या[13]ऽऽनिश्चयात्पर्यालोचना य[14]तो भवति स[15] एव, तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः। पक्षद्वयेप्यस्य[16] समानत्वादु[17]भयत्राप्यन्वयादिसद्भा[18]वात्। तद्य[19]था–'अनित्यः शब्दो नित्य[20]धर्मानुपलब्धेर्घटादिवत्, यत्पुनर्नित्यं तन्नानुपलभ्यमाननित्यधर्मकम् यथात्मादि' एवमे[21]केनान्यत[22]रानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधकत्वेनोपन्यासे सति द्वितीय[23]: प्राह-यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं प्रसाध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यस्त्वऽन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथा हि–नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरात्मादिवत्, यत्पुनर्न नित्यं तन्नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा घटादि;

इत्यप्यविचारितरमणीयम्; साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्याबाधितविषय[24]त्वादेरसम्भवात् तदेव प्रधानं हेतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपप्रकल्पनया? न[25] च प्रमाणप्रसिद्धत्रैरू[26]प्यस्य हेतोर्विषये बाधा सम्भवति; अनयोर्विरोधात्। सा[27]ध्यसद्भावे एव हि हेतो-

---

१ यौगः। २ भक्षित। ३ स श्यामस्तत्पुत्रत्वादित्यादौ च। ४ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् इति च। ५ साध्यस्य। ६ तत्पुत्रो विद्वान् शास्त्रव्याख्यानसद्भावात्। ७ तत्पुत्रत्वादिति हेतोः। ८ हेतोः। ९ स्वीक्रियेते। १० वादिना यः पक्षो निश्चितः स प्रतिवादिना अनिश्चितः। यः प्रतिवादिना निश्चितः स वादिना न निश्चितः। ११ वादिप्रतिवादिभ्याम्। १२ बाधकादिमध्ये। १३ आ मर्यादायाम्। १४ हेतोः। १५ हेतुः। १६ हेतोः। १७ पक्षधर्मत्वादि। १८ सपक्षधर्मत्वादि। १९ तथा हि। २० नित्यत्व। २१ यौगेन। २२ अनित्यधर्मस्य। २३ मीमांसकः। २४ असत्प्रतिपक्षत्वस्य च। २५ यौगमतमालम्ब्य सूरिभिरुच्यते। २६ वसः। २७ किं त्रैरूप्यं का च बाधा कथं च तयोर्विरोध इत्युक्ते आह।

धर्मिणि[1] सद्भावस्त्रैरूप्यम्[2], तदभावे एव च तत्र तत्सम्भवो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य[3] विरोधः।

किञ्च, आध्यक्षागमयोः कुतो हेतुविषय[4]बाधकत्वम्? स्वार्थ(र्था)व्यभिचारित्वाच्चेत्; हेतावपि[5] सति त्रैरूप्ये तत्समानमित्यसावप्यनयोर्विषये बाधकः स्यात्। दृश्यते हि चन्द्रार्कादिस्थैर्यग्राह्यऽध्यक्षं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवानुमानेन बाध्यमानम्। अथैकशाखाप्रभवत्वाद्यनुमानस्य भ्रान्तत्वाद्बाध्यत्वम्। कुतस्तद्भ्रान्तत्वम्–अध्यक्षबाध्यत्वात्, त्रैरूप्यवैकल्याद्वा? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः–भ्रान्तत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम्, ततश्च भ्रान्तत्वमिति। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; त्रैरूप्यसद्भावस्यात्र परेणाभ्युपगमात्[6]। अनभ्युपगमे वाऽत एवास्याऽगमकत्वोपपत्तेः किमध्यक्षबाधासाध्यम्?

किञ्च, अबाधितविषयत्वं निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात्? न तावदनिश्चितम्; अतिप्रसङ्गात्[7]। नापि निश्चितम्; तन्निश्चयासम्भवात्। स हि स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा? स्वसम्बन्धी चेत्; तत्कालीनः[8], सर्वकालीनो वा? न तावत्तत्कालीनः; तस्यासम्यगनुमानेपि[10] सम्भवात्। नापि सर्वकालीनः; तस्यासिद्धत्वात्, 'कालान्तरेप्यत्र[9] बाधकं न भविष्यति' इत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वात्।

सर्वसम्बन्धिनोपि तत्काल[11]स्योत्तरकालस्य वा तन्निश्चयस्यासिद्धत्वम्; अर्वाग्दृशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम[12]त्र[13] बाधकस्याभावः' इति निश्चेतुमशक्तेस्तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात्। तन्निबन्धनं ह्य[14]नुपलम्भः, संवादो वा स्यात्? न तावदनुपलम्भः; सर्वात्म[15]सम्बन्धिनोऽस्याऽसिद्धानैकान्तिकत्वात्। नापि संवादः; प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः। अनुमानोत्तरकालं तत्सिद्ध्यभ्युपगमे परस्पराश्रयः–अनुमानात्प्रवृत्तौ संवादनिश्चयः, ततश्चाबाधितविषयत्वावगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति। न चाविनाभावनिश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चयः; हेतौ पञ्चरूपयोगिन्यऽविनाभावपरिसमाप्ति-

---

१ पर्वते। २ यदा हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्तदा पक्षधर्मत्वम्। यदा च साध्यसद्भावे हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्तदान्वयः। यदा च साध्यसद्भावे एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्तदा विपक्षेऽसत्त्वम्। कथं साध्यसद्भाव एव इत्येवकारेण विपक्षेऽसत्त्वं गम्यम्। ३ साध्यस। ४ साध्य। ५ एकशाखाप्रभवत्वलक्षणे। ६ यौगेन। ७ पक्षधर्मत्वादेरप्यनिश्चितस्य हेत्वङ्गत्वप्रसङ्गात्। ८ अनुमानकालीनः। ९ एकशाखाप्रभवत्वलक्षणे। १० सम्यगनुमाने। ११ अनुमान। १२ नृणाम्। १३ अनुमानविषये। १४ बाधकस्य। १५ आत्मनः स्वस्य।

वादिनाम[1]बाधितविषयत्वाऽनिश्चये[2] अविनाभावनिश्चयस्यैवासम्भवात्। तन्नैकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधितविषयत्वाद्धेत्वाभासत्वम्।

नापि तत्पुत्रत्वादेः सत्प्रतिपक्षत्वात्। यतः प्रतिपक्षस्तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सन् स्यात्? न तावदाद्यः पक्षः; द्वयो[3]स्तुल्यबलत्वे 'एकस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वम्' इति विशेषानुपपत्तेः। न च पक्षधर्मत्वाद्यभाव ऐकस्य[4] विशेषः; तस्यानभ्युपगमात्[5]। अभ्युपगमे वा अत एवैकस्य[6] दुष्टत्वसिद्धेर्न किञ्चिदनुमानबाधया? द्वितीयपक्षेप्यतुल्यबलत्वं तयोः[7] पक्षधर्मत्वादिभावाभाव[8]कृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा स्यात्? प्रथमपक्षोनभ्युपगमादेवायुक्तः, पक्षधर्मत्वादेरुभयो[9]रप्यभ्युपगमात्। द्वितीयोप्यसम्भाव्यः; तस्याद्यापि विवादपदापन्नत्वात्। न खलु द्वयोस्त्रैरूप्याविशेषतस्तुल्यत्वे सति 'एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वम्' इति व्यवस्थापयितुं शक्यमविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्। इतरेतराश्रयश्च-अतुल्यबलत्वे सत्यनुमानबाधा, तस्यां चातुल्यबलत्वमिति।

यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणम्; तत्रानुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वं शब्दे तत्त्वतोऽप्रसिद्धम्, न वा? प्रथमपक्षे पक्षवृत्तितयाऽस्याऽसिद्धेरसिद्धत्वम्। द्वितीयपक्षे तु साध्यधर्मान्विते धर्मिणि तत्प्रसिद्धम्, तद्रहिते वा? आद्यविकल्पे साध्यवत्येव धर्मिण्यस्य सद्भावसिद्धिः, कथमगमकत्वम्? न हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिण्यऽभवनं विहायापरं हेतोरविनाभावित्वम्। तच्चेत्समस्ति, कथं न गमकत्वम् अविनाभावनिबन्धनत्वात्तस्य? द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम्; साध्यधर्मरहिते धर्मिणि प्रवर्त्तमानस्य विपक्षवृत्तितया विरुद्धत्वोपपत्तेः। अथ सन्दिग्धसाध्यधर्मवति तत्तत्र प्रवर्त्तते; तर्हि सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादस्याऽनैकान्तिकत्वम्।

नन्वेवं[10] सर्वो हेतुरनैकान्तिकः स्यात्, साध्यसिद्धेः प्राक्साध्यधर्मिणः[11] साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सन्दिग्धत्वात्, ततोऽनुमेय[12]व्यतिरिक्ते साध्य[13]धर्मवति धर्म्यन्तरे[14] साध्याभावे च[15] प्रवर्त्तमानो

---

१ यौगादीनाम्। २ उक्तन्यायेन। ३ तत्पुत्रत्वव्याख्यानवत्त्वहेत्वोः। ४ तत्पुत्रत्वादित्येतस्य। ५ यौगेन। ६ तत्पुत्रत्वादित्येतस्य। ७ तत्पुत्रत्वव्याख्यानवत्त्वहेत्वोः। ८ तत्पुत्रत्वस्य पक्षधर्माद्यभावः व्याख्यानवत्त्वस्य च पक्षधर्मादिसद्भावः। ९ तत्पुत्रत्वव्याख्यानवत्त्वहेत्वोः। १० सन्दिग्धसाध्यधर्मवति प्रवर्त्तमानस्यानैकान्तिकत्वप्रकारेण। ११ पर्वतस्य शब्दस्य वा। १२ अनित्यतयाऽनुमेयाच्छब्दात्। १३ घटे। १४ आकाशादौ। १५ सपक्षविपक्षयोरिति यावत्।

हेतुरनैकान्तिकः, साध्याभाववत्येव तु पक्षधर्मत्वे सति विरुद्धः[1], यस्तु विपक्षाद्व्यावृत्तः सपक्षे चानुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स्वसाध्यं गमयत्येवेत्यभ्युपगन्तव्यम्; इत्यप्यसुन्दरम्; यतो यदि साध्य[2]धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्त[3]रे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते; तर्हि साध्यध[4]र्मिण्युपादीयमानो हेतुः कथं साध्यं साधयेत्, तत्र साध्यमन्तरेणाप्यस्य सद्भावाभ्युपगमात्? तद्व्यतिरिक्ते एव धर्म्यन्त[5]रे साध्येनास्य प्रतिबन्धग्रहणात्। न चा[6]न्यत्र साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरन्य[7]त्र साध्यं गमयत्यतिप्र[8]सङ्गात्। ततः साध्यधर्मिण्येव हेतोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तव्या।

ननु यदि साध्यधर्मान्वितत्वेन साध्यधर्मिण्य[9]सौ पूर्व[10]मेव प्रतिपन्नः, तर्हि साध्यधर्मस्यापि पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वाद्धेतोः पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्; तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रतिबन्धसाधकप्रमा[11]णेन सर्वोपसंहारेण 'साधनधर्मः साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवति' इति सामान्येन प्रतिबन्धः प्रतिपन्नः। पक्षधर्मताग्रहणकाले तु 'यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुस्तत्रैव साध्यं साध[12]यति' इति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न ख[13]लु विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गतसाध्यमन्तरेणोपपत्ति[14]मान्, त[15]स्य तेन व्याप्तत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धैकहेतु[16]सद्भावे ध[17]र्मिणि न वि[18]परीतसाध्योपस्थापकहेत्वन्तर[19]स्य सद्भावः, अन्यथा द्वयोर[20]प्यनयोः स्वसाध्याविनाभावित्वात्, नित्यत्वानित्यत्वयोश्चै[21]कत्रैकदैकान्तवादिमते विरोधतोऽसम्भवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वोरप्यसम्भवः। सम्भवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभूतत्वान्नित्यत्वानित्यत्वधर्मसिद्धिर्धर्मिणः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्यागमकता एका[22]न्तत्वसिद्धिर्वा?

---

१ शब्दो नित्यः कृतकत्वाद्धटवत्। साध्याभाववत्येव घटे कृतकत्वस्य शब्दलक्षणपक्षधर्मत्वे सति प्रवर्त्तमानस्य विरुद्धत्वम्। २ शब्दात् पर्वतात् वा। ३ घटे महानसादौ वा। ४ शब्दे पर्वते वा। ५ घटे महानसे वा। ६ घटे महानसे वा। ७ शब्दे पर्वते वा। ८ काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रेपि तथाप्रसङ्गात्। ९ शब्दे। १० पक्षधर्मताग्रहणात्। ११ ऊहेन। १२ हेतुः। १३ ननु यथास्माकं साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते एव धर्म्यन्तरे स्वसाध्येन हेतोः प्रतिबन्धग्रहणाभ्युपगमे साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणाप्यस्य सद्भावादगमकत्वम्। तथा भवतामपि प्रतिबन्धप्रसाधकप्रमाणेन सामान्येनैवाविनाभावप्रतिपत्तेर्विशिष्टधर्मिणि उपलभ्यमानस्य हेतोस्तद्गतसाध्यमन्तरेणाप्युपपत्तिसम्भवादित्युक्ते वक्ति न खल्विति। १४ अन्यथा। १५ सर्वत्र। १६ अनुपलभ्यमाननित्यधर्मत्वलक्षणस्य। १७ शब्दे। १८ नित्यत्वलक्षण। १९ अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकत्वलक्षणस्य। २० हेत्वोः। २१ शब्दे धर्मिणि। २२ अनित्यत्वमेव शब्दस्येति।

अथान्यतरस्या[1]त्र स्वसाध्याविनाभाववैकल्यम्; तथाप्यत एवास्यागमकतेति किं तत्प्रतिपादनप्रयासेन?

किञ्च, नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः स्यात्? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तुच्छाभावस्य साध्यासाधकत्वान्निषिद्धत्वाच्च । द्वितीयपक्षे तु अनित्यधर्मोपलब्धिरेव हेतुः, सा च शब्दे यदि सिद्धा कथं नानित्यतासिद्धिः? अथ त[2]च्चिन्तासम्बन्धिपुरुषे[3]णासौ प्रयुज्यत इति त[4]त्रासिद्धा; तर्हि कथं न सन्दिग्धो हेतुर्वादिनं प्रति? प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव; नित्यधर्मोपलब्धेस्तत्रास्य[5] सिद्धेः । तन्न पञ्चरूपत्वमप्यस्य लक्षणं घटते अबाधितविषयत्वा[6]देर्विचार्यमाणस्यायोगात्पक्षधर्मत्वादिवत् ।

यदि चैकस्य हेतोः पक्षधर्मत्वाद्यनेकधर्मात्मकत्वमिष्यते, तदाऽनेकान्तः समाश्रितः स्यात् । न च यदेव प[7]क्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वम् तदेव विपक्षात्सर्वतोऽसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; अन्वयव्यतिरे[9]कयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केव[10]लान्वयी केव[11]लव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान् ।

व्यतिरे[12]कस्य चाभावरूपत्वाद्धेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात् । न चा[13]भावस्य तुच्छरूपत्वात्स्वसाध्येन धर्मिणा स[14]म्बन्धः । यदि च सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षासत्त्वम् न ततो भिन्नम्; तर्हि तदेवास्यासाधारणं कथं स्यात्? वस्तुभू[15]ता[16]न्या[17]भा[18]वमन्तरेण प्रतिनियतस्यास्याप्यत्रासम्भवात् । अथ ततस्तदन्यधर्मान्तरम्; तर्ह्येकस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य अनेकान्तात्मकार्थप्रसाधकत्वात् कथं न प[19]रोपन्यस्तहेतूनां विरुद्धता? एकान्तविरुद्धेनानेकान्तेन व्याप्तत्वात् ।

किञ्च, परैः सामान्यरूपो हेतुरुपादीयते, विशेषरूपो वा, उभयम्, अनुभयं वा? सामान्यरूपश्चेत्; तत्किं व्यक्तिभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा? भिन्नं चेत्; न; व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य सामान्यस्याऽप्रति-

---

१ द्वयोर्मध्ये एकस्याद्यस्य । २ प्रकरण । ३ नित्यधर्मानुपलब्धेरनित्यत्वं प्रतिपादयामः । अनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्यत्वं साधयामः इति । ४ शब्दे धर्मिणि । ५ शब्दे । ६ असत्प्रतिपक्षत्वस्य च । ७ हेतोः । ८ सपक्षे सत्त्वम् । ९ विपक्षेऽसत्त्वम् । १० अस्मिन्पक्षे व्यतिरेकस्यान्वयरूपत्वे तादात्म्यम् । ११ अत्र पक्षे अन्वयस्य व्यतिरेकरूपित्वे तादात्म्यम् । १२ केवलव्यतिरेकीत्यस्मिन्पक्षे । १३ हेतुरूपस्य । १४ अभावपक्षे हेतोः । १५ यतः । १६ भिन्न । १७ यतः । १८ विपक्षासत्त्वलक्षणम् । १९ वैशेषिक ।

भासमानतयाऽसिद्धत्वात्। तथाभूतस्यास्य सामान्यविचारे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। अथाभिन्नम्; कथञ्चित्, सर्वथा वा? सर्वथा चेत्; न; सर्वथा व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्यास्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमतः सामान्यरूपतानुपपत्तेः[1]। कथञ्चित्पक्षस्त्वनभ्युपगमा[2]देवायुक्तः। नापि व्यक्तिरूपो हेतुः; तस्यासाधारणत्वेन[3] गमकत्वायोगात्। नाप्युभयं परस्परा[4]नु[5]विद्धम्; उभयदोषप्रसङ्गात्। नाप्यनुभयम्; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधाना[6]दनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात्। ततः पदार्थान्तरानुवृत्त[7]व्यावृत्त[8]रूपमात्मानं बिभ्रदेकमेवार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदा[9]भेद[10]प्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम्।

किञ्च, एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यम्, विशेषो वा, उभयं वा, अनुभयं वा? न तावत्सामान्यम्; केवल[11]स्यासम्भवादर्थक्रिया[12]कारित्वविकलत्वाच्च। नापि विशेषः; तस्या[13]ननुयायितया हेत्वऽव्यापकस्य साधयितुमशक्तेः। नाप्युभयम्; उभयदोषानतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम्; तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात्।

यच्चान्यदुक्तम्–"प्रत्यक्षपूर्वकं[14] त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेष[15]वत्सामान्यतो[16] दृष्टं च।" [न्यायसू० १।१।५] इति। तत्र पूर्ववच्छेषवत्[17]केवलान्वयि[18], यथा सदसद्वर्गः[19] कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्। पञ्चाङ्गुलव्यतिरिक्तस्य सदसद्वर्गस्य पक्षीकरणाद[20]न्यस्याभावाद्विपक्षाभावः, अत एव व्यतिरेकाभावः। पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् केवलव्यतिरेकि, यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति। पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्ट[22]मन्वयव्यतिरेकि,

---

१ पराभ्युपगतसामान्यं धर्मि सामान्यरूपतां न भजति व्यक्त्यन्तराननुगमात् व्यक्तिस्वरूपवत्। सामान्यं व्यक्त्यन्तरं नानुगच्छति व्यक्तिभ्योऽभिन्नत्वात् व्यक्तिस्वरूपवत्। २ परेण। ३ दृष्टान्तेऽसत्त्वेन। ४ परस्परानुविद्धं तु परैर्नाभ्युपगम्यते। ५ निरपेक्षम्। ६ व्यक्त्यन्तरेषु। ७ सदृशपरिणामेन। ८ व्यक्तिभेदेषु। ९ देशकालादिभेदेन भेदप्रत्ययः। १० धूमो धूम इत्यभेदप्रत्ययः। ११ व्यक्तिरहितस्य। १२ पाकादि। १३ अन्यत्र व्यक्तिनिषेधेषु। १४ लिङ्गप्रत्यक्षं यतः। १५ समासरहितानि पदान्यत्र। १६ सर्वावयवापेक्षाऽऽदौ प्रयुज्यमानत्वात्पक्षः पूर्वः पूर्वमस्य हेतोरस्तीति पूर्ववत्पक्षधर्म इत्यर्थः। १७ शेषो दृष्टान्तः सोस्य हेतोरस्तीति शेषवत्सपक्षे सन्नित्यर्थः। १८ सपक्षे सत्साध्यम्। १९ द्रव्यगुणादि। २० प्रागभावादि। २१ पक्षीभूताद् दृष्टान्तभूतादन्यस्य व्यतिरिक्तस्य विपक्षस्य। २२ साधनसामान्यस्य साध्यसामान्येन व्याप्तिः सामान्यं ततोऽदृष्टं व्यतिरेकिदृष्टान्ते।

यथा[1] विवादास्पदं तनुकरणभुवनादि बुद्धिमत्कारणं कार्यत्वादिभ्यो घटादिवत्। यत्पुनर्बुद्धिमत्कारणं न भवति न तत्कार्यत्वादिधर्माधारो यथात्मादि[2]:' इति।

तदप्येतेन[3] प्रत्याख्यातम्; सर्वत्रा[4]न्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणतोपपत्तेः, तस्मिन्सत्येव हेतोर्गमकत्वप्रतीतेः।

केवलान्वयिनो हि यद्यन्यथानुपपन्नत्वं प्रमाण[5]निश्चितमस्ति, किमन्वयाभिधानेन? अथा[6]न्वयाभावे तदभावस्तदनिश्चयो वेति तदभिधानम्; स्यादेतत् यद्यविनाभावस्तेन व्याप्तः स्यात्, अव्या[7]पकनिवृत्तेर्व्याप्य[8]निवृत्ता[9]वतिप्रसङ्गात्[10]। व्याप्तश्चेत्; तर्हि प्राणादौ तन्निवृत्तावविनाभावनिवृत्तेरगमकत्वं स्यात्। न खलु यद्[11]यस्य[12] व्यापकं तत्[13]तदभावे भवति वृक्षत्वाभावे शिंशपात्ववत्। गमकत्वे वास्य नान्वयेनासौ[14] व्याप्तः स्यात्। यदभावे हि यद्भवति न तत्तेन व्याप्तम् यथा रासभाभावे भवन्धूमादिर्न तेन व्याप्तः, भवति चान्वयाभावेपि तदविनाभाव इति।

'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात्' इत्ययं च हेतुः कुतः केवलान्वयी? व्यतिरेकाभावाच्चेद्; अयमपि कुतः? तद्विषयस्य विपक्षस्याभावाच्चेद्; अथ कोयं विपक्षाभावः–पक्षसपक्षावेव, निवृत्तिमात्रं[15] वा? प्रथमपक्षे पर[16]मतप्रसङ्गः अभावस्य भावान्तरस्वभावतास्वीकारात्[17]। द्वितीयपक्षे तु स तथाविधः प्रतिपन्नः, न वा? न प्रतिपन्नश्चेत्; तर्हि विपक्षाभावसन्देहाद्व्यतिरेकाभावोपि सन्दिग्ध इति केवलान्वयोपि तादृगेव। अथ प्रतिपन्नः; स यदि साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्त्याधारः प्रतिपन्नः; तर्हि स एव विपक्षः[18], कथं विपक्षाभावो यतो व्यतिरेकाभावः? साध्यसाधनाभावाधारतया निश्चितस्य विपक्षत्वात्। तच्च[19] भाववदभावस्यापि न विरुध्यते, कथम[20]न्यथा 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम्' इत्यत्रासन् पक्षः स्यात्? असन् पक्षो भवति न विपक्ष[21] इति किम्[22]कृतो

---

१ व्यतिरेकिदृष्टान्तः। २ गगनं च। ३ अन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतुलक्षणमिति समर्थनपरेण ग्रन्थेन। ४ अनुमाने। ५ तर्कलक्षण। ६ दृष्टान्ते हेतोः सत्त्वमन्वयः। ७ अन्वयस्य। ८ अविनाभावस्य। ९ सत्याम्। १० घटनिवृत्तौ पटनिवृत्तिप्रसङ्गात्। ११ अविनाभावोऽन्वयेन। १२ अविनाभावस्य। १३ अन्वयः। १४ अविनाभावः। १५ प्रसज्यः। १६ जैनमत। १७ जैनेन। १८ विपक्षाभावो विपक्षो भवति साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्त्याधारः स्यात्सम्प्रतिपन्नविपक्षवत्। १९ भाव एव महाह्रदलक्षणः आकाशलक्षणो वा विपक्षः स्यात् न त्वभाव इत्युक्ते आह। २० अभावस्य विपक्षत्वे विरोधश्चेत्। २१ असन्। २२ केन।

विभागः ? अथाऽसद्वर्गशब्देन[1] सामान्यसमवायान्त्यविशेषा[2] एवोच्यन्ते, नाभावः; तर्हि तद्विषयं ज्ञानं न कस्यचिदनेन प्रसाधितमिति सुव्यवस्थितम्[3] ईश्वरस्याखिलकार्यकारणग्रामपरिज्ञानम् ! प्रागभावाद्यज्ञाने कार्यत्वादे[4]रप्य[5]ज्ञानात् ।

किञ्च, यद्यभावो[6]ऽत्र[7] पक्षसपक्षाभ्यां बहिर्भूतः; तर्ह्यनेनानेकत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, तदनेकत्वेपि कस्यचिदेकज्ञानावलम्बनत्वानभ्युपगमात्[8] । अभ्युपगमे वा कथमभावो न पक्षः ? तथा विपक्षोप्ययमस्तु[9] । नन्वेवं[10] विपक्षाभावोपि[11] तदालम्बनमिति पक्ष एव स्यात्, तथा च पुनरपि विपक्षाभाव[12] एव इति चेत्; तर्हि पुनरपि तदेव[13] चोद्यम्—'कोयं विपक्षाभाव इति ? यदि पक्षसपक्षावेव[14]; भावाद्भिन्नस्याभावस्याभावः ।

अथ तुच्छा विपक्षनिवृत्तिस्तदभावः; सोपि यद्यप्रतिपन्नस्तर्हि सन्दिग्धः । तत्सन्देहे च व्यतिरेकाभावोपि तादृगेवेति न निश्चितः केवलान्वयः' इत्यादि तदवस्थं[15] पुनः पुनरावर्त्तते इति चक्रक[16]प्रसङ्गः । ततः केवलान्वयित्वेनाभ्युपगतस्य[17] विपक्षाभाव एव तुच्छो विपक्षः । ततः साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिश्चेति कथं न व्यतिरेकः ? अत[18] एवाविनाभावस्य तत्परिज्ञानस्य च प्राणादिमत्त्वे[19]वद्भावात्किमन्वयेन[20] ?

अथ विपक्षाभावस्यापादानत्वायोगान्न[21] ततः साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिः; तन्न; 'भावः प्रागभावादिभ्यो भिन्नस्ते वा परस्परतो भिन्नाः' इत्यादावप्यभावस्यापादानत्वाभावप्रसङ्गात् सर्वेषां[22] साङ्कर्यं स्यात् ।

किञ्च, अन्वयो व्याप्तिरभिधीयते । सा च त्रिधा–बहिर्व्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः, अन्तर्व्याप्तिश्चेति । तत्र प्रथमव्याप्तौ भग्नघटव्यतिरिक्तं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्कृतकत्वाद्वा तद्वत्, विवादापन्नाः प्रत्यया

---

१ ये सत्तासम्बन्धात्सन्तस्ते सद्वर्गवाच्याः । ये तु स्वतः सन्तस्ते असद्वर्गशब्दवाच्या इत्यर्थः । २ अनेकत्वादित्यनेन अनुमानेन । ३ उपहासः । ४ प्रागसत्कार्यं यस्मिन् कपाले उत्पन्ने यस्य वस्तुनो घटलक्षणस्य नियमेन प्रध्वंसस्तत्कारणम् । ५ कारणत्वस्य । ६ प्रागभावादिरूपः । ७ अनुमाने । ८ अभावस्यैकभावावलम्बनत्वम् । ९ तुच्छरूपोऽभावः । १० अभावस्य विपक्षतासद्भावप्रकारेण । ११ विपक्षश्चासावभावश्चेति । १२ एकज्ञानरूपः । १३ पूर्वोक्तमेव । १४ विपक्षाभावस्तर्हि । १५ सा प्राक्तनी अवस्था यस्य । १६ ग्रन्थचक्रक । १७ हेतोः । १८ व्यतिरेकसद्भावादेव । १९ ईंबर्थे वत् । २० अनेकत्वादिगतेन । २१ तुच्छरूपत्वादपादानत्वायोगः । २२ भावाभावानां प्रागभावादीनां भावाभावादीनाम् ।

निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्, ईश्वरः किञ्चिज्ज्ञो रागादिमान्वा वक्तृत्वादिभ्यो रथ्यापुरुषवत्' इत्यादेर्[1]गमकत्वं स्यात् केवलान्वयस्यात्र सुलभत्वात् । ननु सर्वं[2] न सत्त्वादिकं क्षणिकत्वादिना व्याप्तम् आत्मादौ क्षणिकत्वाद्यसत्त्वात्; तन्न; तदसत्त्वे तत्रार्थक्रियाऽसत्त्वात् सत्त्वं न स्यात् ।

किञ्च, घटादिदृष्टान्ते सत्त्वादिकं क्षणक्षयादौ सति दृष्टमपि यदि क्वचित्तदभावेपि स्यान्न तर्हि वहिर्व्याप्तिर्[3]अन्वयः, लक्षण[4]युक्ते बाधासम्भवे[5] तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात् ।

अथ सकलव्याप्तिरन्वयः; ननु केयं सकलव्याप्तिः[6]? 'दृष्टान्तधर्मिणीव साध्यधर्मिण्यन्यत्र[7] च साध्येन साधनस्य व्याप्तिः सा' इति चेत्; सा कुतः प्रतीयताम्? प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा? प्रत्यक्षतश्चेत्; किमिन्द्रियात्, मानसाद्वा? न तावदिन्द्रियात्; चक्षुरादेरिन्द्रियस्य सकलसाध्यसाधनार्थसन्निकर्षवैधुर्ये तदनुपपत्तेः । न हि तद्वैधुर्ये[9] तद्युक्तम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्[8]अव्यपदेश्यमऽव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [न्यायसू० १।१।४] इत्यभिधानात् । तस्य तत्सन्निकर्षे वा प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्वप्रसङ्गान्न कश्चिदीश्वराद्विशेष्येत ।

ननु साध्यसाधनयोः साकल्येन ग्रहणं सकलव्याप्तिग्रहणम् । साध्यं चाग्निसामान्यं साधनं च धूमसामान्यम्, तयोश्चानवयवयोरेकत्रा[10]पि साकल्येन ग्रहणमस्ति, विशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वत्र[11] पक्ष[12]धर्मताबलादेवेति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादि साध्यम्, सत्त्वादि साधनम्, तयोश्चानवयव[13]योः प्रदीपादौ सह[14]दर्शनादेव सकलव्याप्तिग्रहः किन्न स्यात्? मानसप्रत्यक्षादपि व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव दोषः । तन्न प्रत्यक्षतः सकलव्याप्तिग्रहः । नाप्यनुमानतोऽनवस्था[15]प्रसङ्गात् ।

सामान्यस्य च साध्यत्वे साधनवैफल्यम् तत्राविवादात्, व्याप्तिग्रहणकाल एव[16]ास्य प्रसिद्धेः । कथमन्यथा[17] सामान्यधर्म[18]योः साकल्येन व्याप्तिर्निर्णीता स्यात्?

---

१ यौगं प्रति । २ लक्षणम् । ३ लक्ष्यम् । ४ सत्त्वादिलक्षणे हेतौ । ५ बहिर्व्याप्तिरूपस्यान्वयस्य कथं बाधासम्भवः? आत्मादौ क्षणिकत्वाभावेपि सत्त्वमस्ति यतः । ६ सकलेषु साध्यसाधनेषु । ७ व्यक्त्यन्तरेषु । ८ अशब्दजम् । ९ सकलयोः । १० अनुमाने । ११ अनुमाने । १२ हेतोः । १३ निरंशयोः । १४ युगपत् । १५ पर्वतोऽग्निमान्धूमवत्त्वादिति सत्यानुमाने धूमोऽग्निकार्यं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादित्यनेनानुमानेन व्याप्तिः प्रतीयते इत्यादिप्रकारेण । १६ साध्यसामान्यस्य । १७ व्याप्तिग्रहणकाले साध्यसामान्यस्य सिद्धिर्नास्ति चेत् । १८ साध्यसाधनयोः ।

साध्यत्वं चास्यासतः करणम्[1], सतो ज्ञापनं[2] वा? प्रथमपक्षे सामान्यस्यानित्यत्वाऽसर्वगतत्वप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेऽप्यस्य[3] दृश्यत्वे धर्मिवत्प्रत्यक्षत्वमिति किं केन[4] ज्ञाप्यते? अन्यथा[5] धूमसामान्यमप्यग्निसामान्येन ज्ञाप्येत। अथ व्यक्ति[6]सहायत्वाद्धूमसामान्यमेव प्रत्यक्षं नान्यत्[7] ततोऽयमदोषः; न; अस्य[8] सामान्यविचारे सहायापेक्षाप्रतिक्षेपात्।

यच्चोक्तम्-विशेषप्रतिपत्तिस्तु पक्षधर्मताबलादेवेति; तत्र[10] पक्षधर्मता धूमस्य, तत्सामान्यस्य वा? तत्राद्यः पक्षोऽसङ्गतः; विशेषेण व्याप्तेर[11]प्रतिपत्तितस्तद्गमकत्वायोगात्।

द्वितीयपक्षेऽप्यग्निसामान्यस्यैव धूमसामान्यात्सिद्धिः स्यात् तेनैव तस्य व्याप्तेः, नाग्निविशेषस्य[12] अनेना[13]व्याप्तेः। अथ साधनसामान्यात् साध्यसामान्यप्रतिपत्ते[14]रेवेष्ट[15]विशेषप्रतिपत्तिः सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। ननु तत्सामान्यमपि विशेषमात्रेण व्याप्तं सत्तदेव गमयेन्नान्यत्[16]। अथ विशिष्टविशेषाधारं[17] लिङ्गसामान्यं प्रतीयमानं विशिष्टविशेषा[18]धिकरणं[19] साध्यसामान्यं गमयतीत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; तथा व्याप्ते[20]रभावात्। अथ विपक्षे[21] सद्भावबाधक[22]प्रमाणवशात्तत्सिद्धि[23]रिष्यते; तर्हि तावतैव पर्याप्तत्वात्[24] किमन्वयेन परस्य[25]?

एतेना[26]न्तर्व्याप्तिरपि चिन्तिता[27]। न खलु प्रत्यक्षादितः सापि प्रसिद्ध्यति। तन्न पूर्ववच्छेषवदिति सूक्तम्।

यच्चान्यदुक्तम्-'पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टं चेति चशब्दो भिन्नप्रक्रमः 'सामान्यतः' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोयमर्थः-पूर्ववत्पक्षवत्सामान्यतोपि न केवलं विशेषतो दृष्टं विपक्षे। अनेन केवलव्यतिरेकी हेतुर्दर्शितः-'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिः; तदप्ययुक्तम्; यतः प्राणादेरन्वया[28]भावे कुतोऽविनाभावावगतिः? व्यतिरेकाच्चेत्; तथाहि-यस्माद्[29] घटादेः सात्मकत्व-

---

१ निष्पादनम्। २ हेतुना। ३ साध्यसामान्यस्य। ४ हेतुना। ५ प्रत्यक्षमपि ज्ञाप्यते चेत्। ६ धूमविशेष। ७ अग्निसामान्यम्। ८ साध्यसाधनसामान्यस्य। ९ ग्रन्थे। १० साध्यसाधनयोः। ११ यत्र यत्र पुरो भवति पर्वतस्थधूमस्तत्राग्निरिति। १२ सिद्धिः। १३ धूमसामान्यस्य। १४ यतः। १५ अग्निविशेष। १६ प्रेष्टविशेषम्। १७ पर्वतस्थधूम। १८ पर्वतस्थाग्नि। १९ त्रसः। २० यो यः पुरोवर्त्तिपर्वतस्थधूमः स पुरोवर्त्तिपर्वतस्थाग्निमानिति। २१ हेतोः। २२ अनुपलम्भ। २३ व्याप्ति। २४ व्याप्तेः। २५ यौगस्य। २६ साकल्यव्याप्तिशोधनपरेण ग्रन्थेन। २७ निराकृता। २८ अन्वयदृष्टान्तस्य। २९ कारणात्।

निवृत्तौ प्राणादयो नियमेन निवर्त्तन्ते त[1]स्मात्सात्मकत्वाभावः प्राणाद्यभावेन[2] व्याप्तो धूमाभावेने[3]व पावकाभावः । जीवच्छरीरे च प्राणाद्यभावविरुद्धः प्राणादिसद्भावः प्रतीयमानस्तदभावं निवर्त्तयति । स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवर्त्तते इति सात्मकत्वसिद्धिस्तत्र; इत्यप्यसारम्; यतोनुमानान्तरेप्येवमविनाभावप्रसिद्धेः केवलव्यतिरेक्येव सर्वमनुमानं स्यात्, अन्वयमात्रेण तत्सिद्धावतिप्रसङ्गस्योक्तत्वात् ।

किञ्च, साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिर्व्यतिरेकः, स च क्व[4]चित् कदाचित्, सर्वत्र सर्वदा वा स्यात्? न तावदाद्यः पक्षः; तथा व्यतिरेकस्य सा[5]धनाभासेपि सम्भवात् । द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; साकल्येन व्यतिरेकप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः परेषामन्वयप्रतिपत्तेरिवासम्भवात् ।

ए[6]तेन पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेक्यनुमानं प्रत्याख्यातम्; पक्षद्वयोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात् ।

यच्च तदुदाहरणम्–विवादापन्नं तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वादिभ्यो घटादिवदित्युक्तम्; तदपीश्वरनिराकरणप्रकरणे विशेषतो दूषितमिति पुनर्न दूष्यते ।

अथ "पू[7]र्ववत्–कारणात्कार्यानुमानम्, शे[8]षवत्–कार्यात्कारणानुमानम्, [9]सामान्यतो दृष्टम्–अका[10]र्यकारणादकार्यकारणानुमानम् सामान्यतोऽविनाभावमात्रात्" [न्यायभा०, वार्त्ति० १।१।५] इति व्याख्या[11]यते; त[12]दप्यविनाभावनियमनिश्चायकप्र[13]माणाभावादेवायुक्तं परेषा[14]म् । स्याद्वादिनां तु त[15]द्युक्तं तत्सद्भावात् इत्याचार्यः स्वयमेव कार्यकारणेत्यादिना हेतुप्रपञ्चे प्रपञ्चयिष्यति ।

---

१ कारणात् । २ व्यापकेन । ३ धूमाभावः पावकाभावे सत्यसति च भवति धूमाभावस्य व्यापकत्वेन तदतन्निष्ठत्वात् । ४ देशे । ५ स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादौ । ६ केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिलक्षणपक्षद्वयनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । ७ पूर्वं कारणं तल्लिङ्गमस्यानुमानस्यास्तीति पूर्ववत् । कारणलिङ्गजनितमनुमानमित्यर्थः । ८ असौ पुमान् रूपादिज्ञानवान् चक्षुरादिमत्त्वान्मद्वदित्युदाहरणम् । शेषवदिति शेषः कार्यं तल्लिङ्गमस्यानुमानस्यास्तीति शेषवत् । कार्यलिङ्गजनितमनुमानमित्यर्थः । सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादित्युदाहरणम् । ९ दृष्टान्ते । १० कार्यं यो हेतुर्न भवति कारणं वा यो हेतुर्न भवति तस्माद्धेतोः कार्यं यन्न भवति साध्यं कारणं वा यन्न भवति साध्यं तस्यानुमानम् । मातुलिङ्गं रूपवद्रसवत्त्वात्सम्प्रतिपन्नमातुलिङ्गवदित्युदाहरणम् । ११ सूत्रम् । १२ व्याख्यानम् । १३ ऊहः । १४ जटाधराणाम् । १५ अनुमानत्रितयम् ।

यदपि-पूर्ववत्[1]पूर्वं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्य क्व[2]चिन्निश्चयाद[3]न्यत्र प्रवर्त्तमानमनुमानम् । शेष[4]वत्परिशे[5]षानुमानम्, प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टस्य प्रतिपत्तेः । सामान्यतो दृ[6]ष्टं विशिष्ट[7]व्यक्तौ सम्बन्धाग्रहणा[8]त्सामान्येन दृष्टम्, यथा गतिमानादित्यो देशाद्देशान्तरप्राप्ते[9]र्देवदत्तवदिति । तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्; उक्त[10]प्रकाराणां प्रमाण[11]तः प्रसिद्धाविनाभावानां प्रतिपादयिष्यमाणहेतुप्रपञ्चत्वेन स्याद्वादिनामेव सम्भवात् ।

न चायं भेदो घटते । सर्वं हि लिङ्गं पूर्ववदेव; परिशेषानुमानस्यापि पूर्ववत्त्वप्रसिद्धेः[12]-प्र[13]सक्तप्रतिषेधस्य [14]प[15]रिशि[16]ष्टप्रतिपत्त्यविनाभूतस्य पूर्वं क्व[17]चिन्निश्चितस्य विवादाध्यासितपरिशि[18]ष्टप्रतिपत्तौ सा[19]धनस्य प्रयोगात् । सामान्यतो दृष्टस्याऽपि पूर्ववत्त्वप्रतीतेः; क्वचिद्देशान्तरप्राप्तेर्गतिमत्त्वाविनाभाविन्या एव देवदत्तादौ प्रतिपत्तेः, अ[20]न्यथा त[21]दनुमानाप्रवृत्तेः । परिशेषानुमानमेव वा सर्वम्; पूर्ववतोपि धूमात्पावकानुमानस्य प्रसक्ताऽपावकप्रतिषेधात्प्रवृत्तिघटनात्, तदप्रसक्तौ विवादानुपपत्तेरनुमानवैयर्थ्यं स्यात् । सामान्यतो दृष्टस्यापि देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमानस्य तदगतिमत्त्वस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधादेवोपपत्तेः । स[22]कलं सामान्यतो दृष्टमेव वा; सर्वत्र[23] सामान्येनैव लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्य प्रतिपत्तेः, विशेषतस्तत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः । ततोनुमानं तत्प्रभेदं चे[24]च्छताऽविनाभाव एवैकं हेतोः प्रधानं लक्षणं प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु चास्तु प्रधानं लक्षणमविनाभावो हेतोः । तत्स्वरूपं तु निरूप्यतामप्रसिद्धस्वरूपस्य लक्षणत्वायोगादित्याशङ्क्य सहक्रमेत्यादिना तत्स्वरूपं निरूपयति—

---

१ लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः पूर्वं निश्चीयमानत्वात् पूर्वः सोस्यानुमानस्यास्तीति पूर्ववत् । अग्निमान्पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसवदित्युदाहरणम् । २ महानसे । ३ पर्वते । ४ शेषः परिशिष्यमाणोर्थः सोस्यास्तीति शेषवत् । अत्रोदाहरणं शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद्रूपवदिति । ५ उद्धरितार्थस्याकाशादेः । ६ अनुमानम् । ७ साध्यसाधनं नास्तीति चेत् । ८ हेतूनाम् । ९ देवदत्ते गतिमत्त्वदेशाद्देशान्तरप्राप्त्योः साध्यसाधनयोर्धर्मयोः सामान्येन प्रतिपत्तिः । १० पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टलक्षणानाम् । ११ ऊहलक्षणात् । १२ क्वचिदनाश्रितत्वस्य । १३ घटस्य । १४ क्वचिदाश्रितत्वस्य । १५ आकाशस्य । १६ क्वचिदाश्रितत्वस्य । १७ रूपादौ । १८ शब्दे क्वचिदाश्रितत्वस्य । १९ गुणवत्त्वस्य । २० देशाद्देशान्तरप्राप्तेर्गतिमत्त्वाविनाभाविन्या देवदत्ते प्रतिपत्तिर्नास्तीति चेत् । २१ आदित्यगतिमत्त्वस्य । २२ पूर्ववच्छेषवदित्यनुमानद्वयम् । २३ अनुमाने । २४ यौगेन भवता ।

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १६ ॥

सहभावनियमः क्रमभावनियमश्चाविनाभावः प्रतिपत्तव्यः। कयोः पुनः सहभावः कयोश्च क्रमभावो यन्नियमो[1]ऽविनाभावः स्यादित्याह—

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१८॥

सहचारिणो रूपरसादिलक्षणयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वादिस्वभावयोः सहभावः प्रतिपत्तव्यः। पूर्वोत्तरचारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयोश्चाग्निधूमादिस्वरूपयोः क्रमभाव इति।

कुतोसौ प्रोक्तप्रकारोऽविनाभावो निर्णीयते इत्याह—

तर्कात्तन्निर्णयः[2] ॥ १९ ॥

न पुनः प्रत्यक्षादेरित्युक्तं तर्कप्रामाण्यप्रसाधनप्रस्तावे।

ननु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तत्र किं साध्यमित्याह—

इष्टम[3]बाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ २० ॥

संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूपं सिद्धमुच्यते, तद्विपरीतमसिद्धम्। तच्च—

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां[4] साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥ २१ ॥

किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति चलितप्रतिपत्तिविषयभूतो ह्यर्थः सन्दिग्धोभिधीयते। शुक्तिकाशकले रजताध्यवसायलक्षणविपर्यासगोचरस्तु विपर्यस्तः। गृहीतो[5]ऽगृहीतोपि वार्थो यथावदनिश्चितस्वरूपोऽव्युत्पन्नः। तथाभूतस्यैवार्थस्य साधने[6] साधनसामर्थ्यात्, न पुनस्तद्विपरीतस्य तत्र तद्वैफल्यात्।

इष्टाऽबाधितविशेषणद्वयस्यानिष्टेत्यादिना[7] फलं दर्शयति—

---

१ ताद्भिः (षष्ठीद्विवचनमित्यर्थः)। ययोः। २ तस्य अविनाभावस्य। ३ साध्यत्वेनाभिप्रेतम्। ४ अर्थानाम्। ५ पूर्वम्। ६ सिद्धौ। ७ सूत्रेण।

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥ २२ ॥

अनिष्टं हि सर्वथा नित्यत्वं शब्दे जैनस्य । अश्रावणत्वं[1] तु प्रत्यक्षबाधितम् । आदिशब्देनानुमानादिबाधितपक्षपरिग्रहः । तत्रानुमानबाधितः यथा-नित्यः शब्द[2] इति[3] । आगमबाधितः यथा-प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म[4] इति । स्ववचनबाधितः यथा-माता मे बन्ध्येति[5] । लोकबाधितः यथा-शुचि नरशिरःकपालमिति[6] । तयोर[7]निष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ।

ननु यथा शब्दे कथञ्चिदनित्यत्वं जैनस्येष्टं तथा सर्वथाऽनित्यत्वमाकाशगुणत्वं चान्यस्येति[8] तदपि साध्यमनुषज्यते । न च वादिनो[9] यदिष्टं तदेव साध्यमित्यभिधातव्यम्; सामान्याभिधायित्वेनेष्टस्यान्यत्रा[10]प्यविशेषात् । इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ २३ ॥

विशेषणम् । न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणं प्रतिनियतत्वाद्विशेषणविशेष्यभावस्य । तत्रा[11]सिद्धमिति साध्यविशेषणं प्रतिवाद्यपेक्षया न पुनर्वाद्यपेक्षया, तस्यार्थस्वरूपप्रतिपादकत्वात् । न चाविज्ञातार्थस्वरूपः प्रतिपादको नामातिप्रसङ्गात् । प्रतिवादिनस्तु प्रतिपाद्यत्वात्तस्य चाविज्ञातार्थस्वरूपत्वाविरोधात् तदपेक्षयैवेदं विशेषणम् । इष्टमिति तु साध्यविशेषणं वाद्यपेक्षया, वादिनो हि यदिष्टं तदेव साध्यं न सर्वस्य । तदिष्टमप्यध्यक्षाद्यबाधितं साध्यं भवतीति प्रतिपत्तव्यं तत्रैव साधनसामर्थ्यात् ।

तदेव समर्थयमानः प्रत्यायनाय हीत्याद्याह—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २४ ॥

इच्छया खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते । स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनाय चेच्छा वक्तुरेव ।

तस्य चोक्तप्रकारस्य साध्यस्य हेतो[12]र्व्याप्तिप्रयोगकालापेक्षया साध्यमित्यादिना भेदं दर्शयति—

---

१ शब्दः अश्रावण इत्युक्ते । २ प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति हेतुः । ३ कृतकत्वादिति हेतुना बाध्यः पक्षोऽत्र । ४ पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् । ५ पुरुषसंयोगेपि अगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत् । ६ प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् । ७ साध्ययोः । ८ वैशेषिकस्य । ९ जैनस्य । १० प्रतिवादिन्यपि । ११ इष्टाऽसिद्धयोर्मध्ये । १२ सम्बन्धिनः ।

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २५ ॥

क्वचिद्व्याप्तिकाले साध्यं धर्मो नित्यत्वादिस्तेनैव हेतोर्व्याप्तिसम्भवात्। प्रयोगकाले तु तेन साध्यधर्मेण विशिष्टो धर्मी साध्यमभिधीयते, प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः[1] साधयितुमिष्टत्वात् साध्यव्यपदेशा[2]विरोधः।

अस्यैव पर्यायमाह—

पक्ष इति यावत् ॥ २६ ॥

ननु च कथं धर्मी पक्षो धर्मधर्मिसमुदायस्य तत्त्वात्; तन्न; साध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टस्य पक्षाभिधाने[3] दोषाभावात्।

स च पक्षत्वेनाभिप्रेतः—

प्रसिद्धो धर्मी ॥ २७ ॥

तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्[4]विकल्पतः क्वचित्प्रत्यक्षादितः क्वचिच्चोभयत इति प्रदर्शनार्थम्–'प्रत्यक्षसिद्धस्यैव धर्मित्वम्' इत्येकान्तनिराकरणार्थं च विकल्पसिद्ध इत्याद्याह—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥ २८ ॥

अस्ति सर्वज्ञः नास्ति खरविषाणमिति ॥ २९ ॥

विकल्पेन[5] सिद्धे तस्मिन्धर्मिणि सत्तेतरे[6] साध्ये हेतुसामर्थ्यतः। यथा अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, नास्ति खरविषाणं तद्विपर्ययादिति। न खलु सर्वज्ञखरविषाणयोः सदसत्तायां साध्यायां विकल्पादन्यतः सिद्धिरस्ति; तत्रेन्द्रियव्यापाराभावात्।

ननु चेन्द्रियप्रतिपन्न एवार्थे मनोविकल्पस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्रेन्द्रियव्यापाराभावे विकल्पस्यापि प्रवृत्तिः; इत्यप्यपेशलम्; धर्माधर्मादौ तत्प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्। आगमसामर्थ्यप्रभवत्वेनास्यात्र प्रवृत्तौ प्रकृतेप्यतस्तत्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्।

---

१ शब्दस्य। २ इति। ३ पक्ष इति। ४ अनुमाने। ५ निश्चितसंवादः संवादः (अनिश्चितसंवादासंवादः) शब्दप्रत्ययो विकल्पस्तेन। ६ असत्ता। ७ इन्द्रियव्यापाराभावात्। ८ शब्दगम्यत्वाविशेषात्।

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥ ३० ॥

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ३१

प्रमाणं प्रत्यक्षादिकम्, उभयं प्रमाणविकल्पौ, ताभ्यां सिद्धे पुनर्धर्मिणि साध्यधर्मेण विशिष्टता साध्या। यथाग्निमानयं देशः, परिणामी शब्द इति। देशो हि धर्मित्वेनोपात्तोऽध्यक्षप्रमाणत एव प्रसिद्धः, शब्दस्तूभाभ्याम्[1]। न खलु देशकालान्तरिते ध्वनौ प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते, श्रूयमाणमात्र एवास्य प्रवृत्तिप्रतीतेः। विकल्पस्य त्वऽनियतविषयतया तत्र प्रवृत्तिरविरुद्धैव।

ननु चैवं[2] देशस्याप्यग्निमत्त्वे साध्ये कथं प्रत्यक्षसिद्धता? तत्र हि दृश्यमानभागस्याग्निमत्त्वसाधने प्रत्यक्षबाधनं साधनवैफल्यं वा[3], तत्र साध्योपलब्धेः। अदृश्यमानभागस्य तु तत्साधने कुतस्तत्प्रत्यक्षतेति? तदप्यसमीचीनम्; अवयविद्रव्यापेक्षया[4] पर्वतादेः सांव्यवहारिक[5]प्रत्यक्षप्रसिद्धताभिधानात्। अतिसूक्ष्मेक्षिका[6]पर्यालोचने न किञ्चित्प्रत्यक्षं स्यात्, बहिरन्तर्वाऽस्मदादिप्रत्यक्षस्याशेषविशेषतोऽर्थसाक्षात्करणेऽसमर्थत्वात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तत्र सामर्थ्यात्।

ननु प्रयोगकालवद्व्याप्तिकालेपि तद्विशिष्ट[7]स्य धर्मिण एव साध्यव्यपदेशः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ ३२ ॥

न पुनस्तद्वान्।

अन्यथा तदघटनात् ॥ ३३ ॥

अनेन हेतोरन्वयासिद्धेः। न खलु यत्र यत्र कृतकत्वादिकं प्रतीयते तत्र तत्रानित्यत्वादिविशिष्टशब्दाद्यन्वयोस्ति।

'[8]ननु प्रसिद्धो धर्मीत्यादिपक्षलक्षणप्रणयनमयुक्तम्; अस्ति सर्वज्ञ इत्याद्यनुमानप्रयोगे पक्षप्रयोगस्यैवासम्भवात् अर्थादापन्नत्वा[9]त्तस्य। अर्थादापन्नस्याप्यभिधाने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गः-"अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानं पुनरुक्तम्" [न्यायसू० ५।२।१५] इत्यभिधानात्। तत्प्रयोगेपि च हेत्वादिवचनमन्तरेण साध्याप्रसिद्धेः

१ प्रसिद्धः। २ शब्दस्य केवलप्रत्यक्षतः सिद्ध्यभावप्रकारेण। ३ स्यात्। ४ नाऽवयव(प्रदेश)द्रव्यापेक्षया। ५ असर्वज्ञप्रत्यक्ष। ६ विचार। ७ साध्यधर्म। ८ बौद्धः। ९ अर्थादापन्नस्य।

स्तद्वचनादेव च तत्प्रसिद्धेर्व्यर्थः पक्षप्रयोगः' इत्याशङ्क्य साध्यधर्माधारेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३४ ॥

साध्यधर्मोऽस्तित्वादिः, तस्याधार आश्रयः यत्रासौ साध्यधर्मो वर्त्तते, तत्र सन्देहः-किमसौ साध्यधर्मोऽस्तित्वादिः सर्वज्ञे वर्त्तते सुखादौ वेति, तस्यापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मो[2]पसंहारवत् ॥ ३५ ॥

तस्याऽवचनं साध्यसिद्धिप्रतिवन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽयुक्तः; वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ साधयितुं प्रस्तुतायां प्रतिज्ञाप्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाभावात् ततः प्रतिपक्षासिद्धेः । द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; तत्प्रयोगे प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्, पक्षाऽप्रयोगे तु केषाञ्चिन्मन्दमतीनां प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेः । ये तु तत्प्रयोगमन्तरेणापि प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते तान्प्रति तदप्रयोगोऽभीष्ट एव । "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः" [ ] इत्यभिधानात् । ततो युक्तो गम्यमानस्याप्यस्य प्रयोगः, कथमन्यथा शास्त्रादावपि प्रतिज्ञाप्रयोगः स्यात् ? न हि शास्त्रे नियतकथायां प्रतिज्ञा नाभिधीयते-'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोयं शिंशपात्वात्' इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात् । परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां[6] प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेवोपयोगित्वात्तस्येत्यभिधाने वादेपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वात् ।

अमुमेवार्थं को वेत्यादिना परोपहसनव्याजेन समर्थयते—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ? ॥ ३६ ॥

को वा प्रामाणिकः कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन पक्षधर्मत्वादि-

---

१ व्याप्तिप्रदर्शनद्वारेण । २ सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणश्चायमिति साधनस्य पक्षधर्मत्वेन प्रदर्शनमुपसंहारस्तद्वत् । ३ अस्ति सर्वज्ञ इति । ४ गम्यमानस्य पक्षस्य प्रयोगो न स्याद्यदि । ५ सुगोप्यम् । ६ धर्मकीर्त्यादीनाम् । ७ सौगतेन । ८ मिषेण ।

रूपत्रयभेदेन वा त्रिधा हेतुमुक्त्वाऽसिद्धत्वादिदोषपरिहारद्वारेण समर्थयमानो न पक्षयति ? अपि तु पक्षं करोत्येव । न चाऽसमर्थितो हेतुः साध्यसिद्ध्यङ्गमतिप्रसङ्गात्[1] । ततः पक्षप्रयोगमनिच्छता हेतुमनुक्त्वैव तत्समर्थनं कर्त्तव्यम् । हेतोरवचने कस्य समर्थनमिति चेत् ? पक्षस्याप्य[2]नभिधाने क्व हेत्वादिः[3] प्रवर्त्तताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्; गम्यमानस्य हेत्वादेरपि समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादे[4]र्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचने तदर्थमेव प्रतिज्ञावचनमप्यस्तु विशेषाभावात् । ततः साध्यप्रतिपत्तिमिच्छता हेतुप्रयोगवत्पक्षप्रयोगोऽप्यभ्युपगन्तव्यः । तद्द्वयस्यैवानुमानाङ्गत्वात्, इत्या[5]ह—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्, नोदाहरणम् ॥ ३७ ॥

ननु "पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १।१।३२ (?)] इत्यभिधानाद् दृष्टान्तादेरप्यनुमानाङ्गत्वसम्भवादेतद्द्वयमेवाङ्गमित्ययुक्तमुक्तम् । प्रतिज्ञा ह्यागमः । हेतुर[6]नुमानम्, प्रतिज्ञातार्थस्य तेनानुमीयमानत्वात् । उ[7]दाहरणं प्रत्यक्षम्, "वादिप्रतिवादिनोर्यत्र[8] बुद्धिसाम्यं तदुदाहरणम्" [ ] इति वचनात् । उपनय उपमानम्, दृष्टान्तधर्मिसाध्यधर्मिणोः सादृश्यात्, "प्र[9]सिद्धसाधर्म्यात्[10]साध्य[11]साधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्यभिधानात् । स[12]र्वेषामेकविषय[13]त्वप्रदर्शनफलं निगमनमित्याशङ्क्योदाहरणस्य तावत्तदङ्गत्वं निराकुर्वन्नाह–नोदाहरणम् । अनुमानाङ्गमिति सम्बन्धः ।

तद्धि किं साक्षात्साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुपादीयते, हेतोः साध्याविनाभावनि[14]श्चयार्थं वा, व्याप्तिस्मरणार्थं वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः—

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥ ३८ ॥

---

१ हेत्वाभासस्यापि साध्यसिद्ध्यङ्गताप्रसङ्गात् । २ न केवलं हेतोः । ३ साध्यं च । ४ साध्यसाधनस्यैव परिहारेण दृष्टान्तस्य समर्थनमादिशब्देन ग्राह्यम् । ५ एतत् । ६ करणे युट् । ७ महानसादि । ८ धूमवत्त्वेन । ९ प्रसिद्धं महानसं तेन साधर्म्यं पर्वतस्य धूमवत्त्वेन । १० धूमवांश्चायम् । ११ धूमवत्त्वशब्दवाच्यत्वं पर्वतस्य साध्यं तस्य साधनं ज्ञानम् । १२ प्रमाणानाम् । १३ अग्नित्व । १४ अक्रमपरम्परया साध्यप्रतिपत्तिः कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिरिति ।

न हि तत् साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव साध्याविनाभावनियमैकलक्षणस्य व्यापारात्। द्वितीयविकल्पोप्यसम्भाव्यः—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥ ३९ ॥

न हि हेतोस्तेन साध्येनाविनाभावस्य निश्चयार्थं वा तदुपादानं युक्तम्; विपक्षे [1]बाधकादेव तत्सिद्धेः । न हि सपक्षे सत्त्वमात्राद्धेतोर्[2]व्याप्तिः सिध्यति, 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र तदाभासेपि तत्सम्भवात्। ननु साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधन निवृत्तेरत्रासम्भवात्परत्र गौरेपि तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य भावान्न व्याप्तिः; तर्हि साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिनिश्चयरूपाद्बा[3]धकादेव व्याप्तिप्रसिद्धेरलं दृष्टान्तकल्पनया।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ४० ॥

किञ्च, वादिप्रतिवादिनोर्यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तो भवति प्रतिनियतव्यक्तिरूपः, [4]यथाऽग्नौ साध्ये महानसादिः। व्यक्तिरूपं च निदर्शनं कथं [5]तदविनाभावनिश्चयार्थं स्यात्? प्रतिनियतव्यक्तौ तन्निश्चयस्य कर्तुमशक्तेः। [6]अनियतदेशकालाकाराधारतया सामान्येन तु व्याप्तिः। कथमन्यथा[7]न्यत्र[8] साधनं साध्यं साधयेत्? तत्रापि दृष्टान्तेपि तस्यां व्याप्तौ विप्रतिपत्तौ सत्यां दृष्टान्तान्तरान्वेषणेऽनवस्थानं स्यात्।

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥ ४१ ॥

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं दृष्टान्तोपादानं तथाविधस्य प्रतिपन्नाविनाभावस्य हेतोः प्रयोगादेव तत्स्मृतेः। एवं चाप्रयोजनं तदुदाहरणम्।

---

१ ऊहात्। २ अविनाभावः। ३ ऊहात्। ४ पर्वते। ५ साध्यसाधनयोः। ६ प्रतिनियतव्यक्तौ तन्निश्चयस्य कर्तुमशक्तेरित्येतद्भावयति। ७ सामान्येन व्याप्तिर्न स्याद्यदि। ८ दृष्टान्तादन्यत्र।

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥ ४२ ॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ? ॥ ४३ ॥

परं केवलमभिधीयमानं साध्यसाधने साध्यधर्मिणि सन्देहयति सन्देहवती करोति[1]। कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ?

मा भूद्दृष्टान्तस्यानुमानं प्रत्यङ्गत्वमुपनयनिगमनयोस्तु स्यादित्याशङ्कापनोदार्थमाह—

न च ते तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयात् ॥ ४४ ॥

न च ते[2] तदङ्गे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेव हेतुसाध्यप्रतिपत्तौ संशयाभावात्। तथापि दृष्टान्तादेरनुमानावयवत्वे हेतुरूपत्वे[3] वा—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥ ४५ ॥

समर्थनमेव वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु[5] साध्ये तस्योपयोगात्। समर्थनं[6] हि नाम हेतोरसिद्धत्वादिदोषं निराकृत्य स्वसाध्येनाऽविनाभावसाधनम्। साध्यं प्रति हेतोर्गमकत्वे च तस्यैवोपयोगो नान्यस्येति।

ननु व्युत्पन्नप्रज्ञानां साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयादर्थप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तादिवचनमनर्थकमस्तु। बालानां त्वव्युत्पन्नप्रज्ञानां व्युत्पत्त्यर्थं तन्नानर्थकमित्याह[7]—

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥ ४६ ॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे दृष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाभ्युप-

---

१ यदि सन्देहवती न करोति। २ उपनयनिगमनादेश्च। ३ सपक्षे दृष्टान्ते सत्त्वमुपनयश्च हेतुस्वरूपम्। कुतः? त्रिरूपो हेतुर्यत इति सौगतः। ४ हेतुलक्षणं कीदृशम्? दृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणत्रिरूपत्वप्रदर्शनस्वरूपम्। ५ हेतुरूपोऽस्तु। कथम्? हेतोः समर्थनं हेतुरेवेत्यनेन प्रकारेण। ६ विपक्षे साकल्येन बाधकप्रमाणप्रदर्शनं हेतुसमर्थनम्। ७ एतदेव।

गमे, शास्त्र एवासौ तदभ्युपगमः कर्तव्यः न वादेऽनुपयोगात्। न खलु वादकाले शिष्या व्युत्पाद्यन्ते व्युत्पन्नप्रज्ञानामेव वादेऽधिकारात्। शास्त्रे चोदा[1]हरणादौ व्युत्पन्नप्रज्ञा वा[2]दिनो वादकाले ये प्रतिवादिनो यथा प्रतिपद्यन्ते तान् तथैव प्रतिपादयितुं समर्था भवन्ति, प्रयोगपरिपाट्याः प्रतिपाद्यानुरोधतो जिनपतिमतानुसारिभिरभ्युपगमात्।

त[3]त्र तद्व्युत्पादनार्थं दृष्टान्तस्य स्वरूपं प्रकारं चोपदर्शयति—

दृ[4]ष्टान्तो द्वेधाऽन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥ ४७ ॥

दृष्टो हि विधिनिषेधरूपतया वादिप्रतिवादिभ्यामविप्रतिपत्त्या प्रतिपन्नोऽन्तः साध्यसाधनधर्मौ यत्रासौ दृष्टान्त इति व्युत्पत्तेः।

अथ कोऽन्वयदृष्टान्तः कश्च व्यतिरेकदृष्टान्त इति चेत्—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोन्वयदृष्टान्तः ॥ ४८ ॥

यथाग्नौ साध्ये महानसादिः।

साध्याभावे साधनव्यतिरेको यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

यथा तस्मिन्नेव साध्ये महाह्रदादिः।

अथ को नाम उपनयो निगमनं वा किमित्याह—

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥ ५० ॥

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥ ५१ ॥

प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम्। उपनयो हि साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिण्युपनीयते येनोपदर्श्यते हेतुः सोभिधीयते। निगमनं तु प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणै[5]कार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते येन तदिति।

तच्चानुमानं द्व्य[6]वयवं त्र्य[7]वयवं पञ्चा[8]वयवं वा द्विप्रकारं भवतीति दर्शयन्—

---

१ शास्त्रे यदुदाहरणादि तस्मिन्। २ वा। ३ एवं च सति। ४ सामान्यतः स्वरूपं दृष्टान्तेनोक्तं शेषतस्तत्स्वरूपं तु साध्यव्याप्तमित्यादिना दर्शयति। ५ बसः। ६ जैनस्य। ७ मीसांसकस्य। ८ यौगस्य।

तदनुमानं द्वेधा ॥ ५२ ॥

इत्याह[1]।

कुतस्तद् द्वेधेति चेत्?

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥ ५३ ॥

तत्र—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥ ५४ ॥

स्वार्थमनुमानं साधनात्साध्यविज्ञानमित्युक्तलक्षणम्।

किं पुनः परार्थानुमानमित्याह परार्थमित्यादि—

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥ ५५ ॥

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधने तत्परामर्शि[2]वचनाज्जातं यत्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्।

ननु वचनात्मकं परार्थानुमानं प्रसिद्धम्, तच्चोक्तप्रकारं साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमिति वर्णयता कथं सङ्गृहीतमित्याह—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥ ५६ ॥

तद्वचनमपि तदर्थपरामर्शिवचनमपि तद्धेतुत्वात्[3] ज्ञानलक्षणमुख्यानुमानहेतुत्वादुपचारेण परार्थानुमानमुच्यते। उपचारनिमित्तं चास्य प्रतिपादकप्रतिपाद्यापेक्षयानुमानकार्यकारणत्वम्। तत्प्रतिपादकज्ञानलक्षणानुमान(नं)हेतुः कारणं यस्य तद्वचनस्य, तस्य वा प्रतिपाद्यज्ञानलक्षणानुमानस्य हेतुः कारणम्, तद्भाव[4]स्तद्धेतुत्वम्, तस्मादिति। मुख्यरूपतया तु ज्ञानमेव प्रमाणं परनिरपेक्षतयाऽर्थप्रकाशकत्वादिति प्राक्प्रतिपादितम्।

यथा चानुमानं द्विप्रकारं तथा हेतुरपि द्विप्रकारो भवतीति दर्शनार्थं स हेतुर्द्वेधेत्याह[5]—

स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् इति ॥५७॥

योऽविनाभावलक्षणलक्षितो हेतुः प्राक्प्रतिपादितः स द्वेधा भवति उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।

तत्रोपलब्धिर्विधिसाधिकैवानुपलब्धिश्च प्रतिषेधसाधिकैवेत्यनयोर्विषयनियममुपलब्धिरित्यादिना विघटयति—

---

१ अनेन प्रकारेण। २ तद्द्योति। ३ परार्थानुमानमुच्यते इति सम्बन्धः। ४ हेतोः। ५ अनेन प्रकारेण।

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥ ५८ ॥

अविनाभावनिमित्तो हि साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावः । यथा चोपलब्धेर्विधौ साध्ये[1]ऽविनाभावाद्गमकत्वं तथा प्रतिषेधेपि । अनुपलब्धेश्च यथा प्रतिषेधे[2] ततो गमकत्वं तथा विधावपी[3]त्यग्रे स्वयमेवाचार्यो वक्ष्यति ।

सा चोपलब्धिर्द्विप्रकारा भवत्यविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥ ५९ ॥

तत्र साध्येनाविरुद्धस्य व्याप्यादेरुपलब्धिर्विधौ साध्ये षोढा भवति व्याप्य[4]कार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।

न[5]नु कार्यकारणभावस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं कार्यं कारणस्य तद्वा कार्यस्य गमकं स्यादित्य[6]प्यास्तां तावद्विषयपरिच्छेदे सम्बन्धपरीक्षायां कार्यकारणतादि[7]सम्बन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् ।

ननु प्रसिद्धेपि कार्यकारणभावे कार्यमेव कारणस्य गमकं तस्यैव तेनाविनाभावात्, न पुनः कारणं कार्यस्य तदभावात्; इत्यसङ्गतम्; कार्याविनाभावितयाऽवधारितस्यानुमानकालप्राप्तस्य छत्रा[8]देर्विशिष्टकारणस्य छाया[9]दिकार्यानुमापकत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । न ह्यनुकूलमात्रमन्त्य[10]क्षणप्राप्तं वा कारणं लिङ्गमुच्यते, येन प्रति[11]बन्ध[12]वैकल्य[13]सम्भवाद्व्यभिचारि स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यस्य प्रत्यक्षीकरणादनुमानानर्थक्यं वा । तदेव समर्थयमानो रसादेकसामग्र्यनुमानेनेत्याद्याह—

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥ ६० ॥

---

१ साध्ये । अविनाभावाद्गमकत्वमुपलब्धेः । २ साध्ये । ३ साध्ये । ततो गमकत्वमनुपलब्धेः । ४ स्वभावहेतुरयम् । ५ ज्ञानाद्वैतवादी शून्यवादी वा बौद्धविशेषः प्राह । ६ न केवलमग्रे प्राक्तनं वक्ष्यतीत्यपि । ७ आदिना संयोगादिग्रहणम् । ८ चन्द्रवृद्धेर्वा । ९ आदिना समुद्रवृद्धिः । १० तन्तुसंयोगरूप । ११ मन्त्रौषधादिना प्रतिबन्धः । १२ द्वन्द्वः । १३ सहकारिणां क्षित्यादीनां वैकल्यम् ।

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका सामग्र्यनुमीयते । पश्चात्तदनुमानेन रूपानुमानम् । सजातीयं हि रूपक्षणान्तरं जनयन्नेव प्राक्तनो रूपक्षणो विजातीयरसादिक्षणान्तरोत्पत्तौ प्रभुर्भवेन्नान्यथा । तथा चैकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये भवतः ।

अथ पूर्वोत्तरचारिणोः प्रतिपादितहेतुभ्योर्थान्तरत्वसमर्थनार्थमाह—

न च पूर्वोत्तरकालवर्त्तिनोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥ ६१ ॥

प्रयोगः–यद्यत्काले अनन्तरं वा नास्ति न तस्य तेन तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा यथा भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्तिकाले असतो रावणादेः, नास्ति च शकटोदयादिकाले अनन्तरं वा कृत्तिकोदयादिकमिति । तादात्म्यं हि समसमयस्यैव कृतकत्वानित्यत्वादेः प्रतिपन्नम् । अग्निधूमादेश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव तदुत्पत्तिः, न पुनर्व्यवहितकालस्य अतिप्रसङ्गात् ।

ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृत्तिकोदयस्य गमकत्वात्कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भाव इति चेत्? कथमेवमभूद्भरण्युदयः कृत्तिकोदयादित्यनुमानम्? अथ भरण्युदयोपि कृत्तिकोदयस्य कारणं तेनायमदोषः; ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात्कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयात्; तदा भरण्युदयादिवाऽतोपि पश्चादसौ स्यात् । यथा च शकटोदयात्प्राक्तथैव भरण्युदयादपि । यदि चातीतानागतयोरेकत्र कार्ये व्यापारः, तर्ह्यास्वाद्यमानरसस्यातीतो रसो भावि च रूपं हेतुः स्यात् । ततो

---

१ तस्य सहकारिकारणस्य । २ समर्थः । ३ विशिष्टं नाङ्कुरादिरूपं कारणम् । ४ मणिमन्त्रादिना । ५ क्षित्युदकादिकस्य । ६ हेत्वोः । ७ साध्यसाधनयोः । ८ तादात्म्यतदुत्पत्ती धर्मिणौ कृत्तिकोदयशकटोदययोर्न भवतः शकटोदयकालेऽनन्तरं वा कृत्तिकोदयस्यानुपलब्धेः । ९ तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा । १० सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सतीदं वाक्यम् । ११ रावणशङ्खचक्रवर्तिनोरतीतानागतयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । १२ बौद्धानां मध्ये प्रज्ञाकरबौद्धो नाम भाविकारणवादी कश्चिद्ग्रन्थकारः । १३ पूर्वचरस्य । १४ पूर्वचरस्य कार्यहेतावन्तर्भावप्रकारेण । १५ भूतकारणवादिमतमाश्रित्योच्यते । १६ अनुमानाभावलक्षणः । १७ कृत्तिकोदयः । १८ रोहिणी । १९ कृत्तिकोदयः । २० प्राक् कृत्तिकोदयः स्यात् ।

न वर्त्तमानस्य रूपस्य वातीतस्य वा प्रतीतिः। इत्ययुक्तमुक्तम्-"अतीतैक[1]कालानां[2] गतिर्नोऽनागतानाम्" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१३] इति। अथान्यतरकार्यमसौ; तर्ह्यन्यतर[3]स्यैवातः प्रतीतिर्भवेत्।

ननु स्व[4]सत्तासमवायात्पूर्वमसन्तोपि मरणादयो[5]ऽरिष्टादि[6]कार्यकारिणो दृष्टास्ततोऽनेका[7]न्तो हेतोरित्याशङ्क्य भाव्यतीतयोरित्यादिना प्रतिविधत्ते—

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ॥ ६२ ॥

तद्[8]व्यापाराश्रितं हि तद्[9]भावभावित्वम् ॥ ६३ ॥

न च पूर्वमेवोत्पन्नमरिष्टं करतलरेखादिकं वा भाविनो मरणस्य राज्यादेर्व्यापारमपेक्षते, स्वयमुत्पन्नस्यापरापेक्षायोगात्। अथास्योत्पत्तिर्मरणादिनैव क्रियते[10]; न; असतः[11] खरविषाणवत्कर्तृत्वायोगात्। कार्यकालेऽसत्त्वेपि स्वकाले सत्त्वाददोषश्चेत्; ननु किं भाविनो मरणादेः स्वकाले पूर्वं[12] सत्त्वम्, अरिष्टादेर्वा[13]। भाविनः पूर्वं सत्त्वे ततः पश्चादरिष्टादिकमुपजायमानं पाश्चात्यं न पूर्वम्। इत्ययुक्तमुक्तम्-'पूर्वमसन्तोपि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणः' इति। अथान्यभाविमरणाद्यपेक्षयारिष्टादिकं पूर्वमुच्यते; ननु तदपि सत् स्वकाले यदि ततः प्रागेव स्यात्; तर्हि पाश्चात्यमरिष्टादिकं कथं ततः पूर्वमुच्यते? अन्यभाविमरणाद्यपेक्षया चेदनवस्था।

अथ पूर्वमरिष्टा[14]दिकं स्वकाले पश्चाद्भाविमरणादिकं स्वकालनियतं भवेत्; तर्हि निष्पन्नस्य निराकाङ्क्षस्यास्य पश्चादुपजायमानेन मरणादिना कथं करणं कृतस्य करणायोगात्? अन्यथा न क्वचित्कार्ये कस्यचित्कारणस्य कदाचिदुपरमः स्यात्, पुनःपुनस्तस्यैव करणात्। अथ निष्पन्न[15]स्याप्यनिष्पन्नं किञ्चिद्रूपमस्ति तत्करणात्तत्तत्कारणं कल्प्यते[16], तत्ततो यद्यभिन्नम्; तदेव तत्तस्य च न करणमित्युक्तम्। भिन्नं चेत्; तदेव तेन क्रियते नारिष्टादिकमित्यायातम्। तत्सम्बन्धिनस्तस्य करणात्तदपि कृतमिति चेत्;

---

१ अतीतश्चैकश्च अतीतैकौ कालौ येषां रूपादीनाम्। २ साध्यार्थानाम्। ३ शकटोदयभरण्युदययोर्मध्ये। ४ कारणस्य। ५ आदिना राज्यादयश्च। ६ उत्पातहस्तरेखादि। ७ अरिष्टादिना। ८ कारणस्य। ९ कारणस्य। १० इति चेत्। ११ अरिष्टादिकाले। १२ मरणादेः सकाशात्पूर्वं सत्त्वम्। १३ सकाशात्। १४ द्वितीयविकल्पोयम्। १५ अरिष्टादेः। १६ परेण।

भिन्नयोः[1] कार्यकारणभावान्नान्यः[2] सम्बन्धः, स्वयं सौगतैस्तथा[3]ऽभ्युपगमात्। तत्र चारिष्टादिना तत्[4]क्रियेत, तेन[5] वारिष्टादिकम्? प्रथमपक्षेऽरिष्टादेरेव तन्निष्पत्तेर्मरणादिकमकिञ्चित्करमेव कंचि[6]दप्यनुपयोगात्। तेनारिष्टादिकरणे पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चादुपजायमानेन तेन किं क्रियत इत्युक्तम्। अथाऽनिष्पन्नं किञ्चिदस्ति; तत्रापि पूर्ववच्चर्चानवस्था च।

ननु यद्यत्र कार्यकारणभावो न स्यात्कथं तर्हि एकदर्शनादन्यानुमानमिति चेत्; 'अविनाभावात्' इति ब्रूमः। तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धेप्यविनाभावादेव गमकत्वम्। तदभावे वक्तृत्वतत्पुत्रत्वादेस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धे सत्यपि असर्वज्ञत्वे श्यामत्वे च साध्ये गमकत्वाप्रतीतेः। तदभावेपि चाविनाभावप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोदय-उद्गृहीताण्डकपिपीलिकोत्सर्पण-एकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूनां यथाक्रमं शकटोदय-समानसमयसमुद्रवृद्धि-भाविवृष्टि-समसमयसिन्दूरारुणरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वप्रतीतेश्च। तदुक्तम्—

"कार्यकारणभावा[10]दिसम्बन्धानां द्वयी ग[11]तिः।
नियमा[12]नियमाभ्यां स्यादनियमादनङ्ग[13]ता ॥ १ ॥
सर्वे[14]ऽप्यनियमा[15] ह्येते[16] नानुमोत्पत्तिकारणम्।
नियमा[17]त्केवलादेव न किञ्चि[19]न्नानुमीयते ॥ २ ॥" [ ]

ततः शरीरनिर्वर्त्तकाऽदृष्टा[20]दिकारणकलापादरिष्टकरतलरेखादयो निष्पन्नाः भाविनो मरणराज्यादेरनुमापका इति प्रतिपत्तव्य[21]म्।

जाग्रद्बोधस्तु प्रबोधबोधस्य हेतुरित्येतत्प्रा[22]गेव प्रतिविहितम्, स्वापाद्यवस्थायामपि ज्ञानस्य प्रसाधितत्वात्। ततो भाव्यतीत-

---

१ निष्पन्नानिष्पन्नयोः। २ संयोगादिः। ३ अन्यसम्बन्धाभावप्रकारेण। ४ अनिष्पन्नम्। ५ अनिष्पन्नरूपेण। ६ कार्ये। ७ अरिष्टादि। ८ चटन। ९ अन्धकारावस्थायामास्वाद्यमानमाम्रफलं सिन्दूरारुणरूपयुक्तं भवति मधुररसोपेतत्वादुपभुक्ताम्रफलवत्। १० आदिना तादात्म्यसंयोगादि। ११ प्रकारः। १२ अविनाभावाभावात्। १३ अनुमानं प्रति। १४ अनियमादनङ्गतेत्येतदेवाचष्टे सर्वे इत्यादिना। १५ कार्यकारणतादात्म्यादयः। १६ वक्तृत्वतत्पुत्रत्वादीनां हेत्वाभासानां येऽविनाभावरहिताः कार्यकारणादिसम्बन्धास्ते सर्वे अनुमानोत्पत्तिकारणं न भवन्ति। १७ तर्ह्यनुमानोत्पत्तिं प्रति किं कारणमित्युक्ते सत्याह। १८ अविनाभावात्। १९ साध्यम्। २० आदिनात्मादि। २१ यौगेन। २२ मोक्षविचारावसरे।

योर्[1]मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्, येनाभ्याम-नैकान्तिको हेतुः स्यादिति स्थितम्।

यथा च पूर्वोत्तरचारिणोर्न तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा तथा—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थाना-त्सहो[2]त्पादाच्च ॥ ६४ ॥

य[3]योः परस्परपरिहारेणावस्थानं न तयोस्तादात्म्यम् यथा घट-पटयोः, परस्परपरिहारेणावस्थानं च सहचारिणोरिति । एक-कालत्वाच्चानयोर्न तदुत्पत्तिः। ययोरेककालत्वं न तयोस्तदुत्पत्तिः यथा सव्येतरगोविषाणयोः, एककालत्वं च सहचारिणोरिति।

न चास्वाद्यमानाद्रसात्सामग्र्यनुमानं ततो रूपानुमान[4]मनुमिता-नुमाना[5]दित्यभिधा[6]तव्यम्; तथा व्यवहाराभावात्। न हि आस्वाद्य-मानाद्रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति, रससमसमयस्य रूप-स्यानेनानुमानात्। व्यवहारेण च प्रमाणचिन्ता [7]भवता प्रतन्यते। "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात्। सामग्रीतो रूपानुमाने च कारणात्कार्यानुमानप्रसङ्गाल्लिङ्गसं[8]ख्या-व्याघातः स्यात्।

ता[9]नेव व्याप्यादिहेतून् बालव्युत्पत्त्यर्थमुदाहरणद्वारेण स्फुट-यति। तत्र व्याप्यो हेतुर्यथा—

परिणामी शब्दः, कृ[10]तकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वन्ध्यास्त-नन्धयः, कृतकश्चायम्, तस्मात् परिणामीति ॥६५॥

'दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्' इत्युक्तम्। तत्रान्वय-दृष्टान्तं प्रतिपाद्य व्यतिरेकदृष्टान्तं प्रतिपादयन्नाह—यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चा-यम्, तस्मात्परिणामीति । कृतकत्वं हि परिणामित्वेन व्याप्तम्।

---

१ साध्यसाधनयोः। २ तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावः। ३ तादात्म्यं सहचारिणो-र्नास्ति परस्परपरिहारेणावस्थानात्। ४ कृतम्। ५ अनुमितायाः सामग्र्याः सका-शादनुमानं रूपस्य। ६ परेण भवता। ७ सौगतेन। ८ त्रि। ९ उद्दिष्टानेव। १० अपेक्षितपरव्यापारः कृतक उच्यते।

पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामशून्यस्य सर्वथा नित्यत्वे क्षणिकत्वे वा शब्दस्य कृतकत्वानुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वाद्।

किं पुनः कार्यलिङ्गस्योदाहरणमित्याह—

अस्त्यत्र शरीरे बुद्धि[1]र्व्याहारादेः ॥ ६६ ॥

व्याहारो वचनम्। आदिशब्दाद्व्यापाराका[2]रविशेषपरिग्रहः। ननु ताल्वाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया शब्दस्योपलम्भात्कथमात्मकार्यत्वं येनातस्तदस्तित्वसिद्धिः स्यात्? न खल्वात्मनि विद्यमानेपि विवक्षाब[3]द्धप[4]रिकरे कफादिदोषकण्[5]ठादिव्यापाराभावे वचनं प्रवर्त्तते; तदप्यसारम्; शब्दोत्पत्तौ ताल्वादिसहायस्यैवात्मनो व्यापाराभ्युपग[6]मात्। घटाद्युत्पत्तौ चक्रादिसहायस्य कुम्भकारादेर्व्यापारवत्, कथमन्यथा[7] घटादेरप्यात्मकार्यता? कार्यकार्यादेश्च कार्यहेतावेवान्तर्भावः।

कारणलिङ्गं यथा—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥ ६७ ॥

कारणकारणादेरत्रैवानुप्रवेशान्नार्थान्तरत्वम्।

पूर्वचरलिङ्गं यथा—

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ ६८ ॥

पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव सङ्गृहीतम्।

उत्तरचरं लिङ्गं यथा—

उदगाद्भरणिस्तत एव ॥ ६९ ॥

कृत्तिकोदयादेव। उत्तरोत्तरचरमेतेनैव सङ्गृह्यते।

सहचरं लिङ्गं यथा—

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥ ७० ॥

संयोगि[11]न एकार्थसम[12]वायि[13]नश्च साध्यसमकालस्यात्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः।

---

१ आत्मा। २ सुच्छायतादि। ३ सहित। ४ सहाय। ५ कण्ठादिव्यवहाराभाव एव कारणम्। ६ जैनैः। ७ ताल्वाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन ताल्वादेरेव कार्यं शब्द इत्येवं यदि। ८ अभूदत्र शिवकः स्थासात्। ९ महोऽनत्यानां कण्ठाक्षेपविक्षेपकारी धूमवदग्निमत्त्वात्। कण्ठादिविक्षेपस्य कारणं धूमस्तस्य च कारणं वह्निरिति। १० उदाह्रियते। ११ आत्मनोऽत्राऽस्तित्वं विशिष्टशरीरात्। अत्रापि नैयायिकमतानुसरणे कार्यहेतोरेव धूमादेरियं संज्ञा। १२ नैयायिकमतानुसरणे सहचरहेतोरियं संज्ञा। १३ हेतोः।

अथाविरुद्धोपलब्धिमुदाहृत्येदानीं विरुद्धोपलब्धिमुदाहर्तुं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति ॥ ७१ ॥

प्रतिषेध्येन यद्विरुद्धं तत्सम्बन्धिनां तेषां व्याप्यादीनामुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये तथाऽविरुद्धोपलब्धिवत् षट्प्रकारा।

तानेव षट् प्रकारान् यथेत्यादिना प्रदर्शयति—

(यथा) नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥ ७२ ॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने। औष्ण्यं हि व्याप्यमग्नेः। स च विरुद्धः शीतस्पर्शेन[2] प्रतिषेध्येनेति।

विरुद्धकार्यं लिङ्गं यथा—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ७३ ॥

विरुद्धकारणं लिङ्गं यथा—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७४॥

सुखेन हि प्रतिषेध्येन विरुद्धं दुःखम्। तस्य कारणं हृदयशल्यम्। तत्कुतश्चित्तदुपदेशादेः सिद्ध्यत्सुखं प्रतिषेधतीति।

विरुद्धपूर्वचरं यथा—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥ ७५ ॥

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयस्तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति।

विरुद्धोत्तरचरं यथा—

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ॥ ७६ ॥

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयस्तदुत्तरचरः पुष्योदय इति।

विरुद्धसहचरं यथा—

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागात् ॥७७॥

परभागाभावेन हि विरुद्धस्तत्सद्भावस्तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति।

---

१ साध्येन। २ प्रतिषेध्येन।

अथोपलब्धिं व्याख्यायेदानीमनुपलब्धिं व्याचष्टे । सा चानुपलब्धिरुपलब्धिवद्द्विप्रकारा भवति । अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिश्चेति । तत्राद्यप्रकारं व्याख्यातुकामोऽविरुद्धेत्याद्याह—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति ॥ ७८ ॥

प्रतिषेध्येनाविरुद्धस्यानुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये सप्तधा भवति । [1]स्व[2]भावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलब्धिभेदात् ।

तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्र भूतले घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

पिशाचादिभिर्व्यभिचारो मा भूदित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति [3]विशेषणम् । कथं पुनर्यो नास्ति स उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्तत्प्राप्तत्वे वा कथमसत्त्वमिति चेदुच्यते—[4]आरोप्यैतद्रूपं निषिध्यते [5]सर्व[6]त्रारोपितरूपविषयत्वान्निषेधस्य । यथा 'नायं गौरः' इति । न ह्यत्रैतच्छक्यं वक्तुम्–सति गौरत्वे न निषेधो निषेधे वा न गौरत्वमिति । नन्वेवँमदृश्यमपि पिशाचादिकं दृश्यरूपतयाऽऽरोप्य प्रतिषेध्यतामिति चेन्न; आरोपयोग्यत्वं हि यस्यास्ति तस्यैवारोपः । यश्चार्थो विद्यमानो नियमेनोपलभ्येत स एवारोपयोग्यः, न तु पिशाचादिः । उपलम्भकारणसा[11]कल्ये हि विद्यमानो घटो नियमेनोपलम्भयोग्यो गम्यते, न पुनः पिशाचादिः । [12]घटस्योपलम्भकारणसाकल्यं चैक[13]ज्ञान[14]संसर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमाने निश्चीयते । [15]घटप्रदेशयोः खलूपलम्भकारणान्यवि[16]शिष्टानीति ।

---

१ व्याप्य । २ प्रतिषेध्येन घटेनाविरुद्धः कः तत्स्वभावो घटस्वभाव इत्यर्थः । ३ कुतम् । ४ प्रकल्प्य घटसम्बन्धित्वेन भूतलम् । ५ क्वचिदपि न निषेध्यस्यारोपितरूपविषयत्वमित्युक्ते आह । ६ वस्तुनि । ७ आरोपितस्य प्रतिषेध्यत्वे । ८ विद्यमानत्वे पिशाचादिरप्युपलभ्येतेत्युक्ते आह० । ९ पिशाचादिरप्यारोपयोग्यः कुतो न स्यादित्युक्ते आह । १० प्रत्यक्ष । ११ इन्द्रियालोकादिना । १२ निषेध्यस्य घटस्य कथमुपलम्भकारणसाकल्यं निश्चीयत इत्युक्ते आह । १३ इन्द्रिय । १४ घटेन । १५ घटस्योपलम्भकारणसाकल्यं च न स्यात् एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भश्च भविष्यतीत्युक्ते आह । १६ समानानि ।

यश्च[1] यद्देशाधेयतया कल्पितो घटः स एव तेनैकज्ञानसंसर्गी, न देशान्तरस्थः। [2]ततश्चैकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरो[3]पलम्भे योग्यतया[4] सम्भावितस्य घटस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भः सिद्धः।

ननु चैकज्ञानसंसर्गिण्युपलभ्यमाने[5] सत्यपीतर[6]विषयज्ञानोत्पादनशक्तिः सामग्र्याः समस्तीत्यवसातुं न शक्यते, प्रभाववतो[7] योगिनः पिशाचादेर्वा प्रतिबन्धात्सतोपि घटस्यैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमानेप्यनुपलम्भसम्भवात्; तदयुक्तम्; यतः प्रदेशादिनैकज्ञानसंसर्गिण एव घटस्याभावो नान्यस्य[8]। यस्तु पिशाचादिनाऽन्य[9]त्वमापादितः स नैव निषेध्यते। इह[10] चैकज्ञानसंसर्गिभासमानोर्थ[11]स्तज्ज्ञानं च पर्युदासवृत्त्या घटस्याऽसत्तानुपलब्धिश्चोच्यते[12]।

ननु चैवं[13] केवलभूतलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तद्रूपो घटाभावोपि सिद्ध एवेति किमनुपलम्भ[14]साध्यम्? सत्यमेवैतत्, तथापि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेप्यभावे यो व्यामुह्यति साङ्ख्यादिः सोनुपलम्भं निमित्तीकृत्य प्रतिपाद्यते[15]। [16]अनुपलम्भनिमित्तो हि सत्त्वरजस्तमःप्रभृतिष्वसद्व्यवहारः[17]। स[18] चात्राप्यस्तीति निमित्तप्रदर्शनेन व्यवहारः प्रसाध्यते। दृश्यतेहि विशाले गवि सास्नादिमत्त्वात्प्रवर्त्तितगोव्यवहारो मूढमतिर्विशङ्कटे[19][20] सादृश्यमुत्प्रेक्षमाणोपि न गोव्यवहारं प्रवर्त्तयतीति विशङ्कटे वा प्रवर्त्तितो गोव्यवहारो न विशाले, स निमित्तप्रदर्शनेन[21] गोव्यवहारे प्रवर्त्त्यते। [22]सास्नादिमन्मात्रनिमित्तको हि गोव्यवहारस्त्वया प्रवर्त्तितपूर्वो न विशालत्वविशङ्कटत्वनिमित्तक इति। [23]तथा महत्यां शिंशपायां प्रवर्त्तितवृक्षव्यवहारो मूढमतिः स्वल्पायां तस्यां तद्व्यवहारमप्रवर्त्तयन्निमित्तोपदर्शनेन प्रवर्त्त्यते वृक्षोयं शिंशपात्वादिति।

व्यापकानुपलब्धिर्यथा—

---

१ घटप्रदेशयोर्भिन्नज्ञानग्राह्यत्वादेकज्ञानसंसर्गित्वाभावो भूतस्येत्युक्ते आह। २ कल्पितस्य घटस्यैकज्ञानसंसर्गित्वं सिद्धं यतः। ३ भूतल। ४ दृश्यत्वेन। ५ प्रदेशे। ६ घट। ७ अतिशयवतो मायाविनः कुतश्चित्। ८ भिन्नज्ञानसंसर्गिणः। ९ अदृश्यत्वम्। १० कुतो न प्रतिषेध्यतेत्युक्ते आह। ११ भूतललक्षणः। १२ जैनैः। १३ भूतलसद्भाव एव घटाभाव इत्येवम्। १४ अनेन हेतुना। १५ प्रतिबोध्यते। १६ प्रत्यक्षसिद्धेऽभावे व्यवहारः स्वयमेव स्यान्नान्यस्मात्, ततोऽनुपलम्भो व्यर्थ इत्युक्ते आह। १७ सत्त्वे रजो नास्त्यनुपलब्धेरिति। १८ कथं निमित्तप्रदर्शनमित्याह स चात्राप्यस्तीति। १९ अस्मिन्। २० ह्रस्वे। २१ सास्नादिमत्त्वादि निमित्तम्। २२ कथम्। २३ काष्ठादिसहकारिवैकल्याभावतः।

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षाऽनुपलब्धेः ॥ ८० ॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्राऽप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ८१

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ८२ ॥

इति कारणानुपलब्धिः।

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥ ८३ ॥

इति पूर्वचरानुपलब्धिः।

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव ॥ ८४ ॥

कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेव। इत्युत्तरचरानुपलब्धिः।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ८५

इति सहचरानुपलब्धिः।

अथानुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिकैवेति नियमप्रतिषेधार्थं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥ ८६ ॥

विधेयेन[1] विरुद्धस्य कार्यादेरनुपलब्धिर्विधौ[2] साध्ये सम्भवन्ती त्रिधा भवति-विरुद्ध[3]कार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा—

अस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥ ८७ ॥

आमयो हि व्याधिः, तेन विरुद्धस्तदभावः, तत्कार्या विशिष्टचेष्टा तस्या अनुपलब्धिर्व्याधिविशेषास्तित्वानुमानम्।

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८८ ॥

---

१ नमन। २ साध्येन। ३ एतेषामनुपलब्धयः।

दुःखेन हि विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमभीष्टार्थेन संयोगः, तदभावस्तदनुपलब्धिर्दुःखास्तित्वं गमयतीति।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिर्यथा—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वे[1]कान्तानुपलब्धेः ॥ ८९ ॥

अनेकान्तेन हि विरुद्धो नित्यैकान्तः क्षणिकैकान्तो वा। तस्य चानुपलब्धिः प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाऽस्य ग्रहणाभावात्सुप्रसिद्धा। यथा च प्रत्यक्षादेस्तद्ग्राहकत्वाभावस्तथा विषयविचारप्रस्तावे विचारयिष्यते।

ननु चैतत्साक्षाद्विधौ निषेधे वा परिसङ्ख्यातं साधनमस्तु। यत्तु परम्परया विधेर्निषेधस्य वा साधकं तदुक्तसाधनप्रकारेभ्योऽन्यत्वादुक्तसाधनसङ्ख्याव्याघातकारि छलसाधनान्तरमनुषज्येत। इत्याशङ्क्य परम्परयेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्॥ ९०

यतः परम्परया सम्भ[2]वत्कार्यकार्यादि साधनम[3]त्रैव अन्तर्भावनीयं ततो नोक्तसाधनसङ्ख्याव्याघातः।

तत्र वि[4]धौ कार्यकार्यं कार्याविरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भावनीयम् यथा—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्।
कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ९१–९२ ॥

शिवकस्य हि साक्षाच्छत्रकः कार्यं स्थासस्तु परम्परयेति।

निषेधे तु कारणविरु[5]द्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथाऽन्तर्भा[6]व्यंते तद्यथा—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिशब्दनात्
कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ
यथेति ॥ ९३ ॥

मृगक्रीडनस्य हि कारणं मृगः। तेन च विरुद्धो मृगारिः। तत्कार्यं च तच्छब्दनमिति।

---

१ एकान्तस्वरूपानुपलब्धेरिति पाठान्तरम्। २ विद्यमानम्। ३ कार्यादिष्वेव। ४ साध्ये। ५ ता। ६ तथा कार्यकार्यं कार्याऽविरुद्धोपलब्धावन्तर्भावनीयमिति सम्बन्धः।

ननु यद्यव्युत्पन्नानां व्युत्पत्त्यर्थं दृष्टान्तादिर्युक्तो हेतुप्रयोगस्तर्हि व्युत्पन्नानां कथं तत्प्रयोग इत्याह—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथाऽनुपपत्त्यैव वा ॥ ९४ ॥

एतदेवोदाहरणद्वारेण दर्शयति—

अग्निमानयं देशस्तथा[1] धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥ ९५ ॥

कुतो व्युत्पन्नानां तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां प्रयोगनियम इत्याशङ्क्य हेतुप्रयोगो हीत्याद्याह—

हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते इति ॥ ९६ ॥

यतो हेतोः प्रयोगो व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेण विधीयते। सा च व्याप्तिस्तावन्मात्रेण तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्युत्पन्नैर्निश्चीयते इति न दृष्टान्तादिप्रयोगेण व्याप्त्यवधारणार्थेन किञ्चित्प्रयोजनम्।

नापि साध्यसिद्ध्यर्थं तत्प्रयोगः फलवान्—

तावतैव च साध्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

यतस्तावतैव चकार एवकारार्थे निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिः।

तेन पक्षः तदाधारसूचनाय उक्तः ॥ ९८ ॥

तेन पक्षो गम्यमानोपि व्युत्पन्नप्रयोगे तदाधारसूचनाय साध्याधारसूचनायोक्तः। यथा च गम्यमानस्यापि पक्षस्य प्रयोगो नियमेन कर्त्तव्यस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्।

अथे[2]दानीमवसरप्राप्तस्यागमप्रमाणस्य कारणस्वरूपे प्ररूपयन्नाप्तेत्याद्याह—

---

१ अग्निमत्त्वे सति। २ अनुमानप्रमाणप्रतिपादनानन्तरम्।

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥ ९९ ॥

आप्तेन प्रणीतं वचनमाप्तवचनम्। आदिशब्देन हस्त[1]संज्ञा[2]दिपरिग्रहः। तत्[3]निबन्धनं यस्य[4] तत्तथोक्तम्। अनेना[5]क्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं च सङ्गृहीतं भवति[6]। अर्थज्ञानमित्यनेन चान्या[7]पोहज्ञानस्य[8] शब्दसन्दर्भस्य[9] चागमप्रमाणव्यपदेशाभावः। शब्दो हि प्रमाण[10][11]कारण[12]कार्य[13]त्वादुपचारत एव प्रमाणव्यपदेशमर्हति।

ननु चातीन्द्रियार्थस्य द्रष्टुः कस्यचिदाप्तस्याभावात् तत्राऽपौरुषेयस्यागमस्यैव प्रामाण्यात् कथमाप्तवचननिबन्धनं तद्[14]? इत्यपि मनोरथमात्रम्; अतीन्द्रियार्थद्रष्टुर्भगवतः प्राक्प्रसाधितत्वात्, अगमस्य चाऽपौरुषेयत्वासिद्धेः। तद्धि पदस्य, वाक्यस्य, वर्णानां वाऽभ्युपगम्येत[15] प्रकारान्तराऽसम्भवात्? तत्र न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ घटेते; तथाहि-वेदपदवाक्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद्भारतादिपदवाक्यवत्।

अपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च कथमपौरुषेयत्वं वेदस्योपपन्नम्? न च तत्प्रसाधकप्रामाणाभावोऽसिद्धः; तथाहि-तत्प्रसाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अर्थापत्त्यादि वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षम्[16]; तस्य शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वधर्मग्राहकत्वाभावात्। अनादिसत्त्व[17]स्वरूपं चापौरुषेयत्वं कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम्? अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिविषयतया अनादिकाल[18]सम्बन्धाऽभावतस्तत्सम्बन्ध-

---

१ मुखेन संज्ञा। २ अर्थज्ञानमित्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिरत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः अत उक्तमाप्तेति। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेप्याप्तवाक्यकर्मके (कारणे) श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिरत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः प्रयोजनारूढ इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात् वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात्। ३ आप्तवचनादि। ४ अर्थज्ञानस्य। ५ आदिपदेन। ६ आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयव्यवच्छेदः। ७ अन्यस्मात्पदार्थादन्यस्य पदार्थस्यापोहो निराकरणं तस्य व्यावृत्तिरूपापोहविषय एव शब्दो न त्वर्थविषय इति बौद्धः। ८ अगोः व्यावृत्तिर्गौः। व्यावृत्तिस्तुच्छा अर्थरूपा न भवति। ९ शब्द एवार्थो न बाह्यार्थः। १० ज्ञान। ११ ता। १२ गणधरादिप्रतिपाद्यज्ञानापेक्षया कारणत्वं शब्दस्य (दिव्यध्वनेः)। १३ प्रतिपादकज्ञानस्य (सर्वज्ञज्ञानस्य) हि कार्यं शब्दः। १४ अर्थज्ञानम्। १५ परेण मीमांसकेन। १६ श्रावणप्रत्यक्षम्। १७ बसः। १८ ता।

सत्त्वेना[1]प्यसम्बन्धात् । सम्बन्धे वा तद्वदऽना[2]गतकालसम्बद्ध[3]धर्मादि[4]स्वरूपेणापि सम्बन्धसम्भवान्न धर्मज्ञप्रतिषेधः स्यात् ।

नाप्यनुमानं तत्प्रसाधकम्; तद्धि कर्त्रऽस्मरणहेतुप्रभवम्, वेदाध्ययनशब्दवाच्यत्वलिङ्गजनितं वा स्यात्, कालत्वसाधनसमुत्थं वा? तत्राद्यपक्षे किमिदं कर्तुर[5]स्मरणं नाम-कर्तृ[6]स्मरणाभावः, अ[7]स्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा[8]? प्रथमपक्षे व्य[9]धिकरणाऽसिद्धो हेतुः; कर्तृस्मरणाभावो ह्यात्मन्यपौरुषेयत्वं वेदे वर्त्तते इति ।

द्वितीयपक्षे तु दृष्टान्ताभावः; नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतिपन्नम्, किन्त्वकर्तृकमेव । हेतुश्च व्यर्थविशे[10]षणः; [11]सति हि कर्तरि स्मरणमस्मरणं वा स्यान्नासति खरविषाण[12]वत् । अथाऽकर्तृकत्वमेवा[13]त्र विवक्षितम्; तर्हि स्मर्यमाणग्रहणं व्यर्थम्, जीर्णकूपप्रासादादिभिर्व्यभिचारश्च । अथ सम्प्रदाया[14]ऽविच्छेदे सत्यऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः; तथाप्यनेकान्तः । सन्ति हि प्रयोजनाभावादस्मर्यमाणकर्तृकाणि 'वटे वटे वैश्रवणः' [ ] इत्या[15]द्यनेकपदवाक्यान्यविच्छिन्नसम्प्रदायानि । न च तेषामपौरुषेयत्वं भवतापीष्यते । असिद्धश्चायं हेतुः; पौराणिका हि ब्रह्मकर्तृकत्वं स्मरन्ति "[16]वक्त्रे[17]भ्यो वेदास्तस्य[18] विनिःसृताः" [ ] इति । "[19]प्रतिमन्वन्तरं[20] चैव श्रुति[21]र[22]न्या[23] विधीयते" [ ] इति चाभिधानात् । "यो वेदांश्च [24]प्रहिणोति" [ ] इत्या[25]दिवेदवाक्येभ्यश्च तत्कर्त्ता स्मर्यते ।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किताः काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयाद[26]यः शाखा[27]भेदाः कथमस्मर्यमाणकर्तृकाः? तथाहि-एतास्तत्कृत-

---

१ न केवलमनादिकालेन । २ अनुष्ठेयत्वेन । ३ पुण्य । ४ आदिना पापम् । ५ इति । ६ कर्तृविषयं यत्स्मरणं ज्ञानं तस्याभावः । ७ स्मर्यमाणकर्तृप्रतिषेधः । ८ आकाशवदिति दृष्टान्तः । ९ भिन्नाधिकरणः सन् । १० दृष्टान्ते । ११ व्यर्थविशेषणः कथमित्युक्ते आह । १२ खरविषाणे यथा स्मरणमस्मरणं वा नास्ति कर्त्रऽभावात् । १३ अनुमाने । १४ वेदे वर्णक्रमः पाठक्रमः उदात्तादिक्रमश्च सम्प्रदायः । १५ चत्वरे चत्वरे ईश्वरः पर्वते पर्वते रामः सर्वत्र मधुसूदनः । सा ते भवतु सुप्रीता देवी गिरिनिवासिनी । विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा । १६ कथम् । १७ चतुर्म्यः । १८ ब्रह्मणः । १९ असर्यमाणकर्तृकस्य हेतोरनैकान्तिकत्वासिद्धत्वे ते उद्भाव्य पुनरप्यसिद्धत्वमुद्भावयन्ति । २० एकस्मान्मनोः सकाशादपरो मनुः मन्वन्तरम् । तत्तत्प्रति प्रतिमन्वन्तरम् । २१ वेदः । २२ स्मृतिः । २३ भिन्ना । २४ करोति । २५ प्रसन्नो भवतु इत्यादिभ्यश्च । २६ सन्तानः । २७ गोत्रभेदाः ।

कत्वात्तन्नामभिरङ्किताः, तं[1]दृष्टत्वात्, तं[2]प्रकाशितत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा ? उत्तरपक्षद्वयेपि यदि तावदुत्[3]सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथं सम्प्रदायाऽविच्छेदोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथानवच्छिन्नैव सा सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा; तर्हि यावद्भिरुपाध्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभिस्तस्याः किन्नाङ्कितत्वं स्याद्विशेषाभावात् ?

एतेन[4] 'छिन्नमूलं वेदे कर्तृस्मरणं तस्य ह्यनुभवो मूलम् । न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यते' इत्यपि प्रत्युक्तम् । [5]यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्; किं भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना; तर्ह्या[6]गमा[7]न्तरेपि कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतुः । अथागमान्तरे कर्तृग्राहकत्वेनास्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः[8] कर्तृसद्भावाभ्युपगमात् ततो व्या[9]वृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपौरुषेयत्वेनैव व्याप्यते इति अव्यभिचारः; न; परकीयाभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्, अन्यथा वेदेपि परैः कर्तृसद्भावाभ्युपगमतोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।

अथ वेदे सवि[10]गानकर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः कर्तृस्मरणमऽतोऽप्रमाणम्–तत्र हि केचिद्धिरण्यगर्भम्, अपरे अष्टकादीन् कर्तॄन् स्मरन्तीति । नन्वेवं कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा[11] कादम्बर्यादीनामपि [12]कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः कर्तृमात्रस्मरणत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावात्पुनरप्यनेकान्तः । अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत्कर्तृमात्रेपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेस्तत्प्रमाणमित्यनैकान्तिकत्वाभावोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विप[13]क्षे प्रवृत्त्यभावात् । ननु वेदे सौगतादयः कर्त्तारं स्मरन्ति न मीमांसका इत्येवं कर्तृमात्रे विप्रतिपत्तेर्यदि तदप्रमाणम्; तर्हि तद्वदस्मरणमप्यऽप्रमाणं किन्न स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् ? तथा चासिद्धो हेतुः ।

---

१ कण्वादि । २ कण्वादि । ३ नष्टा । ४ कर्तृस्मरणमूलस्य वेदपदवाक्यानीत्याद्यनुमानेऽस्य पुराणस्मृतिवेदवाक्यस्य च प्रवर्त्तनपरेण ग्रन्थेन । ५ कारणम् । ६ कथम् । ७ ज्ञानादिपिटकत्रये । ८ सौगतैः । ९ व्याघुटितम् । १० सविप्रतिपत्तिक । ११ यदि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिः कर्तृमात्रस्मरणस्याऽप्रामाण्यम् । १२ बाणः शङ्करो वेति । १३ कादम्बर्यादौ ।

अथ[1] यद्यनुपलम्भ[2]पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुत्वेनोच्येत; तदोक्तप्रकारेणाऽसिद्धा[3]नैकान्तिकत्वे स्याताम्[4], तदभाव[5]पूर्वके[6] तु तस्मिंस्तयोरनवकाशः; न; अत्र कर्त्रऽभावग्राहकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽसम्भवात्। अस्मादेवा[7]नुमानात्तदभावसिद्धावन्योन्याश्रयः-अतो[8] ह्यऽनुमानात्तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ चातो[9]ऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति।

ननु वेदे कर्तृसद्भावाभ्युपगमे तत्कर्त्तुः पुरुषस्यावश्यं तदनुष्ठानसमये अनुष्ठातॄणामनिश्चितप्रामाण्यानां तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्यात्। ते[10] ह्यदृष्ट[11]फलेषु कर्म[12]स्वेवं[13] निःसंशयाः प्रवर्त्तन्ते। यदि[14] तेषां तद्विषयः सत्यत्वनिश्चयः, सोपि तदुपदेष्टुः स्मरणात्स्यात्। यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात्स्वयमदृष्टफलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात्प्रवर्त्तन्ते 'पित्रादिभिरेत[15]दुपदिष्टं तेना[16]नुष्ठीयते', एवं वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्त्तुः स्मरणं स्यात्। न चाभियुक्ता[17]नामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां त्रैवर्णिकानां तत्स्मरणमस्ति। तथा[18] चैवं[19] प्रयोगः-'कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादपौरुषेयो वेदः'। तदप्यसम्बद्धम्; आगमान्तरे[20]ऽप्यस्य हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाऽसम्भवेन सद्भावसम्भवतः सन्दिग्धविपक्ष[21]व्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिकत्वात्।

किञ्च, विपक्ष[22]विरुद्धं विशेषणं विपक्षाद्व्यावर्त्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्त्तेत। न च पौरुषेयत्वेन सह कर्त्तुःस्मरणयोग्यत्वस्य सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा विरोधः सिद्धः। सिद्धौ वा[23] तत एव साध्य[24]प्रसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम्।

---

१ उक्तप्रकारेण हेतोरसिद्धत्वे प्रतिपादितेऽनुमानबलेन हेतुसिद्धिं करोति परः। २ अनुपलम्भेन हेतुना साधितं यदस्मर्यमाणकर्तृकत्वं साधनं तत्। ३ अनुपलम्भः स्वसम्बन्धी सर्वसम्बन्धी वा स्यात्? पौरस्त्यपक्षेऽसिद्धत्वम्। पाश्चात्यपक्षेऽनैकान्तिकत्वम्। ४ वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकः अनुपलभ्यमानकर्तृकत्वात् आकाशवत् इत्यनेनानुमानेन हेतुसिद्धिं विदधाति। ५ अनुपलम्भलक्षणस्य हेतोरुभयदोषदुष्टत्वाद्धेत्वन्तरेण प्रकृतहेतुं साधयति। ६ वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकः कर्त्रभावाद्व्योमवत् इत्यनेनानुमानेन साधिते। ७ अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादेव। ८ अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। ९ अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। १० कुत एतदित्याह। ११ अनिरीक्षितफलेषु। १२ यागेषु। १३ वक्ष्यमाणप्रकारेण। १४ कथं निःसंशयाः प्रवर्त्तन्ते। १५ कर्म। १६ कारणेन। १७ व्यापृतानाम्। १८ उक्तप्रकारेण। १९ वक्ष्यमाणरीत्या। २० पिटके। २१ पौरुषेयपिटके। २२ पौरुषेयत्वं विपक्षः। २३ विरोधस्य। २४ अपौरुषेयत्वमिति।

यच्चोक्तम्–तदनुष्ठानसमय इत्यादि; तदागमान्तरेपि समानम् । 'न च' इति चिन्त्यताम्–न चायं नियमः–'अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये [1]तत्कर्त्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते' । न खलु पाणिन्यादिप्रणीतव्याकरणप्रतिपादितशब्द[2]व्यवहारा[3]नुष्ठानसमये तद[4]र्थानुष्ठातारोऽवश्यन्तया व्याकरणप्रणेतारं पाणिन्यादिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्त इति प्रतीतम् । निश्चिततत्स[5]मयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाप्याशुतरं भवत्यादिसाधुशब्दोपलम्भात् । [6]तन्न भवत्सम्बन्धिप्रत्यक्षेणानुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलम् ।

नापि सर्वसम्बन्धिप्रत्यक्षेण; तेन ह्यनुभवाभावोऽसिद्धः । न ह्य[7]र्वाग्दृशां 'सर्वेषां [8]तत्र कर्तृग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवर्त्तते' इत्यवसातुं शक्यमिति [9]तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वासिद्धेरस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः ।

अथ प्रमाणान्तरेणानुभवाभावः; तन्न; अनुमानस्य आगमस्य च प्रमाणान्तरस्य तत्र कर्तृसद्भावावेदकस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात् ।

किञ्च, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा स्यात्? वादिनश्चेत्; तदनैकान्तिकं "सा ते भवतु सु[10]प्रीता" [ ] इत्यादौ विद्यमानकर्तृकेप्यस्य सम्भवात् । प्रतिवादिनश्चेत्; तदसिद्धम्; [11]तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्त्तारम् । एतेन सर्वस्यास्मरणं प्रत्याख्यातम् । सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य [12]तत्र कर्त्रऽस्मरणमवैति ?

किञ्च, [13]अतः स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वं साध्येत, पौरुषेयत्वसाधनमनुमानं वा बाध्येत? प्राच्यविकल्पे स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वस्या[14]दः साधनम्, प्रसङ्गो [15]वा? स्वातन्त्र्यपक्षे नाऽ[16]तोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः पदवाक्यत्वतः पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अतो न ज्ञायते किमस्मर्यमाणकर्तृत्वादपौरुषेयो वेदः पदवाक्यात्मकत्वात्पौरुषेयो वा? न च सन्दे[17]हहेतोः [18]प्रामा[19]ण्यम् ।

ननु न प्रकृता[20]द्धेतोः सन्देहोत्पत्तिर्येनास्याऽप्रामाण्यम् किन्तु प्रतिहेतु[21]तः, तस्य चैतस्मिन्सत्यऽप्रवृत्तेः कथं संशयोत्पत्तिः?

---

१ अभिप्रेतार्थप्रतिपादकवाक्य । २ भवतीत्यादि । ३ उच्चारण । ४ अस्य शब्दस्यायमर्थं इति । ५ सङ्केतानाम् । ६ तस्मात् । ७ असर्वज्ञानाम् । ८ वेदे । ९ वेदे । १० प्रसन्ना । ११ वेदे । १२ वेदे । १३ असर्यमाणकर्तृकत्वात् । १४ असर्यमाणकर्तृकत्वादिति । १५ साधनम् । १६ असर्यमाणकर्तृकत्वात् । १७ कारणस्य । १८ असर्यमाणकर्तृत्वस्य । १९ अपौरुषेयत्वलक्षणस्वसाध्यसाधकस्य । २० असर्यमाणकर्तृत्वादिति । २१ विप्रतिकूलहेतुतः ।

तदयुक्तम्; यथैव हि प्रकृतहेतोः सद्भावे पौरुषेयत्वसाधकहेतोरप्रवृत्तिरभिधीयते तथा पदवाक्यत्वलक्षणहेतुसद्भावे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्याप्यप्रवृत्तिरस्तु विशेषा[1]भावात्। तन्न स्वतन्त्रसाधनमिदम्।

नापि प्रसङ्गसाधनम्; तत्खलु 'पौरुषेयत्वाभ्युपगमे वेदस्य तत्कर्त्तुः पुरुषस्य स्मरणप्र[2]सङ्गः स्यात्'। इत्यनिष्टापादनस्वभावम्। न च कर्तृस्मरणं पर[3]स्यानिष्टम्; स हि पदवाक्यत्वेन हेतुना तत्कर्त्तुः स्मरणं प्रतीय[4]न् कथं तत्स्मरणस्याऽनिष्टतां ब्रूयात्?

पौरुषेयत्वसा[5]धनानुमानबाधापक्षेपि किमनेनास्य स्वरूपं बाध्यते, विषयो वा? न तावत्स्वरूपम्; अपौरुषेयत्वानुमानस्याप्यनेन स्वरूपबाधनानुषङ्गात्, त[6]योस्तुल्यबलत्वेनान्योन्यं विशेषाभावात्। अतुल्यबलत्वे वा किमनुमानबाधया? येनैव दोषेणास्याऽतुल्यबलत्वं तत एवाप्रामाण्यप्रसिद्धेः। विष[7]यबाधाप्यनुपपन्ना; तुल्यबलत्वेन हे[8]त्वोः परस्परविषयप्रतिबन्धे वेदस्योभयधर्म[9]शून्यत्वानुषङ्गात्। एकस्य वा स्वविषयसाधकत्वेऽन्यस्यापि तत्प्रसङ्गाद् धर्म[10]द्वयात्मकत्वं स्या[11]त्। अतुल्यबलत्वे तु यत एवातुल्यबलत्वं तत एवाऽप्रामाण्यप्रसिद्धेः किमनुमानबाधयेत्युक्तम्।

एतेन[12]

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा" [मी० श्लो० अ० ७ श्लो० ३५५] इत्यनेनानुमानेन पौरुषेयत्वप्रसाधकानुमानस्य बाधा; इत्यपि प्रत्याख्यातम्; प्रकृतदोषाणामत्राप्यविशेषात्।

किञ्च, अत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, कर्त्रऽस्म[13]रणविशिष्टं वा? निर्विशेषणस्य हेतुत्वे निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम्।

---

१ प्रकृतहेतौ सति पदवाक्यत्वं हेत्वन्तरं न प्रवर्त्तते। पदवाक्यत्वे तु सत्यपि प्रकृतो हेतुः वर्तते इति योऽसौ विशेषस्तस्याभावात्। २ वेदः स्मर्यमाणकर्तृकः पौरुषेयत्वाद्भारतवत्। हेतुरूपव्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य साध्यरूपव्यापकाभ्युपगमस्यापादनं प्रसङ्गः। ३ जैनस्य। ४ जानन्। ५ पदवाक्यत्वलक्षण। ६ पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वानुमानयोः। ७ पौरुषेयत्वलक्षणस्य विषयस्य। ८ पदवाक्यत्वाऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वलक्षणयोः। ९ अपौरुषेयत्वपौरुषेयत्वलक्षण। १० पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वलक्षण। ११ वेदस्य। १२ अस्मर्यमाणकर्तृकत्वानुमानस्यापौरुषेयत्वप्रसाधनानुमानं प्रति बाधकत्वानिराकरणपरेण ग्रन्थेन। १३ विशेषणमेतत्।

किञ्च, यथाभूतानां[1] पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, अन्यथाभूतानां वा? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम्[2]। अथान्यथाभूतानां[3] तर्हि सन्निवेशादिवद्[4]ऽप्रयोजको[5] हेतुः[6]। अथ तथाभूतानामेव तत्तथा ततः साध्यते, न च सिद्धसाधनं[7] सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येनातीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणा[8]प्रणेतृत्वासामर्थ्येनेदृशत्वात्। तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादने अप्रामाण्याभावः सिद्धः[9] स्यात्[10] स्यादेतत्-यावता[11] गुणवद्वक्त्रऽभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोहितत्वात्[12] तत्र सापवादं[13] प्रामाण्यम्, तथाभूतां[14] प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिविरहिणोऽपि कर्त्तुं[15] समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनाऽशेषपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात्?

अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽप्रामाण्यनिवृत्तिरपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः सम्भवात् तेनायमदोषः। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्[15]तावद्वक्त्रधीन[16] इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्[17]तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः[18] ॥ १ ॥
तद्गुणैर[19]पकृष्टानां[20] शब्दे सङ्क्रान्त्यऽसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा[21] निराश्रयाः[22] ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३]

इति। तदप्यसमीचीनम्; यतोऽपौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात्प्रतिपन्नम्[23], अत एव वा? यद्यन्यतः; तदाऽस्य[24] वैयर्थ्यम्। अत[25] एव चेत्; नन्वतो[26]ऽनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणायामप्रा-

१ अधुनातनसदृशानाम्। २ अस्माभिरपि तथाभूतानां गुर्वऽध्ययनपूर्वकत्वं प्रतिपाद्यते। ३ अतीन्द्रियार्थदर्शिनाम्। ४ आदिना कार्यत्वादिवत्। ५ अकिञ्चित्करो हेतुस्तेषां गुर्वध्ययनपूर्वकत्वं नास्ति यतः। ६ सपक्षव्यापकपक्षव्यावृत्तो ह्युपाध्याहितसम्बन्धो हेतुरप्रयोजकः। ७ जैनानां तु मते सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शने शक्तिवैकल्यं नास्ति केषाञ्चिदतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिरस्तीति भावः। ८ अग्निष्टोमेन यजेतेति लिङादिश्रवणानन्तरं शब्दो मां प्रेरयतीति दर्शनात् प्रेरणान्विततया कृतिः (यागः) प्रतीयते। सा च प्रेरणा वेद इत्यर्थः। ९ तर्हि। १० न कुतोपि। ११ येन कारणेन। १२ प्रामाण्यनिराकृतत्वात्। १३ सदोषम्। १४ अप्रामाण्यभूताम्। १५ सक्षमः। १६ न तु स्वभावतः। १७ अपौरुषेयवेदवाक्यानन्तरोत्पन्नेषु स्मृतिवाक्येषु। १८ एतदेव समर्थयत्यग्रे। १९ अपौरुषेयवेदे। २० निराकृतानाम्। २१ असंबन्धादयः। २२ आश्रयः पुरुषः। २३ वेदाध्ययनवाच्यत्वादिति। २४ वेदाध्ययनवाच्यत्वस्य। २५ वेदाध्ययनवाच्यत्वात्। २६ वेदाध्ययनवाच्यत्वात्।

माण्याभावः स्यात्, तदभावाच्च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरित(रितीत)रेतराश्रयः । तन्न निर्विशेषणोयं हेतुः प्रकृतसाध्यसाधनः ।

अथ सविशेषणः; तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद्विशेष्योपादानमनर्थकम् । भवतु विशेषणस्यैव गमकत्वम् का नो हानिः, सर्वथाऽपौरुषेयत्वसिद्ध्या प्रयोजनात्; तदप्ययुक्तम्; यतः कर्त्रऽस्मरणं विशेषणं किमभावाख्यं प्रमाणम्, अर्थापत्तिः, अनुमानं वा? तत्राद्यः पक्षो न युक्तः; अभावप्रमाणस्य स्वरूपसामग्रीविषयाऽनुपपत्तितः प्रामाण्यस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् ।

किञ्च, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिबन्धनास्य प्रवृत्तिः "प्रमाणपञ्चकं यत्र" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इत्याद्यभिधानात् । न च प्रमाणपञ्चकस्य वेदे पुरुषसद्भावावेदकस्य निवृत्तिः, पदवाक्यत्वलक्षणस्य पौरुषेयत्वप्रसाधकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात् । न चास्याऽप्रामाण्यमभिधातुं शक्यम्; यतोऽस्याऽप्रामाण्यम्-किमनेन बाधितत्वात्, साध्याविनाभावित्वाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यपक्षे चक्रकप्रसङ्गः; तथाहि-न यावदभावप्रमाणप्रवृत्तिर्न तावत्प्रस्तुतानुमानबाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत्सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिः, यावच्च न तस्य निवृत्तिर्न तावत्तन्निबन्धनाऽभावाख्यप्रमाणप्रवृत्तिः, तदप्रवृत्तौ च नानुमानबाधेति । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; स्वसाध्याविनाभावित्वस्यात्र सम्भवात् । न खलु पदवाक्यात्मकत्वं पौरुषेयत्वमन्तरेण क्वचिद्दृष्टं येनास्य स्वसाध्याविनाभावाभावः स्यात् ।

एतेन कर्तुरस्मरणमन्यथानुपपद्यमानं कर्त्रऽभावनिश्चायकमर्थापत्तिगम्यमपौरुषेयत्वं वेदानामित्यपास्तम्; अन्यथानुपपद्यमानत्वासम्भवस्यात्र प्रागेव प्रतिपादितत्वात् । कर्त्रऽस्मरणमनुमानरूपमऽपौरुषेयत्वं प्रसाधयतीत्यप्यनुपपन्नम्; प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

एतेन—

"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्तद्यथा कालो वर्त्तमानः समीक्ष्यते ॥ १ ॥" [ ]

---

१ अप्रामाण्याभावात् । २ अनुमानबाधेति । ३ कथम्? । ४ एव । ५ अभावप्रमाणप्रवृत्तौ प्रस्तुतानुमानबाधा तस्यां सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिस्तस्यां च पदवाक्यत्वस्य स्वसाध्याविनाभावित्वमिति समर्थनपरेण ग्रन्थेन । ६ अपौरुषेयत्वं विना । ७ वेदोऽपौरुषेयः कर्त्रऽस्मरणान्यथानुपपत्तेः । ८ कर्तृस्मरणादित्यत्र । ९ पिटकादौ । १० वटे वटे वैश्रवण इत्यादिनाऽनैकान्तिकसमर्थनेन ।

इत्यपि प्रत्युक्तम्; प्राक्तनानुमान[1]द्वयोक्ताशेषदोषाणामत्राप्यविशेषात्। आगमान्तरेऽप्यस्य तुल्यत्वाच्च।

किञ्च, इदानीं यथाभूतो वेदाकरणसमर्थपुरुषयुक्तस्तत्कर्तृ[2]पुरुषरहितो वा कालः प्रतीतोऽतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वा[3]त्साध्येत, अन्यथाभूतो वा? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाध्यता। अथान्यथाभूतः; तदा सन्निवेशादिवदऽप्रयोजको हेतुः। अथ तथाभूतस्यैवातीतस्यानागतस्य वा कालस्य त[4]द्रहितत्वं साध्यते, न च सिद्धसाध्यताऽन्यथाभूतस्य कालस्यासम्भवात्। नन्वन्यथाभूतः कालो नास्तीत्येतत्कुतः प्रमाणात्प्रतिपन्नम्? यद्यन्यतः; तर्हि तत एवापौरुषेयत्वसिद्धेः किमनेन? अत एवेति चेत्; ननु ‘अन्यथाभूतकालाभावसिद्धावतोऽनुमानात्त[5]द्रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चान्यथाभूतकालाभावसिद्धिः’ इत्यन्योन्याश्रयः।

नाप्यागमतोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्। तथाहि–आगमस्याऽपौरुषेयत्वसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चातोऽपौरुषेयत्वसिद्धिरिति। न चाऽपौरुषेयत्वसिद्धिरिति। न चाऽपौरुषेयत्वप्रतिपादकं वेदवाक्यमस्ति। [6]नापि विधिवाक्यादऽ[7]परस्य प[8]रैः प्रामाण्यमिष्यते, [9]अन्यथा पौरुषेयत्वमेव स्यात्तत्प्रतिपादकानां “हिरण्यगर्भः समव[10]र्त्तता[11]ग्रे” [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १० सू० १२१] इत्यादिप्रचुरतरवेदवाक्यानां श्रवणात्।

अपौरुषेयत्वधर्माधारतया प्रमाणप्रसिद्धस्य कस्यचित्पदवाक्यादेरसम्भवान्न तत्सादृश्येनोपमानादप्यपौरुषेयत्वसिद्धिः।

नाप्यर्थापत्तेः; अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्यार्थस्य कस्यचिदप्यभावात्। स ह्यप्रामाण्याभावलक्षणो वा स्यात्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनस्वभावो वा, परार्थशब्दोच्चारणरूपो वा? न तावदाद्यः पक्षः; अप्रामाण्याभावस्यागमान्तरेऽपि तुल्यत्वात्। न चासौ तत्र मिथ्या; वेदेऽपि तन्मिथ्यात्वप्रसङ्गात्। अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात्, पुरुषाणां तु रागादिदोषदुष्टत्वेन तज्जनितस्याऽप्रामाण्यस्यात्र सम्भवात्तत्रासौ मिथ्या, न वेदे तत्राप्रामाण्योत्पादकदोषाश्रयस्य कर्त्तुरभावात्। नन्वत्र कुतः कर्तुरभावो निश्चितः? अ[12]न्यतः, अत एव वा? यद्यन्यतः; तदेवोच्यताम्,

---

१ कालत्वादित्यनेनानुमानेन पौरुषेयत्वसाधकानुमानस्य स्वरूपं बाध्येत विषयो वेत्यादिप्रकारेण। २ वेद। ३ साधनात्। ४ तेन वेदकर्त्रा। ५ वेदकर्त्रा। ६ अस्तु वा वेदवाक्यमपौरुषेयत्वप्रतिपादकं तथापि। ७ प्रतिषेधवाक्यादेः। ८ मीमांसकैः। ९ अपरस्य प्रामाण्यं यदीष्यते। १० जातः। ११ आदौ। १२ प्रमाणात्।

किमर्थापत्त्या? अर्थापत्तेश्चेत्; न; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-अर्थापत्तितो हि पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धिरिति।

द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणार्थस्य[1] आगमान्तरेपि सम्भवात्।

परार्थशब्दोच्चारणान्यथानुपपत्तेर्नित्यो[2] वेदः; इत्यप्यसमीचीनम्; धूमादिवत्सादृश्यादप्यर्थप्रतिपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

किञ्च, अपौरुषेयत्वं प्रसज्यप्रतिषेधरूपं वेदस्याभ्युपगम्यते, पर्युदासस्वभावं वा? प्रथमपक्षे तत्किं सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उताऽभावप्रमाणपरिच्छेद्यम्? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकस्यापौरुषेयग्राहकत्वप्रतिषेधात्। तद्ग्राह्यस्य तुच्छस्वभावाभावरूपत्वानुपपत्तेश्च। प्रतिक्षिप्तश्च तुच्छस्वभावाभावः प्राक्प्रबन्धेन। द्वितीयपक्षस्तु श्रद्धामात्रगम्यः; अभावप्रमाणस्याऽसम्भवतस्तेन तद्ग्रहणानुपपत्तेः। तदसम्भवश्च तत्सामग्रीस्वरूपयोः प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात्सिद्धः।

अथ पर्युदासरूपं तदभ्युपगम्यते। नन्वत्रापि किं पौरुषेयत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्याऽपौरुषेयत्वशब्दाभिधेयं स्यात्? तत्[3]सत्त्वमिति चेत्; तत्किं निर्विशेषणम्, अनादिविशेषणविशिष्टं वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; ततोऽन्यस्य वेदसत्त्वमात्रस्याध्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धस्यास्माभिर्[4]अभ्युपगमात्। पौरुषेयत्वं हि कृतकत्वम्, ततश्चान्यत्सत्त्वमित्यत्र को वै विप्रतिपद्यते? द्वितीयपक्षः पुनरविचारितरमणीयः; वेदानादिसत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्ध्यसम्भवस्याऽनन्तरमेव प्रतिपादितत्वात्।

अस्तु वाऽपौरुषेयो वेदः; तथाप्यसौ व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात्? न तावदव्याख्यातः; अतिप्रसङ्गात्[5]। व्याख्यातश्चेत्; कुतस्तद्व्याख्यानम्-स्वतः, पुरुषाद्वा? न तावत्स्वतः; 'अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थो[8] नायम्' इति स्वयं वेदेनाऽप्रति[6]पादनात्, अन्यथा[7] व्याख्याभेदो[9] न स्यात्। पुरुषाच्चेत्; कथं तद्व्याख्यानात्पौरुषेयादर्थप्रतिपत्तौ दोषाशङ्का न स्यात्? पुरुषा हि विपरीतमप्यर्थं व्याचक्षाणा दृश्यन्ते। संवादेन प्रा[10]मा-

१ इति। २ नित्यत्वादपौरुषेयत्वम्। ३ वेदे। ४ जैनैः। ५ द्विजवत्सौगतानाप्यर्थप्रतीतिं कुर्यात्। ६ वेदस्य जडत्वेन वक्तुमशक्यत्वात्। ७ यदि वेदः प्रतिपादयति। ८ भवनाविधिनियोगादिः। ९ व्याख्यानानाम्। १० व्याख्यानानाम्।

ज्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनाऽनर्थिका तद्वद्वेदस्यापि प्रमाणान्तरसंवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः। न च व्याख्यानानां संवादोऽस्ति; परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्यं विसंवादोपलम्भात्।

किञ्च, असौ तद्व्याख्याताऽतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधो धर्मादौ चास्य प्रामाण्योपपत्तेः "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च।

अथ तद्विपरीतः; कथं तर्हि तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्तिः अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः? न च मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वात्तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धेः। तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात्? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्याद्विशेषाभावात्। वेदार्थाभ्यासाच्चेत् किं ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा तदर्थस्याभ्यासः स्यात्? न तावदज्ञातस्याऽतिप्रसङ्गात्। ज्ञातस्य चेत्; कुतस्तज्ज्ञप्तिः–स्वतः, अन्यतो वा? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिंश्च तदर्थाभ्यास इति। अन्यतश्चेत्; तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यत इत्यतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमेऽन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः।

अदृष्टोपि प्रज्ञातिशयाऽसाधकः; तस्यात्मान्तरेपि सम्भवात्। न तथाविधोऽदृष्टोऽन्यत्र मन्वादावेवास्य सम्भवादिति चेत्; कुतोऽत्रैवास्य सम्भवः? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्; स तर्हि वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वाऽनुष्ठाता स्यात्? अज्ञातस्य चेत्; अतिप्रसङ्गः। ज्ञातस्य चेत्; परस्पराश्रयः–सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति।

ब्रह्मणोपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सत्यऽतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः स्यात्। तच्चास्य कुतः सिद्धम्? धर्मविशेषाच्चेत्;- स

---

१ प्रत्यक्षग्राह्येऽर्थे प्रत्यक्षं संवादकमनुमेयेऽर्थे अनुमानमेव संवादकं परोक्षेऽर्थे पूर्वापराविरोधः संवादः। २ मीमांसकमते। ३ तस्मादतीन्द्रियार्थद्रष्टुः। ४ अतीन्द्रियार्थद्रष्टुर्विपरीतस्य किञ्चिज्ज्ञस्य। ५ गोपालादीनामपि वेदार्थस्याभ्यासप्रसङ्गात्। ६ पुरुषात्। ७ परस्य तव। ८ भवेत्। ९ प्रज्ञातिशयसाधकः। १० प्रज्ञातिशयसाधकादृष्टस्य। ११ प्रज्ञातिशयसाधकादृष्टस्य। १२ गोपालादीनामपि वेदार्थानुष्ठानप्रसङ्गः।

एवेतरेतराश्रयः-वेदार्थपरिज्ञानाभावे हि तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्तिः, तदनुत्पत्तौ च वेदार्थपरिज्ञानाभाव इति। तन्नातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तिर्घटते।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेरश्रुतकाव्यादिवत्, तन्न[2] वेदार्थप्रतिपत्तावऽतीन्द्रियार्थदर्शिना किञ्चित्प्रयोजनम्; इत्यप्यसारम्; लौकिकवैदिकपदानामेकत्वे[3]ऽप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण[4] व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियमः; तेषामप्यनेकप्रवृत्तेर्द्विसन्धानादिवत्[5]। यदि च लौकिकेनाग्न्यादिशब्देनाविशिष्टत्वाद्[6]वैदिकस्याग्न्यादिशब्दस्यार्थप्रतिपत्तिः; तर्हि पौरुषेयेणा[7]विशिष्टत्वात्पौरुषेयोऽसौ कथं न स्यात्? लौकिकस्य ह्यग्न्यादिशब्दस्यार्थवत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्[8]। तत्रायं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति? उभयमपि[9] हि गृह्णीयाज्जह्याद्वा।

नं[10] च लौकिकवैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपा[11]विशेषे सङ्केत[12]ग्रहणसव्यपेक्षत्वेनाऽर्थप्रतिपादकत्वे[13] अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाऽश्रवणे समाने अन्यो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिकास्तु पौरुषेया स्युः। सङ्केते(ता)नतिक्रमेणार्थप्रत्यायनं चोभयोरपि[14]।

न चापौरुषेयत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्, उपलभ्यन्ते[15] च यत्र[16] पुरुषैः सङ्केतिताः शब्दास्तं तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्तः, अन्यथा तत्सङ्केतभेदपरिकल्पनानर्थक्यं स्यात्। ततो[17] ये नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति।

न चात्रा[18]श्रयासिद्धो हेतुः; वैदिकीनां वचनरचनानां प्रत्यक्षतः[19] प्रतीतेः। नाप्यप्र[20]सिद्धविशेषणः[21] पक्षः; अभिनवकूपप्रासादादौ[22]

---

१ आदिना निघण्टुः। २ तस्मात्कारणात्। ३ सदृशत्वे। ४ अन्यार्थस्य। ५ द्विसन्धानकाव्यवत्। ६ सदृशत्वात्। ७ शब्देन। ८ अग्न्यादिशब्दस्यार्थवत्त्वे पौरुषेयत्वेन व्याप्ते सति। ९ अपौरुषेयत्वपौरुषेयत्वद्वयम्। १० वैदिकानां शब्दानां कश्चन विशेषोस्ति ततोऽमीषामपौरुषेयत्वमित्याशङ्क्याह। ११ समानत्वे। १२ अस्य शब्दस्यायमर्थ इति। १३ समाने। १४ समानम्। १५ वेदे। १६ अर्थे। १७ वैदिकं वचनं धर्मि पौरुषेयं भवति नररचितवचनरचनाऽविशिष्टत्वात्। १८ अनुमाने। १९ श्रवणेन। २० स्वमतापेक्षया। २१ साध्यं पौरुषेयत्वम्। २२ सपक्षे।

पुरुषपूर्वकत्वेनास्य साध्यविशेषणस्य सुप्रसिद्धत्वात्। न च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्; तद्वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रमाणाभावेनास्याऽभावात्।

न चाप्रामाण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्रेत्यभिधातव्यम्; तस्य विद्यमानस्यापि तन्निराकारकत्वाभावात्। यादृशो हि विशेषः प्रतीयमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति तादृशस्यास्याऽभावादऽविशिष्टत्वम् न पुनः सर्वथा विशेषाभावात्, एकान्तेनाऽविशिष्टस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। अप्रामाण्याभावलक्षणश्च विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति न गुणवन्तमप्रामाण्यनिवर्त्तकम्। न च गुणवतः पुरुषस्याभावादन्यस्य चानेन विशेषेण निराकृतत्वात्सिद्धमेवापौरुषेयत्वं तत्र[10]त्यभ्युपगन्तव्यम्; तत्सद्भावस्य प्राक्[11]प्रतिपादितत्वात्। तदभावेऽप्रामाण्याभावलक्षणविशेषाभावप्रसङ्गाच्च।

पौरुषेये प्रासादादौ हेतोर्दर्शनादपौरुषेये चाकाशादावऽदर्शनान्नानैकान्तिकत्वम्। अत एव न विरुद्धत्वम्; पक्षधर्मत्वे हि सति विपक्षे वृत्तिर्यस्य स विरुद्धः[12], न चास्य[13] विपक्षे वृत्तिः। नापि कालात्ययापदिष्टत्वम्; तद्धि हेतोः प्रत्यक्षागमबाधित[14]कर्म[15]निर्देशानन्तरप्रयुक्तं भवतेष्यते। न च यत्र स्वसाध्याविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्त्तमानः स्वसाध्यं प्रसाधयति तत्रैव प्रमाणान्तरं[16] प्रवृत्तिमासादयत्तमेव धर्मं व्यावर्त्तयति; एकस्यैक[17]दैकत्र विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात्। प्रकरणसमत्वमपि प्रति[18]हेतोर्विपरीतधर्मप्रसाधकस्य प्रकरणचिन्ता[19]प्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भावोऽभिधीयन्ते[20]। न च स्वसाध्याविनाभूतहेतुप्रसाधितधर्मिणो विपरीतधर्मोपेतत्वं सम्भवतीति न विपरीतधर्माधायिनो[21] हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति। तन्न वेदपदवाक्ययोर्[22]नित्यत्वं घटते।

---

१ पौरुषेयत्वस्य। २ लौकिकं नररचितरचनाऽविशिष्टं वैदिकं नेति भेदः। ३ पौरुषेयत्व। ४ वैदिकलौकिकशब्दयोरभिन्नत्वम्। ५ अविभिन्नत्वम्। ६ सर्वथा वैदिकलौकिकशब्दयोरविशेषादभेदो भविष्यतीत्युक्ते आह। ७ सर्वप्रकारेण। ८ अभेदरूपस्य। ९ वैदिकलौकिकशब्दयोरतीन्द्रियार्थेन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वाद्भेदो यतः। १० वेदे। ११ सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे। १२ यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति कृतकत्वस्य शब्दधर्मत्वेपि नित्यात्साध्याद्विपरीतेऽनित्ये विपक्षे वृत्तिमत्त्वाद्विरुद्धः। १३ हेतोः। १४ पक्ष। १५ ज्ञप्तिक्रियाविषयत्वात्कर्मेत्यभिधानम्। १६ प्रत्यक्षागमलक्षणम्। १७ धर्मस्य। १८ प्रतिपक्षसाधकस्य। १९ संशयात्प्रभृत्यानिश्चयात्पर्यालोचना। २० सत्प्रतिपक्षो हेतुः प्रकरणसम इति वचनात्। २१ प्रसाधकस्य। २२ विधिप्रतिषेधरूपयोः।

नापि वर्णानां कृतकत्वतः शब्दमात्रस्यानित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्यत्वोपपत्तेः। तथाहि–अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्। न च कृतकत्वमसिद्धम्; तथाहि–कृतकः शब्दः कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तद्वदेव। न चेदमप्यसिद्धम्; ताल्वादिकारणव्यापारे सत्येव शब्दस्यात्मलाभप्रतीतेस्तदभावे वाऽप्रतीतेः, चक्रादिव्यापारसद्भावासद्भावयोर्घटस्यात्मलाभालाभप्रतीतिवत्।

ननु शब्दस्याऽनित्यत्वोपगमे ततोर्थप्रतीतिर्न स्यात्, अस्ति चासौ। ततो 'नित्यः शब्दः स्वार्थप्रतिपादकत्वान्य[1]थानुपपत्तेः' इत्य[2]भ्युपगन्तव्यम्। स्वार्थेनाव[3]गतसम्बन्धो हि शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति, अन्यथाऽगृहीतसङ्केतस्यापि प्रतिपत्तुस्ततोऽर्थप्रतीतिप्रसङ्गः।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्र[4]यसम्पाद्यः; तथाहि–यदै[5]को वृ[6]द्धोऽन्य[7]स्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपादयति–'देवदत्त गाम[9]भ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थो[8]ऽन्योऽव्युत्पन्नसङ्केतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः[10] प्रतिपद्यते, श्रोतु[11]श्च तद्विषयक्षेपणादि[12]चेष्टोपलम्भानुमा[13]नतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्य[14]ते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च तच्छब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं परिकल्प[15]यति पुनः पुनस्त[16]च्छब्दोच्चारणादेव तदर्थस्य प्रतिपत्तेः। सोयं प्रमाणत्रयसम्पाद्यः सम्बन्धावगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात्सम्भवति। न चाऽस्थिर[17]स्य पुनः पुनरुच्चारणं घटते, तदभावे नान्वयव्य[18]तिरेकाभ्यां वाचकशक्त्यवगमः, त[19]दसत्त्वान्न प्रेक्षावद्भिः परावबोधाय वाक्यमुच्चार्येत। न चैवम्। ततः परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते नित्योसौ[20]।

तदुक्तम्–"द[21]र्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः" [जैमिनिसू० १।१८]

अथ मतम्–पुनः पुनरुच्चा[22]र्यमाणः शब्दः सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति न पुनर्नित्यत्वात्; तदसमी-

१ नित्यत्वमन्तरेण। २ जैनेन त्वया। ३ गृहीत। ४ प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तीति। ५ पूर्वं गुरोः सकाशात्। ६ ना। ७ बालकाय। ८ तृतीयः। ९ गुरुसन्निधौ गवानयनसमये। १० गोशब्दं श्रावणप्रत्यक्षेण, गोलक्षणमर्थं नायनप्रत्यक्षेण। ११ यं देवदत्तं प्रति वाक्यं प्रोक्तं तस्य। १२ आदिना ताडनप्रेरणादि। १३ तृतीयः। १४ शिष्यो गोलक्षणार्थे ज्ञानवान् तद्विषयचेष्टावत्त्वान्मद्वत्। १५ गोशब्दो गोलक्षणार्थवाचकशक्तियुक्तो गोप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरिति। १६ गो इति। १७ अनित्यस्य शब्दस्य। १८ गोशब्दे उच्चारिते गोलक्षणार्थप्रतिपत्तिर्भवति, अनुच्चारिते गोलक्षणार्थप्रतिप्रत्तिर्न भवतीति। १९ वाचकशक्त्यवगमस्य। २० शब्दः। २१ उच्चारणस्य। २२ घटोयं पुनर्देशकालान्तरे घटोयमिति।

चीनम्; सादृश्येन ततोर्थाऽप्रतिपत्तेः । न हि सदृशतया शब्दः[1] प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किन्त्वेकत्वेन[2] । य एव हि सम्बन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायमिति प्रतीतेः।

किञ्च, सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्तः शाब्दः प्रत्ययः[3] स्यात् । न ह्यन्यस्मिन्नगृहीत[4]सङ्केतेऽन्य[5]स्मादर्थप्रत्ययो[6]ऽभ्रान्तः[7], गोशब्दे गृहीत[8]सङ्केतेऽश्व[9]शब्दाद्गवार्थप्रत्ययेऽभ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । न च भूयो[10]ऽवयवसामान्ययोग[11]स्वरूपं सादृश्यं[12] शब्दे सम्भवति; विशिष्ट[13]-वर्णात्मकत्वाच्छब्दानां वर्णानां[14] च निरवयवत्वात्[15]। न च गत्वादि[16]-विशिष्टानां गादीनां[17] वाचकत्वं युक्तम्; गत्वादिसामान्यस्याऽभावात्, तदभावश्च गादीनां नानात्वायोगात्[18], सोपि प्रत्यभिज्ञया तेषामेकत्व[19]निश्चयात् । न चात्र प्रत्यभिज्ञा सामान्य[20]निबन्धना; भेद[21]निष्ठस्य सामान्यस्यैव गादिष्व[22]सम्भवात्[23]।

किञ्च, गत्वादीनां[24] वाचकत्वम्[25], गादिव्यक्तीनां वा? न तावद्गत्वादीनाम्; नित्यस्य वाचकत्वे[26]ऽसन्मत[27]ाश्रयणप्रसङ्गात् । नापि गादिव्यक्तीनाम्; तथा हि[28]—गादिव्यक्तिविशेषो वाचकः, व्यक्तिमात्रं वा? न तावद्गादिव्यक्तिविशेषः; तस्यानन्वयात् । नापि व्यक्तिमात्रम्; तद्धि सामान्यान्तःपाति, व्यक्त्यन्तर्भूतं वा? सामान्यान्तःपातित्वे स एवासन्मतप्रवेशः[29] । व्यक्त्यन्तर्भूतत्वे तदवस्थोऽनन्वयदोष इति। ततो[30]ऽर्थप्रतिपादकत्वा[31]न्यथानुपपत्तेर्नित्यः शब्दः। तदुक्तम्—

"अर्थापत्तिरियं चोक्ता पक्षधर्मादि[32]वर्जिता[33]।

---

१ उत्तरः। २ एकत्वान्नित्यत्वम्। ३ ज्ञानम्। ४ शब्दे। ५ शब्दात्। ६ अन्यत्वाऽविशेषात्। ७ अन्यथा। ८ नष्टे सति। ९ गृहीतसङ्केतशब्दस्य नष्टत्वात्। १० बहु। ११ सम्बन्ध। १२ सामान्यम्। १३ सादृश्यधर्मरहितैकत्वधर्मः, स एव विशेषस्तेनोपलक्षितो वर्णः, स आत्मा स्वरूपं यस्य शब्दस्य। १४ वर्णानां पुद्गलात्मकत्वात् शब्दस्य च वर्णात्मकत्वाच्छब्दे तथाविधं सादृश्यं भविष्यतीत्यारेकायामाह। १५ निरंशत्वात्। अंशाभावे किं केन सादृश्यं स्यात्?। १६ अत्वादिना च। १७ अकारादीनां च। १८ अनेकसमवेतत्वात्सामान्यस्य। १९ स एवायं गकार इति। २० गत्वादि। २१ विशेष। २२ अभेदरूपेषु। २३ गकार एक एवेति गभेदाभावात्। २४ सामान्यरूपाणाम्। २५ अन्यथानुपपत्तिरसिद्धेत्युक्ते आह। २६ गोपिण्डस्य। २७ मीमांसक। २८ सङ्केतकाले गृहीतस्य शब्दस्य व्यवहारकाले आगमनाभावात् सङ्केतव्यवहारशब्दयोर्भेदो यतः। २९ सामान्यस्य नित्यत्वात्। ३० विपक्षेऽनित्यत्वे शब्दस्यार्थप्रतिपादकत्वं न घटते यतः। ३१ वाचकसामर्थ्यमित्यर्थः ३२ आदिना सपक्षे सत्त्वम्। ३३ अर्थापत्तौ पक्षधर्मादीनां प्रयोजनं नास्ति यतः।

यदि[1] नाशिनि नित्ये वा[2] विनाशिन्येव[3] वा भवेत् ॥ १ ॥
शब्दे वाचकसामर्थ्यं ततो[4] दूषणमुच्यताम्[5] ।
फलवद्व्यवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता[6] ॥ २ ॥
निष्फल[7]त्वेन[8] शब्दस्य[9] योग्यत्वादवगम्यते[10] ।
परीक्ष[11]माणस्तेना[12]स्य युक्त्या नित्यविनाशयोः[13] ॥ ३ ॥
स[14] धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं[15] न बाधते ।
न[16] ह्यङ्गा[17]ङ्ग्यऽनुरोधेन[18] प्रधानफल[19]बाधनम्[20] ॥ ४ ॥
युज्यते नाशिपक्षे च तदे[21]कान्तात्[22]प्रसज्यते ।
न ह्यदृष्टा[23]र्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥ ५ ॥
तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वैः सर्वं प्रकाशयेत् ।
सम्बन्धदर्शनं चास्य[24] नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥ ६ ॥
सम्बन्धज्ञान[25]सिद्धिश्चे[26]द्ध्रुवं कालान्तरस्थितिः ।
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥ ७ ॥
गोशब्दे[27] ज्ञातसम्बन्धे नाऽश्वशब्दो हि वाचकः ।”
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३७–२४४] इति ।

अथ विभिन्नदेशादितयो[28]पलभ्यमानत्वाद्गकारादीनां नानात्वाऽनित्यत्वे साध्येते[29]; तन्न; अनेकप्रतिपत्तृभिर्विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेनादित्येनानेकान्तात् । विभिन्नदेशादितयोपलम्भश्चैषां व्यञ्जकध्वन्यधीनो, न स्वरूपभेदनिबन्धनः । तदुक्तम्—

“नित्यत्वं व्यापकत्वं च सर्ववर्णेषु संस्थितम् ।
प्रत्यभिज्ञानतो माना[30]द्बाधसङ्गम[31]वर्जितात् ॥ १ ॥” [ ]

---

१ अर्थापत्तिरेवास्तां तथाप्यन्यथासिद्धत्वमन्यथैव सिद्धत्वं वा स्यादित्युक्ते आह । २ उभयात्मके । ३ केवलेऽनित्ये । ४ नित्यानित्यात्मके केवलेऽनित्ये शब्दे वाचकसामर्थ्यस्य वर्त्तमानात् । ५ न चैवमिति भावः । ६ फलवांश्चासौ प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणव्यवहारश्च तस्याङ्गभूतं कारणभूतं च तदर्थप्रत्ययश्च, तस्याङ्गता कारणता शब्दस्य । ७ अन्यथा । ८ हेतुना । ९ अर्थप्रतीतिलक्षणफलराहित्ये । १० अर्थप्रतिपत्तिः । ११ उक्तप्रकारेण सफलत्वमायातं शब्दस्येति फलं भवतु को दोष इत्युक्ते आह परीक्षेत्यादि । १२ फलवत्त्वं सिद्धं शब्दस्य येन कारणेन । १३ द्वयोर्धर्मयोर्मध्ये । १४ नित्यफललक्षणः । १५ नित्यधर्मस्य फलम् । १६ नित्यत्वं बाधकं भविष्यति प्रधानफलस्येत्युक्ते आह न हीत्यादि । १७ कारण । १८ भावेन । १९ लक्षणतः । २० अर्थप्रतीतिलक्षणमुख्यफलस्य । २१ नित्यपक्षवन्नाशिपक्षेऽपि प्रधानफलबाधनं नास्तीत्युक्ते आह । २२ नियमेन । २३ अज्ञातार्थ । २४ शब्दस्य । २५ गृहीतसम्बन्ध एव प्रशक्तोस्त्वित्याह । २६ अवश्यम् । २७ शब्दस्य कालान्तरस्थितिपक्षे । २८ आदिना कालः । २९ गादयो धर्मिणो नना अनित्याश्च भवन्ति विभिन्नदेशकालत्वादित्यनुमानेन । ३० प्रमाणात् । ३१ संगमः=संबन्धः ।

"यो[1] यो गृहीतः सर्वस्मिन्देशे शब्दो हि विद्यते ।
न चास्या[2]ऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः ॥ २ ॥
शब्दो[3] वर्त्तत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः ।
व्यञ्जक[4]ध्वन्यऽधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते ॥ ३ ॥
न[5] च ध्वनीनां सामर्थ्यं व्याप्तुं व्योम निरन्तरम् ।
तेनाऽविच्छिन्नरूपेण नासौ सर्वत्र गृह्यते ॥ ४ ॥
ध्वनीनां भिन्न[6]देशत्वं श्रुति[7]स्तत्रानुरुध्यते ।
अपूरितान्तरालत्वाद्विच्छेदश्चावसीयते ॥ ५ ॥
तेषां[8] चाल्पकदेशत्वाच्छब्देप्यऽविभुतामतिः[9] ।
गतिमद्वेगवत्त्वाभ्यां[10] ते चायान्ति यतो यतः ॥ ६ ॥
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७२-१७५]

अथैकेन भिन्नदेशोपलम्भाद् घटादिवन्नानात्वम्; न; आदित्येनानेकान्तात् । दृश्यते ह्येकेनादित्यो भिन्नदेशः, न चैतावतासौ नाना । अथ 'युगपदेकेन भिन्नदेशोपलब्धेः' इति विशेष्योच्यते; तथाप्यनेनैवानेकान्तः । जलपात्रेषु हि भिन्नदेशेषु सवितैकोप्येकेन युगपद्भिन्नदेशो गृह्यते । उक्तं च—

"सूर्यस्य देशभिन्नत्वं न त्वेकेन न गृह्यते ।
[11]न नाम सर्वथा तावद्दृष्ट[12]स्यानेकदेशता ॥ १ ॥
सविशेषेण[13] हेतुश्चेत्तथापि व्यभिचारिता ।
दृश्यते[14] भिन्नदेशोयमित्येकोपि हि बुध्यते ॥ २ ॥
जल[15]पात्रेषु चैकेन नानैकः सवितेक्ष्यते ।
युगपन्न[16] च भेदेस्य प्रमाणं तुल्यवेदनात्[17] ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६-१७८]

---

१ प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दस्य व्यापकत्वं कथमित्युक्ते आह । २ अवयवसद्भावात् खण्डशो वर्तेते इत्युक्ते आह । ३ भागशो न वर्तेते तर्हि कथं वर्तेते इत्युक्ते आह । ४ सर्वत्र विद्यते चेत्तर्हि सर्वत्रैवोपलम्भः स्यादित्युक्ते आह । ५ ध्वनयोपि सकलदेशं कथं न व्याप्नुवन्तीत्युक्ते आह । ६ नानादेशेषूपलभ्यमानत्वम् । ७ शब्दश्रवणम् । ८ शब्दव्यञ्जकवायूनाम् । ९ अत एव श्रवणव्यभिचारो दृश्यते । १० गतिः=क्रियारूपा । वेगः=संस्कारविशेषः । ११ भिन्नदेशश्चेदुपलभ्यते तदा भिन्नदेशो भविष्यतीत्युक्ते आह नेति । १२ सूर्यस्य । १३ युगपदिति । १४ कथं व्यभिचारो दृश्यते इत्यारेकायामाह । १५ एकः सूर्यो भिन्नदेशतया कथं बुध्यते इत्युक्ते आह । १६ एवं चेत्तर्हि सूर्यो नानारूपो भविष्यतीत्युक्ते आह । १७ आदित्य आदित्य इति समानरूपतावेदनाद्धेतोरेक एवायमित्यनुमीयते । न चास्य भेदे प्रमाणं किञ्चिदित्यर्थः ।

कश्चिद[1]आह–न तत्र सवितेक्ष्यते तस्य नभसि व्यवस्थानात्, त[2]न्निमित्तानि तु तेषु प्रतिविम्बानि प्रतीयन्ते, ततो नानेका[3]न्तः।

"आहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रं पृथक् पृथक्।
भिन्नानि प्रतिविम्बानि गृह्यन्ते युगपन्मया ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७९]

एतत्कुमारिलः परिहरन्नाह–

"अत्र ब्रूमो यदा यावज्जले सौर्येण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रो[4]तः प्रवर्त्तितम् ॥ १ ॥
[5]स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा।
भिन्नमूर्त्तिं [6]यथापात्रं त[7]दास्यानेकता कुतः ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८०-१८१]

[8]यथा च प्रदीपः।

"[9]ईषत्सम्मिलितेऽङ्गुल्या यथा चक्षुषि दृश्यते।
पृ[10]थगेकोपि भिन्नत्वाच्च[11]क्षुर्वृत्तेस्त[12]थैव नः ॥ १ ॥
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिविम्बोदयैषिणः।
स एव चेत्प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते ॥ २ ॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात्प्रतिविम्बाद्विनेक्षणम्।
प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ॥ ३ ॥
तत्रैव बोधयेदर्थं वहिर्यातं यदीन्द्रियम्।
तत एतद्भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम् ॥ ४ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८२-१८५]

[13]अत्राह–

"अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते।
एकमूर्द्ध्वमधस्ताच्च तत्रोर्द्ध्वांशप्रकाशितम् ॥ १ ॥
अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते।
पारम्पर्यार्पितं स तमर्वाग्वृत्त्या तु बुध्यते ॥ २ ॥

---

१ जैनादिः। २ स सूर्यो निमित्तं येषां तानि। ३ सूर्येण। ४ नानात्वेन। ५ क्रियाविशेषणमेतत्। ६ पात्राण्यनतिक्रम्य। ७ यदा दृश्यते। ८ अग्रेतनश्लोकान्तर्यथाशब्दः केन सह सबन्धनीय इत्यन्वयार्थो 'यथा च प्रदीपः' शब्द उक्तः। ९ एक एव सविता नाना कथं दृश्यते इत्याह ईषदिति। १० नानारूपेण। ११ चक्षुःप्रवृत्तिर्नानारूपास्ति यत इत्यर्थः। १२ नः=अस्माकमपि, तथैव=प्रदीपप्रकारेणैव। एकोप्यादित्यो नानात्वेन दृश्यते चक्षुषः प्रवृत्तेर्भिन्नत्वात्। १३ कूपादिषु कुत इत्यस्य समाधानमिदमग्रेतनम्।

ऊर्द्धवृत्ति तदेकत्वादवागिव च मन्यते ।
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥ ३ ॥
एवं प्राग्गतया[1] वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् ।
बुध्यमानो मुखं भ्रान्तेः प्रत्यगि[2]त्यवगच्छति ॥ ४ ॥
अनेक[3]देशवृत्तौ च सत्यपि प्रतिबिम्बके[4] ।
समानबुद्धिगम्यत्वान्नानात्वं नैव विद्यते ॥ ५ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९०]

किञ्च[5],

"देशभेदेन भिन्नत्वं[6] मतं तच्चानुमानिकम् ।
प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तेन[7] बाधकः ॥ ६ ॥
पर्यायेण[8] यथा चैको भिन्नदेशान् व्रजन्नपि ।
देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते[9] ॥ ७ ॥
ज्ञातैकत्वो यथा चासौ दृश्यमानः पुनः पुनः ।
न भिन्नः कालभेदेन तथा शब्दो न देशतः ॥ ८ ॥
पर्यायादविरोधं[10]श्चेद्व्यापित्वादपि दृश्यताम्[11] ।
दृष्टसिद्धो हि यो धर्मः सर्वथा सोऽभ्युपेयताम् ॥ ९ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९७-२००] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । नित्यः शब्दोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तम्; धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्यावगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसम्भवात् । न खलु य एव सङ्केतकाले दृष्टस्तेनैवार्थप्रतीतिः कर्त्तव्येति नियमोस्ति, महानसदृष्टधूमसदृशादपि पर्वतधूमादग्निप्रतिपत्त्युपलम्भात् । न हि महानसप्रदेशोपलब्धैव धूमव्यक्ति[12]रन्यत्राप्यग्निं गमयति; सदृशपरिणामाक्रान्तव्यक्त्यन्तरस्य तद्गमकत्वप्रतीतेः, अन्यथा सर्वस्य सर्वगतत्वानुषङ्गः । सदृशपरिणामप्रधानतया च साध्यसाधनयोः सम्बन्धावधारणम् । न ह्यनाश्रितसमानपरिणतीनां निखिलधूमादिव्यक्तीनां स्वसाध्येनाऽर्वाग्दृशा[13] सम्बन्धः शक्यो ग्रहीतुम्;

---

१ गच्छता । २ संमुखम् । ३ सूर्यस्योपलम्भद्वारेण । ४ इत्यस्यापि प्रतिबिम्बके सूर्यस्योपलम्भद्वारेणानेकदेशवृत्तिकं ततश्चानैकान्तिकत्वं प्रकृतसाधनस्यानेनेति चेन्न तस्यापि नानात्वसंभवात् इति वदन्तं प्रति । ५ एवमनेकान्तदूषणमुद्भाव्य कालात्ययापदिष्टत्वमुद्भावयति । भिन्नदेशस्यैकत्वं नास्तीति प्रत्यक्षं कथमनुमानबाधकमित्युक्ते चाह । ६ गकारादीनाम् । ७ कारणेन । ८ कालक्रमेण । ९ व्यवहारकाले । १० समानत्वमित्यर्थः । ११ अग्निधूमयोः शब्दार्थयोश्च । १२ शब्दप्रकारेण= शब्दव्यक्तिर्भवति पक्षे शब्दत्वादिति वक्तव्यम् । १३ असर्वज्ञेन ।

असाधारणरूपेण तस्य तासामप्रतिभासनात्, अथ धूमसामा[1]न्यमेवाग्निप्रतिपत्तिकारणम्; न; व्यक्तिसादृश्यव्यतिरेकेण तदसम्भवात्। न च 'धू[2]मत्वान्मया प्रतिपन्नोऽग्निः' इति प्रतिपत्तिः, किन्तु धूमात्। सा च सामान्यविशिष्ट[3]व्यक्तिमात्रयोः सम्बन्धग्रहणे घटते। न तु धूमाग्निसामान्ययोरवश्यं चानुमेयानुमापक[4]योः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या, अन्यथा सामान्यमात्रस्य दाहाद्यर्थक्रियासाधकत्वाऽभावात् ज्ञानाद्यर्थक्रियायाश्च तत्साध्यायास्तदै[5]वोत्पत्तेः, दाहाद्यर्थिनामनुमेयार्थप्रतिभासात् प्र[6]वृत्त्यभावतोऽस्या[7]प्रामाण्यप्रसङ्गः। सामान्यविशिष्टविशेषरूपता चात्र वाच्यवाचकयोरपि समाना न्यायस्य[8] समानत्वात्।

यदप्युक्तम्—

"सदृशत्वा[9]त्प्रतीतिश्चेत्तद्द्वारेणाप्यवाचकः।
कस्य[10] चैकस्य सादृश्यात्कल्प्यतां वाचकोऽपरः[11] ॥ १ ॥
अदृष्ट[12]सङ्गतत्वेन सर्वेषां[13] तुल्यता यदा।
अर्थवा[14]न्पूर्वदृष्टश्चेत्तस्य तावान्क्षणः कुतः ॥ २ ॥
द्विस्[15]तावानुपलब्धो हि अर्थवान्सम्प्रतीयते।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-२५०]

इत्यादि; तदप्यसारम्; अनुमानवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्। धूमादिलिङ्गात्पूर्वोपलब्धधूमादिसादृश्यतोऽग्न्यादिसाध्यप्रतिपत्तावप्यस्य सर्वस्य समानत्वात्।

एतेनैवमपि प्रत्युक्तम्—

"शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्ध[16]करणं कुतः।
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५६] इत्यादि।

यतोऽदृष्टे धूमे सम्ब[17]न्धो न शक्यते कर्त्तुम्। नापि दृष्टनष्टस्यास्य सम्बन्धेन प्रयोजनं किञ्चित्।

---

१ शब्दपक्षे शब्दसामान्यमेवार्थप्रतिपत्तिकारणमिति वाच्यम्। २ धूमसामान्यात्। ३ सादृश्यपरिणामविशिष्टा व्यक्तिरेव मात्रा स्वरूपं ययोः साध्यसाधनयोस्तयोः। ४ साध्यसाधनयोः। ५ शब्दस्योच्चारणसमये, अग्न्याद्यनुमानसमये च। ६ विशेषे पर्वतादौ। ७ सामान्यस्य। ८ नहीत्यादिपूर्वोक्तस्य। ९ संकेतकालोपलब्धशब्देन व्यवहारकालोपलब्धशब्दस्य। १० तदेति शेषः। कथमवाचक इत्युक्ते कस्येत्याह। कस्य=संकेतकालोपलब्धस्य। ११ व्यवहारकालोपलब्धः शब्दः। १२ अदृष्टसंबन्धेन। १३ शब्दानाम्। १४ वाच्यवाचकसंबन्धवान् शब्दः। १५ द्विवारम्। १६ वाच्येन सह। १७ साध्येनाग्निना सह।

यच्च सादृश्ये दूषणमुक्तम्—

"तथा[1] भिन्नमभिन्नं वा[2] सादृश्यं व्यक्तितो भवेत् ।
एवमेकमनेकं वा नित्यं वानित्यमेव वा ॥ १ ॥

भिन्ने[3] चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता ।
व्यक्त्यऽनन्यदथैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥ २ ॥
व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्य[4]स्मदीहितम् ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-२७३] इत्यादि;

तदप्ययुक्तम्; स्वहेतोरेकस्य हि यादृशः परिणामस्तादृश एवापरस्य[5] सादृश्यम्, न तु स एव । स[6] च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च,[7] तथाप्रतीतेः[8] । न च जातिस्तथाभूता[9]; नित्यव्यापित्वेनाभ्युपगमात्[10] । तथाभूताश्चास्याः सामान्यनिराकरणे निराकरिष्यमाणत्वात् । ततः[11] प्रवृत्तिमिच्छता लिङ्गाच्छब्दाद्वा न सामान्यमात्रस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या ।

ननु सामान्यस्य विशेषमन्तरेणानुपपत्तितो[12] लक्षितलक्षणया[13] विशेषप्रतिपत्तेर्न प्रवृत्त्याद्यभावानुषङ्गः; इत्यप्रातीतिकम्; क्रमप्रतीतेरभावात्[14] । न हि वाचकोद्भूतवाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यावभासः पश्चाद्विशेषप्रतिभास इत्यनुभवोस्ति ।

किञ्च, सामान्याद्विशेषः प्रतिनियतेन रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा? न तावदाद्यः पक्षः; प्रतिनियतरूपतयाऽस्याऽप्रतीतेः । न[15] हि शब्दोच्चारणवेलायां जातिपरिमितो विशेषोऽसाधारणरूपतयाऽनुभूयते प्रत्यक्षप्रतिभासा[16]ऽविशेषप्रसङ्गात् । प्रतिनियतरूपेण जातेरविनाभावाभावाच्च कुतस्तया तस्य लक्षणम्[17]? नापि द्वितीयः; साधारणरूपतया प्रतिपन्नस्यापि विशेषस्यार्थक्रियाकारित्वाऽसामर्थ्येन प्रवृत्त्यहेतुत्वात्, प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः । पुनरपि साधारणरूपतातो विशेषप्रतिपत्तावनवस्था स्यात् । साधारणरूपतया चातो विशेष-

---

१ तथाशब्दः स्वग्रन्थापेक्षया दूषणान्तरसमुच्चये । २ अनेकं सादृश्यं चेत्तर्हि नित्यमनित्यं वा? अनित्यं चेन्न संबन्धप्रतिपत्तिः । नित्यं चेत्तदेकेनैव सादृश्येनार्थप्रतिप्रतिपत्तेरनेकनिष्ठसादृश्यपरिकल्पनं व्यर्थम् । ३ परोक्तौ परिहारमाह । ४ अस्माभिर्जैनैः । ५ धूमादेः । ६ धूमादेः । ७ सादृश्यपरिणामः । ८ भिन्नाभिन्नत्वप्रकारेण । ९ भिन्नाभिन्नरूपा । १० परेण त्वया । ११ सामान्यस्यानुमेयरूपत्वे प्रवृत्तिर्न घटते यतः । १२ सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । १३ सामान्यजनितप्रतिपत्त्या । १४ सामान्यस्य नित्यसर्वगतत्वात् । १५ पूर्वोक्तस्य समर्थनमेतत् । १६ अन्यथेति शेषः । १७ ज्ञानम् ।

प्रतिपत्तौ सामान्यात्सामान्यप्रतिपत्तौ सामान्यप्रतिपत्तिरेव स्यान्न विशेषप्रतिपत्तिः, साधारणरूपतायाः सामान्यस्वभावत्वात्।

किञ्च, यदि नाम शब्दाज्जातिः प्रतिपन्ना व्यक्तेः किमायातम्, येनासौ तां[1] गमयति? तयोः सम्बन्धाच्चेत्; सम्बन्धस्तयोस्तदा[2] प्रतीयते, पूर्वं वा? न तावत्तदा; व्यक्तेरनधिगतेः 'जातिरेव[3] हि केवला तदा प्रतिभासते' इत्यभ्युपगमात्, अन्यथा किं लक्षितलक्षणया[4]? न च व्यक्त्यनधिगमे तत्सम्बन्धाधिगमः; द्विष्ठत्वात्तस्य[5]। अथ पूर्वमसौ प्रतीतः; तथापि तदेवासौ भवतु। न ह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदाप्यसौ भवत्यतिप्रसङ्गात्[6]। न च जातेर्विशेषनिष्ठतैव स्वरूपम्; व्यक्त्यन्तराले तत्स्वरूपाऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तत्[7]कथं व्यक्त्यऽविनाभावोऽस्याः?

किञ्च, सर्वदा[8] जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा? प्रत्यक्षेण चेत्किं युगपत्, क्रमेण वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रतिभासनात्। न च तासामप्रतिभासे तथा सम्बन्धावसायोऽतिप्रसङ्गात्[9]। नापि द्वितीयः; क्रमेण निरवधेः सकलव्यक्तिपरम्परायाः परिच्छेत्तुमशक्तेः। कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताधिगमे सर्वत्र सर्वदा न तन्निष्ठताधिगमः स्यात्। तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्तन्निष्ठताधिगमः। नाप्यनुमानेन; अस्याऽध्यक्षपूर्वकत्वेनाभ्युपगमात्। तस्य चात्राऽप्रवृत्तावनुमानस्याप्यप्रवृत्तिः। तन्न लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तिः सम्भवति, इति वाच्यवाचकयोः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या धूमादिवत्।

ननु धूमादेः सामान्यसद्भावात्तद्विशिष्टस्योक्तन्यायेन गमकत्वमस्तु, शब्दे तु तस्या[11]भावात्कथं तद्विशिष्टस्य गमकत्वम्? तदभावश्च वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसन्धा[12]नाभावात्। यत्र[13] हि सामान्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसन्धानं दृष्टं यथा शावलेयग्रहणे बाहुलेयस्य। वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसन्धा[14]नम्; तदसाम्प्रतम्; गादौ हि वर्णान्तरे गृह्यमाणे यदि 'अयमपि वर्णः' इत्यनुसन्धानाभावः सो[15]ऽसिद्धः, तथानुभू(तथाभू)

१ व्यक्तिम्। २ शब्दाज्जातिप्रतिपत्तिकाले। ३ शब्दोच्चारणसमये व्यक्तिरपि प्रतिभासते चेत्तर्हि। ४ लक्षितेन ज्ञातेन सामान्येन लक्षणा=विशेषप्रतिपत्तिस्तया। ५ संबन्धस्य। ६ घटपटयोरेकदा संबन्धे सर्वदा संबन्धप्रसङ्गात्। ७ संबन्धो नास्ति यतः। ८ कदाचिद्वेत्यप्यत्र द्रष्टव्यम्। ९ पिशाचाप्रतिभासे पिशाचेन कूटस्य संबन्धप्रत्यक्षप्रसङ्गात्। १० विशेषस्य। ११ अर्थज्ञापकत्वम्। १२ अनुसंधानं=प्रत्यभिज्ञानम्। १३ व्यक्तिषु। १४ गत्वाभावात् कादिषु। १५ अनुसंधानाभावः।

तानुसन्धानस्यानुभूयमानत्वेनाऽभावासिद्धेः। अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादिः' इत्यनुसन्धानाभावान्न सामान्यसद्भावः; तर्हि शावलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि बाहुलेयः' इत्यनुसन्धानाभावाद्गोत्वस्याप्यभावः। अथ 'गौर्गौः' इत्यनुगताकारप्रत्ययसद्भावान्न गोत्वाऽसत्त्वम्; तदन्यत्रापि समानम्–तत्रापि हि 'वर्णो वर्णः'[1] इत्यनुगताकारप्रत्ययोऽस्तु, तत्कथं वर्णेषु वर्णत्वस्य गादिषु गत्वादेः शब्दे शब्दत्वस्याभावः निमित्ताऽविशेषात्? तथाहि–समानासमानरूपासु व्यक्तिषु क्वचित् 'समानाः' इति प्रत्ययोऽन्वेत्यन्यत्र व्यावर्त्तते। यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था, नान्यत्र। सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपि समानेति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्था? तथाप्यत्र सामान्यानभ्युपगमे शावलेयादावपि सोऽस्तु। न हि तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यन्निमित्तमुत्पश्यामः। यदि चात्राऽनुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविषयत्वे सत्यपि गत्वादेरभावः; तर्हि गादेरपि व्यावृत्तप्रत्ययविषयस्याभावः स्यात्। तथा[2] च कस्य[3] दर्शनस्य[4] परार्थत्वान्नित्यत्वं[5] साध्येत?

यच्चोक्तम्–'सादृश्येन ततोऽर्थाप्रतिपत्तेः' इति; तत्सदृशपरिणामलक्षणसामान्यविशिष्टव्यक्तेरर्थप्रतिपादकत्वसमर्थनात्प्रत्युक्तम्।

यदप्यभिहितम्–सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्तः शाब्दः प्रत्ययः स्यात्; तद्धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तौ समानम्।

यदप्युक्तम्–'गत्वादीनां वाचकत्वं गादिव्यक्तीनां वा' इत्यादि; तत्सामान्यविशिष्टव्यक्तेर्वाचकत्वसमर्थनादेव प्रत्युक्तम्।

यच्चोक्तम्–'यो यो गृहीतः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; पक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि–अनेको गोशब्द एकेनैकदा भिन्नदेशस्वभावतयोपलभ्यमानत्वाद् घटादिवत्। न चानेकप्रतिपत्तृभिर्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानेनादित्यादिना, कालभेदेन भिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेन देवदत्तेन वा व्यभिचारः; 'एकेनैकदा' इति विशेषणद्वयोपादानात्। एकेनैकदा दर्शनस्पर्शनाभ्यां भिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेन घटादिना वा; 'भिन्नदेशतया' इति विशेषणात्। जलपात्रसङ्क्रान्तादित्यादिप्रतिबिम्बैस्तद्व्यभिचारः[6];

---

१ गत्वलक्षणं सामान्यं नास्ति तथापि वर्णत्वलक्षणं सदृशसामान्यं कादिष्वस्त्येवेति जैनाभिप्रायः। २ अभावे सति। ३ गादेः। ४ उच्चारणस्य। ५ हेतोः। ६ न चेति पूर्वेण संबन्धोऽत्र ज्ञेयः।

तेषामग्रेऽनेकत्वप्रसाधनात् । तथाप्यत्र सर्वगतत्वादिधर्मसम्भवे घटादावपि सोऽस्तु-

'न चास्याऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः ।
घटो वर्त्तेत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः ॥'

इत्यादेरत्राप्यभिधातुं शक्यत्वात् । यथा च—

क्वचिद्रक्तः क्वचित्पीतः क्वचित्कृष्णश्च गृह्यते ।
प्रतिदेशं घटस्तेन विभिन्नो मम युक्तिमान् ॥

तथा—

उदात्तः कुत्रचिच्छब्दोऽनुदात्तश्च तथा क्वचित् ।
अकारो मि(कारमि)श्रितोऽन्यत्र विभिन्नः स्याद् घटादिवत् ॥

ननु 'व्यञ्जकध्वनिधर्मा एवोदात्तादयो नाऽकारादिधर्माः, ते तु तत्रारोपात्तद्धर्मा इवावभासन्ते जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिकादाविति । उक्तञ्च—

"बुद्धितीव्रत्वमन्दत्वे महत्त्वाल्पत्वकल्पना ।
सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते ॥ १ ॥
मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादावपि सर्वदा ।
एवं दीर्घादयः सर्वे ध्वनिधर्मा इति स्थितम् ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१९-२२०]

तदप्यसारम्; यतो यद्युदात्तादिधर्मरहितोऽकारादिस्तत्सहितश्च ध्वनिः रक्तेतरस्वभावजपाकुसुमस्फटिकवत् क्वचिदुपलब्धः स्यात् तदा स्यादेतत् 'अन्यधर्मैस्तदारोपात्तद्धर्मतयैवावभाति' इति । न चासौ स्वप्नेपि तथोपलभ्यते । शब्दधर्मतया चैते प्रतीयमाना यद्यन्यस्येष्यन्तेऽन्यत्र कः समाश्वासहेतुः? बाधकाभावश्चेत्सोत्रापि समानः । विपरीतदर्शनं हि बाधकम्, यथा द्विचन्द्रदर्शनस्यैकचन्द्रदर्शनम् । न चात्र तदस्ति-उदात्तादिधर्मात्मकस्यैवाकारादेः सर्वदा प्रतीतेः । तथापि तत्कल्पने रक्तादिधर्मरहितस्य घटादेर्दर्शनं तथैव कल्प्यताम् । तथाविधस्यानुपलम्भादसत्त्वम्; शब्देपि समानम् ।

किञ्चेदं बुद्धेस्तीव्रत्वं नाम? किं महत्त्वरहितस्यार्थस्य महत्त्वेनोपलम्भः, यथाऽवस्थितस्याऽत्यन्तस्पष्टतया वा? प्रथमे विकल्पे भ्रान्तताऽस्याः स्यात् । 'सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते घटादौ सर्वदा' इति च निदर्शनमयुक्तम्; न हि महातेजःसामर्थ्यादल्पोपि घटो 'महान्' इत्यवभासते, किन्त्वत्यन्तस्पष्टतया । द्वितीयविकल्पे तु महत्त्वादिधर्मरहितस्यास्याऽत्यन्तस्पष्टतया ग्रहणं स्यात् । तथा च न व्यञ्जकध्वनिधर्मानुविधायित्वं स्यात् ।

एतेन बुद्धिमन्दत्वेऽल्पता निरस्ता । न खलु मन्दतेजसः प्रकाशिते घटादौ महति बुद्धिमन्दत्वेनाल्पत्वप्रतीतिरस्ति । ततो 'महाताल्वादिव्यापारे महत्त्वादिधर्मोपेतोऽल्पे चाल्पत्वादिधर्मोपेतः शब्द एवोत्पद्यते' इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वास्य व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे तद्धर्मोपेतस्यास्य नियमेनोपलब्धिर्न स्यात् । कारकव्यापारो ह्येषः—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम, न व्यञ्जकव्यापारः । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जकः प्रदीपादिस्तत्र तत्र व्यङ्ग्यघटादिसन्निधापनमुपलब्धिर्वा नियमतोस्ति, अन्यथा तयोरविशेषप्रसङ्गात्, चक्रादिव्यापारवैयर्थ्यानुषङ्गाच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वान्न तद्व्यञ्जनसन्निधाने सर्वत्रोपलम्भः, शब्दस्य तु सम्भवति विपर्ययात्; इत्यप्यनिरूपिताभिधानम्; तस्य सर्वगतत्वाऽसिद्धेः । तथाहि-न सर्वगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषाभावादुभयोः कार्यत्वं व्यङ्ग्यत्वं चाभ्युपगन्तव्यम् ।

किञ्च, एते ध्वनयः श्रोत्रग्राह्याः, न वा ? श्रोत्रग्राह्यत्वे अत एव शब्दाः तल्लक्षणत्वात्तेषाम् । तत्र च तात्त्विका एवोदात्तादयो धर्माः । तथा चापरशब्दकल्पनानर्थक्यम् । अथ न श्रोत्रग्राह्याः; कथं तर्हि तद्धर्मा उदात्तादयस्तद्ग्राह्याः ? न हि रूपादीनां धर्मा भासुरत्वादयो रूपादेरग्रहणे श्रोत्रेण गृह्यन्ते । अथ न भावतस्तेन ते गृह्यन्ते, किन्त्वारोपात् । ननु चाऽगृहीतस्यारोपोपि कथम् ? अन्यथा भासुरत्वादेरपि तत्रारोपः स्यात् । अथ व्यञ्जकत्वाद् ध्वनीनां तद्धर्मा एव तत्रारोप्यन्ते, न रूपादीनां विपर्ययात्; ननु ज्ञानजनकत्वान्नापरं व्यञ्जकत्वम् । तथा सत्यल्पेन चक्षुषा व्यज्यमानः पर्वतो महानपि तद्धर्मारोपात्तत्परिमाणतया प्रतीयेत सर्षपश्च बृहत्परिमाणतया, न चैवम् । तन्नैते ध्वनिधर्मा उदात्तादयोऽपि तु शब्दधर्माः । तथाप्यस्यैकव्यक्तिकत्वे घटादेरपि तदस्तु विशेषाभावात् ।

ननु चास्यैकत्वे नभोवत्कारणानायत्तत्वान्न तदुत्कर्षापकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षौ स्याताम्; तच्छब्देपि समानम्—तस्यापि हि प्रत्येकमेकव्यक्तिकत्वे ताल्वोत्कर्षाऽपकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षयोगो न स्यात्, किन्तु सर्वत्र तुल्यप्रतीतिविषयता स्यात् । ननु चासिद्धं ताल्वादेर्महत्त्वादेः शब्दस्य महत्त्वादिकम्; तथाहि—

"कारणानुविधायित्वं यच्चाल्पत्वमहत्त्वयोः ।
तदसिद्धं न वर्णो हि वर्द्धते न पदं क्वचित् ॥

वर्णान्तरजनौ तावत्तत्पदत्वं विहन्यते ।
अपदं हि भवेदेतद्यदि वा स्यात्पदान्तरम् ॥
वर्णोऽनवयवत्वात्तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति ।
व्योमादिवदतोऽसिद्धा वृद्धिरस्य स्वभावतः ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१०-२१३]

अत्रोच्यते-किं कारणानुविधायित्वमल्पत्वमहत्त्वयोः स्वभावसिद्धत्वादसिद्धम्, आहोस्वित्कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां शब्दस्याल्पत्वमहत्त्वे एव न विद्येते स्वभावतस्तद्रहितत्वात् इति? तत्राद्यपक्षे स्वभावे एव वास्याऽल्पत्वमहत्त्वे विद्येते, न तु ते तस्य कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां कृते इत्यायातम्, तथा च घटादेरपि तथा तत्सत्त्वप्रसङ्गः । निर्हेतुकत्वेन सर्वदा भावानुषङ्गश्चोभयत्र समानः । द्वितीयस्तु पक्षोऽसङ्गतः; तयोस्तत्र प्रतीयमानत्वेन स्वभावतस्तद्रहितत्वासिद्धेः । न खलु महति ताल्वादौ महानऽल्पे चाल्पः शब्दो न प्रतीयते, सर्वत्र तयोरनाश्वासप्रसङ्गात् ।

यदप्युक्तम्-'न हि वर्णो वर्द्धते' इत्यादि; तत्र यदि तावत् 'अल्पताल्वादिजनितो वर्णादिरल्पो महतस्ताल्वादिव्यापारान्न वर्द्धते' इत्युच्यते; तदा सिद्धसाधनम् । न हि घटोऽल्पान्मृत्पिण्डात्तथाविधो जातोऽन्यतः स एव वर्द्धते अघटत्वप्रसङ्गात्, घटान्तरमेव वा स्यात् । अथान्योपि वृद्धिमान्न जायते; तन्न; तथाविधस्य दृष्टत्वात् । दृष्टस्य चाऽपह्नवाऽयोगात् ।

एतेनैतन्निरस्तम्—

"अथ ताद्रूप्यविज्ञानं हेतुरित्यभिधीयते ।
तथापि व्यभिचारित्वं शब्दत्वेपि हि तन्मतिः ॥ १ ॥
व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वे हि तद्यथानुविधीयते ।
तथैवानुविधातायं ध्वन्यल्पत्वमहत्त्वयोः ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१३-२१४] इति ।

सदृशपरिणामो हि सामान्यम् । तस्य च वर्णवदऽल्पत्वमहत्त्वसम्भवात् कथं तेनानेकान्तः ? भवत्कल्पितं तु सामान्यमग्रे निषिद्धत्वात्खरविषाणप्रख्यमिति कथं तेन व्यभिचारोद्भावनम्?

यदप्युच्यते—

व्यञ्जानां चैतदस्तीति लोकेप्यैकान्तिकं न तत् ।
दर्पणाल्पमहत्त्वे हि दृश्यतेऽनुपतन्मुखम् ॥ १ ॥
न स्याद्व्यञ्ज्यता तस्मिंस्तत्क्रियाजन्यतापि वा ।
न चास्योच्चारणादन्या विद्यते जनिका क्रिया ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१५-२१७]

तदप्यचारु; भ्रान्तेनाऽभ्रान्तस्य व्यभिचाराऽयोगात् । शब्दे हि महत्त्वादिप्रत्ययोऽभ्रान्तो बाधवर्जितत्वादित्युक्तम् । मुखे तु भ्रान्तो विपर्ययात् । न चान्यस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्यापि तत्, अन्यथा सकलशून्यतानुषङ्गः–स्वप्नादिप्रत्ययवत्सकलप्रत्ययानां भ्रान्ततापत्तेः । न च खड्गे प्रतिबिम्बितदीर्घतया मुखमेवाऽऽभाति दर्पणे तु वर्त्तुलतया गौरनीले काचे नीलतया; किन्तु तदाकारस्तत्र प्रतिबिम्बितस्तद्धर्मानुकारी प्रतिभाति । न च शब्दस्याप्याकारो ध्वनौ, ध्वनेर्वा शब्दे प्रतिबिम्बितस्तद्धर्मानुकारी भवतीत्यभिधातव्यम्; शब्दस्याऽमूर्त्तत्वेन मूर्त्ते ध्वनौ तत्प्रतिबिम्बनाऽसम्भवात् । मूर्त्तानामेव हि मुखादीनां मूर्त्ते दर्पणादौ तत्प्रतिबिम्बनं दृष्टं नाऽमूर्तानामात्मादीनाम् । न चाऽश्रोत्रग्राह्यत्वे ध्वनेः प्रतिबिम्बितोप्याकारः श्रोत्रेण ग्रहीतुं शक्योऽतिप्रसङ्गात् । तद्ग्राह्यत्वे वा अपरशब्दकल्पना व्यर्थेत्युक्तम् ।

यच्चाप्युक्तम्—

"यथा महत्यां खातायां मृदि व्योम्नि महत्त्वधीः ।
अल्पायामल्पधीरेवमत्यन्ताऽकृतके मतिः ॥
तेनात्रैवं परोपाधिः शब्दवृद्धौ मतिर्भ्रमः (मतिभ्रमः) ।
न च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवर्त्तिनी ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१७-२१९]

तदप्यसमीचीनम्; व्योम्नोऽतीन्द्रियत्वेन महत्त्वादिप्रत्ययविषयत्वायोगात् । तद्योगे चाल्पया खातयाऽवष्टब्धो व्योमप्रदेशोऽल्पो महत्या च महानिति नाऽनेनाऽनेकान्तः । निरवयवत्वे हि तस्याणुवद्व्यापित्वासम्भवः, अत्यन्ताकृतकत्वेन च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इति वक्ष्यते । तथा शब्दस्यापि सावयवत्वाभ्युपगमे—

"पृथग् न चोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित् ।
न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत्पटे ॥ १ ॥
तेषामनुपलब्धेश्च न जाता लिङ्गतो गतिः ।
नागमस्तत्परश्चास्मिन्नाऽदृश्ये चोपमा क्वचित् ॥ २ ॥
न चास्यानुपपत्तिः स्याद्वर्णस्यावयवैर्विना ।
यथान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः ॥ ३ ॥
प्रत्यक्षेणाववुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जितः ।
किन्न स्याद्व्योमवच्चात्र लिङ्गं तद्रहिता मतिः ॥ ४ ॥"

[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० ११-१४]

इति वचो विरुध्येत ।

यत्पुनरुक्तम्-'व्यञ्जकध्वन्यधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते' इत्यादि; तत्र कुतो ध्वनयः प्रतिपन्ना येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात्? प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा? प्रत्यक्षेण चेत्किं श्रोत्रेण, स्पर्शनेन वा? न तावच्छ्रोत्रेण;तथा प्रतीत्यभावात्। न खलु शब्दवत्तत्र ध्वनयः प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । तत्र ध्वनिप्रतिभासे चापरशब्दकल्पनावैयर्थ्यमित्युक्तम्। अथ स्पार्शनप्रत्यक्षेण ते प्रतीयन्ते-स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरसंस्पर्शनेन तान्प्रतिपद्यते, वदतो मुखाग्रे स्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भादनुमानेनेति; तदप्यसाम्प्रतम्; वायुवत्ताल्वादिव्यापारानन्तरं कफांशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात्। वक्तृवक्त्रप्रदेश एवैषां प्रक्षयेण श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावान्न तत्; इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि वायवोपि तत्र गच्छन्तः समुपलभ्यन्ते। शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिपत्तिस्तूभयत्रसमाना । यथा च स्तिमितभाषिणो न कफांशोपलम्भस्तथा वायूपलम्भोपि नास्ति । स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र समानम्। तन्न प्रत्यक्षेणानुमानेन वा तत्प्रतिपत्तिः।

अथार्थापत्त्या तेषां प्रतिपत्तिः; तथाहि-शब्दस्तावन्नित्यत्वान्नोत्पद्यते संस्कृतिरेव तु क्रियते । सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः। तदुक्तम्—

"शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वादन्यथानुपपत्तितः।
विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्यो व्यवसीयते ॥ १ ॥
तद्भावभाविता चात्र शक्त्यस्तित्वावबोधिनी।
श्रोत्रशक्तिवदेवेष्टा बुद्धिस्तत्र हि संहृता ॥ २ ॥
कुड्यादिप्रतिबन्धोपि युज्यते मातरिश्वनः।
श्रोत्रादेरभिघातोपि युज्यते तीव्रवर्त्तिना ॥ ३ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६-१२९]

इति; तत्र केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम-शब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्करो, वा? परेणं हि त्रेधा संस्कारोऽभ्युपगम्यते। स च—

---

१ शब्दस्य अभिव्यक्तिः । २ निश्चीयते। ध्वनयः सन्ति शब्दसंस्कारान्यथानुपपत्तेरिति। ३ तद्भावभावित्वमसिद्धमित्युक्ते आह बुद्धिरिति। बुद्धिः=प्रत्यक्षबुद्धिः। ४ नियता। ५ शब्दस्यामूर्तत्वे कुड्यादिप्रतिबन्धो न स्याच्छ्रोत्राभिघातो वा न स्यादित्युक्ते आह। ६ शब्दव्यञ्जकवायोः। ७ शब्दव्यञ्जकवायुना। ८ ध्वनेः सकाशात्। ९ मीमांसकेन।

"स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२]

"स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन्भवेत्।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२]

इत्यभिधानात्।

तत्राद्ये पक्षे कोयं शब्दसंस्कारः-शब्दस्योपलब्धिः, तस्यात्मभूतः कश्चिदतिशयः, अनतिशयव्यावृत्तिर्वा, स्वरूपपरिपोषो वा, व्यक्तिसमवायो वा, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता वा, व्यञ्जकसन्निधानमात्रं वा, आवरणविगमो वा स्यात्? यदि शब्दोपलब्धिः; कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दे श्रोत्रमात्रभावित्वात्तस्याः? तथाप्यन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थितिः[2] स्यात्।

तस्या[3]त्मभूतः कश्चिदतिशयोऽनतिशयव्यावृत्तिर्वा इत्यत्रापि अतिशयो दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव। ते चेत्ततोऽन्ये; तत्[4]करणेपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्या[5]ऽश्रुतिः। अथाऽनन्ये[6]; तदा शब्दस्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुषङ्गः। यो हि यस्मा[7]दसमर्थ[8]स्वभावपरित्यागेन समर्थस्वभावं लभते स चेन्न तस्य जन्यः; केदानीं[9] जन्यताव्यवहारः? न च समर्थस्वभाव एव जन्यो न शब्दः इत्यभिधातव्यम्; तस्याऽतो विरुद्धधर्माध्यासतो भेदानुषङ्गात्। तत्र चोक्तो दोषः।

श्रोत्रप्रदेशे एव चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः, न सर्वगतः स्यात्। तस्यै[10]वान्य[11]त्र तद्विपर्ययेणा[12]वस्थाने दृश्याऽदृश्यत्वप्रसङ्गात् निरंश[13]त्वव्याघातो विप्रतिपत्त्यभावश्चास्य[14] परिणामित्वप्रसिद्धेः। यदस्मा[15]भिः 'श्रावणस्वभावविनाशोत्पत्ति[16]मत्पुद्गल[17]द्रव्यम्' इत्यभिधीयते तद्युष्मा[18]भिः 'वर्णः[19]' इत्याख्यायते। यौ च श्रावणस्वभावोत्पादविनाशौ शब्दोत्पादविनाशावस्मा[20]भिरिष्टौ तौ युष्मा[21]भिः शब्दाभिव्यक्तितिरोभावाविति नाम्नैव

---

१ शब्दस्य। २ नियमाभावः। ३ शब्दस्य। ४ तस्य=अतिशयस्य अनतिशयव्यावृत्तेर्वा। ५ शब्दस्य। ६ शब्दात्। ७ ध्वनेः। ८ असमर्थस्वभावः=पूर्वावस्था (शब्दाप्राकट्यम्)। ९ अपि तु न कापीत्यर्थः। १० शब्दस्य। ११ श्रोत्रप्रदेशादन्यत्र। १२ स्वभावस्य जन्यता शब्दस्य त्वजन्यतेति भेदे। १३ सर्वगतत्वे च शब्दस्य। १४ शब्दस्य। १५ जैनैः। १६ पुद्गले एव श्रावणस्वभावतोत्पद्यते नश्यति च। १७ तदेव शब्दः। १८ मीमांसकैः। १९ शब्दरूपः। २० जैनैः। २१ मीमांसकैः।

विवादो नार्थे । दृश्येतररूपता चै[1]कस्य ब्रह्मवादं समर्थयते त[2]द्वद्वेतनेतररूपतयाप्येकस्याऽवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैवं सर्वगतत्वानुषङ्गः-'सोपि हि दृष्टप्रदेशे दृश्योऽन्यत्र चादृश्यः' इति वदतो न वक्त्रं वक्रीभवेत् । स[3]र्वत्र चास्य संस्कारे सर्वदोपलब्धिः स्यात्, न वा क्वचित्कदाचित् विशेषा[4]भावात् ।

स्वरूप[5]परिपोषः संस्कारोस्य; इत्यप्यऽचर्चिताभिधानम्; नित्यस्य स्वभावान्यथाकरणाऽसम्भवात् । करणे वा स्वभावातिशयपक्ष[6]भावी दोषोनुषज्यते ।

नापि व्यक्तिसमवायः; वर्णस्य व्यक्त्यऽसम्भवात्, अ[7]न्यथा सामान्यात्कोस्य विशेषः ? अत एव न त[8]द्ग्रहणापेक्षग्रहणता ।

नापि व्यञ्जकसन्निधानमात्रम्; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभिः सर्ववर्णानां ग्रहणप्रसङ्गात् । ननु प्रतिनियतेन ध्वनिना प्रतिनियतो वर्णः संस्कृतः प्रतिनियतेनैव प्रतिपत्रा प्रतीयते तथैव सामर्थ्यात् । उक्तं च—

"विषयस्यापि संस्कारे तेनैकस्यैव संस्कृतिः ।
नरैः सामर्थ्यभेदाच्च न सर्वैरवगम्यते ॥ १ ॥
यथैवोत्पद्यमानोयं न सर्वैरवगम्यते ।
दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान्प्रति भवन्नपि ॥ २ ॥
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद्यस्य संस्कृतिः ।
तैरेव श्रूयते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८३-८६] इति ।

तदप्यपेशलम्; तेषां तदुपलम्भाऽसामर्थ्ये सर्वदाऽनुपलम्भप्रसङ्गाद्बधिरवत् । यदा तत्समीपस्थैर्व्यञ्जकैर्व्यज्यतेऽसौ तदा तैरेवोपलभ्यते इत्यप्यसुन्दरम्; यतस्तेषां व्यञ्जकैः किं क्रियते येन ते तैर्नियमेनापेक्षन्तेऽकिञ्चित्करेऽपेक्षाऽसम्भवात् ? तद्ग्रहणे योग्यतेति चेत्; किमात्मनः, शब्दस्य, इन्द्रियस्य वा ? आद्यविकल्पद्वये सर्वदोपलम्भोऽनुपलम्भो वा स्यात् । इन्द्रियसंस्कारस्तु निराकरिष्यते ।

---

१ (एकस्यैव शब्दस्य दृश्यत्वादृश्यत्वरूपतास्वीकारादद्वैतं सिध्यतीत्यर्थः) । २ ब्रह्मवादसमर्थने हेतुमाह । ३ द्वितीयपक्षोयम् । ४ संस्कृतत्वेन । ५ ध्वनिभिः । ६ स स्वभावस्ततो भिन्नोऽभिन्नो वा ? भिन्नश्चेन्न तैर्ध्वनिभिः शब्दस्य करणम् इत्यादिः । ७ अन्यथा=शब्दस्य व्यक्तिसत्त्वे सामान्यतादिरूपताप्रसङ्गोपि स्यादित्यर्थः । ८ तस्य=शब्दसंस्कारस्य । ९ शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्—यथैवोत्पद्यमानोऽयमित्यादि; तदप्यसङ्गतम्; न हि दिगा[1]द्यपेक्षयाऽस्मा[2]भिस्तद्ग्रहणमिष्यतेऽपि तु श्रवणान्तर्गतत्वेन। अतो यस्यैव श्रवणान्तर्गतो यः शब्दः स तेनैव गृह्यते। सर्वगतवर्णपक्षे तु नायं परिहारो निखिलवर्णानां सकलप्रतिपत्तृश्रवणान्तर्गतत्वेन तथैवोपलम्भप्रसङ्गात्।

आवरणविगमः शब्दसंस्कारः; इत्यप्यसत्यम्; यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरणं सिद्ध्येत् स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारा[3]दिवत्। न चासौ सिद्धः। तत्कथमस्यावरणम्? नित्यस्याऽस्याऽनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशयात्मतयाऽस्याकिञ्चित्करत्वाच्च। न चाऽकिञ्चित्करः कस्यचिदावरणमतिप्रसङ्गात्। उपलब्धिप्रतिबन्धकारणात्तच्चेत्; न; तज्जननैकस्वभावस्य तदयोगात्। न हि कारणाऽक्षये कार्यक्षयो युक्तस्तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसङ्गात्। कथमेवं कुड्यादयो घटादीनामावारका इति चेत्; तज्जनकस्वभावखण्डनात्। कथमन्यस्योपलब्धिं जनयन्तीति चेत्? तं प्रति तत्स्वभावत्वात्। कथमेकस्योभयरूपता? इत्यप्यचोद्यम्; तथा दृष्टत्वात्। शब्दस्यापि स्वभावखण्डनेऽनित्यतेत्युक्तम्।

सर्वगतत्वे चास्याव्रियमाणत्वायोगः। आवार्या हि येना[4]व्रियते तदावारकम्, यथा पटो घटस्य। शब्दस्त्वावारकमध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च सर्वत्र विद्यमानत्वात्कथं केनचिदाव्रियेत? प्रत्युत स एवावारकः स्यात्। तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्; न तर्ह्यावारकम्। न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम्। मूर्त्तत्वात्तदिति चेत्; न तर्हि सर्वगतं घटादिवत्।

अथ यावद्व्योमव्यापिनो बहव एवास्यावारकाः ते; किं सान्तराः, निरन्तरा वा? यदि सान्तराः; न तर्हि तस्यावरणम्, तन्मध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च विद्यमानत्वात्। अथ स्वमाहात्म्यात्तथापि स्वदेशे तदावारकाः; तर्ह्यन्तराले तदुपलम्भप्रसङ्गः। तथा च सान्तरा प्रतिपत्तिः प्रतिवर्णं खण्डशः प्रतिपत्तिश्च स्यात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मना विद्यमानत्वान्न दोषश्चेत्; नैवम्; प्रतिप्रदेशमकारादिबहुत्वस्य ध्वन्यादिवैफल्यस्य चानुषङ्गात्, तदभावेप्यन्तराले उपलम्भसम्भवात्। अथान्तरालेऽसन्तोप्यावारकाः; तर्ह्येकमेवावारकं प्रदेशनियतं कल्पनीयं किं तद्बहुत्वेन? अन्यै[5]त्राविद्यमानं

१ आदिना देशकालादिर्ग्राह्यः। २ जैनैः। ३ अन्धकारादिर्यथाऽऽवरणं घटस्य। ४ आवारकेण। ५ मूलपुस्तके 'अन्यत्वा–' इति।

कथमावारकमिति चेत्? अन्तरालवदिति ब्रूमः[1]। तन्मते सान्तराः। निरन्तरत्वे चैषाम् तद्वच्छब्दस्यापि निरन्तरत्वादावार्यावारकभावः समान एवोभयत्र। अथ वस्तुस्वाभाव्यात् स्तिमिता वायव एव तदावारकाः; ननु दृष्टे वस्तुन्येतद्वक्तुं शक्यम्, यथा दृष्टेऽग्नौ दाहकत्वेन 'वस्तुस्वाभाव्यादग्निर्दहति न जलम्' इत्युच्यते। न च तथाविधा वायवो दृष्टाः। नापि सन् शब्दस्तैराव्रियमाणो येनैवं स्यात्। [2]अदृष्टकल्पनमुभयत्र समानम्। तन्न किञ्चित्तस्यावारकम्।

अस्तु वा तत्, तथाप्यस्य कुतो विगमः? ध्वनिभ्यश्चेत्; न; तत्सद्भावावेदकप्रमाणप्रतिषेधतस्तेषामसत्त्वात्। सत्त्वे वा कुतस्तेषामुत्पत्तिः? ताल्वादिव्यापाराच्चेत्; न; तद्वच्छब्दस्यापि तद्व्यापारे सत्युपलम्भतस्तत्कार्यतानुषङ्गात्। ननु खननाद्यनन्तरं व्योमोपलभ्यते, न च तत्कार्यमतोऽनैकान्तिकत्वम्। तदुक्तम्—

"अनैकान्तिकता तावद्धेतूनामिह कथ्यते।
प्रयत्नानन्तरं दृष्टिर्नित्येपि न विरुद्ध्यते ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९]

"आकाशमपि नित्यं सद्यदा भूमिजलावृतम्।
व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः ॥ २ ॥
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते।
तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥ ३ ॥
अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते।
शब्दोपि प्रत्यभिज्ञानात्प्रागस्तीत्यवगम्यताम् ॥ ४ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३२]

तदप्यसङ्गतम्; ध्वनीनामप्येवं ताल्वादिव्यापारकार्यत्वाभावप्रसङ्गात्। एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा; स्वविज्ञानजननैकस्वभावत्वे हि तस्य न खननाद्यनन्तरमेवोपलब्धिः किन्तु पूर्वमपि स्यात्। तदस्वभावत्वे वा न कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात्। विशेषे वा एकरूपताव्याघातः। प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दे प्राक् सत्त्वसिद्धिश्च ध्वनावपि समाना 'य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि' इति प्रतीतेः। तथा च व्यञ्जनस्यापि सर्वत्र सर्वदा सद्भावे ताल्वादिव्यापारवैफल्यं सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात्। तन्न ताल्वादिव्यापारकार्यता ध्वनीनामेव। अतः कथं तेषां सत्त्वमुत्पादकाभावात्?

---

१ जैनाः। २ शब्दो वायोरावारकः कुतो न स्यादिति जैनेनोक्ते परः प्राह- अदृष्टकल्पना स्यादिति। तस्योपरि जैनेनोच्यते।

सन्तु वा ते, तथाप्यतः क्वचिदावरणविगमे विवक्षितवर्णवन्निखिलवर्णोपलब्धिप्रसङ्गः, व्यापकत्वेन सर्वेषां तत्र सद्भावात्, तथा च ध्वन्यन्तरस्य वैफल्यम्। ननु चावार्याणामिवावारकाणां तद्वच्च तदपनेतृणां भेदस्तेनायमदोषः। उक्तञ्च—

"व्यञ्जकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता।
जातिभेदश्च तेनैवं संस्कारो व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथान्यं न करोति वः।
तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥ २ ॥
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैर्वर्णो नान्यो यथैव हि।
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः ॥ ३ ॥
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः।
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात्प्रयत्नविवक्षयोः ॥ ४ ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ७९-८२]

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अभिन्नदेशेऽभिन्नेन्द्रियग्राह्ये चावार्ये आवरणभेदस्याभिव्यञ्जकभेदस्य चाऽप्रतीतेः। न खलु घटशरावोदञ्चनादीनां तथाविधानामावरणव्यञ्जकभेदो दृष्टः, काण्डपटादेरेकस्यैवावरणत्वस्य प्रदीपादेश्चैकस्यैवाभिव्यञ्जकत्वस्य प्रसिद्धेः। तथा च प्रयोगः-शब्दाः प्रतिनियतावरणावार्याः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, समानदेशैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्, घटादिवत्। न चाऽऽवार्यवर्णानां देशभेदो युक्तः; व्यापकत्वाभावप्रसङ्गात्। देशभेदो हि परस्परदेशपरिहारेणावस्थानात्प्रसिद्धो गोकुञ्जरवत्। तथा चावरणभेदस्याऽसतः कथं जातिभेदप्रकल्पनं तदपनेतृजातिभेदप्रकल्पनं च श्रेयो यतो 'जातिभेदश्च' इत्यादि शोभेत।

नन्वेकेन्द्रियग्राह्यस्यापि व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकभेदो दृष्टः, यथा भूमिगन्धस्य जलसेकः न शरीरगन्धस्य। अस्यापि मरीचिचक्रसहायस्तैलाभ्यङ्गो न भूमिगन्धस्येति। सत्यं दृष्टः; स तु विषयसंस्कारकस्य व्यञ्जकस्य, न त्वावरणविगमहेतोः। नैव वा गन्धस्याभिव्यञ्जका जलसेकादयोऽपि तु कारकाः, तत्सहकारिणः पृथिव्यादेर्विशिष्टस्य गन्धस्योत्पत्तेः पूर्वं तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। कारकाणां चैकेन्द्रियग्राह्ये समानदेशे च कार्ये नियमो दृष्टः। यथैकत्र स्थिता अपि यवबीजादयो न सर्वे शाल्यङ्कुरं यवाङ्कुरं चोत्पादयन्ति, किन्तु शालिबीजमेव शाल्यङ्कुरं यवबीजं च यवाङ्कुरम् इति।

एतेन 'अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैः' इत्यादि निरस्तम्; कथम्? ध्वन्यन्तरसारिभिस्ताल्वादिभिर्यद्यपि ध्वन्यन्तराक्षेपो नास्ति तथापि य एव तैराक्षिप्यते तत एव सर्ववर्णश्रुतेर्ध्वन्यन्तराक्षेपपक्षदोषस्तदवस्थः। तन्न शब्दसंस्कारोभिव्यक्तिर्घटते।

अथेन्द्रियसंस्कारोसौ। तदुक्तम्—

"अथापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः।
शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनाऽसंस्कृतशष्कुलि ॥ १ ॥
अप्राप्तकर्णदेशत्वाद्ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया।
अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमस्थितिः ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९-७०]

"यद्यपि व्यापि चैकं च तथापि ध्वनिसंस्कृतिः।
अधिष्ठानेषु सा यस्य तच्छब्दं प्रतिपत्स्यते ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६८] इति।

अत्रापि सकृत्संस्कृतं श्रोत्रं युगपत्सर्ववर्णान् शृणुयात्। न ह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं नीलधवलादिकं कञ्चित्पश्यति कञ्चिन्नेति। बलातैलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादीन् शृणोति कांश्चिन्नेतीति नियमो दृष्टो येनात्रापि तथा कल्पना स्यात्।

ततो निराकृतमेतत्—

"तथा(यथा)घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतेः ॥ १ ॥
न चा(च)पर्यनुयोगोत्र केनाकारेण संस्कृतिः।
उत्पत्तावपि तुल्यत्वाच्छक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति।

प्रदीपादिनानुगृहीतचक्षुषा पटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेणाप्येकदानेकशब्दश्रवणप्रसङ्गात्। प्रयोगः-श्रोत्रमेकेन्द्रियग्राह्याभिन्नदेशावस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वत्। तन्न श्रोत्रसंस्कारोप्यभिव्यक्तिर्घटते।

अस्तु तर्ह्युभयसंस्कारः। न चात्रोक्तदोषानुषङ्गः। तदुक्तम्—

"द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वचः।
येनान्यतरवैकल्यात्सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६]

---

१ सर्वशब्दश्रवणोत्पादितैलविशेषोयम्।

तदप्ययुक्तम्; उक्तदोषादेव, तथाहि-यदैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्वैवर्णान्प्रतिपद्येत संस्कृतं च वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न भवेत्तदात्मकत्वात्तस्य । अतो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य विचार्यमाणस्याऽयोगान्न व्यञ्जकध्वन्यधीनो विभिन्नदेशकालस्वभावतया शब्दस्योपलम्भोऽपि तु तत्स्वभावभेदनिबन्धनः ।

यच्चोक्तम्-'जलपात्रेषु च' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; तत्रोपलभ्यमानस्यादित्यप्रतिबिम्बस्यानेकत्वात् । 'गगनतलावलम्बी हि सविता तत्रोपलभ्यते' इत्यत्र न प्रत्यक्षं प्रमाणं तत्स्वरूपाप्रतिभासनात् । तस्य हि स्वरूपं गगनतलावलम्बि चैकं च, तन्नावभासते । यच्चावभासि जलपात्रावलम्बि चानेकं च, तद्वृक्षच्छायादिवद्वस्त्वन्तरमेव । न चान्यप्रतिभासेऽन्यप्रतिभासो नामाऽतिप्रसङ्गात् । न च जलभानोर्गगनभानुना सादृश्यादेकत्वम्; कमनीयकामिनीनयनयोरपि तत्प्रसङ्गात् । नापि तद्विकारे जलभानुविकारादेकत्वम्; वृक्षच्छाययोरपि तत्प्रसङ्गात् ।

ननु तत्र तत्प्रतिबिम्बानां वस्त्वन्तरत्वे कुतः प्रादुर्भावः स्यादिति चेत्? जलादित्यादिलक्षणस्वसामग्रीविशेषात् । तर्हि स्वच्छताविशेषसद्भावाज्जलादर्शादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः[1] कस्मान्न सर्वदोपलभ्यन्ते इति चेत्? स्वसामग्र्यऽभावतोऽभावाच्छब्दसुखादिवत् । कश्चिद्धि विकारः सहकारिनि[2]वृत्तावप्यनिवर्त्तमानो दृष्टो[3] यथा घटादिः, कश्चित्तु निवर्त्तमानो यथा शब्दादिः[4], अचिन्त्यशक्तित्वाद्भावानाम् । ताल्वादिव्यापार[5]सहकारिनिवृत्तौ हि पुद्गलस्य[6] श्रावणस्वभावव्यावृत्तिः[7] । स्रग्वनितानिवृत्तौ चाल्हादनाकारव्यावृत्तिरात्मनः सकलजनप्रसिद्धा, एवमादित्यादिसहकारिनिवृत्तौ जलादेस्तत्प्रतिबिम्बाकारनिवृत्तिरविरुद्धा ।

ततो[8] निराकृतमेतत्[9]-'अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण[10]' इत्यादि; स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धेः । 'चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तितम्' इति चातीवाऽसङ्गतम्; प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तेजांसि जलेनाभिसम्बन्ध्य पुनः सवितारं प्रति प्रवर्त्तितानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते । यथा च चक्षूरश्मीनां विषयं[11] प्रति

---

१ सुखादिप्रतिबिम्बाकारस्य । २ चक्रचीवरादि । ३ उत्पत्तेरुत्तरकाले । ४ आदिना सुखम् । ५ कथम् । ६ शब्दरूपस्य । ७ व्याघुट्टनम् । ८ यस्माद्वस्त्वन्तरत्वं सिद्धं प्रतिबिम्बानाम् । ९ पुनः । १० सौर्येण तेजसा । ११ घटादिपदार्थम् ।

प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुरप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितम्। इत्यलं[1]मतिविस्तरेण।

यच्चान्यदुक्तम्–'देशभेदेन भिन्नत्वम्' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतो यदि प्रत्यक्षमेवानुमानस्य बाधकं नानुमानं प्रत्यक्ष[2]स्य; तर्हि चन्द्रार्कादौ स्थैर्या[3]ध्यक्षं देशाद्देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितगत्यनुमानेन बाध्यं न स्यात्। अथास्य प्रत्यक्षरूपतैव नास्ति बाधितविषयत्वा[4]त्; तत्प्र[5]कृतेपि समानम्[6], लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सादृश्यप्रतीत्या तँ[7]न्नानात्वप्रसाधकानुमानेन चाऽत्रा[8]प्येकत्वप्रतीतेर्बाधितविषयत्वाऽविशेषात्[9]। अतो[10]ऽयुक्तमेतत्—

"स एवेति मतिर्नापि सादृश्यं न च तत्कं[11]चित्।
विनावयवसामान्यैर्वर्णे[12]ष्ववयवा[13] न च॥"
[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० १८] इति।

अवयवसामान्यस्याप्यत्रात एव प्रसिद्धेः। तेनायुक्तमुक्तम्-'पर्यायेण' इत्यादि; देवदत्ते हि 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, अत्र तु 'तेनानेन[14][15] चायं[16] सदृशः' इति। न च सदृशप्रत्ययादेकत्वम्; गोगवय[17]योरपि तत्प्रसङ्गात्। यद्यप्युच्यते[18]—

"जैनकापि[19]लनिर्दिष्टं शब्दश्रोत्रादिसर्पणम्।
साधी[20]योऽस्मा[21]त्तदप्यत्र[22] युक्त्या[23] नैवावतिष्ठते॥ १॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०६]

जैनेन हि निर्दिष्टं श्रोतारं प्रति शब्दस्य सर्पणं कापिलेन तु वक्तारम्। श्रोत्रादेर्य[24]त्तदेव साधीयोऽस्मान्नैयायिकोपकल्पितात्। वीचीतरङ्ग[25]न्यायेन शब्दस्यामूर्त्तस्यागमनात्। तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते[26]। यस्मात्—

"शब्दस्यागमनं तावद[27]दृष्टं परिकल्पितम्।
मूर्त्तिस्पर्शादिमत्त्वं च तेषाम[28]भिभवः सताम्॥ १॥

१ चक्षूरश्मीनां विषयं प्रति गमननिराकरणेन। २ बाधकम्। ३ ग्राहि। ४ स्थैर्यलक्षणस्य। ५ गकारे। ६ कथम्। ७ गकार। ८ गकारे। ९ सादृश्यप्रतीत्यैकत्वप्रतीतेर्बाधितविषयत्वं यतः। १० स एवायं गकारादिः। ११ गकारादौ। १२ वर्णानां निरंशत्वात्। १३ अंशाः। १४ तेन सदृशोयं गकारः। १५ वर्णेन। १६ वर्णः। १७ अन्यथा। १८ मीमांसकेन। १९ साङ्ख्य। २० श्रेयः। २१ अग्रे वक्ष्यमाणात्। २२ जगति वर्णेषु वा। २३ मीमांसकस्य। २४ गमनम्। २५ लहरी। २६ कुतः। २७ प्रत्यक्षादिप्रमाणेनाप्रातीतिकम्। २८ कुड्यादिना तिरोभावः।

त्वगग्राह्यत्वमन्ये च भागाः[1] सूक्ष्माः[2] प्रकल्पिताः ।
तेषामदृश्यमानानां कथं च रचना[3]क्रमः[4] ॥ २ ॥
कीदृशाद्रचनाभेदाद्वर्णभेदश्च जायताम् ।
द्रवित्वेन विना चैषां संक्लेषः[5](संश्लेषः)कल्प्यते कथम् ॥ ३ ॥
आगच्छतां[6] च विश्लिषो[7] न भवेद्वायुना कथम् ।
लघवोऽवयवा ह्येते[10] निबद्धा[11] न च केन[12]चित्[13] ॥ ४ ॥
वृक्षाद्यभिहतानां[14] च विश्लेषो लोष्टवद्भवेत् ।
एक[15]श्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां[16] स्यात्पुनः श्रुतिः[17] ॥ ५ ॥
न चावान्तर[18]वर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम्[19] ।
न चैकस्यैव[20] सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते[21] ॥ ६ ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०७-११२]

इत्यादि । तद्व्यञ्जकवाय्[22]वागमनेपि समानम् । शक्यते हि शब्दस्थाने वायुं पठित्वा 'वायोरागमनं तावददृष्टं परिकल्पितम्' इत्याद्यभिधातुम् ।

किञ्च, अदृष्टकल्पनागौरवदोषो भवत्पक्ष[23] एवानुषज्यते; तथाहि-शब्दस्य पूर्वापरकोट्योः सर्वत्र च देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वम्, तस्य चावारकाः स्तिमिता वायवः प्रमाणतोऽनुपलभ्यमानाः कल्पनीयाः, तदपनोदकाश्चान्ये[24], तेषां शक्तिनानात्वं कल्पनीयम्, नास्मत्पक्षे[25] । पौद्गलिकत्वं च यथावसरं गुणनिषेधप्रक्रमे प्रसाधयिष्यामः । तत्सिद्धं घटस्य चक्रादिव्यापारकार्यत्ववच्छब्दस्य ताल्वादिव्यापारकार्यत्वमिति साधूक्तम्—'आप्तवचनम्' इत्यादि ।

ननु[26] शब्दार्थयोः सम्बन्धासिद्धेः कथमाप्तप्रणीतोपि शब्दोऽर्थे ज्ञानं कुर्याद्यत आप्तवचननिबन्धनमित्यादि वचः शोभेतेत्याशङ्कापनोदार्थम्[27] 'सहजयोग्यता' इत्याद्याह—

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥ १०० ॥

---

१ अवयवाः । २ अदृष्टाः । ३ रचना=बन्धः । ४ अदृष्टः । ५ भेदः । ६ वर्णोत्पत्तौ । ७ शब्दानां पुद्गलरूपाणाम् । ८ जैनानाम् । ९ शब्दानां वायूनां च । १० जैनोक्ताः । ११ सम्बद्धाः । १२ कारणेन । १३ वर्णवायूत्पत्तौ । १४ पुद्गलरूपाणां वर्णानाम् । १५ एकस्य नरस्य । १६ नृणाम् । १७ अव्यापकः शब्दो जैनमते यतः । १८ मध्योत्पन्नानाम् । १९ नैयायिकस्य । २० गस्य । २१ जैनस्य । २२ ताल्वादिजनितशब्दाभिव्यञ्जकध्वनेः । २३ मीमांसकपक्षे । २४ व्यञ्जकाः । २५ जैन । २६ सौगतः । २७ निराकरणार्थम् ।

सहजा स्वाभाविकी[1] योग्यता शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः[2] ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्। न हि तत्राप्यतो योग्यतातोऽन्यः[3] कार्यकारणभावादिः सम्बन्धोस्तीत्युक्तम्[4]। तस्यां सत्यां संकेतः[5]। तद्वशाद्धि स्फुटं शब्दा[6]दयो[7] वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।

यथा[8] मेर्वादयः सन्ति ॥ १०१ ॥

इति।

ननु चासौ सहजयोग्यताऽनित्या, नित्या वा? न तावदनित्या; अनवस्थाप्रसङ्गात्[9][10]–येन हि प्रसिद्धसम्बन्धेन[11] 'अयम्' इत्यादिना[12] शब्देनाप्रसिद्धसम्बन्धस्य घटादेः शब्दस्य सम्बन्धः क्रियते[13] तस्याप्यन्येन[14] प्रसिद्धसम्बन्धेन सम्बन्धस्तस्याप्यन्येनेति। नित्यत्वे चास्याः सिद्धं नित्यसम्बन्धाच्छब्दानां वस्तुप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति मीमांसकाः[15]; तेप्यतत्त्वज्ञाः; हस्तसंज्ञादि[16]सम्बन्धवच्छब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वेप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वसम्भवात्। न खलु हस्तसंज्ञादीनां स्वार्थेन सम्बन्धो नित्यः, तेषामनित्यत्वे तदाश्रितसम्बन्धस्य नित्यत्वविरोधात्। न हि भित्तिव्यपाये[17] तदाश्रितं चित्रं न व्यपैती[18]त्यभिधातुं[19] शक्यम्।

न चानित्यत्वेऽस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं न दृष्टम्; प्रत्यक्षविरो[20]धात्[21]। एवं[22] शब्दार्थसम्बन्धे[23]प्येतद्वाच्यम्[24]–स हि न तावदनाश्रितः[25]; नभोवद[26]नाश्रितस्य[27] सम्बन्धत्वाऽसम्भवात्। आश्रितश्चेत्किं तदाश्रयो नित्यः, अनित्यो वा? नित्यश्चेत्; कोयं नित्यत्वेनाभिप्रेतस्तदाश्रयो[28] नाम? जातिः[29], व्यक्तिर्वा[30]? न तावज्जातिः; तस्याः शब्दार्थत्वे[31] प्रवृत्त्याद्यभाव[32]प्रतिपादनात्[33], निराकरिष्य-

---

१ न त्वौपाधिकी। २ वाच्यवाचकसामर्थ्यम्। ३ अपरः। ४ पूर्वं प्रथमपरिच्छेदे। ५ अस्य शब्दस्यायमर्थः, अस्य गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थ इति च। ६ प्रागुक्ताः। ७ आदिना हस्ताङ्गुलीसंज्ञाः। ८ उदाहरणे। ९ अन्यथा। १० कथम्? तथा हि। ११ अर्थेन सह। १२ इदमित्यादिना च। १३ यथा प्रसिद्धसम्बन्धेन घटशब्देन घट एव वाच्यस्तथाऽप्रसिद्धसम्बन्धेनापि घटशब्देन घट एव वाच्य इति। १४ शब्देन। १५ वदन्ति। १६ आदिना नयनाङ्गुल्यादिसंज्ञाः। १७ विनाशे। १८ विनश्यति। १९ वक्तुम्। २० अन्यथा। २१ प्रत्यक्षेण सिद्धा हस्तसंज्ञादयोऽनित्या यतः। २२ अनित्यहस्तसंज्ञादिसम्बन्धस्यार्थप्रतिपत्तिप्रतिपादकत्वप्रकारेण। २३ ताद्भिः। २४ वक्ष्यमाणम्। २५ अन्यथा। २६ अमूर्त्तनभोवत्। २७ गगनस्य त्वर्थेन सम्बन्ध उपचारत एव, न तु साक्षात्तस्याऽमूर्त्तत्वात्। २८ इष्टः। २९ सामान्यम्। ३० विशेषः। ३१ यदा सामान्यरूपौ शब्दार्थौ सम्बन्धस्य वाच्यवाचकरूपस्याधारभूतौ तदा तावेव विषयीकुर्याच्छब्द इति भावः। ३२ आदिना निवृत्तिः। ३३ पूर्वम्।

मीणत्वाच्च[2]। व्यक्तेस्तु तदाश्रयत्वे कथं नित्य[3]त्वमन[4]भ्युपगमात्तथाप्रतीत्यभावाच्च। अनित्यत्वे च तदाश्रयत्वस्य[5] सिद्धं तद्व्यपाये स[6]म्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यपाये चित्रवत्। त[7]तोऽयुक्तमुक्तम्—

"नित्याः शब्दा[8]र्थसम्बन्धा[9]स्तत्रा[10]म्नाता[11] महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां[12] भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥"
[वाक्यपदी० १।२३] इति;

सदृशपरिणामविशिष्टस्यार्थस्य शब्दस्य तदाश्रितसम्बन्धस्य चै[13]कान्ततो नित्यत्वासम्भवात्। सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासम्भवतोऽसत्त्वं चाऽश्वविषाणवत्। अनवस्थादूषणं चायुक्तमेव; 'अयम्' इत्यादेः शब्दस्यानादिपरम्परा[14]तोऽर्थमात्रे[15] प्रसिद्धसम्बन्धत्वात्, तेनावगत[16]सम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य सङ्केतकरणात्।

नित्यसम्बन्धवादिनोऽपि[17] चानवस्थादोषस्तुल्य एवं[18]—अनभिव्यक्तसम्बन्धस्य[19] हि शब्दस्याभिव्यक्तसम्बन्धेन शब्देन सम्बन्धा[20]भिव्यक्तिः कर्त्तव्या, तस्याप्यन्येनाभिव्यक्तसम्बन्धेनेति। यदि पुनः कस्यचित्स्वत एव[21] सम्बन्धाभिव्यक्तिः; अपरस्यापि सा तथैवास्तीति[22] सङ्केतक्रिया[23] व्यर्था। शब्दविभागा[24]भ्युपगमे चालं सम्बन्धस्य नित्यत्वकल्पनया। कल्पने[25] चाऽगृहीतसङ्केत[26]स्याप्यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्[27]। सङ्केत[28]स्तस्य व्यञ्जकः; इत्यप्ययुक्तम्; नित्यस्य व्यङ्ग्य[29]त्वायोगात्। नित्यं हि वस्तु यदि व्यक्तं व्यक्तमेव, अथाव्यक्तमप्यव्यक्तमेव, अभिन्नस्व[30]भावत्वात्तस्य। शब्दाभिव्यक्तिपक्षनिक्षिप्तदोषा[31]नुषङ्गश्चात्रापि तुल्य एव।

---

१ चतुर्थपरिच्छेदे। २ नित्यजातेः। ३ सम्बन्धस्य। ४ परेण। ५ व्यक्तेर्नित्यत्वस्य। ६ व्यक्तिरूपस्य। ७ अनित्यः सम्बन्धो यतः। ८ सामान्य। ९ वाच्यवाचकलक्षणः। १० मीमांसायां ग्रन्थे। ११ अभ्युपगताः। १२ विषमपदव्याख्यानमनुतन्त्रं तेन सह वर्त्तन्ते इति। तेषां सूत्राणाम्। १३ सर्वथा। १४ प्रवाहतः। १५ पुरोवर्त्तिन्यनिर्द्धारितार्थे। १६ अर्थेन सह। १७ मीमांसकस्य। १८ कथम्। १९ अर्थेन सह। २० अनवस्थापरिहारार्थम्। २१ नापरेण। २२ हेतोः। २३ पुरुषेण क्रियमाणा। २४ अयमित्यादिशब्दस्य स्वत एव सम्बन्धः। घटादिशब्दस्य तु अयमित्यादिना शब्देनापरेण सम्बन्ध इति। २५ नित्यत्वस्य। २६ नुः। २७ सम्बन्धस्य नित्यत्वात्। २८ नित्यशब्दस्य। २९ सङ्केतेन। ३० एकस्वभावत्वात्। ३१ नित्यसम्बन्धाभिव्यक्तौ अष्टविकल्पप्रकारेण।

किञ्च, सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स चातीन्द्रियार्थज्ञानविकलतयान्यथापि वेदे सङ्केतं कुर्यादिति कथं न मिथ्यात्वलक्षणमस्याप्रामाण्यम् ?

किञ्च, असौ नित्यसम्बन्धवशादेकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात्? एकार्थनियतश्चेत्किमेकदेशेन, सर्वात्मना[1] वा? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात्प्रतिपत्तिर्न[2] स्यात्, तत[3]श्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् । एकदेशेन चेत्; स किमेकदेशोऽभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा? अनभिमतैकार्थनियतश्चेत्; कथं न मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यम्? अभिमतैकार्थनियतश्चेत्किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा? प्रथमपक्षे अपौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः[4] । पुरुषो हि रागाद्यन्धत्वात्प्रतिक्षिप्यन्ते[5], तस्माच्चेद्वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्यते, किमपौरुषेयत्वेन[6]? अनेकार्थ[7]नियमे च विरुद्धोप्यर्थः सम्भवेत्, तथा चास्य[8] मिथ्यात्वम् ।

किञ्च, असौ सम्बन्ध ऐन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात्? न तावदैन्द्रियः[9]; स्वेन्द्रिये[10] स्वेन रूपेण[11]प्रतिभासमानत्वात्[12] । अतीन्द्रियश्चेत्; कथं प्रतिपत्त्यङ्गं ज्ञापकस्य[13] निश्चयापेक्षणात्[14]? सन्निधि[15]मात्रेण[16] ज्ञापनेऽतिप्रसङ्गात्[17] ।

अनुमानगम्यश्चेत्; न; लिङ्गा[18]भावात् । तस्य हि लिङ्गं ज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा? न तावज्ज्ञानम्[19]; सम्बन्धासिद्धौ[20] तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नाप्यर्थः[21]; तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः[22] । न हि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्यम्; सम्बन्धस्या[23][24]नित्यत्वानुषङ्गात् । नापि तदुत्पत्तिः[25]; अनभ्युपगमात् । असम्बद्धश्चार्थः[26] कथं सम्बन्धं ज्ञापयत्यतिप्रसङ्गात्[27]? ज्ञापने[28][29] वा शब्दा एवं सम्बन्धविकलाः किमर्थं न ज्ञापयन्त्यलं सिद्धोपस्थायिना नित्यसम्बन्धेन? तन्नार्थोपि

१ सर्वस्वरूपेण । २ पुरुषाणाम् । ३ वेदेनार्थान्तरप्रतिपत्त्यभावात् । ४ मीमांसकस्य । ५ मीमांसकैः । ६ वेदस्य । ७ द्वितीयपक्षे । ८ वेदस्य । ९ इन्द्रियविषयः । १० श्रोत्रलोचनलक्षणे । ११ असाधारणरूपेण । १२ वाच्यवाचकसामर्थ्यस्यातीन्द्रियत्वात् । १३ सम्बन्धस्य । १४ नाज्ञातं ज्ञापकं नाम । १५ शब्दार्थयोः सारूप्येण सम्बन्धस्यार्थज्ञापने । १६ सम्बन्धमात्रेण । १७ मीमांसकवत्सौगतानपि बोधयेदिति । १८ सम्बन्धेन सहाविनाभाविलिङ्गस्य । १९ सम्बन्धोस्ति ज्ञानात् । २० सम्बन्धासिद्धेरिति खपुस्तकीयः पाठः । २१ सम्बन्धोस्ति अर्थात् । २२ कथम् । २३ अन्यथा । २४ अर्थवत् । २५ सम्बन्धाद्गुणरूपादर्थोत्पत्तिः । २६ सम्बन्धेन सह । २७ तथा च खरविषाणं सम्बन्धं ज्ञापयतु । २८ असम्बद्धार्थेन । २९ सम्बन्धस्य ।

लिङ्गम्। नापि शब्दः; अर्थपक्षोक्तदोषानुषङ्गात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेर्न तद्वशाद्वेदोऽर्थप्रतिपादकः।

अथ स्वभावादेवासौ तत्प्रतिपादकः; तन्न; 'अयमेवास्माकमर्थो नायम्' इति वेदेनानुक्तेः। तदुक्तम्—

"अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न।
कल्प्योयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः॥ १॥"
[प्रमाणवा० ३।३१२]

इति। ततो लौकिको वैदिको वा शब्दः सहजयोग्यतासङ्केतवशादेवार्थप्रतिपादकोऽभ्युपगन्तव्यः प्रकारान्तरासम्भवात्।

ननु[1] चार्थप्रतिपादकत्वमेषामसम्भाव्यम्, य एव हि शब्दाः सत्यर्थे[2] दृष्टास्त एवातीतानागतादौ[3] तदभावेपि दृश्यन्ते। यदभावे च यद्दृश्यते न तत्तत्प्रतिबद्धम् यथाऽश्वाऽभावेपि दृश्यमानो गौर्न तत्प्रतिबद्धः[4], अर्थाभावेपि दृश्यन्ते च शब्दाः, तन्नैतेऽर्थप्रतिपादकाः, किन्त्वन्यापोह[5]मात्रा[6]भिधायकाः। तदप्यविचारितरमणीयम्; अर्थवतः शब्दात्तद्रहितस्यास्यान्यत्वात्[7]। न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्याप्यसौ युक्तः; अन्यथा गोपालघटिकादिधूमस्याग्निव्यभिचारोपलम्भात्पर्वतादिप्रदेशवर्त्तिनो[8]पि स स्यात्, तथा च कार्य[9]हेतवे दत्तो जलाञ्जलिः। सकलशून्यता च[10], स्वप्नादिप्रत्ययानां क्वचिद्[11]विभ्रमोपलम्भतो निखिलप्रत्ययानां तत्प्रसङ्गात् । 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं[12] कारणं[13] नातिवर्त्तते' इत्यन्यत्रा[14]पि समानम्—'यत्नतो[15] हि शब्दोर्थवत्त्वेतरस्वभावतया परीक्षितोर्थं न व्यभिचरति' इति। तथा[16] चान्यापोहमात्राभिधायित्वं शब्दानां श्रद्धामात्रगम्यम्।

किञ्च, अन्यापोहमात्राभिधायित्वे प्रतीतिविरोधः—गवादि[17]शब्देभ्यो विधिरूपा[18]वसायेन प्रत्यय[19]प्रतीतेः। अन्य[20]निषेधमात्रा[21]भिधायित्वे च तत्रैव चरितार्थत्वात्[22]सास्नादिमतोर्थस्यातोऽप्रतीतेः तद्विषयाया गवादिबुद्धेर्जनकोन्यो ध्वनि[23]रन्वेषणीयः । अथैकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्योत्पादान्न परो ध्वनिर्मृग्यः; न; एकस्य[24] विधि[25]कारिणो निषेधकारिणो[26] वा ध्वनेर्युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणफला-

१ सौगतः। २ विद्यमाने। ३ काले। ४ भा। ५ अपोह्यते व्यावर्त्यतेनेनाभावेनेति। ६ एव। ७ भिन्नत्वात्। ८ धूमात्। ९ परेण। १० कथम्। ११ अर्थे। १२ धूमादि। १३ अग्न्यादि। १४ शब्दे। १५ कथम्? तथा हि। १६ व्यभिचाराभावे च। १७ कुतः। १८ अस्तित्वरूपनिश्चयेन। १९ स्नानादिमदर्थस्य। २० अगवादिव्यावृत्ति। २१ एव। २२ द्वितीयः। २३ शब्दः। २४ ध्वनेः। २५ गवाद्यस्तित्व। २६ अगवादिव्यावृत्ति।

नुपलम्भात्। विधिनिषेधज्ञानयोश्चान्योन्यं विरोधात्[1][2] कथमेकस्मात्सम्भवः[3]?

यदि च गोशब्देनागोशब्दनिवृत्तिर्मुख्यतः प्रतिपद्यते[4]; तर्हि गोशब्दश्रवणा[5]नन्तरं[6] प्रथमतरम् ‘अगौः’[7] इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत्। न चैवम्, अतो[8] गोबुद्ध्य[9]नुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

“नन्वन्यापोह[10]कृच्छब्दो युष्मत्[11]पक्षेऽनुवर्णितः[12]।
निषेधमात्रं नैवेह[13] प्रतिभासेऽवगम्यते ॥ १ ॥
किन्तु[14] गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः।
विधिरूपावसायेन[15] मतिः शाब्दी प्रवर्त्तते ॥ २ ॥”
[तत्त्वसं० का० ९१०-११ पूर्वपक्षे]

“यदि गौरित्ययं शब्दः समर्थोन्य[16]निवर्त्तने[17]।
जनको गवि गोबुद्धि(द्धे)र्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥ ३ ॥
ननु[18] ज्ञान[19]फलाः शब्दा न चैकस्य[20] फलद्वयम्[21]।
अपवाद[22]विधिज्ञानं फलमेकस्य[23] वः[24] कथम् ॥ ४ ॥
प्राग[25]गौ[26]रिति विज्ञानं गोशब्दश्रा[27]विणो भवेत्।
येना[28]ऽगोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥ ५ ॥”
[भामहालं० ६।१७-१९]

किञ्च, अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेना[29]भिधीयमानं[30] पर्युदासलक्षणं चाभिधीयेत, प्रसज्यलक्षणं वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता[31]–यदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवता[32] तदेवास्माभि[33]र्गोत्वाख्यं भाव[34]लक्षणं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभिधीयेत, अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन व्यवस्थितत्वात्[35]।

कश्चायं भवतामश्वादिनिवृत्तिस्वभावो भावोऽभिप्रेतः? न तावदसाधारणो गवादिस्वलक्षणात्मा[36]; तस्य सकलविकल्पगोचराति-

१ परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनविरोधात्। २ यत्र विधिविज्ञानं तत्र निषेधविज्ञानं नास्ति। यत्र निषेधज्ञानं न तत्र विधिज्ञानमिति। ३ बुद्धिद्वयस्य। ४ परेण भवता। ५ अगोः निवृत्तेः पूर्वम्। ६ एव। ७ अश्वादिः। ८ अन्यथा। ९ गौरिति बुद्धिस्तस्या अनुत्पत्तिः। १० तं करोतीति। ११ बौद्ध। १२ प्रतिपादितः। १३ गौरयमित्यस्मिन्। १४ तर्हि कथं प्रतिभासः? । १५ अर्थस्य। १६ अश्वादि। १७ तर्हि। १८ भवन्तु। १९ विधिनिषेधज्ञान। २० शब्दस्य। २१ विधिनिषेधलक्षणम्। २२ निषेध। २३ शब्दस्य। २४ बौद्धानाम्। २५ अगोर्निवृत्तेः पूर्वम्। २६ अश्वः। २७ जनस्य। २८ कुतः। २९ गोशब्दस्यार्थत्वेन। ३० बौद्धमते। ३१ कथम्। ३२ सौगतेन। ३३ जैनैः। ३४ सत्ता। ३५ अगोनिवृत्तिलक्षणोऽभावो भावान्तरेण गोत्वेन व्यवतिष्ठते। ३६ क्षणिकनिरंशनिरन्वयरूपः।

क्रान्तत्वात्। नापि शावलेयादिव्यक्तिविशेषैः[1]; असामान्य[2]प्रसङ्गतः। यदि गोशब्दः शावलेया[3]दिवाचकः स्यात्तर्हि तस्यान[4]न्वया[5]न्न स सामान्यविषयः स्यात् । तस्मात्सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यत्[6]प्रत्येकं परिसमाप्तं[7] तन्निबन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम् । तस्याऽगोऽपोह[8]शब्देनाभिधानान्नाममात्रं भिधेयं[9]। उक्तञ्च—

"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः[10] परिकल्पितम्।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्[11] ॥ १ ॥
भावान्तरात्मकोऽभावो येन[12] सर्वो व्यवस्थितः।
तत्रा[13]श्वादिनिवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम् ॥ २ ॥
नेष्टोऽसाधारणस्तावद्विशेषो निर्विकल्पनात्।
तथा च शावलेया[14]दिरसामान्य[15]प्रसङ्गतः ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १-३]

"तस्मा[16]त्सर्वे[17]षु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम्[18]।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्गोत्वादन्यच्च नास्ति तत्[19] ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०]

द्वितीये[20]पक्षे तु न किञ्चिद्वस्तु वाच्यं शब्दानामिति अतोऽप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः[21]। तुच्छरूपाभावस्य चानभ्युपगमा[22]न्न प्रसज्यप्रतिषेधाभ्युपगमो युक्तः[23]; पर[24]मतप्रवेशानुषङ्गात्[25]।

अपि च ये विभिन्न[26]सामान्य[27]शब्दा[28] गवादयो ये च विशेषशब्दाः शावलेयादयस्ते भव[29]दभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नु[30]वन्त्यर्थ[31]भेदाभावाद्वृक्षपादपादिशब्दवत् । न खलु तुच्छ[32]रूपाभावस्य[33] भेदो युक्तः;

---

१ अन्यथा। २ सामान्यस्यापोहस्याभावोऽसामान्यं तस्य प्रसङ्गात्। ३ विशेष। ४ शावलेयादिना। ५ यो यः शब्दः स स शावलेयाद्यर्थवाचक इति। ६ सास्नादिमत्त्वम्। ७ अगोव्यावृत्ति। ८ नार्थतः। ९ गोशब्दस्य। १० सौगतैः। ११ गोत्वं वस्त्वेवाऽगोपोहगिरा उक्तम्। कुतस्तथा हि। १२ कारणेन। १३ पर्युदासपक्षे। १४ नेष्ट इति शेषः। १५ अन्यथा। १६ असाधारणशावलेयद्वयं न घटते यस्मात्। १७ सकलगोव्यक्तिषु। १८ वर्त्तते। १९ सामान्यम्। २० प्रसज्यपक्षे। २१ प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च प्रवृत्तिनिवृत्ती तयोरभावोऽप्रवृत्तिनिवृत्ती तयोः प्रसङ्गः। २२ सौगतैः। २३ अन्यथा युक्तश्चेत्। २४ नैयायिकादि। २५ सौगतस्य। २६ यस्मः। २७ अश्वशब्दगोशब्दादि। २८ सामान्यस्याभिधायकाः। २९ बौद्ध। ३० भवन्ति। ३१ सर्वेषां पदार्थानां तुच्छस्वरूपत्वं यतः। ३२ निःस्वभावस्य। ३३ अपोहस्य।

वस्तुन्येव[1] संस्पृ[2](संसृ)ष्टत्वैकत्वनानात्वा[3]दिविकल्पा[4]नां प्रतीतेः। भेदाभ्यु[5]पगमे वा अभा[6]वस्य वस्तुरू[7]पतापत्तिः; त[8]थाहि-ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपा यथा स्वलक्षणानि, परस्परं भिद्यन्ते चाऽपोहा[10] इति।

न चापोह[11]लक्षणसम्बन्धिभेदादपोहानां भे[12]दः; प्रमेयाभिधेयादिशब्दानामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तदभिधेयापोहानामपोह[13]लक्षण[14]सम्बन्धिभेदाभाव[15]तो भेदासम्भवात्। अ[16]त्र हि य[17]त्किञ्चिद्व्यवच्छेद्य[18]त्वेन कल्प्यते तत्सर्वं व्यवच्छेद्या[19]कारेणालम्ब्यमा[20]नं प्रमेयादिस्वभावमेवावतिष्ठ[21]ते। न ह्यविषयीकृ[22]तं व्यव[23]च्छेत्तुं शक्यमतिप्रसङ्गा[24]त्। न च सम्बन्धिभेदो भेद[25]कः, अन्यथा बहुषु शावलेयादिव्यक्तिष्वेकस्याऽगोपोहस्याऽभा[26]वप्रसङ्गः। यस्य चा[27]न्तरङ्गाः शावलेयादिव्यक्तिविशेषा न भेदकाः 'तस्याऽश्वादयो भेदकाः' इत्यतिसाहसम्! सम्बन्धिभेदाच्च वस्तुन्यपि भेदो नोपलभ्यते किमुताऽ[28]वस्तुनि; तथाहि-देवदत्तादिकमेकमेव वस्तु युगपत्क्रमेण वानेकैराभरणा[29]दिभिरभि[30]सम्बध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते।

भवतु वा सम्बन्धिभेदा[31]द्भेदः; तथापि-व[32]स्तुभूतसा[33]मान्यानभ्युपगमे भवतां स[34] एवापोहाश्र[35]यः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति य[36]स्य भेदा[37]त्तद्भेदः स्यात्। तथाहि-गवा[38]दीनां यदि वस्तुभू[39]तं सा[40]रू[41]प्यं[42] प्रसिद्धं भवेत्तदाश्वाद्यपोहाश्रयत्वमविशे[43]षेणैषां प्रसिद्ध्येन्नान्य[44]था। अ[45]तोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छ[46]ताऽव[47]श्यं सारूप्यमङ्गीकर्त्तव्यम्। तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं भविष्यतीत्यपोहकल्पना वृथैव।

---

१ न तुच्छरूपाभावे। २ अन्ये सम्बद्धत्व। ३ आदिना प्रमेयत्वादि। ४ भेदानाम्। ५ सौगतैः। ६ अपोहस्य। ७ तल्लक्षणत्वाद्वस्तुत्वस्य। ८ कथम्। ९ अश्वादिनिवृत्तयः। १० अपोह्या व्यावर्त्या अश्वादयः। ११ अभावानाम्। १२ अन्यथा। १३ अप्रमेयादि। १४ स्वरूप। १५ स्वरूपेण नास्ति यतः। १६ प्रमेयादिशब्देषु। १७ अप्रमेयादि। १८ व्यावर्त्यत्वेन। १९ व्यावर्त्याकारेण। २० विषयीक्रियमाणम्। २१ वर्त्तते। २२ व्यवच्छेद्यमप्रमेयादि। २३ परिच्छेत्तुम्। २४ गगनकुसुममपि परिच्छेत्तुं शक्यं स्यात्। २५ अपोहानाम्। २६ किन्तु प्रतिव्यक्ति भिन्न एव स्यात्। २७ अव्यभिचारि प्रतिनियतमन्तरङ्गम्। २८ अपोहे। २९ कटककुण्डलादिभिः। ३० सम्बन्धिभिः। ३१ अपोहस्य। ३२ परमार्थसत्। ३३ गोत्वादि। ३४ विवक्षितः। ३५ सन्। ३६ सम्बन्धिनः। ३७ अपोहस्य। ३८ अर्थानाम्। ३९ सदृशरूपम्। ४० शावलेयादिषु। ४१ सामान्यस्य। ४२ गोत्वादि। ४३ साधारणेन। ४४ सारूप्याभावे। ४५ सामान्यानभ्युपगमे विवक्षितोऽपोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्ध्यति यतः। ४६ सौगतेन। ४७ नियमेन।

यदि वाऽसत्यपि सारूप्ये शावलेयादिष्व[1]गोपोह[2]कल्पना तदा गवाश्वयोरपि कस्मान्न कल्प्येताऽसौ विशे[3]षाभावात्? तदुक्तम्—

"अ[4]थाऽसत्यपि सा[5]रूप्ये स्यादपोह[6]स्य कल्पना।
गवाश्वयोरयं क[7]स्मादगोपोहो न कल्प्यते ॥ १ ॥
शाव[8]लेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः स[9]मम्।
सामा[10]न्यं नान्य[11]दिष्टं चेत्क्वागोपोहः प्रवर्त्तताम् ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ७६-७७]

यथा च स्वलक्ष[12]णादि[13]षु स[14]मयासम्भवान्न शब्दार्थत्व[15] तथाऽपोहेपि। निश्चि[16]तार्थो हि स[17]मयकृत्समयं करोति। न चापोहः केन[18]चिदिन्द्रियैर्व्य[19]वसीयते; तस्यावस्तुत्वादिन्द्रियाणां च व[20]स्तुविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन; वस्तुभूतसामान्यमन्तरेणानुमानस्यैवाऽप्रवृत्तेः।

अस्तु वा स[21]मयः, तथा[22]पि–कथमश्वादीनां गोशब्दानभिधे[23]यत्वम्? 'स[24]म्बन्धा[25]नुभवक्ष[26]णेऽश्वा[27]देस्तद्विषयत्वेना[28]दृष्टेः' इत्यनुत्तरम्; यतो यदि यद्गोशब्दसङ्केतकाले दृष्टं त[29]तोऽन्य[30]त्र गोशब्दप्रवृत्तिर्ने[31]ष्यते, तदैकस्मा[32]त्सङ्केतेन वि[33]षयीकृ[34]ताच्छावलेयादिगोपिण्डात् अन्यद्बाहुले[35]यादि गोशब्दे[36]नापोह्यं न[37] भवेत्।

इ[38]तरेतराश्रयश्च[39]–अगोव्यवच्छेदेन हि गोः प्रतिपत्तिः, स चाऽगौर्गोनिषेधात्मा, ततश्च अगौः इत्यत्रोत्त[40]रपदार्थो व[41]क्तव्यो यो 'न गौः' इत्य[42]त्र नञा प्रतिषेध्येत। न ह्यनिर्ज्ञातस्व[43]रूपस्य निषेधो

---

१ अश्वाद्यभाव। २ एक। ३ सारूप्यासत्त्वाविशेषात्। ४ यदि। ५ शावलेयादौ। ६ एकगोः। ७ कारणात्। ८ गवाश्वयोर्भिन्नत्वादेकागोपोहाश्रयत्वं नेत्युक्ते आह। ९ समानम्। १० परमार्थभूतम्। ११ भिन्नम्। १२ विशेषेषु क्षणिकनिरंशादिषु। १३ शावलेयादिषु। १४ सङ्केत। १५ घटते इति शेषः। १६ अस्य शब्दस्यायमर्थ इति। १७ ना। १८ नरेण। १९ निश्चीयते। २० स्वलक्षण। २१ अपोहे। २२ अपोहे समयसद्भावेपि। २३ स्यात्। २४ अनुमानमप्यन्यापोहं नाववोधयति। २५ गोशब्देन सास्नादिमदर्थस्य अनुमानस्य कार्यस्वभावसम्पाद्यत्वात्। अन्यापोहस्य निरुपाख्यत्वेनानर्थक्रियाकारित्वेन च स्वभावकार्ययोरसम्भवात्। २६ काले। २७ ता। २८ दर्शनाभावात्। २९ दृष्टं वर्जयित्वा। ३० अश्वे। ३१ परेण। ३२ खण्डमुण्डादिनाम्ना। ३३ गोशब्दस्यायं वाच्य इति। ३४ सौगतेन। ३५ गोपिण्डम्। ३६ अश्वादि व्यावर्त्त्यम्। ३७ सङ्केतकाले सङ्केतेनाविषयीकृतत्वाद्बाहुलेयादेः। ३८ दूषणान्तरमाह। ३९ कथम्। ४० गोशब्दार्थः। ४१ परेण त्वया। ४२ समासारम्भे वाक्ये। ४३ पदार्थस्य।

विधातुं शक्य[१]ः। अथाऽगोनिवृत्त्यात्मा[२] गौ[३]रेव, न[४]न्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वाद्गो[५]र[६]गोप्रति[७]पत्तिद्वा[८]रेणैव प्रतीतिः, अ[९]गोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद्गोप्रतिपत्ति[१०]द्वारेणे[११]ति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम्।

अथाऽगोशब्देन यो गौर्निषिध्यते स विधि[१२]रूप ए[१३]वागोव्यवच्छेदलक्ष[१४]णापोहसिद्ध्यर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्यति; य[१५]द्येवम्–'सर्वस्य शब्दस्यापोहोऽर्थः' इत्येवमपोहकल्पना वृथा विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात्, अन्यथेतरेतराश्रयो दुर्निवारः। तदुक्तम्—

"सिद्ध[१६]श्चागौरपोह्येत[१७] गोनिषेधात्मकश्च सः।
त[१८]त्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते[१९] ॥ १ ॥
स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः।
सिद्ध[२०]श्चेद्गौरपोहार्थं वृथापोहप्रकल्पनम् ॥ २ ॥
गव्य[२१]सिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेप्य(पि)गौः कुतः।
ना[२२]धाराधेयवृत्त्या[२३]दिसम्बन्धश्चाप्यभावयो[२४]ः ॥ ३ ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८३-८५]

दिङ्ना[२५]गेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् "नीलोत्पलादिशब्दा अ[२६]र्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टा[२७]नर्थानाहुः" [ ] इत्युक्तम्; तदयुक्त[२८]म्; यस्य[२९] हि येन[३०] कश्चिद्वास्तवः सम्बन्धः सिद्धस्तत्तेन विशिष्टमिति वक्तुं युक्तम्, न च नीलोत्प[३१]लयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयत्वादिः सम्बन्धः सम्भवति; नीरूपत्वात्। आदिग्रहणेन संयोगसमवायै[३२]कार्थसमवायादि[३३]सम्बन्धग्रहणम्। न चासति वास्तवे सम्बन्धे त[३४]द्विशिष्टस्य[३५] प्रतिपत्तिर्युक्ताऽतिप्र[३६]सङ्गात्।

---

१ पुरुषेण। २ अश्वाद्यभावात्मा। ३ उत्तरपदार्थः। ४ भो सौगत। ५ ता। ६ उत्तरपदार्थस्य। ७ अश्वादेः। ८ ता। ९ एव। १० प्रतीतिः। ११ पूर्वोक्तप्रकारेण। १२ साक्षादिमात्रभावरूप इति भावः। १३ नागोनिवृत्त्यात्मा। १४ स्वरूप। १५ तर्हि। १६ ज्ञातः। १७ गोशब्देन। १८ एवं सति। १९ उच्यते एव गौरित्युक्ते आह। २० विधिरूपेण। २१ अज्ञाते। २२ जैनेनोच्यते। २३ विशेष्यपदाभिधेयोऽभावो विशेष्य आधारश्च विशेषणपदाभिधेयोऽभावो विशेषणमाधेयश्चेत्यभिप्रायः परस्य (सौगतस्य) नीलो घट इत्यादिवत्। २४ न केवलं सङ्केतः। २५ कारिकोत्तरार्धं व्याचष्टे। २६ अनील अनुत्पललक्षण। २७ अभावसहितान्। २८ कथम्। २९ विशेष्यस्य। ३० विशेषणेन। ३१ अर्थरूपयोः। ३२ एकार्थसमवायः मातुलिङ्गक्षणं रूपवद्रसादेः। ३३ आदिना तादात्म्यम्। ३४ नील। ३५ उत्पलस्य। ३६ विशेषणविशेष्यतया सह्यविन्ध्ययोरपि प्रतिपत्तिः स्यादिति।

नास्माकम[1][2]नीला[3]दिव्यावृत्त्या[4] विशिष्टोऽनुत्पला[5]दिव्यव[6]च्छेदोऽभिमतो यतोयं दोषः स्यात्[7]। किं तर्हि? अनीलानुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथा[8] व्यवस्थितम्[9]। तच्चा[10]र्थान्तरव्या[11]वृत्त्या विशिष्टं शब्देनोच्यते[12]; इत्यप्यपेशलम्; स्व[13]लक्षणस्याऽवा[14]च्यत्वात्। न च स्वलक्षणस्य व्यावृत्त्या विशिष्टत्वं[15] सिद्ध्यति[16]; यतो न वस्त्वपोहोऽसाधारणं तु वस्तु, न च वस्त्वऽवस्तुनोः सम्बन्धो युक्तः, वस्तुद्वयाधारत्वात्तस्य।

अस्तु वा सम्बन्धः, तथापि विशेषणत्वमपोहस्याऽयुक्तम्, न हि स[17]त्तामात्रेण किञ्चिद्विशे[18]षणम्। किं तर्हि? ज्ञातं सद्यत्स्वाकारानुरक्तया बुद्ध्या विशे[19]ष्यं रञ्जयति तद्विशे[20]षणम्। न चापोहेऽयं प्रकारः सम्भ[21]वति। न ह्यश्वादिबुद्ध्यापोहोऽध्यवसीयते। किं तर्हि? वस्त्वेव। अपोहज्ञानासम्भवश्चोक्तः[22] प्राक्। न चाज्ञातोप्यपोहो विशेषणं भवति। "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात्।

अस्तु वाऽपोहज्ञापनम्, (ज्ञानम्;) तथापि-अर्थे[23] तदाकारबु[24]द्ध्यभावात्तस्याऽविशेषणत्वम्। सर्वं हि विशेषणं स्वाकारानुरूपां[25] विशेष्ये बुद्धिं जनयद्दृष्टम्, न त्वन्या[26]दृशं विशेषणमन्या[27]दृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति[28]। न खलु नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, द[29]ण्डो वा 'कुण्डली' इति। न चाश्वादिष्व[30]भावा[31]नुरक्ता शा[32]ब्दी बुद्धिरुपजायते। किन्तर्हि? भा[33]वाकाराध्यवसायिनी। त[34]थापि विशेष[35]णत्वे सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात्[36]। अनु-

---

१ भवतामयं प्रसङ्ग इत्युक्ते सत्याह। २ जैनानाम्। ३ रक्तादि। ४ विशेषणेन। ५ अपद्मादि। ६ विशेष्यः। ७ न कुतोपि। ८ नीलोत्पलरूपेण। ९ इति जैनः। १० अर्थः स्वलक्षणरूपः। ११ अनीलाऽनुत्पलरूप। १२ इति सौगतः। १३ कुतः। १४ यद्वस्तु तत्स्वलक्षणमेवेति शब्देन। १५ सौगतमते। १६ अन्यव्यावृत्तिरूपं तु सामान्यमेव। १७ अपोहोस्तीत्यस्तित्वमात्रेण। १८ लोके। १९ उत्पलम्। २० स्यात्। २१ अज्ञातत्वादपोहस्य। २२ न तावत्प्रत्यक्षेणापोहग्रहणमित्यादिः। २३ स्वलक्षणरूपे। २४ स्थिरस्थूलाकारः स्वलक्षणोस्तीति ज्ञायते न त्वभावरूपापोहाकारः। २५ सतीं सदृशीम्। २६ अभावरूपम्। २७ भावरूपाम्। २८ कथम्। २९ पुरुषस्थः। ३० स्वलक्षणरूपेषु। ३१ अपोहासक्ता। ३२ शब्दजनिता सविकल्पेत्यर्थः। बौद्धानां मते निर्विकल्पकज्ञानानन्तरोत्पन्नसविकल्पकज्ञानेन स्वलक्षणस्य निश्चयो यतः। ३३ स्थिरस्थूलाकार पदार्थाकार। ३४ स्वाकारानुरूपबुद्ध्यजनकत्वेपि। ३५ अपोहस्य। ३६ स्वाकारानुरूपबुद्ध्यजनकत्वाविशेषात्।

रागे[1] वा अभावरूपेण[2] वस्तुनः[3] प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात्[4], भावाभावयोर्विरोधात्। शब्देनाऽगम्यमानत्वाच्चाऽसाधारणवस्तुनो[5] न व्यावृत्त्या[6] विशिष्टत्वं प्रत्येतुं शक्यम्[7]। उक्तञ्च—

"न चासाधारणं वस्तु गम्यतेपोहवत्तया[8]।
कथं वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनोः ॥ १ ॥
स्वरूपसत्त्वमात्रेण[9] न स्यात्किञ्चिद्विशेषणम्।
स्वबुद्ध्या[10] रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम् ॥ २ ॥
न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेपोहभासनम्[11]।
विशेष्ये बुद्धिरिष्टेह[12] न चाज्ञातविशेषणा ॥ ३ ॥
न चान्य[13]रूपमन्यादृक्[14] कुर्याज्[15]ज्ञानं विशेषणम्[16]।
कथं वाऽन्यादृशे[17] ज्ञाने[18] तदुच्येत[19] विशेषणम् ॥ ४ ॥
अथा[20]न्यथा[21] विशेष्येपि स्याद्विशेषणकल्पना[22]।
तथा सति हि यत्किञ्चित्[23]प्रसज्येत विशेषणम् ॥ ५ ॥
अभावगम्यरूपे च न विशेष्ये[24]स्ति वस्तुता।
विशेषितमपोहेन[25] वस्तु[26] वाच्यं[27] न ते[28]ऽस्त्यतः ॥ ६ ॥"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८६-९१]

"शब्देनागम्यमानं च विशेष्य[29]मिति[30] साहसम्।
तेन[31] सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धि[32]शब्दयोः ॥"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९४]

इतश्च सामान्यं[33] वस्तुभूतं शब्दविषयः; यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामशब्दवाच्य[34]त्वान्न व्यक्तीनामपोह्येत, अनुक्तस्य[35]

---

१ अश्वादिषु शब्दजबुद्धेरभावेन सहानुरागे सति। २ यदा भावाकारो धृतस्तदाऽभावरूपमेव स्वलक्षणं निश्चिनुयादिति भावः। ३ स्वलक्षणस्य। ४ कुतः। ५ स्वलक्षणस्य। ६ अपोहेन। ७ अर्थान्तरव्यावृत्त्या विशिष्टं स्वलक्षणरूपं वस्तु शब्देनोच्यत इति वदन्तं वादिनं प्रति समर्थनमुक्तमिति ज्ञेयम्। ८ अपोहस्य। ९ कथं तर्हि विशेषणं स्यादित्युक्ते आह। १० स्वस्य=विशेषणस्य। ११ प्रतीतिः। १२ जगति। १३ अभावरूपम्। १४ भावरूपम्। १५ विशेष्ये। १६ जैनानामिदं दूषणं न जायते तेषां सर्वं वस्तु भावाभावात्मकं यतः। १७ भावरूपे। १८ अभावरूपे। १९ परेण। २० यदि। २१ भावरूपे। २२ अपोहस्य। २३ अनिर्वचनीयम्। २४ स्वलक्षणरूपे। २५ विशेषणेन। २६ स्वलक्षणरूपम्। २७ शब्देन। २८ सौगतस्य। २९ अपोहस्य विशेषणस्य। ३० स्वलक्षणम्। ३१ येन कारणेनापोहशब्दयोर्वाच्यवाचकभावो नास्ति तेन। ३२ शब्दजनितबुध्या गम्यः शब्देन वाच्यश्च। ३३ गोत्वादि। ३४ स्वलक्षणस्यावाच्यत्वं कुतः? सङ्केताभावात्। ३५ शब्देनावाच्यस्य।

निराकर्तुम[1]शक्यत्वात्, अपोह्येत सामान्यं तस्य वाच्यत्वात्[2]। अपोहानां[3] त्वभावरूपतयाऽपोह्य[4]त्वासम्भवात्[5], [6]अभावानामभावाभावात्, वस्तुविषयत्वात्प्रतिषेधस्य। अपोह्यत्वे[7][8]ऽपोहानां वस्तुत्वमेव स्यात्। तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन्[10] सामान्यभूतस्यैव भवेदित्य[11]पोह्यत्वाद्वस्तुत्वं सामान्यस्य। तदुक्तम्—

"यदा चाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनाम्[12]अपोह्यता।
तदापोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता[13] ॥ १ ॥
नाऽपोह्यत्वमभावानामभावाऽभाववर्जनात्[14]।
व्यक्तोऽपोहान्तरे[15]ऽपोह[16]स्तस्मात्[17]सामान्य[18]वस्तुनः[19] ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९५-९६]

किञ्च, अपोहानां[20] परस्परतो वैलक्षण्यं[21] वा स्यात्, अवैलक्षण्यं वा? तत्राद्यपक्षे [अ]भावस्यागोश[22]ब्दाभिधेय[23]स्याभावो गोशब्दाभिधेयः, स[24] चेत्पूर्वोक्ताद[25]भावाद्विलक्षणः; तदा भाव एव भवेदभावनिवृत्तिरूपत्वाद्भावस्य। न[26] चेद्विलक्षणः; तदा गौर[27]प्यगौः प्रस[28]ज्येत त[29]द्वैल[30]क्ष्येण (तदवैलक्षण्येन) तादात्म्य[31]प्रति[32]पत्तेः। तन्न वाच्या[33]भिमतापोहानां भेदसिद्धिः।

नापि वा[34]चकाभि[35]मतानाम्; तथाहि-शब्दानां भिन्नसामान्य[36]वाचिनां वि[37]शेषवाचिनां च परस्परतोऽपोहभेदो[38] वासना[39]भेद[40]निमित्तो[41] वा स्यात्, वाच्या[42]पोहभेदनिमित्तो वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; अ[43]वस्तुनि वासनाया एवासम्भवात्। तदसम्भवश्च

१ अपोहितुम्। २ शब्देन। ३ अन्यव्यावृत्तीनाम् (सर्वेषां पदार्थानामपोहरूपत्वात्सर्वे भावा अपोह्याः)। ४ व्यावर्त्यत्व। ५ अत्र खरविषाणवद्दृष्टान्तः। ६ अपोह्यानाम् व्यावर्त्यानाम्। ७ व्यावर्त्यत्वे। ८ अङ्गीक्रियमाणे परेण। ९ अभावाभावानाम्। १० वर्तमानः। ११ हेतोः। १२ स्वलक्षणानाम्। १३ वस्तुविषयो निषेधो यतः। १४ निषेधस्य निषेधासम्भवात्। १५ अपोह्या(ह्या)न्तरेऽश्वादौ। १६ गोः। १७ व्यक्तीनामपोहानां चापोहता नास्ति यस्मात्। १८ एव। १९ ता। २० गोशब्दाश्वशब्दवाच्यानामन्यव्यावृत्तीनाम्। २१ विसदृशता। २२ अश्व। २३ वाच्यस्य। २४ गोशब्दाभिधेयोऽभावो यतः। २५ अगोशब्दाभिधयात्। २६ द्वितीयपक्षे दूषणमुद्भावयन्ति। २७ एकस्वरूपः। २८ भवेत्। २९ भिन्नपदार्थे। ३० तस्मादगोशब्दवाच्यादपोहादवैलक्षण्यं गोशब्दवाच्यस्यापोहस्य। ३१ एकत्वात्। ३२ गोशब्दाऽगोशब्दवाच्यापोहयोः। ३३ अर्थ। ३४ शब्द। ३५ अपोहानाम्। ३६ गोलक्षणाश्वलक्षण। ३७ खण्डमुण्डादि। ३८ शब्दापोहभेदः। ३९ पूर्वविकल्पज्ञानं शब्दविषयं वासना। ४० एव। ४१ बसः। ४२ अर्थ। ४३ वाचकापोहे।

तद्धेतो[1]र्निर्विषयप्रत्य[2]यस्यायोगात्। नापि वाच्यापोहभेदनिमित्तः; तद्भेदस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात्।

ननु प्रत्यक्षेणैव शब्दानां[3] कारण[4]भेदाद्विरुद्ध[5]धर्माध्यासाच्च[6] भेदः प्रसिद्ध एव; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो वाचकं[7] शब्दमङ्गीकृत्यै[8]वमुच्यते। न च श्रोत्रज्ञानप्रतिभासिस्वलक्षणात्मा शब्दो वाचकः; सङ्केतकालानुभूतस्य व्यवहारकालेऽचिरनिरुद्धत्वात्[10] इति[11] न स्वलक्षणस्य[12] वाचकत्वं भवद[13]भिप्रायेण[14]। तदुक्तम्—

"नार्थशब्दविशेषेण वाच्यवाचकतेष्यते[15]।
तस्य पूर्व[16]मदृष्टत्वा[17]त्सामान्यं[18] तूपदिश्यते[19] ॥ १ ॥" [ ]
"तत्र[20] शब्दान्तरा[21]पोहे सामान्ये परिकल्पिते।
तथैवा[22]वस्तु[23]रूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते[24] ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०४]

ततो ये अवस्तुनी न तयोर्गम्यगमकभावो यथा खपुष्प-खरविषाणयोः। अवस्तुनी च वाच्यवाचकापोहौ भवता[25]मिति। ननु[26] मेघाभावाद्वृष्ट्यभावप्रतिपत्तेरनैकान्तिकता[27] हेतोः[28]; इत्यप्ययुक्तम्; तद्विविक्ता[29]काशालोकात्मकं हि वस्तु मत्पक्षे[30]ऽत्रापि प्रयोगेस्त्येव, अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वप्रतिपादनात्। भवत्पक्षे[31] तु न केवलमपोहयो[32]र्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वाभावोऽपि तु वृष्टिमेघाद्यभावयो[33]रपि।

किञ्च[34], अपोहो वाच्यः[35], अथा[36]वाच्यो[37] वा? वाच्यश्चेत्किं विधिरूपेण, अन्यव्यावृत्त्या वा? यदि विधिरूपेण[38]; कथमपोहः सर्व[39]-

---

१ वासनाकारणस्य। २ तुच्छरूपत्वान्निर्विषयत्वमपोहस्य सविकल्पकज्ञानस्य। ३ गवादीनाम्। ४ ताल्वादि। ५ भिन्न। ६ अध्यासो ग्रहणम्। ७ पारमार्थिकार्थस्य। ८ परेण सौगतेन। ९ स्वलक्षणरूपशब्दस्य। १० विनष्टत्वात्। ११ हेतोः। १२ शब्दस्वभावस्य। १३ बौद्ध। १४ अस्वलक्षणरूपैः शब्दैरस्वलक्षणरूपार्थप्रतिपादने न किञ्चित्साध्यसिद्धिर्बौद्धमते इत्यभिप्रायः। १५ परेण। १६ सङ्केतकालात्। १७ अज्ञातत्वात्। १८ उत्तरकाले। १९ अर्थशब्दयोः। २० तर्हि सामान्याकारेण वाच्यवाचकतास्त्वित्याशङ्कायामाह। सामान्यस्य वाच्यवाचकतयोपदेशे च। २१ गोशब्दादश्वशब्दः शब्दान्तरं तेन वाच्योऽपोहस्तत्र। २२ अवास्तवे। परिकल्पितप्रकारेण। २३ शब्दानाम्। २४ समर्थ्यते। २५ सौगतानाम्। २६ अभावरूपयोरपि गम्यगमकभावोस्तीति वक्ति बौद्धः। २७ गम्यगमकभावसद्भावात्। २८ अवस्तुत्वादिति। २९ मेघादिभिन्न। ३० जैन। ३१ सौगत। ३२ वाच्यवाचकयोः। ३३ तुच्छरूपत्वात्। ३४ अन्यश्च। ३५ शब्देन। ३६ अथवा। ३७ शब्देन। ३८ अस्तित्वसद्भावेन। ३९ एव।

[1]शब्दार्थः? अथा[2]न्यव्यावृत्त्या; तर्हि नापोहो[3]पि शब्दाधिगम्यो मुख्यः। अनव[4]स्था [5]च-तद्व्यावृत्तेरपि व्यावृत्त्यन्तरेणाभिधानात्। अथा[6]ऽवाच्यः; तर्हि 'अ[7]न्य[8]शब्दार्था[9]ऽपोहं [10]शब्दः प्रतिपादयति' इ[11]त्यस्य व्याघा[12]तः।

किञ्च, '[13]नान्यापोहः अनन्यापोहः' इत्यादौ विधिरूपादन्य[14]द्वाच्यं नोपलभ्यते प्रतिषेधद्वयेन[15] विधेरेवाध्यवसायात्।

कश्चायमन्यापोह[16]शब्दवाच्योर्थो यत्रान्यापोहसंज्ञा[17] स्यात्? [18]अथ [19]विजातीयव्यावृत्ता[20]नर्थानाश्रित्यानुभवादि[21]क्रमेण यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यत्प्रतिभाति ज्ञानात्मभूतं [22]विजातीयव्यावृत्तार्थाकारतयाध्यवसितमर्थप्रतिवि[23]म्बकं तत्रान्यापोह इति [24]संज्ञा। ननु विजातीयव्यावृत्तपदार्था[25]नुभवद्वारेण शाब्दं [26]विज्ञानं तथाभूतार्थाध्यवसाय्युत्पद्यते इत्यत्रावि[27]वाद एव। किन्तु तत्तथाभूतपारमार्थिकार्थग्राह्यभ्युपग[28]न्तव्यमध्यवसा[29]यस्य [30]ग्रहणरूपत्वात्। विजातीय[31]व्यावृत्तेश्च समा[32]नपरिणामरूपवस्तुधर्मत्वेन व्यवस्थापितत्वान्ना[33]ममात्रमेव भिद्येत।

यच्चोक्तम्–"[34]तत्प्रतिविम्बकं च शब्देन जन्यमानत्वात्तस्य कार्यमेवेति कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः" [ ]

---

१ अपोहस्य विधिरूपेण वाच्यत्वात्सर्वशब्दार्थोऽपोह एव न भवतीत्यर्थः। २ अपोह। ३ न केवलं स्वलक्षणम्। ४ अन्यव्यावृत्तिरपि वाच्याऽवाच्या वा स्यात्? अवाच्या तदाऽवाच्ययान्यव्यावृत्त्या कथमपोहो वाच्योतिप्रसङ्गात्। अथ वाच्या किं विधिरूपेणान्यव्यावृत्त्या वा? न तावद्विधिरूपेणोक्तदोषानुषङ्गात्। अथान्यव्यावृत्त्या अन्यव्यावृत्तिर्वाच्या चेत्तत्राप्यन्यव्यावृत्तिर्यथा वाच्या सापि वाच्याऽवाच्या वेत्यादिप्रकारेणानवस्था। ५ कुतः। ६ शब्देन। ७ अश्व। ८ यसः। ९ अश्वलक्षण। १० गौरिति। ११ मतस्य। १२ अपोहस्याऽवाच्यत्वात्। १३ सर्वेषां परस्परेण व्यावृत्तिस्वभावो यतः। १४ अविधिरूपम्। वस्तु। १५ आदौ यो नञ् स एकोपोहो द्वितीयेन तस्याप्यपोहः। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। १६ इति। १७ सङ्केतः। १८ कश्चिद्बौद्धविशेषः प्राह। १९ अश्वादिभ्यः। २० खण्डमुण्डादिस्वलक्षणान्। २१ प्रथमं खण्डमुण्डाद्यनुभवो नाम निर्विकल्पकं दर्शनं, तदनु विकल्पवासनाप्रबोधस्तदनु सङ्केतकालगृहीतवाच्यवाचकस्मरणं तदन्वितं वाच्यवाचकमिति योजनं, तदनु विकल्पोयं गौरिति। २२ अश्वादिभ्यः। २३ ज्ञानादभेदरूपम्। २४ जैनबौद्धयोः। २५ ज्ञाने ज्ञानस्वरूपार्थाकारोऽपोह इति बौद्धविशेषस्याऽभिप्रायः। २६ श्रावणप्रत्यक्षम्। २७ निश्चयस्य। ८ सौगतेन। ९ पदार्थानां ज्ञानस्य। ३० बौद्धमते। ३१ खण्डमुण्डादिस्वव्यक्त्यपेक्षया। ३२ विजातीयव्यावृत्तिः समानपरिणामरूपसामान्यं चेति। ३३ स्वग्रन्थे। ३४ अर्थं। ज्ञाने।

तदप्ययुक्तम्; शब्दाद्विशिष्टसङ्केतसव्यपेक्षाद्बाह्यार्थे[1] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतेः स एवास्यार्थो युक्तः, न तु विकल्पप्रतिबिम्बकमात्रं शब्दात्तस्य वाच्यतया[2]ऽप्रतीतेः ।

अतोऽयुक्तम्–"प्रतिबिम्बस्य मुख्यमन्यापोहत्वं विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणस्यान्य[3]व्यावृत्तेश्चौपचारिकम्" [ ] इति । [4]अन्यापोहस्य हि वा[5]च्यत्वे मुख्योपचारकल्पना युक्तिमती, तच्चास्य नास्तीत्युक्त[6]म् । त[7]तः प्रतिनियताच्छब्दात्प्रतिनियतेऽर्थे प्राणिनां प्रवृत्तिदर्शनात्सिद्धं शब्दप्रत्ययानां [8]वस्तुभूतार्थवि[9]षयत्वम् । प्रयोगः–ये परस्परा[10]सङ्कीर्णप्रवृत्तयस्ते वस्तुभूतार्थविषयाः यथा श्रोत्रा[11]दिप्रत्ययाः, परस्पराऽसङ्कीर्णप्रवृत्तयश्च दण्डीत्यादिशाब्दप्रत्यया इति । न चायमसिद्धो हेतुः; 'दण्डी विषाणी' इत्यादि[12]धी[13]ध्वनी हि लोके द्रव्यो[14]पाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्लः कृष्णो भ्रमति चलति' इत्या[15]दिकौ तु गुणक्रियानिमित्तौ, 'गौरश्वः' इत्या[16]दी सा[17]मान्यविशेषो[18]पाधी, 'इहात्मनि ज्ञानम्' इत्या[19]दिकौ सम्बन्धो[20]पाधिकावेवेति प्रतीतेः ।

न[21]नु चाकृतसमया ध्वनयोर्थाभि[22]धायकाः, कृतसमया वा? प्रथमपक्षेति[23]प्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु क्व तेषां सङ्केतः–स्वलक्षणे, जा[24]तौ वा, तद्योगे वा, जातिमत्यर्थे वा, बु[25]द्ध्या[26]कारे वा प्रकारान्तरासम्भवात्? न तावत्स्वलक्ष[27]णे; समयो हि व्यवहारार्थं क्रियमाणः सङ्केतव्य[28]वहारकालव्या[29]पके वस्तुनि युक्तो नान्यत्र[30] । न च स्वलक्षणस्य सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वम्; शाबले[31]यादिव्यक्तिविशेषाणां दे[32]शादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततया[33]ऽन्वया[34]भावात्,

---

१ घटपटादिलक्षणे । २ अर्थतया । ३ सम्बन्धिन्याः । ४ तथा हि । ५ शब्देन । ६ किञ्चापोहावाच्योथेत्यादिना । ७ शब्दार्थोऽपोहो विचार्यमाणो न घटते यतः । ८ परमार्थ । ९ वसः । १० असङ्कलित । ११ लोचनादिज्ञानानि । १२ द्वन्द्वः । १३ ध्वनिः शब्दः । १४ उपाधिः=विशेषणं कारणमित्यर्थः । १५ धीध्वनी । १६ धीध्वनी । १७ गोत्वादि । १८ अश्वादेर्व्यावर्त्तमानत्वात्तदेव विशेषः । १९ धीध्वनी । २० संबन्धः=समवायः । २१ अत्र प्रतिविधीयते । इत्येतावतः प्राक् सौगतः पूर्वपक्षयति । २२ घटादिवाचकाः । २३ घटशब्दः पटाभिधायको भवतु सङ्केताभावात् । २४ सदृशपरिणामलक्षणे संकेतोस्ति । २५ बुद्धावर्थाकारे । २६ प्रतिबिम्बके । २७ क्षणिकादिरूपे । २८ प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप । २९ स्थायिनि । ३० अव्यापके क्षणिके । ३१ आदिना खण्डमुण्डशबलादीनाम् । ३२ आदिना कालस्वरूपस्वभावाः । ३३ खण्डो मुण्डादत्यन्तव्यावृत्त इति सम्बन्धाभावात् । ३४ यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः । न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ।

तत्रानन्त्येन सङ्केता[1]सम्भवा[2]च्च। विकल्पबुद्धा[3]वध्याहृत्य[4] तेषु सङ्केताभ्युपगमे[5] विकल्पसमारोपितार्थविषय[6] एव शब्दसङ्केतः, न परमार्थवस्तु[7]विषयः स्यात्। स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावानां[8] सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समय[9]सम्भवोऽप्यसम्भाव्यः; तेषामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावानां प्रादुर्भावानन्तरमेवापवर्गितया[10] तदसम्भवात्।

किञ्च, एतेषु[11] समयः क्रियमाणोऽनुत्पन्नेषु क्रियेत, उत्पन्नेषु वा ? न तावदनुत्पन्नेषु[12] परमार्थतः समयो युक्तः; असतः सर्वोपाख्या[13]रहितस्या[14]धारत्वानुपपत्तेः। नाप्युत्पन्नेषु; तस्यार्थानुभ[15]वशब्दस्मरणपूर्वकत्वात्, शब्दस्मरणकाले चार्थस्य प्रध्वंसात्। सर्वेषां[16] स्वलक्षणक्षणानां सादृश्य[17]मैक्येना[18]ध्यारोप्य सङ्केतविधाने[19] सिद्धं स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वम् बुद्ध्यारोपितसादृश्यस्यैवाभिधानैरभिधानात्। वाच्य[20]त्वे[21] वा शब्द[22]बुद्धेः स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्। न खलु यथेन्द्रिय[23]बुद्धिः स्पष्टप्रतिभासा प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धिः। प्रयोगश्च–यो[24] यत्कृते[25] प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपशब्दप्रभवप्रत्यये रसाप्रतिभासने नासौ[26] तदर्थः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति। उक्तञ्च—

"अन्यथैवाग्नि[27]सम्बन्धाद्[28]दाहं[29] दग्धो[30] हि[31] मन्यते[32]।
अन्यथा[33] दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥ १ ॥"

[वाक्यप० २।४२५]

न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वय[34]मस्ति[35], येनास्पष्टं वस्तुगत[36]मेव रूपं शब्दैरभिधीयेत एकस्य[37] द्वित्वविरोधात्। तन्न स्वलक्षणे सङ्केतः[38]।

---

१ यो यो गोशब्दः स स मुण्डवाचक इति। २ व्यक्तिषु। ३ गोशब्दस्य। ४ सर्वव्यक्तयो गोशब्देन वाच्या इति आरोप्य। ५ जैनादिना। ६ वसः। ७ वसः। ८ पदार्थानाम्। ९ सङ्केत। १० विनाशितया। ११ शावलेयादिविशेषेषु। १२ अजातेषु। १३ उपाख्या स्वभावः। १४ समयस्य। १५ अयमस्य शब्दस्य वाच्य इति। १६ त्रिकालत्रिलोकोदरवर्त्तिनाम्। १७ सदृशापरापरोत्पत्त्या यत्सादृश्यम्। १८ अभेदेन। १९ अङ्गीक्रियमाणे जैनादिना। २० शब्देन। २१ आरोपितसामान्यस्यैव वाच्यत्वं शब्देन यतः। २२ शब्दैः जातायाः। २३ स्वलक्षणस्य। २४ उपर्युक्तसमर्थनम्। २५ नेत्रादि। २६ स्वलक्षणरूपोर्थः। २७ स्पष्टत्वेन। २८ यसः। २९ स्पर्शनेन्द्रियेण। ३० साक्षात्। ३१ (नहि) दाहमित्युक्ते मुख्यं दह्यते। ३२ पुमान्। ३३ अस्पष्टत्वेन। ३४ स्पष्टत्वास्पष्टत्वे। ३५ युक्तिसिद्धम्। ३६ स्पष्टास्पष्टत्वलक्षणम्। ३७ रूपस्य। ३८ परमार्थभूतः।

नापि जातौ[1]; तस्याः[2] क्षणिकत्वे स्वलक्षणस्येवान्वया[3]भावान्न सङ्केतः फलवान्[4]। अक्षणिकत्वे[5] तु क्रमेण ज्ञानोत्पादकत्वाभावः। नित्यैक[6]स्वभावस्य परा[7]पेक्षाप्यसम्भाव्या। प्रतिषिद्धा चेयं[8] यथास्थानम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन[9]।

नापि[10] तद्योगे[11] सङ्केतः; तस्यापि समवायादि[12]लक्षणस्य निराकृतत्वात्। जातितद्योगयोश्चासम्भवे तद्वतोऽप्यर्थस्यासम्भवात्कथं तत्रापि सङ्केतः[13]? बुद्ध्याकारे[14] वा; स हि बुद्धितादात्म्येन स्थितत्वान्न बुद्ध्यन्तरं प्रतिपाद्यमर्थं वा[15]नुगच्छति[16]।

किञ्च, '[17]इतः[18] शब्दा[19]दर्थक्रियार्थी पुरुषोऽर्थक्रियाक्षमानर्थान्विज्ञाय प्रवर्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायकाः[20] नियुज्यन्ते न व्यसनितया[21]। न चासौ विकल्पबुद्ध्याकारो[22]ऽर्थिनो[23]ऽभिप्रेतं शीतापनोदादिकार्यं सम्पादयितुं समर्थः।

किञ्च, बुद्ध्याकारे[24] शब्दसङ्केताभ्युपगमे[25]ऽपोहवादि[26]पक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्[27]; तथाहि-अपोहवादिना[28]पि बुद्ध्याकारो बाह्यरूप[29]तयाध्यवसितः शब्दार्थोऽभीष्ट एव, अर्थविवक्षां[30] च कार्यतया [31]शब्दो [32]गमयति[33] यथा धूमो[34]ऽग्नि[35]मिति।

[36]अत्र प्रतिविधीयते। कृतसमया एव ध्वनयो[37]ऽर्थाभिधायकाः[38]। समयश्च सामान्यविशेषात्मके[39]ऽर्थे[40]ऽभिधीयते[41] न जात्यादिमात्रे[42]।

---

१ कुतः। २ जातेः। ३ गोत्वादिसामान्ये। ४ भवेत्। ५ अनुस्यूतत्वे। ६ तस्या जातेः। ७ परं=निमित्तम्। ८ जातिः। ९ जातौ सङ्केतनिराकरणप्रसङ्गेन। १० पक्षान्तरम्। ११ तयोः स्वलक्षणजात्योः सम्बन्धे। १२ आदिना संयोगतादात्म्यादेश्च। १३ शब्देन। १४ अर्थस्य। १५ नान्वेति। १६ अतः केन साकं सङ्केतः स्यात्। १७ विवक्षितत्वात्। १८ जैनमताभिप्रायं वक्ति सौगतः। १९ अर्थः=प्रयोजनम्। २० शब्दाः। २१ कार्यं विना प्रवृत्तिर्व्यसनम्। २२ अर्थस्य। २३ पुरुषस्य। २४ अर्थप्रतिबिम्बरूपे। २५ जैनेन। २६ सौगत। २७ जैनस्य। २८ सौगतेन। २९ ज्ञानात्मा बुद्ध्याकार एव बाह्यार्थो नापरः कश्चिदित्यभिप्रायो बौद्धविशेषस्य। ३० आन्तरार्थस्य वक्तुमिच्छां ज्ञानस्वभावां शब्दस्य कारणभूताम्। ३१ कार्यरूपः। ३२ ज्ञापयति। ३३ ज्ञानस्वभावा विवक्षा एव बाह्यार्थः शब्दविषयो नापरः कश्चिदित्यपि बौद्धविशेषाभिप्रायः। अन्यापोहरूपो बुद्ध्याकाररूपो विवक्षारूप एवं त्रिविधः शब्दविषयो बौद्धमते इति ज्ञेयम्। ३४ कार्यम्। ३५ कारणम्। ३६ परकृतपक्षे। ३७ शब्दाः। ३८ वाचकाः। ३९ तादात्म्यस्वरूपे। ४० परार्थे। ४१ क्रियते। ४२ केवलायां जातौ केवले विशेषे वा नाभिधीयते।

तथाभूतश्चार्थो[1] वास्तवः सङ्केतव्यवहारकालव्यापकत्वेन प्रमाणसिद्धः 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थः' [परीक्षामु० ४।१] इत्यत्रा[2]तिविस्तरेण वर्णयिष्यन्ते[3]। सामान्यविशेषयोर्वस्तुभूतयोस्तत्सम्बन्धस्य चात्र प्रमाणतः[4] प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। न चात्राव्यानन्त्याद्व्यक्तीनां परस्परा[5]ननुगमाच्च सङ्केता[6]ऽसम्भवः; समान[7]परिणामापेक्षया क्षयोपशमविशेषाविर्भूतोहाख्यप्रमाणेन[8] तासां प्रतिभासमानतया सङ्केतविषयतोपपत्तेः, कथमन्यथानुमानप्रवृत्तिः तत्रा[9]प्यानन्त्याननुगम[10]रूपतया साध्यसाधनव्यक्तीनां सम्बन्धग्रहणासम्भवात्?

अन्य[11]व्यावृत्त्या[12] सम्बन्ध[13]ग्रहणम्; इत्यप्यसत्; तस्या एव सदृश[14]परिणामसामान्यासम्भवे असम्भाव्यमान[15]त्वात्। न चाऽसदृशेष्व[16]र्थेषु सामान्य[17]विकल्पजनकेषु[18] तद्[19]दर्शन[20]द्वारेण[21] सदृशव्यवहारे हेतुत्वम्; नीलादिविशेषाणामप्यभावानुषङ्गात्। यथा[22] हि परमार्थतोऽसदृशा[23] अपि तथाभूतविकल्पोत्पादकदर्शनहेतवः[24] सदृशव्यवहारभाजो[25] भावाः तथा स्वयम्[26]अनीलादिस्वभावा[27] अपि नीलादिविकल्पो[28]त्पादकदर्शननिमित्ततया नीलादिव्यवहारभाक्त्वं प्रतिपत्स्यन्ते। संदृश[29]परिणामा[30]भावे च अर्थानां[31] सजातीयेतर[32]व्यवस्थाऽसम्भावात्कुतः[33] कस्य व्यावृत्तिः? अन्यव्यावृत्त्या सम्बन्धाव[34]गमेपि[35] च[36] एतत्सर्वं[37] समानम्[38]-तत्रा[39]नन्त्याननुगमरूपत्वस्याऽविशेषात्। ततो[40] 'ये यत्र[41] भावतः[42] कृतसमया न भवन्ति न ते तस्याभिधायकाः यथा

---

१ सङ्केतितार्थो नास्तीत्युक्ते आह। २ सूत्रे। ३ जैनाचार्यैः। ४ प्रत्यक्षादितः। ५ व्यवहारकाले। ६ अस्य शब्दस्यायमर्थ इत्येवंरीत्या। ७ सदृश। ८ ये ये त्रिकालत्रिलोकोदरवर्तिनः सास्नादिमन्तस्ते ते गोशब्देन वाच्या इत्येवम्। ९ कुतः। १० अनुमानव्यवहारकाले। ११ परस्पर। १२ असाध्यासाधनरूपेण। १३ अविनाभावलक्षण। १४ या गोव्यक्तयस्ता गोशब्देन वाच्या इति। १५ पूर्वं निराकृतत्वात्। १६ खण्डादिषु। १७ सामान्यरूपश्चासौ विकल्पश्च। १८ अयमनेन सदृश इति विकल्पोयं गौरयं गौर्वेति विकल्पः। १९ विसदृशार्थं। २० प्रतीति। २१ मुखेन। २२ कथम्? तथा हि। २३ खण्डमुण्डादयः पदार्थाः। २४ सन्तः। २५ स्युः। २६ स्वरूपेण। २७ नीललक्षणभावाः। २८ विकल्पः=ज्ञानम्। २९ सामान्य। ३० सास्नादिमत्त्वादिना। ३१ गोघटपटादीनाम्। ३२ विजातीय। ३३ कस्मात्। ३४ साध्यसाधनव्यक्तीनाम्। ३५ किञ्च। ३६ सङ्केतपक्षे यत्परेणोच्यते। ३७ अन्यव्यावृत्तिविषयकम्। ३८ अन्यव्यावृत्तयोऽनन्ता इत्येवम्। ३९ व्यावृत्तिग्रहणकाले। ४० साध्यसाधनव्यक्तीनां सम्बन्धावगमो यथा वस्तुनि शब्दस्य सङ्केतपरिज्ञानमपि तथा स्याद्यतः। ४१ वस्तुनि। ४२ परमार्थतः।

साक्षादिमत्यर्थेऽकृतसमयोऽश्वशब्दः[1], न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनयः' इत्यत्र प्रयोगे[2]ऽसिद्धो[3] हेतुः; उक्त[4]प्रकारेणार्थे ध्वनीनां समयसम्भवात्।

यच्च हिमाचलादिभावानामप्यनेकपरमाणुप्रचयात्मनां क्षणिकत्वेन समयासम्भव इत्युक्तम्[5]; तदप्युक्तिमात्रम्; सर्वथा क्षणिकत्वस्य बाह्या[6]ध्यात्मिका[7]र्थे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। तथा चोत्पन्नेष्वप्यर्थेषु सङ्केतसम्भवात्, अयुक्तमुक्तम्[8]–'उत्पन्नेष्वनुत्पन्नेषु वा सङ्केतासम्भवः' इत्यादि।

ननु शब्देनार्थस्याभिधेयत्वे[9] साक्षादेवा[10]तोऽर्थ[11]प्रतिपत्तेरिन्द्रिय[12]संहतेर्वैफल्यप्रसङ्गः; तन्न[13]; अतोऽर्थस्याऽस्पष्टाकारतया प्रतिपत्तेः, स्पष्टाकारतया तत्प्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रियसंहतिरप्युपपद्यते[14] एवेति कथं तस्या वैफल्यम्? स्पष्टाऽस्पष्टाकारतयार्थप्रतिभासभेद[15]श्च सामग्रीभेदान्न विरुध्यते, दूरासन्ना[16]र्थो[17]पनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत्[18]।

अथाऽसत्यप्यर्थेऽतीतानागतादौ शब्दस्य प्रवृत्ति(त्ते)र्नास्यार्थाभिधायकत्वम्[19]; तदसत्; तस्येदानीम[20]भावेपि स्वकाले भावात्, अन्यथा[21] प्रत्यक्षस्याप्यर्थविषयत्वाभावः स्यात् तद्विषयस्यापि तत्कालेऽभावात्[22]। अविसंवादस्तु प्रमाणान्तरप्रवृत्तिलक्षणोऽध्यक्षव[23]च्छाब्दे[24]प्यनुभूयत एव। 'आसी[25]द्वह्निः[26]' इत्याद्यतीतविषये वाक्ये विशिष्ट[27]भस्मादिकार्यदर्शनोद्भूतानुमानेन संवादोपलब्धेः, चन्द्रार्कग्रहणाद्यना[28]गतार्थविषये[29] तु प्रत्यक्षप्रमाणेनैव। क्वचि[30]द्विसंवादात्सर्वत्र[31] शाब्दस्याऽप्रामाण्ये[32] प्रत्यक्षस्यापि क्वचिद्विसंवादात्सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः। ततो[33] निराकृतमेतत्—

"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य[34]मन्य[35]च्छब्दस्य गोचरः।

---

१ साक्षादिमदर्थाभिधायको न भवति.यतः। २ परकृते। ३ भावतोऽकृतसमयत्वादिति। ४ समानपरिणामापेक्षयेत्यादिना। ५ परेण। ६ घटादौ। ७ ज्ञानादौ। ८ परेण। ९ प्रतिपाद्यत्वे। १० अव्यवधानेन। ११ श्रूयमाणाच्छब्दात्। १२ चक्षुरादिसमूहस्य। १३ सूक्तम्। १४ विवक्षिताच्छब्दात्। १५ घटते। १६ एकार्थे। १७ एकार्थस्य। १८ स्पष्टाऽस्पष्टतया। १९ एकार्थस्य। २० शब्दोच्चारणसमये। २१ अर्थस्यानभिधायकत्वे। २२ क्षणिकत्वात्। २३ प्रत्यक्षोत्पत्तिकाले इव। २४ ज्ञाने। २५ कथम्। २६ इह प्रदेशे। २७ किञ्चिदुष्णताकाष्ठाद्याकारधारित्वविशिष्ट। २८ भविष्यत्। २९ वाच्ये। ३० शब्दप्रतिपाद्ये। ३१ अर्थे। ३२ अङ्गीक्रियमाणे परेण। ३३ अभिन्नविषयत्वेपि शाब्दप्रत्यक्षयोः प्रतिभासभेदो दर्शितो यतः। ३४ स्वलक्षणम्। ३५ सामान्यम्।

शब्दात्[1]प्रत्ये[2]ति[3] भिन्नाक्षो[4] न तु प्रत्यक्ष[5]मी[6]क्षते[7] ॥ १ ॥" [ ]
"अन्यथैवाग्निसम्बन्धा[8]द्दाहं[9] दग्धोभिमन्यते[10] ।
अन्यथा[11] दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥"
[वाक्यप० २।४।२५] इत्यादि ।

सामग्रीभेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदो न पुनर्विषय[12]भेदात्, सामान्यविशेषात्मका[13]र्थविषयत[14]या सकलप्रमाणानां त[15]द्भेदाभावादित्यग्रे[16] वक्ष्यमाणत्वात् । त[17]तो 'यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते' इत्यादिप्र[18]योगे हेतु[19]रसिद्धः[20]; सामान्यविशेषात्मार्थल[21]क्षणस्वलक्षणस्य शाब्दप्रत्य[22]ये प्रतिभासनात् ।

प्रयोगः-यद्यत्र व्य[23]वहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयम् यथा सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्य[24]वहृतिमुपजनयत्[25]प्रत्यक्षं तद्विषयम्, तत्र व्यवहृतिमुपजनयति च शब्द इति । न चासिद्धो हेतु[26]ः; व[27]हिरन्त[28]श्च शाब्दव्यवहारस्य तथाभूते वस्तुन्युपलम्भात् । भव[29]त्कल्पितस्वलक्षणस्य तु प्रत्यक्षेऽन्य[30]त्र वा स्वप्नेप्यप्रतिभा[31]सनात् ।

प्रतिज्ञापदयोश्च व्याघातः; त[32]थाहि-'अ[33]न्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यनेन शब्देन कश्चिदर्थोऽभिधीयते वा, न वा? नाभिधीयते चेत्; कथमिन्द्रियग्रा[34]ह्यस्यान्यत्व[35]मतः प्रतीयते? अथाभिधीयतेऽर्थः; तर्हि तस्यैव तद्विषयत्वप्रसिद्धेः कथन्न शब्दस्यार्थागोच[36]रत्वप्रतिज्ञाऽतो व्याहन्येत? सा[37]क्षादिन्द्रियग्राह्यागोच[38]रोऽसाविति चेत्[39]; पारम्पर्येणासौ त[40]द्गोचरो भवति, न वा? यदि न भवति; तर्हि 'साक्षात्' इति विशेषणं व्यर्थम् । अथ भ[41]वति; तर्हि तज्ज्ञा(तज्जा)

---

१ कुतः । २ अर्थम् । ३ जानाति । ४ उत्पाटिताक्षः अन्ध इत्यर्थः । ५ क्रियाविशेषणमेतद् । ६ परोक्षं जानातीत्यर्थः । ७ अर्थम् । ८ स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यतया । ९ स्पष्टत्वेन । १० जानाति । ११ अस्पष्टत्वेन । १२ आसन्नदूरत्वादि । १३ सामान्यविशेषात्मकार्थो विषयो भवतीति साध्यः, शब्दो धर्मी । १४ यसः । १५ विषय । १६ चतुर्थाध्याये । १७ शब्दप्रत्ययेऽर्थप्रतिभासः सिद्धो यतः । १८ अनुमाने । १९ शब्दकृते प्रत्ययेऽप्रतिभासमानत्वात्स्वलक्षणस्येति । २० कुतः । २१ यसः । २२ शब्दज्ञानजनितज्ञाने । २३ विकल्पज्ञानम् । २४ विकल्पम् । २५ नायनादि । २६ तत्र व्यवहृतिजनकत्वात् । २७ गवादौ । २८ आत्मादौ । २९ सौगत । ३० अनुमानादौ । ३१ खरविषाणवत् । ३२ व्याघातमेव दर्शयति । ३३ बौद्धमते शब्दः कञ्चिदप्यर्थं न वक्ति तर्हि । ३४ अर्थस्य । ३५ भिन्नत्वम् । ३६ अर्थोऽगोचरो यस्य । ३७ अव्यवधानेन । ३८ बसः । ३९ स्वलक्षणं प्रत्यक्षं गृह्णाति । प्रत्यक्षाच्च विकल्पः (नीलमिदं पीतमिदमिति) । विकल्पाच्च शब्द उत्पद्यते । विकल्पयोनयः शब्दः इत्यभिधानादिति । ४० स गोचरो यस्य शब्दस्य । ४१ पारम्पर्येणेन्द्रियग्राह्यार्थगोचरो भवति शब्दः ।

प्रतीतिः किमिन्द्रियजप्रतीतितुल्या, तद्विलक्षणा वा? यदि तत्तुल्या; तदा 'शब्दात्प्रत्येति[1] विनष्टाक्षो[2] न तु प्रत्यक्ष[3]मीक्षते[4]' इत्यनेन विरोधः[5]। तद्विलक्षणा चेत्; न तर्हि प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयभेदसाधनम्, एकत्रापि[6] विषये तदभ्युपगमात्[7]।

दाहशब्देन चात्र[8] कोर्थोभिप्रेतः[9]-किमग्निः, उष्णस्पर्शः, रूपविशेषः, स्फोटः, तद्दुःखं वा? अस्तु यः कश्चित्, किमेभिर्विकल्पैर्भवतां[10] सिद्धमिति चेत्? एतेषां[11] मध्ये योर्थोभिप्रेतो भवतां[12] तेनार्थेनार्थवत्त्व[13]प्रसिद्धेः तस्यानर्थविषयत्वाभावः सिद्ध इति।

नन्वेवं[14] दहन[15]सम्बन्धाद्यथा स्फोटो दुःखं वा तथा दाहशब्दादपि किन्न स्यादर्थप्रतीतेरविशेषात्? तन्न; अन्यकार्यत्वात्तस्य, न खलु दहनप्रतीतिकार्यं स्फोटादि। किं तर्हि? दहनदेहसम्बन्धविशेषकार्यम्, सुषुप्ताद्यवस्थायामप्रतीतावपि अग्नेस्तत्सम्बन्धविशेषात् स्फोटादेर्दर्शनात्, दूरस्थस्य चक्षुषा प्रतीतावप्यदर्शनात्, मन्त्रादिबलेन त्वगिन्द्रियेणापि प्रतीतौ[16]वप्यदर्शनात्[17]। तस्मादभिन्नेपि विषये[18] सामग्री[19]भेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदोऽभ्युपगन्तव्यः[20]।

तथा[21] चेदमप्ययुक्तम्-'न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वय[22]मस्त्येकस्य द्वित्वविरोधात्' इति।

यदि च[23]ाभावोभिधीयते शब्दैर्भावो नाभिधीयते इति क्रिया[24]प्रतिषेधौ[25]न्न[26] किञ्चित्[27]कृतं स्यात्। तथा च कथं नदीदेशद्वीपपर्वतस्वर्गापवर्गादिष्वाप्तप्रणीतवाक्यात्प्रतिपत्तिः श्रेयःसाधनानुष्ठाने प्रवृत्तिर्वा? अन्यथा[28] सर्वस्मादपि वाक्यात्सर्वत्रार्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्त्यादिप्रसङ्गः[29]।

---

१ सामान्यार्थं जानाति। २ अन्धो ना। ३ क्रियाविशेषणम्। चक्षुःप्रत्यक्षेण यादृशमीक्षते न तादृशमिति भावः। ४ अर्थम्। ५ शब्दजेन्द्रियजप्रतीत्योः समानत्वात्। ६ दूरनिकटैकपादपादौ स्वलक्षणे। ७ परेण। ८ श्लोके। ९ सौगतस्य तव। १० जैनानाम्। ११ पदार्थानाम्। १२ सौगतानाम्। १३ शब्दस्य। १४ तेनार्थेनार्थवत्त्वसिद्धिप्रकारेण। १५ वह्निदहनसम्बन्धादर्थप्रतीतिर्विद्यते शब्दादप्यर्थप्रतीतिरिति। १६ दहनस्य। १७ स्फोटादिकस्य। १८ दूरपादपादौ। १९ दूरनिकटादि। २० परेण। अनेन कथनेन बौद्धस्य यथा स्वलक्षणस्य प्रत्यक्षेण स्पष्टतया प्रतिभासनं तथा शब्देनाप्यस्पष्टतया प्रतिभासनं जातमिति। २१ सामग्रीभेदात्प्रतिभासभेदे च। २२ वैशद्यावैशद्यरूपम्। २३ अपोहः। २४ भावस्य। २५ तर्हीति शेषः। २६ शब्दैः। २७ शब्दैर्न किञ्चित् वाच्यं स्यात्। २८ शब्देन कस्याप्यकरणेप्यर्थप्रतीतिरनुष्ठाने प्रवृत्तिश्च यदि। २९ अकृतत्वाविशेषात्।

सत्येतरव्यवस्थाभावश्च तत्त्वेतरप्रतिपत्तेरभावात् । तथाच[1] 'यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्' इत्यादेरिव 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेः' इत्यादेरप्यसत्त्वानुषङ्गः । विपर्यय[2]प्रसङ्गो वा, सर्वथार्थासं[3]स्पर्शित्वाविशेषात् । कस्यचिद्[4]नुमानवाक्यस्य कथञ्चि[5]दर्थसंस्पर्शित्वे[6] सर्वथार्थस्यानभिधेयत्वविरोधः । स्वपक्षविपक्षयोश्च सत्यासत्यत्वप्रदर्शनाय शास्त्रं प्रणयन्[7] वस्तु[8] सर्वथाऽनभिधेयं प्रतिजानाति इत्युपेक्षणीयप्रज्ञः, सर्वथाभिधेयरहितेन तेन[9] तस्य प्रणेतुमशक्तेः ।

"शक्तस्य[10] सूचकं हेतुवचोऽशक्तम्[11]पि स्वयम्[12]" [प्रमाणवा० ४।१७] इत्यभिधानात्[13] । तत्कृतां[14] तत्त्वसिद्धिमुपजीवति[15], नार्थस्य तद्वाच्यतामिति किमपि महाद्भुतम् ! वस्तुदर्शन[16]वंश[17]प्रभवत्वाद्धेतुवचो वस्तुसूचकम्; इत्यक्षणिक[18]वादिनोपि समानम् । मद्वचनमेवार्थदर्शनवंशप्रभवं न पुनः परवचनम्; इत्यन्यत्रापि समानम् ।

सकलवचसां विवक्षामात्रविषयत्वाभ्युपगमाच्च, तावन्मात्रसूचकत्वेन च शब्द[19]स्य प्रामाण्ये सर्वं शाब्दविज्ञानं प्रमाणं स्यात्, प्रत्यागमस्य[20]पि प्रतिवाद्य[21]भिप्रायप्रतिपादकत्वाविशेषात् ।

किञ्च, अर्थव्यभिचारवच्छब्दानां विवक्षाव्यभिचारस्यापि दर्शनात्कथं ते तामपि प्रतिपादयेयुः ? गोत्र[22]स्खलनादौ ह्यन्य[23]विवक्षायामप्यन्य[24]शब्दप्रयोगो दृश्यते एव । 'सुविवेचितं कार्यं[25] कारणं[26] न व्यभिचरति' इति नियमोऽर्थविशेषप्रतिपादकत्वेप्यस्याऽस्तु ।

न चास्य विवक्षायास्तदधिरूढार्थस्य वा प्रतिपादकत्वं युक्तम्; ततो बहिरर्थे[27] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतेः प्रत्यक्षवत् । यथैव हि

---

१ सत्येतरव्यवस्थाऽभावे च । २ पूर्वोक्तस्य सत्यत्वमुत्तरोक्तस्यासत्यत्वमित्यर्थः । ३ अविषयत्वं शब्दानां यतः । ४ सौगतोक्तस्य । ५ कथञ्चित्पारम्पर्येण । कथम् ? प्रथमतस्त्रिरूपधूमादिस्वलक्षणलिङ्गदर्शनं, तदनु सम्बन्धसरणं, तदनु शब्दप्रयोग इति । ६ सौगतेनाङ्गीक्रियमाणे । ७ दिङ्नागादिः । ८ स्वलक्षणम् । ९ शब्देन । १० शास्त्रान्तरेपि स्वलक्षणसूचकं वचोस्तीति वदति शक्तस्य समर्थस्य हेतोर्धूमादिस्वलक्षणस्य वाच्यस्य । ११ साध्येऽशक्तमपि । १२ स्वरूपेण । १३ सौगतेन । १४ वचन । १५ अङ्गीकरोति । १६ त्रिरूपधूमादिस्वलक्षणलिङ्ग । १७ वंशः= अन्वयः । १८ जैनस्य । १९ ज्ञानस्य । २० परवचनस्य । २१ जैनादि । २२ गोत्रं= नाम । २३ देवदत्त । २४ जिनदत्त । २५ शब्दलक्षणम् । २६ विवक्षालक्षणम् । २७ घटपटादौ ।

प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधान[1]सामग्रीसापेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दा[2]र्थप्रतिपत्तिः सकलजन[3]प्रसिद्धा, अन्यथाऽतो बहिरर्थे प्रतिपत्त्यादिविरोधः। न चार्थेऽर्थि[4]नोऽर्थित्वादेव[5] प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तकः; अध्यक्षादेरप्येव[6]मप्रवर्त्त[7]कत्वप्रसङ्गात् तदर्थेप्यभिलाषा[8]देव प्रवृत्तिप्रसिद्धेः । प[9]रम्परया प्रवर्त्तकत्वं शब्देप्यस्तु विशेषाभावात्।

का चेयं विवक्षा नाम–किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो वा? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। न खलु कश्चिदनु[10]न्मत्तः श[11]ब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रणेतुं श्रोतुं प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यैः सह सर्ववाक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छा[12]मात्रानुमाप[13]कत्वाविशेषात् । अथ 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो विव[14]क्षा, तत्सूचकत्वेन शब्दानामनुमानत्वम्; तदप्ययुक्तम्; व्यभिचारात्। न हि शुकशारिकोन्मत्तादयस्तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति।

किञ्च, स[15]मयानपेक्षं वाक्यं तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षं वा? आद्यविकल्पे सर्वे[16]षामर्थप्रति[17]पत्तिप्रसङ्गान्न क[18]श्चिद्भाषा[19]नभिज्ञः स्यात् । स[20]मयापेक्षस्तु शब्दोऽर्थमेव किं न गमयति? न ह्ययमर्थाद्बिभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तेत। य[21]श्चाशक्यसमयत्वादिकेर्थे शब्दाप्रवृत्तौ न्यायः, सोऽभिप्रा[22]येपि समान इत्यभिप्रा[23]यावगमोपि शब्दान्न स्या[24]त् । तन्न स्वलक्षणस्या[25]भिधानेना[26]निर्देश्यत्वम्।

किञ्च, तच्छब्देना[27]ऽप्रतिपाद्याऽनिर्देश्यत्वमस्योच्येत, प्रतिपाद्य वा? न तावदप्रतिपाद्य; अतिप्रस[28]ङ्गात् । प्रतिपाद्य चेत्; न;

---

१ प्रणिधानमेव सामग्री। २ शब्दात्। ३ पुरुषस्य। ४ पुरुषस्य। ५ अर्थित्वादेव। ६ प्रत्यक्षमभिलाषमुत्पादयति, अभिलाषाच्चार्थे प्रवृत्तिरिति। ७ प्रत्यक्षस्य। ८ शब्दोप्यभिलाषमुत्पादयति, अभिलाषात्प्रवृत्तिरिति। ९ परम्परया प्रवर्तकत्वस्य। १० धीमान्। ११ शब्दस्य निमित्तं कारणं या सा, सा चासाविच्छा च सैवेच्छा एवंभूता यतः शब्दोच्चारः पुरुषस्य। १२ स्वेषां वाक्यानां प्रभव उत्पत्तिर्यस्या इच्छायाः सा चासाविच्छा चेति। १३ विवक्षा धर्मिणी अस्यास्तीति साध्यं शब्दोच्चारणान्यथानुपपत्तेरिति। १४ अस्यैवंविधोभिप्रायोस्ति तदभिधायकशब्दोच्चारणादिति। १५ समयः=संकेतः। १६ सर्वतया। १७ अविशेषतः। १८ क्वचिद्देशादौ। १९ सकलभाषात्मकशब्दश्रवणात्। २० द्वितीयविकल्पः। २१ अर्थानामानन्त्यात्। २२ अभिप्रायाणामानन्त्यात्। २३ शब्दश्रोतॄणाम्। २४ अशक्यसमयत्वाविशेषात्। २५ सामान्यविशेषात्मकस्यार्थस्य। २६ शब्देन। २७ स्वलक्षणेति शब्देन। २८ घटादेरप्यनिर्देश्यत्वप्रसङ्गात्।

स्ववचनविरोधात् । शब्देन हि स्वलक्षणं प्रतिपादयता निर्देश्यत्वमस्याभ्युपगतं स्यात्, पुनश्च तदेव प्रतिषिद्धमिति। कथं चानिर्देश्यशब्देन[1]ाप्यस्यानभिधाने[2] अनिर्देश्यत्व[3]सिद्धिः? भ्रान्तिमात्रात् ततस्तत्सिद्धौ न परमार्थतस्तदनिर्देश्यमसाधारणं वा सिध्येत्। [4]प्रत्यक्षात्तथाभूतस्यास्य प्रसिद्धिः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; निर्देशयोग्य[5]स्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात्। 'वस्तुव्यतिरेकेण नापरा निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभाति' [6]इत्यसाधारणतायामपि समानम्। 'वस्तुस्वरूपमेव सा' इत्यन्यत्रा[7]पि [8]समानम्।

किञ्च, विक[9]ल्पप्रतिभास्यऽन्यापोहगता वा[10]च्यता व[11]स्तुनि प्रतिषिध्य[12]ते, वस्तुगता वा? आद्यविकल्पे सिद्ध[13]साध्यता। न ह्यन्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता; तत्[14]प्रतिषेधविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु स्ववचनविरोध इ[15]त्युक्तम्। ततः प्रामाणिकत्वमात्मनोऽभ्युपगच्छता प्रतीतिसिद्धा वा[16]च्यतार्थस्याभ्युपगन्तव्या।

स[17]त्यम्; वा[18]च्य एवार्थः। तद्वाचकस्तु पदादि[19]स्फोट एव, न पुनर्वर्णाः। ते[20] हि किं स[21]मस्ताः, व्यस्ता वा तद्वाचकाः? यदि व्यस्ताः; तदैकेनैव वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादिते[22]ति द्वितीया[23]दिवर्णोच्चारणमनर्थकम्। अथ समुदिताः; तन्न; क्रमोत्पन्नानामन्त[24]रविनष्टत्वेन समुदायस्यैवासम्भवात् । न च युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना; एकपुरुषापेक्षया युगपदुत्पत्त्यसम्भवात्, प्रतिनिय[25]तस्थानक[26]रणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम्। न च भिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽप्यर्थप्रतिपादकं प्रतिपन्नम्; प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शाब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात्।

---

१ इति। २ इदं स्वलक्षणमनिर्देश्यमिति अकथने। ३ स्वलक्षणस्य। ४ निर्विकल्पकात्। ५ शब्देन। ६ स्वलक्षणव्यतिरेकेण साधारणतापि पृथक् नो भातीति। ७ निर्देश्यतायां साधारणतायां च। ८ वस्तुस्वरूपत्वम्। ९ बुद्धि। १० शब्देन। ११ स्वलक्षणे। १२ स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यनेनोल्लेखेन। १३ बुद्धिप्रतिबिम्बरूपस्यान्यापोहगतस्य (वाच्यत्वस्य) स्वलक्षणेऽस्माभिरपि प्रतिषेधाभ्युपगमात्। १४ वस्तुनि अन्यापोहवाच्यता विद्यते चेन्न तर्हि प्रतिषेधः। कथमिति विरोधः। १५ शब्देन हीत्यादि। १६ शब्देन। १७ लब्धावसरो मीमांसकोऽवतिष्ठते। १८ शब्दैः। १९ वर्णादिनाभिव्यज्यमानो नित्यो व्यापकः पदादीनामर्थः पदादिस्फोटः। २० तदेव भावयति। २१ गौरित्यत्र गकारौकारविसर्जनीयाः गकारादिना। २२ हेतोः। २३ औकारादि। २४ उत्पत्तेः। २५ तात्वादि। २६ क्रिया।

न चान्त्यो वर्णः[1] पूर्ववर्णा[2]नुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सत्यर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुग्राहकत्वायोगात्[3]। तद्धि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा? न तावज्जनकत्वम्; वर्णाद्वर्णोत्पत्तेरभावात्, प्रतिनियतस्थानकरणादिप्रभवत्वात्तस्य, वर्णाभावेप्याद्यवर्णो[4]त्पत्त्युपलम्भाच्च। नाप्यर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्; अविद्यमानानां[5] सहकारित्वस्यैवासम्भवात्। यथा चान्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते[6] तथा तज्जनितसंवेदनान्यपि, तत्प्रभवसंस्कारा[7]श्च[8]।

किञ्च, संवेदन[9]प्रभवसंस्काराः स्वोत्पादकविज्ञान[10]विषय[11]स्मृतिहेतवो नार्थान्तरे[12] ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः। न खलु घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधद्दृष्टः। न च तत्संस्कारप्रभव[13]स्मृतीनां तत्सहायता; तासां युगपदुत्पत्त्यभावात्। अयुगपदुत्पन्नानां चावस्थित्यसंभवात्[14]। न[15] चाखिलसंस्कारप्रभवैका स्मृतिः[16] सम्भवति; अन्योन्यविरुद्धानेकार्था[17]नुभवप्रभवसंस्काराणामप्येकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात्। न चान्त्यवर्णा[18]ऽनपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्रान्त्यो वर्णोर्थे(र्थ)प्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यानुषङ्गात्। घटशब्दान्त्यव्यवस्थित[19]स्यापि ककुदादिम[20]दर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च। तन्न वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थप्रतिपादकाः सम्भवन्ति। अस्ति[21] च गवादिशब्देभ्योऽर्थप्रतीतिः, तद[22]न्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तोऽर्थप्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

श्रोत्रविज्ञाने चासौ निरवयवो[23]ऽक्रमः प्रतिभासते, श्रवणव्यापारानन्तरम[24]भिन्ना[25]र्था[26]वभासिन्याः संविदोऽनुभवात्। न चासौ वर्णविषया; वर्णानां परस्परव्यावृत्तरूपतयैकप्रतिभासजनकत्वविरोधात्। न चेयं सामान्यविषया; वर्ण[27]त्व[28]व्यतिरेकेणापरसामा-

---

१ विसर्जनीयलक्षणः। २ गकारौकाराभ्याम्। ३ उत्पद्य विनष्टत्वात्पूर्ववर्णानाम्। ४ आद्यो गकारः। ५ असतां पूर्ववर्णानाम्। ६ उत्पत्त्यनन्तरं विनष्टत्वात्। ७ (पूर्ववर्णानां) धारणारूपाः। ८ अन्त्यवर्णश्रवणकाले प्राक्तनवर्णसंवेदनसंस्काराभावात्। ९ पूर्ववर्णानाम्। १० पूर्णवर्णज्ञान। ११ पूर्ववर्णलक्षण। १२ बहिरर्थे गवादौ। १३ पूर्ववर्णस्मृतीनाम्। १४ प्राक्तनप्राक्तनानां विनष्टत्वात्। १५ सर्वेषामेका स्मृतिर्भविष्यतीत्युक्ते आह। १६ अन्त्यवर्णसहाया। १७ घटपटलकुटशकटादि। १८ अन्त्यवर्णापेक्षया अन्यवर्णौ=गकारौकारौ। १९ विसर्जनीयस। २० गोरूप। २१ मा भवन्त्वित्युक्ते आह। २२ स्फोटं विना। २३ निरंशः। २४ अभिन्नः—एकः। २५ अर्थः स्फोटः तेन। २६ एकार्थेनावभासिन्याः। २७ अभिन्नरूप। २८ एकज्ञानसूचक।

न्यस्य[1] गकारौकारविसर्जनीयेष्वसम्भवात्, वर्णत्वस्य च प्रति[2]नियतार्थ[3]प्रत्यायकत्वायोगात्[4]। न चेयं भ्रान्ता; अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमान[5]प्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्यासत्त्वम्; अवयवि[6]व्यादेरप्यसत्त्वप्रसङ्गात्। नित्यश्चासौ स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः। अनित्यत्वे सङ्केतकालानु[7]भूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात्कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात्ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात्, असङ्केतिताच्छब्दादर्थप्रतिपत्तेरसम्भवात्। सम्भवे वा द्वीपा[9]न्तरादागतस्य गोशब्दाद्ध्वार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, सं[10]ङ्केतकरणवैयर्थ्यं चासज्येत।

अत्र प्रतिविधीयते। प्रतीय[11]मानात्पूर्व[12]वर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णादर्थप्रतीतेरभ्यु[13]पगमादुक्तदो[14]षाभावः। न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्; वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिब[15]द्धगु[16]रुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्द[17]र्शनात्, दृष्टं चोत्तरसंयोगं कुर्वत्प्राक्तनसंयोगाभावविशि[18]ष्टं क[19]र्म, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरू[20]पप्रध्वंसविशिष्टो रक्ततामुत्पादयन्प्रती[21]तः।

यद्वा, पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो[22] वर्णोऽर्थप्रतीत्युत्पादकः। ननु संस्[23]कारस्य कथं वि[24]षयान्तरे विज्ञानजनकत्वम्; इत्यप्यचोद्यम्; तद्भावभावितयार्थप्रतीतेरुपलब्धेः।

पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्र[25]णालिकयाऽन्त्यवर्णसहायतां प्रतिपद्यते; तथाहि-प्रथम[26]वर्णे तावद्विज्ञानम्[27], तेन च संस्कारो जन्यते। ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्वज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते। एवं तृतीयादावपि योजनीयं यावदन्त्यः संस्[28]कारोऽर्थप्रतिपत्तिजनकान्त्यवर्णस[29]हायः।

अथवा, शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तक्षयोपशमप्रतिनियमादविनष्टा[30] एव पूर्ववर्णसंविदस्तत्संका[31]रांश्चाऽन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति।

---

१ गवादेः। २ स्फोट एव प्रतिनियतार्थप्रत्यायको यतः। ३ अर्थः—गोलक्षणः, तस्य, ककुदादिमतोर्थस्य च। ४ (घटवाचकघटशब्दे)घकारादावपि वर्णत्वस्य सत्त्वात्। ५ श्रोत्रप्रत्यक्षज्ञानेन। ६ प्रत्यक्षज्ञानगोचरस्य घटादेः। ७ स्फोटस्य। ८ स्फोटात्। ९ गोरहितात्। १० तथा च। ११ श्रूयमाणात्। १२ वाक्यपक्षे वर्णस्थाने पदं ग्राह्यम्। १३ जैनैः। १४ पूर्ववर्णोच्चारणादिवैयर्थ्यलक्षण उक्तदोषः। १५ शाखादिना। १६ बसः। १७ तस्य कारणत्वस्य। १८ श्येनादेः। १९ गमनक्रिया। २० कृष्णादिरूप। २१ घटादौ। २२ पक्षेऽन्त्यपदम्। २३ पूर्ववर्णानाम्। २४ गोपिण्डे। २५ प्रवाहेण। २६ पक्षे प्रथमपदे। २७ समुत्पद्यते। २८ उभयविषयः, धारणाऽपरनामकः। २९ भवति। ३० द्रव्यत्वस्वरूपापेक्षया। ३१ ये अविनष्टाः।

तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वान्त्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । वाक्यार्थप्रतिपत्तावप्ययमेव न्यायोऽङ्गीकर्त्तव्यः । वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनं च सिद्ध[3]साधनमेव । [4]तदेवं यथोक्तसहकारि[5]कारणसव्यपेक्षादन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरन्वय[6]व्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽसम्भव एव; तदभावेप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात् । न खलु दृष्टादेव कारणात्कार्योत्पत्तावदृष्टकारणान्तरपरिकल्पना युक्तिः स(क्तिस)ङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

न चैवं[9]वादिनो वर्णेभ्यः स्फोटाभिव्यक्तिर्घटते; तथाहि-न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति; उक्तप्रकारेण तेषां सामस्त्यासम्भवात् । नापि प्रत्येकम्; वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्, एकेनैव वर्णेन सर्वात्मनाऽस्याभिव्यक्तत्वात् । पद[10]अर्थान्तर[11]प्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं तदुच्चारणमिति चेत्; न; तदुच्चारणेपि तत्प्रतिपत्तेरेवानुषङ्गात् । [12]यथाहि 'गौः' इति पदस्यार्थो [13]गकारोच्चारणात्प्रतीयते तथौकारोच्चारणात् 'औशनसः[14]' इति पदार्थोपि, तथा च 'गौः' इति पदादेव 'गौः, औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत । संशयो वा स्यात्-'किमेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गाद्यनेकवर्णोच्चारणं पदान्तरस्फोट[15]व्यवच्छेदेन, किं वानेकपदस्फोटाभिव्यक्तयेऽनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति ।

न च पूर्ववर्णैः स्फोटस्य संस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्जकः [16]इति न [17]वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यम्; अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानवधारणात् । [18]न खलु तत्र [19]तैर्वर्णैः गाख्यः संस्कारो निर्वर्त्यते; तस्य [20]मूर्त्तेष्वेव भावात् । नापि वासनारूपः; [21]अचेतनत्वात् । स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा [22]स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थित-

---

१ ततः संस्कारस्य सव्यपेक्षोऽन्त्यवर्णोऽर्थप्रतीतिजनक इति । २ परेण । ३ जैनानाम् । ४ उक्तप्रकारेण । ५ ताल्वादि । ६ अन्त्यवर्णसद्भावेऽर्थप्रतिपत्तिस्तदभावेऽर्थप्रतिपत्त्यभाव इत्येवम् । ७ स्फोटसद्भावेऽर्थप्रतिपत्तिः स्फोटाभावे च तदभाव इति स्फोटानुमापिकायाः । ८ दृष्टाग्निकारणाद्धूमो जलकार्यं स्यात् । ९ समस्तेभ्यो व्यस्तेभ्यो वा वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतिर्नास्तीत्येवं वादिनः । १० गौरित्यत्र गाभिव्यक्तस्फोटप्रतिपन्नार्थाद्गोलक्षणादन्यपदाभिव्यक्तस्फोटप्रतिपन्नार्थोऽर्थान्तरम्, प्रकृतात्पदार्थादन्यः पदार्थः पदार्थान्तरम् । ११ घटादिपदस्फोट । १२ पदार्थप्रतिपत्तिं दर्शयन्त्याचार्याः । १३ एकस्य गकारस्य । १४ उशनसि शब्दे भव औशनसः शुक्र इत्यर्थः । १५ कृत्वा । १६ हेतोः । १७ उत्तरवर्ण । १८ कथम्? तथा हि । १९ वर्णैः । २० पदार्थेषु । २१ वासनायाश्चेतनत्वात् । २२ मीमांसक ।

स्थापकः; अस्यापि[1] मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य चाऽमूर्त्तत्वाभ्युपगमात्[2]।

किञ्च, असौ संस्कारः स्फोटस्वरूपः, तद्धर्मो वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वानुषङ्गात्[3] । द्वितीयविकल्पोऽसम्भाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः । स्फोटात्तस्याव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्याऽनित्यत्वानुषङ्गात् स्वाभ्युपगमविरोधः। ततस्तद्धर्मस्य व्यतिरेके सम्बन्धा[4]नुपपत्तिः तदनुपकारकत्वात्। तस्योपकारा[5]भ्युपगमे[6] व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पानुषङ्गः, तत्रापि पूर्वोक्त एव दोषोऽनवस्थाकारी। न च व्यतिरिक्त[7]धर्म[8]सद्भावेऽपि[9] स्फोटस्यानभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्[10][11]। तत्त्यागे चाऽनित्यत्व[12]प्रसक्तिः।

किञ्च, पूर्ववर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियते, सर्वात्मना वा? यद्येकदेशेन; तदा तद्देशानामप्यतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः । सर्वात्मना तु संस्कारे[13] सर्वत्र सर्वेषां[14] ततोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्[15]।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्[16], आवरणापनयनं वा? यद्यावरणापनयनम्; तदैकत्र[17]ैकदा[18]ऽऽवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदा व्यापिनित्यतयोपलभ्येत, नित्यव्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात्। अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा न क्वचित्कदाचित्केन[19]चिदप्युपलभ्येत[20]। अथैकदेशेना[21]वरणापगमः क्रियते; नन्वेवमावृतानावृतत्वेन सावयवत्व[22]मस्यानुषज्येत। अथाऽविनिर्भागत्वा[23]देकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतोऽभ्युपगम्यते[24]; तर्हि तदवस्थो[25]ऽशेषदेशावस्थितै[26]रुपलब्धिप्रसङ्गः । यथा च निरवयत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतः तथैकत्रावृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि[27] नोपलभ्येत[28]।

---

१ स्थितस्थापकरूपकस्य। २ मीमांसकेन। ३ तथा च स्फोटनित्यत्वव्याघातः। ४ स्फोटेन सह। ५ स्फोटधर्मलक्षणसंस्कारेण स्फोटस्योपकारः क्रियते। ६ परेण। ७ स्फोटात्। ८ धर्मैः=संस्कारैः। ९ संस्कारात्पूर्वं यथाऽकृतसंस्कारस्य स्फोटस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं नास्ति। १० घटते। ११ अन्यथा। १२ स्फोटोऽनित्यः पूर्वाकारपरित्यागात् घटाकारपरिणतमृत्पिण्डवत्। १३ स्फोटस्य। १४ प्राणिनाम्। १५ व्यापकत्वनित्यत्वात्। १६ प्रतिपत्तॄणाम्। १७ एकस्थानेक। १८ स्फोटकाले। १९ नरेण। २० नित्यव्यापिनः सदैकस्वभावत्वात्। २१ न सर्वात्मना। २२ ततश्च निरंशत्वव्याघातः। स्फोटो न निरंशः आवृताऽनावृतदेशत्वात्। २३ निरंशत्वात्। २४ मीमांसकेन। २५ पूर्ववत्। २६ नृभिः। २७ ईषत्। २८ स्फोटः।

अथ स्फोटविषयसंवेदनोत्पादस्तत्संस्कारः[1]; सोप्ययुक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्तिजनने[2]पि सामर्थ्यासम्भवात्[3], न्यायस्य समानत्वात्।

अथ मतम्[4]-पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहित[5]संस्कारस्यात्मनो[6]ऽन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं पदादिस्फोटस्याभिव्यक्तेरयमदोषः; तदप्यसङ्गतम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धेः[7] स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात्। [8]चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यासम्भवाच्च स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु[9]। 'स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्' इति[10] स्फोटश्चिदात्मा। पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पद[11]स्फोटः[12]। वाक्यार्थ[13]ज्ञानावरणवीर्यान्त[14]रायक्षयोपशमविशिष्ट[15]स्तु वाक्यस्फोटः इति[16]। भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्तथाभिधानाऽविरोधात्।

वायवः[17] स्फोटाभिव्यञ्जकाः; इत्यप्ययुक्तम् शब्दा[18]भिव्यक्तिवत्स्फोटाभिव्यक्तेस्तेभ्योऽनुपपत्तेः। तेषां च व्यञ्जकत्वे[19] वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तावर्थप्रतिपत्तौ चामीषामनुपयोगात्[20]। स्थिते[21] च स्फोटस्य वर्णवायूत्पादात्पूर्वं सद्भावे वर्णानां वायूनां वा व्यञ्जकत्वं परिकल्प्येत। न चास्य सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रतिपन्नः। यच्चोक्तम्—

"नादेन[22]ाऽहितबीजायाम्[23]न्त्ये(न्त्ये)न ध्वनिना[24] सह।
आवृत्ति[25]परिपाका[26]यां बुद्धौ[27] शब्दो[28]ऽवभासते॥"

[वाक्यप० १।८५] इति;

तदप्येतेना[29]पाकृतम्; नित्यत्व[30]मन्तरेणामपि चार्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादित[31]मेव।

---

१ प्रथमपक्षः। २ पुरुषं प्रति। ३ समस्ता व्यस्ता वा वर्णाः स्फोटप्रतिपत्तिं जनयन्तीत्यादिप्रकारेण। ४ मीमांसकस्य तव। ५ जनित। ६ पुरुषस्य। ७ तथा च। ८ ज्ञान। ९ कथम्? तथा हि। १० हेतोः। ११ आत्मा। १२ भवति। १३ कथमिदानीं द्वैविध्यमस्य स्यादित्याशङ्कायामाह। १४ वीर्यं शक्तिः। १५ आत्मा। १६ तथाभिधाने विरोधो भविष्यतीत्यत्राह। १७ वर्णा मा भवन्तु किन्तु। १८ कुतः। १९ स्फोटस्य। २० उपकाराभावात्। २१ सति। २२ पूर्ववर्णेन वायुना वा। २३ बीजः संस्कारः। २४ अन्त्यवर्णेन वायुना वा। २५ आवृत्तिः सामस्त्येनोच्चारणम्। ६२ पूर्णायाम्। २७ ज्ञाने। २८ स्फोटः। २९ वायुभ्यः स्फोटाभिव्यक्तिनिराकरणेन। ३० अनित्येभ्यो वर्णेभ्यः कथं स्यादर्थप्रतिपत्तिरित्युक्ते सत्याह। ३१ पूर्वं वर्णविचारे।

यच्च श्रवणव्यापारानन्तरमित्याद्युक्तम्[1]; तदप्यसारम्; घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्त[2]कालप्रत्यासत्ति[3]विशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्यैकस्याध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात्। न[4] चाभिन्न[5]प्रतिभासमात्रादभिन्नार्थव्यवस्था, अन्यथा दूरादविरलानेकतरुषु एकप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात्। न चास्य बाध्य[6]मानत्वा[7]न्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्; स्फोटप्रतिभासेपि बाध्यमानत्वस्य प्रदर्शितत्वात्। न खलु निरवयवोऽक्रमो नित्यत्वादिधर्मोपेतोऽसौ[8] क्वचिदपि प्रत्ययेऽवभासते।

कथं चैवं शब्दस्फोटवद्गन्धादिस्फोटोप्यऽर्थप्रतीतिनिमित्तं न स्यात्[9]? यथैव हि शब्दः कृत[11]सङ्केतस्य क्वचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुस्तथा गन्धादि[12]रर्थ[13]विशेषात्। 'एवं[14]विधमेकं गन्धं समाघ्राय स्पर्शं च संस्पृश्य रसं चास्वाद्य रूपं चालोक्य त्वयैवंविधोर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथा[15]विधार्थनिर्णयप्रसिद्धो गन्धादिविशेषाभिव्यङ्ग्यो गन्धादिस्फोटोऽस्तु [वर्ण]विशेषाभिव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत्।

एतेन[16] हस्तपादकरणमात्रिकाङ्गहारादिस्फोटोप्यापादितो द्रष्टव्यः। पदादिस्फोट एव, न तु स्वा[17]वय[18]वक्रियाविशेषाभिव्यङ्ग्यो हंसपक्ष्मादिर्हस्तस्फोटः, विकुट्टिता[19]दिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमा[20]योगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपो मात्रिकास्फोटः, मात्रिकासमूहलक्षणोऽङ्गहारस्फोटो वेति मनोरथमात्रम्; तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यङ्ग्यस्य स्वाभिनेया[21]र्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात्। तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटाभिनिवेशो दूरतः परि-

---

१ परेण। २ घकारात् टकारो व्यावृत्त इत्यादिप्रकारेण। ३ पूर्वक्षणे घकारोच्चारणमुत्तरक्षणे टकारोच्चारणमिति। ४ यद्यपि घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटः प्रत्यक्षविषयत्वेन नावभासते तथापि अभिन्नप्रतिभासोस्ति। ननु ततः स्फोटव्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ५ शब्देषु स्फोटस्य। ६ समीपं गते सति। ७ अनेकतरुप्रतीत्या। ८ स्फोटः। ९ श्रवणेन्द्रियविषयभूते शब्दे शब्दस्यार्थप्रतिपादकत्वाभावादर्थप्रतिपत्त्यर्थं स्फोटकल्पने घ्राणेन्द्रियादिविषयेषु गन्धादिषु तदर्थं चत्वारः स्फोटाः कल्पनीयास्तेषामपि तदभावादिति भावः। १० गन्धादिस्फोटनिराकरणद्वारेण शब्दादिस्फोटं निराकुर्वन्तीति भावः। ११ अस्य शब्दस्यायमर्थ इति। १२ जातिकुसुमादीनामश्व्यादीनामाम्रफलादीनां कामिन्यादीनां च प्रतिपत्तिहेतुः। १३ अर्थे कृतसंकेतस्य। १४ गन्धादिस्फोटस्य कथं सङ्केत इत्याशङ्कायामाह। १५ यथाविधः पूर्वं श्रुतः। १६ गन्धादिस्फोटापादनपरेण ग्रन्थेन। १७ नर्तनसमये नृत्यकारस्य। १८ अवयवाः=हस्तपादादयोङ्गुल्यादयश्च। १९ विकुट्टितं भ्रमणम्। २० युगपद्व्यापारः समायोगः। २१ अभिनेयः=अनुकरणम्।

त्याज्यः [1]आक्षेपसमाधानानामुभयत्र[2] समानत्वात् । ततः शब्दस्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् । किन्तु पदं वाक्यं वा तन्निबन्धनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् ।

किं पुनः पदं वाक्यं वा यन्निबन्धनाऽर्थप्रतिपत्तिरिति[3] अभिधीयते[4] ? वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः[5] समुदायः पदम् । पदानां तु [6]तदपेक्षाणां निरपेक्षः[7] समुदायो वाक्यमिति । [8]नन्वेवं कथमिदं [9]साधनवाक्यं[10] घटते–'[11]यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घटः, संश्च शब्दः' इति ? 'तस्मात्परिणामी' इत्याकाङ्क्षणात्[12] साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः[13]; इत्यप्यचोद्यम्; [14]कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तृ[15]धर्मो वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मस्तस्या[16]चेतनत्वात् । स चेत्प्रतिपत्ता [17]तावता[18]र्थं प्रत्येति, [19]किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायाम् निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसङ्गान्न [20]कंचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः । [21]तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः[22] कस्यचित्स्यात् । [23]ततो यस्य[24] प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेन[25] प्रकरणादि[26]गम्य[27]पदान्तरसापेक्षश्रूयमाणसमुदायस्य नि-

---

१ (जैनमतापेक्षया) अवयवक्रियाभिनेयार्थव्यतिरेकेणान्यार्थस्य हस्तपादादिस्फोटलक्षणस्याप्रतिभासनलक्षण आक्षेपस्तर्हि वर्णार्थव्यतिरेकेणान्यस्य स्फोटलक्षणार्थस्याप्रतिभासनमिति समाधानम् । ननु वर्णानामनित्यत्वेनार्थप्रतिपादकत्वायोगात्स्फोट एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरित्यभ्युपगन्तव्यम् । तन्न; क्रियाया अप्यनित्यत्वेनाभिनेयार्थप्रतिपादकत्वायोगाद्धस्तादिस्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः (मीमांसकेन) इति । २ पदादिस्फोटहस्तादिस्फोटयोः । ३ प्रश्ने सति । ४ जैनैः । ५ पदान्तरगतवर्णनिरपेक्षः । ६ परस्पर । ७ वाक्यान्तरपदात् । ८ निरपेक्षस्य पदसमुदायस्य वाक्यत्वप्रकारेण । ९ साध्यसिद्धौ । १० जैनस्य तव । ११ सर्वं परिणामि सत्त्वादिति योज्यम् । १२ आकाङ्क्षणे वाक्यत्वं कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह साकाङ्क्षस्येति । १३ जैनस्य । १४ व्युत्पन्नस्य यस्य हि प्रतिपत्तुस्तस्मात्परिणामीत्यत्राकाङ्क्षाक्षयस्तदपेक्षया तद्वाक्यं भवत्युक्तवाक्यलक्षणसद्भावात्, नान्यापेक्षया । १५ चेतन । १६ शब्दोऽचेतन इति वचनात् । १७ साधनवाक्यमात्रेण । १८ साध्यार्थम् । १९ तर्हीति शेषः । २० वाक्ये । २१ निराकाङ्क्षत्वसिद्ध्यभावे च । २२ क्वचित् । २३ वाक्याभावाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्नास्ति यतः । २४ अर्थप्रतिपत्तिमिच्छतः पुरुषस्य । २५ वाक्यसिद्धिप्रकारेण । २६ आदिना सामर्थ्यम् । २७ तिष्ठतिभवतीत्यादि ।

राकाङ्क्षस्य[1] सत्यभामादिपदै[2]वद्वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्।

यच्चोच्[3]यते—

“आ[4]ख्यात[5]शब्दः स[6]ङ्घातो जा[7]तिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः श[8]ब्दः क्र[9]मो बुद्ध्यऽनु[10]संहृती॥ १॥
पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥ २॥”
[वाक्यप० २।१-२]

इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात्? न तावदाद्यः पक्षः; पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वात्। अन्य[11]था आख्यातपदाभावः स्यात्। द्वितीयपक्षेपि क्व[12]चिन्निरपेक्षोसौ, न वा? प्रथमपक्षेऽस्म[13]न्म[14]तप्रस[15]ङ्गः। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य क्व[16]चिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वाऽयोगाद[17]र्द्धवाक्यवत्।

संघातो वाक्यमित्य[18]त्रापि देशकृतः, कालकृतो वा वर्णा[19]नां संघातः स्या[20]त्? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन्देशेऽवस्थित्या संघा[21]तत्वासम्भवात्। द्वितीयविकल्पे तु पदरूपतामापन्नेभ्यो वर्णेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा? न तावद्भिन्नोनंशः[22]; तथाविधस्यास्याऽप्रतीतेः, संघातत्वविरोधाच्च वर्णान्तर[23]वत्। अथ तेभ्योऽभिन्नोसौ; किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा? सर्वथा चेत्; कथम[24]सौ संघातः संघा[25]तिस्वरूपवत्? अ[26]न्यथा प्रतिवर्णं संघातप्रसङ्गः। न चैको वर्णः संघातो ना[27]मातिप्रसङ्गात्। कथञ्चिच्चेत्; जैनमतप्रस[28]ङ्गः—परस्परापेक्षाऽना[29]काङ्क्षपदरूपतापन्न-

---

१ प्रकरणादिगम्यपदान्तरादपरवाक्यान्तरपदस्य। २ पदसमुदायस्य प्रकरणादिगम्यतिष्ठतीत्यादिपदान्तरसापेक्षस्य वाक्यत्वं यथा तद्वदत्रापि विचारणीयम्। ३ वाक्यस्य लक्षणान्तरम्। ४ भवतिगच्छतीत्यादिः। ५ वाक्यम्। ६ वर्णानाम्। ७ वर्णत्वलक्षणा। ८ स्फोटः। ९ वर्णानाम्। १० अनुसंहृतिः=परामर्शः। ११ आख्यातशब्दस्य वाक्यत्वे। १२ वाक्यान्तरे। १३ जैन। १४ असदुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्येच्छयाभ्युपगमात्। १५ निरपेक्षत्वात्। १६ पदान्तरे। १७ देवदत्त गामित्यादिवत्। १८ पक्षे। १९ पदानां वा। २० वाक्यम्। २१ सकृत्। २२ खपुस्तके ‘नंश’ इति पाठो नास्त्येव। पदेभ्यो भिन्न इत्यर्थः। २३ एकस्य वर्णस्य संघातत्वं विरुद्धं यथा। २४ वर्णः। २५ संघातः सर्वथा संघातिभ्यो वर्णेभ्योऽभिन्नोपि यदि स्यात्तर्हि। २६ अस्तु इत्युक्ते सत्याह। २७ एकार्थव्यक्तेरपि जातित्वप्रसङ्गात्। २८ एकस्मिन्वर्णे विवर्तमाने (वर्णसमूहान्नष्टे सति) संघातो न निवर्त्तते इति भिन्नः। वर्णेभ्यो (पक्षे पदेभ्यः) भेदेनानुपलभ्यमानत्वादभिन्नः (संघातः) इति। २९ वाक्यान्तरपदेभ्यः।

वर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसंघातस्य कथञ्चिद्वर्णेभ्योऽभिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात्। साकाङ्क्षान्योन्यानपेक्षा[2]णां तु तेषां[1] वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुषङ्गः।

ए[3]तेन जा[4]तिः संघातवर्त्ति[5]नी वाक्यम्; इत्यपि नोत्सृष्टम्; निराकाङ्क्षान्योन्यापेक्षपदसंघातवर्त्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चि[6]त्ततोऽभिन्नाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा संघातपक्षोक्ताशेषदोषानुषङ्गः[7]।

एको[8]नवयवः शब्दो[9] वाक्यम्; इत्येतत्तु मनोरथमात्रम्; तस्याप्रामाणिकत्वात्, स्फोटस्यार्थप्रतिपादकत्वेन प्रागेव प्रतिविहितत्वात्।

क्र[10]मो वाक्यमित्येतत्तु संघातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तद्दोषेणैव तद्दुष्टं द्रष्टव्यम्।

बु[11]द्धिर्वाक्यमित्य[12]त्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात्? प्रथमप्रकल्पनायां सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्यान्त्यवर्णश्रवणाऽनन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतोर्बुद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्याऽस्मा[13]भिरभीष्टत्वात्। द्रव्यवाक्यरूपतां तु बुद्धेः कश्चेतनः श्रद्दधीत प्रतीतिविरोधात्[14]?

ए[15]तेनानुसंहति[16]र्वाक्यम्; इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य चेतसि प[17]रिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात्।

'आ[18]द्यं पदमन्त्य[19]मन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवा[20]क्याद्भिद्यते, परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा[21] पदासिद्धेरभावानुषङ्गः स्या[22]त्।

---

१ पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति। २ वाक्यान्तरपदेभ्यः। ३ संघातो वाक्यमित्येतन्निराकरणपरेण ग्रन्थेन। ४ सर्वेषु वर्णेषु वर्णत्वलक्षणा। ५ श्रोत्रग्राह्यत्वेन ताल्वादिव्यापारजनितत्वेन वा, न सर्वथा। ६ पदेभ्यो वर्णेभ्यश्च। ७ प्रतिवर्णं वाक्यत्वप्रसङ्गरूपः। ८ निरंशः। ९ स्फोटः। १० एको वर्णः समुत्पद्यते पश्चाद्द्वितीयः ततस्तृतीय इत्यादिप्रकारेण वर्णानां क्रमः। ११ वर्णानाम्। १२ पक्षे। १३ जैनैः। १४ अचेतनत्वाद्वाक्यानां चेतनत्वाद्बुद्धेश्च। १५ बुद्धिर्वाक्यमित्येतन्निराकरणपरेण ग्रन्थेन। १६ पदरूपतामापन्नानां वर्णानां परामर्शोऽनुसंहतिः। १७ प्रतिभासमानस्य। १८ 'देवदत्तः' इति। १९ 'गच्छति' इति। २० परस्परापेक्षादि इत्यस्मात्। २१ परस्परापेक्षारहितं पदं यदि वाक्यम्। २२ सर्वस्य पदस्य वाक्यत्वात्।

अन्ये[1] मन्यन्ते-'पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते[2]।

"पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं[3] तद्भावनावर्तः[4]।"
[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः।"
[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्; तेप्यन्धसर्प[5]बिलप्रवेशन्यायेनोक्तं[6]वाक्यलक्षणमेवानुसरन्ति; अन्योन्यापेक्षानाकाङ्क्षाक्षरपदसमुदायस्य वाक्यत्वेन तैरप्यभ्युपगमात्।

यदि[7] च पदान्तरार्थै[8]रन्वितानां[9][10]मेवा[11]र्थानां पदै[12]रभिधानात्पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्; तदा देवदत्त[13]पदेनैव देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानाच्छेष[14]पदोच्चारणवैयर्थ्यम्[15]। प्रथम[16]पद[17]स्यैव च वाक्यरूपताप्रसङ्गः। यावन्ति वा पदानि तावतां वाक्यत्वं यावन्तश्च पदार्थास्तावतां वाक्यार्थत्वं स्यात्। अविवक्षित[18]पदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न 'गाम्' इत्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यम्; इत्यत्राप्यावृत्त्या[19] वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्-प्रथमपदेनाभिहितस्य द्वितीयादिपदाभिधेयैरन्वितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात्[20]।

अथ द्वितीयादिपदैः[21] स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानं नाद्यपदेन[22] अतो[23]यमदोषः; तर्हि यावन्ति पदानि तावन्तस्तदर्थाः पदान्तराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावत्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः?

---

१ भट्टप्राभाकराः। २ अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेः। ३ कारणत्वं वाक्यार्थं प्रति। ४ वाक्यार्थस्य। ५ पिपीलिकाद्युपद्रवभयाद्बिलपरित्यागे भ्रमित्वा पुनरपि तत्रैव प्रवेशो यथा तथानिच्छया स्वीकारोन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायः। ६ जैनोक्तं। ७ वाक्यविचारानन्तरं वाक्यार्थं विचारयन्नाह। ८ गामित्यादिपदान्तरार्थैः। ९ सम्बद्धानाम्। १० देवदत्तलक्षणोर्थो गामित्यादिपदार्थैरन्वितो गामित्यादिपदार्थाश्च पूर्वोत्तरपदार्थैरन्विता भवन्ति। ११ सर्वथा। १२ केवलैर्देवदत्तादिकैः। १३ एकेन। १४ गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति। १५ पूर्वपदार्थस्योत्तरपदार्थैः सर्वथान्वितत्वात्। १६ तथा च। १७ देवदत्तेति। १८ विवक्षिताद् देवदत्त इत्युक्ते गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादिपदार्थादविवक्षितो देवदत्तेत्युक्ते पठ गच्छ याहि पिबेत्यादि पदार्थः तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्। १९ पुनः पुनः प्रवृत्तिरावृत्तिः। २० एकस्यैवार्थस्य। २१ देवदत्तपदापेक्षया गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति पदैः। २२ द्वितीयादिपदार्थस्याभिधानं प्रधानभावेन। २३ न द्वितीयादिपदार्थस्याभिधानं प्रधानभावेन यतः।

न ह्य[1]न्त्यपदो[2]च्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तेर्वाक्यार्थावबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात् तदर्थस्यावान्त[3]रपदाभिधेयैरन्वितस्य[4], द्वितीयादिपदोच्चारणाच्चाऽशेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्र[5]तिपत्तेरित्यत्र निमित्तमुत्प[6]श्यामः।

अ[7]थ 'ग[8]म्यमानैस्तैस्त[9]स्यान्वितत्वम् न पुनरभिधीय[10]मानैः तेनायमदोषः; कि[11]मिदा[12]नीमभिधीयमान एव पद[13]स्यार्थः? तथोप[14]गमे कथमन्विताभि[15]धानम्-विवक्षितप[16]दस्य गम्यमानपदान्त[17]राभिधेयार्थानामविषयत्वात्?

अथ पदानां द्वौ व्यापारौ—स्वार्थाभिधानव्यापारः, प[18]दान्तरार्थगमकत्वव्यापारश्च। कथमेवं[19] पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या[20] न स्यात्? पदव्यापारात्प्रतीयमानस्येव गम्यमानस्यापि पदार्थत्वात्। न च पदव्यापारात्प्रतीयमानत्वाविशेषेपि कश्चिदभिधीयमानः कश्चिद्गम्यमान इति विभागो युक्तः।

ननु पदप्रयोगः प्रेक्षावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थः, वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाभिधीयेत? न तावत्प[21]दार्थप्रतिपत्त्यर्थः; अस्य प्र[22]वृत्त्यऽहेतुत्वात्। अथ वाक्यार्थप्रतिप[23]त्त्यर्थः; तदा पदप्रयोगानन्तरं पदार्थे प्रतिपत्तिः साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदार्था[24]न्तरे तु गमकत्वव्या[25]पारः; तदप्यसाम्प्रतम्; 'वृक्षः' इति पदप्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तेः। तदर्थाच्च प्रतिपन्नात् 'तिष्ठति' इत्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीतेः, तत्र प[26]दस्य साक्षाद्व्यापाराऽभावतो गमकत्वायोगात् त[27]दर्थस्यैव

१ उक्तमेव समर्थयन्ति। सर्वेभ्यः पदेभ्यो वाक्यार्थावबोधो, भवतीति परस्याभिप्रायं मनसि धृत्वा वक्ति जैनः। २ दण्डेनेति। ३ प्रकृतादुच्चार्यमाणात्पदादन्यत्पदं पदान्तरम्। ४ प्रतिपत्तेर्वाक्यार्थावबोधो, न पुनरिति। प्राक्तनं न पुनरिति पदमत्र सम्बन्धनीयम्। ५ वाक्यार्थावबोधो, न पुनरिति सम्बन्धः। ६ वयं जैनाः। ७ पदान्तराभिधेयार्थैरन्वितत्वे आवृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्तिलक्षणदोषो जायते तन्निरासार्थं पदान्तरार्थानां गम्यमानाभिधेयमानौ द्वावर्थाविति परो वदति। ८ पदान्तरैर्ज्ञायमानैर्गोचरीकृतैरित्यर्थः। ९ उच्चार्यमाणपदार्थस्य। १० उच्यमानैर्द्वितीयादिपदार्थैः। ११ आक्षेपः। १२ एवं प्रतिपादनसमये। १३ ज्ञायमानो न भवति। १४ परेणाङ्गीकृते सति। १५ पूर्वपदार्थ उत्तरपदार्थैरन्वित इति। १६ देवदत्तादेः। १७ गामित्यादि। १८ द्वितीयादि। १९ सति। २० पुनः पुनः। २१ केवलं देवदत्तपदार्थस्य केवलमभ्याजेति पदार्थस्य चेति। २२ प्रयोजनार्थिनां पुंसां प्रवृत्तिहेतुर्न भवति। नहि गौरिति शब्दश्रवणात्प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा घटते। २३ पदप्रयोगः। २४ गम्ये। २५ ततश्चान्वितत्वमेव शब्दार्थः। २६ वृक्ष इत्यादेः। २७ वृक्षपदार्थस्य।

तद्धर्मकत्वात्[1]। परम्परया[2] तत्रास्य[3] व्यापारे[4] लिङ्गवचनस्य[5] लिङ्गि[6]प्रतिपत्तौ व्यापारोऽस्तु, तथा च शाब्दमेवानुमानज्ञानं स्यात्। लिङ्गवाचकाच्छब्दाल्लिङ्गस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दी, न पुनस्तत्प्रतिपन्नलिङ्गाल्लिङ्गिप्रतिपत्तिरतिप्रसङ्गात्; तर्हि वृक्षशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाब्दी मा भूत्तत एव, अस्य स्वार्थ[11]प्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिङ्ग[12]शब्दवत्।

किञ्च[13], विशेष्य[14]पदं विशेष्यं[15] विशेषणसामान्येनान्वितम्, विशेषण[16]विशेषेण वाऽभिधत्ते, तदुभयेन वा? प्रथमपक्षे विशिष्ट[17]वाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोधः। द्वितीयपक्षे तु निश्चयासम्भवः–प्रतिनियतविशेषणस्य शब्देना[18]निर्दिष्टस्य स्वोक्त[19]विशेष्ये[20]ऽन्वय[21]संप्रतीतेः, विशेषणान्तराणा[22]मपि सम्भवात्[23]। वक्तुरभिप्रायात्प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रान्वयश्चेत्; न; यं प्रति शब्दोच्चारणं तस्य वक्त्रभिप्रायाऽप्रत्यक्षतस्तदनिर्णयप्रसङ्गात्, आत्मानमेव प्रति वक्तुः शब्दोच्चारणानर्थक्यात्। तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषङ्गः।

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन वान्वितस्य साधनस्य[24], साधनसामान्येन साधनविशेषेण तदुभयेन वान्विताया[25]: प्रतिपादनमाख्यातेन प्रत्याख्यातम्।

यदि च पदात्पदार्थे उत्पन्नं ज्ञानं वाक्यार्थाध्यवसायि स्यात्; तर्हि चक्षुरादिप्रभवं रूपादिज्ञानं गन्धाध्यवसायि किन्न स्यात्? अथास्य गन्धादिसाक्षात्कारित्वाभावान्नायं दोषः; तर्हि पदोत्थपदार्थज्ञानस्यापि वाक्यार्थावभासित्वाभावात्कथं तदध्यवसायित्वं

---

१ सामर्थ्यात्। २ वृक्षशब्दाच्छाखादिमदर्थप्रतिपत्तिस्तस्याः सकाशात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिरिति परम्परा। ३ वृक्षपदस्य। ४ परेणाङ्गीकृते सति। ५ धूमवचनस्य। ६ लिङ्गी=अग्निः। ७ किंतु न लिङ्गप्रभवम्। ८ शाब्दी। ९ प्रत्यक्षप्रतीतिरिन्द्रियादुत्पद्यमाना शाब्दी स्यात्। १० वृक्षशब्दस्य शाखादिमत्यर्थे साक्षाद्व्यापारः स्थानाद्यर्थे तु परम्परयेति। ११ शाखादिमदर्थे। १२ यथा लिङ्गवाचकः शब्दो धूमप्रतिपत्तौ पर्यवसितः सन्नग्निगमको न भवति, धूमस्यैव गमकस्तथा वृक्षशब्दः शाखादिमदर्थस्य वाचको भवति, न पदार्थान्तरगमकः। १३ अन्विताभिधानपक्षे दूषणमाह। १४ गामिति कर्तृ। १५ गोलक्षणम्। १६ शुक्लेति। १७ प्रतिनियतविशेषविशिष्ट। १८ शुक्लमिति शब्देन। १९ गामिति शब्देन। २० साक्षादिमदर्थे गोपिण्डे। २१ या गौः सा किं शुक्लेन विशिष्टा कृष्णेन वेति। २२ कृष्णादीनाम्। २३ शब्देनानिर्दिष्टत्वाविशेषात्। २४ गामित्यादिकारकपदस्य क्रियाकाङ्क्षित्वे विकल्पत्रयम्। २५ अभ्याजेत्यादिक्रियापदस्य कारकपदाकाङ्क्षित्वे विकल्पत्रयम्।

स्यात्? चक्षुरादेर्गन्धादाविव पदस्य वाक्यार्थसम्बन्धा[1]नवधारणतः सामर्थ्यानुपपत्तेः। तन्नान्विता[2]भिधानं श्रेयः।

नाप्य[3]भिहितान्वयः[4]; यतोऽभिहिताः पदै[5]रर्थाः शब्दान्तराद[6]न्वीयन्ते[7], बुद्ध्या वा? न तावदाद्यः पक्षः; शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्याभिहितान्वयनिबन्धनस्याभावात्। द्वितीयपक्षे तु बुद्धि[9]रेव वाक्यं ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः, न पुनः पदान्येवं[10]। ननु पदार्थेभ्योऽपेक्षा[11]बुद्धिसन्निधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परस्परया पदेभ्य एव भावान्नातो व्यतिरिक्तं वाक्यम्; तर्हि प्रकृत्यादि[12]व्यतिरिक्तं पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानाम[13]भिधाने अभिहितानां वा[14]न्वये पदार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः।

ननु 'पदमेव लोके वेदे वार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हम् न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा, पदादपोद्धृत्य[15] तद्व्युत्पादनार्थं[16] यथाकथञ्चित्तदभिधानात्। तदुक्तम्–"अथ[17] गौरित्यत्र कः शब्दः[18]? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः[19]" [शाबरभा० १।१।५] इति। यथैव हि वर्णोऽनंशः प्रकल्पितमात्रा[20]भेदै[21]स्तथा 'गौः' इति पदमप्यनंशमपोद्धृता[22]कारादिभेदं स्वार्थ[23]प्रतिपत्तिनिमित्तमवसीयते। इत्यप्यनालोचिताभिधानम्; वाक्यस्यैवं[24] तात्त्विकत्वप्रसिद्धेः, तद्व्युत्पादनार्थं ततोऽपोद्धृत्य[25] पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे वा[26]र्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात्[27]। तदुक्तम्—

"द्विधा[28] कैश्चित्पदं भिन्नं[29] चतुर्धा[30] पञ्चधा[31]पि वा।
अपोद्धृत्यैव[32] वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्यया[33]दिवत्॥"
[ ] इति।

---

१ वाच्यवाचकलक्षण। २ पदार्थान्तरैरन्विता अर्थां इति। ३ इति प्राभाकरमतं निरस्य भाट्टमतनिरासार्थमाह। ४ वाक्यार्थः। ५ देवदत्तादिकैः। ६ एकेन शब्दान्तरेण। ७ परस्परं सम्बध्यन्ते। ८ एकेन पदान्तरेण सर्वेषां पदार्थो ज्ञातो भवेत्तदा तेन कृत्वा सम्बन्धप्रतिपत्तिर्यतः। ९ पदपरिज्ञानम्। १० वाक्यम्। ११ यसः। १२ आदिपदेन प्रत्ययधात्वादिग्रहणम्। १३ परस्परं सम्बद्धानाम्। १४ क्रियाकारकरूपे विशेषणविशेष्यरूपे च। १५ पृथक्कृत्य। १६ पदनिष्पत्त्यर्थम्। १७ अहो। १८ पदसंज्ञकः। १९ (उपवर्षनामा ऋषिः) प्राह। २० मात्राः उदात्तादयः। २१ वसः। २२ कल्पित। २३ साक्षादिमदर्थं। २४ उक्तप्रकारेण। २५ पदानि। २६ अर्थःप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः। २७ न तु गामिति पदेन कस्यचित्प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा घटते यतः। २८ सुबन्तं तिङन्तं पदमित्यादि। २९ पृथक्कृतम्। ३० नामाऽऽख्यातनिपातकर्मप्रवचनीयभेदेन। ३१ उपसर्गाधिकम्। ३२ पदानि। ३३ तद्यथा पदादपोद्ध्रियते तथा वाक्येभ्यः पदान्यपोद्ध्रियन्ते इति भावः।

ततः प्रकृत्याद्यवयवेभ्यः कथञ्चिद्भिन्न[1]मभिन्नं[2] च पदं प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्, न तु सर्वथाऽनंशं वर्णवत्[3]तद्ग्राहकाभावात्। तद्वत्पदेभ्यः कथञ्चिद्भिन्न[4]मभिन्नं[5] च वाक्यं द्रव्य[6]भाववाक्यभेदभिन्नं प्रोक्त[7]लक्षणलक्षितं प्रतीतिपदमारूढमभ्युपगन्तव्यम् अलं प्रतीत्यपलापेनेति।

प्रामाण्यं[8] सुधियो[9] धियो यदि मतं संवादतो निश्चितात्,
स्मृत्यादेरपि किन्न तन्[10]मतमिदं तस्या[11]ऽविशेषात्स्फुटम्।
तत्[12]संख्या परिकल्पितेयमधुना[13] सन्तिष्ठतेऽतः कथम्,
तस्माज्जैनमते मतिर्मतिमतां स्थेयाच्चिरं निर्मले ॥ १ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ श्रीः ॥

---

१ पदं प्रकृतिर्न भवति, पदं च प्रकृतिर्नेति व्यावृत्तिरूपेण। २ समुदायरूपेण। ३ निरंशस्य वर्णस्य यथा ग्राहकं प्रमाणं नास्ति तथाऽनंशपदस्य च। ४ पदं वाक्यं न भवति, वाक्यं च पदं न भवतीति व्यावृत्तिरूपेण। ५ समुदायरूपेण। ६ वचनात्मकं द्रव्यवाक्यं, बोधात्मकं तु भाववाक्यम्। ७ पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति। ८ सकलं परिच्छेदार्थमुपसंहरन्नाह। ९ पुंसः। १० प्रामाण्यम्। ११ संवादस्य। १२ तस्य=प्रमाणस्य। १३ स्मृत्यूहादीनां प्रामाण्यप्रतिपादनसमये।

श्रीः ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ॥

अथोक्त[1]प्रकारं प्रमाणं किं निर्विषयम्, सविषयं वा? यदि निर्विषयम्; कथं प्र[2]माणं केशोण्डुकादिज्ञानवत्? अथ सविषयम्; कोस्य विषयः? इत्याशङ्क्य विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं 'सामान्यविशेषात्मा' इत्याद्याह—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥ १ ॥

तस्य प्रतिपादितप्रकारप्रमाणस्यार्थो विषयः । किंविशिष्टः? सा[3]मान्यविशेषात्मा । कुत ए[4]तत्?

पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेन अर्थक्रियोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अ[5]नुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, यो हि यदाकारोल्लेखि[6]प्रत्ययगोचरः स तदात्मको दृष्टः यथा नीलाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरो नीलस्वभावोर्थः, सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोर्थः, तस्मात्सामान्यविशेषात्मेति । न केवलमतो हेतोः स तदात्मा, अपि तु पूर्वो[7]त्तराकारपरिहारावाप्तिस्थि[8]तिलक्षणपरिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च । 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थः' इत्यभिसम्बन्धः ।

कतिप्रकारं सामान्यमित्याह—

सामान्यं द्वेधा ॥ ३ ॥

कथमिति चेत्—

तिर्यगूर्द्ध्वताभेदात् ॥ ४ ॥

तत्र तिर्यक्सामान्यस्वरूपं व्य[9]क्तिनिष्ठतया सोदाहरणं प्रदर्शयति—

---

१ स्वापूर्वेत्यादि । २ ज्ञानं धर्मि प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मो निर्विषयत्वात्केशोण्डुकज्ञानवत् । ३ सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ तावात्मानौ यस्य स तथोक्तः । ४ सिद्धम् । ५ गौर्गौरित्यादिप्रत्ययः अनुवृत्तः । श्यामः शबलो न भवतीत्यादिप्रत्ययो व्यावृत्तरूपः । ६ उल्लेखः=प्रतिभासः । ७ पूर्वोत्तराकारौ पर्यायौ=विशेषः । ८ स्थितिलक्षणं द्रव्यमूर्द्ध्वतासामान्यम् । ध्रौव्यमित्यर्थः । ९ विशेषो व्यक्तिः ।

स[1]दृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ५ ॥

न[2]नु खण्डमुण्डादिव्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्य भ[3]वत्कल्पितसामान्यस्याप्रतीतितो गगनाम्भोरुहवदसत्त्वादसाम्प्रतमेवेदं तल्लक्षणप्रणयनम्; इत्यप्यसमीचीनम्; 'गौर्गौः' इत्याद्यबाधितप्रत्ययविषयस्य सामान्यस्याऽभावासिद्धेः। तथाविधस्याप्यस्यास[4]त्त्वे विशेषस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तथाभूत[5]प्रत्ययत्वव्यतिरेकेणापर[6]स्य त[7]द्व्यवस्थानिबन्धनस्यात्रा[8]प्यसत्त्वात्। अबाधितप्रत्ययस्य च विषयव्यतिरेकेणापि सद्भावाभ्यु[9]पगमे ततो व्यवस्थाऽभावप्रसङ्गः। न चा[10]नुगताकार[11]त्वं बुद्धेर्बाध्यते; सर्वत्र देशा[12]दावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूतव्यवहारहेतोरुपलम्भात्। अ[13]तो व्यावृत्ताकारानुभवानधिगतमनुगताकारमवभासन्त्यऽबाधितरूपा बुद्धिः अनुभूयमानानुगताकारं वस्तुभूतं सामान्यं व्यवस्थापयति।

ननु विशेषव्यतिरेकेण नापरं सामान्यं बुद्धिभेदा[14]भावात्। न च बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थाऽतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"न भेदा[15]द्भिन्नमस्त्य[16]न्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेद[17]तः।
बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्न[18]ता॥"

[ ] इति;

तदप्यपेशलम्; सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात्। रूपरसादेस्तुल्यकालस्याभि[19]न्नाश्रयवर्तिनोऽप्य[20]त एव भेदप्रसिद्धेः। एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्त्योरभेदे वातातपादावप्यभेद[21]प्रसङ्गः। तत्रापि हि प्रतिभासभेदा[22]न्नान्यो भेदव्यवस्थाहेतुः। स च सामान्यविशेषयोरप्यस्ति। सामान्यप्रतिभासो ह्य[23]नुगताकारः, विशेषप्रतिभासस्तु व्या[24]वृत्ताकारोऽनुभूयते।

---

१ सास्नादिमत्त्वेन। २ सौगतः। ३ जैन। ४ परेणाङ्गीक्रियमाणे सति। ५ अबाधितप्रत्ययविषयत्वाविशेषादिति। ६ प्रमाणान्तरस्य। ७ विशिष्टस्थितिकारणं व्यवस्था। ८ विशेषसत्त्वेपि। ९ परेण। १० गौर्गौरिति। ११ विशेषणम्। १२ आदिना कालादौ। १३ अनुगताकारत्वं बुद्धेर्न बाध्यते यतः। १४ इदं सामान्यमयं विशेष इति। १५ विशेषात्। १६ स्वतन्त्रम्। १७ अभेदे हेतुरयम्। १८ यतः। १९ बीजपूरादि। २० अयं रस इदं रूपमिति बुद्धिभेदात्। २१ एकेन्द्रिया (स्पर्शनेन्द्रिय) ध्यवसायस्याविशेषात्। २२ अयं वातोऽयमातप इति। २३ गौर्गौरित्येवम्। २४ अयमस्माद्भिन्न इति।

दूरादूर्ध्व[1][2]तासामान्यमेव च प्रतिभासते न स्थाणुपुरुषविशेषौ तत्र सन्देहात्। तत्परिहारेण प्रतिभासनमेव च सामान्यस्य ततो व्यतिरेकस्तल्लक्षणत्वाद्भेदस्य।

यदप्युक्तम्—

"ताभ्यां तद्व्यतिरेकश्च किन्नाऽदूरेऽव[3]भासनम्।
दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम्॥"
[प्रमाणवार्त्तिकालं०]

तदप्यसुन्दरम्; विशेषेपि समानत्वात्, सोपि हि यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तः; तर्हि दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्नाव[4]भासते? न हीन्द्रधनुषि नीले रूपे प्रतिभासमाने पीता[5]दिरूपं दूरान्न प्रतिभासते। अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका, दूरदेशवर्त्तिनां च प्रतिपत्तॄणां सा नास्तीति न विशेषप्रतिभासः; तर्हि सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री निकटदेशवर्त्तिनां चासौ नास्तीति न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः। अस्ति च निकटे सामान्यस्य प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषस्य प्रतिभासवत्, यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे स्व[6]सामग्र्यभावात् तद्वदेव।

न चानुगतप्रतिभासो वहिःसाधार[7]णनिमित्तनिरपेक्षो घटते; प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्य प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। न चाऽसाधारणा व्यक्तय एव त[8]न्निमित्तम्; तासां भेदरूपतयाऽऽविष्टत्वा[9]त्। तथापि तन्निमित्त[10]त्वे कर्का[11]दिव्यक्तीनामपि गौर्गौरिति बुद्धिनिमि[12]त्तत्वानुषङ्ग[13]ः।

न चाऽत[14]त्का[15]र्यकारणव्यावृत्तिः एक[16]प्रत्यवमर्शाद्य[17]र्थसाधन-

---

१ युक्त्यन्तरेण सामान्यं व्यवस्थापयति जैनः। २ ऊर्ध्वताकारसदृशसामान्यम्। ३ ऊर्ध्वताकारसामान्यस्य। ४ विशेषः। ५ इन्द्रधनुषि विद्यमानम्। ६ दूरदेशतादि। ७ समानाकारलक्षणसामान्यपदार्थं। ८ न वहिः साधारणनिमित्तं सामान्यं तन्निमित्तम्। ९ व्यापकत्वात्। १० परेणाङ्गीकृते। ११ कर्कः=श्वेताश्वः। १२ व्यक्तीनां तन्निमित्तत्वाविशेषात्। १३ या या व्यक्तयस्तास्ता भेदरूपाः। १४ कार्यं च कारणं च कार्यकारणे तस्य खण्डादेः कार्यकारणे न विद्येते ते अकार्यकारणे यस्याऽसावतत्कार्यकारणः कर्कादिस्तस्माद्व्यावृत्तिः। दृष्टान्ते समासयुक्तिं दर्शयति। दृष्टान्ते त्वेकेन्द्रियादिरूपे तच्छब्देन विवक्षितेन्द्रियादिरन्यत्र समुदितेतरगुडूच्यादिर्ग्राह्यः। बहुव्रीहिसमासकरणानन्तरं कर्कादिवदन्या विवक्षितेन्द्रियादिरन्या विवक्षितप्रयोगश्च ग्राह्यः। तस्माद्व्यावृत्तिरित्यवसातव्यः। १५ कर्कादीनामुत्तरक्षणाः कारणानि, तेभ्यो व्यावृत्तिः। १६ गौर्गौरित्यादि। १७ आदिशब्देनैकव्यवहारादिर्ग्राह्यः।

हेतुः अत्यन्त[1]भेदे[2]पीन्द्रियादिव[3]त् समुदितेत[4]रगुडूच्यादिव[5]च्चेत्यभिधातव्यम्; सर्वथा समानपरिणामानाधारे व[6]स्तुन्यतत्कार्यकारणव्यावृत्तेरेवासम्भवात्। अनुगतप्रत्ययाद्वस्तुनि प्र[7]वृत्त्यऽभावप्रसङ्गाच्च। गुडूच्यादिदृष्टान्तोपि साध्यविकलः; न[8] खलु ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे 'गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनहेतवः न पुनर्दधि[9]त्रपुसादयोपि' इति शक्यव्यवस्थम्, 'चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसादयोपि' इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिः।

किञ्च, अनुगतप्रत्ययस्य सामान्यमन्तरेणैव देशादिनियमेनोत्पत्तौ व्यावृत्तप्रत्ययस्या[10]पि विशेष[11]मन्तरेणैवोत्पत्तिः स्यात्। शक्यं हि वक्तुम्–अभेदाविशेषेप्येकमेव ब्रह्मादिरूपं प्रतिनियतानेकनीलाद्याभासनिबन्ध[12]नं भविष्यतीति किमपररूपादिस्वलक्षणपरिकल्प[13]नया। ततो रूपादिप्रतिभासस्येवानुगतप्रतिभासस्याप्यालम्बनं वस्तुभूतं परिकल्पनीयम् इत्यस्ति वस्तुभूतं सामान्यम्।

एककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायो व्यक्तीनाम्; इत्यप्यचारु; कार्याणामभेदासिद्धेः, वाहदोहादिकार्यस्य प्रतिव्यक्ति भेदात्। तत्रा[14]प्यपरैककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायेऽनवस्था। ज्ञानलक्षणमपि कार्यं प्रतिव्यक्ति भिन्नमेव।

[15]अनुभवानामे[16]कपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकत्वम्, तद्धेतुत्वाच्च व्य[17]क्तीनामित्युपचरितोप[18]चारोपि श्रद्धामात्रगम्यः; अनुभवानामप्यत्यन्तवैलक्षण्येनैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वायोगात्, अन्यथा कर्कादिव्यक्त्यनुभवेभ्योपि खण्डमुण्डादिव्यक्तौ एकपरामर्शप्रत्ययस्योत्पत्तिः स्यात्। अथ प्रत्यासत्तिविशेषात्खण्डमुण्डाद्यनुभवेभ्य[19] एवास्योत्पत्तिर्नान्यतः। ननु प्रत्यासत्तिविशेषः कोन्योऽन्यत्र

---

१ खण्डादयो विशेषा धर्मिणः समानपरिणामरहिता एव एकप्रत्यवमर्शाद्येकार्थसाधनहेतवः अतत्कार्यकारणकर्कादिव्यावृत्तित्वादिन्द्रियादिवत्। २ व्यक्तीनाम्। ३ आदिना–अर्थालोकयोग्यतादिग्रहणम्। ४ समुदितेतरगुडूच्यादयो विशेषाः समानपरिणामाहिता एव एकप्रत्यवमर्शाद्येकार्थहेतवोऽतत्कार्यकारणाविवक्षितेन्द्रियादिव्यावृत्तित्वाद्यथा। ५ शुण्ठ्यादि। ६ खण्डादिव्यक्तौ। ७ अभावरूपाया व्यावृत्तेर्ज्ञातत्वादनुगतप्रत्ययस्य। ८ तथा हि। ९ कर्कटी। १० निर्विकल्पस्य। ११ बाह्यनीलादिस्वलक्षणम्। १२ बाह्यनीलादिविशेषमन्तरेणैव। १३ सौगतेन त्वया। १४ व्यक्तीनामेककार्यत्वसमर्थनार्थम्। १५ निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञानानाम्। १६ गौर्गौरिति। १७ एकत्वम्। १८ विकल्पगतमेकत्वमनुभवेऽनुभवगतं चैकत्वं व्यक्तिष्विति। १९ निर्विकल्पकेभ्यः।

समानाकारानुभवात्, एकप्रत्यवमर्शहेतुत्वेनाभिमतानां[1] निर्विकल्पकबुद्धीनामप्रसिद्धेश्च। अतो[2]ऽयुक्तमेतत्—

"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धी[3]रभेदिनी[4]।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता॥"
[प्रमाणवा० १।११०] इति।

ततोऽबाधबोधाधिरूढत्वात्सिद्धं सदृशपरिणामरूपं वस्तुभूतं सामान्यम्। तस्याऽनभ्युपगमे[5]—

"नो[6] चेद्भ्रान्तिनिमित्तेन[7] संयोज्येत[8] गुणान्तरम्[9][10]।
शुक्तौ वा[11] रजताकारो[12] रूपसाधर्म्य[13]दर्शनात्॥"
[प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य[14],

"अर्थेन घटयत्येनां[15][16] न हि मुक्त्वा[17]र्थरूपताम्।
तस्मात्प्रमेयो(या)ऽधिगतेः प्रमाणं मेय[18]रूपता[19]॥"
[प्रमाणवा० ३।३०५]

इत्यस्य च विरोधानुषङ्गः।

तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्;[21] नित्यसर्वगतस्वभावत्वे[20]ऽर्थक्रियाकारित्वायोगात्। न खलु गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते, तत्र व्यक्तीनामेव व्यापाराभ्युपगमात्।

स्वविषयज्ञानजनकत्वे[22]पि व्यापारोस्य केवलस्य, व्यक्तिसहितस्य वा? केवलस्य चेत्; व्यक्त्यन्तरालेप्युपलम्भप्रसङ्गः[23]। व्यक्तिसहितस्य चेत्; किं प्रतिपन्नाखिलव्यक्तिसहितस्य, अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिसहितस्य वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; असर्वविदोऽखिलव्यक्तिप्रतिपत्तेरसम्भवात्। द्वितीयपक्षे पुनः एकव्यक्तेरप्यग्रहणे

---

१ सौगतेन। २ उपचरितोपचारोपि श्रद्धामात्रगम्यो यतः। ३ निर्विकल्पिका बुद्धिः। ४ एका। ५ परेण। ६ चेत्पक्षान्तरसूचकम्। इति हेतोः स्वलक्षणे भ्रान्तिनिमित्तेनाक्षणिकत्वं नो संयोज्येत चेत्तर्हि स्वलक्षणस्य परमार्थभूतमक्षणिकत्वं स्यात् स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वसिद्ध्यर्थं सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यनुमानं च व्यर्थं स्यादिति भावः। ७ परमार्थभूतसदृशापरापरोत्पत्तिलक्षणेन। ८ पुरुषेण। ९ क्षणिके स्वलक्षणे वस्तुनि। १० अक्षणिकत्वलक्षणम्। ११ वायथार्थकः। १२ अपरमार्थभूतः। १३ परमार्थभूतरूपसादृश्यदर्शनात्। १४ ग्रन्थस्य। १५ विषयविषयिभावं न कारयतीत्यर्थः। १६ निर्विकल्पकबुद्धिम्। १७ अन्यत्संन्निकर्षादि कर्तृ। १८ पदार्थसादृश्याकारधारित्वम्। १९ उभाभ्यां श्लोकाभ्यां परस्य सादृश्याङ्गीकारो विघत इति सूचितम्। २० सामान्यस्य। २१ व्यक्तिरहितं केवलम्। २२ पुरुषं प्रति। २३ सामान्यस्य। न च तथा।

सामान्यज्ञा[1]नानुषङ्गः। प्रतिपन्नकतिपयव्यक्तिसहितस्य जनकत्वे तु तस्य ताभिरुपकारः क्रियते, न वा? प्रथमपक्षे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यता, तदभिन्नोपकारकरणात्। ततो भिन्नस्यास्य करणे 'तस्य' इति[2]व्यपदेशासिद्धिः। तत्कृतोपकारेणाप्युपकारान्तर[3]करणेऽनवस्था। द्वितीयपक्षे तु व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम् सामान्यस्य, अकिञ्चित्करस्य सहकारित्वासम्भवात्।

सामान्येन सहै[4]कज्ञानजनने व्यापाराद्व्यक्तीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारः, अधिपतित्वेन वा? प्राच्यकल्पनायाम् एक[5]मनेक[6]ाकारं सामान्यविशेषज्ञानं सर्वदा स्यात्, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानानाम्।

द्वितीयविकल्पे तु व्यक्तीनामनधिगमेपि सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। न[7] खलु रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारो दृष्टः [8]अदृष्टस्य वा, सर्वथा नित्य[9]वस्तुनः क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्चास्य न कस्याञ्चिदर्थक्रियायां व्यापारः। व्यापारे वा सहकारिनिरपेक्षितया सदा [10]कार्यकारित्वानुषङ्गः, तदवस्था[11]भाविनः[12] कार्यजननस्वभावस्य सदा सम्भवात्, अभावे च अनित्यत्वं स्वभावभेदलक्षणत्वात्तस्य। कार्याजननस्वभावत्वे वा अस्य सर्वदा कार्याजनकत्वप्रसङ्गः। यो[13] हि यदऽजनकस्वभावः सोन्य[14]सहितोपि न तज्जनयति यथा शालिबीजं क्षित्याद्यविकलसामग्रीयुक्तं कोद्रवाङ्कुरम्, अजनकस्वभावं च सामान्यं कार्यस्य, इत्यवस्तुत्वापत्तिर्नित्यैकस्वभावसामान्यस्य, अर्थक्रियाका[15]रित्वलक्षणत्वाद्वस्तुनः।

तथा तत्सर्व[16]सर्वगतम्, स्व[17]व्यक्तिसर्वगतं वा? न तावत्सर्वसर्वगतम्; व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत्। तत्रानुपलम्भो हि तस्याऽव्यक्तत्वात्, व्यवहितत्वात्, दूरस्थित-

---

१ न विशेषज्ञानानुषङ्गः, न च तथा–विशेषमन्तरेण सामान्याप्रतीतेः। २ अयमुपकारः सामान्यस्येति। ३ सम्बन्धसिद्ध्यर्थम्। ४ गौगौरित्यादि। ५ सामान्यस्यैकत्वादेकं सामान्यज्ञानम्। ६ व्यक्तीनामनेकत्वादनेकाकारम्। ७ अपरिज्ञाता व्यक्तयः सामान्यज्ञानं कथं जनयन्तीत्युक्ते सत्याहाचार्यः। ८ चक्षुर्धर्मस्य। ९ सामान्यलक्षणस्य। १० स्वविषयज्ञानलक्षण। ११ तदवस्था=सहकारिरहितत्वम्। १२ कूटस्थनित्यसामान्यस्य। १३ सामान्यं कार्यजनकं न भवति तदजनकत्वादित्यध्याहृत्य। १४ सहकारिकारण। १५ अर्थो घटादिः तस्य क्रिया कार्यत्वं जन्यत्वमिति यावत्, तां करोति यः पदार्थो मृत्पिण्डलक्षणः सोर्थक्रियाकारी, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्। १६ सर्वासु स्वसम्बन्धिखण्डमुण्डादिव्यक्तिषु। १७ स्वव्यक्तौ विवक्षितैकव्यक्तौ।

त्वात्, अदृश्यत्वात्, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा स्याद्वृत्यन्तराऽभावात्? न तावदव्यक्तत्वात्; एकत्र[1] व्यक्तौ[2] सर्वत्र[3] व्यक्तेः[4]रभिन्नत्वात्[5]। अव्यक्तत्वाच्चान्तराले[6] तस्यानुपलम्भे व्यक्तिस्वात्मनोप्यनुपलम्भोऽत एवास्तु[7]। तत्रास्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवाऽनुपलम्भे सामान्यस्यापि सोऽसत्त्वादेवास्तु विशेषा[9]भावात्। न खलु प्रत्यक्षतस्तत्त्रोपलभ्यते विशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्।

किञ्च, प्रथमव्यक्तिग्रहणवेलायां तदभिव्यक्तस्यास्य ग्रहणे अभेदात्तस्य सर्वत्र सर्वदोपलम्भ[10]प्रसङ्गः सर्वात्मनाभिव्यक्तत्वात्, अन्यथा व्यक्ताव्यक्तस्वभावभेदेनानेकत्वानुषङ्गादसा[11]मान्यरूपतापत्तिः। तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद्व्यक्त्यन्तराले सामान्यस्यासत्त्वं व्यक्तिस्वात्मवत्।

'व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति सामान्यं युगपद्भिन्नदेशस्वाधार[12]वृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशा[13]दिवत्' इत्यनुमानात्तत्र तद्भावसिद्धिः; इत्यप्यसङ्गतम्; हेतोः प्र[14]तिवाद्यऽसिद्धत्वात्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं प्रत्यक्षतः स्थूणादौ वंशादिवत्प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिध्यत्स्वाधारान्त[15]रालेऽस्तित्वं साधयेत्। तन्नाव्यक्तत्वात्तत्राऽनुपलम्भः।

नापि व्यवहितत्वादभि[16]न्नत्वादेव। नापि दूरस्थितत्वात्त[17]त एव। नाप्यदृश्यात्मत्वात्, स्वाश्र[18]येन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा; अभेदा[19]देव। तन्न सर्वसर्वगतं सामान्यम्।

नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्; प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽनेक[20]त्वानुषङ्गाद् व्यक्तिस्वरूपवत्। कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्त्यनुपपत्ते[21]श्चाऽसत्त्वम्।

किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्त्तमानस्यास्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात्। तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्,

---

१ एकस्यां व्यक्तौ। २ प्राकट्ये सति। ३ व्यक्तिषु। ४ सामान्यस्याभिव्यक्तेः। ५ प्रकटरूपसामान्यस्यैकत्वात्। ६ व्यक्त्यन्तराले। ७ नाऽभावात्। ८ ततश्च सामान्यवद्व्यक्तेरपि व्यापकत्वान्नित्यत्वप्रसङ्गः। ९ सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य। १० व्यापकत्वनित्यत्वात्। ११ विशेषरूपताप्रतिपत्तिरिति भावस्तस्याऽनेकरूपत्वात्। १२ देवदत्तेन व्यभिचारपरिहारार्थं विशेषणद्वयम्। १३ स्तम्भादौ। १४ जैनादि। १५ व्यक्तावऽभिव्यक्तस्य सामान्यस्य। १६ एकस्वभावत्वात् (व्यक्त्या सह)। १७ व्यापित्वात्। १८ सामान्यस्याश्रयाः खण्डादयः। १९ इन्द्रियसम्बद्धत्वादिविशिष्टव्यक्तिरूपत्वात्। २० व्यक्तीनामानन्त्यात्। २१ अनेकत्वसांशत्वलक्षणं दूषणमुदेष्यतीति भावः।

तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात्? न तावद्गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वो[1]पगमात्[2]।

किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा? न तावत्परित्यागेन; प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात्। नाप्यपरित्यागेन; अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात्। न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसङ्क्रान्तिर्दृष्टा।

नापि पिण्डेन सहोत्पादात्; तस्याऽनित्यतानुषङ्गात्। नापि तद्देशे सत्त्वात्; पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र[3] निराधारस्यास्यावस्थानाभावात्। भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः।

नाप्यंशवत्तया; निरंशत्वप्रतिज्ञानात्। ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्गः। परेषां[4] प्रयोगः 'ये[5] यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्तः यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्य[6]देशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि' इति। उक्तञ्च—

"न याति[7] न च तत्रासीद्[8]स्ति पश्चान्न[9] चांशवत्[10]।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसन[11]सन्ततिः* ॥ १ ॥"
[प्रमाणवा० १।१५२]

ये[12] तु व्यक्ति[13]स्वभावं सामान्यमभ्युपगच्छन्ति
"तादात्म्य[14]मस्य कस्माच्चेत्स्वभावादिति गम्यताम्।" [ ]

इत्यभिधानात्; तेषां[15] व्यक्तिवत्तस्यासाधारणरूपत्वानुषङ्गाद्[16] व्यक्त्युत्पादविनाशयोश्चा[17]स्यापि तद्योगित्व[18]प्रसङ्गान्न सामान्यरूपता। अथाऽसाधारणरूपत्वमुत्पादविनाशयोगित्वं चास्य नाभ्युपगम्येते[19], तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो[20] व्यक्तिभ्योऽस्य भेदः स्यात्।

---

१ सामान्यं निष्क्रियमिति वचनात्। २ परेण। ३ व्यक्तिदेशे। ४ जटिलानाम्। ५ सामान्यमसत् अनुत्पद्यमानादित्वादित्युपरिष्टाद्योज्यम्। ६ तच्छून्यौ च तद्देशोत्पादौ चेति। ७ व्यक्त्यन्तरम्। ८ व्यक्तिदेशे। ९ व्यक्तौ भग्नायां सत्याम्। १० सामान्यस्य विशेषणम्। ११ वृथा स्थितिः। * श्लोकोयं मुद्रितपुस्तके 'व्यक्तिभ्योऽस्य भेदः स्यात्' इत्यनन्तरं मुद्रितः। प्रकरणानुरोधात् स्थानभ्रष्टो भाति— सम्पा०। १२ मीमांसकाः। १३ व्यक्तिरेव स्वभावो यस्य तयोरभेदात्। १४ व्यक्त्या सह। १५ मीमांसकानाम्। १६ असाधारणरूपताया व्यक्तेरभिन्नत्वात्। १७ सामान्यस्य। १८ व्यक्तिसामान्ययोरभेदात्। १९ परेण। २० घटपटयोरिव।

"तादात्म्यं[1] चेन्मतं जातेर्[2]व्यक्तिजन्मन्यजातता[3]।
नाशे[4]ऽनाशश्च[5] केनेष्टस्[6]तद्वच्चानन्वयो[7] न[8] किम्? ॥ २ ॥
व्यक्तिजन्मन्[9]यजाता चेदागता नाश्रया[10]न्तरात्।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया सङ्गता कथम्? ॥ ३ ॥
व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम्? ॥ ४ ॥
व्यक्तेर्जात्या[11]दि[12]योगेऽपि यदि जातेः[13] स नेष्यते[14]।
तादात्म्यं[15] कथमिष्टं स्यादनुपप्लुत[16]चेतसाम्? ॥ ५ ॥" [ ]

ततो यदुक्तं कुमारिलेन—

"विषयेण[17] हि बुद्धीनां[18] विना नोत्पत्तिरिष्यते[19]।
विशेषादन्यदिच्छन्ति[20] सामान्यं तेन तद्ध्रुवम्[21] ॥ १ ॥
ता[22] हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषया[23]दृते।
न त्वन्येन[24] विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति[25] ॥ २ ॥"
[मी० श्लो० आकृति० श्लो० ३७-३८]

इति; तन्निरस्तम्; नित्यसर्वगतसामान्यस्याश्रया[26]देकान्ततो भिन्नस्याभिन्नस्य वाऽनेकदोष[27]दुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात्। अनुगतप्रत्ययस्य च सदृश[28]परिणामनिबन्धनत्वप्रसिद्धेः। स चानित्योऽसर्वगतोऽनेकव्यक्त्यात्मकतयाऽनेकरूपश्च रूपादिवत्प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धः। ततो भट्टेनायुक्तमुक्तम्—

"पिण्डभेदेषु[29] गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना।
गवाभासैक[30]रूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥ १ ॥"
[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४४]

यच्चेदमुक्तम्—

"न शाबलेयाद्गोबुद्धिस्[31]ततोऽन्या[32]लम्बनापि वा[33]।

---

१ व्यक्त्या सह। २ तदा इति शेषः। ३ जातेः। ४ व्यक्तेः। ५ जातेः। ६ व्यक्तिवत्। ७ असाधारणता। ८ किन्तु स्यादेव। ९ सति। १० व्यक्त्यन्तरात्। ११ जातिः=जन्म। १२ आदिना विनाशग्रहणम्। १३ जात्यादियोगः। १४ तर्हीतिशेषः। १५ जातिव्यक्त्योः। १६ अभ्रान्तचेतसाम्। १७ सामान्येन। १८ अनुगताकाराणाम्। १९ यैर्वादिभिः। २० ते। २१ नित्यमचलम्। २२ विषयेण विनोत्पत्तिः कथमित्युक्ते आह। २३ यतः। २४ समवायेन। २५ तादात्म्येन स्वभावाद्वर्त्तत इत्यर्थः। २६ व्यक्तेः सकाशात्। २७ एकत्वापत्तिव्यपदेशाभावादयोनेके। २८ सास्नादिमत्त्वेनायमनेन सदृश इति। २९ गौर्गौरिति। ३० गवाभासश्चैकरूपं च ताभ्याम्। एक (गौर्गौरित्याध्यात्मिककारण) ज्ञानत्वादेकरूप (गोरूपपिण्ड बाह्यकारण)त्वाच्चेत्यर्थः। ३१ सामान्यनिबन्धनेति। ३२ ततोन्यत्=खण्डादि। ३३ नेति संबन्धः।

तद्[1]भावेपि सद्भावाद्[2] घटे पार्थिवबुद्धिवत्[3] ॥"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४]

तत्सिद्धसाधनम्; व्यक्तिव्यतिरिक्तसदृशपरिणामालम्बनत्वात्तस्याः।

यच्च सामान्यस्य सर्वगतत्वसाधनमुक्तम्—

"प्रत्येकसमवेतार्थविषया वाथ[4] गोमतिः।
प्रत्येकं[5] कृत्स्नरूपत्वात्[6]प्रत्येकं व्यक्तिबुद्धिवत् ॥ १ ॥"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४६]

प्रयोगः–येयं गोबुद्धिः[7] सा प्रत्येकसमवेतार्थ[8]विषया प्रतिपिण्डं कृत्स्न[9]रूपपदार्थाकारत्वात् प्रत्येकव्यक्तिविषयबुद्धिवत्। एकत्वमप्यस्य प्रसिद्धमेव; तथाहि–यद्यपि सामान्यं प्रत्येकं सर्वात्मना परिसमाप्तं तथापि तदेकमेवैकाकार[10]बुद्धिग्राह्यत्वात्, यथा नञ्युक्तवाक्येषु ब्राह्मणादि[11]निवर्तनम्[12]। न चेयं मिथ्या; कारण[13]दोषबाधकप्रत्ययाभावात्। उक्तञ्च—

"प्रत्येकसमवेतापि जातिरेकैक[14]बुद्धितः।
नञ्युक्तेष्विव वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्त्तनम् ॥ १ ॥
नैकरूपा मतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते।
नात्र कारणदोषोस्ति बाधकप्रत्ययोपि वा ॥ २ ॥"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४७-४९]

तदप्युक्तिमात्रम्; प्रतिपिण्डं कृत्स्नरूपपदार्थाकारत्वस्य[15] सदृशपरिणामा[16]विनाभावित्वेन साध्य[17]विपरीतार्थे[18] साधनस्य विरुद्धत्वात्। नित्यैकरूपप्रत्येकपरिसमाप्तसामान्यसाधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता[19]। तथा[20]भूतस्य चास्य सर्वात्मना बहुषु[21] परिसमाप्तत्वे सर्वेषां व्यक्तिभेदानां परस्परमेकरूपतापत्तिः एकव्यक्तिपरिनिष्ठितस्वभावसामान्यपदार्थसंसृष्टत्वात्[22] एकव्यक्तिस्वरूपवत्। सामान्यस्य

१ शावलेयाभावेपि खण्डादिगोबुद्धिसद्भावात् तदभावेऽपि शावलेयादेस्तत्सद्भावादित्यर्थः। २ गोबुद्धेः। ३ श्वेतपीतादिविशेषमन्तरेण यथा घटे पृथिवीत्वसामान्येन पार्थिवबुद्धिः। ४ न केवलमेकगोत्वनिबन्धना। ५ एकामेकां व्यक्तिं प्रति। ६ गोमतेः। ७ गौर्गौरिति प्रत्ययः। ८ अर्थो=गोत्वलक्षणसामान्यम्। ९ गोत्वादिसामान्य। १० अयं गौरयं गौरिति। ११ नायं ब्राह्मणो नायं ब्राह्मण इत्यादि। १२ एकमेव। १३ इन्द्रियादि। १४ गौर्गौरिति। १५ हेतोः। १६ सदृशपरिणामः—साध्यम्। १७ सर्वगतत्व। १८ असर्वगतत्वे। १९ व्यक्तीनां नित्यत्वमेकरूपत्वं च नास्ति यतः। २० एकत्वानुमाने दूषणमाह। २१ विशेषेषु। २२ अभिन्नत्वात्, तादात्म्यापन्नत्वात्।

वानेकत्वापत्तिः, युगपदनकेवस्तुपरिसमाप्त[1]ात्मरूपत्वात् दूरतरदे[2]शावच्छिन्नानेकभाजनगतबिल्वादिफलवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्–'नात्र बाधकप्रत्ययोस्ति' इति; प्राक्प्रतिपादित[3]प्रकारेणानेकबाधकप्रत्ययोपनिपातात् । प्रत्येकसमवेतायाश्च जातेरसिद्धत्वात् 'एकबुद्धि[4]ग्राह्यत्वात्' इत्याश्रयासिद्धो हेतुः[5] । स्वरूपासिद्धश्च; अबाध[6]सादृश्य[7]बोधाधिगम्य[8]त्वेनैकाकारप्रत्यय[9]ग्राह्य[10]त्वस्यासिद्धेः । ब्राह्मणादिनिवृत्तिश्च परमार्थतो नैक[11]रूपास्तीति साध्य[12]विकलमुदाहरणम् ।

[13]एतेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण–"गवादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययः पिण्डा[14]दिव्यतिरिक्तान्निमित्ता[15]द्भवति विशेषकत्वा[16]न्नीलादिप्रत्ययवत् । तथा गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं भिन्नप्रत्ययविषयत्वाद्रूपादिवत् तस्ये[17]ति च व्यपदेशविषयत्वात्, यथा चैत्रस्याश्वश्चैत्राद्व्यपदि[18]श्यमानः" [न्यायवा० पृ० ३३३] इति; तन्निरस्तम्; अनुवृत्तिप्रत्ययस्य हि [19]सामान्येन पिण्डादिव्यतिरिक्तनिमित्तमात्रसाधने सिद्ध[20]साध्यतानुषङ्गात्, सदृशपरिणामनिबन्धनतयाऽस्याभ्युपगमात् । नित्यैकानुगामिसामान्यनिबन्धनत्वसाधने दृष्टान्तस्य [21]साध्यविकलता । न ह्येवम्भूतेन क्वचि[22]दन्वयः सिद्धः ।

न चानुगतज्ञानोपलम्भादेव तथाभूतसामान्यसिद्धिः । यतः किं यत्रानुगतज्ञानं तत्र सामान्यसम्भवः प्रति[23]पाद्यते, यत्र वा सामान्यसम्भवस्तत्रानुगतज्ञानमिति? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; गोत्वादिसामान्येषु 'सामान्यं [24]सामान्यम्' इत्यनुगताकारप्रत्ययोपलम्भेनाऽ[25]परसामान्यकल्पनाप्रसङ्गात् । न चात्रासौ प्रत्ययो गौणः; अस्खलद्वृत्तित्वेन गौण[26]त्वासिद्धेः । तथा प्रागभावादिष्वप्यभावेषु

---

१ सम्पूर्ण । २ भिन्नभिन्न । ३ नित्याया एकरूपायाः प्रत्येकं परिसमाप्तायाश्च । ४ अयं गौरयं गौरिति । ५ आश्रयभूताया जातेरभावात् । ६ अयमनेन सदृश इति । ७ अनेकरूपसामान्य । ८ कृत्वा । ९ एकाकारप्रत्ययेन ग्राह्यं सामान्यं परमते । १० सामान्यस्य । ११ नायं क्षत्रियो ब्राह्मणो नायं वैश्यो ब्राह्मण इत्यादिना कृत्वाऽभावानामनेकत्वात्, अभावः अभाव इति प्रत्ययसंयुक्तप्रागभावादिवत् । १२ एकत्वेन साध्येन । १३ मीमांसकं प्रति नित्यसर्वगतजातिनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । १४ शवलशावलेयादिविशेषगोपिण्डादि । १५ सर्वगनित्यत्वात् । १६ भेदकत्वात् । १७ गोरिदं गोत्वमिति । १८ भेदेनाभिधीयमानः । १९ साधारणेन कृत्वा । २० जैनानाम् । २१ पिण्डादिव्यतिरिक्तान्नित्यैकानुगामिसामान्यान्निमित्ताद्भवतीति साध्यम् । २२ यो यो भेदकप्रत्ययः स स नित्यैकानुगामिसामान्याद्भवतीति । २३ परेण । २४ गवादिव्यक्तिनिष्ठेषु गोत्वादिसामान्येषु घटत्वमपि सामान्यं पटत्वमपि सामान्यमित्यनुगताकारप्रत्ययः । २५ गोत्वादिभ्यः । २६ कल्पित ।

'अभावोऽभावः' इत्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तिरस्ति, न च परैरभावसामान्यमभ्युपगतम्। न खलु तत्रानुगाम्येकं निमित्तमस्त्यन्यत्र सदृशपरिणामात्।

ननु चापर[1]सामान्यस्य प्रागभावादिष्वभावेपि सत्ताख्यं महासामान्यमस्ति, तद्बलादेवाभावप्रत्ययोऽनुगतो भविष्यति। उक्तञ्च—

"ननु च प्रागभावादौ सामान्यं वस्तु नेष्यते[2]।
सत्तैव[3] ह्यत्र सामान्यमनुत्पत्त्यादि[4]रूपता" ॥ १ ॥
[मी० श्लो० अपोहवाद श्लो० ११]

अनुत्पत्त्यादिविशिष्टेत्यर्थः[5]। तदयुक्तम्; अभिप्रेत[6]पदार्थव्यतिरिक्तानां मतान्तरीयार्थानाम्[7] उत्पाद्यकथार्थानां[8] वाऽभावप्रतीतिविषयतोपलम्भेन सत्त्वप्रसङ्गात्। तन्नाभावेष्वनुवृत्तप्रतीतेरनुगाम्येकसामान्यनिबन्धनत्वमस्तीत्यन्यत्राप्यस्यास्तन्निबन्धनत्वाभावः। प्रयोगः-ये क्रमित्वानुगामित्ववस्तुत्वोत्पत्तिमत्त्वसत्त्वादिधर्मोपेतास्ते परकल्पितनित्यैकसर्वगतसामान्यनिबन्धना न भवन्ति यथाऽभावेष्वभावोऽभाव इति प्रत्ययाः, सामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति प्रत्यया वा, तथा चामी प्रत्यया इति।

अथ यत्र सामान्यं तत्रैवानुगतज्ञानकल्पना; न; पाचकादिषु[9] तद्भावेप्यनुगत[10]प्रत्ययप्रवृत्तेः। न[11] खलु तत्रा[12]नुगाम्येकं सामान्यमस्ति यत्प्रसादात्तत्प्रवृत्तिः स्यात्। निमित्तान्तरमस्तीति चेत्तत्किं कर्म[13], कर्मसामान्यं वा स्यात्, व्यक्तिः, शक्तिर्वा? न तावत्कर्म; तस्य प्रतिव्यक्ति विभिन्नत्वात्। 'विभिन्नं ह्यऽभिन्न[14]स्य कारणं न भवति' इति सर्वोऽयमारम्भः। तच्चेद्भिन्नमपि तथाभूतकार्यकारणं तदा[15]न्यत्र कः प्रद्वेषः?

किञ्च, तत्कर्म नित्यं वा स्यात्, अनित्यं वा? न तावन्नित्यम्[16]; तथानुपलब्धेरनभ्युपगमाच्च[17]। अनित्यं तु न सर्वदा स्थितिमदिति विनष्टे तस्मिन्न तथाभूतो[18] व्यपदेशो ज्ञानं[19] वा स्यात्, अपचतः

१ अभावत्वस्य। २ परेण। ३ एका सर्वगता। ४ आदिना नित्यसर्वगतत्वादिग्रहणम्। ५ ततोऽभावप्रत्ययोऽनुगतो भविष्यति। ६ अभिप्रेतानि द्रव्यगुणकर्माणि। ७ अद्वैतप्रधानादीनाम्। ८ लोके विचित्रकथार्थानाम्। ९ पुरुषेषु। १० पाचकः पाचक इत्यादि। ११ कथं सामान्यं नास्तीत्युक्ते आह। १२ पचनक्रियायाः पूर्वं नास्ति। १३ देवदत्तयज्ञदत्तचैत्रमैत्रेषु पचनक्रियालक्षणं कर्म भिन्नम्। १४ अनुगताकारस्य। १५ जैनमताभ्युपगते प्रतिव्यक्ति भिन्ने सदृशपरिणामे। १६ शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्वाभ्युपगमात्। १७ परेण। १८ पाचक इति। १९ पाचक इति।

क्रियाविरहात्। पचन्नेव हि [1]तथा व्यपदिश्येत नान्यदा। तन्न कर्मैतस्य प्रत्ययस्य निबन्धनम्।

नापि कर्मसामान्यम्; तद्धि कर्माश्रितम्, [2]कर्माश्रयाश्रितं वा? यदि कर्माश्रितम्; कथम[3]न्यत्र ज्ञानं जनयेत्? न [4]ह्यन्यत्र वृत्तिमद[5]न्यत्र ज्ञानकारणमति[6]प्रसङ्गात्।

किञ्च, कर्मसामान्यात् 'पाकः पाकः' इति प्रत्ययः स्यान्न पुनः 'पाचकः पाचकः' इति। अथ कर्माश्रयाश्रितम्; तन्न; [7]कर्माश्रितत्वात्। [8]परस्परया कर्माश्रयाश्रितं तत्; इत्यसारम्; अपचतः कर्मविवेकात्। [9]विविक्ते च कर्मणि न कर्मत्वं कर्मणि तदाश्रये वाऽऽश्रितम्, अनाश्रितं च कथं [10]तत्[11]तत्र [12]तथाज्ञानहेतुः स्यात्?

अथाऽपचतोऽतीतानागते कर्मणी [13]तथाव्यपदेशज्ञाननिबन्धनं न कर्मत्वम्; ननु सती, असती वा ते तन्निबन्धनं स्याताम्। न तावत्सती; अतीतस्य प्रच्युतत्वादनागतस्य चालब्धात्मस्वरूपत्वात्। असती च कथं कस्यापि निबन्धनमतिप्रसङ्गात्? तन्न कर्मत्वमपि [14]तत्प्रत्ययस्य निबन्धनम्।

नापि व्यक्तिः; [15]अनिष्टे[16]र्विभिन्नत्वाच्च।

नापि शक्तिः; सा हि पाचकादन्या, अनन्या वा स्यात्? अनन्यत्वे तयोरन्यतरदेव स्यात्। अन्यत्वे च अस्या एव [17]कार्योपयोगित्वेन कर्त्तुरकर्त्तृत्वानुषङ्गः। अथ पारम्पर्येणोपयोगः—कर्त्ता हि शक्तावुपयुज्यते शक्तिश्च कार्ये। नन्वसौ शक्तावुपयुज्यते स्वरूपेण, शक्त्यन्तरेण वा? शक्त्यन्तरेणोपयोगेऽवस्था। स्वरूपेणोपयोगे कार्येप्यसौ तथा किन्नोपयुज्यते किं परम्परापरिश्रमेण? [18]न चान्यन्नि[19]मित्तमस्ति।

पाचकत्वमस्तीति चेत्; तत्किं [20]द्रव्योत्पत्तिकाले व्यक्तम्, अव्यक्तं वा? व्यक्तं चेत्; तर्हि पाकक्रियायाः प्रागेव [21]तथा ज्ञानाभिधाने स्याताम्। अथाऽव्यक्तम्; तर्हि पश्चादपि न ते स्यातां

---

१ पाचक इति। २ कर्मवत्पुरुषाश्रितम्। ३ कर्माश्रये देवदत्ते। ४ कर्मणि। ५ देवदत्ते। ६ गृहे वृत्तिमान्प्रदीपो गुहायां ज्ञानकारणं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। ७ कर्मत्वं कर्माश्रितं कर्म च देवदत्ताश्रितमिति। ८ पुरुषस्य। ९ नष्टे। १० सामान्यम्। ११ देवदत्ते। १२ पाचक इति। १३ पाचकः पाचक इति। १४ अनुगतप्रत्ययस्य। १५ परेणानभ्युपगमात्। १६ अनेकत्वात्। १७ पचनलक्षणं कार्यम्। १८ कर्मादिभ्योऽन्यन्निमित्तं भविष्यतीत्याह। १९ पाचकः पाचक इति ज्ञानव्यपदेशयोरनुगतप्रत्ययहेतुः। २० देवदत्तलक्षण। २१ पाचक इति।

विशेषाभावात्[1]। तथाहि–तत्पूर्वं द्रव्य[2]समवायधर्मः[3] स्याद्वा, न वा? सत्त्वे सत्त्ववत्[4]पूर्वमेव व्यक्तिः[5], तथा[6]व्यपदेशश्च स्यात्। अथ न; तदा पश्चादपि[7] द्रव्यसमवाय[8]धर्मत्वं न स्यादेकरूपत्वात्तस्य। तन्न पश्चाद्व्यक्तिस्तस्य।

अस्तु[9] वा; तथाप्यसौ द्रव्येण, क्रियया, उभाभ्यां[10] वाभिधीयते? न तावद्द्रव्येण[11]; अस्य प्रागपि विद्यमानत्वात्। नापि क्रियया[12]; तस्या [13]अनाधेयातिशयेऽकिञ्चित्करत्वात्। नाप्युभाभ्याम्; पृथगऽसामर्थ्ये सहितयोरप्यसामर्थ्यात्[14]। तन्नानुगतः प्रत्ययोऽनुगाम्येकं सामान्यमालम्बते।

किञ्च, 'गोत्वं वर्त्तते' इत्यभ्युपेतं भवता[15], तत्र किं गोष्वेव[16] गोत्वं वर्त्तते, किं वा गोषु गोत्वमेव[17], गोषु गोत्वं वर्त्तते एवेति[18] वा? प्रथमपक्षेऽनन्व[19]यित्वा[20]विशेषा[21]द्यावत्तेषु गोत्वं वर्त्तते तावदन्यत्रापि[22] किन्न वर्त्तेत? द्वितीये पक्षे तु सत्त्वद्रव्यत्वादीनां व्यवच्छेदाद्व्यक्तेरप्यभावप्रसङ्गस्तद्रूपत्वात्तस्याः। अथ 'गोषु गोत्वं वर्त्तते' एवेति पक्षः; 'तत्र चान्यत्र[23] गोत्वं वर्त्तत एव[24]' इति गोव्यक्तिवत्कर्कादावपि 'गौर्गौः' इति ज्ञानं स्यात्तद्वृत्तेरविशेषात्। तन्न व्यक्त्यात्मकात् प्रतिव्यक्तिविभिन्नात्सदृशपरिणामात् अन्यद् व्यक्तिभ्यो भिन्नमेकं सामान्यं घटते।

विभिन्नं[25] हि प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत्। यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्समानमपि 'तेनायं समानः सोऽनेन समानः' इति प्रतीतेः। न[26] च व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातोऽस्य; रूपादेरप्यत एव रूपादिस्वभावताव्याघात-

---

१ भेदाभावान्नित्यत्वस्यैकस्वभावत्वात्। २ देवदत्तलक्षण। ३ धर्मः=स्वभावः। ४ देवदत्तस्य। ५ पाचकत्वस्य। ६ पाचकः पाचक इति। ७ द्रव्योत्पत्तिकालेपि। ८ पचाकत्वस्य। ९ पश्चाद्व्यक्तिः (प्रकटनम्)। १० द्रव्यक्रियाभ्याम्। ११ देवदत्तादिना। १२ पचनलक्षणया। १३ पाचकत्वसामान्ये। १४ न च जैनानामिदं दूषणं तेषां शक्तेरङ्गीकारात्, परेषां शक्तेरङ्गीकारो नास्ति यतः। १५ नैयायिकेन। १६ नान्यत्रेत्यर्थः। १७ न सत्त्वद्रव्यत्वादिकं गोषु वर्त्तते। इत्यन्यथावृत्तिः (?)। १८ अन्यत्रापि गोत्वं वर्त्तते इत्यर्थः। १९ गोषु गोत्वसम्बन्धाभावाविशेषात्। २० समवायादीनां प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्। २१ अनन्वयो=विभिन्नत्वमसम्बद्धत्वं वा। २२ अश्वादिषु। २३ कर्कादिषु। २४ एवकारयोगेनान्ययोगायोगाऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदादिति सिद्धम्। २५ अनेकम्। २६ व्यक्त्यात्मकादिति विशेषणं समर्थयति।

प्रसङ्गात्। प्रत्यक्षविरोधोऽन्यत्रापि समानः-सामान्यविशेषात्मतयार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्।

ननु प्रथमव्यक्तिदर्शनवेलायां सामान्यप्रत्ययस्याभावात्सदृशपरिणामलक्षणस्यापि सामान्यस्यासम्भवः; तदप्यसाम्प्रतम्; तदा सद्द्रव्यत्वादिप्रत्ययस्योपलम्भात्। प्रथममेकां गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्यं तत्र[2]ार्थान्तरेण व्यपदिशत्येव[3]। अननुभूतव्यक्त्यन्तरस्य[4]ैकव्यक्तिदर्शने कस्मान्न समानप्रत्ययोत्पत्तिः तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्? तथापि विशिष्ट[5]प्रत्ययोत्पत्तिः कस्मान्न स्याद्वैसादृश्यस्यापि भावात्? परापेक्ष[6]त्वात्तस्याप्रसङ्गोऽन्यत्रापि समानः। समानप्रत्ययोपि हि परापेक्षस्[7]ताम्[8]अन्तरेण क्वचित्कदाचिदप्यभावात् द्वित्वादि[9]प्रत्ययवद्दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा।

द्विविधो हि वस्तुधर्मः-परापेक्षः, परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद्वर्णादिवच्च[१०]। अतो यथान्यापेक्षो विशेषः स्वामर्थक्रियां व्यावृत्तिज्ञानलक्षणां कुर्वन्नर्थक्रियाकारी, तथा सामान्य[11]मप्यनुगतज्ञानलक्षणामर्थक्रियां कुर्वत्कथमर्थक्रियाकारि न स्यात्? तद्ग्राह्यां[12] पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रियां यथा न केवलं[13] सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा[14] विशेषोपि, उभयात्मनो[15] वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्, इत्यर्थक्रियाकारित्वेन[16]ापि सामान्यविशेषाकारयोर[17]भेदात्सिद्धं वास्तवत्वम्।

ततो[18]ऽप्राकृतमेतत्—

“सर्वे भावाः[19] स्वभावेन[20] स्वस्वभाव[21]व्यवस्थितेः।
स्वभावपर[22]भावाभ्यां यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः॥ १॥
तस्माद्यतो यतो[23]ऽर्थानां[24] व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः[25]।

---

१ व्यक्तिस्वरूपत्वादभिन्नत्वाविशेषात्। २ एकगवि। ३ सत्त्वादिनायं सदृश इत्यादि। ४ पुरुषस्य। ५ विशिष्टः=विसदृशः। ६ परो=महिषादिः। ७ परापेक्षाम्। ८ समानप्रत्ययस्य। ९ यथा द्वित्वमेकत्वापेक्षं दूरत्वं चासन्नत्वापेक्षम्। १० श्वेतपीतादिवत्। ११ सदृशपरिणामलक्षणम्। १२ अनुगतज्ञानलक्षणार्थक्रिया यतः। १३ विशेषनिरपेक्षम्। १४ केवलतया। १५ सामान्यविशेषात्मनः। १६ न केवलमबाधितप्रत्ययविषयत्वेन। १७ सामान्यविशेषावेव चाकारौ तयोर्भेदाद्विशेषाभावादित्यर्थः। १८ सामान्यविशेषाकारौ सिद्धौ यतः। १९ प्रतिक्षणं ध्वंसिनः परस्परमसंसृष्टाः परमाणुरूपा गवादिस्वलक्षणाः। २० वर्त्तन्ते इति शेषः। २१ स्वेषां भावानां स्वरूपेण व्यवस्थितेः। २२ सजातीयविजातीयपरमाणुरूपार्थतः। २३ विजातीयादर्थात्। २४ स्वलक्षणानाम्। २५ व्यावृत्तिनिबन्धनं येषां ते।

जा[1]तिभेदाः प्र[2]कल्प्यन्ते त[3]द्विशेषा[4]वगाहिनः ॥ २ ॥"
[प्रमाणवा० १।४१-४२] इति ।

ननु सादृश्ये सा[5]मान्ये 'स एवायं गौः' इति प्रत्ययः कथं शबलं दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति चेत्? 'एकत्वोपचारात्' इति ब्रूमः । द्विविधं ह्येकत्वम्-मुख्यम्, उपचरितं च । मु[6]ख्यमात्मादिद्रव्ये । सा[7]दृश्ये तूपचरितम् । नित्यसर्वगतस्वभावत्वे सामान्यस्यानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।

'तेन समानोयम्' इति प्रत्ययश्च कथं स्या[8]त्? त[9]योरेकसामान्ययोगाच्चेत्; न; 'सामान्यवन्तावेतौ[10]' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । तयोरभेदो[11]पचारे तु 'सा[12]मान्यम्' इति प्रत्ययः स्यात्, न पुनः 'तेन समानोयम्' इति । यष्टिपुरुषयोरभेदोपचाराद्यष्टिसहचरितः पुरुषो [13]'यष्टिः' इति यथा ।

ननु 'व्यक्ति[14]र्वत्[15]समानपरिणामेष्वपि समानप्रत्ययस्यापरसमानपरिणामहेतुकत्वप्रसङ्गादनवस्था स्यात् । तमन्तरेणाप्यत्र समानप्रत्ययोत्पत्तौ पर्याप्तं खण्डादिव्यक्तौ समानपरिणामकल्पनया' इत्यन्य[16]त्रापि समानम्-विसदृशपरिणामेष्वपि हि विसदृशप्रत्ययो यदि त[17]दन्तरहेतु[18]कोऽनवस्था । स्वभावतश्चेत्; सर्वत्र विसदृशपरिणामकल्पनानर्थक्यम् ।

न च सदृशपरिणामानामर्थवत्स्वात्मन्यपि समानप्रत्ययहेतुत्वे अर्था[19]नामपि त[20]त्प्रसङ्गः; प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्, अन्यथा घटादेः प्रदीपात्स्वरूपप्रकाशोपलम्भात्प्रदीपेपि तत्प्रकाशः प्रदीपान्तरादेव स्या[21]त् । स्वकारणकलापादुत्पन्नाः सर्वेऽर्था विसदृशप्रत्ययविषयाः स्वभावत एवेत्यभ्यु[22]पगमे समानप्रत्ययविषयास्ते तथा किं नाभ्युपगम्यन्ते अलं प्रतीत्यपलापेन?

---

१ सामान्यभेदाः । २ वासनातः । ३ ते खण्डादिकर्कादयश्च विशेषाश्च तानवगाहन्ते इत्येवंशीलाः । ४ विशेषा एव सन्ति न सामान्यमिति भावः । ५ जैनेनाङ्गीक्रियमाणे सादृश्ये सामान्ये सति । ६ स एवायमात्मादिः पदार्थ इति । ७ सास्नादिमत्त्वेन । ८ भवतां मीमांसकानाम् । ९ खण्डमुण्डयोः शबलधवलयोर्वा । १० सामान्यतद्वतोः । ११ परेणाङ्गीक्रियमाणे । १२ इदं (व्यक्तिः) सामान्यमिति । १३ कुन्ताः प्रविशन्ति अश्वा आगच्छन्तीत्यादिवद्वा । १४ व्यक्तिर्यथा सादृश्यपरिणामास्तेन मुण्डेन सदृशः खण्ड इत्यादि । १५ समान इति परिणामेषु । १६ विसदृशपरिणामपक्षेपि । १७ अपरविसदृश । १८ तर्हीति शेषः । १९ विशेषरूपाणाम् । २० स्वात्मनि समानप्रत्ययहेतुत्वप्रसङ्गः । २१ प्रतिनियतशक्तित्वाभावात् । २२ सौगतेन ।

एतेन नित्यं निखिलब्राह्मणव्यक्तिव्यापकं ब्राह्मण्यमपि प्रत्याख्यातम्। न हि तत्तथाभूतं प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयते। ननु च 'ब्राह्मणोयं ब्राह्मणोयम्[1]' इति प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः। न चेदं विपर्ययज्ञानम्; बाधकाभावात्। नापि संशयज्ञानम्; उभयांशानवलम्बित्वात्। पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानपूर्वकोपदेश[3]सहाया चास्य व्यक्ति[4]र्व्यञ्जिका, तत्रापि तत्सहायेति। न चात्राऽनवस्था; वीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्तद्रूपोपदेशपरम्परायाः।

तथानुमानतोपि; तथाहि–ब्राह्मणपदं[5] व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ता[6]भिधेयसम्बद्धं पदत्वात्पटादिपदवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; धर्मिणि विद्यमान[7]त्वात्। नापि विरुद्धः; विपक्षे एवाभावात्। नाप्यनैकान्तिकः; पक्षविपक्षयोरवृत्तेः। नापि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्[8]; पटादौ व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ता[9]भिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येनाऽनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणाघटनात्। तथा[10], '[11]वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मणः इति ज्ञानम्, तन्निमित्तबुद्धिविलक्षण[12]त्वात्, गवाश्वादिज्ञानवत्' इत्यतोपि तत्सिद्धिः। तथा 'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' इत्याद्यागमा[13]च्चेति।

अत्रोच्यते। यत्तावदुक्तम्–प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः; तत्र किं निर्विकल्पकात्, विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्? न तावन्निर्विकल्पकात्; तत्र जात्यादिपरामर्शाभावात्, भावे वा सविकल्पकानुषङ्गः। अन्यथा[14]—

"अस्ति ह्यालोचना[15]ज्ञानं प्रथमं[16] निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञान[17]सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ १॥
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मै[18]र्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥ २॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० ११२,१२०] इति वचो विरुद्ध्येत।

---

१ विस्फारिताक्षस्य पुरुषस्य पुरो व्यवस्थितेषु क्षत्रियादिसङ्घेषु। २ इति= अनुगतैकाकारप्रत्ययतया। ३ पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानादस्य पुत्रस्य ब्राह्मण्यमित्युपदेशः। ४ कठकलापादिः। ५ ब्राह्मणोयं ब्राह्मणोयमिति सामान्यस्य वाचकत्वात् ब्राह्मण इति सामान्यपदम्। ६ ब्राह्मण्यं तदेवाभिधेयं तेन सम्बद्धम्। ७ पदत्वस्य। ८ नापि दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं पटादिपदे पदत्वस्य विद्यमानत्वात्। ९ पटत्व। १० द्वितीयमनुमानम्। ११ गौरत्वादि। १२ ब्राह्मण इति ज्ञानस्य। १३ अपुरुषकृतात्। १४ जात्यादिपरामर्शकत्वेपि निर्विकल्पकत्वे। १५ इन्द्रिय। १६ अक्षिविस्फालनानन्तरम्। १७ तज्ज्ञानं वक्तुं न शक्यते यतः; विशेषणविशेष्यरहितं शुद्धं भेदरहितसन्मात्रलक्षणवस्तुतो जातम्। १८ भेदसहितं समन्वितमिति यावत्।

नापि सविकल्पकात्, क[1]ठकलापादि[2]व्यक्तीनां मनुष्यत्वविशिष्ट[3]तयेव ब्राह्मण्यविशिष्टतयापि प्रतिपत्त्यसम्भवात्। पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानपूर्वकोपदेशसहाया व्यक्तिर्व्यञ्जिकास्य; इत्यप्यसारम्; यतः पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? अप्रमाणं चेत्; कथमतोर्थसिद्धिरतिप्र[4]सङ्गात्? प्रमाणं चेत्; किं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? प्रत्यक्षं चेत्; न; अस्य त[5]द्ग्राहकत्वेन प्रा[6]गेव प्रतिषेधात्।

किञ्च, 'ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयः। यथा च ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षत्वमुपदेशेन व्यवस्थाप्यते[7] तथा ब्रह्माद्यद्वैतप्रत्यक्षत्वमपि, तत्कथमप्रतिपक्षा[8] पक्षसिद्धिर्भवतः स्यात्? अथाद्वैताद्युपदेशस्याध्यक्षबाधितत्वान्न प्रत्यक्षाङ्ग[9]त्वम्; तदन्यत्रापि समानम्। ब्राह्मण्यविविक्तपिण्डग्राहिणाध्यक्षेणैव हि तदुपदेशो बाध्यते। अथाऽदृश्या ब्राह्मण्यजातिस्तेनायमदोषः; कथं तर्हि सा 'प्रत्यक्षा' इत्युक्तं शोभेत?

किञ्च, औपाधिकोयं ब्राह्मणशब्द[10]:, तस्य च निमित्तं[11] वाच्यम्। तच्च किं पित्रोरविप्लुत[12]त्वम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा? न तावदविप्लु[13]तत्वम्; अनादौ काले तस्याध्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, प्रायेण प्रमदानां कामातुरतयेह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भाच्च कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः? न च विप्लुतेतरपित्रऽपत्त्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते।

क्रियाविलोपा[14]त् शूद्रान्नादेश्च जा[15]तिलोप[16]: स्व[17]यमेवाभ्युपगतः—

"शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते॥"

[ ] इत्यभिधानात्।

---

१ कठः स्वरे ऋचां भेदः। २ ब्राह्मणव्यक्तीनाम्। ३ वैधर्म्यदृष्टान्तोयम्। यत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोरुभयोरस्तित्वं तत्रान्वयदृष्टान्तः। यत्रैकस्यास्तित्वमेकस्य नास्तित्वं तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तः। ४ संशयादपि स्वाभिमतार्थसिद्धिप्रसङ्गात्। ५ ब्राह्मण्यजाति। ६ अनन्तरमेव। ७ व्यवस्थाप्यतां शास्त्रोपदेशेन। ८ परपक्षस्यानिराकरणात्। ९ अङ्गं=कारणम्। १० विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं (तस्य वाचकत्वात्) वचः (तद्वाचकं) इत्यभिधानात्। ११ प्रवृत्तेरिति शेषः। १२ अभ्रान्तत्वम्। १३ पित्रोः। १४ ब्राह्मण्यस्य। १५ जातेः ब्राह्मण्यस्य। १६ ततो नित्यत्वव्याघातः। १७ मीमांसकेन।

कथं [1]चैवं वादिनो ब्रह्मव्यासविश्वामित्रप्रभृतीनां ब्राह्मण्यसिद्धिस्तेषां [2]तज्जन्यत्वासंभवात्। तन्न पित्रोरविप्लुतत्वं [3]तन्निमित्तम्।

नापि ब्रह्मप्रभवत्वम्; सर्वेषां तत्प्रभवत्वेन ब्राह्मणशब्दाभिधेयतानुषङ्गात्। 'तन्मुखाज्जातो ब्राह्मणो नान्यः' इत्यपि भेदो ब्रह्मप्रभवत्वे प्रजानां दुर्लभः। न खल्वेकवृक्षप्रभवं फलं मूले मध्ये शाखायां च भिद्यते। ननु नागवल्लीपत्राणां मूलमध्यादिदेशोत्पत्तेः [4]कण्ठभ्रामर्यादिभेदो दृष्ट एवमत्रापि प्रजाभेदः स्यात्; इत्यप्यसत्; यतस्तत्पत्राणां जघन्योत्कृष्टप्रदेशोत्पादात्तत्पत्राणां तद्भेदो युक्तो ब्रह्मणस्तु तद्देशाभावान्न तद्भेदः। तद्देशभावे चास्य जघन्योत्कृष्टतादिप्रसङ्गः स्यात्।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा, न वा? नास्ति चेत्; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः? न ह्यमनुष्यादिभ्यो मनुष्याद्युत्पत्तिर्घटते। अस्ति चेत्किं सर्वत्र, मुखप्रदेश एव वा? सर्वत्र इति चेत्; स एव प्रजानां भेदाभावोनुषज्यते। मुखप्रदेशे एव चेत्; [5]अन्यत्र प्रदेशे तस्य शूद्रत्वानुषङ्गः, तथा च न पादादयोस्य वन्द्या वृषलादिवत्, मुखमेव हि विप्रोत्पत्तिस्थानं वन्द्यं स्यात्।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवासौ जायेत? विकल्पद्वयेप्यन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखादेव जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति। अथ जात्या ब्राह्मण्यस्य सिद्धिस्तन्मुखादेव तज्जन्मन[6]श्चायमदोषः; न; अस्याः प्रत्यक्षतोऽप्रतीतेः। न खलु खण्डमुण्डादिषु सादृश्यलक्षणगोत्ववद्देवदत्तादौ ब्राह्मण्यजातिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते, अन्यथा 'किमयं ब्राह्मणोऽन्यो वा' इति संशयो न स्यात्। तथा च तन्निरासाय गोत्राद्युपदेशो व्यर्थः। न हि 'गौरयं मनुष्यो वा' इति निश्चयो गोत्राद्युपदेशमपेक्षते।

ननु यथा सुवर्णादिकं परोपदेशसहायात्प्रत्यक्षात्प्रतीयते तथा सापि; इत्यप्ययुक्तम्; यतो न पीततामात्रं सुवर्णमतिप्रस[7]ङ्गात्, किन्तु तद्विशेषः, स च नाध्यक्षो दाहच्छेदादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्यापि सहाय[8]त्वे [9]तज्जातौ किञ्चित्तथाविधं सहायं वाच्यम्-तच्चा-

---

१ पित्रोरविप्लुतत्वं ब्राह्मणशब्दप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तमित्येवं वादिनः। २ अविप्लुतपितृ। ३ ब्राह्मणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। ४ मूले उत्पन्नानि पत्राणि कण्ठस्य भ्रमं कुर्वन्ति, मध्ये उत्पन्नानि कण्ठस्य सुस्वरत्वं कुर्वन्तीति भेदः। ५ तत्र ब्राह्मण्याभावात्। ६ सिद्धिरिति सम्बन्धः। ७ रीतिकादेः सुवर्णत्वप्रसङ्गात्। ८ सुवर्णादिज्ञाने। ९ ब्राह्मण्य।

कारविशेषो वा स्यात्, अध्ययनादिकं वा? न तावदाकारविशेषः; तस्याब्राह्मणेपि सम्भवात्। अत एवाध्ययनं क्रियाविशेषो वा तत्सहायतां न प्रतिपद्यते। दृश्यते हि शूद्रोपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीतां च क्रियां कुर्वाणः। ततो ब्राह्मण्यंजातेः प्रत्यक्षतोऽप्रतिभासनात्कथं व्रतबन्धवेदाध्ययनादि विशि[1]ष्टव्यक्तावेव सिद्ध्येत्?

यदप्युक्तम्-'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानम्; तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमि[2]त्ताभिधेयसम्ब[3]द्धत्वं तत्पदस्याध्यक्षबाधितम्, कठकलापादिव्यक्तीनां ब्राह्मण्यविविक्तानां प्रत्यक्षतो निश्चयात्, अश्रा[4]वणत्वविविक्तशब्दवत्। अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः; न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयाभिसम्बद्धत्वं मीमांसकस्यास्माकं वा [5]कंचित्प्रसिद्धम्, व्यक्तिभ्यो [6]व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभ्युपगमा[7]त्।

हे[8]तुश्चानैकान्तिकः; सत्ताकाशकालपदे अद्वैता[9]दिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभा[10]वेपि प[11]दत्वस्य भावात्। [12]तत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायाम् सामान्यवत्त्वेना[13]द्वैताश्वविषाणा[14]देर्वस्तुभूतत्वानुषङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिः स्यात्? सत्तायाश्च सामान्यवत्त्वप्रसङ्गः, गगनादीनां चै[15]कव्यक्तिकत्वा[16]त्क[17]थं [18]सामान्यसम्भवः[19]? [20]दृष्टान्तश्च साध्यविकलः; पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तै[21]कनिमित्तत्वासिद्धेः।

[22]एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं प्रत्युक्तम्। [23]नगरादौ च व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तनिब[24]न्धनाभावेपि [25]तथाभूतज्ञानस्योपलम्भा[26]दनेकान्तः। न खलु नगरादिज्ञाने [27]व्यतिरिक्तमनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्तिविशिष्टत्वेन प्रासा-

---

१ ब्राह्मणे। २ ब्राह्मण्य। ३ साध्यधर्मः। ४ अश्रावणत्वविविक्तशब्दसाध्यक्षतो निश्चयाद्यथाऽश्रावणः शब्द इति पक्षः प्रत्यक्षबाधितस्तथेत्यर्थः। ५ दृष्टान्ते। ६ भिन्नज्ञानजनकत्वे भिन्नं व्यक्तिभ्यः, पृथक्कर्तुमशक्यत्वादभिन्नं सामान्यमिति। ७ मीमांसकैर्जैनैश्च। ८ पदत्वादिति। ९ आदिना अश्वविषाणादिपदे। १० साध्याभावे। ११ हेतोः। १२ इदमेव विवृणोति। १३ घटादिवत्। १४ अर्थस्य। १५ परमते। १६ एषां भेदा उपचरिता इत्यर्थः। १७ नैकव्यक्तिकं सामान्यमिति वचनात्। १८ गगनत्वादि। १९ इति साध्याभावो दर्शितः। २० पटादिपदवदिति। २१ नित्यसर्वगतादिरूपसामान्य। २२ पदत्वानुमाननिराकरणेन। २३ पदे। २४ साध्याभावे। २५ वर्णविशेषादिनिमित्तबुद्धिवैलक्षण्यस्योपलम्भात्। २६ नगरमिति ज्ञानोपलम्भात्। २७ व्यक्तेः सकाशात्।

दादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्तेः, अन्यथा 'षण्णगरी' इत्यादिष्वपि [1]वस्त्वन्तरकल्पनानुषङ्गः।

'ब्राह्मणेन यष्टव्यम्' इत्याद्यागमोपि [2]नात्र प्रमाणम्; प्रत्यक्षबाधिता[3]र्थाभिधायित्वात् तृणाग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यागमवत्।

ननु ब्राह्मण्यादिजातिविलोपे कथं [4]वर्णाश्रमव्यवस्था[5] तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारो जैनानां घटेत? इत्यप्यसमीचीनम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिन्होपलक्षिते [6]व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। कथमन्यथा परशुरामेण निःक्षत्रीकृत्य ब्राह्मणदत्तायां पृथिव्यां क्षत्रियसम्भवः[7]? यथा चानेन निःक्षत्रीकृतासौ तथा [8]केनचिन्निर्ब्राह्मणीकृतापि सम्भाव्येत[9]। ततः क्रियाविशेषादि[10]निर्बन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः।

एतेना[11]विगान[12]तस्त्रैवर्णिकोपदेशोत्र[13] [14]वस्तुनि प्रमाणमिति प्रत्युक्तम्; तस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात्। दृश्यन्ते हि बहवस्त्रै[15]वर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवह्रियमाणा विपर्यय[16]भाजः। तन्न परपरिकल्पितायां जातौ प्रमाणमस्ति यतोऽस्याः सद्भावः स्यात्।

सद्भावे वा वेश्यापाट[17]कादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च न स्यात् जातिर्यतः पवित्रताहेतुः, सा च भवन्मते तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात्। गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपीष्टं शिष्टैरादानम्, न तु ब्राह्मण्यादीनाम्। अथ क्रियाभ्रंशात्तत्र ब्राह्मण्यादीनां निन्द्यता; न; तज्जात्युपलम्भे तद्विशिष्ट[18]वस्तुव्यवसाये च [19]पूर्ववत्क्रियाभ्रंशस्याप्यऽसम्भवात्[20]। ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टव्यक्तिव्यवसायो ह्यप्रवृत्ताया अपि क्रि[21]यायाः प्रवृत्तेर्निमित्तम्, स च तदवस्थ [22]एव

१ नगरषट्कव्यतिरिक्तं षण्णगरीशब्दवाच्यवस्त्वन्तरम्। २ ब्राह्मण्ये। ३ ब्राह्मण्य। ४ ब्रह्मचारी गृहीत्यादिः। ५ वर्णाश्रमाणां तदधीनत्वात् न तु शूद्रजात्यधीनत्वम्। ६ ब्राह्मणादौ। ७ अतो ज्ञायते क्रियाविशेषादिकं चिह्नं दृष्ट्वैव पुरुषेषु क्षत्रियव्यवहारः कृतः। ८ रावणेन। ९ पुनर्ब्राह्मणेति व्यवहारः क्रियादिविशेषचिह्नं दृष्ट्वैव कृतोस्तीति ज्ञायते। १० क्षत्रियब्राह्मणयोर्निराकरणे पुनर्व्यवस्थापने च क्रियादिविशेष एव निबन्धनमित्यर्थः। ११ आगमनिराकरणपरेण। १२ अविवादतः। १३ यत्र ब्राह्मण्यजातिस्तत्र त्रैवर्णिकोपदेश इति। १४ ब्राह्मण्ये। १५ त्रैवर्णिकशास्त्रोपदेशैः। १६ शूद्राः। १७ गृहप्रासादशालादिस्थानभेदे पाटकशब्दः। १८ इयं ब्राह्मणीति। १९ वेश्यागृहादिप्रवेशात्पूर्ववत्। २० वेश्यादिगृहे। २१ नमस्कारादेः। २२ वेश्यादिगृहादौ।

भवद[1]भ्युपगमेन । क्रियाभ्रंशे तज्जातिनिवृत्तौ च व्रा[2]त्येप्यस्या निवृत्तिः स्यात्तद्भ्रंशाविशेषात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ तज्जातेर्निवृत्तिः स्याद् यदि क्रिया तस्याः का[3]रणं व्यापि[4]का वा स्यात्, नान्यथातिप्र[5]सङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिदिष्टम् । न च क्रि[6]याभ्रंशे जातेर्वि[7]कारोस्ति; "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः ।" [　　] इत्यभिधानात् । न चाविकृताया निवृत्तिः सम्भवत्यतिप्र[8]सङ्गात् ।

किञ्चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य, शरीरस्य, उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा, वेदाध्ययनस्य वा गत्यन्तरासम्भवात्? न तावज्जीवस्य; क्षत्रियविट्शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात्, तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात् ।

नापि शरीरस्य; अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवद् ब्राह्मण्यासम्भवात् । न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्तानां वा तत्सम्भवति । व्यस्तानां तत्सम्भवे क्षितिजलपवनहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसङ्गः । समस्तानां च तेषां तत्सम्भवे घटादीनामपि तत्सम्भवः स्यात्, तत्र तेषां सामस्त्यसम्भवात् । नाप्युभयस्य; उभयदोषानुषङ्गात् ।

नापि संस्कारस्य; अस्य शूद्रबालके कर्त्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसङ्गात् ।

किञ्च, संस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति वा, न वा? यद्यस्ति; संस्कारकरणं वृथा । अथ नास्ति; तथापि तद्वृथा । अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसम्भवे शूद्रबालकस्यापि तत्सम्भवः केन वार्येत?

नापि वेदाध्ययनस्य; शूद्रेपि तत्सम्भवात् । शूद्रोपि हि कश्चिद्देशान्तरं गत्वा वेदं पठति पाठयति वा । न तावतास्य ब्राह्मणत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यत इति । ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था इति सिद्धं सर्वत्र सदृशपरिणामलक्षणं समानप्रत्ययहेतुस्तिर्यक्सामान्यमिति ।

किं पुनरूर्ध्वतासामान्यमित्याह—

---

१ नित्यत्वादिरूपाया जातेः ततो नास्ति क्रियाभ्रंश इत्यर्थः । २ कदाचिन्नमस्कारहीनेपि । ३ अग्निनिवृत्तौ धूमनिवृत्तिरतोऽग्निः कारणं धूमस्य तद्वत् । ४ वृक्षनिवृत्तौ शिंशपात्वनिवृत्तिरतो वृक्षः शिंशपाया व्यापकस्तद्वत् । ५ घटनिवृत्तौ पटनिवृत्तिः स्यात् । ६ क्रिया–सन्ध्यावन्दनादिः । ७ नाशरूपः । ८ आत्माकाशादेरपि निवृत्तिः स्यादिति । ९ वेदाध्ययनमात्रेण ।

परापर[1]विवर्त्त[2]व्यापिद्रव्यमूर्द्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥ ६ ॥

सामान्यमित्यभिसम्बन्धः । तदेवोदाहरणद्वारेण स्पष्टयति-मृदिव स्थासादिषु[3][4] ।

ननु[5] पूर्वोत्तरविवर्त्तव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यापिनो द्रव्यस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात्कथं तल्लक्षणमूर्द्ध्वतासामान्यं सत्[6]; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रत्यक्षत एवार्थानामन्वयि[7]रूपप्रतीतेः प्रतिक्षणविशरारुतया स्वप्नेपि[8] तत्र तेषां प्रतीत्यभावात् । यथैव पूर्वोत्तरविवर्त्तयोर्व्यावृत्त[9]प्रत्ययादन्योन्यमभावः[10] प्रतीत[11]स्तथा मृदाद्यनुवृत्तप्रत्ययात्स्थितिरपि ।

ननु कालत्रयानुयायित्वमेकस्य[12][13] स्थितिः, तस्याश्चाऽक्रमेण प्रतीतौ[14] युगपन्मरणावधि[15] ग्रहणम्[16], क्रमेण प्रतीतौ न क्षणिका बुद्धिस्तथा तां प्रत्येतुं समर्था क्षणिकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; बुद्धेः क्षणिकत्वेपि प्रतिपत्तु[17]रक्षणिकत्वात्[18] । प्रत्यक्षादि[19]सहायो ह्यात्मैवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं भावानां[20] प्रतिपद्यते । यथैव हि घटकपालयोर्विनाशोत्पादौ प्रत्यक्षसहायोसौ प्रतिपद्यते तथा मृदादिरूपतया स्थितिमपि । न खलु घटादि[21]सुखादीनां[22][23] भेद[24] एवावभासते न त्वेकत्वमित्यभिधातुं युक्तम्; क्षणक्षयानुमानोपन्यासस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । स ह्येकत्वप्रतीति[25]निरासार्थो[26] न क्षणक्षयप्रतिपत्त्यर्थः, तस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतीत्यभ्युपगमात्[27] ।

---

१ पूर्वापरकालवर्त्ति त्रिकालानुयायीत्यर्थः । २ पर्यायरूपविशेषव्यापित्वाद्व्यक्तिनिष्ठत्वमूर्द्ध्वतासामान्यं सिद्धम् । ३ विवर्त्तेषु । ४ तदेव जैनैरुपादानकारणं प्रोक्तं नैयायिकादिभिश्च समवायिकारणमुक्तमित्यर्थः । ५ सौगतः । ६ विद्यमानम् । ७ सर्वविवर्त्तानुगामी=अन्वयी । ८ न केवलं जाग्रदवस्थायाम् । ९ पूर्वविवर्त्तादुत्तरविवर्त्तो व्यावृत्तः । १० भेदः । ११ बौद्धमते । १२ इदं मृद्रूपमिदं मृद्रूपमिति । १३ द्रव्यरूपपदार्थस्य । १४ सत्याम् । १५ यथा भवति तथा । १६ ज्ञानं स्यादात्मद्रव्यादेः । १७ आत्मनः । १८ अक्षणिक आत्मा स चेत्तदैव कथं न जानातीत्युक्ते आह । १९ आदिपदेन प्रत्यभिज्ञानादि । २० मृदादिपदार्थानाम् । २१ बाह्यपदार्थ । २२ आभ्यन्तरीयपदार्थ । २३ आदिना आत्मादीनाम् । २४ घटात्कपालं भिन्नं कपालाद्घटो भिन्न इति भेदः परस्परं तथा सुखदुःखादेरात्मा भिन्नस्तस्मात्सुखादि भिन्नमिति भेदः परस्परम् । २५ अभिधीयते सौगतेन । २६ सर्वथा नास्तिरूपस्य निषेधो न घटते गगनकुसुमवत् । २७ सौगतेन ।

न[1] चानन्तरातीतानागतक्षणयोः[2] प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तौ स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानानां वैफल्यम्; तत्र तेषां[3] साफल्यानभ्युपगमात्, अतिव्यवहिते तदङ्गीकरणात्[4]। न चाक्षणिकस्यात्मनोऽर्थग्राहकत्वे[5] स्वगतबालवृद्धाद्यवस्थानाम्[6]अतीतानागतजन्मपरम्परायाः सकलभावपर्यायाणां चैकदैवोपलम्भप्रसङ्गः[7]; ज्ञानसहायस्यैवार्थग्राहकत्वाभ्युपगमात्[8], तस्य[9] च प्रतिबन्धक[10]क्षयोपशमाऽनतिक्रमेण प्रादुर्भावान्नोक्त[11]दोषानुषङ्गः।

न च द्रव्यग्रहणेऽतीताद्यवस्थानां ततोऽभिन्नत्वाद्ग्रहणप्रसङ्गः; अभिन्नत्वस्य ग्रहणं[12] प्रत्यनङ्ग[13]त्वात्[14], अन्यथा ज्ञानादिक्षणानुभवे[15] सच्चेतनादिवत् क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्याद्यनुभवानुषङ्गः[16]। तस्माद्यत्रैवास्य ज्ञानपर्यायप्रतिबन्धापायस्तत्रैव ग्राहकत्वनियमो नान्यत्रेत्यनवद्यम्–'आत्मा प्रत्यक्षसहायोऽनन्तरातीतानागत[17]पर्याययोरेकत्वं प्रतिपद्यते' इति, स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहायश्चातिव्यवहितपर्यायेष्व[18]पि। तयो[19]श्च प्रामाण्यं प्रागेव[20] प्रसाधितम्।

ननु स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः पूर्वोप[21]लब्धार्थविषय[22]त्वे तद्दर्शन[23]काल एवोत्पत्तिप्रसङ्गः, तद्दर्शनवत्तद्विषयत्वेनानयोरप्यविकलकारणत्वात्, न चैवम्, तस्मान्न ते तद्विषये[24]। प्रयोगः–यस्मिन्नविकलेपि यन्न भवति न तत्तद्विषयम् यथा रूपेऽविकले तत्राभवच्छ्रोत्रविज्ञानम्, न भवतो[25]ऽविकलेपि च पूर्वोपलब्धार्थे स्मृतिप्रत्यभिज्ञाने इति; तदप्यपेशलम्; तद्दर्शनकाले तयोः कारणाभावेनाऽप्रादुर्भावात्। न ह्यर्थस्तयोः कारणम्; ज्ञानं प्रति कारणत्वस्यार्थे प्रागेव[26] प्रतिषेधात्। स्मरणं[27] हि संस्कारप्रबोधकारणम्,

---

१ प्रत्यक्षादिसहाय इत्यत्रादिग्रहणं निरर्थकमित्युक्ते आह। २ घटकपाललक्षणयोः। ३ जैनेन। ४ नित्य आत्मातीतानागतपर्यायानेकदैव ग्रहीष्यतीत्युक्ते आह। ५ अङ्गीक्रियमाणे जैनैः। ६ स्वतोऽभिन्नानां पर्यायाणाम्। ७ जैनैः। ८ ज्ञानेन युगपद्ग्रहीष्यतीत्युक्ते आह। ९ ज्ञानस्य। १० प्रतिबन्धकं कर्म। ११ युगपन्मरणावधिग्रहणलक्षण। १२ ज्ञानम्। १३ अकारणत्वात्। १४ संसारिणः। १५ पदार्थ। १६ तव सौगतस्य। ज्ञानादिलक्षणादभिन्नसद्भावात्। १७ घटकपाललक्षणयोः। १८ एकत्वं प्रतिपद्यते। १९ स्मृतिप्रत्यभिज्ञानयोः प्रामाण्यं न विद्यते, तत्सहाय आत्मातिव्यवहितपर्यायेषु कथमेकत्वं जानीयादित्युक्ते सत्याह। २० तृतीयाध्याये। २१ प्रत्यक्षेण। २२ स उपलब्धोर्थो विषयो ययोस्ते तत्त्वे। २३ प्रत्यक्ष। २४ स उपलब्धार्थो विषयो ययोस्ते। २५ अनुत्पाद्यमानत्वात्। २६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवदित्यत्र द्वितीयपरिच्छेदे। २७ तर्हि स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः कारणं किमित्युक्ते आह।

संस्कारश्च[1] कालान्तराविस्मरणकारणलक्षणधारणारूपः, तद्दर्शनकाले नास्तीति कथं तदैवास्योत्पत्तिः प्रत्यभिज्ञानस्य वा? तदुत्पत्तौ हि दर्शनं[2] पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मृतिसहायं प्रवर्त्तते, तच्च प्राग्नास्तीति कथं तदैव तदुत्पत्तिः ?

अथ मतम्-आत्मनः केवलस्यैवा[3]तीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्ये स्मरणाद्यपेक्षावैयर्थ्यम्, तदसामर्थ्ये वा नितरां तद्वैयर्थ्यम्, न खलु केवलं चक्षुर्विज्ञानं गन्धग्रहणेऽसमर्थं सत्तत्स्मृतिसहायं समर्थं दृष्टमिति; तदप्यसङ्गतम्; यतः स्मरणादिरूपतया परिणतिरेवात्मनोऽतीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्यम्, तत्कथं तदपेक्षावैयर्थ्यम्? चक्षुर्विज्ञानस्य तु गन्धग्रहणपरिणामस्यैवाभावान्न तत्स्मृतिसहायस्यापि गन्धग्रहणे सामर्थ्यमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

ततो निराकृतमेतत्-'पूर्वोत्तरक्षणयोर्[4]ग्रहणे कथं तत्र स्थास्नुताप्रतीतिः' इति; आत्मना[5] तयोर्ग्रहणसम्भवात् । भवतां तु तयोरप्रतीतौ कथं मध्यक्षणस्य तत्राऽ[6]स्थास्नुताप्रतीतिरिति चिन्त्यताम्[7]? पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य मध्यक्षणदर्शनात्तत्क्षणस्मृतिस्तस्याश्च 'स इह नास्ति' इत्यस्थास्नुतावगमे स्थास्नुतावगमो[11]प्येवं किन्न स्यात्?

ननु चास्थास्नुता पूर्वोत्तरयो[12]र्मध्ये[13]ऽभावः तस्य वा तत्र[14], स च तदात्मकत्वा[15]त्तद्ग्रहणेनैव गृह्यते; तदप्यसारम्; तदप्रतीतौ तत्रास्य अत्र वा तयोर्निषेधस्याप्यसम्भवात् । न ह्यप्रतिपन्नघटस्य 'अत्र घटो नास्ति' इति प्रतीतिरस्ति । कथं चैवं स्थास्नुता न प्रतीयेत? सापि हि पूर्वोत्तरयोर्मध्ये [16]कथञ्चित्सद्भावस्तस्य वा तत्र[17], स च [18]तदात्मकत्वात्तद्ग्रहणेनैव गृह्येत ।

ननु स्थास्नुतार्थानां नित्यतोच्यते, सा च त्रिकालापेक्षा, तदप्रतिपत्तौ च कथं तदपेक्षनित्यताप्रतिपत्तिः? तदसाम्प्रतम्; वस्तुस्वभावभूतत्वेनान्यानपेक्षत्वान्नित्यतायाः, तथाभूतायाश्चास्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वेन प्रतीतेः प्रतिपादनात्[19] । न खलु स्वयं नित्यतारहितस्य[20] त्रिकालेनासौ क्रियतेऽनित्यतावत् । न हि वर्त-

---

१ कारणम् । २ द्वितीयम् । ३ तस्य प्रत्यक्षादिसहायरहितस्य । ४ क्षणिकबुद्ध्या । ५ अक्षणिकेन । ६ अयं मध्यक्षणस्तत्र नाभून्न भविष्यतीति प्रतीतिः । ७ परेण । ८ क्षण । ९ दर्शनम्=अनुभवः । १० सकाशात् । ११ पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य मध्यक्षणदर्शनात्तत्क्षणस्मृतिः, तस्याश्च स इह द्रव्यरूपेणास्तीति । १२ क्षणयोः । १३ क्षणे । १४ अभावः । १५ पूर्वोत्तरक्षणयोरभावात्मकत्वान्मध्यक्षणस्य । १६ द्रव्यरूपेण । १७ द्रव्यरूपेण । १८ द्रव्यरूपेण मध्यक्षणस्य । १९ अग्रे । २० पदार्थस्य ।

मानकालेनानित्यता क्रियते तस्याऽसत्त्वात्[1], सत्त्वे वा तदनित्यत्वस्या[2]प्यपरेण[3] करणेऽनवस्थाप्रसङ्गः। ततो यथा स्वभावतः पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नः क्षणो जातः क्षणिको विधीयते कालनिरपेक्षश्च प्रतीयते तथाऽक्षणिकत्वम्[4]पि।

ननु चाक्षणिकत्वम् अर्थानामतीतानागतकालसम्बन्धित्वेनातीतानागतत्वम्। न च कालस्यातीतानागतत्वं सिद्धम्; तद्धि किमपरातीतादिकालसम्बन्धात्, तथाभूतपदार्थक्रियासम्बन्धाद्वा स्यात्, स्वतो वा? प्रथमपक्षेऽनवस्था[5]।

द्वितीयपक्षेपि पदार्थक्रियाणां कुतोऽतीतानागतत्वम्? अपरातीतानागतपदार्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; अनवस्था। अतीतानागतकालसम्बन्धाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः[6]। स्वतः कालस्यातीतानागतत्वे अर्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु किमतीतानागतकालसम्बन्धित्वकल्पनया? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वप्रसिद्धेः। [7]अनुभूतवर्त्तमानत्वो हि समयो[8]तीतः[9], अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागतः, तत्[10]सम्बन्धित्वाच्चार्थानामतीतानागतत्वम्। न च कालवदर्थानामपि स्वरूपेणैवातीतानागतत्वं युक्तम्; न ह्येकस्य धर्मोन्यत्राप्यासञ्जयितुं[11] युक्तः, अन्यथा निम्बादेस्तिक्ततादिधर्मो गुडादेरपि स्यात्, ज्ञानधर्मो वा स्वपरप्रकाशकत्वं घटादेरपि स्यात्, तद्धर्मो वा जडता ज्ञानस्यापि स्यात्।

ननु चानुवृत्ताकारप्रत्ययोपलम्भादक्षणिकत्वधर्मोर्थानां साध्यते, स च बाध्यमानत्वादसत्यः; तदप्यसम्यक्; यतोऽस्य बाधको विशेषप्रतिभास एव, स चा[12]नुपपन्नः। तथाहि-अनुवृत्ताकारे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वासौ तद्बाधको भवेत्? यदि प्रतिपन्ने; तदा किमनुवृत्तप्रतिभासात्मको विशेषप्रतिभासः, तद्व्यतिरिक्तो वा? प्रथमपक्षेऽनुवृत्तप्रतिभासस्य मिथ्यात्वे विशेषप्रतिभासस्यापि तदात्मकत्वात्तत्प्रसक्तेः कथमसौ[13] तद्बाधकः? द्वितीयपक्षेप्यनुवृत्ताकारप्रतिभासमन्तरेण स्थासकोशादिप्रतिभासस्य तद्व्यतिरिक्तस्यासंवेदनात्तद्बाधकत्वायोगात्। [14]अनुवृत्ताकाराप्रतिपत्तौ च विशेषप्रतिभासस्यैवासम्भवात्कथं तद्बाधकता?

---

१ सौगताभ्युपगमरीत्या। २ कालस्य। ३ कालेन। ४ कालनिरपेक्षम्। ५ अपरस्या परस्मात्सिद्धावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। ६ कालस्यातीताऽनागतत्वे सिद्धे सति पदार्थक्रियाणामतीतानागतत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्सिद्धिरिति। ७ द्रव्यरूपेण पुरुषेण। ८ भण्यते। ९ समयः। १० अतीतानागतकाल। ११ संयोजयितुम्। १२ बाधकत्वेनेति शेषः। १३ मिथ्यारूपः। १४ द्वितीयविकल्पोऽयम्।

किञ्च, विपरीतार्थव्यवस्थापकं प्रमाणं बाधकमुच्यते । प्रतिक्षणविनाशिपदार्थव्यवस्थापकत्वेन च प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा प्रवर्त्तेतान्यस्य[1] प्रमाणत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्? तत्र न तावत्प्रत्यक्षं तद्व्यवस्थापकम्; तत्र तथार्थानामप्रतिभासनात्। न हि प्रतिक्षणं त्रुट्यद्रूपतां[2] बिभ्राणास्तत्रार्थाः प्रतिभासन्ते, स्थिरस्थूलसाधारणरूपतयैव तत्र तेषां प्रतिभासनात् । न चान्यादृग्भूतः प्रतिभासोऽन्यादृग्भूतार्थव्यवस्थापकोऽति[3]प्रसङ्गात् ।

न च तत्र तथा तेषां प्रतिभासेपि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भा[4]द्यथानुभवं व्यवसायानुपपत्तेः स्थिरस्थूलादिरूपतया व्य[5]वसायः; इत्यभिधातव्यम्; अनुपहतेन्द्रियस्यान्यादृग्भूतार्थनिश्चयोत्पत्तिकल्पनायां प्रतिनियतार्थव्यवस्थित्यभावानुषङ्गात्। नीलानुभवेपि पीतादिनिश्चयोत्पत्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । तथा च "यत्रैव ज[6]नयेदेनां[7] तत्रैवा[8]स्य प्रमाणता" [ ] इत्यस्य विरोधः। त[9]तो यथाविधार्थाध्यवसायी विकल्पस्तथाविधार्थस्यैवानुभवो ग्राहकोभ्युपगन्तव्यः । न चार्थस्य प्रति[क्षण]विनाशित्वात्त[10]त्सामर्थ्यबलोद्भूतेनाध्यक्षेणापि त[11]द्रूपमेवानुक[12]रणीयमिति वाच्यम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सिद्धे हि क्षणक्षयित्वेऽर्थानां तत्सामर्थ्याविनाभाविनोध्यक्षस्य तद्रूपानुकरणं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ च क्षणक्षयित्वं तेषां सिध्यतीति ।

नाप्यनुमानं तद्ग्राहकम्; त[13]त्र प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्रवृत्तेः। तथा हि–अ[14]ध्यक्षाधि[15]गतमविनाभावमाश्रित्य पक्षधर्मतावगमबलादनुमानमुदयमासादयति। प्रत्यक्षाविषये तु स्वर्गादाविवानुमानस्याप्रवृत्तिरेव।

किञ्च, अत्र स्व[16]भावहेतोः, कार्यहेतोर्वा व्यापारः स्यात्? न तावत्स्वभावहेतोः; क्षणिकस्वभावतया कस्यचिदर्थस्वभावस्यानिश्चयात्, क्षणिकत्वस्याध्यक्षागोचरत्वात् । अध्यक्षगोचरे एव ह्यर्थे[17] स्वभावहेतोर्व्यवहृतिप्रवर्तनफलत्वम्, यथा विशददर्शनावभासिनि तरौ वृ[18]क्षत्वव्यवहारप्रवर्त्तनफलत्वं शिंशपायाः ।

---

१ आगमादेः । २ विनश्यद्रूपताम् । ३ पटज्ञानं घटव्यवस्थापकं स्यात्। ४ क्षणिकोयं क्षणिकोयमिति । ५ जायते । ६ निर्विकल्पकप्रत्यक्षं कर्तृ । ७ सविकल्पकां बुद्धिम् । ८ निर्विकल्पकस्य । ९ अतिप्रसङ्गो यतः । १० तस्य विनाश्यर्थस्य। ११ तस्य प्रतिक्षणं विनाश्यर्थस्य । १२ तथा च सति तथाविधार्थस्यैवानुभवो ग्राहको भविष्यतीत्यर्थः । १३ क्षणिकेर्थे । १४ दृष्टान्तधर्मिणि । १५ विनाशिपदार्थेन सह। १६ सत्त्वादिति । १७ दृष्टम् । १८ अयं वृक्षः शिंशपात्वादिति ।

अथो[1]च्यते-'यो यद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षाश्च भावाः' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; हेतोरसिद्धेः। न खलु मुद्गराद्यनपेक्षा घटादयो भावाः प्रमाणतो विनाशमनुभवन्तोऽनुभूयन्ते प्रतीतिविरोधात्।

किञ्च, अत्रान्यानपेक्षत्वमात्रं हेतुः, तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्वं वा? प्रथमपक्षे यवबीजादिभिरनेका[2]न्तो हेतोः, शाल्यङ्कुरोत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थायां तदुत्पादनेऽन्यानपेक्षाणामप्येषां तद्भावनियमाभावात्। द्वितीयपक्षे तु विशेष्यासिद्धो हेतुः[3]; तत्स्वभावत्वे सत्यप्यन्यानपेक्षत्वासिद्धेः। न ह्यन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनस्वभावापि द्वितीय[4]क्षणानपेक्षा तदुत्पादयति, दहनस्वभावो वा वह्निः करतलादिसंयोगानपेक्षो दाहं विदधाति। [5]भागे विशेषणासिद्धं च तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्वम्; शृङ्गोत्थशरादीनां[6] क्षणिकस्वभावाभावात्।

किञ्च, यदि नामाऽहेतुको विनाशस्तथापि यदैव मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तदैवासावभ्युपगमनीयो नोद[7]यानन्तरम्, कस्यचित्तदा [8]तदुपलम्भाभावात्। न[9] च मुद्गरादिव्यापारानन्तरमस्योपलम्भात्प्रागपि स[10]द्भावः कल्पनीयः; प्र[11]थमक्षणे तस्यानुपलम्भान्मुद्गरादिव्यापारानन्तरमप्यभावानुषङ्गात्। न चा[12]न्ते क्षयोपलम्भादादावप्य[13]सावभ्युपगन्तव्यः; स[14]न्तानेनानेकान्ता[15]त्।

किञ्च, उदयानन्तरध्वंसित्वं भावानाम् भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यामन्येन[16] ध्वंसस्यासम्भवादवसीयते, प्रमाणान्तराद्वा? तत्रोत्तरविकल्पोऽयुक्तः; प्रत्यक्षादेरुदयानन्तरध्वंसित्वेनार्थग्राहकत्वाप्रतीतेः। प्रथमविकल्पे तु भिन्नाभिन्नविक[17]ल्पाभ्यां मुद्गराद्यनपेक्षत्वमेवास्य

---

१ 'भावा धर्मिणः, विनाशस्वभावनियता इति साध्यधर्मः, विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति हेतुः' इत्युपरितः। २ साध्याभावे प्रवर्त्तमानत्वात्। ३ विनाशहेतुः। ४ बौद्धमतेऽपि एकस्मिन्क्षणे कारणं कार्यं न करोति यतः। ५ सर्वे भावा विनाशस्वभावनियता इति पक्षस्यैकदेशे भागासिद्धो हेतुरित्यर्थः। ६ महिषमृगादिशृङ्गेऽन्यनिरपेक्षतयोत्थशरीरादीनाम्। ७ एकस्मिन्क्षणे पदार्थ उत्पन्नः द्वितीयक्षणे मुद्गरादिव्यापारमन्तरेण विनश्यतीति नाभ्युपगमनीयं त्वया सौगतेन। ८ तस्य विनाशस्य। ९ मुद्गरादिव्यापारानन्तरं विनाशोस्ति मुद्गरादिव्यापारात्पूर्वं (उत्पत्तिक्षणाद् द्वितीयक्षणे) मपि विनाशोस्तीत्युक्ते आह। १० विनाशस्य। ११ मुद्गरादिव्यापारात्पूर्वक्षणे। १२ मुद्गरादिव्यापारस्यान्ते। १३ मुद्गरादिव्यापारात्पूर्वम्। १४ निर्वाणस्यान्ते उत्तरक्षणोत्पत्तेः क्षयोस्ति, नादौ। १५ यद्यदन्ते क्षयि तत्तदादौ क्षयीति। १६ मुद्गरादिना। १७ स्थितिपक्षे उत्पादपक्षे चाग्रे यदुक्तमस्ति तत्सर्वमत्र द्रष्टव्यम्।

स्यात् न तु[1]दयानन्तरं[2] भावः। न खलु निर्हेतुकस्याश्वविषाणादेः [3]पदार्थोदयानन्तरमेव भावितोपलब्धा।

अथाहेतुकत्वेन ध्वंसस्य सदा सम्भवात्कालाद्यनपेक्षातः पदार्थोदयानन्तरमेव भावः; नन्वेवमहेतुकत्वेन सर्वदा भावा[4]त्प्रथमक्षणे एवास्य भावानुषङ्गो नोदयानन्तरमेव। न ह्यनपेक्षत्वादहेतुकः क्वचित्कदाचिच्च [5]भवति, [6]तथाभावस्य सापेक्ष[7]त्वेनाहेतुकत्वविरोधिना सहेतुकत्वेन व्याप्तत्वात्, तथा सौगतैरप्यभ्युपगमात्।

ननु प्रथमक्षणे एव तेषां ध्वंसे सत्त्वस्यैवासम्भ[8]वात्कुतस्तत्प्रच्युतिलक्षणो ध्वंसः स्यात्? ततः स्व[9]हेतोरेवार्था ध्वंसस्वभावाः प्रादुर्भवन्ति; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतो यदि भावहेतोरेव तत्प्रच्युतिः; तदा किमेकक्षणस्थायिभावहेतोस्तत्प्रच्युतिः, कालान्तरस्थायिभावहेतोर्वा? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; एव(क)क्षणस्थायिभावहेतुत्वस्याऽद्याप्यसिद्धेः तत्कृतत्वं तत्प्रच्युतेरसिद्धमेव। द्वितीयपक्षे तु क्षणिकताऽभावानुषङ्गः।

किञ्च, भावहेतोरेवं[10] तत्प्रच्युतिहेतुत्वे किमसौ [11]भावजननात्प्राक्तत्प्रच्युतिं जनयति, उत्तरकालम्, समकालं वा? प्रथमपक्षे प्रागभावः प्र[12]च्युतिः स्यान्न प्रध्वंसाभावः। द्वितीयपक्षे तु भावोत्पत्तिवेलायां [13]तत्प्रच्युतेरुत्पत्त्यभावान्न [14]भावहेतुस्तद्धेतुः। त[15]था चोत्तरोत्तरकालभाविभावपरिणतिमपेक्ष्योत्पद्यमाना तत्प्रच्युतिः कथं भावोदयानन्तरं भाविनी स्यात्? तृतीयपक्षेपि भावोदयसमसमयभाविन्या तत्प्रच्युत्या सह भावस्यावस्थानाविरोधान्न कदाचिद्भावेन नष्टव्यम्। कथं चासौ मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेवोपलभ्यमाना तदभावे चानुपलभ्यमाना तज्जन्या न स्यात्? [16]अन्यत्रापि हेतुफलभावस्यान्व[17]यव्यतिरेकानुविधानलक्षणत्वात्।

न च मुद्गरादीनां कपालसन्तत्युत्पादे [18]एव व्यापार इत्यभिधातव्यम्; घटादेः स्वरूपेणाविकृतस्यावस्थाने पूर्ववदुपलब्ध्यादि[19]प्रसङ्गात्। न चास्य तदा[20] स्वयमेवाभावान्नोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः;

---

१ अर्थस्य। २ नाशस्य। निर्हेतुकत्वात्। ३ अश्वलक्षण। ४ कालाद्यनपेक्षत्वाविशेषात्। ५ किंतु सर्वदैव भवतीत्यर्थः। ६ क्वचित्कदाचिद्भवतः पदार्थस्य। ७ कालादिना। ८ अनुत्पन्नत्वात्। ९ अर्थोत्पत्तिकारणात्। १० मृच्चक्रादेः। ११ भावस्य घटादेः। १२ घटादिभावस्य। १३ घटप्रध्वंसस्य। १४ भावोत्पत्तिवेलायां येन कारणेन भावोत्पत्तिर्जाता तस्मिन्नेव समये तेनैव कारणेन घटप्रध्वंसो जायते तदा उभयोः कारणमेकं स्यादिति भावः। १५ भावहेतोर्विनाशहेतुत्वाभावे च। १६ कपालोत्पत्तौ। १७ मुद्गरादिना सह। १८ न घटप्रच्युतौ। १९ आदिना जलाहरणादिग्रहणम्। २० मुद्गरादिसन्निधानकाले।

तदभावस्यापि तदैवोपलभ्यमानतयाऽन्यदा चानुपलभ्यमानतया कपालादिवत्[1]तत्कार्यतानुषङ्गात् ।

अथ घट एव मुद्गरादिकं[2] विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादने[3]ऽसमर्थं क्षणान्तरमुत्पादयति, तदप्यपेक्ष्य अपरमसमर्थतरम्, तदप्युत्तरमसमर्थतमम्, यावद्घटसन्ततेर्निवृत्तिरि[4]त्युच्यते[5]; ननु चात्रापि[6] घटक्षणस्यासमर्थक्षणान्तरोत्पादकत्वेनाभ्युपगतस्य मुद्गरादिना कश्चित्सामर्थ्य[7]विघातो विधीयते वा, न वा? प्रथमविकल्पे कथमभावस्याहेतुकत्वम्[8]? द्वितीयविकल्पे तु मुद्गरादिसन्निपाते तज्जनकस्वभावाऽव्याहतौ समर्थ[9]क्षणान्तरोत्पादप्रसङ्गः, समर्थक्षणान्तरजननस्वभा[10]वस्य भा[11]वात्प्राक्तनक्षणवत् ।

किञ्च, भावोत्पत्तेः प्राग्भावस्याभावनिश्चये तदुत्पादककारणो[12]पादानं[13] कुर्वन्तः प्रतीयन्ते प्रेक्षापूर्वकारिणः तदुत्पत्तौ च निवृत्तव्यापाराः, विनाशकहेतुव्यापारानन्तरं च शत्रु[14]मित्रध्वंसे सुखदुःखभाजोऽनु[15]भूयन्ते । न चानयोः सद्भावः सुखदुःखहेतुः, ततस्तद्व्यतिरिक्तोऽभावस्तद्धे[16]तुरभ्युपगन्तव्यः ।

किञ्च, अभावस्यार्थान्तरत्वानभ्युपगमे किं घट एव प्रध्वंसोऽभिधीयते, कपालानि, तदपरं पदा[17]र्थान्तरं वा? प्रथमपक्षे घटस्वरूपेऽपरं नामान्[18]तरं कृतम् । तत्स्वरूपस्य त्वविचलितत्वान्नित्यत्वा[19]नुषङ्गः । अथैकक्षणस्थायि घटस्वरूपं प्रध्वंसः; न; एकक्षणस्थायितया तद्रूपस्याद्याप्यप्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षेऽपि प्राक्कपालोत्पत्तेः घटस्याव[20]स्थितेः कालान्तरावस्थायितै[21]वास्य, न क्षणिकता ।

किञ्च, कपालकाले 'सः, न' इति शब्दयोः किं भिन्नार्थत्वम्, अभिन्नार्थत्वं वा? भिन्नार्थत्वे कथं न नञ्शब्दवाच्यः पदार्थान्तरमभावः? अभिन्नार्थत्वे तु प्रागपि नञ्प्रयोग[22]प्रसक्तिः । न चानुपलम्भे[23] सति नञ्प्रयोगः[24] इत्यभिधातव्यम्; व्यवधानाद्यभावे[25]

---

१ घटाभावः कार्यं भवति मुद्गराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । २ सहायमात्रम् । ३ घटस्य घट एव । ४ घटभङ्गलक्षणम् । ५ मुद्गरादिकं कर्मत्वेन । ६ भवदुक्तपक्षे । ७ घटस्य । ८ मुद्गरादिकारणजन्यत्वात् । ९ समानक्षणान्तरोत्पादने । १० घटस्य । ११ उत्पादात् । १२ मृच्चक्रादि । १३ स्वीकरणम् । १४ कस्यचित्पुरुषस्य घटं दृष्ट्वा स्नेहो जायते कस्यचित्तु द्वेषो जायते इति स्वभावद्वययुक्तत्वाद्घट एव शत्रुमित्ररूपः, तस्य प्रध्वंसे । १५ अनेन वाक्येन सहेतुको विनाशोऽस्तीति दर्शितम् । १६ स मुद्गरादिर्हेतुर्यस्य सः । १७ पटादिकमित्यर्थः । १८ प्रध्वंस इति । १९ गगनादिवत् । २० बहुतरकालम् । २१ यावत् कपालानि । २२ घटे सत्यपि घटो नास्तीति । २३ घटस्य । २४ कर्त्तव्यः । २५ देशकालादिना ।

स्वरूपाद[1]प्रच्युतार्थस्या[2]नुपलम्भानुपपत्तेः । स्वरूपात्प्रच्युतौ वा कथं न कपालकाले मुद्गरादिहेतुकं भावान्तरं[3] प्रच्युतिर्भवेत् ?

अथ[4] घटकपालव्यतिरिक्तं भावान्तरं घटप्रध्वंसः; नन्वत्रापि तेन सह घटस्य युगपदवस्थानाविरोधात् कथं तत्तत्प्रध्वंसः ? अन्यथोत्पत्तिकालेपि तत्प्रध्वंस[5]प्रसङ्गाद्घटस्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

अन्यानपेक्षतया चाग्नेरुष्णत्ववत्स्वभावतोऽभावस्य भावे स्थितेरपि स्वभावतो भावः किन्न स्यात् ? शक्यते हि तत्राप्येवं वक्तुं कालान्तरस्थायी स्वहेतोरेवोत्पन्नो भावो न तद्भावे भावान्तरमपेक्षते अग्निरिवोष्णत्वे । भिन्नाभिन्नविकल्पस्य चा[6]भाववत् स्थितावपि समानत्वात् तत्राप्यन्यानपेक्षया निर्हेतुकत्वानुषङ्गः । तथाहि-न वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते; तस्याऽस्थास्नुतापत्तेः । स्थितिसम्बन्धात्स्थास्नुता; इत्यप्ययुक्तम्; स्थितितद्वतोर्व्यतिरेकपक्षाभ्युपगमे तावत्तादात्म्यसम्बन्धोऽस[7]ङ्गतः । कार्यकारणभावोप्यनयोः स[8]हभावादयुक्तः । असहभावे वा स्थितेः पूर्वं[9] तत्कारणस्यास्थितिप्रसङ्गः । स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयतानुषङ्गः[10] । अ[11]व्यतिरिक्तस्थितिकरणे च हेतुवैय[12]र्थ्यम् । त[13]तः स्थितिस्वभावनियतार्थस्त[14]द्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति स्थितम् ।

अहेतुकविनाशाभ्युपगमे च उत्पादस्याप्यऽहेतुकत्वानुषङ्गो विनाशहेतुपक्षनिक्षिप्तविकल्पाना[15]मत्राप्यविशेषात्; तथा हि-उत्पादहेतुः स्वभावत एवोत्पित्सुं भावमुत्पादयति, अनुत्पित्सुं वा ? आद्यविकल्पे तद्धेतुवैफ[16]ल्यम् । द्वितीयविकल्पेपि अनुत्पित्सोरु[17]त्पादे गगनाम्भोजादेरुत्पादप्रसङ्गः । स्वहेतुसन्निधेरेवोत्पित्सोरुत्पादाभ्युपगमे विनाशहेतुसन्निधानाद्विनश्वरस्य विनाशोप्यभ्युपगमनीयो न्यायस्य समानत्वात् ।

---

१ पृथुबुध्नोदरादेः । २ घटलक्षणस्य । ३ घटात् । ४ तृतीयविकल्पः । ५ पदार्थान्तरस्य सदैव सद्भावात् । ६ भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यां यथाऽभावः कारणान्तरनिरपेक्ष (बौद्धमते) स्तथा ताभ्यां स्थितिरपि कारणनिरपेक्षे (जैनमते) ति भावः । ७ घटपटयोरिव । ८ सव्येतरगोविषाणवत् । ९ घटस्य । १० स्वकारणस्य क्षणभङ्गुरत्वेन नष्टत्वादिति भावः । ११ घटात् । १२ अव्यतिरिक्तस्थितिकरणे च स्थितिमद्वस्त्वेव कृतं स्यात्, तस्य च स्वहेतुनैव कृतत्वात्स्थितेर्हेतुना करणमनुपपन्नमित्यस्य वैयर्थ्यम् । १३ स्थितावन्यानपेक्षतया निर्हेतुकत्वं सिद्धं यतः । १४ स्थितिस्वभावम् । १५ भिन्नाऽभिन्नवक्ष्यमाणानाम् । १६ स्वभावत एव भावस्योत्पत्तिसम्भवात् । १७ कारणेन ।

ततः कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाऽहेतुकौ कारणानन्तरं स[1]हभावाद्रूपादिव[2]त् । न चानयोः सहभावोऽसिद्धः; "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥" [ ]

इत्यभिधानात् । न चाहेतुकेन पर्यायसहभाविना द्रव्येणानेकान्तः; 'कारणानन्तरम्' इति विशेषणात् । न चैवमसिद्धत्वम्; मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत्कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, 'विनष्टो घटः, उत्पन्नानि कपालानि' इति व्यवहारद्वयदर्शनात् । न च साध्यविकलमुदाहरणम्; न हि कारणभूतो रूपादिकलापः कार्यभूतस्य रूपस्यैव हे[3]तुर्न तु र[4]सादेरिति प्रतीतिः । नाप्यसहभावो रू[5]पादीनां येन साधनवि[6]कलं स्यात् । तन्नोक्त[7]हेतोरर्थानां क्षणक्षयावसायः ।

नापि सत्त्वात्; प्रतिबन्धासिद्धेः । न च विद्युदादौ सत्त्वक्षणिकत्वयोः प्रत्यक्षत एव प्रतिबन्धसिद्धेर्घटादौ सत्त्वमुपलभ्यमानं क्षणिकत्वं गमयति इत्यभिधातव्यम्; तत्राप्यनयोः प्रतिबन्धासिद्धेः । विद्युदादौ हि मध्ये स्थितिदर्शनं पूर्वोत्तरपरिणामौ प्रसाधयति । न[8] हि विद्युदादेरनुपादानोत्पत्तिर्यु[9]क्तिमती; प्रथमचैतन्यस्याप्यनुपादानोत्पत्तिप्रसङ्गतः परलोकाभावानुषङ्गात्, विद्युदादिवत्तत्रापि प्रागुपादानाऽदर्शनात् । न चानुमीयमानमत्रोपादानम्; विद्युदादावपि तथात्वानुषङ्गात् ।

ना[10]प्यस्य निरन्वया सन्तानोच्छित्तिः; चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वाप[11]त्तितः पूर्वपूर्वक्षणानामप्य[12]वस्तुत्वाप[13]त्तेः सकलस[14]न्तानाभावप्रसङ्गः । विद्युदादेः सजातीयकार्याकरणेपि योगिज्ञा[15]नस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्; न; आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपा[16]दानस्य रू[17]पाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात् । ततो

---

१ ययोः सहभावस्तयोः सहेतुकासहेतुकत्वभावेन न जननमिति । २ रूपरसादीनां यथा । ३ उपादानरूपः । ४ सहकारिलक्षणः । ५ इत्युदाहरणस्य । ६ उदाहरणम् । ७ तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्वादिति । ८ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह । ९ प्रथमचैतन्यं जन्मान्तरचैतन्यपूर्वकं चिद्विवर्त्तत्वान्मध्यचिद्विवर्त्तवदिति । १० विद्युदुत्तरपरिणामाविनाभाविनी न भविष्यतीत्युक्ते आह । ११ उत्तराकारपरिणमनविषये । १२ अकिञ्चित्करत्वाविशेषात् । १३ अन्त्यचित्तक्षणस्यार्थक्रियाशून्यत्वेनासत्त्वप्रसङ्गात् तस्यासत्त्वे तत्पूर्वक्षणस्याप्यर्थक्रियारहितत्वेनासत्त्वम्, तत एव तत्पूर्वक्षणानामप्यसत्त्वेन सर्वशून्यतापत्तिरेव स्यात् । १४ पूर्वोत्तरक्षणानां समूहः सन्तानः, तन्मध्ये एकैकक्षणः सन्तानी । १५ विजातीयस्य । १६ पूर्वरूपस्य । १७ उत्तररूपाकरणे ।

रसाद्रूपानुमानं[1] न स्यात्। 'तथा[2] दृष्टत्वान्न दोषः' इत्यन्यत्रापि समानम्, विद्युच्छब्दादेरपि विद्युच्छब्दाद्यन्तरोपलम्भात्।

न चैकत्र सत्त्वक्षणिकत्वयोः सहभावोपलम्भात्सर्वत्र ततस्तदनुमानं युक्तम्; अन्यथा सुवर्णे सत्त्वादेव शुक्लतानुमितिप्रसङ्गः, शुक्ले शङ्खे शुक्लतया तत्सहभावोपलम्भात्। अथ सुवर्णाकारनिर्भासिप्रत्यक्षेण शुक्लतानुमानस्य बाधितत्वान्न तत्र शुक्लतासिद्धिः; तर्हि घटादौ क्षणिकतानुमानस्य 'स एवायम्' इत्येकत्वप्रतिभासेन बाधितत्वात्प्रतिक्षणविनाशितासिद्धिर्न स्यात्।

अथैकत्वप्रत्यभिज्ञा भिन्नेष्वपि लूनपुनर्जातनखकेशादिष्वसेदमुल्लिखन्ती प्रतीयत इत्येकत्वे नाऽसौ प्रमाणम्; नन्वेवं कामलोपहताक्षाणां धवलिमामाबिभ्राणेष्वपि पदार्थेषु पीताकारनिर्भासिप्रत्यक्षमुदेतीति सत्यपीताकारेपि न तत्प्रमाणम्। भ्रान्ताद्भ्रान्तस्य विशेषोन्यत्रापि समानः। प्रसाधितं च प्रत्यभिज्ञानस्याभ्रान्तत्वं प्रा[3]गित्यलमतिप्रसङ्गेन[4]।

अथ विपक्षे[5] बाधक[6]प्रमाणबलात्सत्त्वक्षणिकत्वयोरविनाभावोवगम्यते। ननु तत्र सत्त्वस्य बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षम्; तत्र क्षणिकत्वस्याप्रतिभासनात्। न चाप्रतिभासमानक्षणक्षय[7]स्वरूपं प्रत्यक्षं विपक्षाद्व्यावर्त्य सत्त्वं क्षणिकत्वनियतमादर्शयितुं समर्थम्। अथानुमानेन तत्ततो व्यावर्त्त्य[8] क्षणिकनियततया साध्येत; ननु तदनुमानेप्यविनाभावस्यानुमानबलात्प्रसिद्धिः, तथा चानवस्था। न च तद्बाधकमनुमानमस्ति।

ननु 'यत्र क्रम[9]यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधो न तत्सत् यथा गगनाम्भोरुहम्, अस्ति च नित्ये सः' इत्यतोनुमानात्ततो व्यावर्त्तमानं सत्त्वमनित्ये एवावतिष्ठत इत्यवसीयते; तन्न; सत्त्वाऽक्षणिकत्वयोर्विरोधाऽसिद्धेः। विरोधो हि सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा स्यात्? न तावदाद्यः; स हि पदार्थस्य पूर्वमुपलम्भे पश्चात्पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतौ निश्चीयते शीतोष्ण[10]वत्। न च नित्यत्वस्योपलम्भोस्ति सत्त्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयो विरोधस्तयोः सम्भवति; नित्यत्वपरिहारेण सत्त्वस्य तत्परिहारेण वा नित्यत्वस्यानवस्थानात्।

१ अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसादिति। २ उपादानकारणाद्रूपात् सजातीयरूपकरणप्रकारेण। ३ तृतीयपरिच्छेदे। ४ प्रत्यभिज्ञानस्याभ्रान्तत्वसमर्थनेन। ५ अक्षणिकत्वे। ६ सत्त्वस्य। ७ बसः। ८ सत्त्वं क्षणिकत्वनियतं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति। ९ नित्यं सन्न भवति क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। १० तमःप्रकाशयोरिव वा।

'क्षणिकतापरिहारेण ह्यक्षणिकता व्यवस्थिता तत्परिहारेण च क्षणिकता' इत्यनयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो [1]विरोधः[2]। न चार्थक्रियालक्षणसत्त्वस्य क्षणिकतया व्याप्तत्वान्नित्येन विरोधः; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं क्षणिकतया व्याप्तं नित्यताविरोधात्सिध्यति, सोप्यस्य क्षणिकतया व्याप्तेरिति।

ननु च अर्थक्रियायाः क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्तत्वात्तयोश्चाक्षणिकेऽसम्भवात्कुतः क्रमवत्यऽर्थक्रिया नित्ये सम्भविनी? न च सहकारिक्रमान्नित्ये क्रमवत्यप्यसौ सम्भवति; अस्योपकारकानुपकारकपक्षयोः सहकार्यऽपेक्षाया एवासम्भवात्। नापि यौगपद्येनासौ नित्ये सम्भवति; पूर्वोत्तरकार्ययोरेकक्षण एवोत्पत्तेर्द्वितीयक्षणे तस्यानर्थक्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्; इत्यप्यसारम्; एकान्तनित्यवदऽनित्येपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाऽसम्भवात्, तस्याः [3]कथञ्चिन्नित्ये एव सम्भवात्, तत्र क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वप्रसिद्धेः, [4]अन्यत्र तु तत्स्वभावत्वाप्रसिद्धेः पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात्, सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च। न खलु कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके चान्वितं रूपमस्ति, यतः [5]क्रमः कालकृतो देशकृतो वा। नापि युगपदनेकस्वभावत्वं यतो [6]यौगपद्यं स्यात्, कौटस्थ्य[7]विरोधान्निरन्वयविना[8]शित्व[9]व्याघाताच्च।

किञ्च, क्षणिकं वस्तु विनष्टं सत्कार्यमुत्पादयति, अविनष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा? न तावद्विनष्टम्; चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यसत्त्वेन जनकत्वविरोधात्। नाप्यविनष्टम्; क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गाद्वा, सकलकार्याणामेकदैवो[10]त्पद्य विनाशात्। नाप्युभयरूपम्; निरंशैकस्वभावस्य विरुद्धोभयरूपासम्भवात्। नाप्यनुभयरूपम्; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वे[11]नानुभयरूपत्वायोगात्।

कथं च निरन्वयनाशित्वे कारणस्योपादानसहकारित्वस्य [12]व्यवस्था तत्स्वरूपापरिज्ञानात्? [13]उपादानकारणस्य हि स्वरूपं [14]किं

---

१ न तु सत्त्वाक्षणिकत्वयोः। २ प्रथमभेदे बाध्यबाधकभावेन विरोधः। द्वितीयभेदे तु स्वभावेनैव—यत्र क्षणिकत्वं तत्र न सत्त्वमिति विरोधः। ३ द्रव्यत्वेन। ४ सर्वथा क्षणिके। ५ अवस्थितस्य पदार्थस्यैकस्य हि नानादेशकालकलाव्यापित्वं देशक्रमः कालक्रमश्च। ६ नित्यक्षणिकाभ्यां कृतानां कार्याणाम्। ७ एकानेकात्मकत्वप्रसक्तेः। ८ क्षणिकत्व। ९ युगपदनेकस्वभावत्ववत् क्रमेणापि तथा प्राप्तेः। १० द्वितीयक्षणे कार्याजनकत्वात्। ११ अविनाभूतत्वेन। १२ एकं कार्यं प्रत्युपादानत्वमपरं प्रति सहकारित्वमिति। १३ जैनो बौद्धं प्रति वक्ति। १४ बौद्धमते।

स्वसन्ततिनिवृत्तौ कार्यजनकत्वम्, यथा मृत्पिण्डः स्वयं निवर्तमानो घटमुत्पादयति, आहोस्विदने[1]कस्मादुत्पद्यमाने [2]कार्ये स्वगतविशेषाधायकत्वम्, समनन्तरप्रत्ययत्वमात्रं वा स्यात्, नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानं वा? प्रथमपक्षे कथञ्चित्[3]सन्ताननिवृत्तिः, [4]सर्वथा वा? कथञ्चिच्चेत्; पर[5]मतप्रसङ्गः। सर्वथा चेत्; परलोकाभावानुषङ्गो [6]ज्ञानसन्तानस्य सर्वथा निवृत्तेः।

द्वितीयपक्षेपि किं स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वम्, सकलविशेषाधायकत्वं वा? तत्राद्यविकल्पे सर्वज्ञज्ञाने [7]स्वाकारार्पकस्या[8]स्मदादिज्ञानस्य [9]तत्प्रत्युपादानभावः, तथा च सन्तानसङ्करः। [10]रूपस्य वा [11]रूपज्ञानं प्रत्युपादानभावोनुषज्येत [12]स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वाविशेषात्। रूपो[13]पादानत्वे च परलोकाय दत्तो [14]जलाञ्जलिः। कति[15]पयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे च एकस्यैव [16]ज्ञानादिक्षणस्यानुवृत्तव्यावृत्ताऽनेकवि[17]रुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात् स एव [18]परमतप्रसङ्गः। द्वितीयविकल्पे तु कथं निर्वि[19]कल्पकाद्विकल्पोत्पत्तिः रूपाकारात्समनन्तर[20]प्रत्ययाद्रसाकारप्रत्ययोत्पत्तिर्वा, स्वगतसकलविशेषाधायकत्वाभावात्? सन्तानबहुत्वो[21]पगमात्सर्वस्य स्वसदृशादेवो[22]त्पत्तिरित्यभ्युपगमे तु एकस्मिन्नपि पुरुषे प्रमातृ[23]बहुत्वापत्तिः। तथा च गवाश्वादिदर्शनयोर्भिन्नसन्तानत्वादेके[24]न दृष्टेर्थे [25]परस्यानुस[26]न्धानं न स्याद्देवदत्तेन दृष्टे यज्ञदत्तवत्।

---

१ (ज्ञानं प्रति) इन्द्रियार्थालोकादिकारणकलापात्। (घटं प्रति) मृदादिकारणकलापात्। २ ज्ञानलक्षणे घटादौ वा। ३ पर्यायरूपेण। ४ द्रव्यरूपेणापि। ५ तथैव जैनानामपीष्टत्वात्। ६ एकजन्मनि वर्त्तमानस्य, उत्तरोत्तरज्ञानसन्तान एवात्मेति वचनात्। ७ किञ्चिज्ज्ञत्वं वर्जयित्वाऽन्यान् चेतनत्वादिज्ञानगतविशेषान् समर्पयतीति भावः। ८ सहकारिकारणभूतस्य। ९ असदादिज्ञानं यदा सर्वज्ञो विषयीकरोति तदा तत्स्वाकारं कतिपयं समर्पयति यतः। १० सहकारिकारणभूतस्य। ११ कार्यभूतम्। १२ कतिपयविशेषाः=रूपगतजडत्वं वर्जयित्वा स्वगतश्वेतपीताद्याकारविशेषाः। १३ रूपज्ञानस्य। १४ अचेतनरूपादुपादानाच्चैतन्योत्पत्तिर्यतः। १५ रूपं रूपज्ञाने रूपं समर्पयति न तु जडत्वम्। १६ आदिना अर्थादि। १७ अर्पितानर्पितादिविशेषापेक्षयाऽनुवृत्तव्यावृत्तरूप। १८ अनेकान्तात्मकत्वाज् ज्ञानस्य। १९ उत्तरनिर्विकल्पकज्ञानस्योपादानात्सविकल्पकस्य सहकारिकारणात्। २० रूपज्ञानादुत्तररूपज्ञानस्योपादानादुत्तररसज्ञानस्य सहकारिकारणात्। २१ एकस्मिन्पुरुषे। २२ निर्विकल्पकस्य निर्विकल्पकमुपादानं सविकल्पकस्य सविकल्पकमुपादानमिति भावः। २३ ज्ञानसन्तानस्य बहुत्वात्। २४ गोदर्शनेन। २५ अश्वादिदर्शनस्य। २६ य एवाहं पूर्वं गामद्राक्षं स एवाहमिदानीमश्वं पश्यामीति क्रमेण, युगपदश्वगावौ पश्यामीत्यक्रमेण च।

किञ्च[1], सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेय[2]क्षणे एवास्यो[3]पयोगात् तत्रानुपयुक्तस्वभावान्तराभावाच्च एकसामग्र्य[4]न्तर्गतं प्रति[5] सहकारित्वाभावः, तत्कथं रूपादेः[6] रसतो गतिः[7]? स्वभावान्तरोपगमे त्रैलोक्यान्तर्गतान्यजन्यकार्यान्तरापेक्षया तस्याजनकत्वमपि स्वभावान्तरमभ्युपगन्तव्यम्, इत्यायातमेकस्यैवो[8]पादानसहकार्यऽजनकत्वाद्य[9]नेकविरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। न चैते धर्माः काल्पनिकाः[10]; तत्कार्याणामपि तथात्वप्रसङ्गात्।

समनन्तर[11]प्रत्यय[12]त्वमप्युपादानलक्षणमनुपपन्नम्; कार्ये समत्वं[13] कारणस्य सर्वात्मना, एकदेशेन वा? सर्वात्मना चेत्; यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्[14], तथा च सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वात्तयोः कार्यकारणभावो न स्यात्। तथा कारणाभिमतस्यापि स्वकारणकालता[15], तस्यापि सेति सकलशून्यं[16] जगदापद्येत। कथञ्चित्समत्वे[17] योगिज्ञानस्याप्यसदादिज्ञानावलम्बनस्य[18] तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वप्रसङ्गः स्यात्[19]।

अनन्तरत्वं च देशकृतम्, कालकृतं वा स्यात्? न तावद्देशकृतं तत्रोपयोगि; व्यवहितदेशस्यापि इह जन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वोपगमात्[20]। नापि कालानन्तर्यं तत्; व्यवहितकालस्यापि[21] जाग्रच्चित्तस्य प्रबुद्धचित्तोत्पत्तावुपादानत्वाभ्युपगमात्। अव्यवधानेन[22] प्राग्[23]भावमात्रमनन्तरत्वम्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणिकैकान्तवादिनां विवक्षितक्षणानन्तरं निखिलजगत्क्षणानामुत्पत्तेः सर्वेषा[24]मेकसन्तानत्वप्रसङ्गात्।

नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानं[25] तल्लक्षणम्; इत्यप्यसमीचीनम्; बुद्धे[26]तर[27]चित्ता[28]नामप्युपादानोपादेयभावानुषङ्गात्, तेषामव्यभिचारेण[29] कार्यकारणभूतत्वाविशेषात्। निरास्रव[30]चित्तोत्पादात्पूर्वं

१ स्वगतसकलविशेषाधायकत्वे दूषणान्तरमाह। २ कार्यजन्ये। ३ रूपाद्युपादानस्य। ४ पूर्वरूपरसौ एकसामग्री। ५ उत्तररसम्। ६ पूर्वरूपस्य। ७ ज्ञानम्। ८ रूपाद्युपादानस्य। ९ आदिपदेन पूर्वकालभावित्वमुत्तरकालनाशित्वम्। १० अयथार्थाः। ११ तृतीयविकल्पः। १२ प्रत्ययः=कारणम्। १३ समकालत्वमित्यर्थः। १४ सर्वात्मना समानत्वात्। १५ पूर्वरूपक्षणे कार्ये पूर्वतररूपक्षणस्य कारणभूतस्य समत्वम्। १६ कार्यकारणयोरभावात्। १७ ज्ञातत्वेन। १८ बहुव्रीहिः। १९ कथञ्चित्समत्वेन सद्भावात्। २० सौगतेन। २१ निद्रायाम्। २२ अन्येन वस्तुना तिरोधायकेन। २३ पूर्वरूपस्य कारणस्य। २४ चेतनाऽचेतनानां कार्याणाम्। २५ चतुर्थविकल्पः। २६ सुगत। २७ किञ्चिज्ज्ञ। २८ चित्तं ज्ञानम्। २९ असदादिज्ञानसद्भावे सुगतस्यासदादिज्ञानविषयकज्ञानोत्पत्तिस्तदभावे नोत्पत्तिरित्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। ३० आस्रवरहितचित्त।

बु[1]द्धचित्तं प्रति सन्तानान्तरचित्तस्याकारणत्वान्न तेषामव्यभिचारी कार्यका[2]रणभावः इति चेत्; य[3]तः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्यभिचारात्, अन्यथाऽस्या[4]ऽसर्वज्ञत्वं स्यात्। "नाकारणं विष[5]यः" [ ] इत्यभ्युपगमात्।

अव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषेपि प्रत्यासत्तिविशेषवशात्केषाञ्चि[6]देवोपादानोपादेयभावो न सर्वेषामिति चेत्; स कोन्योन्यत्रैकद्र[7]व्यतादात्म्यात्? दे[8]शप्रत्यासत्तेः रूपरसादिभिर्वातातपादिभिर्वा व्यभिचारात्। कालप्रत्यासत्तेः एकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात्। भा[9]वप्रत्यासत्तेश्च एकार्थोद्भूतानेकपुरुषविज्ञानैरनेकान्तात्।

न चात्रा[10]न्वयव्यतिरेकानुविधानं घटते। न खलु समर्थे का[11]रणे सत्यभव[12]तः स्व[13]यमेव पश्चाद्भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं नाम नित्यवत्। 'स्वदेशवत्स्वकाले सति समर्थे कारणे कार्यं जायते नासति' इत्येतावता क्षणिकपक्षेऽन्वयव्यतिरेकानुवि[14]धाने नित्येपि तत्स्यात्, स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नि[15]त्ये स्व[16]समये कार्यस्योत्पत्तेरसत्यऽनुत्पत्तेश्च प्रतीयमानत्वात्। सर्वदा नित्ये समर्थे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्? तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावेऽविशिष्टे क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदनुविधायीति समानम्?

नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्? क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः? स[17] हि क्षणस्थितिरेकोपि भावोऽनेकस्वभावो विचित्रकार्यत्वान्नानार्थक्षणवत्। न[18] हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत्। यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकसा-

---

१ सास्रवम्। २ निरास्रवच्चित्तोत्पत्तेः। ३ यदैव घटस्तदैव मृत्पिण्ड इति। ४ बुद्धस्य। ५ यत्सुगतज्ञानोत्पत्तौ कारणं तदेव विषयः। ६ सुगतच्चित्तानां परस्परम्। ७ अत्रात्मैव एकद्रव्यम्। ८ प्रत्यासत्तिरत्रैक्यम् यत्र यत्र देशप्रत्यासत्तिस्तत्र तत्रोपादानोपादेयभाव इत्युच्यमाने। ९ भावः=स्वरूपम्। १० क्षणिके। ११ पूर्वक्षणे जाग्रद्दशान्त्यच्चित्ते। १२ उत्तरक्षणस्य प्रबुद्धच्चित्तस्य। १३ कारणं विना। १४ सौगतेनाङ्गीक्रियमाणे। १५ कारणे। १६ अव्यापकत्वेनाभिमते। १७ क्षणिकस्यानेकस्वभावत्वं नास्त्यतः कथं समः पर्यनुयोग इत्याह। १८ विचित्रकार्यत्वमस्तु न त्वनेकस्वभावत्वमिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सतीदम्।

त्प्रदीपादिक्षणाद् वर्तिकादाहतैलशोषादि[1]विचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेरपि नानात्वं न स्यात्।

ननु च शक्तिमतो[2]ऽर्थान्तरान[3]र्थान्तरपक्षयोः शक्तीनामघटनात्तासां परमार्थसत्त्वाभावः; तर्हि रूपादीनामपि प्रतीतिसिद्धद्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरविकल्पयोरसम्भवात्परमार्थसत्त्वाभावः स्यात्। प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानत्वाद्रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनस्त[4]च्छक्तयस्तासामनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। ततो यथा क्षणिकस्य युगपदनेककार्यकारित्वेप्येकत्वाविरोधः, तथाऽक्षणिकस्य क्रमशोनेककार्यकारित्वेपीत्यनवद्यम्।

यच्चा[5]र्थक्रियालक्षणं सत्त्वमित्युक्तम्; तत्र लक्षणशब्दः का[6]रणार्थः, स्वरूपार्थः[7], ज्ञापकार्थो वा स्यात्? प्रथमपक्षे किमर्थक्रिया लक्षणं कारणं सत्त्वस्य, तद्वार्थक्रियायाः? तत्रा[8]र्थक्रियातः सत्त्वस्योत्पत्तौ प्राक् पदार्थानां सत्त्वमन्तरेणाप्यस्याः प्रादुर्भावान्निर्हेतुकत्वं निराधारकत्वं वानुषज्येत। अथ स[10]त्त्वादर्थक्रियोत्पद्यते; तदार्थक्रियातः प्रागपि सत्त्वसिद्धेर्भावानां स्वरूपसत्त्वमायातम्।

अथ स्वरूपार्थोसौ; तत्रापि तद्धेतोरसत्त्वप्रसङ्गः, न ह्यर्थक्रियाकाले तद्धेतुर्विद्यते[11]। न चान्यकालस्यास्यान्यकाला सा स्व[12]रूपमतिप्रसङ्गात्।

नापि ज्ञापकार्थोसौ; अर्थक्रियाकालेर्थस्यासत्त्वादेव। असतश्चास्याऽतः कथं सत्ताज्ञप्तिरतिप्रसङ्गात्[13]? न चार्थक्रियोदया[14]त्प्राक् कारणमासीदिति व्यवस्थापयितुं शक्यम्। यतो यदि स्वरूपेण पूर्वं हेतु[15]रवगतो भवेत्तदनन्तरं चार्थक्रिया, तदार्थक्रिया प्रतिपन्नसम्बन्धोप[16]लभ्यमाना प्राग्धेतुसत्तां व्यवस्थापयतीति

---

१ आदिना स्वपरप्रकाशनादिग्रहणम्। २ अर्थात्सकाशात्। ३ भिन्नाश्चेत्तस्येति सम्बन्धाभावः। सम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपकारकल्पनेऽनवस्था। अभिन्नाश्चेच्छक्तय एव शक्तिमन्त एव वा स्युः। ४ तस्य प्रदीपस्य। ५ साधनं विचार्यते। ६ लक्ष्यते जन्यते कार्यमनेनेति लक्षणं कारणमित्यर्थः—अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। ७ सत्त्वस्य। ८ सत्त्वस्य। ९ द्वयोः पक्षयोर्मध्ये। १० कारणभूतात्। ११ सर्वथा क्षणिकत्वात्। १२ न हि स्वरूपिस्वरूपयोः कालभेदो यतः। १३ गगनकुसुमादेरपि ज्ञापकत्वप्रसङ्गात्। १४ अर्थक्रिया=स्नानपानादिः। १५ जलादिलक्षणः अर्थक्रियायाः। १६ कारणेन सह।

स्यात्। न चार्थक्रियामन्तरेण हेतुः[1] स्वरूपेण कदाचिदप्युपलब्धः [2]परैः स्वरूपसत्त्वप्रसङ्गात्।

अर्थक्रियायाश्चापरार्थक्रिया यदि सत्त्वव्यवस्थापिका; तदानवस्था। न चार्थक्रियाऽनधिगतसत्त्वस्वरूपापि हेतुसत्त्वव्यवस्थापिका; अश्वविषाणादेरपि तत्सत्त्वव्यवस्थापकत्वानुषङ्गात्। न च हेतुजन्यत्वादर्थक्रिया सती नार्थक्रियान्तरोदयात्, इत्यभिधातव्यम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-हेतुसत्त्वाद्ध्यऽर्थक्रिया सती, तत्सत्त्वाच्च हेतोः सत्त्वमिति।

अस्तु वार्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्। तथाप्यतोर्थानां क्षणस्थायिता क्षणिकत्वं साध्येत, क्षणादूर्ध्वमभावो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यस्याप्यर्थस्य क्षणावस्थित्यभ्युपगमात्। कथमन्यथास्य सदावस्थितिः क्षणावस्थितिनिबन्धनत्वात् क्षणान्तराद्यवस्थितेः? अथ क्षणादूर्ध्वमभावः साध्यते; तन्न; अभावेन सहास्य प्रतिबन्धासिद्धेः। न चाप्रतिबन्धविषयोऽश्वविषाणादिवदनुमेयः। तन्न सत्त्वादप्यर्थानां क्षणिकत्वावगतिः।

नापि कृतकत्वात्; उक्तप्रकारेण क्षणिके कार्यकारणभावप्रतिषेधतः कृतकस्याऽसिद्धस्वरूपत्वेन तदवगतिं प्रत्यनङ्गत्वात्। [3]ततः प्रतीत्यनुरोधेन स्थिरः स्थूलः साधारणस्वभावश्च भावोऽभ्युपगन्तव्यः।

ननु चा[4]र्णूनामयःशलाकाकल्पत्वेनान्योन्यं सम्बन्धाभावतः स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्कथं तद्वशात्तत्स्वभावो भावः स्यात्? तथाहि-सम्बन्धोर्थानां पारतन्त्र्यलक्षणो वा स्यात्, रूपश्लेषलक्षणो वा स्यात्? प्रथमपक्षे किमसौ निष्पन्नयोः सम्बन्धिनोः स्यात्, अनिष्पन्नयोर्वा? न तावदनिष्पन्नयोः; स्वरूपस्यैवाऽसत्त्वात् शशाश्वविषाणवत्। निष्पन्नयोश्च पारतन्त्र्याभावादसम्बन्ध एव। उक्तञ्च—

"पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का [5]परतन्त्रता।
तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥ १॥"

[सम्बन्धपरी०]

नापि रूपश्लेष[7]लक्षणोसौ; सम्बन्धिनोर्द्वित्वे[6] रूपश्लेषविरो-

१ अर्थक्रियाकारणम्। २ सौगतैः। ३ अनुमानत्रयेण क्षणिकत्वं पदार्थानां न सिध्यति यतः। ४ रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणूनां सजातीयविजातीयव्यावृत्तानां परस्परमसम्बद्धानाम्। ५ सम्बन्धिनि। ६ सह्यविन्ध्ययोरिव। ७ अन्योन्यस्वभावानुप्रवेशलक्षणः।

घात्। तयोरैक्ये वा सुतरां सम्वन्धाभावः, सम्वन्धिनोरभावे सम्वन्धायोगात् द्विष्ठत्वात्तस्य। अथ नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेषः; न[1]; अस्यान्तरालाभाव[2]रूपत्वेनाऽतात्त्विकत्वात्[3] सम्वन्धरूपत्वायोगः । निरन्तरतायाश्च सम्वन्धरूपत्वे सान्तरतापि कथं सम्वन्धो न स्यात्[4]?

किञ्च, असौ रूपश्लेषः सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात्? सर्वात्मना रूपश्लेषे अणूनां पिण्डः अणुमात्रः स्यात्। एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशा[5]स्तस्यात्मभूताः, परभूताः वा? आत्मभूताश्चेत्; न एकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात्[6] । परभूताश्चेत्; तैरप्यणूनां सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च स्यात्। तदुक्तम्—

"रूपश्लेषो हि सम्वन्धो द्वित्वे[7] स च कथं भवेत्।
तस्मात्प्रकृति[8]भिन्नानां[9] सम्वन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ २ ॥"

[सम्वन्धपरी०]

किञ्च, परोपेक्षैव सम्वन्धः, तस्य द्विष्ठत्वात् । तं चापेक्षते भाव[10]ः स्वयं सन्, असन्वा? न तावदसन्; अपेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात् खरशृङ्गवत्। नापि सन्; सर्व[11]निराशंसत्वात्, अन्यथा[12] सत्त्वविरोधात्। तन्न परापेक्षा नाम यद्रूपः सम्वन्धः सिद्ध्येत्। उक्तञ्च—

"परापेक्षा हि सम्वन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते[13]।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥ ३ ॥"

[सम्वन्धपरी०]

किञ्च, असौ सम्वन्धः सम्वन्धिभ्यां भिन्नः, अभिन्नो वा? यद्यभिन्नः; तदा सम्वन्धिनावेव न सम्वन्धः कश्चित्, स एव वा न ताविति। भिन्नश्चेत्; सम्वन्धिनौ केवलौ[14] कथं सम्वधौ(द्धौ) स्याताम्?

भवतु वा सम्वन्धोर्थान्तरम्[15]; तथापि तेनैकेन सम्वन्धेन सह द्वयोः सम्वन्धिनोः कः सम्वन्धः? यथा सम्वन्धिनोर्यथोक्तदोषान्न कश्चित्सम्वन्धस्तथात्रापि । तेनानयोः सम्बन्धा-

---

१ इति चेदित्युपरितः। २ अन्तरालाभावो नैरन्तर्यमिति। ३ तुच्छभावरूपत्वादभावस्य। ४ निरन्तरतावत्पदार्थद्वयापेक्षत्वाविशेषात्। ५ अंशाः। ६ निरंशत्वादणोः। ७ सम्वन्धिनोः। ८ प्रकृत्या=स्वभावेन। ९ अणूनाम्। १० सम्बन्धलक्षणः। ११ सर्वेषु निराकांक्षत्वात्। १२ परमपेक्षते चेत्। १३ परम्। १४ सम्बन्धरहितौ। १५ सम्वन्धिभ्याम्।

न्तराभ्युपगमे चानवस्था स्यात्तत्रापि सम्बन्धान्तरानुषङ्गात्। तन्न सम्बन्धिनोः सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्व्यतिरेकेणान्यस्य सम्बन्धस्यासम्भवात्। तदुक्तम्—

"द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः[1]।
कः[2] सम्बन्धोनवस्था[3] च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ ४ ॥

ततः—

तौ च भावौ तदन्यश्च[4] सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना[5] ॥ ५ ॥"

[सम्बन्धपरी०]

तौ च भावौ सम्बन्धिनौ ताभ्यामन्यश्च सम्बन्धः सर्वे ते स्वात्मनि स्वस्वरूपे स्थिताः। तेनामिश्रा व्यावृत्तस्वरूपाः स्वयं भावास्तथापि तान्मिश्रयति योजयति कल्पना[6]। अत एव[7] तद्वास्तवसम्बन्धाभावेपि तामेव कल्पनामनुरुन्धानैर्व्यवहर्तृभिर्भावानां भेदो[8]ऽन्यापोहस्तस्य[9] प्रत्यायनाय क्रियाकारकादिवाचिनः शब्दाः प्रयोज्यन्ते-'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादयः। न खलु कारकाणां क्रियया सम्बन्धोस्ति; क्षणिकत्वेन[12] क्रियाकाले कारकाणामसम्भवात्। उक्तञ्च—

"तामेव[10] चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः।
भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेभिधायकाः ॥ ६ ॥"

[सम्बन्धपरी०]

कार्यकारणभावस्तर्हि[11] सम्बन्धो भविष्यति; इत्यप्यसमीचीनम्; कार्यकारणयोरसहभावतस्तस्यापि द्विष्ठस्यासम्भवात्। न खलु कारणकाले कार्यं तत्काले वा कारणमस्ति, तुल्यकालं कार्यकारणभावानुपपत्तेः सव्येतरगोविषाणवत्। तन्न सम्बन्धिनौ[13] सहभाविनौ विद्येते येनानयोर्वर्तमानोसौ सम्बन्धः स्यात्। अद्विष्ठे च भावे[14] सम्बन्धतानुपपन्नैव।

कार्ये कारणे वा क्रमेणासौ सम्बन्धो वर्त्तते; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः क्रमेणापि भावः सम्बन्धाख्य एकत्र कारणे कार्ये

---

१ स च सम्बन्धिनौ च। २ सम्बन्धसम्बन्धिनोः। ३ अन्यथेति शेषः। ४ सम्बन्धः। ५ वासनारूपा कर्त्री। ६ अवास्तवी। ७ कल्पनैव मिश्रयति यतः। ८ स्थिरस्थूलसाधारणाकाररूपः। ९ अगोव्यावृत्तिर्गौः, अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादि। १० कल्पनामवास्तवीं बुद्धिम्। ११ सामान्यसम्बन्धं संदूष्य सम्बन्धविशेषं दूषयन्नाह। १२ क्षणिकत्वात्। १३ कार्यकारणलक्षणौ। १४ कार्यकारणलक्षणे।

वा वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृहः=कार्य[1]कारणयोरन्यतरानपेक्षो नैकवृत्तिमान् सम्बन्धो युक्तः, तदभावेपि=कार्य[2]कारणयोर[3]भावेपि तद्भावात्। यदि पुनः कार्यकारणयोरेकं कार्यं का[4]रणं[5] वापेक्ष्यान्यत्र कार्ये कारणे वासौ सम्बन्धः क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेन द्विष्ठ एवेष्यते; तदानेनापेक्ष्यमा[6]णेनोपकारिणा[7] भवितव्यं यस्मादुपकार्यऽपेक्ष्यः स्यान्नान्यः। कथं चोपकरोत्यऽसन्? यदा कारणकाले कार्याख्यो भावोऽसन् तत्काले वा कारणाख्यस्तदा नैवोप[8]कुर्यादसामर्थ्यात्तं[9]।

किञ्च, यद्येका[10]र्था[11]भिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः कार्यकारणभावत्वेनाभिमतयोः; तर्हि द्वित्वसंख्यापर[12]त्वापरत्वविभागादि[13]सम्बन्धात्प्राप्ता सा सव्येतरगोविषाण[14]योरपि। न येन केनचिदेकेन सम्बन्धात्सेष्यते; किं तर्हि? सम्बन्धलक्ष[15]णेनैवेति चेत्; तन्न; द्विष्ठो हि कश्चित्पदार्थः सम्बन्धः, नातोर्थद्वयाभिसम्बन्धादन्यत्तस्य लक्षणम्, येनास्य संख्यादेर्विशेषो व्यवस्थाप्येत।

क[16]स्यचिद्भावे भा[17]वोऽभावे चाभावः तौ[18]वुपाधी विशेषणं यस्य योगस्य=सम्बन्धस्य स कार्यकारणता यदि न सर्वसम्बन्धः; तदा तावेव योगोपा[19]धी भावाभावौ कार्य[20]कारणताऽस्तु किमसत्सम्बन्धकल्पनया? सेदं[21]चेत् 'भावे हि भा[22]वोऽभावे चाभावः' इति[23] बहवो[24]भिधेयाः कथं कार्यकारणतेत्येकार्थाभिधायिना शब्देनोच्यन्ते? नन्वयं श[25]ब्दो नियोक्तारं समाश्रितः। नियोक्ता हि यं शब्दं य[26]था प्रयुङ्क्ते तथा प्रा[27]ह, इत्यनेकत्राप्येका[28] श्रुतिर्न विरुध्यते इति तावेव कार्यकारणता।

यस्मात् पश्यन्नेकं कारणाभिमतमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽदृष्ट[29]स्य कार्याख्यस्य दर्शने सति तददर्शने च सत्यऽपश्यत्कार्यमन्वेति

---

१ 'अन्यनिस्पृहस्य' प्रत्यर्थः। २ प्रत्यर्थः। ३ अन्यतरस्य। ४ अस्य कार्यस्येदं कारणमिति। ५ हेतोः। ६ कार्येण कारणेन वा। ७ सम्बन्धेन। ८ लोके। ९ कार्यं कारणमपेक्ष्य कारणे कार्यमपेक्ष्य यो वर्त्तते सम्बन्धस्तम्। १० खरविषाणादिवत्। ११ सम्बन्धलक्षण। १२ द्वन्द्वः। १३ आदिना पृथक्त्वादि। १४ द्वित्वसंख्यालक्षणैकार्थाभिसम्बन्धस्याविशेषात्। १५ एकेन सह। १६ कार्यस्य कारणस्य वा। १७ कार्यकारणतायाः स्यात्। १८ भावाभावौ। १९ उपाधिः=विशेषणम्। २० सम्बन्धः। २१ जैनानाशङ्क्याह बौद्धः। २२ भावाभावाभ्यां कार्यकारणभावसम्बन्धस्य। २३ सम्बन्धस्य। २४ चत्वारोऽर्थाः। २५ कार्यकारणसम्बन्धप्रतिपादकः कार्यकारणलक्षणः। २६ एकार्थमभिप्रेत्यानेकार्थं वाभिप्रेत्य। २७ एकार्थाननेकार्थान्वा। २८ यथोदधिशब्दः उदकानि असिन्धीयन्ते स उदधिरित्यादिः। २९ कारणाभिमतपदार्थदर्शनात्पूर्वम्।

'इदमतो[1] भवति' इति प्रतिपद्यते[2] जनः 'अत इदं जातम्' इत्याख्यातृभिर्विनापि[3]। तस्माद्दर्शनादर्शने[4][5]-विषयिणि[6][7] विषयोपचारात्-भावाभावौ मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात्[8] कार्यादिश्रुतिरप्यत्र[9][10] 'भावाभावयोर्मा लोकः प्रतिपदमियतीं[11] शब्दमालामभिदध्यात्' इति व्यवहारलाघवार्थं निवेशितेति[12][13]।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां[14] कार्यकारणता नान्या चेत् कथं भावाभावाभ्यां सा प्रसाध्यते[15]? तद्भावाभावात्[16] लिङ्गात्तत्कार्यतागतिर्याप्यनुवर्ण्यते[17] 'अस्येदं कार्यं कारणं च' इति; सङ्केतविषयाख्या सा। यथा 'गौरयं सास्नादिमत्त्वात्' इत्यनेन[18] गोव्यवहारस्य विषयः प्रदर्श्यते। यतश्च[19] 'भावे[20] भाविनि=भवनधर्मिणि तद्भावः=कारणाभिमतस्य भाव एव कारणत्वम्, भावे एव कारणाभिमतस्य भाविता कार्याभिमतस्य कार्यत्वम्' इति प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भतो हेतुफलते। ततो भावाभावावेव कार्यकारणता नान्या। तेनैतावन्मात्रं=भावाभावौ तावेव तत्त्वं[21] यस्यार्थस्यासावे[22]तावन्मात्रतत्त्वः, सोऽर्थो[23] येषां विकल्पानां[24] ते एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः=एतावन्मात्रबीजाः[25] कार्यकारणगोचराः[26], दर्शयन्ति घटितानिव=सम्बद्धानिवाऽसम्बद्धानप्यर्थान्[27]। एवं घटनाच्च मिथ्यार्थाः[28]।

किञ्च, असौ कार्यकारणभूतोऽर्थो भिन्नः[29], अभिन्नो वा स्यात्? यदि भिन्नः; तर्हि भिन्ने का घटना[30] स्वस्वभावव्यवस्थितेः[31]? अथाऽभिन्नः; तदाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का? नैव स्यात्।

स्यादेतत्, न भिन्नस्याभिन्नस्य[32] वा सम्बन्धः। किं तर्हि? सम्बन्धाख्येनैकेन सम्बन्धात्; इत्यत्रापि भावे सत्तायाम्[33]अन्यस्य[34]

---

१ कथम्? तथा हि। २ स्वयम्। ३ शब्दोल्लेखमन्तरेण उपदेशकैः पुरुषैः। ४ कारणस्य। ५ कार्यस्य। ६ कार्यकारणाभिमतयोः पदार्थयोः कार्यकारणता भवत्विति। ७ दर्शनादर्शनलक्षणे ज्ञाने। ८ भावाभावावेव कार्यं, नान्यदित्यर्थः। ९ श्रुतिः=शब्दः। १० न केवलं कार्यकारणश्रुतिः किंतु। ११ भावे भावः अभावे चाऽभाव इत्येतावतीम्। १२ समर्थिता। १३ इति=सम्बन्धवादी ब्रूते। १४ भावाभावाभ्यामनुमीयमाना यदि कार्यकारणता ताभ्यामन्या तदा दूषणम्। १५ सम्बन्धकादिना। १६ तस्य=कारणस्य। १७ अस्य कारणस्येदं कार्यमस्य च कार्यस्येदं कारणमिति। १८ अनुमानेन। १९ प्रकारान्तरेण तावेव कार्यकारणतेति निरूपयति। २० कार्यलक्षणे। २१ स्वरूपम्। २२ कार्यकारणस्य। २३ अर्थः=विषयः। २४ भ्रान्तज्ञानानाम्। २५ बसः। २६ विकल्पाः। २७ प्रत्यर्थः। २८ विकल्पाः। २९ परस्परम्। ३० सम्बन्धः। ३१ कार्यकारणयोः। ३२ कार्यस्य कारणस्य वा। ३३ प्रत्यर्थोऽयम्। ३४ भिन्नस्य।

सम्बन्धस्य विश्लिष्टौ[1] कार्यकारणाभिमतौ श्लिष्टौ स्याताम् कथं च तौ संयोगिसमवायिनौ? आदि[2]ग्रहणात्स्वस्वाम्या[3]दिकम्, सर्वमेतेनानन्तरोक्तेन सामान्यसम्बन्धप्रतिषेधेन चिन्तितम्[4]।

संयोग्यादीनामन्योन्यमनुपकाराच्चाऽजन्यजनकभावाच्च न सम्बन्धी[5] च तादृशोनुपकार्योपकारकभूतः।

अथास्ति कश्चि[6]त्समवा[7]यी योऽवयविरूपं कार्यं जनयति अतो नानुपकारादसम्बन्धितेति; तन्न; यतो जननेपि कार्यस्य केनचित्समवायिनाभ्युपगम्य[8]माने समवा[9]यी नासौ तदा जननकाले कार्यस्यानिष्प[10]त्तेः। न च ततो जननात्समवा[11]यित्वं सिद्ध्यति; कुम्भकारादेरपि घटे समवायित्वप्रसङ्गात्। त[12]योः समवायिनोः परस्परमनुपकारेपि ताभ्यां वा समवायस्य नित्यतया समवायेन वा तयोः पर[13]त्र वा क्वचिदनुपकारेपि सम्बन्धो यदीष्यते; तदा विश्वं परस्परासम्बद्धं समवायि परस्परं स्या[14]त्। यदि च संयोग[15]स्य कार्यत्वात्तस्य ता[16]भ्यां जननात्संयोगिता त[17]योः तदा संयोगजननेपीष्टौ, ततः संयोगजननान्न तौ संयोगिनौ, कर्मणोपि[18] संयोगिता[19]पत्तेः[20]। संयोगो ह्यन्यत[21]रकर्मजः उ[22]भयकर्मजश्चेष्यते। आ[23]दिग्रहणात्संयोग[24]स्यापि संयोगिता स्या[25]त्। न संयोगजननात्संयोगिता। किन्तर्हि? स्था[26]पनादिति चेत्; न स्थितिश्च[27] प्रतिवर्णिता[28]ग्रन्थान्तरे प्रतिक्षिप्ता[29], स्थाप्यस्थापकयोर्जन्यजनकत्वाभावान्नान्या स्थितिरिति[30]।

"कार्यकारणभावोपि तयोरसहभावतः।
प्रसिद्ध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम्॥ ७॥

---

१ स्वरूपेण। २ कारिकायाम्। ३ स्वामिभृत्यभावसम्बन्धादिकम्। ४ निराकृतम्। ५ अर्थः। ६ उपकारकः। ७ तन्त्वादिः। ८ सम्बन्धवादिना। ९ कार्येण समम्। १० समवायिना कारणेन कार्यस्य निष्पादनसमये कार्यस्यानिष्पन्नत्वात्कुतः कार्येण समत्वं कारणस्य? तत्करणे सति तस्य विनष्टत्वात्। ११ तन्तूनाम्। १२ तन्तुपटयोः। १३ असमवायिनि कारणे कार्ये वा। १४ उपकारकत्वाभावाविशेषात्। १५ सम्बन्धस्य। १६ समवायिभ्याम्। १७ संयोगिनोः। १८ क्रियायाः। १९ कर्मणः सकाशात्संयोगजननात्। २० तथा च द्रव्ययोरेव हि संयोगो, न कर्मणोरेवेति मतं विघटेत। २१ शैलश्येनयोः। २२ मल्लयोः। २३ कारिकायाम्। २४ गुणरूपस्य। २५ हस्तपुस्तकसंयोगात्कायपुस्तकसंयोगस्योत्पत्तेः। २६ संयोगिभ्यां स्थाप्यपदार्थस्य संयोगलक्षणस्य स्थितिनिष्पादनात्। २७ संयोगिनोः संयोगस्य च। २८ निराकृता। २९ प्रत्यर्थः। ३० जन्यजनकभावस्तु प्राक्प्रतिक्षिप्त इत्यर्थः।

क्रमेण भाव एक[1]त्र वर्त्तमानोन्यनिस्पृहः।
तद[2]भावेपि तद्भावा[3]त्सम्बन्धौ नैकवृत्तिमान् ॥ ८ ॥
यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्त्तते।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात्कथं चोपकरोत्यसन् ॥ ९ ॥
यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात्सव्येतरविषाणयोः ॥ १० ॥
द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणम्।
भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥ ११ ॥
योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम्।
भेदाच्चेन्नन्वयं शब्दो नियोक्ता[5]रं समाश्रितः ॥ १२ ॥
पश्यन्नेक[6]मदृष्ट[7]स्य दर्शने त[8]ददर्शने।
अपश्यत्कार्यमन्वेति विना व्याख्यातृभिर्जनः ॥ १३ ॥
दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात्।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ १४ ॥
त[9]द्भावाभावात्त[10]त्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते।
सङ्केतविषयाख्या सा सा[11]ख्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ १५ ॥
भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भावितौ[12]।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भत[13]ः ॥ १६ ॥
एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्था घटितानिव ॥ १७ ॥
भिन्ने का घ[14]टनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का।
भावे ह्यन्य[15]स्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ १८ ॥
संयोगिसमवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम्।
अन्योन्यानुपकाराच्च न सम्बन्धी च तादृशः ॥ १९ ॥
जननेपि हि कार्यस्य केनचित्समवायिना।
समवायी तदा नासौ न ततोतिप्रसङ्गतः ॥ २० ॥
त[16]योरनुपकारेपि समवाये परत्र वा।
सम्बन्धो य[17]दि विश्वं स्यात्समवायि परस्परम् ॥ २१ ॥
संयोगजननेपीष्टौ ततः संयोगिनौ न तौ[18]।

---

१ कार्ये कारणे वा। २ तयोः कार्यकारणयोः। ३ तस्य=सम्बन्धस्य। ४ सम्बन्धः। ५ नरम्। ६ कारणम्। ७ कार्यस्य। ८ तस्य=कारणस्य। ९ तस्य=कारणस्य। १० तस्य=कारणस्य। ११ साधनात्। १२ कार्यता। १३ अन्वयव्यतिरेकतः। १४ सम्बन्धः। १५ सम्बन्धस्य। १६ समवायिनोः। १७ तर्हीति शेषः। १८ कुतः? यतः।

कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता ॥ २२ ॥"
[सम्बन्धपरी०] इति ।

अस्तु वा कार्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, तथाप्यस्य प्रतिपन्नस्य, अप्रतिपन्नस्य वा सत्त्वं सिद्ध्येत्? न तावदप्रतिपन्नस्य; अतिप्रसङ्गात्[1]। प्रतिपन्नस्य चेत्; कुतोस्य प्रतिपत्तिः-प्रत्यक्षेण, प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां[2] वा, अनुमानेन वा प्रकारान्तराऽसम्भवात्[3]? प्रत्यक्षेण चेत्; अग्निस्वरूपग्राहिणा, धूमस्वरूपग्राहिणा, उभयस्वरूपग्राहिणा वा? न तावदग्निस्वरूपग्राहिणा; तद्धि तत्सद्भावमात्रमेव प्रतिपद्यते न धूमस्वरूपम्, तदप्रतिपत्तौ च न तदपेक्षयाग्नेः कारणत्वावगमः[4]। न हि प्रतियोगि[5]स्वरूपाप्रतिपत्तौ तं[6] प्रति कस्यचित्[7]कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं[8] प्रत्येतुं शक्यमतिप्रसङ्गात्[9]। नापि धूमस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमः; अत एव, उभयस्वरूपग्रहणे खलु तन्निष्ठसम्बन्धावगमो युक्तो नान्यथा। नाप्युभयस्वरूपग्राहिणा; तत्रापि हि तयोः[10] स्वरूपमात्रमेव[11] प्रतिभासते न त्वग्निर्धूमं प्रति कारणत्वं तस्यैव तं प्रति कार्यत्वम्। न हि स्वस्वरूपनिष्ठपदार्थद्वयस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण[12] कार्यकारणभावप्रतिभासः[13], घटपटादेरपि तत्[14]प्रसङ्गात्[15]। यत्प्रतिभासानन्तरमेकत्र ज्ञाने यस्य[16] प्रतिभासस्तयोस्तदवगमः; इत्यपि तादृग्[17]; घटप्रतिभासानन्तरं पटस्यापि प्रतिभासनात्। न[18] च 'क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभाससमन्वय्ये[19]कं ज्ञानम्' इति वक्तुं शक्यम्; सर्वत्र[20] प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात्[21]।

अथाग्निधूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारीन्द्रियजनितविकल्पज्ञाने[22] तद्द्वयस्य पूर्वापरकालभाविनः प्रतिभासात्कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यतीत्युच्यते[23]; तदप्युक्तिमात्रम्; चक्षुरादीनां तज्ज्ञानजननासामर्थ्ये[24] स्मरणसव्यपेक्षाणामपि जन-[25]

---

१ गगनाब्जादेरपि सत्त्वप्रसङ्गोऽप्रतिपन्नत्वाविशेषात्। २ अन्वयव्यतिरेकज्ञानाभ्याम्। ३ उक्तप्रकारेभ्यः प्रमाणान्तरस्य परेणानभ्युपगमात्। ४ अयमग्निर्धूमस्य कारणमिति। ५ प्रतियोगी=धूमः। ६ धूमम्। ७अग्न्यादेर्वस्तुनः। ८ साहश्यादिकम्। ९ खकुसुमादिकं प्रत्यपि कस्यचित्कारणत्वप्रसङ्गात्। १० अग्निधूमयोः। ११ न त्वयमग्निर्धूमस्य कारणं धूमोऽग्नेः कार्यमिति प्रतिभासः। १२ एव। १३ युक्तः। १४ तस्य=कार्यकारणभावस्य। १५ एकज्ञानप्रतिभासमानत्वस्याविशेषात्। १६ अर्थस्य। १७ कुतः। १८ एकं ज्ञानं परिहरति परः पदार्थद्वयप्रतिभासे। १९ अनुयायि। २० ज्ञाने ज्ञेये च। २१ घटपटयोरिव। २२ तौ अग्निधूमाविति मीमांसकाभ्युपगते प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे। २३ सम्बन्धवादिना। २४ अग्निधूमद्वयकार्यकारणभावज्ञानोत्पादनासामर्थ्ये। २५ ज्ञानस्य।

कत्वविरोधात्। न हि परिमलस्मरणसव्यपेक्षं लोचनं[1] 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्यय[2]मुत्पादयति। तत्सव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्तर[3]मेते[4] कार्यकारणभूता इत्यवभासनात्तद्भावः सविकल्पकप्रत्यक्षप्रसिद्धः; इत्यप्यसमीचीनम्; गन्धस्यापि लोचनज्ञानविषयत्वप्रसङ्गात्[5], गन्धस्मरणसहकारिलोचनव्यापारानन्तरं 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः। तन्न प्रत्यक्षेणासौ प्रतीयते।

नापि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्; प्रत्यक्षस्येवानुपलम्भस्यापि प्रतिषेध्य[6]विविक्तवस्तुमात्र[7]विषयत्वेनात्राऽसामर्थ्यात्। अथाग्निसद्भाव एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभावः कार्यकारणभावः, स चैताभ्यां प्रतीयते इत्युच्यते; तर्हि वक्तृत्वस्यासर्वज्ञत्वादिना व्याप्तिः[8] स्यात्। तद्धि रागादिमत्त्वाऽसर्वज्ञत्वसद्भावे स्वात्मन्येव दृष्टम्, तदभावे चोपलशकलादौ न दृष्टम्। तथा च सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो[9] जलाञ्जलिः[10]।

[11]वक्तृत्व[12]स्य वक्तुकामताहेतुक[13]त्वान्नायं[14] दोषः; रागादि[15]सद्भावेऽपि वक्तुकामताभावे तस्यासत्त्वात्। नन्वेवं[16] व्यभिचारे[17] विवक्षाप्यस्य निमित्तं न स्यात्, अर्थ[18]विवक्षायामप्यन्य[19]शब्दोपलम्भात्, अन्यथा गोत्र[20]स्खलनादेरभावप्रसङ्गात्। अथार्थविवक्षाव्यभिचारेऽपि शब्दविवक्षायामप्यव्यभिचारः[21]; न; स्वप्नावस्थायामन्यत्र[22] गतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाभावेऽपि वक्तृत्वसंवेदनात्। न[23] च व्यवहिता सा तन्निमित्तमिति वक्तव्यम्; प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य[24] तत्प्राप्तेः[25]। अथ 'असर्वज्ञत्वाद्य[26]भावे सर्वत्र[27] वक्तृत्वं न सम्भवति' इत्यत्र प्रमाणाभावान्न तस्य तेन कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः[28] सिद्ध्यति; तद[29]ग्निधूमादावपि समानम्।

---

२ कर्तृपदम्। २ कर्मपदम्। ३ परिमलस्मरणसव्यपेक्षत्वेऽपि लोचने सति चन्दनं सुरभीति ज्ञानं घ्राणेन्द्रियादेव जायत इत्यर्थः। ४ अग्निधूमादयः। ५ तदपि कुत इत्याह। ६ अग्निधूमादि। ७ महाह्रदादि। ८ असर्वज्ञत्वादिसद्भावे वक्तृत्वस्य सद्भावस्तदभावे चाभाव इति। ९ सर्वज्ञो वीतरागश्च नास्तीति भावः। १० सर्वज्ञास्तित्ववादिना जैनादिना। ११ सर्वज्ञास्तित्वं सूचयन्नाह। १२ साधनस्य। १३ न तु रागादिहेतुकत्वात्। १४ असर्वज्ञत्वलक्षणः। १५ आदिना द्वेषादि। १६ उक्तप्रकारेण। १७ वक्तृत्वसाधनस्य। १८ अग्निदत्त। १९ जिनदत्तादि। २० नाम। २१ वक्तृत्वस्य। २२ कार्यान्तरे। २३ शब्दविवक्षा यदासीत्तदा वक्तृत्वस्य निमित्तं स्यात्कार्यान्तरेणाव्यवहिता। अतोऽव्यवहिता या शब्दविवक्षा पश्चात्तन्निमित्तं भवतीत्युक्ते आह। २४ व्यवहितस्य कार्यस्य। २५ तस्य=व्यवहितकारणत्वस्य। २६ आदिना रागादिमत्त्वादि। २७ नृषु। २८ अविनाभावः। २९ यतो युक्तिमन्तरेण बौद्धेनोक्तमिति भावः।

अथ 'अग्न्यभावे धूमस्य भावे तद्धेतुकताविर[1]हात्सकृदप्यहेतो[2]-रग्नेस्तस्य भावो न स्यात्,[3] दृश्यते च महानसादाव[4]ग्नितः, ततो नानग्नेर्धूमसद्भावः' इति प्रतिबन्धसिद्धिरित्यभिधीयते[5]; तदप्यभिधानमात्रम्; यथैव हीन्धनादेरेकदा समुद्भूतोप्यग्निः अन्यदारणिनिर्मथनात् मण्यादेर्वा[6] भवन्नुपलभ्यते, धूमो वाग्नितो जायमानोपि गोपालघटिकादौ पावकोद्भूतधूमादप्युपजायते, तथा 'अग्न्यभावेपि कदाचिद्धूमो भविष्यति' इति कुतः प्रति[7]बन्धसिद्धिः ? अथ[8] 'यादृशोग्निरिन्धनादिसामग्रीतो जायमानो दृष्टो[9] न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा । धूमोपि यादृशोग्नितो न तादृशो गोपालघटिकादौ वह्निप्रभवधूमात्, अन्यादृशात्तादृश[10]भावेतिप्रस[11]ङ्गात्' इति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य चानग्नेर्भावः । भावे वा तादृशधूमजनक[12]स्याग्निस्वभावतैव इति न व्यभि[13]चारः । तदुक्तम्—

“अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥”
[प्रमाणवा० ३।३५] इत्यादि ।

तदेतद्वक्तृत्वेपि समानम्–'तद्धि सर्वज्ञे[14] वीतरागे वा यदि स्यात्, असर्वज्ञाद्रागादिमतो वा कदाचिदपि न स्याद्[15]हेतोः सकृदप्यसम्भ[16]वात्, भवति च तत्ततः, अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा सम्भवः' इति प्रतिब[17]न्धसिद्धिः ।

किञ्च, कार्यकारणभावः सकलदेशकालावस्थिताखिलाग्निधूमव्यक्ति[18]क्रोडीकरणेनावगतोऽनुमाननिमित्तम्, नान्यथा । न च निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि व्यापारः, प्रत्यक्षानुपलम्भयोर्वा ।

किञ्च, कार्योत्पादनशक्तिविशिष्टत्वं कारणत्वम् । न चासौ शक्तिः प्रत्यक्षावसेया किन्तु कार्यदर्शनगम्या,

“शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः”
[मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० २५४] इत्यभिधानात् ।

---

१ धूमोग्नेः कार्यं न भवतीति भावः । २ तस्य भावः । ३ अनेन प्रकारेण । ४ कार्यकारणयोरविनाभावसिद्धिः । ५ जैनादिना भवता । ६ सूर्यकान्तादेः । ७ धूमाग्निलक्षणकार्यकारणयोः । ८ मतम् । ९ न दृष्ट इति संबन्धः । १० वह्निप्रभवधूम । ११ जलादग्निसद्भावप्रसङ्गात् । १२ अर्थस्य । १३ धूमाग्निलक्षणकार्यकारणयोः । १४ तर्हि । १५ कुतः ? । १६ वक्तृत्वस्य । १७ वक्तृत्वस्यासर्वज्ञत्वादिना । १८ आवृत्तत्वेन एकत्वेन च ।

तत्र कार्यात्[१] कारण[२]त्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः स्यात्। तत्रापि शक्तिकार्ययोः प्रतिबन्ध[३]प्रतीतिर्न प्रत्यक्षादेः; उक्तदोषानुषङ्गात्। अनुमानात्तदवगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयानुषङ्गो वा स्यात्। एतेन तृतीयो[४]पि पक्षश्चिन्तित इति।

तदेतत्[५]सर्वमसमीचीनम्; सम्बन्धस्याध्यक्षेणैवार्थानां प्रतिभासनात्; तथाहि[६]-पटस्तन्तुसम्बद्ध एवावभासते, रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः[७]। सम्बन्धाभावे तु तेषां विश्लिष्टः[८] प्रतिभासः स्यात्; तम[९]न्तरेणान्यस्य संश्लिष्टप्रतिभासहेतोरभावात्। कथं च सम्बन्धे प्रतीयमाने[१०]ऽप्रतीयमानस्याप्यसम्बन्धस्य[११] कल्पना प्रती[१२]तिविरोधात्? अर्थक्रियाविरोधश्च, अणूना[१३]मन्योन्यमसम्बन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशाकर्षणे तदन्या[१४]कर्षणं चासम्बन्धवादिनो[१५] न स्यात्[१६]। अस्ति[१७] चैतत्सर्वम्। अतस्तदन्यथानुपपत्ते[१८]श्चासौ सिद्धः।

यच्च-'पारतन्त्र्यं हि' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; एकत्व[१९]परिणतिलक्षणपारतन्त्र्यस्यार्थानां[२०] प्रतीतितः सुप्रसिद्धत्वात्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्गः[२१]। न चार्थानां सम्बन्धः सर्वात्मनैकदेशेन वाभ्युपगम्यते[२२] येनोक्त[२३]दोषः[२४] स्यात् प्रकारान्तरेण[२५]वास्याभ्युपगमात्[२६]। सर्वात्मैकदेशाभ्यां हि तस्यासम्भवात् प्रकारान्तरस्य[२७] वाभावात्, तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेश्च ताभ्यां जात्यन्तरतया[२८] श्लेषः स्निग्धरूक्षतानिबन्धनो बन्धोऽभ्युपगन्तव्यो[२९]ऽसौ सक्तुतोयादिवत्। विश्लिष्टरूपतापरित्यागेन हि संश्लिष्टरूपतया[३०] कथञ्चि[३१]दन्यथात्व[३२]लक्षणैकत्वपरिणतिः सम्बन्धोऽर्थानां चित्रसंवेदने नीलाद्याकारवत्। न हि चित्र[३३]संविदो जात्यन्तररूपतयो[३४]त्पादा[३५]-

---

१ धूमादेः। २ अग्न्यादेः। ३ कार्यकारणभावरूपेण। ४ अनुमानेन वासौ कार्यकारणभावः प्रतीयते इति। ५ बौद्धोक्तम्। ६ कथमर्थानां सम्बन्धस्याध्यक्षेण प्रतिभासनमित्युक्ते सत्याह। ७ अवभासन्ते। ८ पटादेः सकाशाद्भिन्नः। ९ अन्यः कश्चित्संश्लिष्टप्रतिभासहेतुर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। १० प्रत्यक्षेण। ११ अर्थानाम्। १२ अन्यथेति शेषः। १३ असम्बन्धपक्षे। १४ अन्यस्य=शेषसकलभागस्य। १५ सौगतस्य। १६ परस्परमसम्बद्धत्वात्। १७ मा भवत्वित्युक्ते सत्याह। १८ अनुमानतः। १९ स्कन्धरूपेण। २० बाह्याध्यात्मिकानाम्। २१ तव सौगतस्य स्यात्। २२ जैनैः। २३ सौगतोक्त। २४ पिण्डोणुमात्रः स्यादित्यादिः। २५ कथं तर्हि सम्बन्ध इत्युक्ते सत्याह। २६ जैनैः। २७ अपरप्रकारस्य। २८ प्रकारान्तरत्वेन। २९ परेण। ३० एकलोलीभावात्मलक्षणया। ३१ पर्यायरूपेण। ३२ आदौ दधिगुडौ पृथक् तिष्ठतः पश्चात्संयोगेन कृत्वाऽन्यथास्वभावं पर्यायरूपं पानकं जातमिति। ३३ ज्ञानस्य। ३४ कथञ्चिन्नीलाकारेभ्योऽशक्यविवेचनत्वेन। ३५ उत्पत्तेः।

दन्यो[1] नीलाद्यनेकाकारैः[2] सम्बन्धः, सर्वात्मनैकदेशेन वा तैस्तस्याः सम्बन्धे प्रोक्ता[3]शेषदोषा[4]नुषङ्गाविशेषात्[5]।

स चैवंविधः सम्बन्धोर्थानां क्वचि[6]न्निखिलप्रदेशानामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशतः[7]-यथा सक्तुतोयादीनाम्, क्वचित्तु प्रदेशसंश्लिष्टतामात्रेण[8]-यथाङ्गुल्यादीनाम्। न चान्तर्बहिर्वा सांशवस्तुवादिनः[9] सांशत्वानुषङ्गो दोषाय; इष्टत्वात्। न चैवमनवस्था; तद्वत[10]स्तत्प्रदेशानामत्यन्त[11]भेदाभावात्। तद्भेदे हि तेषामपि तद्वता प्रदेशान्तरैः सम्बन्ध इत्यनवस्था स्यात् नान्यथा[12], अनेकान्तात्मक[13]वस्तुनोऽत्यन्तभेदाभेदाभ्यां[14] जात्यन्तरत्वाच्चित्रसंवेदनवदेव।

नन्वेवं[15] परमाणूनामप्यंशवत्त्वप्रसङ्गः स्यात्; इत्यप्यनुत्तरम्; यतोऽत्रांशशब्दः स्वभावार्थः, अवयवार्थो वा स्यात्? यदि स्वभावार्थः[16]; न कश्चिद्दोषस्तेषां विभिन्नदिग्विभागव्यवस्थितानेकाणुभिः सम्बन्धान्यथा[17]नुपपत्त्या तावद्धा स्वभावभेदोपपत्तेः। अवयवार्थस्तु तत्रासौ नोपपद्यते; तेषामभेद्यत्वेनावयवासम्भवात्। न चैवं[18] तेषामविभागित्वं विरुध्यते, यतोऽविभागित्वं भेदयितुमशक्यत्वं न पुनर्निःस्वभावत्वम्।

यच्चूक्तम्-'निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा पारतन्त्र्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्' इत्यादि; तदप्यसारम्; कथञ्चिन्निष्पन्नयोस्तदभ्युपगमात्। पटो[19] हि तन्तुद्रव्यरूपतया निष्पन्न एव अन्वयिनो[20] द्रव्यस्य पटपरिणामोत्पत्तेः प्रागपि सत्त्वात्, स्वरूपेण[21] त्वऽनिष्पन्नः[22], तन्तुद्रव्यमपि स्वरूपेण निष्पन्नं पटपरिणामरूपतयाऽनिष्पन्नम्। तथाङ्गुल्यादिद्रव्यं स्वरूपेण निष्पन्नम् संयोगपरिणामात्मकत्वेनानिष्पन्नमिति।

किञ्च, पारतन्त्र्यस्या[23]ऽभावाद्भावानां सम्बन्धाभावे तेन व्याप्तः क्वचित्[24] सम्बन्धः प्रसिद्धः[25], न वा? प्रसिद्धश्चेत्; कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावः विरोधात्[26]? नो चेत्[27]; कथमव्यापका[28]भावादव्याप्य[29]स्याभावसिद्धिरति[30]प्रसङ्गात्[31]?

---

१ भिन्नः। २ सौगतेन। ३ पिण्डोणुमात्रः स्यादित्यादि। ४ सांशत्वादि। ५ इति प्रतिबन्धविधानम्। ६ सम्बन्धिनि पदार्थे। ७ भवति। ८ सम्बन्धमात्रेण। ९ जैनस्य। १० पदार्थात्। ११ सर्वथा। १२ कथञ्चिद्भेदे। १३ अन्तो=धर्मः, कथञ्चिद्भेदाभेदरूपस्य। १४ सर्वथानेकत्वैकत्वाभ्याम्। १५ सांशवस्तुप्रकारेण। १६ तर्हि। १७ स्वभावभेदाऽभावे। १८ स्वभावभेदसम्भवे। १९ कथम्। २० तन्त्वादेः। २१ पटरूपेण। २२ पटः। २३ भावानां सम्बधो नास्ति पारतन्त्र्याभावात्। २४ दृष्टान्ते। २५ ज्ञातः। २६ ज्ञातत्वस्य। २७ अथ न प्रसिद्धस्तर्हि। २८ असाध्य। २९ असाधनस्य। ३० अन्यथा। ३१ घटाभावे पटाभावप्रसङ्गात्।

'रूपश्लेषो हि' इत्याद्यप्येकान्तवादिनामेव दूषणं नास्माकम्[1]; कथञ्चित्सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभावस्य[2] रूपश्लेषलक्षणसम्बन्धस्याभ्युपगमात्। अशक्यविवेचनत्वं[3] हि सम्बन्धिनो रूपश्लेषः, असाधारणस्वरूपता[4] च तद्ऽश्लेषः[5]। स चानयोर्द्वित्वं न विरुन्ध्यात् तथा प्रतीतेश्चित्राकारैकसंवेदनवत्[6]। न चापेक्षिकत्वात्सम्बन्धस्वभावो मिथ्याऽर्थानां सूक्ष्मत्वादिवदित्यभिधातव्यम्[7]; असम्बन्धस्वभावस्यापि[8] तथाभावानुषङ्गात्[9]। सोपि ह्यापेक्षिक एव कञ्चिदर्थमपेक्ष्य कस्यचित्तद्व्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तेः[10] स्थूलतादिवत्। 'प्रत्यक्षबुद्धौ[11] प्रतिभासमानः सोनापेक्षिक[12] एव तत्पृष्ठभाविविकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथाऽवास्तवोपि' इत्यन्यत्रापि समानम्। न खलु सम्बन्धोऽध्यक्षेण न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात्[13]।

एतेन[14] 'परापेक्षा हि' इत्याद्यपि[15] प्रत्युक्तम्; असम्बन्धेपि समानत्वात्[16]।

'द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्' इत्याद्यप्यविज्ञातपराभिप्रायस्य[17][18] विजृम्भितम्; यतो नास्माभिः सम्बन्धिनोस्तथापरिणतिव्यतिरेकेणान्यः[19] सम्बन्धोभ्युपगम्यते, येनानवस्था स्यात्।

तथा[20] च 'तामेव चानुरुन्धानैः' इत्याद्यप्ययुक्तम्; क्रियाकारकादीनां[21] सम्बन्धिनां तत्सम्बन्धस्य च प्रतीत्यर्थं तदभिधायकानां[22] प्रयोगप्रसिद्धेः। अन्यापोहस्य च प्रागेवापास्तस्वरूपत्वाच्छब्दार्थत्वमनुपपन्नमेव। चित्रज्ञानवच्चानेकसम्बन्धितादात्म्येप्येकत्वं[23][24][25][26] सम्बन्धस्याविरुद्धमेव।

यदप्युक्तम्—'कार्यकारणभावोपि' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नास्माभिः[27] सहभावित्वं क्रमभावित्वं वा कार्य-

---

१ अनेकान्तवादिनां जैनानाम्। २ एकलोलीभाव। ३ इदं तोयमिमे सक्तव इति विभागस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। ४ सक्तुतोययोर्भिन्नस्वरूपता। ५ पृथक्त्वम्। ६ इदं चित्रज्ञानमिमे चित्राकारा इति। ७ परेण। ८ अर्थानाम्। ९ आपेक्षिकत्वाविशेषात्। १० आपेक्षिकत्वाभावे। ११ निर्विकल्पकबुद्धौ। १२ साधनमसिद्धमुद्भावयति। १३ स्यादेव। १४ भवदुक्त्या सम्बन्धस्य परानपेक्षित्वसमर्थनेन। १५ दूषणम्। १६ सौगतोक्तन्यायस्य। १७ जैन। १८ सौगतस्य। १९ विशिष्टरूपतापरित्यागेन संश्लिष्टरूपतया एकलोलीभावलक्षणपरिणतिः। २० सम्बन्धसिद्धौ। २१ देवदत्त गामभ्याजेत्यादीनाम्। २२ शब्दानाम्। २३ सम्बन्धिनामनेकत्वे सम्बन्धस्याप्यनेकत्वं स्यादित्युक्ते सत्याह। २४ चित्रैकज्ञानवत्। २५ तन्तुलक्षणैः पक्षे नीलाकारादिभिः। २६ पटस्य। २७ जैनैः।

कारणभावनिबन्धनमिष्यते । किन्तु यद्भावे नियता यस्योत्पत्तिस्तत्तस्य कार्यम्, इतरच्च कारणम्। तच्च किञ्चित्सह[1]भावि[2], यथा घटस्य मृद्द्रव्यं दण्डादि वा। किञ्चित्तु क्रमभावि, यथा प्राक्तनः पर्यायः[3][4] । तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसहायेनात्मना[5][6] नियते[7] व्यक्तिविशेषे[8], तर्कसहायेन[9][10] वाऽनियते प्रसिद्धा । एकमेव[11][12] च प्रत्यक्षं प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दाभिधेयम्। तद्धि कार्यकारणभावाभिमतार्थ[13]विषयं[14] प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्य[15]वस्तुविषयमनुपलम्भ[16]शब्दाभिधेयम्[17]। तथाहि[18]-एतावद्भिः[19] प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्-यदि[20] अग्निसन्निधानात्प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत् । एतच्च[21] सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण प्रत्याख्यातम् ।

एतेन[22] प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तस्य तत्कार्यता स्यादिति प्रतिव्यूढम्[23]; यदि हि तस्य तत्र[24] प्रागसत्त्वम[25]न्यदेशादनागमनन्या[26]हेतुकत्वं च निश्चेतुं शक्येत स्यादेव[27] कुम्भकारकार्यता[28]। तच्चु निश्चेतुमशक्यम् ।

न च भिन्नार्थ[29]ग्राहि प्रत्यक्षद्वयं द्वितीया[30]ग्रहणे[31] तदपेक्षं[32] कारणत्वं कार्यत्वं वा ग्रहीतुमसमर्थमित्यभिधातव्यम्[33]; क्षयोपशम[34]विशेषवतां[35] धूममात्रोपलम्भेऽप्यभ्यासवशाद्वह्निजन्यत्वा[36]वगमप्रतीतेः, अन्यथा[37] बाष्पादिवैलक्षण्येनास्याऽनवधारणा[38]त्ततोऽप्यनुमाभावे सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। ततः कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामापरित्यागवतात्मना कार्य[39]स्वरूपप्रतीतिरभ्युपगन्तव्या[40] नीलाद्याकारव्याप्येकज्ञाने तत्स्वरूपवत् ।

---

१ सहभवतीत्येवंशीलम्। २ यद् घटोत्पत्तिकाले भवति। ३ कुशूलादिः। ४ उत्तरपर्यायस्य कारणम्। ५ महानसे। ६ महाह्रदे। ७ परिमिते। ८ धूमाग्न्योः। ९ यावान् कश्चित्कार्यलक्षणपदार्थः स कारणे सति भवति, नान्यथेति। १० आत्मना। ११ अनुपलम्भशब्देन किमुच्यते इत्याह। १२ नानुमानादिकम्। १३ अग्निधूम। १४ वस्तः। १५ महाह्रदादि। १६ 'अनुपलम्भ' इति। १७ प्रत्यक्षम्। १८ तथा हीत्यादिना प्राक् प्रतिपादितार्थं व्यतिरेकद्वारेण समर्थ्यते। १९ प्राक् प्रतिपादितैः प्रत्यक्षानुपलम्भादिभिः। २० तान्प्रकारानाह। २१ एवमस्तु इत्युक्ते सत्याह। २२ प्रत्यक्षानुपलम्भादिभिः कार्यकारणभावसिद्धिसमर्थनेन। २३ निराकृतम्। २४ कुम्भकारावस्थितप्रदेशे। २५ कुम्भकारसन्निधानात्। २६ कुम्भकारापेक्षया। २७ तर्हि। २८ रासभस्य। २९ अग्निधूम। ३० अग्निधूमयोर्मध्येऽन्यतरस्य। ३१ एकेन। ३२ अगृहीतकार्यकारणान्यतरापेक्षम्। ३३ परेण। ३४ कार्यकारणभावज्ञानाच्छादककर्मणः। ३५ नृणाम्। ३६ धूमस्य। ३७ पूर्वोक्तात्कारणाद्धूमस्य वह्निजन्यत्वावगमाभावे। ३८ दूरतः। ३९ धूमोऽग्नेः कार्यमिति। ४० परेण।

ननु नालिकेरद्वीपादिवासिनामकस्माद्धूमस्याग्नेर्वोपलम्भेपि कार्यकारणभावस्यानिश्चयान्नासौ वास्तवः; तदप्यपेशलम्; बाह्यान्तःकारणप्रभवत्वात्तन्निश्चयस्य। क्षयोपशमविशेषो हि तस्यान्तःकारणम्, तद्भावभावित्वाभ्यासस्तु बाह्यम्, अकार्यकारणभावावगमस्य त्वऽतद्भावभावित्वाभ्यासः। तदभावान्न क्वचित्तेषां कार्यकारणभावस्याऽकार्यकारणभावस्य वा निश्चय इति।

धूमादिज्ञानजननसामग्रीमात्रात्तत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेर्न कार्यत्वादि धूमादेः स्वरूपमिति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूपं मा भूत्तत एव। क्षणिकत्वाभावेऽवस्तुत्वम् अन्यत्रापि समानम्, सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः खरशृङ्गवत्।

न च कार्यस्यानुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः; असत्त्वात्। नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तं भिन्नं तत्; तद्धर्मत्वात्। तत एव कारणस्यापि कारणत्वं धर्मो नैकान्ततो भिन्नम्। तच्च ततोऽभिन्नत्वात्तद्ग्राहिप्रत्यक्षेणैव प्रतीयते तद्व्यक्तिस्वरूपवत्। दृश्यते हि पिपासाद्याक्रान्तचेतसामितरार्थव्यवच्छेदेनाबालं तदपनोदसमर्थे जलादौ प्रत्यक्षात्प्रवृत्तिः। तच्छक्तिप्रधानतायां तु कार्यदर्शनात्तन्निश्चीयते तद्व्यतिरेकेणास्यासम्भवात्। न च स्वरूपेणाकार्यकारणयोस्तद्भावः सम्भवति। नाप्युत्तरकालं भिन्नेन तेनानयोः कार्यकारणताऽभिन्ना कर्तुं शक्या; विरोधात्। नापि भिन्ना; तयोः स्वरूपेण कार्यकारणताप्रसङ्गात्। न च स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूततत्सम्बन्धकल्पने किञ्चित्प्रयोजनं कार्यकारणतायाः स्वतः सिद्धत्वात्?

ननु कार्याप्रतिपत्तौ कथं कारणस्य कारणताप्रतिपत्तिस्तदपेक्षत्वात्तस्याः? कथमेवं पूर्वापरभागाप्रतिपत्तौ मध्यभागस्यातो व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरपेक्षाकृतत्वाविशेषात्? ततः "पश्यन्नयं क्षणि-

---

१ कारण। २ कार्यस्य। ३ पुनः पुनर्दर्शनम्। ४ कारणम्। ५ बाह्यान्तःकारणयोः। ६ अग्निधूमयोरुपलम्भेपि येषां बाह्यान्तःकारणे स्तस्तेषामेव तयोः कार्यकारणभावपरिच्छित्तिर्नान्येषामिति भावः। ७ नेत्रादि। ८ वह्नि। ९ आदिना कारणत्वादि। १० आदिनाग्न्यादेः। ११ धूमादिज्ञानसामग्रीमात्रात् क्षणिकत्वानिश्चयादेव। १२ धूमादिकं धर्म्यंऽवस्तु भवतीति साध्यमकार्यकारणत्वाच्छशविषाणवत्। १३ धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदाभावात्। १४ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वेयं परिहारः। १५ कारणभूते। १६ कारणत्वम्। १७ कार्यस्य। १८ घटपटयोरिव। १९ कारणात्। २० सम्बन्धेन। २१ अभिन्ना चेत्कथं भिन्नेन सम्बन्धेन विधीयते! विधीयते चेत्कथमभिन्नेति विरोधः। २२ अग्न्यादेः। २३ क्षणविशेषणम्। २४ वर्तमानक्षणस्य। २५ पूर्वापरभागाद्व्यावृत्तिर्मध्यक्षणस्येति प्रतिपत्तिः कथं घटते। २६ मध्यभागस्यातो व्यावृत्तिप्रतिपत्त्यभावतः। २७ योगी।

कमेव पश्यति" इति [ ] वचो विरुध्येत। मध्यक्षणस्वभावत्वात्तद्व्यावृत्तेः तद्ग्राहिज्ञानेन प्रतिपत्तिश्चेत्; तर्हि कार्योत्पादनशक्तेः कारणस्वभावत्वात्तद्ग्राहिणैव ज्ञानेन प्रतिपत्तिरिष्यतां विशेषाभावात्[4]। उक्ता च कार्यप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिसहायेनात्मनेत्युपरम्यते।

किञ्च, कार्यानिश्चये शक्ते[5]रप्यनिश्चये नीलादिनिश्चयो[6]पि मा भूत्। यदेव[7] हि तस्याः कार्यं तदेव नीलादेरपि, अनयो[8]रभेदात्[9]। वक्तृत्वस्य चासर्वज्ञत्वादिना व्याप्त्यसम्भवः सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादितः[10]।

न चेन्धनादिप्रभवपावकस्य मण्यादिप्रभवपावकाद्[11]भेदो येन नियतः कार्यकारणभावो न स्यात्। अन्यादृशाकारो हीन्धनप्रभवः पावकोऽन्यादृशाकारश्च मण्यादिप्रभवः। तद्विचारे च प्रतिपन्ना निपुणेन[12] भाव्यम्। यत्नतः परीक्षितं हि कार्यं[13] कारणं[14] नातिवर्त्तते। कथमन्यथा वीतरागेतरव्यवस्था तच्चेष्टाया[15]: साङ्कर्योपलम्भात्?

कथं चैवंवादिनो मृतेतरव्यवस्था स्यात्? व्यापारव्याहाराकारविशेषस्य हि क्वचि[16]च्चैतन्यकार्यतयोपलम्भे सत्यस्त्यत्र जीवच्छरीरे चैतन्यं व्यापारादिकार्यविशेषोपलम्भात्, मृतशरीरे तु नास्ति तदनुपलम्भादिति कार्यविशेषस्योपलम्भानुपलम्भाभ्यां कारणविशेषस्य भावाभावप्रसिद्धेस्तद्व्यवस्था युज्येत।

अकार्यकारणभावेपि चैतत्सर्वं समानम्-सो[17]पि हि द्विष्ठः कथमसहभाविनो[18]: कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्य[19]योर्वर्तते[20]? न[21] चाद्विष्ठोसौ; सम्बन्धाभावविरोधात्[22]। पूर्वत्र[23] भावे वर्त्तित्वा परत्र[24] क्रमेणासौ वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृहत्वेनैकवृत्तिमत्त्वात्कथं सम्बन्धाभावरूपता(तां) प्रतिपद्येत[25]? अथाकार्यकारणयोरेकमपेक्ष्यान्यत्रासौ क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेना[26]स्य द्विष्ठत्वात्तदभावरूपते-

---

१ वसः। २ एव। ३ कार्यस्य। ४ मध्यक्षणस्वभावत्वाद्व्यावृत्तेस्तद्ग्राहिज्ञानेन प्रतिपत्तिर्घटते, कार्योत्पादनशक्तेः कारणभावत्वात्तद्ग्राहिज्ञानेन प्रतिपत्तिर्नेत्यत्र। ५ कारणसम्बन्धिन्याः कार्योत्पादनलक्षणायाः। ६ तव सौगतस्य। ७ कुतः। ८ शक्तिनीलाद्योः। ९ निरंशवस्तुवादिमते। १० जैनैः। ११ किंतु भेद एव। १२ सर्वज्ञेन। १३ अग्न्यादिलक्षणम्। १४ इन्धनमण्यादिकम्। १५ जपतपोध्यानादेः। १६ दृष्टान्तभूते। १७ कथम्। १८ गोमहिषयोः। १९ अकार्यकारणयोः। २० अनयोः सम्बन्धाभावो यतः। २१ अकार्यकारणभावतः सम्बन्धाभावरूपो न भवत्यद्विष्ठत्वाद्घटसत्त्ववत्। २२ अभावात्। २३ अकारणे। २४ अकार्ये। २५ यथास्माकं सम्बन्धो न घटते तथा तवापीत्यर्थः। २६ असम्बन्धस्य।

[1]म्यते; तदा तेनो[2]पेक्ष्यमा[3]णेनोपकारिणा भवितव्यम्। 'कथं चोपकरो[4]त्यसन्' इत्यादि सर्व[5]मत्रापि योजनीयम्।

अकार्यकारणभावस्या[6]प्यर्थानामनभ्यु[7]पगमे तु कार्यकारणभावो वास्तवः स्यात्। उभयाभावस्तु न युक्तः विरोधात्, क्वचिन्नीलेतरत्वाभाववत्। त[8]तो यथा कुतश्चित्प्रमाणादकार्य[9]कारणंभावो गवाश्वादीनामतद्भावभावित्व[10]प्रतीतेः परस्परं परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तथाग्निधूमादीनां तद्भावभावित्व[11]प्रतीतेः कार्यकारणभावो[12]पि बाधकाभावात्[13]। तन्न प्रमाणतः प्रतीयमानः सम्बन्धः[14] स्वा[15]भिप्रेततत्त्व[16]वन्निह्नवनीयो येन स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्तत्स्वभावतार्थस्य न स्या[17]त्। चित्रज्ञानवद्युगपदे[18]कस्यानेकाकारसम्बन्धित्ववत्क्रमेणापि तत्त्व[19]स्याविरुद्धम्। इति सिद्धं परापरविवर्त्तव्याप्येकद्रव्यलक्षणमूर्द्धतासामान्यम्।

यथा च द्वेधा सामान्यं तथा—

विशेषश्च ॥ ७ ॥

चकारोऽपिशब्दार्थे। कथं तद्द्वैविध्यमित्याह—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ८ ॥

तत्र पर्यायस्वरूपं निरूपयति—

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः[20] आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ९ ॥

अत्रोदाहरणमाह आत्मनि हर्षविषादादिवत्।

ननु हर्षादिविशेष[21]व्यतिरेके[22]णात्मनोऽसत्त्वादयुक्तमिदमुदाहरणमित्यन्ये[23]; सोप्यप्रेक्षापूर्वकारी; चित्रसंवेदनवदनेकाकारव्यापित्वेनात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। 'यद्यथा प्रतिभासते तत्त-

---

१ सौगतेन मया। २ असम्बन्धेन। ३ अकारणेनाऽकार्येण वा। ४ अकार्यमकारणं वा। ५ असम्बन्धे। ६ न केवलं कार्यकारणभावस्य। ७ परेण। ८ उक्तप्रकारेण सम्बन्धो निराकर्तुं न शक्यते यतः। ९ असम्बन्धः। १० नराश्ववत्। ११ चैतन्यव्याहारादिकार्यवत्। १२ परस्परं परमार्थतो व्यवतिष्ठते। १३ उभयत्र। १४ कार्यकारणाविनाभावः। १५ सौगत। १६ असम्बन्धादिवत्। १७ किंतु स्यादेव। १८ ज्ञानस्य। १९ जीवादिपदार्थस्य। २० ज्ञानसुखवीर्यदर्शनादय आत्मनः सहभावित्वाद्गुणाः स्युः। क्रमभावित्वाच्च पर्यायाश्च भवन्ति—कुतो वस्तुनोऽनेकधर्मात्मकत्वात्। २१ भेद। २२ अपरस्य। २३ सौगतः।

थैव व्यवहर्तव्यम् यथा वेद्या[1]द्याकारात्मसंवेदनरूपतया प्रतिभासमानं संवेदनम्, सुखा[2]द्यनेकाकारैकात्मतया प्रतिभासमानश्चात्मा' इत्यनुमानप्रसिद्धत्वाच्च।

सु[3]खदुःखादिपर्यायाणामन्योन्यमेका[4]न्ततो[5] भेदे च 'प्रागहं सुख्यासं सम्प्रति दुःखी वर्ते' इत्यनु[6]सन्धानप्रत्ययो न स्यात्। तथाविधवासनाप्रबोधादनुसन्धानप्रत्ययोत्पत्तिः; इत्यप्यसत्यम्; अनुसन्धानवासना हि यद्यनुसन्धी[7]यमानसुखादिभ्यो भि[8]न्ना; तर्हि सन्तानान्तरसुखादिवत्स्वसन्तानेप्यनु[9]सन्धानप्रत्ययं नोत्पादयेद्विशेषात्[10]। तदभिन्ना चेत्[11]; तावद्[12]धा भिद्येत। न खलु भिन्नादभिन्नमे[13]कं भिन्नं नामा[14]ऽतिप्र[15]सङ्गात्। त[16]था त[17]त्प्रबोधात्कथं सुखादिष्वे[18]कमनुसन्धानज्ञानमुत्प[19]द्येत? तेभ्यस्तस्याः कथञ्चिद्भेदे ना[20]ममात्रं भिद्येत—अहमहमिकया स्वसंवेद[21]नप्रत्यक्षप्रसिद्धस्यात्मनः सहक्रमभाविनो [22]गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वतो 'वासना' इति नामान्तरकरणात्।

[23]क्रमवृत्तिसुखादीनामेकसन्ततिपतितत्वेनानुसन्धाननिबन्धनत्वम्; इत्यपि तादृगेव; आत्मनः सन्ततिशब्देनाभिधानात्। तेषां क[24]थञ्चिदेकत्वाभावे नैकपुरुषसुखादिवदेकसन्ततिपतितत्वस्याप्ययोगात्।

आत्मनोऽनभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्गः[25]। [26]कर्तुर्निरन्वयनाशे हि कृतस्य कर्मणो नाशः क[27]र्त्तुः फ[28]लानभिसम्बन्धात्[29], अकृताभ्यागमश्च अकर्त्तुरेव फलाभिसम्बधात्। ततस्तद्दोषपरिहारमि[30]च्छतात्मानुगमोभ्युपगन्तव्यः। न चाप्रमाणकोयम्; तत्सद्भावावेदकयोः स्वसंवेदनानुमानयोः प्रतिपादनात्।

'अहमेव ज्ञातवा[31]नहमेव वेद्मि[32]' इत्यादेरेकप्रमातृविषयप्रत्यभिज्ञानस्य च सद्भावात्। तथा चोक्तं भट्टेन—

---

१ आदिना वेदकसंवित्तिग्रहः। २ हर्षविषादादिग्रहः। ३ साधनमसिद्धमित्युक्ते सत्याह। ४ सर्वथा। ५ आत्मनः सकाशात्। ६ प्रत्यभिज्ञान। ७ गम्यमान। ८ सर्वथा। ९ सुखादिस्वरूपेण। १० उभयत्र भिन्नत्वस्य। ११ तर्हि। १२ सुखादयो यावन्तः। १३ एकम्। १४ अन्यथा। १५ घटपटादिभ्योऽभिन्नानां तत्स्वरूपाणां भिन्नत्वप्रसङ्गात्। १६ वासनाया अचेतनत्वे च। १७ अनेकवासना। १८ अनेकसुखानुसन्धानज्ञानमुत्पद्येतेत्यर्थः। १९ कारणबहुत्वे कार्यबहुत्वमिति वचनात्। २० आत्मा वासनेति च। २१ अहं सुख्यहं दुःखीति। २२ स्वधर्मान्। २३ हर्षविषादादीनां च। २४ आत्मद्रव्यापेक्षया। २५ कथम्? । २६ कर्मणः। २७ पुरुषस्य। २८ कर्मणः। २९ कर्मफलकाले तदभावात्। ३० सौगतेन। ३१ पूर्वम्। ३२ इदानीम्।

"तस्मादुभय[1]हानेन[2] व्या[3]वृत्त्यनुग[4]मात्मक[5]ः।
पुरुषोभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु[6] सर्प[7]वत्॥"
[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० २८] इति।

"तस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानात्सर्वलोकावधारितात्।
नैरात्म्य[8]वादबाधः स्यादिति सिद्धं समीहितम्॥"
[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० १३६] इति च।

अथ कथमतः प्रत्यभिज्ञानादात्मसिद्धिरिति चेत्? उच्यते–'प्रमातृविषयं तत्' इत्यत्र तावदावयो[9]रविवाद एव। स च प्रमाता भवन्नात्मा भवेत्, ज्ञानं वा? न तावदुत्तरः पक्षः; 'अहं ज्ञातवानहमेव च साम्प्रतं जानामि' इत्येकप्रमातृप[10]रामर्शेन ह्यहंबुद्धेरुपजायमानाया ज्ञानक्षणो विषयत्वेन कल्प्यमा[11]नोतीतो वा कल्प्येत, वर्तमानो वा, उभौ[12] वा, सन्तानो वा प्रकारान्तरासम्भवात्? तत्राद्यविकल्पे 'ज्ञातवान्' इत्ययमेवाकारावसा[13]यो[14] युज्यते पूर्वं तेन ज्ञातत्वात्, 'सम्प्रति जानामि' इत्येतत्तु न युक्तम्[15], न[16] ह्यसावतीतो ज्ञानक्षणो वर्त्तमानकाले वेत्ति पूर्वमेवास्य निरुद्धत्वा[17]त्। द्वितीयपक्षे तु 'सम्प्रति जानामि' इत्येतद्युक्तं तस्येदानीं वेदकत्वात्, 'ज्ञातवान्' इत्याकारणग्रहणं तु न युक्तं प्रागस्यासम्भवात्। अ[18]त एव न तृतीयोपि पक्षो युक्तः; न खलु वर्तमानातीतावुभौ ज्ञानक्षणौ ज्ञानं[19](त)वन्तौ, नापि जा[20]नीतः। किं तर्हि? एको ज्ञातवान् अन्यस्तु जानातीति[21]। चतुर्थपक्षोप्ययुक्तः; अतीतवर्त्तमानज्ञानक्षणव्यतिरेकेणान्यस्य सन्तानस्यासम्भवात्। कल्पितस्य सम्भवेपि न ज्ञातृत्वम्। न ह्यऽसौ ज्ञान(त)वान्पूर्वं नाप्यधुना जानाति, कल्पितत्वेनास्याऽवस्तुत्वात्। न चावस्तुनो ज्ञातृत्वं सम्भवति वस्तुधर्मत्वात्तस्य इति अतोऽन्यस्य[22] प्रमातृत्वासम्भवादात्मैव प्रमाता सिद्ध्य[23]ति। इति सिद्धोऽतः प्रत्यभिज्ञानादात्मेति।

ननु चात्मासुखादिपर्यायैः सम्बद्ध्यमानः परित्यक्तपूर्वरूपो वा

---

१ सुखादिपर्यायाणां सर्वथात्मनः सकाशाद्भेदाभेदौ, तयोः। २ परिहारेण। ३ सुखादिस्वरूपतया। ४ चिद्रूपतया। ५ भेदाभेदात्मकः। ६ आकारेषु। ७ स्वर्णवदिति पाठान्तरम्। ८ ज्ञानसन्ततिरेवात्मा नान्यः कश्चिदिति हेतोर्नैरात्म्यम्। ९ जैनबौद्धयोः। १० प्रत्यभिज्ञानेन। ११ सौगतेन। १२ अतीतवर्त्तमानलक्षणौ। १३ निश्चयः। १४ अतीतज्ञानक्षणस्य। १५ अतीतज्ञानक्षणस्य। १६ कथम्? १७ विनष्टत्वात्। १८ एकस्य ज्ञातवत्त्वज्ञातृत्वासम्भवादेव। १९ इत्युल्लेखः। २० इत्युल्लेखः। २१ इत्युल्लेखो युक्तः। २२ अतीतज्ञानक्षणादेः। २३ अवशिष्यमाणत्वात्।

सम्बद्ध्येत, अपरित्यक्तपूर्व[1]रूपो वा? प्रथमपक्षे निरन्वयनाशप्रसङ्गः, अवस्थातुः कस्यचिदभावात्। द्वितीयपक्षे तु पूर्वोत्तरावस्थयोरात्मनोऽविशेषादपरिणामित्वानुषङ्गः। प्रयोगः य[2]त्पूर्वोत्तरावस्थासु न विशिष्य[3]न्ते न तत्परिणामि यथाकाशम्, न विशिष्यते पूर्वोत्तरावस्थास्वात्मेति; तदपरीक्षिताभिधानम्; आत्म[4]नो भेदेन प्रसिद्धसत्ताकैः सुखादिपर्यायैः स्वस्य सम्बन्धाभ्युपग[5]मात्। [6]आत्मैव हि तत्पर्यायतया परिणमते नीलाद्याकारतया चित्रज्ञानवत्, स्वपरग्रहणशक्तिद्वयात्मकतयैकविज्ञानवद्वा। न[7] खलु ययैव शक्त्यात्[8]मानं प्रतिपद्यते विज्ञानं तयैवार्थम्[9], त[10]योरभेदप्रसङ्गात्। अन्यथात्मनो येन रूपेण सुखपरिणामस्तेनैव दुःखपरिणामेऽपि अनयोरभेदो न स्यात्। न च तच्छक्तिभेदे तदात्मनो ज्ञानस्यापि भेदः; अन्यथैकस्य स्वपरग्राहकत्वं न स्यात्। नापि चित्रज्ञानस्य नीलाद्यनेकाकारतया परिणामेऽपि एकाकारताव्याघातः। तद्वत्सुखाद्यनेकाकारतया परिणामेऽपि आत्मनो नैकत्वव्याघातो विशेषाभावात्। न चैकत्र युगपत्, अन्यत्र[10] तु कालभेदेन परिणामाद्विशेषः; प्रतीतेर्नियामकत्वात्। य[11]त्र हि प्रतीति[12]र्देशकालभिन्ने तदभिन्ने वा वस्तुन्येकत्वं प्रतिपद्यते तत्रै[13]कत्वं प्रतिपत्तव्य[14]म्, यत्र तु ना[15]नात्वं प्रतिपद्यते तत्र तु नानात्वमिति।

ततो य[16]दुक्तम्–सर्वात्मनैवा[17]भेदे भेद[18]स्तद्विपरीतः कथं भवेत्? न ह्येकदा विधि[19]प्रतिषेधौ परस्परविरुद्धौ युक्तौ। प्रयोगः–य[20]त्राभेदस्तत्र तद्विपरीतो न भेदः यथा तेषामेव पर्याया[21]णां द्र[22]व्यस्य च यत्प्रतिनियतमसाधारणमात्मस्वरूपं तस्य न स्व[23]भावाद्भेदः, अभेदश्च द्रव्यपर्याय[24]योरिति। किञ्च, पर्यायेभ्यो[25] द्रव्यस्या[26]भेदः, द्रव्यात्पर्यायाणां वा? प्रथमपक्षे पर्यायवद्द्रव्यस्याप्यऽनेकत्वानुषङ्गः।

---

१ पूर्वाकारापरित्यागात्। २ 'आत्मा धर्मी' परिणामी न भवतीति साध्यम् पूर्वोत्तरावस्थास्वविशिष्टत्वात्' इत्युपरिष्टात्संयोज्यम्। ३ भिद्यते। ४ का (पञ्चमी)। ५ जैनैः। ६ कथम्? तथा हि। ७ ज्ञानस्य शक्तिद्वयं न विद्यते इत्याशङ्कायामाह। ८ स्वस्य स्वरूपम्। ९ एकयैव शक्त्या स्वरूपार्थयोः प्रतिपत्तौ। १० आत्मनि। ११ आत्मनि। १२ ('प्रतीतेः' इतिखपुस्तके पाठः)। १३ सुखादिपर्यायैः। १४ परेण। १५ नीलाद्यनेकाकारैः। १६ परेण। १७ सति। १८ द्रव्यपर्याययोर्भेदः। १९ भेदाभेदौ। २० द्रव्यपर्यायौ धर्मिणौ भिन्नौ न भवतस्तयोरभेदादिति अनुमानं सौगतप्रयुक्तमुपरितोऽत्र योज्यम्। २१ पक्षे नीलाद्याकाराणाम्। २२ प्रथमपक्षे आत्मनः, द्वितीयपक्षे चित्रज्ञानस्य। २३ अन्योन्यम्। २४ पक्षे नीलाद्याकारचित्रज्ञानयोः। २५ पक्षे नीलाद्याकारेभ्यः। २६ पक्षे चित्रज्ञानस्य।

तथा हि-यद्व्यावृत्ति[1]स्वरूपाऽभिन्नस्वभावं तद्व्यावृत्तिमत्[2] यथा पर्यायाणां स्वरूपम्, व्यावृत्तिमद्रूपाव्यतिरिक्तं च द्रव्य[3]मिति। द्वितीयपक्षे तु पर्यायाणामप्येकत्वानुषङ्गः। तथाहि—यदनुगत[4]स्वरूपाऽव्यतिरिक्तं तदनुगतात्मकमेव यथा द्रव्यस्वरूपम्, अनुगतात्मस्वरूपाऽभिन्नस्वभावाश्च सुखादयः पर्यायाः इत्यादि;

तन्निरस्तम्; प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपे[5] कुचोद्या[6]ऽनवकाशात्। न खलु मदोन्[7]मत्तो हस्ती सन्निहितम् व्यवहितं वा परं मारयति; सन्निहितस्य मारणे मेण्ठ[8]स्यापि मारणप्रसङ्गः। व्यवहितस्य च मारणे[9]ऽतिप्रसङ्गः, इत्यनर्थानल्पकल्पनाभयात् स्वकार्यकरणादुपरमं[10]ते। चित्रज्ञानादावपि[11] चैतत्सर्वं समानम्[12]। प्रतिक्षिप्तं च प्रतिक्षणं क्षणिकत्वं प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन।

अथेदानीं व्यतिरेकलक्षणं विशेषं व्याचिख्यासुरर्थान्तरेत्याह—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् ॥ १० ॥

ए[13]कस्मादर्थात्सजातीयो विजातीयो वार्थोऽर्थान्तरम्, तद्गतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्। यथा गोषु खण्डमुण्डादिलक्षणो विसदृशपरिणामः, महिषेषु विशालविसङ्कटत्वलक्षणः, गोमहिषेषु चान्योन्यमसाधारणस्वरूपलक्षण इति। तावेवंप्रकारौ सामान्यविशेषावात्मा यस्यार्थस्याऽसौ तथोक्तः। स प्रमाणस्य विषयः न तु केवलं सामान्यं विशेषो वा, तस्य द्वितीयपरिच्छेदे 'विषयभेदात्प्रमाणभेदः' इति सौगतमतं प्रतिक्षिपता प्रतिक्षिप्तत्वात्। नाप्युभयं स्वतन्त्रम्; तथाभूतस्यास्याप्यप्रतिभासनात्।

न[14]नु चार्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वमयुक्तम्; तदात्मकत्वेनास्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। सामान्यविशेषाकारयोश्चान्योन्यं प्रतिभासभेदेनात्य[15]न्तं भेदात्। प्रयोगः–सामान्याकारविशेषाकारौ

---

१ व्यावृत्तयः=पर्यायाः। २ भेदवत्। ३ तस्मादनेकमिति। ४ अनुगतस्वरूपं=द्रव्यम्। ५ द्रव्यपर्यायात्मके। ६ कुप्रश्न। ७ मदोन्मत्तो हस्ती मारयत्येवेति प्रमाणप्रतिपन्नः। ८ हस्तिपकस्य। ९ मारणात्। १० हस्ती। ११ सर्वात्मनेत्यादि सौगतमते। १२ चित्रज्ञानाकारौ भिन्नौ न भवतः तयोरभेदादित्येवम्। १३ खण्डलक्षणाद्गोः सजातीयो मुण्डलक्षणो गौः, विजातीयो महिषः, खण्डापेक्षया मुण्डो विसदृशाकारो महिषापेक्षया च विसदृशाकार इत्यर्थः। १४ वैशेषिकः। १५ सर्वथा।

परस्परतोऽत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्धटपटवत् । प[1]टादौ हि भिन्नप्रमाणग्राह्य[2]त्वमत्यन्तभेदे सत्येवोपलब्धम्, तत् सामान्यविशेषाकारयोरुपलभ्यमानं कथं नात्यन्तभेदं प्रसाधयेत्? अन्यत्राप्यस्य तदप्रसाधकत्वप्रसङ्गात् । न खलु प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्चा[3]न्यत् पटादीनामप्यन्योन्यं भेदनिबन्धनमस्ति। स चावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियातद्वतोः सामान्यविशेषयोश्चास्त्येव । [4]पटप्रतिभासो हि तन्तुप्रतिभासवैलक्षण्येनानुभूयते, तन्तुप्रतिभासश्च पटप्रतिभासवैलक्षण्येन। एवं पटप्रतिभासाद्रूपादि[5]प्रतिभासवैलक्षण्यमप्यवगन्तव्यम् ।

विरुद्धधर्माध्यासोप्यनुभूयत एव, पटो हि पटत्वजातिसम्बन्धी विलक्षणार्थक्रि[6]यासम्पादकोतिशयेन महत्त्वयुक्तः, तन्तवस्तु तन्तुत्वजातिसम्बन्धिनोल्पपरिमाणाश्च, इति कथं न भिद्य[7]न्ते? ता[8]दात्म्यं चैकत्वमुच्यते, तस्मिंश्च सति प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासश्च न स्यात्, विभिन्नविषयत्वात्ततस्तयोः। यदि च तन्तुभ्यो नार्थान्तरं पटः; तर्हि तन्तवोपि नांशु[9]भ्योर्थान्तरम्, तेपि स्वावयवेभ्यः इत्येवं तावच्चिन्त्यं यावन्निरंशाः परमाणवः, तेभ्यश्चाभेदे सर्वस्य[10] कार्यस्यानुपलम्भः[11]स्यात्। तस्मादर्थान्तरमेव पटात्तन्तवो रूपादयश्च प्रतिपत्त[12]व्याः ।

तथा[13] विभि[14]न्नकर्तृकत्वात्तन्तुभ्यो भिन्नः पटो घटादिवत् । विभिन्नशक्तिकत्वाद्वा विषाऽग[15]दवत् । पूर्वोत्तरकालभावित्वाद्वा पितापुत्रवत्। विभिन्नपरिमाणत्वाद्वा बदरामलकवत् ।

तथा तन्तुपटादीनां तादात्म्ये 'पटः तन्तवः' इति व[16]चनभेदः, 'पटस्य भावः पटत्वम्' इति षष्ठी, तद्धितोत्पत्तिश्च न प्रा[17]प्नोतीति ।

किञ्च, 'तादात्म्यम्' इत्यत्र किं स पट आत्मा येषां तन्तूनां तेषां भावस्तादात्म्यमिति विग्रहः कर्तव्यः, ते वा तन्तवः आत्मा यस्य

---

१ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे प्रतिपादिते सत्याह । २ साधनमिदम् । ३ स्वरूपम् । ४ कथम्? तथा हि। ५ आदिपदेन क्रियादिग्रहः। ६ शीतापनोदादि। ७ अवयवावयव्यादयः । ८ प्रतिभासभेदे विरुद्धधर्माध्यासे च सत्यपि तादात्म्यं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ९ तन्त्ववयवेभ्यः । १० द्व्यणुकादिलक्षणस्य। ११ परमाणुद्वयेन द्व्यणुकमारभ्यते, द्व्यणुकत्रितयेन त्र्यणुकमारभ्यते, तच्च प्रत्यक्षमेव तत उपरितननियमाभावः। १२ जैनेन। १३ प्रतिभासभेदविरुद्धधर्माध्यासप्रकारेण। १४ योषित्कुविन्द। १५ अगदः=औषधम्। १६ एकवचनबहुवचनत्वेन। १७ भेदाभावे सति। भेदे षष्ठीति वचनात्।

पटस्य, स च ते आत्मा य[1]स्येति[2] वा? प्रथमपक्षे पटस्यैकत्वात्तन्तूनामप्येक[3]त्वप्रसङ्ग, तन्तूनां वाऽनेकत्वात्पटस्याप्यनेकत्वानुषङ्गः। अन्यथा तत्तादात्म्यं न स्यात्। द्वितीयविकल्पेप्ययमेव दोषः। तृतीयपक्षश्चाविचारितरमणीयः; तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽसम्भवात्। न हि तन्तुपटव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमस्ति यस्य तन्तुपटस्व[4]भावतोच्येत।

न च तन्तुपटादी[5]नां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्; संशयादिदोषोपनिपातानुषङ्गात्। 'के[6]न खलु स्वरूपेण तेषां भेदः केन चाभेदः' इति संश[7]यः। तथा 'यत्राभेदस्तत्र भेदस्य विरोधो यत्र च भेदस्तत्राभेदस्य शीतोष्णस्पर्शवत्' इति विरोधः। तथा—'अभेदस्यैकत्वस्वभावस्यान्यदधिकरणं भेदस्य चानेकस्वभावस्यान्यत्' इति वैयधिकरण्यम्। तथा 'एकान्तेनैकात्मकत्वे यो दोषोऽनेकस्वभावत्वाभावलक्षणोऽनेकात्मकत्वे चैकस्वभावत्वाभावलक्षणः सोऽत्राप्यनुषज्यते' इत्युभयदो[8]षः। तथा 'येन स्वभावेनार्थस्यैकस्वभावता तेनानेकस्वभावत्वस्यापि प्रसङ्गः, येन चानेकस्वभावता तेनैकस्वभावत्वस्यापि' इति सङ्करप्रसङ्गः। "स[10]र्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः" [ ] इत्यभिधानात्। तथा 'येन स्वभावेनानेकत्वं तेनैकत्वं प्राप्नोति येन चैकत्वं तेनानेकत्वम्' इति व्यतिकरः। "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" [ ] इति प्रसिद्धेः। तथा 'येन रूपेण भेदस्तेन कथञ्चिद्भेदो येन चाभेदस्तेनापि कथञ्चिदभेदः' इत्यनवस्था। अ[11]तोऽप्रतिपत्तितोऽभा[12]वस्तत्त्वस्यानुषज्येतानेकान्तवादिनाम्। एवं सत्त्वा[13]द्यनेकान्ताभ्युपगमेप्येतेऽष्टौ दोषा द्रष्टव्याः। तन्न त[14]दात्मार्थः प्रमाणप्रमे[15]यः।

किन्तु परस्परतोऽत्यन्तविभि[16]न्ना द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षडेव प[17]दार्थाः। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव द्रव्याणि। पृथिव्यप्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसंख्यं

---

१ वस्तुनः। २ स तदात्मा, तस्य भावस्तादात्म्यम्। ३ एकरूपपटादभिन्नास्तन्तव एकरूपमापन्ना इति। ४ तन्तुपटौ स्वभावौ यस्य। ५ आदिपदेन गुणगुण्यादीनाम्। ६ कथम्? तथा हि। ७ भेदाभेदात्मकत्वे वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः। ८ भेदाभेदात्मकत्वे। ९ अयमपि वैयधिकरण्येऽन्तर्भवति। १० स्वभावानाम्। ११ संशयादिदोषतः। १२ अनुपलम्भः। १३ आदिना= असत्त्वादि। १४ सामान्यविशेषात्मा। १५ ग्राह्यः। १६ विभिन्नप्रत्ययविषयत्वाद्भिन्नलक्षणलक्षितत्वाद्भिन्नकारणप्रभवत्वाद्भिन्नार्थक्रियाकारित्वाच्च घटपटवत्। १७ प्रमाणग्राह्याः।

द्रव्यं नित्यानित्यविकल्पाद्द्विभेदम्। तत्र परमाणुरूपं नित्यं [1]सदकारणवत्त्वात्। तदारब्धं तु द्व्यणुकादि कार्य[2]द्रव्यमनित्य[3]म्। आकाशादिकं तु नित्यमेवानु[4]त्पत्तिमत्त्वात्। ए[5]षां च द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्द्रव्यरूपता[6]।

एतच्चेतर[7]व्यवच्छेदकमेषां [8]लक्षणम्; तथाहि–पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानीतरेभ्यो भिद्यन्ते, 'द्रव्याणि' इति व्यवहर्त्तव्यानि, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्, यानि नैवं न तानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवन्ति यथा गु[9]णादीनीति। [10]पृथि[11]व्यादीनामप्यवान्तरभेद[12]वतां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धो लक्षणम् [13]इतरेभ्यो भेदे व्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकि[14]रूपं [15]द्रष्टव्यम्। अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादिसिद्धा तच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या।

[16]एवं रूपादयश्चतुर्विंशतिगुणाः। उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि। [17]परा[18]परभेदभिन्नं द्विविधं सामान्यम् अ[19]नुगतज्ञानकारणम्। नित्यद्रव्यव्यावृ(व्यवृ)त्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः। [20]अयुतसिद्धानामाधार्याधार[21]भूतानामिहेदमितिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः।

अत्र पदार्थषट्के द्रव्यवद्गुणा अपि [22]केचिन्नि[23]त्या एव केचित्त्व[24]नि[25]त्या एव। कर्माऽनित्यमेव। सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति।

---

१ खकुसुमादिना व्यभिचारपरिहारार्थं सदिति, तेनाव्यापिघटादिना व्यभिचारस्तन्निरासार्थमकारणवत्त्वादिति। २ अवयविरूपम्। ३ उत्पत्तिमत्त्वात्। ४ सत्त्वे सतीति योज्यम्। ५ नवसंख्योपेतपृथिव्यादीनाम्। ६ प्रतिपत्तव्या। ७ इतरे= गुणादयः। ८ असाधारणस्वरूपम्। ९ अत्रापि साध्याभावे साधनाभावोऽस्ति। १० द्रव्याणां गुणादिभ्यो भेदादिकं प्रसाध्येदानीं नवद्रव्याणां तद्भेदानां च परस्परं भेदादिकं साधयति वैशेषिकः। ११ ननु यद्यपि नवानां पृथिव्यादीनां गुणादिभ्यो भेदस्तथा व्यवहारस्तच्छब्दवाच्यत्वं च समर्थितं तथापि तेषां तद्भेदानां च परस्परं भेदस्तथा व्यवहारस्तच्छब्दवाच्यत्वमिति च साध्येषु किं साधनमित्युक्ते आह। १२ घटपटादिमृष्टजलादिप्रतिपादिशीतवातादि इत्यादयोऽवान्तरभेदाश्च तेष्वेव सम्भवन्ति, आकाशादीनां नित्यनिरंशत्वाभ्यामवान्तरभेदासम्भवात्। १३ अबादिभ्यः। १४ साधनम्। १५ पृथिवी धर्मिणीतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीति वा व्यवहर्त्तव्या पृथिवीत्वाभिसम्बन्धादबादिवत्, एवमबादिष्वपि द्रष्टव्यम्। १६ पृथिव्यादिप्रकारेण। १७ सत्ताख्य। १८ द्रव्यत्वादि। १९ इदं सदिदं सत्, इदं द्रव्यमिदं द्रव्यमित्येवम्। २० अपृथक्सिद्धानाम्। २१ गुणगुण्यादीनाम्। २२ नित्यद्रव्याश्रिताः। २३ यथाकाशादौ परममहत्त्वादि। २४ अनित्यद्रव्याश्रिताः। २५ स्वामिदासादयः।

अत्र प्रतिविधीयते । अनेकधर्मात्मकत्वेनार्थस्य ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः; तथाहि—वास्तवानेकधर्मात्मकोर्थः, परस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वात्, पितृपुत्रपौत्रभ्रातृभागिनेयाद्यनेकार्थक्रियाकारिदेवदत्तवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; आत्मनो मनोज्ञाङ्गनानिरीक्षणस्पर्शनमधुरध्वनिश्रवणताम्बूलादिरसास्वादनकर्पूरादिगन्धाघ्राणमनोज्ञवचनोच्चारणचङ्क्रमणावस्थानहर्षविषादानुवृत्तव्यावृत्तज्ञानाद्यन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन अध्यक्षतोनुभवात् । घटादे[1]श्च स्वान्यव्यक्तिप्र[2]देशा[3]द्यपेक्षयानुवृत्तव्यावृत्तसदसत्प्रत्ययस्था[4]नगमन[5]जलधारणादिपरस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन प्रत्यक्षतः प्रतीतेरिति । दृष्टान्तोपि न साध्यसाधनविकलः; वास्तवानेकधर्मात्मकत्वाऽन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वयोस्तत्र सद्भावात् ।

न[6]नु भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वेन धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदप्रसिद्धेः सिद्धेपि धर्मिणि वास्तवानेकधर्माणां सद्भावे ता[7]दात्म्याप्रसिद्धिः; इत्यप्यसमीचीनम्; अनै[8]कान्तिकत्वा[9]द्धेतोः, प्र[10]त्यक्षानुमानाभ्यां हि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वेप्यात्मादिवस्तुनो भेदाभावः, दूरेतरदे[11]शवर्त्तिनामस्पष्टेतरप्रत्ययग्राह्यत्वेपि वा पादपस्याऽभेदः[12] । ननु चात्र प्रत्ययभेदाद्विषयभेदोऽस्त्येव[13], प्रथमसमय[14]वर्ति हि विज्ञानमूर्द्धताविषयमुत्तरं च शा[15]खादिविशेषविषयम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; एवंविषयभेदाभ्युपगमे 'यमहमद्राक्षं दूरस्थि[16]तः पादपमेतर्हि तमेव पश्यामि' इत्येकत्वाध्यवसायो न स्या[17]त्, स्पष्टेतरप्रतिभासानां सामान्यविशेषविषयत्वेन घटादिप्रतिभासवद्भिन्नविषयत्वात् । अथ पादपापेक्षया पूर्वोत्तरप्रत्ययानामेकविषयत्वं सामान्यविशेषापेक्षया तु विषयभेदः; कथमेवमेकान्ताभ्युपग[18]मो न विशीर्येत ? गुण-

---

१ वाह्यार्थस्य । २ स्वश्चान्यश्च तौ व्यक्तिश्च प्रदेशादयश्च ते स्वान्ययोर्व्यक्तिप्रदेशादयः तेषामपेक्षा तया, ततश्चायमर्थः स्वव्यक्त्यपेक्षया स्वप्रदेशाद्यपेक्षयान्यव्यक्त्यपेक्षयाऽन्यप्रदेशाद्यपेक्षया यथाक्रममनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययः सदसत्प्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वादि । ३ आदिना कालभावग्रहणम् । ४ घटस्तिष्ठति । ५ घटो जले गच्छति पत्रमाकाशे गच्छतीत्यादि । ६ सत्प्रतिपक्षत्वं हेतोः सद्भावयति परः । ७ धर्मैः सह धर्मिणो धर्मिणा वा धर्माणाम् । ८ सर्वथा भेदाभावे । ९ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वादित्वस्य । १० अहं सुख्यहं दुःखीत्यादिस्वसंवेदनेन आत्मास्ति व्याहारादिकार्यदर्शनादित्याद्यनुमानेन च । ११ पुरुषाणाम् । १२ यथा । १३ कुतस्तथा हि । १४ दूरतः । १५ समीपे शाखादिमानति । १६ नरः । १७ तव परस्य । १८ ययोर्भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वं तयोः सर्वथा भेद इति ।

गुण्यादिष्वप्यतस्[1]तद्वत्कथञ्चिद्भेदाभेदप्रसिद्धेर्भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्य विरुद्धत्वम्[2]।

एकान्ततोऽवयवावयव्यादीनां भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वं[3] चासिद्धम्; 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनाभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्यापि सम्भवात्। ननु[4] 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनावयव्येव[5] प्रतिभासते नावयवास्तत्कथमभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वम्; इत्यप्यपेशलम्; तद्भेदाप्रसिद्धेः। तन्तव एव ह्यातानवितानीभूता अवस्थाविशेषविशिष्टाः 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेन प्रतिभासन्ते नान्यस्ततोर्थान्तरं पटः। प्रमाणं हि यथाविधं वस्तुस्वरूपं गृह्णाति तथाविधमेवाभ्युपगन्तव्यम्, यत्रात्यन्तभेदग्राहकं तत्रात्यन्तभेदो[7] यथा घटपटादौ, यत्र पुनः [6]कथञ्चिद्भेदग्राहकं तत्र कथञ्चिद्भेदो[8] यथा तन्तुपटादाविति।

अतः कालात्ययापदिष्टं[9] चेदं साधनं[10] यथानुष्णोग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्। न च घटादौ[11] तथाविध[12]भेदेनास्य व्याप्त्युपलम्भात्सर्वत्रात्यन्त[13]भेदकल्पना युक्ता; क्वचित्तार्णत्वादिविशेषाधारेणाग्निना धूमस्य व्याप्त्युपलम्भेन सर्वत्राप्यतस्तथाविधविशेषसिद्धिप्रसङ्गात्। अथ तार्णत्वादिविशेषं परित्यज्य सकलविशेषसाधारणमग्निमात्रं धूमात्प्रसाध्यते। नन्वेवमत्यन्तभेदं परित्यज्यावयवावयव्यादिष्वपि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भेदमात्रं[14] किं न प्रसाध्यते[15] विशेषा[16]भावात्?

दृष्टान्तश्च[17] साध्य[18]विकलत्वान्न साधनाङ्गम्; अत्यन्तभेदस्यात्राप्यसिद्धेः। तदसिद्धिश्च सद्रूपतया घटादीनामभेदात्। साधनविकलश्च; स्फारिताक्षस्यैकस्मिन्नप्यध्यक्षे[19] घटादीनां प्रतिभाससम्भवात्[20]। न च प्रतिविषयं विज्ञानभेदोभ्युपगन्तव्यः[21]; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात्। घटादिवस्तुनोप्येकविज्ञानविषयत्वाभावानुषङ्गाच्च; अत्राप्यूर्द्धाधोमध्यभागेषु तद्भेदस्य[22] कल्पयितुं शक्यत्वात्। तथा[23] चावयविप्रसिद्ध्यै दत्तो जलाञ्जलिः[24]। प्रतीति[25]विरोधोन्यत्रापि[26] न काकैर्भक्षितः।

---

१ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात्। २ साध्यविपर्ययव्याप्तो विरुद्धः। ३ साधनम्। ४ असिद्धत्वं परिहरति परः। ५ पटः। ६ पर्यायतया। ७ अभ्युपगन्तव्यः। ८ प्रमाणेन सर्वथा भेदस्य बाधनात्। ९ न केवलमसिद्धम्। १० भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वादिति। ११ घटपटयोः। १२ सर्वथा। १३ तन्तुपटादौ। १४ यथाग्निमात्रे साधिते सति खादिराग्निस्तथा पार्णाग्निरपि लभ्यते एवं भेदमात्रे साधिते भेदो लभ्यतेऽभेदोपि (-ते कथञ्चिद्भेदोऽपि) लभ्यते इति भावार्थः। १५ परेण त्वया। १६ विशेषपरित्यागस्य। १७ घटपटवदिति। १८ अत्यन्तभेदः साध्यः। १९ युगपत्। २० सेनावनादिज्ञानवत्। २१ सर्वथा। २२ तस्य ज्ञानस्य। २३ घटादिवस्तुनो भेदे च। २४ ज्ञानभेदेनैव सिद्धेः। २५ एकोयं घट इति। २६ अवयवावयव्यादेः सर्वथा भेदे साध्ये।

विरुद्धधर्माध्यासोपि[1] धूमादिना[2]नैकान्तिकत्वान्ना[3]वयवावयविनोरात्यन्तिकं भेदं प्रसाधयति । न[4] खलु स्वसाध्येतरयोर्गमकत्वागमकत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेपि धूमो भिद्यते । नन्वत्रापि सामग्रीभेदोस्त्येव-धूमस्य हि पक्षधर्मत्वादिकारणोपचितस्य स्वसाध्यं प्रति गम[5]कत्वम्, तद्विपरीतकारणोपचितस्य सामग्र्यन्तरत्वात्साध्यान्तरे[6]ऽगमकत्वम्, न त्वेकस्यैव गमकत्वागमकत्वं सम्भवति; इत्यप्यन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेनानेकान्तावलम्बनम्; धूमस्याभिन्नत्वात्। य एव हि धूमोऽविनाभावसम्बन्धस्मरणादि[7]कारणोपचितो वन्हिं प्रति गमकः स एव साध्यान्तरेऽगमक इति । अथान्यः स्वसाध्यं प्रति गमकोऽन्यश्चान्यत्रागमकः; तर्हि यो गमको धूमस्तस्य स्वसाध्यवत्साध्यान्तरेपि सामर्थ्यादेकस्मादेव धूमान्निखिलसाध्यसिद्धिप्रसङ्गाद्धेत्वन्तरोपन्यासो व्यर्थः स्यात् ।

किञ्च, अतो[8]ऽप्राप्तपटावस्थेभ्यः प्राक्तनावस्थाविशिष्टेभ्यस्तन्तुभ्यः पटस्य भेदः साध्येत, पटावस्थाभाविभ्यो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, पूर्वोत्तरावस्थयोः सकलभावानां भेदाभ्युपगमात्[9]। न खलु यैवार्थस्य पूर्वावस्था सैवोत्तरावस्था पूर्वाकारपरित्यागेनैवोत्तराकारोत्पत्तिप्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु हेतूनामसिद्धिः; न खलु पटावस्थाभावितन्तुभ्यः पटस्य भेदाप्रसिद्धौ विरुद्धधर्माध्यासविभिन्नकर्तृकत्वादयो धर्माः सिद्धिम्[10]आसादयन्ति । कालात्ययापदिष्टत्वं चैतेषाम्; आतानवितानीभूततन्तुव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पटस्याध्यक्षेणानुपलब्धेस्तेन भेदपक्षस्य बाधितत्वात् ।

'तन्तवः[11] पटः' इति संज्ञाभेदोप्यवस्थाभेदनिबन्धनो न पुनर्द्रव्यान्तरनिमित्तः । योषिदादिकरव्यापारोत्पन्ना हि तन्तवः कुविन्दादिव्यापारात्पूर्वं शीतापनोदाद्यर्थासमर्थास्तन्तुव्यपदेशं लभन्ते, तद्व्यापाराच्चूत्तरकालं विशिष्टावस्थाप्राप्तास्तत्समर्थाः पटव्यपदेशमिति ।

विभिन्नशक्तिकत्वाद्य[12]प्यवस्थाभेदमेव तन्तूनां प्रसाधयति न त्ववयवावयवित्वेनात्यन्तिकं भेदम् ।

---

१ हेतुः । २ चक्षुरादिना च । ३ ययोर्विरुद्धधर्माध्यासस्तयोरात्यन्तिको भेद इत्यनुमाने । ४ उक्तमेव समर्थयन्ति । ५ महानसादौ । ६ जलादौ । ७ आदिना पक्षधर्मत्वादिग्रहणम् । ८ विरुद्धधर्माध्यासात् । ९ जैनैः । १० स्वात्मोपलब्धिम् । ११ विरुद्धधर्माध्यासादयो यदि भेदप्रसाधका न भवेयुस्तदा कथं संज्ञाभेदो भविष्यतीत्याह । १२ साधनम् ।

यच्चोक्तम्–'पटस्य भावः' इत्यभेदे[1] षष्ठी न प्राप्नोतीति; तदप्ययुक्तम्; 'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्, षण्णां पदार्थानां वर्गः[2]' इत्यादौ भेदाभावेपि षष्ठ्याद्युत्पत्तिप्रतीतेः[3]। न हि भवता षट्पदार्थव्यतिरिक्तमस्तित्वादीष्यते। ननु सतो ज्ञापकप्रमाणविषयस्य भावः सत्त्वम्[4]–सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वं नाम धर्मान्तरं[5] षण्णामस्तित्वमिष्यते, अतो[6] नानेनानेकान्तः; तदसत्; षट्पदार्थसंख्याव्याघातानुषङ्गात्, तस्य तेभ्योन्यत्वात्। ननु धर्मिरूपा एव ये भावास्ते षट्पदार्थाः प्रोक्ताः, धर्मरूपास्तु तद्व्यतिरिक्ता इष्टा एव। तथा[11] च पदार्थप्रवेशकग्रन्थे[12]:–"एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" [प्रशस्तपादभा० पृ० १५] इति।

अस्त्वेवं तथाप्यस्तित्वादेर्धर्मस्य षट्पदार्थैः सार्धं कः सम्बन्धो येन तत्तेषां धर्मः स्यात्–संयोगः, समवायो वा? न तावत्संयोगः; अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। नापि समवायः; तस्यैकत्वेनेष्टत्वात्[13]। समवायेन[14] चास्य समवायसम्बन्धे समवायानेकत्व[15]प्रसङ्गः। सम्बन्धमन्तरेण धर्मधर्मिभावाभ्युपगमे चातिप्रसङ्गः[16]।

किञ्च[17], अस्तित्वादेरपरास्तित्वाभावात्[18] कथं तत्र[19] व्यतिरेकनिबन्धना विभक्तिर्भवेत्? अथ तत्राप्यपरमस्तित्वमङ्गीक्रियेत[20] तदानवस्था[21] स्यात्। उत्तरोत्तर[22]धर्मसमावेशेन च सत्त्वादे[23]र्धर्मिरूपत्वानुषङ्गात् 'षडेव धर्मिणः' इत्यस्य व्याघातः। 'ये धर्मिरूपा एव ते षट्केनावधारिताः' इत्यप्यसारम्; एवं हि गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानामनिर्देशः स्यात्[24]। न ह्येषां धर्मिरूपत्वमेव; द्रव्याश्रितत्वेन धर्मरूपत्वस्यापि सम्भवात्।

---

१ सामान्यविशेषयोः । तन्तुपटादीनाम् । २ षट् पदार्था एव समूहः । ३ वस्तुनः । ४ तदेव । ५ षट्पदार्थेभ्यो भिन्नम् । ६ धर्मिधर्मरूपयोः षट्पदार्थास्तित्वयोः सर्वथा भेदाभेदसद्भावात् । ७ यत्र षष्ठीतद्धितोत्पत्तिस्तत्रात्यन्तिको भेद इत्यस्य । ८ सप्तमपदार्थापत्तेः । ९ अस्तित्वादयः । १० मम वैशेषिकस्य । ११ धर्मिभ्यो धर्माणां व्यतिरिक्तान्वेषणप्रकारेण । १२ श्रूयते । १३ परेण । १४ अन्यथेति शेषः । १५ समवायपदार्थैस्तित्वेन भाव्यं तत्तु तत्रापरसमवायपदार्थेन कृत्वा वर्त्तते । एवं तस्यानेकत्वापत्तिर्भवेत् । १६ गगनकुसुमाद्यस्तित्वाद्योर्धर्मिधर्मभावः स्यादित्यतिप्रसङ्गः । १७ यत्र षष्ठी विभक्तिस्तत्रात्यन्तभेद इत्यस्मिन्पक्षेऽनैकान्तिकं दूषणमुद्भावयति जैनः । १८ सामान्यस्य । १९ सत्ताया अस्तित्वं गोत्वादेरस्तित्वमित्यत्र । २० अनेकान्तदोषपरिहाराय परेण । २१ अपरापरास्तित्वसद्भावात् । २२ दूषणान्तरम् । २३ पूर्वस्य पूर्वस्य । २४ अर्थात्–एकस्यैव द्रव्यस्य निर्देशः स्यात् ।

तथा 'खस्य भावः खत्वम्' इत्यत्राभेदेपि तद्धितोत्पत्तेरुपलम्भान्न सापि भेदपक्षमेवावलम्बते।

यच्चोक्तम्-'तादात्म्यमित्यत्र कीदृशो विग्रहः कर्तव्यः' इत्यादि; तत्रेत्थं विग्रहो द्रष्टव्यः-तस्य वस्तुन आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ[1] सत्त्वासत्त्वादिधर्मौ[2] वा तदात्मानौ, तच्छब्देन वस्तुनः परामर्शात्, तयोर्भावस्तादात्म्यम्-भेदाभेदात्मकत्वम्। वस्तुनो हि भेदः पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्यरूपत्वमेव, भेदाभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावावेव। न खलु द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा वस्तु; उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वात्। द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्वं नाप्यवस्तुता; किन्तु वस्त्वेकदेशता। यथा समुद्रांशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रः, किन्तु समुद्रैकदेश इति।

'स पट आत्मा[3] येषाम्[4]' इत्यपि विग्रहे न दोषः[5]; अवस्था[6]विशेषापेक्षया तन्तूनामेकत्वस्याभीष्टत्वात्।

'ते तन्तव आत्मा यस्य इति विग्रहे तन्तूनामनेकत्वे पटस्याप्यनेकत्वं स्यादिति चेत्; किमिदं तस्यानेकत्वं नाम-किमनेकावयवात्मकत्वम्, प्रतितन्तु तत्प्रसङ्गो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; आतानवितानीभूतानेकतन्त्वाद्य[7]वयवात्मकत्वात्तस्य। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; प्रत्येकं तेषां तत्परिणामाभावात्। समुदितानामेव ह्यातानवितानीभूतः परिणामोऽमीषां प्रतीयते, तथाभूताश्च ते पटस्यात्मेत्युच्यन्ते[8]।

वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वे संशयादिदोषानुषङ्गोऽयुक्तः; भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि संशयो युक्तः, क्वचित्स्थाणुपुरुषत्वाप्रतीतौ तत्संशयवत्। तत्प्रतीतौ तु कथमसौ स्थाणुपुरुषप्रतीतौ तत्संशयवदेव? चलिता च प्रतीतिः संशयः, न चेयं तथेति।

न चानयोर्विरोधः; कथञ्चिद्[9]अर्पित[10]योः सत्त्वासत्त्व[11]योरिव भेदाभेद[12]योर्विरोधासिद्धेः, तथा[13]प्रतीतेश्च। प्रतीयमानयोश्च कथं विरोधो नामास्यानुपलम्भसाध्यत्वात्? न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति। न खलु वस्तुनः

---

१ एतेनोर्ध्वतासामान्यपर्यायलक्षणविशेषात्मकवस्तु गृहीतम्। २ एतेन तिर्यक्सामान्यव्यतिरेकविशेषात्मकं वस्तु सङ्गृहीतम्। ३ प्रत्येकम्। ४ तन्तूनाम्। ५ पटस्यैकत्वे तन्तूनामेकत्वानुषङ्गलक्षणः। ६ अवस्था=पटरूपा। ७ आदिना अंशुग्रहणम्। ८ अस्माभिर्जैनैः। ९ द्रव्यपर्यायापेक्षया। १० विवक्षितयोः (मुख्ययोः)। ११ स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। १२ पर्यायापेक्षया भेदः। द्रव्यापेक्षया चाभेदः। १३ भेदाभेदप्रकारेण।

सर्वथा भाव एव स्वरूपम्; स्वरूपेणेव पररूपेणापि भाव[1]-प्रसङ्गात्। नाप्यभाव एव; पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात्।

न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वरूपेण भावः; तद्[2]पेक्षणीयनिमित्तभेदात्, [3]स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययं जनयत्यर्थः परद्रव्यादिकं त्वपेक्ष्याऽभावप्रत्ययम् इति एकत्व[4]द्वित्वादिसंख्यावदेव वस्तुनि भावाभावयोर्भेदः[5]। न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादि-संख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातो नान्या प्रतीयते। नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव; अस्याऽसंख्येयत्वप्रसङ्गात्। संख्यासमवायात्तत्त्वम्[6]; इत्यप्यसुन्दरम्; कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरिक्तस्य समवायस्यासत्त्वप्रतिपादनात्[7]। ततसिद्धोऽपेक्षणीयभेदात्संख्यावत्सत्त्वासत्त्वयोर्भेदः। तथाभूतयो[8]श्चानयो[9]रेकवस्तुनि प्रतीयमानत्वात्कथं विरोधः द्रव्यपर्यायरूपत्वादिना भेदाभेदयोर्वा? मिथ्येयं प्रतीतिः; इत्यप्यसङ्गतम्; बाधकाभावात्। विरोधो बाधकः; इत्यप्ययुक्तम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सति हि विरोधे तेनास्याबाध्यमानत्वान्मिथ्यात्वसिद्धिः, ततश्च तद्विरोधसिद्धिरिति।

विरोधश्च अविकलकारणस्यैकस्य[10] भवतो[11] द्वितीय[12]सन्निधानेऽभावादवसीयते। न च भेदसन्निधानेऽभेदस्याऽभेदसन्निधाने वा भेदस्याभावोऽनुभूयते।

किञ्च, अत्र विरोधः सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो वा, वध्यघातकरूपो वा स्यात्? न तावत्सहानवस्थानलक्षणः; अन्योन्याव्यवच्छेदेनैकस्मिन्नाधारे भेदाभेदयोर्धर्मयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा प्रतिभासमानत्वात्[13]। परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिवानयोः सम्भवतोरेव[14] स्यान्न[15] त्वसम्भवतोः[16] सम्भवदसम्भवतोर्वा[17]।

किञ्च, अयं विरोधो धर्मयोः, [धर्म] धर्मिणोर्वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्; एतल्लक्षणत्वाद् धर्माणाम्। ऐकाधिकरण्यं तु

---

१ भावः=अस्तित्वम्। २ तयोः=भावाभावयोः। ३ कथम्? तथा हि। ४ स्वापेक्षया एकत्वं यथा तथा परापेक्षया द्वित्वं च। ५ विशेषः। ६ संख्येयत्वम्। ७ अग्रे। ८ भिन्नयोः। ९ सत्त्वासत्त्वयोः। १० शीतस्य। ११ जायमानस्य। १२ उष्ण। १३ ययोस्तथा प्रतिभासमानत्वं न तयोस्तथा विरोधो यथा रूपरसयोः, तथा प्रतिभासमानत्वं च भेदाभेदयोरिति। १४ विद्यमानयोः। १५ असिन्विरोधे सति दोषो नास्तीत्यर्थः। १६ शशाश्वविषाणयोरिव। १७ वन्ध्याऽवन्ध्यास्तनन्धययोरिव।

तेषां न विरुध्यंते[1] मातुलिङ्गद्रव्ये रूपादिवत्। धर्मधर्मिणोस्तु विरोधे धर्मिणि[2] धर्माणां[3] प्रतीतिरेव न स्यात्, न चैवम्, अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्तत्र तेषाम्। वध्यघातकभावोपि विरोधः फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोर्भेदाभेदयोर्वा नाशङ्कनीयः; तयोः समानबलत्वात्।

अस्तु वा कश्चिद्विरोधः; तथाप्यसौ सर्वथा, कथञ्चिद्वा स्यात्? न तावत्सर्वथा; शीतोष्णस्पर्शादीनामपि[4] सत्त्वादिना[5] विरोधासिद्धेः[6]। एकाधारतया चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचित्प्रदेशे शीतस्पर्शः क्वचिच्चोष्णस्पर्शः प्रतीयत एव। अथानयोः प्रदेशयोर्भेद एवेष्यंते[7]; अस्तु नामानयोर्भेदः, धूपदहनाद्यवयविनस्तु न भेदः। न चास्य शीतोष्णस्पर्शाधारता नास्तीत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षविरोधात्। तन्न सर्वथा विरोधः। कथञ्चिद्विरोधस्तु[8] सर्वत्र[9] समानः।

किञ्च, भावेभ्योऽभिन्नः, भिन्नो वा विरोधः स्यात्? न तावत्तेभ्योऽभिन्नो विरोधो विरोधको युक्तः; स्वात्मभूतत्वात्तत्स्वरूपवत्, विपर्ययानुषङ्गो[11] वा। अथ भिन्नः; तथापि न विरोधकः; अनात्मभूतत्वादर्थान्तरवत्। अथार्थान्तरभूतोपि विरोधो विरोधको भावानां विशेषणभूतत्वात्[12], न पुनर्भावान्तरं[13] तस्य तद्विशेषणत्वाभावात्; तदप्यसमीचीनम्; विरोधो हि तुच्छरूपोऽभावः, स यदि शीतोष्णद्रव्ययोर्विशेषणं तर्हि तयोर्दर्शनापत्तिस्तत्सम्बद्धरूपत्वात्[14]। असम्बद्धस्य[15] च विशेषणत्वेऽतिप्रसङ्गात्।

अन्यतर[16]विशेषणत्वे[17]प्येतदेव दूषणम्[18]। तदेव[19] च विरोधि स्याद्-

---

१ जैनमते। २ प्रदीपादौ। ३ स्वपरप्रकाशादीनाम्। ४ सत्त्वादिरूपाव्यवच्छेदतः। ५ शीतस्पर्शः सन्नुष्णस्पर्शः सन्नित्यादिना धर्मेण। ६ शीतोष्णस्पर्शादयो न विरुद्धा एकाधारतया प्रतीयमानत्वात्, यत्तथा प्रतीयते न तत्सर्वथा विरुद्धं यथा रूपरसादि, एकतुलायां नामोन्नामादिर्वा, एकाधारतया प्रतीयन्ते च धूपदहनादौ शीतोष्णस्पर्शादय इति। ७ परेण। ८ भावानामसाधारणस्वरूपप्रकारेण। ९ घटाकारस्य पटेऽभावात्। १० घटपटादौ घटपटरूपादौ वा। ११ भावा अपि विरोधस्य विरोधकाः कुतो न भवेयुर्विरोधादभिन्नत्वाविशेषात्?। १२ भावा विशेष्या विरोधो विशेषणमनयोर्भावयोर्विरोध इति। १३ घटपटादिरूपः। १४ विवादापन्ने शीतोष्णद्रव्ये धर्मिणी न दृश्येते इति साध्यो धर्मः, अभावसम्बद्धरूपत्वात् क्वचित्प्रदेशे घटवत्। १५ शीतोष्णद्रव्ययोर्मध्ये शीतद्रव्यस्योष्णद्रव्यस्य वा। १६ शीतोष्णद्रव्ययोर्मध्ये। १७ विरोधस्य। १८ अदर्शनापत्तिलक्षणम्। १९ द्वितीयम्।

स्यो[1]सौ विशेषणं नान्यत्[2]। न चैकत्र[3] विरोधो नामास्य द्विष्ठत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तत्प्रसङ्गः[4]।

अथ विरुध्य[5]मानत्वविरोधक[6]त्वापेक्षया[7] कर्मकर्तृस्थो[8] विरोधः, विरोधसामान्या[9]पेक्षयोभयविशेषणत्वाद्द्विष्ठोभिधीयते । नन्वेवं रूपादेरपि द्विष्ठत्वा[10]पत्तिः किन्न स्यात् तत्सामान्यस्यापि द्विष्ठत्वा[11]विशेषात्? विरोधस्याभावरूपत्वे सामान्यविशेषत्वाभावानुपपत्तिश्च[12]। गुण[13]रूपत्वे गुणविशेषणत्वाभावानुषङ्गः[14]।

अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तत्वात् पदार्थविशेषो विरोधोऽनेकस्थो विरोध्यविरोधकप्रत्ययविशेषप्रसिद्धः समाश्रीयते; तदाप्यस्यासम्बद्धस्य द्रव्यादौ विशेषणत्वम्, सम्बद्धस्य वा? न तावदसम्बद्धस्य; अतिप्रसङ्गात्[15], दण्डादौ तथा[16]ऽप्रतीतेश्च। न खलु पुरुषेणासम्बद्धो दण्डस्तस्य विशेषणं प्रतीतो येनात्रापि तथाभावः। अथ सम्बद्धः; किं संयोगेन, समवायेन, विशेषणभावेन वा? न तावत्संयोगेन; अस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात्। नापि समवायेन; अस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासमवायित्वात्। नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धे वस्तुनि विशेषणभावस्याप्यसम्भवात्, अन्यथा दण्डपुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धाभावेपि स स्यात् इत्यलं संयोगादिसम्बन्धकल्पनाप्रयासेन। 'विरोध्यविरोधकप्रत्यय[17]विशेषस्तु विशिष्टं वस्तुधर्ममेवालम्बते[18]' इति वक्ष्यते समवायसम्बन्धनिराकरणप्रक्रमे । ततो विरोधस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नानयो[19]रसौ घटते।

नापि वैयधिकरण्यम्; निर्बाधबोधे भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा एकाधारतया प्रतीयमानत्वात्।

---

१ शीतद्रव्यस्योष्णद्रव्यस्य वा। २ उष्णद्रव्यं शीतद्रव्यं वा। ३ उष्णद्रव्ये शीतद्रव्ये वा। ४ तथा च घटस्य सद्रूपतावत् (सत्तासम्बन्धात्सद्रूपाणीति भावो वैशेषिकमते) रूपादिस्वभावतापि न स्यात्, न चैतद्युक्तं प्रतीतिविरोधात्। ५ विरुध्यमानः=शीतः। ६ विरोधकः=उष्णः। ७ विरोध्यविरोधकभावसम्बन्धापेक्षया। ८ ननु विशेषापेक्षया यतः कर्तृस्थो विरोधो हि कर्मणि नास्ति कर्मस्थः कर्तरि नास्तीत्यद्विष्ठो विशेषापेक्षयेति भावः। ९ विरोधप्रकारेण। १० भावानां विरोधकत्वापत्तिः। ११ विरोधस्याभावरूपत्वं मा भूद्गुणरूपत्वं स्यादित्युक्ते आहाचार्यः। १२ गुणा निर्गुणा इति वचनाच्छीतोष्णस्पर्शयोर्गुणरूपयोर्विरोधो गुणरूप इति विशेषणत्वमस्य न घटतेऽन्यथा। १३ सह्यो विन्ध्यं प्रति विशेषणं स्यादसम्बद्धत्वाविशेषात्। १४ असम्बद्धविशेषणत्वप्रकारेण। १५ असम्बद्धत्वप्रकारेण। १६ पञ्चसु पदार्थेषु समवायोस्ति यतः। १७ प्रत्ययो=ज्ञानम्। १८ वस्तुनोऽव्यतिरिक्तमभावरूपं विरोधमवलम्बते न तु व्यतिरिक्तम्। १९ भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा।

नाप्युभयदोषः; चौर[पार]दारिकाभ्यामचौरपारदारिकवत् जैनाभ्युपगतवस्तुनो[1] जात्यन्तरत्वात् । न खलु भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वाऽन्योन्यनिरपेक्षयोरेकत्वं जैनैरभ्युपगम्यते येनायं दोषः, तत्[2]सापेक्षयोरेव तदभ्युपगमात्, तथा[3]प्रतीतेश्च ।

नापि सङ्करव्यतिकरौ; स्वरूपेणैवा[4]र्थे तयोः प्रतीतेः ।

नाप्यनवस्था[5]; 'धर्म्मिणो ह्यनेकरूपत्वं न धर्माणां कथञ्चन' इति, वस्तुनो ह्यभेदो धर्म्यैव, भेदस्तु धर्मा एव, तत्कथमनवस्था?

अभावदोषस्तु दूरोत्सारित एव; अशेषप्राणिनामनेकान्तात्मकार्थस्यानुभवसम्भवात्[6] ।

ननु शरी[7]रेन्द्रियबुद्धिव्यतिरिक्तात्मद्रव्यस्येच्छादिगुणाश्रयस्य नित्यैकरूपत्वात्कथं सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वम्? न च नित्यैकरूपत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममरणजीवनहिंसकत्वादिव्यपदेशाभावः; ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायो हि कर्तृत्वम्, सुखादिसंवित्समवायस्तु भोक्तृत्वम्, अपूर्वैः शरीरेन्द्रियबुद्ध्यादिभिश्चाभिसम्बन्धो जन्म, प्राणाद्यैस्तैस्तु वियोगो मरणम्, जीवनं तु सदेहस्यात्मनो धर्माधर्मापेक्षो मनसा सम्बन्धः, हिंसकत्वं च शरीरचक्षुरादीनां वधान्न पुनरात्मनो विनाशात् । तथा च सूत्रम्- "कार्याश्रयकर्तृवधाद्धिंसा" [न्यायसू० ३।१।६] इति । कार्याश्रयः शरीरं सुखादेः कार्याश्रयत्वात् । कर्तृणीन्द्रियाणि विषयोपलब्धेः कर्तृत्वादिति ।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; सर्वथाऽपरित्यक्तपूर्वरूपत्वेनास्या[11]काशकुशेशयवत् ज्ञानादिसमवायस्यैवासम्भ[12]वात् कथं तदपेक्षया कर्तृत्वादिस्वरूपसम्भवः? पूर्वरूपपरित्यागे वा कथं नानेकान्तात्मक[13]त्वम्; व्या[14]वृत्त्यनुगमात्मकस्या[15]त्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः । व्यावृत्तिः खलु सुखदुःखादिस्वरूपापेक्षया आत्मनः अनुगमश्च चैतन्यद्रव्यत्वसत्त्वादिस्वरूपापेक्षया[16] । तदात्मकत्वं चाध्यक्षत एव प्रसिद्धम् ।

---

१ आत्मादिवस्तुनः । २ द्रव्यं पर्यायमपेक्ष्य वर्त्तते पर्यायो द्रव्यमपेक्ष्य वर्त्तते । ३ परस्परापेक्षया । ४ मेचकरत्नादौ । ५ धर्माणामपरधर्माऽसम्भवात् । ६ प्रत्यक्षादिप्रमाणतः । ७ येषां वादिनां शरीरमेवात्मा इन्द्रियाण्येवात्मा बुद्धिरेवात्मा वा तेषां मतनिरासार्थमिदं विशेषणम् । ८ आत्मना सह । ९ आदिना चिकीर्षाप्रयत्नादि । १० घटते । ११ आत्मनः । १२ व्यापित्वाव्यापित्वरूपे । १३ घटपटादौ । १४ पर्यायापेक्षाया व्यावृत्त्यात्मकस्य चैतन्यापेक्षयानुगमात्मकस्य । १५ आकारवैलक्षण्याविशेषात् । १६ आत्मसुखादिवत् ।

ननु चानुवृत्तव्यावृत्तस्वरूपयोः परस्परं विरोधात्कथं तदात्मकत्वमात्मनो युक्तम्? इत्यप्यसत्; प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुस्वरूपे विरोधानवकाशात्। न खलु सर्पस्य कुण्डलेतरावस्थापेक्षया अङ्गुल्यादेर्वा सङ्कोचितेतरस्वभावापेक्षया व्यावृत्त्यनुगमात्मकत्वं प्रत्यक्षप्रतिपन्नं विरोधमध्यास्ते।

ननु सुखाद्यवस्थानामात्मनोऽत्यन्तभेदात्तद्व्यावृत्तावप्यात्मनः किमायातं येनास्यापि व्यावृत्त्यात्मकत्वं स्यात्? इत्यप्यपेशलम्; सुखाद्यात्मनोरत्यन्तभेदस्य प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात्। ननु चाकारवैलक्षण्येऽप्यात्मसुखादीनामनानात्वे अन्यत्र[1]ाप्यन्यतोऽन्ये[2]स्यान्यत्वं न स्यात्[3]; तदप्यविचारितरमणीयम्; तद्व[4]त्तादात्म्येनान्यत्रा[5]न्यस्य[6] प्रमाणतोऽप्रतीतेः। प्रतीतौ तु भवत्येवाकारनानात्वेऽप्यनानात्वम् प्रत्यभिज्ञाज्ञानवत्, सामान्यविशेष[7]वत्, संशयज्ञानवत्, मेचकज्ञानवच्चेति।

यच्चोक्तम्–'द्रव्यादयः षडेव पदार्थाः प्रमाणप्रमेयाः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; द्रव्यादिपदार्थषट्कस्य विचारासहत्वात्; तथाहि–यत्तावच्चतुःसंख्यं पृथिव्यादिनित्यानित्यविकल्पाद्द्विभेदमित्युक्तम्; तदयुक्तम्; एकान्तनित्ये[8] क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। तल्लक्षणसत्त्वस्यातो व्यावृत्त्याऽसत्त्वप्रसङ्गात्। यदि हि परमाणवो[9] द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यजननैकस्वभावाः; तर्हि तत्प्रभवकार्याणां सकृदेवोत्पत्तिप्रसङ्गोऽविकलकारणत्वात्। प्रयोगः–येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते यथा समानसमयोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणाश्चाणुकार्यत्वेनाभिमता भावा इति। तथाभूतानामप्यनुत्पत्तौ सर्वदानुत्पत्तिप्रसक्तिर्विशेषाभावात्[10]।

ननु[11] समवाय्यऽसमवायि[12]निमित्तभेदात्त्रिविधं कारणम्। यत्र हि कार्यं समवैति तत्समवायिकारणम्, यथा द्व्यणुकस्याणुद्वयम्। यच्च कार्यैकार्थ[13]समवेतं कार्यकारणैकार्थ[14]समवेतं वा कार्यमुत्पादयति तदसमवायिकारणम्, यथा पटारम्भे तन्तुसंयोगः, पट-

१ घटे। २ पटस्य। ३ तादात्म्ये। ४ पूर्वोत्तरपर्यायज्ञानद्वयाकारवत्। ५ घटादौ। ६ पटादेः। ७ यथा गोत्वं सामान्यमश्वत्वसामान्यापेक्षाया विशेषः। ८ एकान्तनित्यस्य। ९ एकान्तनित्याः। १० अविकलकारणत्वस्य। ११ साधनमसिद्धमिति परः सम्भावयति। १२ पृथग्रूपत्वेनोत्पद्यते। १३ कार्य=पटः तेनैकार्थे तन्तुलक्षणे समवेतं पटम्। १४ कार्यकारणं पटगतरूपादि (देः कार्यस्य कारणं पटः) तेन सह एकार्थसमवेतं तन्तुगतरूपम्।

समवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च। शेषं तूत्पादकं निमित्तकारणम्, यथाऽदृष्टाकाशादि[1]कम्। तत्र[2] संयोग[3]स्याऽपेक्षणीय[4]स्याभावादविकलकारणत्वमसिद्धम्; तदप्यसाम्प्रतम्; संयोगा[5]दिनाऽनाधेयातिशय[6]त्वेनाऽणूनां तदपेक्षाया अयोगात्।

अथ संयोग एवासीषामतिशयः; स किं नित्यः, अनित्यो वा? नित्यश्चेत्; सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यात्[7]। अनित्यश्चेत्; तदुत्पत्तौ कोऽतिशयः[8] स्यात्संयोगः[9], क्रिया[10] वा? संयोगश्चेत्किं स एव, संयोगान्तरं वा? न तावत्स एव; अस्याद्याप्यसिद्धेः, स्वोत्पत्तौ स्वस्यैव व्यापारविरोधाच्च[11]। नापि संयोगान्तरम्; तस्यानभ्युपगमात्[12]। अभ्युपगमे वा तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयकल्पनायामनवस्था। नापि क्रियातिशयः; तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्।

किञ्च, अदृष्टापेक्षात्[13]आत्माणुसंयोगात्परमाणुषु क्रियोत्पद्यते[14] इत्यभ्युपगमात्[15] आत्मपरमाणुसंयोगोत्पत्तावप्यपरोतिशयो वाच्यस्तत्र च तदेव[16] दूषणम्।

किञ्च, असौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्त्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः, तद[17]न्याश्रितः, अनाश्रितो वा? प्रथमपक्षे त[18]दुत्पत्तौ[19]वाश्रयं[20] उत्पद्यते, न वा? यद्युत्पद्यते; तदाणूनामपि कार्यतानुषङ्गः[21]। अथ नोत्पद्यते; तर्हि संयोगस्तदा[22]श्रितो न स्यात्, [23]समवायप्रतिषेधात्[24], तेषां[25] च तं प्रत्यकारकत्वात्। तदकारकत्वं चाऽनतिशयत्वात्[26]। अनतिशयानामपि कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्यजनकत्वप्रसङ्गोऽविशेषात्[27]। अतिशयान्तरकल्पने च अनवस्था–तदुत्पत्तावप्यपरातिशयान्तरपरिकल्पनात्। तत्[28]-

१ आदिना कुविन्दादि। २ कारणत्रयमध्ये। ३ द्व्यणुकादिकार्योत्पादने। ४ परमाणुभिः। ५ परमाणूनां परमाणुभिः सह संयोगः। ६ नित्यत्वात्। ७ सर्वदा नित्यसंयोगलक्षणातिशयसद्भावात्। ८ कारणम्। ९ परमाण्वोः। १० परमाण्वोः। ११ स्वयमनुत्पन्नस्य स्वात्मनि व्यापारः कथमिति विरोधः। १२ परेण। १३ द्व्यणुकादीनि कार्याण्यात्मनोऽदृष्टवशाज्जायन्ते आत्मनो व्यापकत्वादिति हेतोः। १४ द्व्यणुकादिकार्योत्पादकलक्षणा। १५ परेण। १६ अनवस्थालक्षणम्। १७ ततोऽन्यत्=अदृष्टाकाशादि निमित्तकारणम्। १८ तस्य संयोगस्य। १९ द्व्यणुकोत्पादकः संयोगः परमाण्वाश्रितः, त्र्यणुकोत्पादकसंयोगो द्व्यणुकाश्रितः, स्कन्धोत्पादकः संयोगस्त्र्यणुकाश्रित इति। २० परमाण्वादिः। २१ उत्पद्यमानत्वाद्घटवत्। २२ तस्य परमाणोः। २३ समवायाद्भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। २४ अग्रे। २५ कार्यकारणभावसम्बन्धेन तदाश्रितो भविष्यतीत्युक्ते सत्याहाचार्यः। २६ संयोगजनकस्वभावातिशयाभावात्। २७ अनतिशयत्वस्य। २८ संयोगाश्रयस्यानुत्पद्यमानत्वेन संयोगस्तदाश्रितो न स्याद्यतः।

स्तेषामसंयोग[1]रूपतापरित्यागेन संयोगरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या इति सिद्धं तेषां कथञ्चिदनित्यत्वम्। अन्याश्रितत्वेपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः। अनाश्रितत्वे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तेः सदा सत्त्वप्रसङ्गतः[2] कार्य[3]स्यापि सर्वदा भावानुषङ्गः। [4]कथं चासौ गुणः स्यादनाश्रितत्वादाकाशादिवत्?

किञ्च, असौ संयोगः सर्वात्मना, एकदेशेन वा तेषां स्यात्? सर्वात्मना चेत्; पिण्डोणुमात्रः[5] स्यात्। एकदेशेन चेत्; सांशत्वप्रसङ्गोऽमीषाम्। तदेवं संयोगस्य विचार्यमाणस्यायोगात्कथमसौ तेषामतिशयः स्यात्? निरतिशयानां च कार्यजनकत्वे तु सकृन्निखिलकार्याणामुत्पादः स्यात्। न चैवम्। ततोमीषां प्राक्तनाजनकस्वभावपरित्यागेन विशिष्ट[6]संयोगपरिणामपरिणतानां जनकस्वभावसम्भवात्सिद्धं कथञ्चिदनित्यत्वम्। प्रयोगः—ये क्रमवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्या यथा क्रमवदङ्कुरादिनिर्वर्तका बीजाद[7]यः, तथा च परमाणव इति।

[8]ततोऽयुक्तमुक्तम्—'नित्याः परमाणवः सदकारणवत्त्वादाकाशवत्। न चेदमसिद्धं[9]मावयोः[10] परमाणुसत्त्वेऽविवादात्। [11]अकारणवत्त्वं चातोऽल्पपरिमाणकारणाभावात्तेषां सिद्धम्। कारणं हि कार्यादल्पपरिमाणोपेतमेव; तथाहि-द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्धं कार्यत्वात्पट[12]वत्,' इति; अकारणवत्त्वाऽसिद्धिः(द्धेः); [13]परमाणवो हि स्कन्धावयविद्रव्यविनाशकारणकाः तद्भावभावित्वाद् घटविनाशपूर्वककपालवत्। न चेदमसिद्धं साधनम्; द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यविनाशे सत्येव परमाणुसद्भावप्रतीतेः। सर्वदा स्वतन्त्र[14]परमाणूनां तद्विनाशमन्तरेणाप्यत्र[15] सम्भवाद् भागासिद्धो हेतुः; इत्यप्यसुन्दरम्; तेषामसिद्धेः। तथाहि-वि[16]वादापन्नाः परमाणवः स्कन्धभेद[17]पूर्वका एव तत्त्वाद् द्व्यणुकादिभेदपूर्वकपरमाणुवत्।

ननु[18] पटोत्तरकालभावितन्तू[19]नां पटभेदपूर्वकत्वेपि पटपूर्वकालभाविनां तेषामतत्पूर्वकत्ववत् परमाणूनामप्यस्कन्धभेदपूर्व-

१ पूर्वरूप। २ सतो हेतुरहितस्य सर्वदा व्यवस्थितेः। ३ द्व्यणुकादेः। ४ अनाश्रितपक्षे दूषणान्तरमाहाचार्यः। ५ अवयविनिषेधश्च भवेत्। ६ कथञ्चिदेकत्वलक्षण। ७ आदिना क्षितिजलवातातपादयः। ८ परमाणूनां कथञ्चिदनित्यत्वं यतः। ९ आश्रयासिद्धं स्वरूपासिद्धं वा। १० जैनवैशेषिकयोः। ११ द्वितीयविशेषणम्। १२ दृष्टान्ते तन्तवः। १३ कथम्? तथा हि। १४ अवयविद्रव्यभावं पूर्वमप्राप्तानामित्यर्थः। १५ जगति। १६ स्वतन्त्रत्वेन। १७ भेदो=विनाशः। १८ साधनस्यानैकान्तिकत्वमुद्भावयति परः। १९ निष्पन्नपटासिष्कासितानाम्।

कत्वं केषाञ्चित्स्यात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; तेषामपि[1]प्रवेणीभेदपूर्वकत्वेन प्रतीत्या स्कन्धभेदपूर्वकत्वसिद्धेः। '[2]बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयवविभागात्संयोगविनाशाद्विनाशोर्थानाम्' इत्यादि[3] विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषणं तु प्रागेव कृतोत्तरम् । ततो[4] नित्यैकत्वस्वभावाणूनां जनकत्वासम्भवात्तदारब्धं तु द्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यमनित्यमित्यप्ययुक्तमुक्तम्।

तन्त्वाद्यवयवेभ्यो[5] भिन्नस्य[6] च पटाद्यवयविद्रव्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्[7]। न चास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्व[8]मसिद्धम्; "महत्य[9]नेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्च[10] रूपोपलब्धिः" [वैशे० सू० ४।१।६] इत्यभ्युपगमात्। न च[11] समान[12]देशत्वादवयविनो[13]ऽवयवेभ्यो भेदेनानुपलब्धिः[14]; वातातपादिभी रूपरसादिभिश्चानेकान्तात्, तेषां समानदेशत्वेपि भेदेनोपलम्भसम्भवात्।

किञ्च, अवयवावयविनोः शास्त्रीयदेशापेक्षया समानदेशत्वम्, लौकिकदेशापेक्षया वा? प्रथमपक्षेऽसिद्धो हेतुः; पटावयविनो[15] ह्यन्ये एवारम्भकास्तन्त्वादयो देशास्तेषां चान्ये[16] भवद्भिर[17]भ्युपगम्यन्ते । द्वितीयपक्षेप्यनेकान्तः; लोके हि समानदेशत्वमेकभाजनवृत्तिलक्षणं भेदेनार्थानामुपलम्भेप्युपलब्धम्, यथा कुण्डे बदरादीनाम् ।

किञ्च, कतिपयावयवप्रतिभासे सत्यऽवयविनः प्रतिभासः, निखिलावयवप्रतिभासे वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; जलनिमग्नमहाकायगजादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेप्यखिलावयवव्यापिनो गजाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात्[18]। नापि द्वितीयविकल्पो युक्तः; मध्यपरभागवर्त्तिसकलावयवप्रतिभासासम्भवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसङ्गात् । भूयो[19]ऽवयवग्रहणे सत्यवयविनो ग्रहणमित्यप्ययुक्तम्; यतोऽर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणान्न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या,

---

१ स्कन्धभेदपूर्वकत्वेऽस्कन्धभेदपूर्वकत्वे च तत्त्वादिति हेतोर्वर्त्तनात्। २ घटविनाशपूर्वककपालवदिति दृष्टान्तं साध्यसाधनविकलं दर्शयन्नाह परः। ३ एवं प्रवेणीरूपस्यार्थस्य विनाशो ज्ञेयः, तन्तवस्तु स्वारम्भकावयवेभ्यः समुत्पद्यन्ते, ततः प्रवेणीभेदपूर्वकत्वं पटपूर्वकालभाविनामपि तन्तूनां नास्तीति भावः। ४ उक्तन्यायात्। ५ यौगपरिकल्पितं स्थूलावयविद्रव्यं निराकुर्वन्नाह जैनः। ६ सर्वथा। ७ भेदेन। ८ विशेषणम्। ९ परमाणुनाऽव्यभिचारार्थमेतत्। १० आकाशेन व्यभिचारपरिहारार्थं रूपविशेष इति। ११ भेदे सत्यपि। १२ अम्भःक्षीरवत्। १३ पटस्य। १४ अन्यथा समानदेशत्वाद्भेदेनानुपलब्धिर्यदि तर्हि। १५ कथम्? तथा हि। १६ प्रवेणिकासम्बन्धिनोंशाः। १७ वैशेषिकैः। १८ सर्वथा तयोर्भेदात्। १९ बहु।

व्याप्याग्रहणे तद्व्यापकस्यापि ग्रहीतुमशक्तेः[1]। प्रयोगः[2]-यद्येन रूपेण प्रतिभासते तत्तथैव तद्व्यवहारविषयः यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तद्रूपतयैव तद्व्यवहारविषयः, अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धितया प्रतिभासते चावयवीति । न[3] च परभागभाविव्यवहितावयवाप्रतिभासनेप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीत्यभिधातव्यम्; तदप्रतिभासने तद्गतत्वेना[4]स्याऽप्रतिभासनात्। तथाहि-यस्मिन्प्रतिभासमाने यद्रूपं न प्रतिभाति तत्ततो भिन्नम् यथा घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानं पटस्वरूपम्[5], न प्रतिभासते चार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयवि[6]स्वरूपम्[7], इति[8] कथं निरंशैका[9]वयविसिद्धिः[10]? अर्वाग्भागपरभागभाव्यवयवसम्बन्धित्वलक्षणविरुद्ध[11]धर्माध्यासेप्यस्याभेदे सर्वत्र[12] भेदोपरतिप्रसङ्गः, अन्यस्य[13] भेदनिबन्धनस्यासम्भवात् । प्रतिभासभेदो भेदनिबन्धनमित्यप्यपेशलम्; विरुद्धधर्माध्यासं भेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदकत्वासम्भवात्।

नापि परभागभाव्यवयवावयविग्राहिणा प्रत्यक्षेणार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धित्वं तस्य[14] ग्रहीतुं शक्यम्; उक्त[15]दोषानुषङ्गात्। नापि स्मरणेनार्वाक्परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः; प्रत्यक्षानुसारेणास्य प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षस्य च तद्ग्राहकत्वप्रतिषेधात्। नाप्यात्मा अर्वाक्परभागावयवव्यापित्वमवयविनो ग्रहीतुं समर्थः; जड[16]तया तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्तेः, अन्यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थास्वपि तद्ग्राहित्वानुषङ्गः। प्रत्यक्षादि[17]सहायस्याप्यात्मनोवयविस्वरूपग्राहित्वायोगः; अवयविनो निखिलावयवव्याप्तिग्राहित्वेनाध्यक्षादेः प्रतिषेधात्।

---

१ दण्डाग्रहणे तत्सम्बन्धवान्दण्डी पुमान् ग्रहीतुं न शक्यते यथा। २ अवयवी धर्मी अर्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धितया तद्व्यवहारविषयस्तथैव प्रतिभासमानत्वादित्युपरिष्टाद्योज्यम् । ३ परभागभाविव्यवहितावयवाप्रतिभासमानेपि अव्यवहितोऽवयवी भाति, ततस्तथैव प्रतिभासमानत्वमसिद्धमित्युक्ते सत्याह। ४ अवयवी परभागभाव्यऽवयवगतत्वेन न प्रतिभासतेऽगृहीताधारत्वान्मेरुमूर्ध्नि मोदकराशिवत्। ५ भिन्नम्। ६ तस्मिन्प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानत्वादिति हेतोः। ७ तस्माद्भिन्नमेव। ८ भागद्वये सति। ९ तन्तुलक्षणैरंशैः कृत्वा पटोंऽशी प्रतिपाद्यते तस्मात्सर्वथा भिन्ना अतो निरंशावयवी ते तस्मात्सर्वथा भिन्ना अतस्तेषां विनाशेपि अस्य विनाशो नातो नित्यत्वमिति भावः। १० तव परस्य। ११ व्यवहिताऽव्यवहितलक्षण। १२ घटपटादौ। १३ विरुद्धधर्माध्यासादपरस्य। १४ अवयविनः। १५ व्याप्याग्रहणे तद्व्यापकस्यापि ग्रहीतुमशक्तेरित्यादि। १६ परमते जड आत्मा। १७ आदिना स्मरणग्रहणम्।

नतु चार्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकालं परभागदर्शनानन्तरस्म[1]रणसहकारीन्द्रियजनितं 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविनः पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्; तदप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यभिज्ञाज्ञानेऽध्यक्षरूपत्वस्यैवासिद्धेः । अक्षाश्रितं विशदस्वभावं हि प्रत्यक्षम्, न चास्यैतल्लक्षणमस्तीति । अक्षाश्रितत्वे चास्याखिलावयवव्याप्यवयविस्वरूपग्राहकत्वासम्भवः; अक्षाणां सकलावयवग्रहणे व्यापारासम्भवात्[2] । न च स्मरणसहायस्यापीन्द्रियस्याविषये व्यापारः सम्भवति । यद्यस्याविषयो न तत्तत्र स्मरणसहायमपि प्रवर्त्तते यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धे, अविषयश्च व्यवहितोऽक्षाणां परभागभाव्यवयवसम्बन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति ।

न[3] चानेकावयवव्यापित्वमेकस्वभाव[4]स्यावयविनो घटते; तथा हि-यन्निरंशैकस्वभावं द्रव्यं तन्न सकृदनेकद्रव्याश्रितम् यथा परमाणु, निरंशैकस्वभावं चावयविद्रव्यमिति । यद्वा, यदनेकं द्रव्यं तन्न सकृन्निरंशैकद्रव्यान्वितम् यथा कुटकुड्यादि, अनेकद्रव्याणि चावयवा इति ।

अस्तु वानेकत्रावयविनो वृत्तिः; तथाप्यस्यासौ सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात्? यदि सर्वात्मना प्रत्येकमवयवेष्ववयवी वर्तेत; तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एवावयविनः स्युः, तथा चानेककुण्डादिव्यवस्थितबिल्वादिवदनेकावयव्युपलम्भानुषङ्गः ।

अथैकदेशेन; अत्राप्यस्यानेकत्र वृत्तिः किमेकावयवक्रोडीकृतेन स्वभावेन, स्वभावान्तरेण वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तस्य तेनैवावयवेन क्रोडीकृतत्वेनान्य[5]त्र वृत्त्ययोगात् । प्रयोगः-यदेकक्रोडीकृतं वस्तुस्वरूपं न तदेवान्यत्र वर्त्तते यथैकभाजनक्रोडीकृतमाम्रादि न तदेव भाजनान्तरमध्यमध्यास्ते, एकावयवक्रोडीकृतं चावयविस्वरूपमिति । वृत्तौ वान्यत्र अत्रा[6]वयवे वृत्त्यनुपपत्तिरपरस्वभावाभावात् । एकावयवसम्बद्धस्वभावस्याऽतद्देशावयवान्तरसम्बन्धाभ्युपगमे च तद[7]वयवानामेकदेशतापत्तिः, एकदेशतायां चैकात्म्यमविभक्तरूपत्वात् । वि[10]भक्तरूपावस्थितौ चैकदेशत्वं

१ स्मरणं हि पूर्वभागस्य । २ तदविषयत्वात् । ३ परपरिकल्पितमवयविनः स्वरूपमऽवयवप्रधानतया निराकुर्वन्नाह । ४ एकस्वभावत्वं च नित्यनिरंशैकस्वभावत्वात् । ५ अवयवान्तरे । ६ विवक्षितावयवे । ७ तेषां=विवक्षिताविवक्षितानाम् । ८ विवादापन्ना अवयवा एकदेशत्वभाजो भवन्त्येकस्वभावेनावयविना व्याप्यत्वादेकावयववत् । ९ अवयवानाम् । १० अविभक्तरूपत्वमसिद्धमित्युक्ते सत्याह ।

न स्यात् । अथ स्वभावान्तरेणासाववयवान्तरे वर्त्तते; तदास्य निरंशताव्याघातः[1], कथञ्चिदनेकत्वप्रसङ्गश्च, स्वभावभेदात्मकत्वाद्वस्तुभेदस्य । ते च स्वभावा यद्यतोऽर्थान्तरभूताः; तदा तेष्वप्यसौ स्वभावान्तरेण वर्तेतेत्यनवस्था । अथानर्थान्तरभूताः[2]; तर्ह्यवयवैः[3] किमपराद्धं येनैते तथा नेष्यन्ते? तदिष्टौ वावयविनोऽनेकत्वम[4]नित्यत्वं च स्वशिरस्ताडं पूत्कुर्वतो[5]ऽप्यायातम् ।

यदि चावयव्यविभागः स्यात्तदैकदेशस्यावरणे रागे च अखिलस्यावरणं रागश्चानुषज्यते, रक्तारक्तयोरावृतानावृतयोश्चावयविरूपयोरेकत्वेनाभ्युपगमात् । न चैवं प्रतीतिः, प्रत्यक्षविरोधात् । न चान्योन्यं विरुद्धधर्माध्यासेऽप्येकं[6] युक्तम्, अत एव, अनुमानविरोधाच्च । तथाहि-यद्विरुद्धधर्माध्यासितं तन्नैकम् यथा कुटकुड्याद्युपलभ्यानुपलभ्यस्वभावम्, आवृतानावृतादिस्वरूपेण विरुद्धधर्माध्यासितं चावयविस्वरूपमिति[7] । तथाप्येकत्वे विश्वस्यैकद्रव्यत्वानुषङ्गः ।

ननु वस्त्रादे[8] रागः कुङ्कुमादिद्रव्येण संयोगः, स चाव्याप्यवृत्ति[9]स्तत्कथमेकत्र[10] रागे सर्वत्र[11] राग एकदेशावरणे सर्वस्या[12]वरणम्? तदप्यसारम्; यतो यदि पटादि निरंशमेकं द्रव्यम्, तदा कुङ्कुमादिना किं तत्राव्याप्तं येनाऽव्याप्यवृत्तिः संयोगो भवेत्? अव्याप्तौ वा भेदप्रसङ्गो व्याप्ताव्याप्तस्वरूपयोर्विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वायोगात् ।

किञ्च, अस्याव्याप्यवृत्तित्वं सर्वद्रव्याव्यापकत्वम्, एकदेशवृत्तित्वं वा? न तावत्प्रथमः पक्षः; द्रव्यस्यैकस्य सर्वशब्दविषयत्वानभ्युपगमात्[13] । अनेकत्र हि सर्वशब्दप्रवृत्तिरिष्टा । नापि द्वितीयः; तस्यैकदेशासम्भवात्, अन्यथा सावयवत्वप्रसङ्गात्[14] । ततो नास्त्यवयवी वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्ते[15]रिति ।

ननु चावयविनो निरासे यत्साधनं तत्किं स्वतन्त्रम्[16], प्रसङ्गसा-

---

१ किंतु सांशत्वप्रसङ्गः । २ अवयविनः सकाशादभिन्नाः । ३ तन्तुलक्षणैः । ४ अवयवी धर्म्यऽनेको भवतीति साध्यो धर्मोऽवयवेभ्योऽनर्थान्तरत्वात्तत्स्वरूपवत् । अवयवी धर्म्यऽनित्यो भवति अवयवेभ्योऽनर्थान्तरत्वात्तत्स्वरूपवत् । अवयवानां बहुत्वादनित्यत्वाच्चेति उभयत्र हेतुः । ५ वैशेषिकस्य । ६ निरंशम् । ७ तस्मान्नैकम् । ८ एकदेशे । ९ अव्याप्यवृत्तिर्गुणः संयोगलक्षण इति वचनात् । १० एकदेशे । ११ देशे । १२ देशस्य । १३ परेण । १४ तथा च निरंशत्वव्याघातः स्यात् । १५ शशविषाणवत् । १६ पक्षहेतुदृष्टान्तादयो यत्र विद्यन्ते तत्स्वतन्त्रम् ।

धेनं वा? स्वतन्त्रं चेत्; धर्मि[२]साध्यपदयोर्व्याघात[३]ः, यथा–'इदं च नास्ति च' इति। हेतोराश्रयासिद्धत्वञ्च; अव[४]यविनोऽप्रसिद्धेः। न च वृ[५]त्त्या सत्त्वं व्याप्तम्; समवायवृत्त्यनभ्युपगमेपि भवता[६] रूपादेः सत्त्वाभ्युपगमा[७]त्। ए[८]कदेशेन सर्वात्मना वावयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषा[९]भ्यनुज्ञाविषयत्वात् प्रका-रा[१०]न्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात्, अन्यथा[११] 'न वर्तते' इत्येवाभि-धातव्य[१२]म्। वृ[१३]त्तिश्च समवायः, तस्य स[१४]र्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कात्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्व[१५]म्। अथ प्रसङ्गसाधनं प[१६]रस्येष्ट्या[१७]ऽनि-ष्टापादनात्। ननु प[१८]रेष्टिः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? यदि प्रमाणम्; तर्हि तयैव बाध्यमानत्वादनुत्थानं वि[१९]परीतानुमानस्य। न चाने-नैवास्या बाधा; तामन्तरेणास्या[२०]ऽपक्षध[२१]र्मत्वात्। अथाप्रमाणम्; तर्हि प्रमाणं विना प्रमेय[२२]स्यासिद्धिरित्यभिधा[२३]तव्यम्, किमनुमानो-पन्यासेनास्याऽपक्षधर्मतयाऽप्रमाणत्वात्?

इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; यतः प्रसङ्गसाधनमेवेद[२४]म्। तच्च 'साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभा[२५]वसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्याप-काभ्युपगमनान्तरीय[२६]कः, व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविना-भावी' इत्येतत्प्र[२७]दर्श[२८]नफलम्। [व्याप्य]व्यापकभावसि[२९]द्धिश्चात्र लोकप्रसिद्धैव। लोको हि कस्यचित्क्वचित्सर्वात्मना वृत्तिमभ्युप-गच्छति यथा बिल्वादेः कुण्डादौ, कस्यचित्त्वेकदेशेन यथानेक-पीठादिशयितस्य चैत्रादेः। यत्र[३०] च प्रकारद्वयं व्यावृत्तं तत्र वृ[३१]त्ते-

---

१ परेष्ट्यानिष्टापादनं यत्र तत्प्रसङ्गसाधनम्। २ अवयवी धर्मी, नास्तीति साध्य-पदम्। ३ स्वमतापेक्षया वक्ति वैशेषिकः। लोकप्रसिद्धोऽस्ति नास्तीति प्रतिपाद्यते जैनैरिति विरोध इति भावः। परस्परं विरोध इत्यर्थः। ४ वादिनो जैनस्यापेक्षयाऽवय-विनो धर्मिणः। ५ समवायवृत्त्यावयवेष्ववयवी वर्तते यतः। ६ जैनेन। ७ तादा-त्म्येन, न तु समवायेनेति भावः। ८ किञ्च। ९ शेषाभ्यनुज्ञा=सामान्याभ्युपगमः। १० समवायेन। ११ विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वाभावे। १२ न तु सर्वा-त्मनैकदेशेनेत्यभिधातव्यम्। १३ अवयवेष्ववयविनः। १४ अवयवेषु। १५ अवयवे-ष्ववयविनः समवायः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वेति शब्दः। १६ प्रतिवादिनो वैशेषिकस्य। १७ पराभ्युपगमेन परस्यैवानिष्टापादनात्। १८ अवयवेभ्यो भिन्नोऽवयवी सर्वथा विद्यते इति परेष्टिः। १९ अवयवी नास्ति वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्तेरिति। २० अवयवी नास्ति वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्तेरित्यस्य। २१ विपरीतानुमानेन परेष्टेः पराभ्युपगमस्य यदा बाधा स्यात्तदा परेष्टिविषयस्यावयविनोऽसत्त्वात्तद्धर्मत्वं हेतोर्नास्तीति भावः। २२ अव-यविरूपस्य। २३ जैनेन। २४ एवकारः स्वतन्त्रसाधननिरासार्थः। २५ क्वचिद्दृष्टान्ते। २६ अविनाभूतः। २७ धर्मिणि। २८ प्रसङ्गसाधनं भवति। २९ कार्त्स्न्यैकदेशवृत्ति-त्वयोः। ३० अवयवेषु। ३१ अवयवेष्ववयविनः सर्वात्मनैकदेशेन वा वृत्तेः।

रभाव एव इति[1] कथं न व्याप्तिर्यतोऽत्र[2] प्रसङ्गसाधनस्यावकाशो न स्यात्? निरस्ता चानेकस्मिन्नेकस्य वृत्तिः प्रागेव।

यच्चोक्तम्–'परेष्टिः प्रमाणमप्रमाणं वा' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रमाणाप्रमाणचिन्ता संवादविसंवादाधीना। परेष्टिमात्रेण च प्रतिपन्नेवयविनि संवादकप्रमाणाभावादप्रामाण्यं स्वयमेव भविष्यति। ननु च 'इहेदम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः प्रत्यक्षेणैवावयविनो वृत्तिसिद्धेः कथं संवादकप्रमाणाभावो यतोऽस्याः प्रामाण्यं न स्यात्? इत्यप्यसङ्गतम्; तन्त्वाद्यवयवेषु व्यतिरिक्तस्य पटाद्यवयविनः समवायवृत्तेः[3] स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः। न च भेदेनाप्रतिभासमानस्य 'इहेदं वर्त्तते' इति प्रतीतिर्युक्ता। न हि भेदेना[4]प्रतिभासमाने कुण्डे 'इह कुण्डे बदराणि' इति प्रत्ययो दृष्टः।

यद्य(द)प्युक्तम्-वृत्तिश्च समवायस्तस्य सर्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कात्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्वमिति; तदपि स्वमनोरथमात्रम्; समवायस्याग्रे प्रबन्धेन[5] प्रतिषेधात्। ननु तथाप्येकस्मिन्नवयविनि कात्स्न्यैकदेशशब्दाप्रवृत्तेरयुक्तोऽयं प्रश्नः–'किमेकदेशेन प्रवर्त्तते कात्स्न्येन वा' इति। कृत्स्नमिति ह्येकस्याशेषा[6]भिधानम्, 'एकदेशः' इति चानेक[7]त्वे सति कस्य[8]चिदभिधानम्। ताविमौ कात्स्न्यैकदेशशब्दावेकस्मिन्नवयविन्यनुपपन्नौ[9]; इत्यप्यसमीचीनम्; एक[10]त्रैकत्वेनावयविनोऽप्रतिभासमानात्[11] प्रकारान्तरेण च वृत्ते[12]रसम्भवात्। न खलु कुण्डादौ बदरादेः स्तम्भादौ वा वंशादेः कात्स्न्यैकदेशं परित्यज्य प्रकारान्तरेण वृत्तिः प्रतीयते। ततोऽवयवेभ्यो भिन्न[13]स्यावयविनो विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ तथाभूतोऽभ्युपगन्तव्यः। किं तर्हि? तन्त्वाद्यवयवानामेवावस्थाविशेषैः[14] स्वात्मभूतैः[15] शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी प्रमाणतः प्रतीयमानः पटाद्यवयवीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

ननु[16] रूपादि[17]व्यतिरेकेणापर[18]स्यावस्थातुः शीताद्यपनोदसमर्थस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात् कस्यावयवित्वं भवतापि प्रसाध्यते? चेत्[19]।

---

१ एकदेशेन सर्वात्मना वेति प्रकारद्वयेन वृत्तिर्व्याप्ता, तया वाऽवयविसत्त्वं व्याप्तमिति हेतोः। २ एकस्यावयविनोऽनेकेष्ववयवेषु वृत्तिर्भविष्यति नन्वित्याशङ्कायामाहाचार्यः। ३ सकाशात्। ४ बदरेभ्यः। ५ विस्तरेण। ६ अशेषाणां स्वभावानाम्। ७ देशानाम्। ८ देशस्य। ९ सर्वथा। १० अवयवेषु। ११ परमतापेक्षया। १२ वर्त्तनस्य। १३ सर्वथा। १४ आतानवितानीभूतपरिणामविशेषः। १५ अवयवेभ्यः कथञ्चिदभिन्नः। १६ रूपिप्रतिषेधकः सौगतः। १७ आदिना रसगन्धवर्णशब्दाः। १८ अवयविरूपपदार्थस्य। १९ हेतोरसिद्धत्वं परिहरति परः।

प्रभवप्रत्यये हि रूपमेवावभासते नापरस्तद्वान्, एवं रसनादिप्रत्ययेपि वाच्यम्; इत्यविचारितरमणीयम्; यतः किमेकस्य रूपादिमतोऽसम्भवो विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वानेकत्वयोस्तादात्म्यविरोधात्, तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्वा? प्रथमपक्षे तत्र तयोः कथञ्चित्तादात्म्यं विरुद्ध्यते, सर्वथा वा? सर्वथा चेत्; सिद्धसाध्यता। कथञ्चिदेकत्वं तु रूपादिभिर्विरुद्धधर्माध्यासेप्येकस्याऽविरुद्धम् चित्रज्ञानस्येव नीलाद्याकारैर्विकल्पज्ञानस्येव वा विकल्पेतराकारैरिति। यथा च रूपादिरहितं प्रत्यक्षे न प्रतिभासते तथा तद्रहिता रूपादयोपि। न खलु मातुलिङ्गद्रव्यरहितास्तद्रूपादयः स्वप्नेप्युपलभ्यन्ते। वस्तुनश्चेदमेवाध्यक्षत्वं यदनात्मस्वरूपपरिहारेण बुद्धौ स्वरूपसमर्पणं नाम। इमे तु रूपादयो द्रव्यरहितास्तत्र स्वरूपं न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः।

किञ्च, इदं स्तम्भादिव्यपदेशार्हं रूपम्-किमेकं प्रत्येकम्, अनेकानंशपरमाणुसञ्चयमात्रं वा? प्रथमपक्षे अधोमध्योर्ध्वात्मकैकरूपवत् रसाद्यात्मकैकस्तम्भद्रव्यप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षे तु किमेकमनेकपरमाण्वाकारं ज्ञानं तद्ग्राहकम्, एकैकपरमाण्वाकारमनेकं वा? प्रथमविकल्पे चित्रैकज्ञानवद्रूपाद्यात्मकैकद्रव्यप्रसिद्धिरनिषेध्या स्यात्। द्वितीयविकल्पे तु परस्परविविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासंवेदनात्सकलशून्यतानुषङ्गः।

अथ तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्रूपादिमतो द्रव्यस्याभावः; तन्न; 'यमहमद्राक्षं तमेतर्हि स्पृशामि' इत्यनुसन्धानप्रत्ययस्य तद्ग्राहिणः सद्भावात्। न च द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपस्पर्शाधारैकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धानं न्याय्यम्। रूपस्पर्शयोश्च प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादेतन्न सम्भवति। चेतनत्वाच्चात्मनः स्मरणादिपर्यायसहायस्य

---

१ एकस्मिन्वस्तुनि। २ अवयविनः। ३ रूपादीनाम्। ४ द्रव्यरूपतया। ५ साहिले। ६ अवयविनः। ७ इतरो=निर्विकल्पकः पूर्वसविकल्पकादुपादानभूतान्निर्विकल्पकात्सहकारिभूतात्सविकल्पकमुत्पद्यते तदा तदुभयोराकारं बिभ्रति। ८ इदमेव सम्भावयति। ९ तर्हि रूपादयो द्रव्यरहिता बुद्धौ स्वरूपसमर्पका भविष्यन्तीत्याह। १० द्रव्यरहितत्वादिति प्रथमान्तोपि हेतुर्ज्ञेयः। ११ मूल्यं स्वरूपसमर्पणलक्षणमदत्त्वा क्रयिण इति भावः। १२ सौगतमते चित्रैकज्ञानं स्वीकृतम्। १३ एकस्मिन्वस्तुनि। १४ लोके। १५ ज्ञेयग्राहकज्ञानाभावात् ज्ञेयस्याप्यभावात्। १६ अनुसन्धानं=प्रत्यभिज्ञानम्। १७ चक्षुःस्पर्शनाभ्याम्। १८ अनेन प्रत्यक्षमपि तद्ग्राहकमुक्तम्, ततश्चात्मसिद्धिरिति। १९ वैशेषिकमतनिरासार्थम्। २० बौद्धमतनिरासार्थम्।

अर्वाक्परभागावयव[1]व्यापित्वग्रहणमप्यवयविद्रव्यस्योपपन्नम्। प्रसाधितं[2] चानुसन्धानस्य सविषयत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन[3]। तन्न परेषां[4] चतुःसंख्यं द्रव्यं यथोपवर्णितस्वरूपं घटते, सर्वथा[5] नित्यस्वभावाणूनामनर्थक्रियाकारित्वेनासम्भवतः तदारब्धद्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यस्याप्यसम्भवात्। न हि कारणाभावे कार्यं प्रभवत्यतिप्रसङ्गात्। स्वावयवेभ्योर्थान्तरस्यावयविनो ग्राहकप्रमाणाभावाच्चासत्त्वम्।

जातिभेदेन[6] पृथिव्यादिद्रव्याणां भेदोपवर्णनं चानुपपन्नम्; स्वरूपासिद्धौ शशशृङ्गवद्भेदोपवर्णनासम्भवात्। जातिभेदेनात्यन्तं तेषां भेदे चान्योन्यमुपादानोपादेयभावो न स्यात्। येषां हि[7] जातिभेदेनात्यन्तिको भेदो न तेषां तद्भावः यथात्मपृथिव्यादीनाम्, तथा तद्भेदश्च पृथिव्यादिद्रव्याणामिति। तन्तुपटाद्युपादानोपादेयभावेन व्यभिचारपरिहारार्थम्[8] आत्यन्तिकविशेषणम्। न हि तत्रात्यन्तिकस्तद्भेदः[9], पृथिवीत्वादिसामान्यस्याभिन्नस्याभीष्टेः। नन्वेवं द्रव्यत्वादिना पृथिव्यादीनामप्यभेदात्तद्भावोस्तु; तन्न; आत्मपृथिव्यादीनामप्येवं तद्भेदाभावादुपादानोपादेयभावः स्यात्, तथा चात्माद्वैतप्रसङ्गात्कुतः पृथिव्यादिभेदः[10] स्यात्? तन्नात्यन्तिकभेदे पृथिव्यादीनां तद्भावो घटते। अस्ति[11] चासौ चन्द्रकान्ताज्जलस्य[12], जलान्मुक्ताफलादेः, काष्ठादनलस्य, व्यजनादेश्चानिलस्योत्पत्तिप्रतीतेः। चन्द्रकान्ताद्यन्तर्भूताज्जलादेरेव द्रव्याज्जलाद्युत्पत्तिः; इत्यप्यनुपपन्नम्; तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। तथापि चन्द्रकान्तादौ जलाद्यभ्युपगमे मृत्पिण्डादौ घटाद्यभ्युपगमोपि कर्तव्यः[13] इति सांख्यदर्शनमेव स्यात्। ततो मृत्पिण्डादौ घटादिवच्चन्द्रकान्तादौ जलादेरप्यप्रतीतितोऽभावात्, आत्यन्तिकभेदे चोपादानोपादेयभावासम्भवात्, 'पर्यायभेदेनान्योन्यं पृथिव्यादीनां भेदो रूपरसगन्धस्पर्शात्मकपुद्गलद्रव्यरूपतया चाभेदः' इत्यनवद्यम्। रूपादि[14]समन्वय[15]श्च गुणपदार्थ-

---

१ रूपस्पर्शं। २ प्रत्यभिज्ञानसमर्थनसमये। ३ अनुसन्धानसमर्थनेन। ४ वैशेषिकाणाम्। ५ सर्वथा नित्यानित्यतया। ६ पृथिवीत्वादिना। ७ ययोर्जातिभेदेन भेदो न तयोरुपादानोपादेयभावोस्तीत्युक्ते ततस्तन्तुपटादौ व्यभिचारो भवति। ८ तन्तुत्वपटत्वजातिभेदे सत्यपि। ९ तन्तुपटादिषु। १० अयमात्मेमे पृथिव्यादय इति। ११ मा भवत्वित्युक्ते सत्याह। १२ पृथिवीरूपात्। १३ सर्वं सर्वत्र विद्यते इति वचनात्। १४ पृथिव्यामेव गन्धोऽप्स्वेव रस इति वचनात्कथं चतुर्णामविशेषेण रूपाद्यात्मकत्वमित्याह। १५ समन्वयः सम्बन्धः।

परीक्षायां चतुर्णामपि समर्थयिष्यते । तन्न नित्यादिस्वभावमात्यन्तिकभेदभिन्नं च पृथिव्यादिद्रव्यं घटते ।

नाप्याकाशादि; सर्वथा नित्यनिरंशत्वादिधर्मोपेतस्यास्याप्रतीतेः । ननु चाकाशस्य तद्धर्मोपेतत्वं शब्दादेव लिङ्गात्प्रतीयते; तथाहि-ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासितास्ते क्वचिदा[2]श्रिता यथा घटादयः[3], तथा च शब्दा इति[4] । गुणत्वाच्च[5] ते क्वचिदाश्रिता यथा रूपादयः[6] । न च गुणत्वमसिद्धम्; तथाहि-शब्दो गुणः प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे[7] सति सत्तासम्बन्धित्वाद्रू[8]पादिवत् । न चेदं साधनमसिद्धम्; तथाहि-शब्दो द्रव्यं न भवत्येकद्रव्यत्वाद्रूपादिवत् । न चेदमप्यसिद्धम्; तथाहि-एकद्रव्यः[9] शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्तद्वदेव । 'सामान्य[10]विशेषवत्त्वात्' इत्युच्यमाने हि परमाणुभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युक्तम् । तथापि घटादिना व्यभिचारः[11], तन्निरासार्थमेक[12]विशेषणम् । 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना[13] व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं बाह्यविशेषणम्[14] । रूपत्वादिना व्यभिचारपरिहारार्थं च 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणम् ।

तथा, कर्मापि न भवत्यसौ संयोगविभागाकारणत्वाद्रूपादिवदेवेति । तस्मात्सिद्धं प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वं[15][16] शब्दस्य । 'सत्तासम्बन्धित्वात्'[17] इत्युच्यमाने च द्रव्यकर्मभ्यामनेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति' इति विशेषणम् । 'प्रतिषिध्य[18]मानद्रव्यकर्मभावत्वात्' इत्युच्यमानेपि सामान्यादिना[19] व्यभिचारः[20], तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्यभिधा[21]नम् । तत्सिद्धं गुणत्वेन क्वचिदाश्रितत्वं शब्दानाम् ।

---

१ जैनैः । २ गगने । ३ स्वावयवेषु । ४ तस्मात्क्वचिदाश्रिता भवन्त्येव । ५ आकाशविशेषगुणः शब्द इति वचनात् । ६ रूपिद्रव्ये । ७ शब्दो द्रव्यं न भवति कर्म च नेति । ८ त्रयः पदार्थाः स्वरूपेणासन्तः सत्तासम्बन्धात्सन्त इति वचनात् । ९ गगनलक्षणमेकं द्रव्यं यस्य स एकद्रव्यस्तस्य भावः, दृष्टान्तपक्षे घटाद्येकद्रव्यं यस्य रूपादेः । १० सामान्यशब्देनात्रापरसामान्यं गृह्यते । ११ एकद्रव्यत्वाभावात् । १२ घटादीनामेकद्रव्यत्वाभावात् । १३ घटस्य स्पर्शनचक्षुरिन्द्रियाभ्यां ग्राह्यत्वात् । १४ यतो मनोलक्षणेन्द्रियप्रत्यक्ष आत्मा । १५ अनेकद्रव्याश्रितत्वात् । १६ विशेषणम् । १७ इदानीं विशेष्यं विचारयति । १८ सत्तासम्बन्धित्वे द्रव्यकर्मणोर्गुणत्वाभावात् । १९ आदिना विशेषसमवाययोर्ग्रहणम् । २० गुणत्वाभावात् । २१ सामान्यविशेषसमवायाः स्वरूपेण सन्तो न तु सत्तासम्बन्धादित्यभिधानात् ।

यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्; तथाहि-न तावत्स्[1]पर्शवतां परमाणूनां विशेषगुणः शब्दोऽस्मदा[2]दिप्रत्य[3]क्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत्। नापि कार्यद्रव्याणां पृथिव्यादीनां विशेषगुणोऽसौ; [4]कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेऽप्युपजायमानत्वात्सुखादिवत्, [5]अकारणगुणपूर्वकत्वादिच्छादि[6]वत्, अयावद्[7]द्रव्यभावित्वात्, अस्मदादिपुरु[8]षान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषा[9]न्तराप्रत्यक्षत्वाच्च तद्वत्, आश्रया[10]द्धेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेश्च। स्पर्शवतां हि पृथिव्यादीनां यथोक्तविपरीता[11] गुणाः प्रतीयन्ते। नाप्यात्मविशेषगुणः; अहङ्कारेण विभ[12]क्तग्रहणात्, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च। बु[13]द्ध्यादीनां चात्मगुणानां त[14]द्वैपरीत्योपलब्धेः। नापि मनोगुणः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्। नापि दिक्कालविशेषगुणः; तयोः पूर्वापरादिप्रत्ययहेतु[15]त्वात्। अतः पारिशेष्याद्गुणो भूत्वाकाशस्यैव लिङ्गम्।

तच्च शब्दलिङ्गाविशेषा[16]द्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकम्। विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, नित्य[17]त्वे सत्यस्मदाद्यु[18]पलभ्यमानगुणा[19]धिष्ठानत्वाच्चात्मादिवत्। नि[20]त्यं शब्दाधिकरणं द्रव्यं सामान्यविशेष[21]वत्त्वे सत्यनाश्रि[22]तत्वादात्मादिवत्। [23]अनाश्रितं शब्दाधिकरणं द्रव्यं [24]गुणवत्त्वे सत्यस्पर्शवत्त्वात्तद्वत्। अस[25]मवायवत्त्वे सत्यऽनाश्रितत्वाच्चास्य द्रव्यत्वमिति।

---

१ पृथिव्यादिचतुर्णाम्। २ योगिप्रत्यक्षेण व्यभिचारपरिहारार्थम्। ३ तेषामतीन्द्रियत्वात्तद्गुणोप्यतीन्द्रिय एवेति भावः। ४ कार्य=द्व्यणुकादि। ५ कारणस्य गगनस्य गुणः कारणगुणः न विद्यते कारणगुणः पूर्वं यस्य शब्दस्यासावकारणगुणपूर्वकस्तस्य भावस्तस्मात्, पृथिव्यादिविशेषगुणे परमाणुरूपस्य कारणस्य गुणपूर्वकत्वमस्तीति। ६ दृष्टान्तपक्षे आत्मा कारणम्। ७ गगने सर्वत्र न विद्यते यतः। ८ इच्छादिवदेव। ९ योतिशयेन दूरान्तरितः। १० सर्वत्र सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ११ कार्यद्रव्यान्तरप्रादुर्भावे समुपजायमानलक्षणाः। १२ अहं सुख्यहं दुःखीत्यादिवदहंशब्दवान् इत्यहंकारेण विभक्तस्य रहितस्य शब्दस्य ग्रहणात्। १३ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। १४ हेतोरसिद्धत्वपरिहारार्थमिदम्। १५ दिगाकाशकालादि सर्वगतं परमते शब्दस्य दिक्कालविशेषगुणत्वे शब्द एव तयोस्सद्भावे लिङ्गं स्यादिति भावः। १६ अविशेषः एकत्वम्। १७ पटेन व्यभिचारपरिहारार्थम्। १८ परमाणुभिर्व्यभिचारपरिहारार्थम्। १९ स गुणः शब्दः। २० नित्यत्वमसिद्धमित्युक्ते सत्याह। २१ अभावेन वा व्यभिचारपरिहारार्थम्। २२ घटेन व्यभिचारपरिहारार्थम्। २३ असिद्धत्वे सत्याह। २४ गुणेन व्यभिचारपरिहारार्थं गुणवत्त्वमिति विशेषणं गुणानां निर्गुणत्वात्। २५ समवायेनाभावेन च व्यभिचारपरिहारार्थम्।

अत्र प्रतिविधीयते । शब्दानां सामान्येनाश्रितत्वं किमतः[1] साध्यते, नित्यैकामूर्तविभु[2]द्रव्याश्रितत्वं वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; तेषां पु[3]द्गलकार्यतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात्[4]। द्वितीयपक्षे तु सन्दिग्धविपक्ष[5]व्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिको[6] हेतुः[7]; तथाभूतसाध्यान्वितत्वेनास्य क्वचिद्दृष्टान्तेऽप्रसिद्धेः[8] । प्रतिषिध्यमानकर्म[9]भावत्वे सत्यपि च प्रतिषिध्यमानद्रव्यभावत्वमसिद्धम्; द्रव्यत्वाच्छब्दस्य । तथा हि-द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसंख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवंविधं तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चायं शब्दः, तस्माद्द्रव्यम् ।

तत्र न तावत्स्पर्शाश्रयत्वमस्यासिद्धम्; तथाहि-स्पर्शवाञ्छब्दः स्वसम्बद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वात् मुद्गरादिवत् । सुप्रतीतो हि कंसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन श्रोत्राद्यभिघातस्तत्कार्यस्य बाधिर्यादेः प्रतीतेः । स चास्याऽस्पर्शवत्त्वे न स्यात् । न ह्यस्पर्शवता कालादिनाभिसम्बन्धेऽसौ दृष्टः । न च शब्दसहचरितेन वायुना तदभिघातः इत्यभिधातव्यम्; शब्दाभिसम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य, तथाभूतेपि तदभिघातेऽन्यस्यैव हेतुकल्पने तत्रापि कः समाश्वासः? शक्यं हि वक्तुम्-न वाय्वाद्यभिसम्बन्धात्तदभिघातः किन्त्वन्येन[10], इत्यनवस्थानं हेतूनाम् । गुणत्वेनास्य निर्गुणत्वात्स्पर्शाभावात्तदभिघाताहेतुत्वे चक्रकप्रसङ्गः[11]—गुणत्वं ह्यद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शवत्त्वे, तदपि गुणत्वे इति । स्पर्शवतार्थेनाभिहन्यमानत्वाच्च स्पर्शवानसौ । न चानेना[12]भिहन्यमानत्वमस्यासिद्धम्; प्रतिवातभित्त्या[13]दिभिः शब्दस्याभिहन्यमानतया सकलजनसाक्षिकत्वात्[14] मूर्तेन चामूर्त्त[15]स्याविरोधेनाऽप्रतिघाताद्गगनभित्त्यादिवत् । तन्नास्य स्पर्शाश्रयत्वमसिद्धम् ।

नाप्यल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वम्[16]; अल्पमहत्त्वप्रतीतिविषयत्वाद्बदरादिवत् । ननु च 'अल्पः शब्दो मन्दः' इत्यादिप्रतीत्या मन्द-

---

१ गुणत्वादिति हेतोः । २ इति विशेषणम् । ३ अतोनुमानान्नभसो द्रव्यसिद्धिराश्रयमात्रस्यैव सिद्धिप्रसङ्गात् । ४ जैनानाम् । ५ विपक्षः अनित्यानेकमूर्त्ताऽविभुद्रव्याश्रितम् । ६ रूपादयो दृष्टान्तभूता अनित्यादिविशिष्टपक्षे वर्त्तन्तेऽतोऽयमपि हेतुस्तादृशे पक्षे वर्त्तते अन्यादृशे वेति सन्दिग्धः । ७ गुणत्वात् । ८ नित्यैकव्याप्याश्रयाश्रितत्वे साध्यविकलो दृष्टान्तो रूपादीनां तद्विपरीताश्रयाश्रितत्वात् । ९ ते च ते गुणाश्च । १० अनिर्वचनीयेन । ११ आदौ यत्प्रतिपादितं तदेवान्ते स्यादिति चक्रकदोष इति भावः । १२ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे इदम् । १३ स्पर्शवद्भिः । १४ असिद्धमिति संबन्धः । १५ शब्दस्य । १६ अल्पत्वमहत्त्वपरिमाणम् ।

त्वमेव धर्मो गृह्यते, 'महान् पटुस्तीव्रः' इत्यादिप्रतीत्या च तीव्रत्वम्, न पुनः परिमाणमियत्तानवधारणात्। नहि 'अयं महाञ्छब्दः' इति व्यवस्यन् 'इयान्' इत्यवधारयति, यथा द्रव्याणि वदरामलकविल्वादीनि[1]। मन्दतीव्रता[2] चावान्तरो जातिविशेषो गुणवृत्तित्वाच्छब्द[3]त्ववत्; तदप्यपेशलम्; यतः कथं शब्दस्य गुणत्वं सिद्धं यतस्तद्वृत्तित्वान्मन्दत्वादेर्जातिविशेषत्वं सिद्ध्येत्? अद्रव्यत्वाच्चेत्; तदपि कथम्? अल्पमहत्त्वपरिमाणानधिकरणत्वाच्चेत्; तदपि कुतः? गुणत्वात्; चक्रकप्रसङ्गः।

द्रव्यान्तरवदियत्तानवधा[4]रणाच्चेत्; न; वायुनाने[5]कान्तात्। न खलु विल्वबदरादेरिव वायोरियत्तावधार्यते। वा[6]योरप्रत्यक्षत्वादियत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विप[7]र्ययात्; इत्यप्ययुक्तम्; गुणगुणिनो[8]: कथ[9]ञ्चिदेकत्वे गुणप्रतिभासे गुणिनोपि प्रतिभाससम्भवात्[10]। वायुगतस्पर्शविशेषस्यैवाध्यक्षत्वाभ्युपगमे च 'स्पर्शोऽत्र शीतः खरो वा' इति प्रतीतिः स्यान्न वायुरि[11]ति। न खलु रूपावभासिनि प्रत्यये सो[12]ऽवभासते[13]। स्पर्शविशेषपरि[14]णामस्यैव च वायुत्वात्कथं नास्य प्रत्यक्ष[15]त्वम्?

इयत्ता[16] चेयं यदि परिमाणाद[17]न्या; कथमन्य[18]स्यानवधारणेऽन्य[19]स्याभावः? न खलु घटानवधारणे पटाभावो युक्तः[20]। परिमाणं चेत्; तर्हि 'इयत्तानवधारणात्परिमाणं नास्ति' इत्य[21]त्र 'परिमाणं नास्ति परिमाणानवधारणात्' इत्येतावदेवोक्तं स्यात्। अल्पत्वमहत्त्वप्रत्ययतस्तत्परिमाणावधारणे च कथं तदनवधारणं नामामलकादावपि तत्प्रसङ्गात्? मन्दतीव्रताभिसम्बन्धात्तत्प्रत्ययसम्भ[22]वे च मन्दवाहिनि नर्मदानीरे 'अल्पमेत[23]त्' तीव्रवाहिनि च कुल्या[24]जले

१ इयन्ति अवधारयति जनः। २ तीव्रत्वं मन्दत्वं च परिमाणविशेषोऽस्त्वित्युक्ते सत्याह। ३ शब्दे। ४ चक्रकपरिहारार्थं गुणत्वादिति हेतुस्थले इयत्तानवधारणादिति हेतुं योजयति परः। ५ अल्पत्वमहत्त्वपरिमाणाधिकरणत्वेपि वायोरियत्ता नावधार्यते इति भावः। ६ अनैकान्तिकत्वं हेतोः परिहरन्नाह। ७ प्रत्यक्षत्वात्। ८ इयत्तावाय्वोः। ९ प्रदेशभेदाभावात्। १० ततश्च वायुगतस्य स्पर्शस्य प्रत्यक्षत्वाद्वायोरपि प्रत्यक्षत्वं स्यात्, तथा च वायोरप्रत्यक्षत्वं वक्तुमशक्यं तव परस्य। ११ न वायुः शीतः खरो वेति प्रतीतिः। १२ रूपी वायुः। १३ तथा च वायोरभावः स्यात्। १४ कथञ्चिदेकत्वेन। १५ त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वम्। १६ इयत्ताया अनवधारणे शब्दस्याल्पत्वमहत्त्वपरिमाणस्याभावः इत्यास्मिन्पक्षे दूषणान्तरम्। १७ इयत्ता परिमाणाद्भिन्नाभिन्ना वेति विकल्पद्वयम्। १८ इयत्तालक्षणस्य। १९ परिमाणलक्षणस्य। २० अन्येति विकल्पे। २१ द्वितीयपक्षे। २२ परेणाङ्गीक्रियमाणे। २३ जलम्। २४ अल्पा सरित् कुल्या।

'महदेतत्'[1] इति प्रत्ययः स्यात् । न[2] चैवम् । तस्मान्न मन्दतीव्रतानिबन्धनोयं[3] प्रत्ययः, अपि त्वल्पमहत्त्वपरिमाणनिबन्धनः, अन्यथा बदरामलकादावपि तन्निबन्धनोसौ न स्यात् । बदरादीनां द्रव्यत्वेन तत्परिमाणसम्भवात्तस्य[4] तन्निबन्धनत्वे शब्देप्यत एवासौ[5] तन्निबन्धनोस्तु विशेषाभावात्[6] । कारणगतस्य[7] चाल्पमहत्त्वपरिमाणस्य[8] शब्दे[9] उपचारात्तथा प्रत्यये बदरादावप्यसौ तथानुषज्येत । तन्नाल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वमप्यस्यासिद्धम् ।

नापि सङ्ख्याश्रयत्वम्; 'एकः शब्दो द्वौ शब्दौ बहवः शब्दाः' इति संख्यावत्त्वप्रतीतेर्घटादिवत् । अथोपचाराच्छब्दे संख्यावत्त्वप्रतीतिः; ननु किं कारणगता, विषयगता वा शब्दे संख्योपचर्येत ? कारणगता चेत्; किं समवायिकारणगता, कारणमात्रगता[10] वा ? आद्यपक्षे 'एकः शब्दः' इति सर्वदा व्यपदेशप्रसङ्गस्तस्यैकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु 'बहवः शब्दाः' इति व्यपदेशः स्यात्तस्य बहुत्वात् । विषय[11]संख्योपचारे तु गगनाकाशव्योमादिशब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युर्गगनलक्षणविषयस्यैकत्वात् । पश्वादीनां[12] च बहुत्वात् 'एको गोशब्दः' इति स्वप्नेपि दुर्लभम्[13] । यथाऽविरोधं[14] संख्योपचारः[15]; इत्यप्ययुक्तम्; स्वयं संख्यावत्त्व[16]मन्तरेणाविरोधाऽसम्भवात् ।

किञ्च, विपरीतोपलम्भस्य[17] बाधकस्य सद्भावे सत्युपचारकल्पना स्यात्, न चाग्नित्वरहितपुरुषस्येवैकत्वादिसंख्यारहितस्य शब्दस्योपलम्भोस्तीति कथमुपचारकल्पना ? तथापि[18] तत्कल्पने अनुपचरितमेव न किञ्चित्स्यात् । तन्न संख्याश्रयत्वमप्यसिद्धम् ।

नापि संयोगा[19]श्रयत्वम्[20]; वाय्वादिनाभिहन्यमानत्वात्, पांश्वादिवत् । संयुक्ता[21] एव हि पांश्वादयो वायुनान्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः । तेन[22] तदभिघातश्च देवदत्तं प्रत्यागच्छतः[23] प्रतिवातेन प्रति-

---

१ जलम् । २ भवतीत्युक्ते सत्याहाचार्यः । ३ अल्पत्वमहत्त्वलक्षणः । ४ बदरादिष्वल्पत्वमहत्त्वप्रत्ययस्य । ५ अल्पत्वमहत्त्वप्रत्ययः । ६ द्रव्यत्वेनाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसम्भवस्य । ७ शब्दस्य कारणमाकाशम् । ८ द्रव्यस्य । ९ कार्यरूपे । १० ताल्वादिभेर्यादिकारणमात्रस्य । ११ विषयः=शब्दस्य वाच्यः । १२ वाग्दिग्भूरश्मिवारिबाणाख्यस्वर्गाणां ग्रहणमादिशब्देन । १३ किन्तु गोशब्दा बहवो भवेयुरिति भावः, न तु गोशब्दो बहुप्रकारः । १४ एकस्मिन्घटे एकः शब्द इत्यादिवत् । १५ पदार्थानाम् । १६ शब्दलक्षणार्थानाम् । १७ असंख्यावत्त्वस्य । १८ एकत्वादिसंख्यारहितस्योपलम्भाभावेपि । १९ संयोगो गुणः । २० शब्दस्य । २१ सन्दिग्धत्वे सत्याह । २२ साधनमसिद्धमित्युक्ते सत्याह । २३ शब्दस्य ।

निवर्त्तनात्पांश्वादिवदेवावसीयते[1], तद[2]प्यन्यदिगवस्थितेन[3] श्रवणात्। ननु[4] गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगो निर्गु[5]णत्वाद्गुणानाम्; तन्न; तद्वतो द्रव्यस्यैवानेन प्रतिनिवर्त्तनात्, केवलानां तेषां निष्क्रियत्वेनागमननिवर्त्तनायोगात्। त[6]तः सिद्धं गुणवत्त्वाद्द्रव्यत्वं शब्दस्य।

क्रियावत्त्वाच्च वाणादिवत्। निष्क्रियत्वे तस्य श्रोत्रेणाऽग्रहणमनभिसम्बन्धात्। तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वं स्यात्। तथा च, 'प्राप्यकारि चक्षुर्बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्यानैकान्तिकत्वम्। स[7]म्बन्धकल्पने श्रोत्रं वा शब्दोत्पत्ति[8]प्रदेशं गत्वा शब्देनाभिसम्बध्येत, शब्दो वा स्वोत्पत्तिदेशादागत्य श्रोत्रेणाभिसम्बध्येत? न तावद्धर्माधर्माभ्यां संस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे गतिः; तथा प्रतीत्यभावात्, निष्क्रियत्वाच्च। ग[10]तौ वा विवक्षितशब्दान्तरालवर्त्तिनामल्प[11]शब्दानामपि ग्रहणप्रसङ्गः; स[12]म्बन्धाविशेषात्। अनुवातप्रतिवाततिर्यग्वातेषु[13] प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावश्च, श्रोत्रस्य गच्छ[14]तस्तत्कृतोपकाराद्य[15]योगात्। नापि शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशागमनम्; निष्क्रियत्वोपगमा[16]त्। आगमने वा सक्रिय[17]त्वम्।

ननु नाद्य एवाकाशतच्छङ्खमुखसंयोगेश्वरा[18]देः समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जातः शब्दः श्रोत्रेणागत्य सम्बध्यते येनायं दोषः, अपि तु वीचीतरङ्गन्यायेनापरापर एवाकाशशब्दा[19]दिलक्षणात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जा[20]तः तेनाभिसम्बध्यते; तदप्यसमीचीनम्; सर्वत्र क्रियोच्छेदानुषङ्गात्। 'बाणादयोऽपि हि पूर्वपूर्वसमानजातीयलक्षणप्रभवा लक्ष्यप्रदेशव्यापिनो न पुन[21]स्त एव' इति कल्पयितुं शक्यत्वात्। तत्र प्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वसिद्धेर्नैवं

१ निश्चीयते। २ न चेदमसिद्धम्। ३ पुरुषेणावसीयते। ४ अनैकान्तिकहेतुमुद्भावयति परः। ५ द्रव्यरहितानाम्। ६ व्यभिचारो नास्ति प्रतिनिवर्त्तनादित्यस्य हेतोर्यतः। ७ शब्दस्य। ८ ताल्वादिकम्। ९ निष्क्रियत्वमसिद्धमित्याह। १० अन्तरालं भेर्यादिशब्दे। ११ अविवक्षितानां नरादिशब्दानाम्। १२ श्रोत्रेण। १३ सत्सु। १४ शब्दोत्पत्तिदेशं प्रति। १५ आदिना अनुपकारेषदुपकारग्रहणम्। १६ परेण। १७ तथा च द्रव्यं शब्द इत्यायातम् शब्दः क्रियावान्पूर्वदेशत्यागेन देशान्तरे समुपलभ्यमानत्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा बाणादि, न चेदमसिद्धं वक्तृमुखप्रदेशत्यागेन श्रोत्रप्रदेशे समुपलभ्यमानत्वात्। १८ आदिनानुकूलवातादिग्रहः। १९ आदिना ईश्वरादिग्रहः। २० अन्त्यः शब्दः। २१ प्रथममुक्ताः।

कल्पना चेत्; नन्विदं प्रत्य[3]भिज्ञानं शब्देपि समानम् 'उपाध्यायोक्तं[1] शृणोमि[2] शिष्योक्तं वा शृणोमि' इति प्रतीतेः।

ननु प्रत्यभिज्ञानस्य[4] भवद्दर्शने[5] दर्शनस्मरणकारणकत्वादत्र च तदभावात्कथं तदुत्पत्तिः? न खलूपाध्यायोक्ते शब्दे दर्शनवत्[6] स्मरणं भवति; अस्य पूर्वदर्शनाद्याहितसंस्कारप्रबोधनिबन्धनत्वात्। न च कारणाभावे कार्यं भवत्यतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; सम्बन्धिता[7]प्रतिपत्तिद्वारेणात्रैकत्वस्य[8] प्रतीतेः। सम्बन्धितायां च दर्शनस्मरणयोः सद्भावसम्भवात्प्रत्यभिज्ञानस्योत्पत्तिरविरुद्धा। तथाहि-प्रत्यक्षानुपलम्भतो[9]ऽनुमानतो वा तत्कार्यतया तत्संबन्धिनं शब्दं[10] प्रतिपद्येदानीं तत्स्मृत्युपलम्भोद्भूतं[11] प्रत्यभिज्ञानं तत्सम्बन्धितया तं प्रतिपद्यमानमेकत्वविशिष्टमेव प्रतिपद्यते[12], अन्यथा 'उपाध्यायोक्तं शृणोमि' इति प्रतीतिर्न स्यात्, किन्तु 'तदुक्तोद्भूतं[13] तत्सदृशं[14] शब्दान्तरं शृणोमि' इति प्रतीतिः स्यात्[15]। वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिश्चात्रैव निषेत्स्यते।

यदि पुनर्लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत्प्रत्यभिज्ञानं न कालान्तरस्थायित्वनिबन्धनम्; तद्बाणादावपि समानम्[16]। न समानमत्र[17] बाधकसद्भावात् तथा[18] कल्पना, नान्यत्र विपर्ययात्[19]। नन्वत्र[20] प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा बाधकं कल्प्येत? प्रत्यक्षं चेत्; किमेकत्वविषयम्, क्षणिकत्वविषयं वा? न तावदेकत्वविषयम्; समविषयत्वेन[21] तदनुकूलत्वात्[22]। नापि क्षणिकत्वविषयम्; शब्देऽन्यत्र वा तस्य[23] विवादगोचरापन्नत्वात्[24]। नाप्यनुमानम्; प्रत्यभिज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षं भवन्मते[25] तस्य कथमनुमानं बाधकम्? प्रत्यक्षमेव हि बाधकम् आमताग्राह्येक[26]शाखाप्रभवत्वानुमानस्य, न पुनस्तदनुमानं प्रत्यक्षस्य। अथाध्यक्षा-

---

१ पूर्वक्षणे। २ उत्तरक्षणे। ३ अहं गुरुः। ४ एकत्वग्राहिणः। ५ जैनमते। ६ श्रोत्रेन्द्रियज्ञानवत्। ७ अयमुपाध्यायोक्तः शब्द इति। ८ मया यः शब्दः श्रूयते स उपाध्यायेनोक्त इति। ९ अन्वयव्यतिरेकतः। १० श्रूयमाणम्। ११ उपाध्यायसम्बन्धित्वेन तस्य शब्दस्य। १२ दर्शनस्मृतिप्रभवम्। १३ तेन उपाध्यायोक्तेन शब्देन। १४ व्यजनानिलवत्। १५ न चैवम्। १६ तथा चाशेषार्थानां क्षणिकत्वप्रसङ्गात्सौगतमतसिद्धिः स्यात्। १७ शब्दे। १८ क्षणिकत्वेन। १९ नेमे ते बाणादय इत्यत्र बाधकाभावात्। २० शब्दाक्षणिकत्वप्रत्यभिज्ञाने। २१ प्रत्यभिज्ञानस्यैकविषयत्वं प्रत्यक्षस्याप्येकविषयत्वम्। २२ तेन=प्रत्यभिज्ञानेन। २३ क्षणिकत्वविषयस्य प्रत्यक्षस्य। २४ असिद्धत्वादिति भावः। २५ वैशेषिकमते। २६ पक्वान्येतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वादित्यनुमानस्याऽऽमताग्राहि प्रत्यक्षं बाधकम्।

भासत्वादस्या[1]नुमानं बाधकम्, यथा स्थिरचन्द्रार्कादिविज्ञानस्य देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितं गत्यनुमानम्; कथं पुनरस्याध्यक्षाभासत्वम्? अनुमानेन बाधनाच्चेत्; अनेनानुमानस्य बाधनादनुमानाभासता किन्न स्यात्? अथानुमानबाधितविषयत्वान्नेदमनुमानस्य बाधकम्; अनुमानमप्येत[3]द्बाधितविषयत्वान्नास्य बाधकं स्यात्। न च त[4]दनुमानमस्ति।

नन्विदमस्ति—क्षणिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्ष[5]त्वे सति विभु[6]द्रव्यविशेष[7]गुणत्वात् सुखादिवत्। स[8]त्यमस्ति, किन्त्वेकशाखाप्रभवत्ववदेतत्साधनं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितकर्म[9]निर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वा[10]न्न साध्यसिद्धिनिबन्धनम्। विभुद्रव्यविशेषगुणत्वं चासिद्धम्; शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसाधनात्। धर्मा[11]दिना व्यभिचारश्च; अस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेपि क्षणिक[12]त्वाभावात्। तस्यापि पक्षीकरणा[13]दव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी, सर्वत्र व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणात्। 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च विशेषणमन[14]र्थकम्; व्यवच्छेद्या[15]भावात्। धर्मादेश्च क्षणिकत्वे स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनष्टत्वात्ततो जन्मान्तरे फलं न स्यात्।

शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; तथाभ्युप[16]गमाभावात्, तद्वदपरापरतत्कार्यो[17]त्पत्ति[18]प्रसङ्गाच्च[19]। 'पर[20]स्या[21]नुकूलेष्व[22]नुकूलाभिमानजनितो[23]भिलाषः अभिलषितुर[24]र्थाभिमुखक्रिया[25]कारणमा[26]त्मविशेष[27]गुणमाराध्नोति[28] अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनि-

---

१ शब्दैकत्वविषयस्याध्यक्षस्य। २ शब्दस्य क्षणिकत्वसाधकेन। ३ एतेन=मानसप्रत्यक्षेण। ४ शब्दक्षणिकत्वानुमानम्। ५ परममहापरिमाणेन व्यभिचारपरिहारार्थमिदं विशेषणम्। ६ विभु आकाशमात्मा च। ७ घटादिगतरूपादिना व्यभिचारनिरासार्थं विशेषेति। ८ उपहासे। ९ कर्म=प्रतिज्ञा। १० प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण पूर्वं शब्दस्याक्षणिकत्वं साधितं यतः। ११ विभुद्रव्यविशेषगुणत्वादित्येवोच्यमाने। १२ क्षणिकत्वं=साध्यम्। १३ अनेकान्तपरिहाराय, पक्षान्तःपातित्वाद्धर्मादेः क्षणिकत्वमायातमिति भावः। १४ व्यवच्छेद्यफलं हि विशेषणमिति वचनात्। १५ अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति विशेषणेन किलास्मदाद्यऽप्रत्यक्षो धर्मादिर्व्यवच्छेद्यः, तस्यापि पक्षीकरणे व्यवच्छेद्यमस्य विशेषणस्य नास्तीति भावः, सर्वेषां पक्षीकरणाद्विशेषणेन परिहरणीयस्याभावात्। १६ परेण। १७ धर्माधर्मयोः क्षणिकत्वे। १८ अस्तु, न चैवम्, न खलु धर्माद्युत्पत्तिवदपरापरवनिताद्यङ्गाद्युत्पत्तिः प्रतीयते। १९ प्रकृतसाध्ये हेत्वन्तरमिदम्। २० अनुष्ठातुर्वैशेषिकस्य। २१ इज्यायागादिपूजादिषु धर्मोत्पादनकारणभूतेषु। २२ धर्मजनकत्वेन। २३ इमान्यनुकूलानीत्यभिमानस्तेन जनितः। २४ अर्थ=स्रक्चन्दनादिकं प्रति। २५ क्रिया=कार्यम्। २६ उत्तरजन्मनि। २७ धर्मलक्षणं दृष्टान्तपक्षे प्रयत्नलक्षणं च। २८ उत्पादयति, साधयति।

ताभिलाषत्वात्[1] 'आत्मनो[2]नु[3]कूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' इत्यस्य[4] च विरोधः[5], यस्माद्यो[6]ऽसौ परस्या[7]नुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषजनित आत्मविशेषगुणो नासावभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणम्, तत्[8]समानस्य तत्कारणत्वात्, यश्च[9] तत्क्रियाकारणं नासौ यथोक्ताभिलाषजनित इति ।

'इच्छाद्वेषनिमित्तौ[10] प्रवर्त्तकनिवर्त्तकौ धर्माधर्मौ, अव्यवधानेन हिताहितविषय[11]प्राप्तिपरिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे[12] सत्यात्मविशेषगुणत्वात्[13], प्रवर्त्तकनिवर्त्तकप्रयत्नवत्[14]' इत्यत्र[15] हेतोर्व्यभिचा[16]रश्च-जन्मान्तरफलोदययोर्धर्माधर्मयोः[17] अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्तिपरिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वेपीच्छाद्वेषजनितत्वाभावात् । ततः शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्त्यभावात् । क्षणिकत्वे[18] चातो जन्मान्तरे फलासम्भवादक्षणिकत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानैकान्तिको[19] हेतुः[20] ।

अथा[21]स्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्या[22]त्रा[23]सम्भवान्न व्यभिचारः[24] । ननु मा भूद्व्यभिचारः; तथापि साकल्येन हेतोर्विपक्षाद्[25]व्यावृत्त्यसिद्धिः । विपक्ष[26]विरुद्धं[27] हि विशेषणं ततो हेतुं निवर्त्तयति । यथा[28] सहेतुकत्व[29]महेतुकत्व[30]विरुद्धं ततः

१ सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषाभावात् । २ जीवस्य स्वस्य वा । ३ वस्त्रादिषु स्रक्चन्दनादिषु च । ४ अनुमानस्य । ५ धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्तौ सत्याम् । ६ धर्मलक्षणः । ७ अनुष्ठातुर्वैशेषिकस्य । ८ परापरोत्पत्त्या तस्मादन्यत्वात् । ९ अन्यो धर्मः । १० इच्छाद्वेषौ निमित्तं कारणं ययोर्धर्माधर्मयोरिति भावः । ११ कार्यस्य निष्पादकानिष्पादकौ । १२ कारणत्वादित्युच्यमाने चक्षुरादिना व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थमात्मविशेषगुणत्वादित्युक्तम्, तावत्युक्ते सुखादिनानेकान्तस्तत्परिहारार्थं कर्मणः कारणत्वे सतीति विशेषणम्, तावत्युक्ते बुद्ध्यादिनानेकान्तस्तन्निरासार्थं हिताहितविषयप्राप्तिपरिहारहेतोरित्युपात्तम्, तावत्युक्ते इच्छाद्वेषाभ्यामनेकान्तस्तन्निरासार्थमव्यवधानेनेति विशेषणमुपादीयते । १३ धर्माद्धितविषयप्राप्त्यहितविषयपरिहारौ भवतः, अधर्मादहितविषयप्राप्तिहितविषयपरिहारौ स्त इति सम्बन्धः । १४ धर्माधर्मयोः । १५ अनुमाने । १६ धर्मादेः क्षणिकत्वे । १७ पूर्वधर्माधर्मसदृशयोः । १८ धर्मादेः क्षणिकत्वे साध्ये । १९ धर्मादेः क्षणिकत्वाभावात् । २० अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति विशेषणं त्यक्त्वा विभुद्रव्यविशेषगुणत्वादित्ययं हेतुः । २१ व्यभिचारपरिहारार्थम् । २२ साधनस्य । २३ धर्मादौ । २४ शब्दे यथा सम्भवस्तथा धर्मादौ नास्ति यतः । २५ अक्षणिकात् । २६ कथम्? तथा हि । २७ हेतोर्विपक्षे वृत्तिं वारयति यत्तदेव हेतुविशेषणम् । २८ अनित्यः शब्दः कादाचित्कत्वाद् घटवदित्युक्ते खननोत्सेचनादिना कादाचित्केन नभसानैकान्तिकत्वम्, तद्व्यवच्छेदार्थं सहेतुकत्वे सति कादाचित्कत्वादिति साधनं प्रयोक्तव्यम् । २९ विशेषणम् । ३० अहेतुकम्=आकाशादि ।

कादाचित्कत्वम्[1] । न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्; अक्षणिकेष्वपि सामान्यादिषु भावात्[2] । ततो यथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि केचित्प्रदीपादयो भावाः[3] क्षणिकाः सामान्यादयस्त्वक्षणिकास्तथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणाः 'केचित्क्षणिकाः[4] केचिदक्षणिकाः[5] भविष्यन्ति' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः[6] । अथाक्षणिके क्वचित्[7] दस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यादर्शनात्ततो व्यावृत्तिसिद्धिः; न; भवदीयादर्शनस्य साकल्येन भावाभावाप्रसाधकत्वात्, अन्यथा परलोकादेः[8] अप्यभावानुषङ्गः[9] । सर्वस्य[10] अदर्शनं चासिद्धम्; सतो[11]ऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात्[12] ।

विपक्षे[13]ऽदर्शनमात्रात्[14] द्व्यावृत्ति[15]सिद्धौ—

"यद्वेदाध्ययनं किञ्चित्तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥"

[मी० श्लो० पृ० ९४९]

इत्यस्या[16]पि गमकत्वप्रसङ्गः[17] । न खलु वेदाध्ययनमतदध्ययनपूर्वकं दृष्टम् । तथा चास्यानादित्वसिद्धेरीश्वर[18]पूर्वकत्वेन प्रामाण्यं न स्यात्[19] । न च कृतकत्वात्[20] आवप्ययं दोषः समानः; तत्र विपक्षे[21] हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणसम्भवात् ।

धर्मादेश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्ग्रासादिवत्' इत्यनुमानं न स्यात्; व्याप्तेरग्रहणात्[22] । मानसप्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणे सिद्धं धर्मादेरस्मदादिप्रत्यक्षत्वम्[23] । अथ 'वाह्येन्द्रियेणास्मदादिप्रत्यक्षत्वे[24] सति'

---

१ हेतुं निवर्तयति । २ असदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणस्य । ३ पदार्थाः । ४ सुखादयः । ५ धर्मादयः । ६ हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्तिः । ७ धर्मादौ । ८ आदिना परमाण्वादेश्च । ९ भवदीयादर्शनस्य परलोकादौ सद्भावाविशेषात्, तथा च चार्वाकमतप्रसङ्गः । १० नरस्य । ११ सर्वेषां हेतोर्विपक्षेऽदर्शनं विद्यते तथापि तस्य । १२ सर्वेषां प्राणिनां ग्रहणाभावात्, अन्यथाऽशेषज्ञत्वप्रसङ्गः । १३ अक्षणिके । १४ अदर्शनसामान्यात् । १५ विपक्षात् । १६ अपौरुषेयत्वलक्षणसाध्यस्य । १७ अवेदाध्ययनपूर्वके लोकवचने विपक्षे हेतोरदर्शनमात्राद्धेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्तिसिद्धेः सद्भावात् । १८ ईश्वरकर्तृकत्वेन । १९ भवन्मते । २० हेतौ । २१ नित्ये गगनादौ, यत्कृतकं न भवति तदनित्यं न भवति यथा गगनमिति । २२ यद्यत्तं प्रत्युपसर्पणवत्तत्तद्देवदत्तगुणाकृष्टमिति प्रत्यक्षेण धर्मादेरप्रत्यक्षत्वात् । २३ ततश्च धर्मादिना व्यभिचारः पूर्ववदवस्थ एव । २४ इति विशेषणेन ।

इति[1] हेतुर्विशेष्यते तदा साधनवैकल्यं[2] दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथा प्रत्यक्षत्वाभावात्।

यदि च वीचीतरङ्गन्यायेन शब्दोत्पत्तिरिष्यते[3] तदा प्रथमतो वक्तृव्यापारादेकः[4] शब्दः प्रादुर्भवति, अनेको वा? यद्येकः; कथं नानादिक्कानेकशब्दोत्पत्तिः सकृदिति चिन्त्यम्। सर्वदिक्कताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगानामसमवायिकारणानां समवायिकारणस्य[5] चाकाशस्य सर्वगतस्य भावात् सकृत्सर्वदिक्कनानाशब्दोत्पत्त्यविरोधे[6] शब्दस्य[7]ारम्भकर्त्वायोगः[8]। यथैवाद्यः शब्दो न शब्देनारब्धस्ताल्वाद्याकाशसंयोगादेवासमवायिकारणादुत्पत्तेः, तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि[9] ताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तदुत्पत्तिसम्भवात्। तथा[10] च "संयोगा[11]द्विभागा[12]च्छब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः" [वैशे० सू० २।२।३१] इति सिद्धान्तव्याघातः[13]।

अथ शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारणं तत्सदृशत्वात्, अन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गो नियामकाभावात्। नन्वेवं प्रथमस्यापि शब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्यशब्दादसमवायिकारणादुत्पत्तिः स्यात् तस्याप्यपरपूर्वशब्दादित्यनादित्वापत्तिः शब्दसन्तानस्य स्यात्। यदि पुनः प्रथमः शब्दः प्रतिनियतः[14] प्रतिनियताद्वक्तृव्यापारादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराण्यारभेत; तर्हि किमाद्येन शब्देनासमवायिकारणेन[15]? प्रतिनियतवक्तृव्यापारात्तज्जनितप्रतिनियतवाय्वाकाशसंयोगेभ्यश्च सदृशापरापरशब्दोत्पत्तिसम्भवात्। तन्नैकः शब्दः शब्दान्तरारम्भकः।

नाप्यनेकः; तस्यैकस्मात्ताल्वाद्याकाशसंयोगादुत्पत्त्यसम्भवात्। न चानेकस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः सकृदेकस्य वक्तुः सम्भवति, प्रयत्नस्यैकत्वात्। न[16] च प्रयत्नमन्तरेण ताल्वादिक्रियापूर्वकोऽन्य[17]तरकर्मजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः प्रसूते यतोऽनेकशब्दः स्यात्।

अस्तु वा कुतश्चिदाद्यः शब्दोऽनेकः; तथाप्यसौ स्वदेशे[18] शब्दान्तराण्यारभते, देशान्तरे[19] वा? न तावत्स्वदेशे; देशान्तरे शब्दो-

---

१ विभुद्रव्यविशेषगुणत्वादित्ययम्। २ बाह्येन्द्रियेण सुखादिवदिति दृष्टान्तः प्रत्यक्षो न भवतीति भावः। ३ शब्दादेव। ४ सर्वदिक्कः=सर्वगतः। ५ उपादानस्येत्यर्थः। ६ भवन्मते। ७ प्रथमस्य। ८ शब्दान्तरं प्रति। ९ शब्दान्तरेणारब्धानि। १० शब्दस्यारम्भकत्वायोगे च। ११ भेरीदण्डयोः। १२ वंशादिविभागात्। १३ वैशेषिकस्य तव। १४ प्रतिनियतस्वरूपः विशिष्टः। १५ कल्पितेन। १६ न चेदमसिद्धम्। १७ ताल्वादिषु। १८ स्वोत्पत्तिदेशे ताल्वादौ। १९ स्वोत्पत्तिदेशादन्यदेशेषु।

पलम्भाभावप्रसङ्गात्। अथ देशान्तरे; तत्रापि किं तद्देशे गत्वा, स्वदेशस्थ एव वा देशान्तरे तान्यसौ जनयेत्? यदि स्वदेशस्थ एव; तर्हि लोकान्तेपि तज्जनकत्वप्रसङ्गः। अदृष्टमपि च शरीरदेशस्थमेव देशान्तरवर्त्तिमणिमुक्ताफलाद्याकर्षणं कुर्यात्। तथा च "धर्माधर्मौ स्वाश्रय[2]संयुक्ते आश्रया[3]न्तरे कर्मा[4]रभेते" [ ] इत्यादिविरोधः। न च वीचीतरङ्गादावप्यप्राप्तकार्य[5]देशत्वे सत्यारम्भकत्वं[6] दृष्टं येनात्रापि तथा तत्कल्प्येताध्यक्षविरोधात्। अथ तद्देशे गत्वा; तर्हि सिद्धं शब्दस्य क्रियावत्त्वं द्रव्यत्वप्रसाधकम्।

किञ्च, आकाशगुणत्वे शब्दस्यास्मदादिप्रत्यक्षता न स्यादाकाशस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्; तथाहि-येऽत्यन्तपरोक्षगुणिगुणा न तेऽस्मदादिप्रत्यक्षाः यथा परमाणुरूपादयः, तथा च परेणाभ्युपगतः शब्द इति। न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः[7]; तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसाधनात्।

किञ्च, आकाशगुणत्वेऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे चास्यात्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणत्वायोगः। प्रयोगः-यदस्मदादिप्रत्यक्षं तन्नात्यन्तपरोक्षगुणिगुणः यथा घटरूपादयः, तथा च शब्द इति।

यच्चोक्तम्-'स[8]त्तासम्बन्धित्वात्' इति; तत्र किं स्व[9]रूपभूतया सत्तया सम्बन्धि[10]त्वं विवक्षितम्, अर्थान्तरभूतया[11] वा[12]? प्रथमपक्षे सामान्या[13]दिभिर्व्यभिचारः; तेषां प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति तथाभूतया सत्तया सम्बन्धित्वेपि गुणत्वासिद्धेः। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; न हि शब्दादयः स्वयमसन्त एवार्थान्तरभूतया सत्तया सम्बध्यमानाः सन्तो नामाश्वविषाणादेरपि तथाभावानुषङ्गात्। प्रतिषेत्स्यते चार्थान्तरभूतसत्तासम्बन्धेनार्थानां सत्त्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चोक्तम्-शब्दो द्रव्यं न भवत्येकद्रव्यत्वात्[14]; तत्रैकद्रव्यत्वं साधनमसिद्धम्; यतो गुणत्वे[15], गगने एवैकद्रव्ये समवायेन वर्तने च सिद्धे, तत्सिद्ध्येत्, तच्चोक्तया रीत्याऽपास्तमिति कथं तत्सिद्धिः?

---

१ आद्योऽनेकः शब्दः। २ स्वाश्रयः आत्मा आत्मनो व्यापकत्वात्। ३ मणिमुक्ताफलादौ, शरीरापेक्षया। ४ आकर्षणादिलक्षणम्। ५ कार्यम्=उत्तरवीचीलक्षणम्। ६ उत्तरतरङ्गाणाम्। ७ वायुस्पर्शो ह्यत्यन्तपरोक्षगुणिगुणो भवत्यस्मदादिप्रत्यक्षो न भवतीति न। ८ आकाशगुणः शब्दः। ९ सामान्यविशेषसमवायवत् (सामान्यविशेषसमवायाः स्वतः सन्त इति वचनात्)। १० शब्दस्य। ११ द्रव्यगुणकर्मवत्। १२ उभयथा सत्तासम्बन्धित्वस्य दृष्टत्वात्प्रकारान्तरासम्भवात्। १३ आदिना विशेषसमवाययोर्ग्रहणम्। १४ रूपादिवत्। १५ शब्दस्य।

यदप्येकद्रव्यत्वे साधनमुक्तम्-'एकद्रव्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति; तदपि प्रत्यनुमानबाधितम्; तथाहि-अनेक[1]द्रव्यः शब्दोऽस्म[2]दादिप्रत्यक्षत्वे सत्यपि स्पर्श[3]वत्त्वाद् घटादिवत्[4]। वायुनानेकान्तश्च; स हि बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षोपि नैकद्रव्यः[5], चक्षुषैकेनाऽस्मदादिभिः प्रतीयमानैश्चन्द्रार्कादिभि[6]श्च। अस्मदादिविलक्ष[7]णैर्बाह्येन्द्रि[8]यान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देपि तथा प्रतीतिः किन्न स्यात्? अत्र तथानुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः[9]।

एते[10]नेदमपि प्रत्युक्तम्-'गुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्' इति; वाय्वादिभि[11]र्व्यभिचारात्, ते हि सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षा न च गुणाः, अन्यथा द्रव्यसंख्याव्याघातः स्यात्[12]। ततः शब्दानां गुणत्वासिद्धेरयुक्तमुक्तम्-'यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्' इति।

यच्चोक्तम्-'न तावत्स्पर्शवतां परमाणूना[13]म्' इत्यादि; तत्सिद्धसाधनम्; तद्गुणत्वस्य तत्रानभ्युपग[14]मात्। यथा चास्मदादिप्रत्यक्ष[15]त्वे शब्दस्य परमाणुविशेषगुणत्वस्य विरोध[16]स्तथाकाशविशेषगुणत्वस्या[17]पि। तथा हि-शब्दोऽत्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणो न भवत्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत्। न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वं परमाणुविशेषगुणत्वमेव निराकरोति शब्दस्य नाकाशविशेषगुणत्वम् उभयत्राविशेषा[18]त्। यथैव हि परमाणुगुणो रूपादिरस्मदाद्यप्रत्यक्षस्तथाकाशगुणो महत्त्वादिरपि।

यच्चाप्युक्तम्-'नापि कार्यद्रव्याणा[19]म्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; शब्दस्याकाशगुणत्वनिषेधे[20] कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेप्युत्पत्त्यभ्युप[21]गमे शब्दो निराधारो गुणः स्यात्। तथा च 'बुद्ध्यादयः क्वचिद्-

---

१ अनेकानि द्रव्याणि यस्य परमाणुद्व्याद्यपेक्षया। २ योगिप्रत्यक्षेण परमाणुना व्यभिचारपरिहारार्थम्। ३ एकेन वायुपरमाणुना व्यभिचारपरिहारार्थम्। ४ परमाण्वपेक्षया। ५ परमाण्वपेक्षया। ६ अनेकान्त इति संबन्धः एकद्रव्यलक्षणसाध्याभावात्। ७ योगिभिः। ८ चक्षुषोपेक्षयान्येन स्पर्शनलक्षणेन। ९ तथा चानैकान्तिक एव हेतुः स्यादिति भावः। १० एकद्रव्यः शब्द इत्यादिनिराकरणेन। ११ आदिना पृथिव्यप्तेजसां ग्रहः। १२ नवद्रव्याणां पञ्चद्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। १३ शब्दो विशेषगुणो न भवत्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत्। १४ जैनैः। १५ विशेषणे। १६ भवन्मते। १७ अस्मन्मते। १८ अस्मदादिप्रत्यक्षत्वस्य। १९ पृथिव्यादीनाम्। २० जैनैः। २१ परेण।

र्तन्ते[1] गुणत्वात्' इत्यस्य व्यभिचारः। ततः कार्यद्रव्यान्तरो[2]त्पत्तिस्तत्राभ्युपगन्तव्येत्यसिद्धो हेतुः।

अ[3]कारणगुणपूर्वकत्वं चासिद्धम्; तथा हि-नाकारणगुणपूर्वकः[4] शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुण[5]त्वात्पटरूपा[6]दिवत्। न चाणुरूपादिना सु[7]खादिना वा हेतोर्व्यभिचारः; 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति' इति विशेषणात्। नापि योगिबाह्येन्द्रियग्राह्येणाणुरूपादिना; अस्मदादिग्रहणात्। नापि सामान्यादिना; गुणग्रहणात्।

अयावद्द्रव्यभावित्वं च विरुद्धम्; साध्यविपरीतार्थप्र[8]साधनत्वात्। तथाहि-स्पर्शवद्द्रव्यगुणः[9] शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वात्पटरूपादिवत्। 'अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वात्' इति चास्वाद्यमानेन रसादिनानैकान्तिकः[10]। 'आ[11]श्रयाद्भेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेः' इति चासङ्गतम्; भेर्यादेः शब्दाश्रयत्वासिद्धेस्तस्य तन्निमित्तकारणत्वात्। आत्मादि[12]गुणत्वा(त्व)प्रतिषेधस्तु सिद्धसाधनान्न समाधानमर्हति।

यच्च 'शब्दलिङ्गाविशेषा[13]त्' इत्याद्युक्तम्; तद्वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्र[14]ख्यम्; कार्यद्रव्यस्य व्यापित्वादिधर्मासम्भवात्।

[15]एतेनेदमपि निरस्तम्-'दिवि भुव्यऽन्तरिक्षे च शब्दाः श्रूयमाणै[16]कार्थ[17]समवायिनः[18] शब्दत्वात् श्रूयमाणाद्यशब्दवत्[19]। श्रूयमाणः शब्दः समानजातीयासमवायिकारणः सामान्यविशेषवत्त्वे[20] सति नियमेनास्मदादि[21]बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् कार्यद्रव्यरूपादिवत्[22]'

---

१ शब्दस्य गुणरूपस्य क्वचिद्वर्त्तनाभावात्। २ कार्यद्रव्यान्तरात्परमाणुरूपाच्छब्दजनकात्। ३ अकारणं=गगनम्, तस्य गुणो महत्त्वादिः। ४ किंतु स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलद्रव्यहेतुक इति भावः। ५ पटगतरूपगुणो यथा तन्तुगतरूपगुणपूर्वकः। ६ प्रसङ्गसाधनमेतत्। ७ आत्मनः स्वभावत्वात्। ८ वीचीतरङ्गन्यायेन शब्दाच्छब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वात्। ९ प्रसङ्गसाधनमेतत्। १० विशेषगुणो न भवतीति साध्याभावात्। ११ शब्दस्यान्तर्जल्परूपस्य। १२ आदिना मनोदिक्काला गृह्यन्ते। १३ भेदाभावादेकमित्यर्थः। १४ सदृशम्। १५ शब्दस्य आकाशविशेषगुणत्वनिराकरणेन कार्यद्रव्यविशेषगुणत्वसाधनेन वा। १६ शब्देन। १७ एकार्थः=आकाशलक्षणार्थः। १८ गगनसमवायिकारणकाः। १९ वीचीतरङ्गन्यायागतेन श्रूयमाणेन घटशब्देन आद्या घटशब्दाः श्रूयमाणा घटशब्दस्यासमवायिकारणत्वेनाभिमता एकार्थसमवायिनो यथा। २० सामान्यादिना व्यभिचारपरिहारार्थम्। २१ न चाकाशेन व्यभिचार इन्द्रियग्रहणात्, नापि घटादिना एकपदोपादानात्, नापि सुखादिना बाह्यपदोपादानात्, नापि योगिबाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षेण परमाणुना तद्रूपादिना वाऽस्मदादिपदग्रहणात्, नापि पिशाचादिना नियमेनेति पदोपानात्। २२ पटसमवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादिवत्।

इति; प्रतिशब्दं पुद्गलद्रव्यस्य तत्समवायिकारणस्य भेदा[1]त्। शब्दस्य क्षणिकत्वनिषे[2]धाच्च कथं समानजातीयासमवायिकारणत्वम्?

यदि चाकाशमनवयवं शब्दस्य समवायिकारणं स्यात्; तर्हि शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्यादाकाशगुणत्वात्तन्महत्त्ववत्। क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रतिषे[3]धाच्च। तत्त्वे[4] वा कथं न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वम्? न हि निरवयवत्वे 'तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र' इति विभागो घटते।

किञ्च, सावयवमाकाशं हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वाद्भूमिवत्। अन्यथा तयो रूपरसयोरिवैकदेशाकाशावस्थितिप्रसक्ति[5]ः। न चैतद् दृष्टमिष्टं वा।

कथं वा तदाधेयस्य शब्दस्य विनाशः? स हि न तावदाश्रयविनाशाद्घटते; तस्य नित्यत्वाभ्युपगमा[6]त्। नापि विरोधिगुणसद्भावात्; तन्महत्त्वा[7]दे[8]रेकार्थसमवेतत्वेन रूपरसयोरिव विरोधि[9]त्वासिद्धेः। सिद्धौ वा श्रवणसमयेपि तदभावप्रसङ्गः; तदा तन्महत्त्वस्य भावात्। नापि संयोगादि[9]र्विरोधिगुणः; तस्य तत्कारणत्वा[10]त्। नापि संस्कारः; तस्याकाशेऽसम्भवात्। सम्भवे वा तस्याभावे आकाशस्याप्यभावानुषङ्गस्तस्य तदव्यतिरेकात्। व्यतिरेके वा 'तस्य' इति सम्बन्धो न स्यात्। नापि शब्दोपलब्धिप्रापकादृष्टाभावात्तदभावः; तुच्छाभावस्यासामर्थ्यतो विनाशाहेतुत्वात् खरविषाणवत्। तन्न शब्दस्याकाशप्रभवत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

ननु चाऽस्य पौद्गलिकत्वेऽसदाद्यनुपलभ्यमानरूपाद्याश्रयत्वं न स्यात्पटादिवत्; तन्न; द्व्यणु[11]कादिना हेतोर्व्यभिचारात्। नायनरश्मिषु जलसंयुक्तानले[12] चानुद्भूतरूप[13]स्पर्श[14]वत् शब्दाश्रयद्रव्येऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्भूततया रूपादीनां वृत्त्यविरोधः। यथा च घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यमाने गन्धद्रव्येऽनुद्भूतानां रूपादीनां वृत्ति[15]स्तथात्रापि। यथा च तैजसत्वात्पार्थिवत्वाच्चात्रा[16]नुपलम्भेपि

---

१ अनेकात्व। २ पर्यायरूपेण वस्तुनो विनाशात्। ३ जैनेन। ४ तन्महत्त्ववत्। ५ तथा च हिमवद्विन्ध्ययोः सहचरभाव इति भावः। ६ परेण। ७ विरोधिगुणरूपस्य। ८ शब्दं प्रति। ९ संयोगादिः शब्दकारणमिति वचनात्। १० कार्यरूपेण। ११ यत्पौद्गलिकं तदस्मदाद्युपलभ्यमानरूपाद्याश्रयमित्युक्ते द्व्यणुकादिना पौद्गलिकेन व्यभिचारोऽस्मदाद्युपलभ्यमानरूपाश्रयत्वलक्षणसाध्याभावात्। १२ उष्णस्पर्शे। १३ अत्र रूपं भासुरम्। १४ परमते। १५ परमते। १६ नायनरश्म्यादिषु (जलसंयुक्तानले गन्धद्रव्ये) त्रिषु।

रूपादीनामनुद्भूततयास्तित्वसम्भावना तथा शब्देपि पौद्गलिकत्वात्। न च पौद्गलिकत्वमसिद्धम्; तथाहि–पौद्गलिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वेऽचेतनत्वे च सति क्रियावत्त्वाद्घ्राणादिवत्। न च मनसा व्यभिचारः; 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणत्वात्। नाप्यात्मना; 'अचेतनत्वे सति' इति विशेषणात्। नापि सामान्येन; अस्य क्रियावत्त्वाभावात्। ये च 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' इत्यादयो हेतवः प्रागुपन्यस्तास्ते सर्वे पौद्गलिकत्वप्रसाधका द्रष्टव्याः। ततः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेर्नासौ तल्लिङ्गम्।

कुतस्तर्हि तत्सिद्धिरिति चेद्? 'युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्यात्' इति ब्रूमः; तथाहि–युगपन्निखिलद्रव्यावगाहः साधारणकारणापेक्षः तथावगाहत्वान्यथाऽनुपपत्तेः। ननु सर्पिषो मधुन्यवगाहो भस्मनि जलस्य जलेऽश्वादेर्यथा तथैवालोकतमसोरशेषार्थावगाहघटनान्नाकाशप्रसिद्धिः; तन्न; अनयोरप्याकाशाभावेऽवगाहानुपपत्तेः।

ननु निखिलार्थानां यथाकाशेवगाहः तथाकाशस्याप्यन्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यमित्यनवस्था, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वार्थानां स्वात्मन्येवावगाहप्रसङ्गात्कथमाकाशस्यातः प्रसिद्धिः? इत्यप्यपेशलम्; आकाशस्य व्यापित्वेन स्वावगाहित्वोपपत्तितोऽनवस्थाऽसम्भवात्, अन्येषामव्यापित्वेन स्वावगाहित्वायोगाच्च। न हि किञ्चिदल्पपरिमाणं वस्तु स्वाधिकरणं दृष्टम्; अश्वादेर्जलाद्यधिकरणोपलब्धेः। कथमेवं दिक्कालात्मनामाकाशेवगाहो व्यापित्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; हेतोरसिद्धेः। तदसिद्धिश्च दिग्द्रव्यस्यासत्त्वात्, कालात्मनोश्चासर्वगतद्रव्यत्वेनाग्रे समर्थनात्प्रसिद्धेति। ननु तथाप्यमूर्त्तत्वेन कालात्मनोः पाताभावात्कथं तदाधेयता? इत्यप्ययुक्तम्; अमूर्त्तस्यापि ज्ञानसुखादेरात्मन्याधेयत्वप्रसिद्धेः।

एतेनामूर्त्तत्वान्नाकाशं कस्यचिदधिकरणमित्यपि प्रत्युक्तम्; अमूर्त्तस्याप्यात्मनो ज्ञानाद्यधिकरणत्वप्रतीतेः। समानसमयवर्त्तित्वान्निखिलार्थानां नाधाराधेयभावः, अन्यथाकाशादुत्तरकालं भावस्तेषां स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; समसमयवर्तिनामप्यात्मामूर्त्तत्वादीनां तद्भावप्रतीतेः। न खलु परेणाप्यत्र पौर्वापरीभावोऽ-

---

१ परस्य तव। २ पौद्गलिकत्वाभावाद्भावमनसः। ३ जैनैः। ४ वयं जैनाः। ५ सकलद्रव्याणां साधारणमाश्रयकारणमाकाशम्। ६ साधारणकारणमन्तरेण। आकाशाभावे। ७ बुडनमित्यर्थः। ८ जैनापेक्षया। ९ आत्मादीनाम्। १० वैशेषिकेण।

भीष्टो नित्य[1]त्वविरोधानुषङ्गात्। क्षण[2]विशरारुतया निखिलार्थानां नाधाराधेयभावः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; क्षणविशरारुत्वस्यार्थानां प्रागेव प्रतिषेधात्। 'खे पतत्री' इत्याद्यऽबाधितप्रत्ययाच्च तद्भावप्रसिद्धेः। ततः परेषां निरवद्यलिङ्गाऽभावान्नाकाशद्रव्यस्य प्रसिद्धिः।

नापि कालद्रव्यस्य। यच्चोच्यते—कालद्रव्यं च परापरादिप्र[3]त्ययादेव लिङ्गात्प्रसिद्धम्। कालद्रव्यस्य च इतरस्माद्भेदे 'कालः' इति व्यवहारे वा साध्ये स एव लिङ्गम्। तथा हि–काल इतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा व्यवहर्त्तव्यः, परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्ग[4]त्वात्, यस्तु नेतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा न व्यवह्रियते नासावुक्तलिङ्गः यथा क्षित्यादिः, तथा च कालः, तस्मात्तथेति। विशि[5]ष्टकार्यतया चैते प्रत्ययाः काले एव प्रतिबद्धाः। यद्विशिष्टकार्यं तद्विशिष्टकारणादुत्पद्यते यथा घ[6]ट इति प्रत्ययाः, विशिष्टकार्यं[7] च परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया इति। परापर[8]योः खलु दिग्देशकृतयोः व्यतिकरो विपर्ययः–यत्रैव हि दिग्वि[9]भागे पितर्युत्पन्नं प[10]रत्वं तत्रैव स्थिते पुत्रेऽप[11]रत्वम्, यत्र चापरत्वं तत्रैव स्थिते पितरि परत्वमुत्पद्यमानं दृष्टमिति दिग्देशाभ्यामन्यन्निमित्ता[12]न्तरं सिद्धम्; निमित्तान्तरमन्तरेण व्यतिकरासम्भवात्। [13]न च परापरादिप्रत्ययस्य आदित्यादिक्रिया द्रव्यं वलिपलितादिकं वा निमित्तम्; तत्प्रत्य[14]यविलक्षणत्वात्पटादिप्रत्ययवत्। तथा च सूत्रम् "अपरस्मिन्परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" [वैशे० सू० २।२।६] आकाशवच्चास्यापि विभुत्वनित्यैकत्वादयो धर्माः प्रतिपत्तव्या[15] इति।

अत्रो[16]च्यते—परापरादिप्रत्ययलिङ्गानुमेयः कालः किमेकद्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा ? न तावदेकद्रव्यम्; मुख्येत[17]रकालभेदेनास्य द्वैविध्यात्। न हि समयावलिकादि[18]र्व्यवहारकालो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेणोपपद्यते यथा मुख्यस[19]त्त्वमन्तरेण क्व[20]चिदुपचरितं स[21]त्त्वम्।

---

१ आत्मनः। २ सौगतमतमालम्ब्य। ३ आदिपदेन यौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रादिग्रहः। ४ वसः। ५ तर्ह्येते प्रत्यया अविशिष्टनिमित्तका भविष्यन्तीत्युक्ते सत्याह। ६ घटे सत्येव प्रसिद्धाः। ७ कथम्? तथा हि। ८ प्रत्यर्थः। ९ सन्निहितदिग्देशे। १० कालापेक्षया दूरत्वम्। ११ कालापेक्षया सन्निहितत्वम्। १२ कालद्रव्यम्। १३ कालद्रव्यम् विनाऽन्यन्निमित्तं परापरादिप्रत्ययस्य भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। १४ प्रत्ययः=प्रतीतिः। १५ जैनादिभिः। १६ जैनैः। १७ व्यवहार। १८ आदिना लवनिमेषघटिकामुहूर्त्तप्रहरादिग्रहणम्। १९ अग्न्यादेरस्तित्वम्। २० माणवके। २१ अग्नेः।

स च मुख्यः कालोऽनेकद्रव्यम्[1], प्रत्याकाशप्रदेशं व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः[2]। प्रत्याकाशप्रदेशं[3] विभिन्नो हि व्यवहारकालः कुरुक्षेत्रलङ्काकाशदेशयोर्दिवसादि[4]भेदान्यथानुपपत्तेः। ततः प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालस्याणुरूपतया भेदसिद्धिः।

तदुक्तम्—

"लोयायासपएसे[5] एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥ १ ॥"

[द्रव्यसं० गा० २२ (?)]

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात्तस्यैकत्वम्; इत्यप्यसत्; तत्प्रत्ययाविशेषासिद्धेः। तेषां परस्परं विशिष्टत्वात्कालस्याप्यतो विशिष्टत्वसिद्धिः। सहकारिणामेव विशिष्टत्वं न कालस्य; इत्यप्यनुत्तरम्; स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वप्रतिक्षेपात्।

यदि चास्य निरवयवैकद्रव्यरूपताभ्युपगम्यते कथं तर्ह्यतीतादिकालव्यवहारः? स हि किमतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धात्, स्वतो वा स्यात्? अतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; कुतस्तासामतीतादित्वम्? अपरातीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; अनवस्था। अतीतादिकालसम्बन्धाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः[6]। स्वतस्तस्यातीतादिरूपता चायुक्ता, निरंशत्वभेदरूपत्वयोर्विरोधात्[7]।

यौगपद्यादिप्रत्ययाभावश्चैवंवादिनः स्यात्; तथाहि-यत्कार्यजात[8]मेकस्मिन्काले कृतं तद्युगपत्कृतमित्युच्यते। कालैकत्वे[9] चाखिलकार्याणामेककालोत्पाद्यत्वेनैकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गान्न किञ्चिदयुगपत्कृतं स्यात्[10]।

चिरक्षिप्रव्यवहाराभावश्चैवंवादिनः। यत्खलु बहुना कालेन कृतं तच्चिरेण कृतम्। यच्च स्वल्पेन कृतं तत्क्षिप्रं कृतमित्युच्यते। तच्चैतदुभयं कालैकत्वे दुर्घटम्।

---

१ कालपरमाणुलक्षणम्। २ मुख्यकालद्रव्यानेकत्वाभावे। ३ हेतुरसिद्ध इत्युक्ते सत्याह। ४ चन्द्रार्कादिदक्षिणायनोत्तरायणयोः सतोः। ५ लोकाकाशप्रदेशे एकैके ये स्थिताः खलु एकैके। रत्नानां राशिरिव ते कालाणवो ज्ञातव्याः। ६ सिद्धे हि क्रियाणामतीतादित्वे तत्सम्बन्धात्कालस्यातीतादित्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्सम्बन्धात्तासां तत्सिद्धिरिति। ७ निरंशस्य कालस्यातीतत्ववर्तमानत्वभविष्यत्त्वलक्षणधर्माणां सद्भावो न घटते इति भावः। ८ कार्यसमूहः। ९ कालस्य नित्यैकत्वादिरूपत्वे। १० अयौगपद्याभावे तदपेक्षया जायमानस्य यौगपद्यस्याप्यभाव इति भावः।

ननु चैकत्वेपि कालस्योपाधिभेदाद्भेदोपपत्तेर्न यौगपद्यादिप्रत्ययाभावः। तदुक्तम्–"मणिव[1]त्पाचकवद्वोपाधिभेदात्कालभेदः" [ ] इति; तदप्ययुक्तम्; यतोऽत्रोपाधिभेदः कार्यभेद एव। स च 'युगपत्कृतम्' इत्यत्राप्यस्त्येवेति किमित्ययुगपत्प्रत्ययो न स्यात्[2]? अथ क्रमभावी कार्यभेदः कालभेदव्यवहारहेतुः। ननु कोस्य क्रमभावः? युगपदनुत्पादश्चेत्; 'युगपदनुत्पादः' इत्यस्य भाषितस्य कोर्थः? एकस्मिन्कालेऽनु[3]त्पादः; सोयमितरेतराश्रयः-यावद्धि कालस्य भेदो न सिद्ध्यति न तावत्कार्याणां भिन्नकालोत्पादलक्षणः क्रमः सिध्यति, यावच्च कार्याणां क्रमभावो न सिध्यति न तावत्कालस्योपाधिभेदाद्भेदः सिध्यतीति। ततः प्रतिक्षणं क्षणपर्यायैः कालो भिन्नस्तत्समुदायात्मको लवनिमेषादिकालश्च। तथा चैककालमिदं चिरोत्पन्नमनन्तरोत्पन्नमित्येवमादिव्यवहारः स्यादुपपन्नो नान्यथा।

एतेन परापरव्यतिक[5]रः कालैकत्वे प्रत्युक्तः; तथाहि-भूम्यवयवैरालोकावयवैर्वा बहुभिरन्तरितं वस्तु विप्रकृष्टं परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरितं सन्निकृष्टमपरमिति च। तथा बहुभिः क्षणैरहोरात्रादिभिर्वान्तरितं विप्रकृष्टं परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरितं सन्निकृष्टमपरमिति च। बह्वल्प[6]भावश्च गुरुत्वपरिमाणादिवदपेक्षानिबन्धनः कालैकत्वे दुर्घट इति।

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात् कालस्यैकत्वे च गु[9]रुत्वपरिमाणादेरप्येकत्वप्रसङ्गस्तुल्याक्षेपसमाधानत्वा[11]त्। ततो गुरुत्वपरिमाणादेरनेकगुणरूपतावत्कालस्यानेकद्रव्यरूपताभ्युपगन्तव्या[12]।

[13] ये तु वास्तवं कालद्रव्यं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां परापरयौगपद्या-

---

१ यथा स्फटिकमणौ पावके च यथाक्रमं जपाकुसुमादिखादिरादिलक्षणोपाधिभेदाद्भेदस्तथा कार्यलक्षणोपाधिभेदाद्भेदः कालस्यापीत्यर्थः, ततश्च व्यतिकरो न स्यादिति भावः। २ कालक्रमेणोत्पाद इत्यर्थः। ३ कालस्यैकत्वे यौगपद्याभावो यतः। ४ वसः। ५ विपर्ययः। ६ कालस्य। ७ अस्मादयं गुरुरस्माल्लघुरिति व्यवहारो वस्तुन एकत्वे दुर्घटो यथा। ८ स्वपरापेक्षा। ९ गुरुत्वादिप्रत्ययाविशेषात्। १० अल्पपरिमाणस्यापि। ११ गुरुत्वपरिमाणमल्पत्वपरिमाणं च प्रतिपदार्थं भिद्येत इत्याक्षेपः, समाधानं–तर्हि यौगपद्यादिप्रत्ययोपि प्रतिपदार्थं भिद्यते इति समानम्। १२ नित्यनिरंशैकद्रव्यरूपत्वे चार्थानां भूतभविष्यद्वर्तमानत्वं दुर्घटमतीतानागतवर्तमानकालभेदाभावात्, सिद्धे हि तद्भेदे तत्सम्बन्धादर्थानां तथा व्यपदेशः स्यान्नान्यथातिप्रसङ्गात्। न चास्य तत्सिद्धिर्घटते नित्यनिरंशैकरूपत्वात्। यदेवंविधं न तत्रातीतादिस्वरूपभेदाः। यथा परमाणौ। नित्यनिरंशैकरूपश्च भवद्भिः परिकल्पितः कालः। १३ मीमांसकसौगतद्राविडाः।

यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययानामभावः स्यात्। न खलु ते निर्निमित्ताः[1]; कादाचित्कत्वाद्घटादिवत्। नाप्यविशिष्ट[2]निमित्ताः; विशिष्ट[3]प्रत्ययत्वात्। न च दिग्गुणजातिनिमित्तास्ते; तज्जातप्रत्ययवैलक्षण्येनोपपत्तेः[4]। तथा हि-अपर[5]दिग्व्यवस्थितेऽप्रशस्ते[6]ऽधम[7]जातीये स्थविरपिण्डे 'परोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते। परदिग्व्यवस्थिते चोत्तमजातीये प्रशस्ते यूनि पिण्डे 'अपरोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते।

अथादित्यादिक्रिया तन्निमित्तम्; जन्मतो हि प्रभृत्येकस्य प्राणिन आदित्यवर्तनानि भूयांसीति परत्वमन्यस्य चाल्पीयांसीत्यपरत्वम्। नन्वेवं कथं यौगपद्यादि[8]प्रत्ययप्रादुर्भावः एकस्मिन्नेवादित्यपरिवर्त्तने[9] सर्वेषामुत्पादात्? तथाव्यपदेशाभावाच्च[10]; 'युगपत्कालः' इति हि व्यपदेशो न पुनः 'युगपदादित्यपरिवर्त्तनम्' इति[11]।

न[12] च क्रियैव कालः; अस्याः क्रिया[13]रूपतयाऽविशेषतो[14] युगपदादिप्रत्ययाभावानुषङ्गात्। तस्य चोक्तकार्यनिर्वर्त्तकस्य कालस्य 'क्रिया' इति नामान्तरकरणे नाममात्रं भिद्येत।

न[15] च कर्तृकर्मणी एव यौगपद्यादिप्रत्ययस्य निमित्तम्; यतो यौगपद्यं बहूनां कर्तॄणां कार्ये व्यापारो 'युगपदेते कुर्वन्ति' इति प्रत्ययसमधिगम्यः। बहूनां च कार्याणामात्मलाभो[16] 'युगपदेतानि कृतानि' इति प्रत्ययसमधिगम्यः। न चात्र[17] कर्तृमात्रं कार्यमात्रं वालम्बन[18]मतिप्रसङ्गात्। यत्र हि क्रमेण कार्यं तत्रापि कर्तृकर्मणोः सद्भावात्स्यादेतद्विज्ञानम्, न चैवम्। यथाऽ(तथाऽ)यौगपद्यप्रत्ययोप्ययुगपदेते कुर्वन्तीति, अयुगपदेतत्कृतमिति नाविशिष्टं कर्तृ-

---

१ किंतु काललक्षणकारणोत्पाद्या इत्यर्थः। २ अविशिष्टं=साधारणम्। ३ परप्रत्ययः, अपरप्रत्यय इत्यादिरूपेण। ४ परापरादिप्रत्ययानाम्। ५ निकटदिक्। ६ गुणापेक्षया। ७ मातङ्गादौ। ८ अतद्गुणसंविज्ञानोयं बसः, यौगपद्यमादिर्येषामयौगपद्यादीनां ते यौगपद्यादय इति, तेनायौगपद्यादिप्रत्ययप्रादुर्भावः कथमित्यर्थः संपन्नः। ९ युगपदादित्यपरिवर्तनमिति। १० अमुना हेतुना यौगपद्यस्याभावः कृतः। ११ कालव्यतिरिक्तस्य निमित्तस्य यौगपद्यादिप्रत्यये विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात्तदादित्यपरिवर्तनं स्यात्क्रियाविशेषो वा? न तावदादित्यपरिवर्तनमेकस्मिन्नप्यादित्यपरिवर्तने सर्वेषामुत्पादादिति, अस्य परिवर्तनं मेरुप्रादक्षिण्येन परिभ्रमणमहोरात्रमभिधीयते, तस्मिन्नेकस्मिन्नपि यौगपद्यादिप्रतीतिविषयभूतार्थानामुत्पादः प्रतीयते एव तथा व्यपदेशाभावाच्चेति। १२ क्रिया कालो भविष्यतीत्याह। १३ कालरूपतया यौगपद्यादिप्रत्ययो, न पुनः क्रियारूपतया। १४ भेदाभावतः। १५ तर्हि कर्तृकर्मणी यौगपद्यादिप्रत्ययस्य निमित्तं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। १६ यौगपद्यम्। १७ यौगपद्यप्रत्यये। १८ विषयः, कारणमित्यर्थः।

कर्ममात्रमालम्बतेऽतिप्रसङ्गादेव । अतस्तद्विशेषणं कालोऽभ्युपगन्तव्यः । कथमन्यथा चिरक्षिप्रव्यवहारोपि स्यात्? एक एव हि कर्त्ता किञ्चित्कार्यं चिरेण करोति व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा, किञ्चित्तु क्षिप्रमर्थितया । तत्र 'चिरेण कृतं क्षिप्रं कृतम्' इति प्रत्ययौ विशिष्टत्वाद्विशिष्टं निमित्तमाक्षिपत इति कालसिद्धिः ।

लोकव्यवहाराच्च; प्रतीयन्ते हि प्रतिनियत एव काले प्रतिनियता वनस्पतयः पुष्यन्तीत्यादिव्यवहारं कुर्वन्तो व्यवहारिणः । यथा वसन्तसमये एव पाटलादिकुसुमानामुद्भवो न कालान्तरे । इत्येवं कार्यान्तरेष्वप्यभ्यूह्यम् 'प्रसवनकालमपेक्षते' इति व्यवहारात् । समयमुहूर्त्तयामाहोरात्रार्द्धमासर्त्वयनसंवत्सरादिव्यवहाराच्च तत्सिद्धिः । तन्न परपरिकल्पितं कालद्रव्यमपि घटते ।

नापि दिग्द्रव्यम्; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । यच्च दिशः सद्भावे प्रमाणमुक्तम्–"मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वेदमतः पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणाऽपरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिग्" [प्रश० भा० पृ० ६६] इति । तथा च सूत्रम्–"अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्" [वैशे० सू० २।२।१०] तथा च दिग्द्रव्यमितरेभ्यो भिद्यते दिगिति व्यवहर्त्तव्यम्, पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गत्वात्, यत्तु न तथा न तत्पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गम् यथा क्षित्यादि, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति । न चैते प्रत्यया निर्निमित्ताः; कादाचित्कत्वात् । नाप्यविशिष्टनिमित्ताः; विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीतिप्रत्ययवत् । न चान्योन्यापेक्षमूर्तद्रव्यनिमित्ताः; परस्पराश्रयत्वेनोभयप्रत्ययाभावानुषङ्गात् । ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वासम्भवादेते दिश एवानुमापकाः । प्रयोगः– यदेतत्पूर्वापरादिज्ञानं तन्मूर्त्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्सुखादिप्रत्ययवत् । विभुत्वैकत्वनित्यत्वादयश्चास्या धर्माः कालवदवगन्तव्याः । तस्याश्चैकत्वेपि प्राच्यादिभेदव्यवहारो भगवतः सवितुर्मेरुं प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य लोकपालगृहीतदिक्प्रदेशैः संयोगाद्घटते ।

---

१ युगपदेते कुर्वन्ति युगपदेतानि कृतानीति तयोः कर्तृकर्मणोः । २ पुरुषाः । ३ पुत्रोत्पत्त्यादिलक्षणेषु । ४ ज्ञानं भवतीति शेषः । ५ लिङ्गसिद्धौ । ६ वसः । ७ पटादिवत् । ८ साधारणाऽऽकाशादिकारणका न भवन्तीति भावः । ९ एकस्य वस्तुनः पूर्वत्वसिद्धौ सत्यां तदपेक्षया इतरस्यापरत्वसिद्धिरितरस्यापरत्वसिद्धौ सत्यां च तदपेक्षयाऽपरत्वसिद्धि(प्रथमस्य पूर्वत्वसिद्धि)रिति । १० नान्यस्याकाशादेः । ११ इन्द्रादि ।

तदप्यसमीचीनम्; प्रोक्तप्रत्ययानामाकाशहेतुकत्वेनाकाशादिशोऽर्थान्तरत्वासिद्धेः। तत्[1]प्रदेशश्रेणिष्वेव ह्यादित्योदयादिवशात्प्राच्यादिदिग्व्यवहारोपपत्तेर्न तेषां निर्हेतुकत्वं नाप्यविशिष्टपदार्थहेतुकत्वम्। तथाभूत[2]प्राच्यादिदिक्संबन्धाच्च मूर्त्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषस्योत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्त्तद्रव्याण्येव तद्धेतवो येनैक[3]तरस्य पूर्वत्वासिद्धाव[4]न्यतरस्यापरत्वासिद्धिः, तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वेनोभयाभावः स्यात्।

न[5]न्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुत[6]स्तत्सिद्धिः? स्वरूपत एव तत्सिद्धौ त[7]स्य प[8]रावृत्त्यभावप्रसङ्ग[9]ः, अन्यो[10]न्यापेक्षया तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रयणादुभयाभावः; त[11]देतद्दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समानम्। यथैव हि मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्त्तेष्वेव 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतु[12]कास्तथा दिग्भेदमवधिं कृत्वा दिग्भेदेष्वेव 'इ[13]यमत[14]ः पूर्वा' इत्यादिप्रत्यया द्रव्यान्तरहेतुकाः स[15]न्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात्, तथा चान[16]वस्था। परस्परापेक्षया तत्सिद्धावितरेतराश्रयणादुभयाभावः। स्व[17]रूपत[18]स्तत्प्रत्ययप्रसिद्धौ ते[19]नैवाने[20]कान्तात् कुतो दि[21]ग्द्रव्यसि[22]द्धिस्तत्प्रत्ययपरावृत्त्यभावश्चानुषज्यः।

सवितुर्मेरुं प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्येत्यादिन्यायेन दिग्द्रव्ये प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ त[23]त्प्रदेशपङ्क्तिष्वप्यत एव त[24]द्व्यवहारोपपत्तेरलं दिग्द्रव्यकल्पनया, देशद्रव्यस्यापि कल्पनाप्रसङ्गात्[25]–'अयमतः पूर्वो देशः' इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमन्तरेणानुपपत्तेः। पृथिव्यादिरेव देशद्रव्यम्; इत्यसत्; तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्प[26]त्तेः। पूर्वादि-

---

१ आकाशस्यैकत्वाद्दिग्व्यवहारः कथं स्यादित्याह। २ आकाशप्रदेशलक्षण। ३ पूर्वाद्रेः। ४ पश्चिमाद्रेः। ५ मूर्त्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषोत्पत्तिप्रकारेण। ६ तस्य=पूर्वापरत्वस्य। ७ पूर्वापराद्रेः। ८ परावृत्तिः=निवृत्तिः। ९ न च तथा पूर्वादिदिशामपि कस्यचिद्देशस्यापेक्षया पश्चिमादिव्यपदेशोऽस्ति। १० पूर्वापेक्षयाऽपरः, अपरापेक्षयापूर्व इति। ११ चोद्यम्। १२ भवन्मते। १३ दिक्। १४ दिशः सकाशात्। १५ जैनमते। १६ अन्यदिग्द्रव्यापेक्षयाऽनवस्था तत्रापि तत्प्रत्ययहेतुत्वस्यापरदिग्द्रव्यहेतुत्वप्रसङ्गात्। १७ दिग्भेदेषु दिग्द्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यान्तराभावेपि पूर्वापरादिप्रत्ययस्य स्वतो जायमानत्वात्। १८ पूर्वापरेति। १९ पूर्वापरादिप्रत्ययेन। २० तत्प्रत्ययविलक्षणत्वादित्यस्य हेतोः। २१ दिग्द्रव्यं पूर्वापरादिप्रत्ययस्य कारणं न भवतीति भावः। २२ पूर्वापर। २३ तस्य=आकाशस्य। २४ प्राच्यादि। २५ तथा च नव द्रव्याणीति द्रव्यसंख्याव्याघातः स्यात्। २६ तस्य पृथिव्यादिप्रत्ययहेतुत्वेनायमतः पूर्वो देश इति प्रत्ययहेतुत्वाऽनुपपत्तेः।

दिक्कृतः पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्ययश्चेत्; तर्हि पूर्वाद्याकाशकृतस्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययोस्त्वऽलं दिक्कल्पनाप्रयासेन।

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशपङ्क्तिष्विव पृथिव्यादिष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धेराकाशप्रदेशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवत्विति चेत्; न; 'पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादयः' इत्याद्याधाराधेयव्यवहारोपलम्भात् पृथिव्याद्यधिकरणभूतायास्त[1]त्प्रदेशपङ्क्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्। आकाशस्य च प्रमाणान्त[2]रतः प्रसाधितत्वात्। तन्न परपरिकल्पितं दिग्द्रव्यमप्युपपद्यते।

नाप्यात्मद्रव्यम्। तद्धि सर्वगतत्वादिधर्मोपेतं परैरभ्युपेयते। न चास्य तदुपेतत्वमुपपद्यते; प्रत्यक्षविरोधात्। प्रत्यक्षेण ह्यात्मा 'सुख्यहं दुःख्यहं घटादिकमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया स्वदेह एव सुखादिस्वभावतया प्रतीयते, न देहान्तरे परसम्बन्धिनि, नाप्यन्तराले। इतरथा सर्वस्य सर्वत्र तथा प्रतीतिरिति सर्वदर्शित्वं भोजनादिव्यवहारसङ्क[3]रश्च स्यात्।

अनुमानविरोधाच्चास्य तद्धर्मोपेतत्वायोगः; तथाहि–नात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो द्रव्यान्तराऽसाधारणसामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वाद्घटादिवत्। 'अनेकत्वात्' इत्युच्यमाने हि सामा[4]न्येनानेकान्तः, तत्परिहारार्थं 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणम्। त[5]थाकाशादिना व्यभिचा[6]रः, तत्परिहारार्थं 'द्रव्यान्तरासाधारणसामान्यवत्त्वे सति' इत्युच्यते। एकस्मा[7]द्धि द्रव्यादन्यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरम्, तदसाधारणसामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वमाकाशादौ[8] नास्तीति। अ[9]त एव परममहापरिमाणलक्षणगुणेनापि नानेकान्तः।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरणो दिक्कालाकाशान्यत्वे सति द्रव्यत्वाद्घटादिवत्। न सामान्येन परममहापरिमाणेन वानेकान्तः, तयोरद्रव्यत्वात्। नापि दिगादिना, 'तदन्यत्वे सति' इति विशेषणात्।

तथा, नात्मा त[10]त्परिमाणाधिकरणः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत्। न चेदमसिद्धम्; 'योजनमहमागतः क्रोशं वा' इत्यादिप्रतीतितस्तत्सिद्धेः। न च मनः शरीरं वागतमित्यभिधातव्यम्; तस्याहं-

---

१ व्योम। २ निखिलद्रव्यावगाहान्यथानुपपत्तेः। ३ आत्मनः सर्वैरात्मभिः सम्बन्धात्। ४ गोत्वाश्वत्वमहिषत्वादिना। ५ सामान्यवत्त्वादित्युच्यमाने। ६ यतो द्रव्यत्वं सत्त्वं वा सामान्यमाकाशादिषु। ७ आत्मलक्षणात्। ८ आकाशम्। ९ गुणत्वसामान्यसद्भावादनेकत्वाभावाच्च। १० तत्-परममहत्।

प्रत्ययाऽवेद्यत्वात्, अन्यथा चार्वाकमतप्रसङ्गः स्यात् । प्रसाधयिष्यते चाग्रे[1] विस्तरतोस्य क्रियावत्त्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

तथा, आत्माऽणुपरममहत्त्वपरिमाणानधिकरणः, चेतनत्वात्, ये तु तत्परिमाणाधिकरणा न ते चेतनाः यथाकाशपरमाण्वादयः, चेतनश्चात्मा, तस्मान्न तत्परिमाणाधिकरण इति ।

ननु चात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो न भवतीति प्रतिज्ञाऽनुमानबाधिता[2] । तच्चानुमानम्-आत्मा व्यापकोऽणु[3]परिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवत् । अणु[4]परिमाणानधिकरणोसौ असदादि[5]प्रत्यक्ष[6]विशेषगुणाधिकरणत्वाद्घटादिवत् । तथा[7] नित्यद्रव्यमात्माऽस्पर्शवद्द्रव्य[8]त्वादाकाशवदेवेति ।

अत्रोच्यते[9]-अणुपरिमाणप्रतिषेधोत्र पर्युदासः, प्रसज्यो वाभिप्रेतः ? यदि पर्युदासः; तदासौ भावान्तरस्वीकारेण प्रवर्त्तते । भावान्तरं च किं परममहापरिमाणम्, अवान्तरपरिमाणं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे साध्याविशिष्टत्वं[10] हेतुविशेषणस्य । यथा 'अनित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति । द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम्, यथा 'नित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति ।

प्रसज्यपक्षेप्यसिद्धत्वम्; तुच्छस्वभावाभावस्य प्रमाणाविषयत्वेन प्रतिपादनात् । सिद्धौ वा किमसौ साध्यस्य[11] स्वभावः, कार्यं वा ? यदि स्वभावः; तर्हि साध्यस्यापि तद्वत्तुच्छरूपतानुषङ्गः । अथ कार्यम्; तन्न; तुच्छस्वभावाभावस्य कार्यत्वायोगात् । कार्यत्वं हि किं स्वकारणसत्तासमवायः, कृतमिति बुद्धिविषयत्वं वा ? न तावदाद्यः पक्षः; अभावस्य स्वकारणसत्तासमवायानभ्युपगमात्, अन्यथा भावरूपतैवास्य स्यात् । नापि द्वितीयः; तुच्छस्वभावाभावस्य तद्विषयत्वासम्भवात् । तस्य हि प्रमाणागोचरत्वे कथं कृतबुद्धिविषयत्वं सम्भवेत् ? अनैकान्तिकं चैतत्; खननोत्सेचनानन्तरमकार्येप्याकाशे कृतबुद्धिविषयत्वसम्भवात् ।

---

१ अत्रैवात्मसर्वगतत्वादिनिराकरणे । २ कालात्ययापदिष्टेन हेतुना । ३ परमाणुभिरनेकान्तपरिहारार्थमेतत्, परमाणुषु नित्यत्वमस्ति व्यापकत्वं च नास्तीति भावः । ४ हेतोर्विशेषणसमर्थनार्थमेतत् । ५ योगिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणैः परमाणुभिर्व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमसदादिपदम् । ६ प्रत्यक्षाश्च ते विशेषगुणाश्च तेषामधिकरणम् । ७ हेतोर्विशेष्यदलसमर्थनार्थम् । ८ क्रिययाऽनेकान्तपरिहारार्थं द्रव्येति । ९ हेतोर्विशेषणं निरस्यति जैनः । १० साध्यसमत्वम्, महापरिमाणस्यार्थो हि व्यापकत्वम्, एवं सति आत्मा व्यापकः व्यापकत्वादित्यायातं महापरिमाणव्यापकत्वयोः समानार्थत्वात् । ११ व्यापकत्वविशिष्टस्यात्मनः ।

नित्यद्रव्यत्वं[1] च किं कथञ्चित्, सर्वथा वा विवक्षितम्? कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्तः, तस्याणुपरिमाणानधिकरणत्वे कथञ्चिन्नित्यद्रव्यत्वे च सत्यपि व्यापित्वाभावात्। सर्वथा चेत्; असिद्धत्वम्, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वेनाश्वविषाणप्रख्यत्वप्रतिपादनात्। अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणत्वाच्चाणुपरिमाणप्रतिषेध[2]मात्रमेव स्याद् घटादिवत्, तस्य चेष्टत्वात्सिद्धसाध्यता। अस्पर्शवद्द्रव्यत्वाच्चात्मनो यदि कथञ्चिन्नित्यत्वं साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता। अथ सर्वथा; तर्हि हेतोरनन्वय[3]त्वमाकाशादीनामपि सर्वथा नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्।

ननु 'देहान्तरे परसम्बन्धिन्यन्तराले चात्मा न प्रतीयते' इत्ययुक्तमुक्तम्; अनुमानात्तत्रास्य सद्भावप्रतीतेः; तथाहि-देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकं कार्यत्वे[4] तदुप[5]कारकत्वाद्ग्रासादिवत्। कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जन्मनि व्याप्रियते नान्यथा, अतस्तदङ्गादिकार्यप्रादुर्भावदेशे तत्कारणवत्तद्गुणसिद्धिः। यत्र च गुणाः प्रतीयन्ते तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयते एव, तमन्तरेण तेषामसम्भवात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गादिकार्यस्य कारणत्वेनाभिप्रेता ज्ञानदर्शनादयो देवदत्तात्मगुणाः, धर्माधर्मौ वा? न तावज्ज्ञानदर्शनसुखादयः स्वसंवेदनस्वभावास्तज्जन्मनि व्याप्रियमाणाः प्रतीयन्ते। वीर्यं तु शक्तिः, सापि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिङ्ग[6]भूतक्रियायाः[7] प्रतीतेः। तज्ज्ञानादेस्तद्देह एव तत्कार्य[8]कारणविमुखस्याध्यक्षादिना प्रतीतेः तद्बाधितकर्म[9]निर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे[10] सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः।

अथ धर्माधर्मौ; तदङ्गादिकार्यं तन्निमित्त[11]मस्माभिरपीष्यते एव। तदात्मगुणत्वं तु तयोरसिद्धम्; तथाहि-न धर्माधर्मौ आत्मगुणौ अचेतनत्वाच्छब्दादिवत्। न सुखादिना व्यभिचारः; अत्र हेतोरवर्त्तनात्, तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येनास्याऽव्याप्तत्वासाधनात्। नाप्यसिद्धता; अचेतनौ तौ स्वग्रहणविधुरत्वात्पटादिवत्। न च बुद्ध्यास्य व्यभिचारः; अस्याः स्वग्रहणात्मकत्वप्रसाधनात्। प्रसाधितं च पौद्गलिकत्वं कर्मणां[12] सर्वज्ञसिद्धि-

१ हेतोर्विशेष्यं निरस्यति। २ न तु परममहापरिमाणमवान्तरपरिमाणं वा सिध्येत्। ३ तथाविधसाध्येन व्याप्तस्य हेतोर्दृष्टान्ते सत्त्वं नास्तीति भावः। ४ महेश्वरेणानेकान्तपरिहारार्थमेतत्। ५ व्याघ्रादिना व्यभिचारपरिहारार्थं तदुपकारकेति। ६ लिङ्गं ज्ञापकम्। ७ भारवाहादिकायाः। ८ देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गादि। ९ वीर्यानुमान। १० पक्ष। ११ वसः। १२ धर्माधर्मरूपाणाम्।

प्रस्ता[1]वे तदलमतिप्रसङ्गे[2]न । तदेवं धर्माधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत्-'देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम्' इति ।

अस्तु वा तयोर्गुणत्वम्; तथापि न तदङ्गनाङ्गादिप्रादुर्भावदेशे तत्सद्भावसिद्धिः। न खलु सर्वं कारणं कार्यदेशे सदेव तज्जन्मनि व्याप्रियते, अञ्जनतिलकमन्त्राऽयस्कान्तादेराकृष्यमाणाङ्गना[3]दिदेशेऽसतोप्याकर्षणादिकार्यकर्तृत्वोपलम्भात् । 'कार्यत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थक[4]म्; यदि हि तद्गुणपूर्वकत्वाभावे[5]पि तदुपकारकत्वं दृ[6]ष्टं स्यात् तदा 'कार्यत्वे सति' इति विशेषणं युज्येत, 'सति सम्भ[7]वे व्यभि[8]चारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद्भवति' इति न्यायात्। कालेश्वरा[9]दौ दृ[10]ष्टमिति चेत्; तर्हि कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि त[11]दुपकारकम् कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकमपि तदुपकारकं भविष्यतीति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः, क्वचित्सर्वज्ञत्वाभावे साध्ये वागादिवत् । न च नित्यैकस्वभावात्कालेश्वरादेः कस्यचिदुपकारः सम्भवतीत्युक्तम्।

न च(ननु च) नकुलशरीरप्रध्वंसाभावोऽहेरुपकारकोस्ति तस्मिन्सति सुखावासभ्रमणादिभावादतः सोपि तद्गुणपूर्वकः स्यात्, त[12]था च कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्त्तमानाद्भागासिद्धो हेतुः। प्रत्युक्तं चाभावस्या[13]नन्तरमेव कार्यत्वम् । अथाऽतद्गुणपूर्वकः; अन्य[14]दप्यतद्गुणपूर्वकमपि तदुपकारकं किन्न स्यात्?

साध्यविकलं चेदं निदर्शनं ग्रासादिवदिति। तत्र ह्यात्मनः को गुणो धर्मादिः, प्रयत्नो वा स्यात्? धर्मादिश्चेत्; साध्यवत्प्रसङ्गः[15]। प्रयत्नश्चेत्; कोयं प्रयत्नो नाम? आत्मनः तदवयवानां वा हस्ताद्यवयवप्रविष्टानां परिस्पन्दः; स तर्हि चलनलक्षणा क्रिया, कथं गुणः? अन्यथा गमनादेरपि गुणत्वानुषङ्गात्क्रियावार्त्तोच्छेदः। तथा चायुक्तम्-क्रियावत्त्वं द्रव्यलक्षणम्।

यदप्युक्तम्-'अदृष्टं स्वा[16]श्रयसंयुक्ते आश्रया[17]न्तरे कर्मारभते

---

१ ततश्चाचेतनत्वं कर्मणाम्। २ कर्मणां पौद्गलिकत्वसमर्थनस्य। ३ आदिना लोहादिदेशे। ४ हेतोर्विपक्षे वृत्तिनिवृत्त्यर्थं हेतौ विशेषणं योजयन्त्याचार्या इति वचनात्। ५ विपक्षे। ६ कुत्रचिन्निदर्शने। ७ विशेष्यस्य। ८ हेतोः। ९ अकार्यरूपे। १० अकार्यत्वे सति तदुपकारकत्वम्। ११ तस्य=देवदत्तादेः। १२ अभावस्य कार्यत्वासम्भवेन। १३ अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य प्रसज्यपक्षे। १४ देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गमपि। १५ साध्यमसिद्धं यथा तथा धर्मादिगुणत्वमप्यसिद्धम्। १६ स्वाश्रयः=आत्मा। १७ द्वीपान्तरवर्त्तिपदार्थे।

एकद्रव्यत्वे[1] सति क्रियाहेतुगुणत्वात्[2]प्रयत्नवत्। न चास्य क्रियाहेतुत्वमसिद्धम्; तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणुमनसोश्[3]चाद्यं कर्म[4] देवदत्तविशेषगुणकारितं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् पाण्यादिपरिस्पन्दवत्। नाप्येकद्रव्यत्वम्[5]; तथाहि-एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वाच्छब्दवत्। 'एकद्रव्यगुणत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः[6], तन्निवृत्त्यर्थं 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति विशेषणम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने हस्तमुसलसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिक्रिया[7]हेतुनानेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति। 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रया[9]संयुक्तलोहादिक्रिया[10]हेतुनाऽयस्कान्तेनाने[11]कान्तः, तत्परिहारार्थं 'गुणत्वात्' इत्युक्तम्।'

तदेतदप्यविचारितरमणीयम्; अदृष्टस्य गुणत्वप्रतिषेधात्, अतो विशेष्यासिद्धो हेतुः। विशेषणासिद्धश्च; एकद्रव्यत्वाप्रसिद्धेः। तद्धि किमेकस्मिन्द्रव्ये संयुक्तत्वात्, समवायेन वर्त्तमानात्, अन्यतो वा स्यात्? न तावत्संयुक्तत्वात्; संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, अदृष्टस्य चाद्रव्यत्वात्। अन्यथा गुणवत्त्वेनास्य द्रव्यत्वानुषङ्गात् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्येतद्विघटते। समवायेन वर्त्तनं च समवाये सिद्धे सिद्ध्येत्, स चासिद्धः, अग्रे निषेधात्। तृतीयपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव न युक्तः।

क्रियाहेतुत्वं चास्याऽनुपपन्नम्। तथा हि-देवदत्तशरीरसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्त्तिषु मणिमुक्ताफलप्रवालादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, उत द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशे, किं वा सर्वत्र? तत्राद्यपक्षस्यानभ्युपगम एव श्रेयान्[12], अतिव्यवहितत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यैस्तस्यानभिसम्बन्धेन तत्र क्रियाहेतुत्वायोगात्। ननु स्वाश्रय[13]संयोगसम्बन्धसम्भवा[14]त्तेषाम्[15]नभिसम्बन्धो[16]ऽसिद्धः, अमुमेव[17] ह्यात्मानमाश्रित्यादृष्टं वर्त्तते, तेन संयुक्तानि सर्वाण्यप्याकृष्यमाणद्रव्याणि; इत्यप्ययुक्तम्; तस्य

---

१ एकद्रव्यमात्मा, यस्तः। २ यस्तः। ३ आत्ममनसोः सर्वथा भेदात्। ४ अणुमनसोः शरीरोत्पत्तिदेशं प्रति गमनक्रिया। ५ असिद्धमिति संबन्धः। ६ पुद्गललक्षणैकद्रव्यं रूपं यतः। ७ क्रिया=हननलक्षणा। ८ हस्तमुसलद्रव्यद्वयसद्भावात्। उलूखले धान्यादिके खण्ड्यमाने सति दूरतोऽसंयुक्तस्तम्भादिः पततीति भावः। ९ स्वाश्रयो=भूम्यादिः। १० क्रिया=आकर्षणम्। ११ भूम्यादौ स्थितोऽयस्कान्त ऊर्ध्वस्थितमसंयुक्तं लोहादिकमाकर्षतीति भावः। १२ परस्य तव। १३ तस्याद्दृष्टस्याश्रय आत्मा तेन संयोगः। १४ अदृष्टस्य। १५ द्रव्याणाम्। १६ अदृष्टेन सह। १७ कथम्? तथा हि।

सर्वत्राविशेषेण[1][2] सर्वस्याकर्षणानुषङ्गात्। अथ यददृष्टेन यज्जन्यते तददृष्टेन तदेवाकृष्यते न सर्वम्; तर्हि देवदत्तशरीरारम्भकाणां परमाणूनां नित्यत्वेन तददृष्टाजन्यत्वात् कथं तददृष्टेनाकर्षणम्? तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसङ्गः[3]। तन्नाद्यः पक्षो युक्तः।

नापि द्वितीयः; तथाहि–यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवानन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथाऽदृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पत्स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पतां हेतुः, द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव वा? प्रथमपक्षे स्वयमेवादृष्टं तं प्रत्युपसर्पति, अदृष्टान्तराद्वा? स्वयमेवास्य तं प्रत्युपसर्पणे द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्याणामपि तथैव तत् इत्यदृष्टपरिकल्पनमनर्थकम्। 'यद्देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद्देवदत्तगुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुश्चानैकान्तिकः[4] स्यात्। वायुवच्चादृष्टस्य सक्रियत्वम् गुणत्वं बाधेत। शब्द[5]वच्चापरापरस्योत्पत्तौ अपरमदृष्टं निमित्तकारणं वाच्यम्, तत्राप्यपरमित्यनवस्था। अन्यथा शब्देऽप्यदृष्टस्य निमित्तत्वकल्पना न स्यात्। अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात्तदपि तदन्तरादिति तदवस्थमनवस्थानम्।

अथ द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव तत्तेषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः[6]; न; अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथानभ्युपगमात्। न खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ[7] एव हस्तादिसञ्चलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रापयति, अन्तराल[8]प्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात्।

ननु प्रयत्नस्य विचित्रतोपलभ्यते, कश्चिद्धि प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवान्[9]अन्यत्र[10] क्रियाहेतुर्यथानन्तरोदितः। अन्यश्चान्यथा यथा शरासनाध्यास[11]पदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरा(शरा)दीनां लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुरिति। सेयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतु[12]गुणानां स्वाश्रयसंयुक्तासंयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किन्नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम्? दृश्यते हि भ्रामकाख्यस्यायस्कान्तस्य स्पर्शो गुण एकद्रव्यः स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुः, आकर्षकाख्यस्य तु स्वाश्रयासंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुरिति।

---

१ अनाकृष्यमाणेष्वपि। २ संयोगस्य। ३ सर्वस्याप्याकर्षणप्रसङ्गः। ४ स्वयमुपसर्पताऽदृष्टेन। ५ शब्दवदपरापरादृष्टस्योत्पत्तेः कथं सक्रियत्वमित्याशङ्कायामाह। ६ 'इति चेत्' इत्युपरिष्टाद्योज्यम्। ७ हस्तादिगतात्मप्रदेशस्थः। ८ येन प्रयत्नेन ग्रासो गृह्यते स प्रथमः प्रयत्नः, अन्तरालप्रयत्नस्तु येन ग्रासादिकमूर्ध्वं कृत्वा मुखं प्रति नीयते स इति। ९ यः प्रयत्नो भिन्नं भिन्नं प्रदेशं गृह्णातीत्यर्थः। १० ग्रासादौ। ११ शरासनस्य धनुषोऽध्यासः स्थितिस्तस्य पदं स्थानं हस्तरूपं तत्र संयुक्तश्चासावात्मप्रदेशश्च तत्र तिष्ठतीति विग्रहवाक्यम्। १२ अदृष्टलक्षणानाम्।

अथात्र द्रव्यं क्रियाहेतुर्न स्पर्शादिगुणः; कुत एतत्? द्रव्यरहि[1]तस्यास्य तद्धेतुत्वादर्शनाच्चेत्; तर्हि वेग[2]स्य क्रियाहेतुत्वं क्रियायाश्च संयोगहेतुत्वं संयोग[3]स्य च द्र[4]व्यहेतुत्वं न स्यात्, किन्तु द्रव्य[5]मेवा[6]त्रापि [7]तत्कारणम्। ननु द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्स्यात्; तर्हि स्पर्शस्य तदकारणत्वे तद्रहितस्यै[8]वायस्कान्तादेस्तद्धेतुत्वं किन्न स्यात्? तथाविधस्यास्यादर्शनान्नेति चेत्; तर्हि लोहद्रव्यक्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यते उभयं कारणमस्तु विशेषाभावात्। तथाच 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यस्यानेकान्तः।

[10]सर्वत्र चादृष्टस्य वृत्तौ सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वं स्यात्। 'यदृष्टं यद्द्रव्यमुत्पादयति तदृष्टं तत्रैव क्रियां करोति' इत्यत्रापि शरीरारम्भकाणुषु क्रिया न स्यादित्यु[11]क्तम्। अदृष्टस्य चाश्रय आत्मा, स च हर्षविषादादिविवर्तात्मको द्वीपान्तरवर्तिद्रव्यैर्वियुक्तमेवात्मानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते इति प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः। तद्वियुक्तत्वेनाऽतस्तत्प्रतीतावप्यात्मनस्तद्द्रव्यैः संयोगाभ्युपगमे पटादीनां मेर्वादिभिस्तेषां वा पटादिभिः संयोगः किन्नेष्यते यतः साङ्ख्यदर्शनं न स्या[12]त्? प्रमाणवाधनमु[13]भयत्र समानम्।

किञ्च, धर्माधर्मयोर्द्रव्यान्तरसंयोगस्य चात्मैक आश्रयः, स च भवन्मते निरंशः। तथा च धर्माधर्माभ्यां सर्वात्मनास्यालिङ्गिततनुत्वान्न तत्संयोगस्य तत्रावकाशस्तेन वा न तयोरिति। अथ धर्माधर्मालिङ्गिततत्स्वरूपपरिहारेण तत्संयोगस्तत्स्वरूपान्तरे वर्त्तते; तर्हि घटादिवदात्मनः सावयवत्वं स्यारम्भकावयवारभ्यत्वमनित्यत्वं च स्यात्।

[14]एतेनैतन्निरस्तम्-'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्ग्रासादिवत्' इति। यथैव हि तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्ते ग्रासादयः, तथा नयनाञ्जनादिना द्रव्यविशेषेणाप्याकृष्टाः रूयादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्ते एव, अतः 'किं प्रयत्न[15]सधर्मणा

---

१ अवयवाश्रितस्य। २ अवयवेष्वेव। ३ अवयवलक्षणतन्त्वाश्रितस्य संयोगस्य। ४ अवयविलक्षणपटस्य। ५ अवयविद्रव्यम्। ६ क्रियासंयोगद्रव्येष्वेव। ७ तस्य=क्रियायाः संयोगस्य द्रव्यस्य च। ८ स्पर्शायस्कान्तौ। ९ स्पर्शेन। १० 'किं वा सर्वत्र' इति तृतीयो विकल्पोयम्। ११ पूर्वम्। १२ सर्वं सर्वत्र विद्यते इति वचनात्। १३ असदुक्ते सदुक्ते च। १४ द्रव्यस्यापि क्रियाहेतुत्वसमर्थनपरेण ग्रन्थेन एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वानुमाननिराकरणेन वा। १५ प्रयत्नसदृशेनेत्यर्थः।

[1]केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः किं वाञ्जनादि[2]सधर्मणा' इति सन्देहः। शक्यं हि परेणा[3]प्येवं वक्तुम्-विवादाप[4]न्नाः पश्वादयोऽञ्जनादिसधर्मणा समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत्। अथ तद[5]भावेपि प्रयत्नादपि त[6]द्दृष्टेरनेकान्तः; तर्हि प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेप्यञ्जनादेरपि त[7]द्दृष्टे[8]र्भवदीयहेतोरप्यनैकान्तिकत्वं स्यात्। अत्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो[9] हेतुत्वादव्यभिचारे अन्यत्राप्यञ्जनादिसधर्मणोऽनुमीयमानस्य हे[10]तुत्वादव्यभिचारः स्यात्। त[11]त्र प्रयत्नस्यैव सामर्थ्या[12]दस्य वैफल्ये अत्रा[13]प्यञ्जनादेरेव सामर्थ्यात्तद्वैफल्यं किं न स्यात्? अथाञ्जनादेरेव तद्धेतुत्वे स[14]र्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणं स्यात्, न चाञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वतः सर्वान्प्रति स्त्र्याद्याकर्षणम्, ततोऽवसीयते तदविशेषेपि य[15]द्वैकल्यात्तन्न स्यात्तदपि तत्कारणं नाञ्जनादिमात्रम्; इत्यप्यपेशलम्; प्रय[16]त्नकारणेपि समानत्वात्। न खलु सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादयः समुपसर्पन्ति तदपहारादिदर्शनात्। ततोऽत्राप्यन्यत्कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेप्यविशेषात्।

अञ्जनादेश्च स्त्र्याद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे घटादिवत्तदर्थिनां तदुपादानं न स्यात्। उपादाने वा सिकतासमूहात्तैलवन्न कदाचित्ततस्तत्स्यात्। न च दृष्टसामर्थ्यस्याञ्जनादेः कारणत्वपरिहारेणान्यकारणत्वकल्पने भव[17]तोऽन[18]वस्था[19]तो मुक्तिः स्यात्। अथाञ्जनादिकमदृष्टसहकारि तत्कारणं न केवलम्; हन्तैवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्कारणत्वम्। ततः सन्देह एव-'किं ग्रासादिवत्प्रयत्नसधर्मणाकृष्टाः पश्वादयः किं वा स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा त[20]त्संयुक्तेन द्र[21]व्येण' इति। परिस्पन्दमानात्मप्रदेशव्यतिरेकेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि तद्विशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धेः साध्यविकलता दृष्टान्तस्य।

यच्चोक्तम्-'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति; तत्र देवदत्तशब्दवाच्यः कोऽर्थः-शरीरम्, आत्मा, तत्संयोगो वा, आत्मसंयोगविशिष्टं श[22]रीरं वा, शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा वा, शरीरसंयुक्त

१ गुणेन। २ अदृष्टलक्षणेन द्रव्यविशेषेण। ३ जैनेनापि। ४ गुणेन समाकृष्टा द्रव्येण वेति। ५ अञ्जनादिसधर्मद्रव्यविशेषाभावेपि। ६ तस्य=ग्रासाद्याकर्षणस्य। ७ तस्य=स्त्र्याद्याकर्षणस्य। ८ उपसर्पणकारणत्वात्। ९ अदृष्टलक्षणद्रव्यविशेषस्य। १० स्त्र्याद्याकर्षणे। ११ ग्रासाद्याकर्षणे। १२ द्रव्यस्य। १३ स्त्र्याद्याकर्षणेपि। १४ प्राणिनः। १५ अदृष्ट। १६ यत्नः। १७ वैशेषिकस्य। १८ दृष्टसामर्थ्यस्यान्यकारणस्य परिहारेणेत्यादिप्रकारेण। १९ कारणानां पूर्वपूर्वकारणपरित्यागेनाऽपरापरकारणपरिकल्पनात्। २० अदृष्ट। २१ आत्मना। २२ द्रव्यमिदम्।

आत्मप्रदेशो वा ? यदि शरीरम्; तर्हि शरीरं प्रत्युपसर्पणाच्छरीरगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वसाधनाद्विरुद्धो हेतुः ।

अथात्मा; तस्य समाकृष्यमाणार्थदेशकालाभ्यां संदाभिसम्बन्धान्न तं प्रति किञ्चिदुपसर्पेत् । न ह्यत्यन्ताश्लिष्टकण्ठकामिनी कामुकमुपसर्पति । अन्यदेशो ह्यर्थोऽन्यदेशं प्रत्युपसर्पति, यथा लक्ष्यदेशार्थं प्रति बाणादिः । अन्यकालं वा प्रत्यन्यकालः, यथाङ्कुरं प्रत्यपरापरशक्तिपरिणामलाभेन बीजादिः । न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते सम्भवति, अतो 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणं 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः 'तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्मः परस्य स्वरुचिविरचित एव स्यात् ।

अथ शरीरात्मसंयोगो देवदत्तशब्दवाच्यः; न; अस्य तच्छब्दवाच्यत्वे तं प्रति चैषामुपसर्पणे 'तद्गुणाकृष्टास्ते' इत्यायातम् । न च गुणेषु गुणाः सन्ति, निर्गुणत्वात्तेषाम् ।

'आत्मसंयोगविशिष्टं शरीरं तच्छब्दवाच्यम्' इत्यत्रापि पूर्ववद्विरुद्धत्वं द्रष्टव्यम् ।

'शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा तच्छब्दवाच्यः' इत्यत्रापि प्राक्तन एव दोषः नित्यव्यापित्वेनास्य सर्वत्र सर्वदा सन्निधानानिवारणात् । न खलु घटसंयुक्तमाकाशं मेर्वादौ न सन्निहितम् ।

अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशस्तच्छब्देनोच्यते; स काल्पनिकः, पारमार्थिको वा ? काल्पनिकत्वे काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयस्तथाभूतात्मप्रदेशं प्रत्युपसर्पणवत्त्वादिति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणकृतः प्रेत्यभावोपि न पारमार्थिकः स्यात् । न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयस्तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् ।

पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः; ते ततोऽभिन्नाः, भिन्ना वा ? यद्यभिन्नाः; तदात्मैव ते, इति नोक्तदोषपरिहारः । भिन्नाश्चेत्; तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्येतत्तेषामेवात्मत्वं प्रसाधयतीत्यन्यात्मकल्पनानर्थक्यम् । कल्पने वा सावयवत्वेन कार्यत्वमनित्यत्वं चास्य स्यादित्युक्तम् ।

---

१ नित्यसर्वगतत्वादात्मनः । २ देशकालकृतोपसर्पणम् । ३ वैशेषिकस्य । ४ इति चेदिति योज्यम् । ५ पश्वादीनाम् । ६ अग्निर्माणवक इत्यादौ । ७ आत्मनः समाकृष्यमाणार्थदेशकालाभ्यामित्यादिना । ८ तस्य=आत्मनः । ९ आत्मप्रदेशानाम् । १० घटवत् ।

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादाकाशवत्' इति; तत्र किं स्वशरीर एव सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुः, उत स्वशरीरवत्परशरीरेऽन्यत्र[1] च? तत्र प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेः। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्। न खलु बुद्ध्यादयस्तद्गुणाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते[2], अन्यथा प्रतिप्राणि सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्गः[3]।

अथ[4] मन्याखेटवत्खेटान्तरे[5] मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरे चोपलभ्यमानगुणत्वं विवक्षितम्; तत्किं युगपत्, क्रमेण वा? युगपच्चेत्; असिद्धो हेतुः[6]। क्रमेण चेत्; सर्वे सर्वगताः स्युः, घटादीनामपि तथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसम्भवात्। तेषां देशान्तरगमनाच्चत्सम्भवे आत्मनोपि ततस्तत्सम्भवोस्तु तद्वत्तस्यापि सक्रियत्वात्। प्रत्यक्षेण हि सर्वो देशाद्देशान्तरमायातमात्मानं प्रतिपद्यते, तथा च वदत्यहमद्य योजनमेकमागतः। मनः शरीरं वागतमिति चेत्; किं पुनस्तदहम्प्रत्ययवेद्यम्? तथा चेत्; चार्वाकमतानुषङ्गः।

ननु चास्य सक्रियत्वे लोष्टादिवन्मूर्त्तिभिः सम्बन्धः[7] स्यात्। तत्र केयं मूर्तिर्नाम–असर्वगतद्रव्यपरिमाणम्[8], रूपादिमत्त्वं वा स्यात्? तत्राद्यपक्षो न दोषावहः; अभीष्टत्वात्। न हीष्टमेव दोषाय जायते। रूपादिमती मूर्त्तिः स्यादिति चेत्; न; व्याप्त्यभावात्[9]। रूपादिमन्मूर्त्तिमानात्मा सक्रियत्वाद्घ्राणादिवत्; इत्यप्यसुन्दरम्; मनसाऽनैकान्तिकत्वात्[10]। न चास्य पक्षीकरणम्; 'रूपादिविशेषगुणानधिकरणं सन्मनोऽर्थं प्रकाशयति शरीरादर्थान्तरत्वे[11] सति सर्वत्र[12] ज्ञान[13]कारण[14]त्वादात्मवत्' इत्यनुमानविरोधानुषङ्गात्।

ननु सक्रियत्वे सत्यात्मनोऽनित्यत्वं स्याद्घटादिवत्; इत्यपि वार्त्तम्; परमाणुभिर्मनसा चानेकान्तात्।

किञ्च, अस्यातः कथञ्चिदनित्यत्वं साध्येत, सर्वथा वा? कथञ्चिच्चेत्; सिद्धसाधनम्। सर्वथा चानित्यत्वस्य घटादावप्यसिद्धत्वात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्य।

---

१ अन्तराले। २ परशरीरादौ। ३ आदिना दुःखित्वादिग्रहः। ४ द्वितीयपक्षे दूषणान्तरप्ररूपणार्थं परमाशङ्क्याह। ५ अयं शब्दो ग्रामभेदे। ६ तथा प्रतीतेरभावात्। ७ तत आत्मना मूर्तिमता भाव्यमिति भावः। ८ शरीरमसर्वगतद्रव्यमत्र। ९ यद्यत्सक्रियं तत्तद्रूपादिमन्मूर्तिमदिति। १० मनसः सक्रियत्वेपि रूपादिमन्मूर्तिमत्त्वाभावात्। ११ एवं निरूपणे घटेन व्यभिचारः। १२ इष्टानिष्टार्थेषु। १३ ज्ञानकारणत्वादित्युच्यमाने चक्षुषा व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं सर्वत्रेति विशेषणम्, तथापि शरीरेण व्यभिचारपरिहारार्थं शरीरादित्यादि। १४ कारणमत्र सहकारि।

किञ्च, आत्मनो निष्क्रियत्वे संसाराभावो भवेत्। संसारो हि शरीरस्य, मनसः, आत्मनो वा स्यात्? न तावच्छरीरस्य; मनुष्यलोके भस्मीभूतस्यामरपुराऽगमनात्।

नापि मनसः; निष्क्रियस्यास्यापि तद्विरहात्। सक्रियत्वेपि तत्क्रियायास्ततोऽभेदे तद्वत्तदनित्यत्वप्रसङ्गान्नास्य क्वचित्क्षणमात्रमव[1]स्थानं स्यात्। भेदे सम्बन्धासिद्धिः, [2]समवायनिषेधात्।

अचे[3]तनं च तदनिष्टनरकादिपरिहारेणेष्टे स्वर्गादौ कथं प्रवर्त्तेत- स्वभावतः, ईश्वरात्, [4]तदात्मनः, अदृष्टाद्वा? प्रथमपक्षे दत्तः [5]सर्वत्र ज्ञानाय जला[6]ञ्जलिः। अथेश्वरप्रेरणात्; न; तन्निषेधात्। [7]को वायमीश्वरस्याग्रहो यतस्तत्प्रेरयति, न तदात्मानम्? अस्य प्रेरणे चेद[8]मनु[9]गृहीतं [10]भवति—

"अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

[महाभा० वनपर्व० ३०।२८] इति।

'तदात्मप्रेरणात्' इत्यत्रापि ज्ञातम्, अज्ञातं वा [11]तत्तेन प्रेर्येत? न तावदाद्यो विकल्पः; जन्तुमात्रस्य [12]तत्परिज्ञानाभावात्। नापि द्वितीयः; अज्ञातस्य बाणादिवत्प्रेरणासम्भवात्। [13]ननु स्वप्ने स्वहस्तादयोऽज्ञाता एव [14]प्रेर्यन्ते; न; अहितपरिहारेण हिते प्रेरणा(ऽ)सम्भवात्, ज्वलज्ज्वलनज्वालाजालेपि तत्प्रेरणोपलम्भात्।

[15]अदृष्ट[16]प्रेरणात्; इत्यप्यसारम्; अचेतनस्यापि(स्यास्यापि) तत्प्रेरकत्वायोगात्। तत्प्रेरितस्यात्मन [17]एव वरं [18]प्रवृत्तिरस्तु चेतनत्वात्तस्य। [19]दृश्यते हि वशीकरणौषधसंयुक्तस्य चेतनस्यानिष्टगृहगमनपरिहारेण विशिष्टगृहगमनम्। तन्न मनसोपि संसारः।

---

१ पर्यायापेक्षया। २ क्रियामनसोः समवायेन सम्बन्धो भविष्यतीत्युक्ते सत्याहाचार्यः। ३ परमतेऽचेतनं मनः। ४ मनःसम्बन्धिजीवात्। ५ इष्टानिष्टवस्तुषु। ६ ज्ञानाभावेप्यचेतनस्य मनस इष्टानिष्टवस्तुषु प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्। ७ मन एव प्रेरयति नात्मानमयमेवाग्रह इत्याशङ्क्याह। ८ अग्रे वक्ष्यमाणं भवच्छास्त्रोक्तम्। ९ भवता स्वीकृतम्। १० मनसः प्रेरणे चेदमनुगृहीतं न भवतीति भावः। ११ तदात्मना। १२ अणुरूपमचेतनमतीन्द्रियं मनस्तस्य। १३ अनैकान्तिकत्वं भावयति। १४ 'इति चेत्' इत्युपरितः। १५ तुर्यो विकल्पः। १६ मन एव। १७ न मनसः। १८ अनिष्टनरकादिपरिहारेणेष्टस्वर्गादौ। १९ चेतनत्वादात्मनः प्रवृत्तिरसिद्धेत्युक्ते सत्याहाचार्यः।

आत्मनस्तु स्यात् यद्येकदेहपरित्यागेन देहान्तरमसौ व्रजेत्, तथा च घटादिवत्तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमित्युभयोः सर्वगतत्वं न वा कस्यचिद्विशेषात्।

यच्चाकाशवदित्युक्तम्; तत्राकाशस्य को गुणः सर्वत्रोपलभ्यते-शब्दः, महत्त्वं वा? न तावच्छब्दः; अस्याकाशगुणत्वनिषेधात्। नापि महत्त्वम्; अस्यातीन्द्रियत्वेनोपलम्भासम्भवात्।

एतेन 'बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यं विभु नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वादाकाशवत्' इत्यपि प्रत्युक्तम्; साधनविकलत्वाद्दृष्टान्तस्य। हेतोश्चानैकान्तिकत्वम्, परमाणूनां नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानपाकजगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात्। तत्पाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे हि 'विवादाध्यासितं क्षित्यादिकमुपलब्धिमत्कारणं कार्यत्वाद्घटादिवत्' इत्यत्र प्रयोगे व्याप्तिर्न स्यात्। अथ 'नित्यत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियोपलभ्यमानगुणत्वात्' इत्युच्यते; तर्हि बाह्येन्द्रियोपलभ्यमानत्वस्य बुद्धावसिद्धेर्विशेषणासिद्धो हेतुः।

नित्यत्वं च सर्वथा, कथञ्चिद्वा विवक्षितम्? सर्वथा चेत्; पुनरपि विशेषणासिद्धत्वम्। कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्तः, तस्य कथञ्चिन्नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात्।

यदप्युक्तम्-सर्वगत आत्मा द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्। 'द्रव्यात्' (द्रव्यत्वात्) इत्युच्यमाने हि घटादिना व्यभिचारः, तत्परिहारार्थम् 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युक्तम्। 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युच्यमाने च रूपादिगुणेन गमनादिकर्मणा वानेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं 'द्रव्यत्वे सति' इत्युक्तम्।

---

१ घटपक्षे देशान्तरपरित्यागेन देशान्तरमसौ व्रजेत्। २ लोकत्रये। ३ आत्मघटयोः। ४ आत्मनोपीत्यर्थः। ५ उभयोर्गमनस्य। ६ अतः साधनविकलो दृष्टान्तः। ७ सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादित्यस्य निराकरणपरेण ग्रन्थेन। ८ परमाणुभिर्व्यभिचारपरिहारार्थम्। ९ घटादिना व्यभिचारनिराकरणार्थम्। १० परेणाङ्गीक्रियमाणे। ११ ईश्वरस्य। १२ तत्पाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे यद्यत्कार्यं तत्तद्धीमद्धेतुकमिति मानसप्रत्यक्षेण साकल्येन व्याप्तिग्रहणं न स्यादिति भावः। कार्याप्रत्यक्षत्वे कार्यकारणयोर्व्याप्त्यसम्भवात्। १३ गुणरूपायाम्। १४ द्रव्यापेक्षया। १५ असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य रूपादिष्वभावाद्रूपादीनाममूर्तत्वम्, रूपादीनां तत्परिमाणाभावः कुतः? निर्गुणा गुणा इत्यभिधानात्।

तदप्यसमीचीनम्; यतोऽमूर्त्तत्वं मूर्त्तत्वाभावः, तत्र किमिदं मूर्त्तत्वं नाम यत्प्रतिषेधोऽमूर्त्तत्वं स्यात्? रूपादिमत्त्वम्, असर्वगतद्रव्यपरिमाणं वा? प्रथमपक्षे मनसानेकान्तः; तस्य द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वेपि सर्वगतत्वाभावात्। द्वितीयपक्षे तु किमसर्वगतद्रव्यं भव[1]तां प्रसिद्धं यत्परिमाणं मूर्त्तिर्वर्ण्यते? घटादिकमिति चेत्; कुतस्तत्तथा? [2]तथोपलम्भाच्चेत्; किं पुनरसौ भवतः प्रमाणम्? तथा चेत्; तद्वदात्मनोपि स एवासर्वगतत्वं प्रसाधयतीति मूर्त्तत्वम्, अतः 'अमूर्त्तत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। तदसाधने न [3]प्रमाणम्–"[4]लक्षणयु[5]क्ते बाधास[6]म्भवे [7]तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्रमाणवार्तिकालं०] इति न्यायात्। [8]तथा चातो घटादावप्यसर्वगतत्वमतिदुर्लभम्। शक्यं हि वक्तुम्–'घटादयः सर्वगता द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्' इति। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्चासिद्धिः उभयत्र समाना।

ननु चात्मनः सर्वगतत्वात्तत्रास्त्यमूर्त्तत्वमसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धाभावलक्षणं न घटादौ विपर्ययात्। ननु चास्य कुतः सर्वगतत्वं सिद्धम्–साधनान्तरात्, अत एव वा? साधनान्तराच्चेत्; तदेव (तत एव) समीहितसिद्धेः 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्' इत्यस्य वैयर्थ्यम्। अत एव चेदन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि तस्य सर्वगतत्वेऽसर्वगतद्रव्या(व्य)परिमाणसम्बन्धरूपमूर्त्तत्वाभावोऽमूर्त्तत्वं सिध्यति, अतश्च तत्सर्वगतत्वमिति।

किञ्च 'अमूर्त्तत्वात्' इति किमयं प्रसज्यप्रतिषेधो मूर्त्तत्वाभावमात्रममूर्त्तत्वम्, पर्युदासो वा मूर्त्तत्वादन्यद्भावान्त[11]रमिति? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तुच्छाभावस्य [12]प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषेधात्। सतोपि चास्य ग्रहणोपायाभावादज्ञातासिद्धो हेतुः। न हि प्रत्यक्षस्तद्ग्रहणोपायः; तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्, तुच्छाभावेन सह मनसोऽन्यस्य चेन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात्।

[13]ननु मन आत्मना सम्बद्धमात्मविशेषणं च [14]तदभावः, ततः सम्बद्धविशेषणीभा[15]वस्तेन मनस इति। युक्त[16]मिदं यद्यसावात्मनो विशे[17]षणं भवेत्। न चास्यैतदुपपन्नम्। विशेष्ये हि विशिष्टप्रत्यय-

१ वैशेषिकाणाम्। २ असर्वगतत्वेन। ३ उपलम्भः। ४ असर्वगतद्रव्यपरिमाणोपलम्भः प्रमाणस्य लक्षणम्। ५ प्रमाणे। ६ प्रमाणस्यात्मन्यसर्वगतत्वासाधनलक्षणे बाधासम्भवे। ७ तस्य=प्रमाणस्य। ८ आत्मन्यसर्वगतत्वोपलम्भस्याप्रमाणत्वे च। ९ आत्मनि घटादौ च। १० असर्वगतत्वात्। ११ अमूर्त्तत्वम्। १२ अभावनिराकरणावसरे। १३ तुच्छाभावेन सह मनसः सन्निकर्षं दर्शयति परः। १४ अमूर्त्तत्वाभावः। १५ सम्बन्धः। १६ परेणोक्तं यत्। १७ मूर्त्तत्वाभावलक्षणं विशेषणम्।

हेतुर्विशेषणं यथा दण्डः पुरुषे[1]। न च तुच्छाभावस्तत्प्रत्ययहेतुर्घटते; सकलशक्तिविरहलक्षणत्वादस्य, अन्यथा भाव एव स्यादर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात् परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्। सत्तासम्बन्धस्य तल्लक्षणस्य कृतोत्तरत्वात्।

किञ्च, गृहीतं[2] विशेषणं भवति, "नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात्। ग्रहणे चेतरेतराश्रयः। तथाहि-आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेण[3]ासौ[4] गृहीतः सिद्धः सन्नात्मनो विशेषणं सिध्यति, तत आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेण ग्रहणमिति। यदि चात्मा स्वयमसर्वगतद्रव्य[5]परिमाणसम्बन्धविकलः सिद्धस्तर्हि तावतैव समीहितार्थसिद्धेः किमपरेण तदभावेनेति कथं विशेषणम्? अथ विपरीतः[6]; कथं तदभावो यतो विशेषणम्?

किञ्च, आत्मतदभावाभ्यां सह विशेषणीभावः सम्बद्धः, असम्बद्धो वा? सम्बद्धश्चेत्; तर्हि यथात्मनि विशिष्ट[7]विज्ञानविधानादात्मनस्तदभावो[8] विशेषणम्, तथा विशेषणीभावोऽपि 'आत्मा विशेष्यस्तदभावो विशेषणम्' इति विशिष्टप्रत्ययजननात् विशेषणं समवाय[9]वत्प्रसक्तम्, तथा[10] च तत्राप्यपरेण तत्सम्बन्धेन भवितव्यमित्यनवस्था। अथासम्बद्धः; कथं विशेषणविशेष्याभिमतयोः स भवेत् यतस्तत्र विशिष्टप्रत्ययप्रादुर्भावः सम्बन्धो[11] वा? विशिष्टप्रत्ययहेतुत्वाच्चेत्; ईश्वरादौ[12] प्रसङ्गः[13]। तथापि[14] स 'तयोः' इति कल्पने भावस्याभावः समवायिनोऽस(नोः स)मवायस्तथैव स्यादित्यलं तत्र विशेषणीभावसम्बन्धकल्पनया। तन्न प्रत्यक्षं तद्ग्रहणोपायः।

नाप्यनुमानम्; परस्य प्रत्यक्षाभावे तदभावात्, तन्मूलत्वात्तस्य। नन्विदमस्ति-आत्माऽमूर्त्त इति बुद्धिर्भिन्नाभावनिमित्ता[15], अभावविशेषणभावविषयबुद्धित्वात्[16], अघटं भूतलमित्यादिबुद्धिवत्; इत्यप्यसारम्; तथाविधा[17]भावस्य विशेषणत्वासिद्धिप्रतिपादनात्। अभावविचारे चानयोर्हेतूदाहरणयोः प्रतिहतत्वान्न साध्यसाधकत्वम्।

---

१ दण्डीति विशिष्टप्रत्ययहेतुः। २ ज्ञातम्। ३ मनसा। ४ मूर्त्तत्वाभावः। ५ असर्वगतद्रव्यं=शरीरम्। ६ असर्वगतद्रव्यपरिमाणसंबन्धरहितः। ७ आत्मा अमूर्त इति। ८ मूर्तत्वाभावः। ९ गुणगुणिनोः समवाय इति। १० विशेषणीभावस्य विशेषणत्वे च। ११ स्वयं संबन्धरूपोपि नैव। १२ ईश्वरकालाकाशादयोपि विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तौ निमित्तकारणकास्तेषामपि विशेषणीभावः सम्बन्धो भवतीति शेषः। १३ संबन्धस्य। १४ सम्बन्धाभावेपि। १५ अभावो विशेषणमस्य, स चासौ भावश्च स विषयो यस्यास्तस्या भाव इति वाक्यम्। १६ द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादित्येतन्निरासेन। १७ तुच्छरूपस्य।

पर्युदासपक्षेप्यसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धभावान्मूर्त्तत्वादन्यदमूर्त्तत्वं सर्वगतद्रव्यपरिमाणेन परममहत्त्वेन सम्बन्धा(न्ध)भावः, स च न कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्ध इति हेतोरसिद्धिः।

यच्चान्यदुक्तम्-आत्मा व्यापको मनोन्यत्वे सत्यस्पर्शवद्द्रव्यत्वादाकाशवदिति; तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; स्पर्शवद्द्रव्यप्रतिषेधेऽत्रापि प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। सन्दिग्धानैकान्तिकश्चायं हेतुः; तथाहि-अस्पर्शवद्द्रव्यत्वमाकाशादौ व्यापित्वे सत्युपलब्धं मनसि चाऽव्यापित्वे, तदिदानीमात्मन्युपलभ्यमानं किं 'व्यापित्वं प्रसाधयत्वव्यापित्वं वा' इति सन्देहः। ननु मनोद्रव्यत्व(मनोऽन्यत्व)विशिष्टस्यास्पर्शवद्द्रव्यत्वस्य मनस्यनुपलम्भात्कथं सन्देहोऽत्रेति चेत्? अत एव। यदि हि तद्विशिष्टं तत्त्रोपलभ्येत तदा निश्चितानैकान्तिकत्वमेवास्य स्यान्न तु सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमिति। तन्नात्मनः कुतश्चित्प्रमाणात्सर्वगतत्वसिद्धिरित्यसर्वगत एवासौ यथाप्रतीत्यभ्युपगन्तव्यः।

ननु चात्मनोऽसर्वगतत्वे दिग्देशान्तरवर्त्तिभिः परमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावोऽतश्चाद्यकर्माभावः, तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदात्मनो मोक्षः स्यात्; स्यादेवं यदि 'यद्येन संयुक्तं तं प्रति तदेवोपसर्पति' इत्ययं नियमः स्यात्। न चास्ति-अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्युपसर्पणोपलम्भात्।

यस्य चात्मा सर्वगतः तस्यारब्धकार्यैरन्यैश्च परमाणुभिर्युगपत्संयोगात्तथैव तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमभिमुखीभूतानां तेषामुपसर्पणमिति न जाने कियत्परिमाणं तच्छरीरं स्यात्।

ननु ये तत्संयोगास्तदऽदृष्टापेक्षास्त एव स्वसंयोगिनां परमाणूनामाद्यं कर्म रचयन्तीति चेत्; अथ केयं तददृष्टापेक्षा नाम-एकार्थसमवायः, उपकारो वा, सहाद्यकर्मजननं वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सर्वपरमाणुसंयोगानां तददृष्टैकार्थसमवायसद्भा-

१ अस्पर्शवद्द्रव्यत्वादित्यत्र नञ् पर्युदासः, प्रसज्यो वेत्यादि। २ विपक्षे बाधकं प्रमाणं चेदस्ति तदा सन्देहो निवर्त्ततेऽनुपलम्भमात्रेण तु परचेतोवृत्तिविशेषवत् सन्देहो भवेदेवेति भावः। ३ शरीरारम्भकाणूनां शरीरोत्पत्तिदेशं प्रति गमनमाद्यं कर्म। ४ शरीरनिष्पत्त्यवसानकालभावस्य। ५ शरीरारम्भकाणूनां शरीरोत्पत्तिदेशं प्रति गमनम्। ६ अत एव महच्छरीरं न स्यात्। ७ परमाणुसंयोगानाम्। ८ एकस्मिन्नात्मलक्षणेऽर्थे समवायोऽदृष्टस्य। ९ तस्यात्मनोऽदृष्टं तेन सहैकस्मिन्नर्थे आत्मलक्षणे समवायस्य सद्भावात्।

वात्[1]। उपकारः; इत्यप्ययुक्तम्; अपेक्ष्यादपेक्षकस्यासम्बन्धान[2]वस्थानुषङ्गेणोपकारस्यैवासम्भवात्। सहायकर्मजननम्; इत्यप्यसत्; तयोरन्यतरस्यापि केवलस्य तज्जननसामर्थ्ये [3]परापेक्षायोगात्[4]। यदि पुनः स्व[5]हेतोरेवादृष्टसंयोग[6]योः सहितयोरेव कार्य[8]जननसामर्थ्यमिष्यते; तर्हि तत एवादृष्टस्यैव तत्संयोगनिरपेक्षस्य तत्सामर्थ्यमस्तु। दृश्यते हि हस्ताश्रयेणायस्कान्तादिना स्वाश्रया[10]संयुक्तस्य भूभागस्थितस्य लोहादेराकर्षणमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यदप्युक्तम्–सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा च घटादिवत्स[11]मानजातीयावयवारभ्यत्वम्[12], समानजातीयत्वं चावयवानामात्मत्वाभिसम्बन्धादित्येकत्रात्मन्यनन्तात्मसिद्धिः, यथा चावयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्घटविनाशः तथात्मविनाशोपि स्यात्; इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; सावयवत्वेन भिन्नावयवारब्धत्वस्य घटादावप्यसद्धेः। न खलु घटादिः सावयवोपि प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वको दृष्टः, मृत्पिण्डात्[13] प्रथममेव स्वावयवरूपाद्यात्मनोस्य प्रादुर्भावप्रतीतेः। न चैकत्र पटादौ स्वावयवतन्तुसंयोगपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र[14] तद्भावो[15] युक्तः, अन्यथा काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रेपि तथाभावः स्यात्। प्रमाणबाधनमुभयत्र[16] समानम्।

किञ्च, अस्य तथा[17]भूतावयवारब्धत्वम्–आदौ, मध्यावस्थायां वा साध्येत? न तावदादौ[18]; स्तनादौ प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्, तद्धेत्वभिलाषप्रत्यभिज्ञानस्मरणदर्शनादे[19]रभावात्। त[20]दारम्भकावयवानां प्राक् सतां विषयदर्शनादिसम्भवे तेषामेवाहर्जातवेलायां सत्त्वान्तराणामिव प्रवृत्तिः स्यात्। मध्यावस्थायां तु तत्साधने प्रत्यक्ष-

---

१ व्यापित्वादात्मनः। २ अपेक्ष्येणादृष्टेनापेक्षकस्याणुसंयोगस्य क्रियमाण उपकारस्तस्मादभिन्नो भिन्नो वा स्यात्? अभेदे सोपि तज्जन्यः स्यात्। भेदे संबन्धासिद्धिः। अथापकारमुपकारं कृत्वा तत्सम्बन्धीत्यादिपरिकल्पने चानवस्था। अयं संयोगस्योपकार इति न घटते अन्यथातिप्रसङ्गः। यथा संयोगस्य तथान्यस्यापि। तथा चात्मपरमाणुसंयोगस्य नित्यत्वव्याघातः स्यात्। ३ अदृष्टाणुसंयोगयोर्मध्येऽदृष्टस्य परमाणुसंयोगस्य वा। ४ अविशेषतः सर्वत्र तज्जननस्यापि प्रसङ्गात्। ५ आत्मनः। ६ अदृष्टात्माणुसंयोगयोः। ७ परेण। ८ ततश्चाणुसंयोगपरिकल्पनेन किम्। ९ वसः। १० ततश्च स्वाश्रयासंयुक्तमेव परमाण्वादिकमाकृष्यते आत्मना। ततश्च सर्वगतत्वपरिकल्पनेनालमात्मनः। ११ आत्मत्वेन। १२ आत्मनः। १३ उपादानकारणात्। १४ आत्मादिषु। १५ स्वावयवसंयोगपूर्वकत्वम्। १६ वज्रे आत्मनि च। १७ समानजातीयभिन्नावयव। १८ गर्भावस्थायाम्। १९ संस्कारस्य। २० तस्य आत्मनः।

विरोध[१]ः। अन्त्यावस्थायां चास्यात्यन्तविनाशे स्मरणाद्यभावात्स्तनादौ प्रवृत्त्यभाव एव स्यात्। न चेयं विनाशोत्पादप्रक्रि[२]या क्वचिद् दृश्यते। न खलु कटकस्य केयूरीभावे कु[३]तश्चि[४]द्भागेषु क्रिया विभागः संयोगविनाशो द्रव्यविनाशः पुनस्तदवयवाः केवलास्तदनन्तरं तेषु क[५]र्मसंयोगक्रमेण केयूरीभा[६]व इति, केवलं सुवर्णकारका(कारकरा)दिव्यापारे कटकस्य केयूरीभावं पश्या[७]मः। अन्यथा कल्पने च प्रत्यक्षविरोधः।

न च सावयवशरीरव्यापित्वे सत्यात्मनस्तच्छेदे छेदप्रसङ्गो दोषाय; क[८]थञ्चित्तच्छेदस्येष्टत्वा[९]त्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि तत्प्रदेशानां छिन्नशरीरप्रदेशेऽवस्थानमात्मनश्छेदः, स चात्रा[१०]स्त्येव, अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च छिन्नावयप्रतिष्ठस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वानुषङ्गः; त[११]त्रैवानुप्रवेशात्। कथमन्यथा छिन्ने हस्तादौ कम्पादि[१२]तल्लिङ्गोपलम्भाभावः स्यात्?

ननु कथं छिन्ना[१३]च्छिन्नयोः संघटनं पश्चात्? न; एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवदविच्छेदस्याप्यभ्युपगमात्। त[१४]थाभूतादृष्टवशाच्च तदविरुद्धमेव। ततो यद्यथा निर्बाधबोधे प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारमवतरति यथा स्वारम्भकतन्तुषु प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमानः पटः, शरीरे एव प्रतिनियतदेशकालाकारतया निर्बाधबोधे प्रतिभासते चात्मेति। न चायमसिद्धो हे[१५]तुः; शरीराद्बहिस्तत्प्रतिभासाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। उक्तप्रकारेण चानवद्यस्य बाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवान्न विशेषणासिद्धत्वमिति। तन्न परेषां यथाभ्युपगतस्वभावमात्मद्रव्यमपि घटते।

नापि मनोद्रव्यम्; तस्य प्रागेव स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे निराकृतत्वात्। ततः पृथिव्यादेर्द्रव्यस्य य[१६]थोपवर्णितस्वरूपस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेः 'पृथिव्यादीनि द्रव्याणीतरेभ्यो भिद्यन्ते द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्' इत्यादिहेतूपन्यासोऽविचारितरमणीयः, तत्स्वरूपासिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वात्। स्वरूपासिद्धत्वाच्च; द्रव्यत्वाभिस-

---

१ समानजातीयभिन्नावयवारभ्यत्वं प्रत्यक्षेण न ज्ञायते यतः। २ अग्रे वक्ष्यमाणा। ३ कारणात्। ४ अवयवेषु। ५ क्रिया। ६ केयूरोत्पादः। ७ वयं जैनाः। ८ अवयवापेक्षया। ९ जैनस्य। १० आत्मनि। ११ आत्मन्येव। १२ तस्य= आत्मनः। १३ प्रदेशयोः। १४ सङ्घटनकारिकर्मवशात्। १५ शरीरे एव प्रतिनियतदेशकालाकारतया निर्बाधबोधे प्रतिभासमानत्वादिति। १६ वैशेषिकद्वारा।

स्वन्धो हि समवायलक्षणो भवता[1]भ्युपगम्यते, न चासौ प्रमाणतः प्रसिद्ध इति। विशेषणासिद्धत्वं च; द्रव्यत्वसामान्यस्य यथाभ्युपगत[2]स्वभावस्यासम्भवात्। तन्न परपरिकल्पितो द्रव्यपदार्थो घटते।

नापि गुणपदार्थः। स हि चतुर्विंशतिप्रकारः परैरिष्टः। तथाहि—"रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च तु गुणाः" [वैशे० सू० १।१।६] इति सूत्रसङ्गृहीताः सप्तदश, च[3]शब्दसमुच्चिताः गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाश्च सप्तेति । तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति । रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः। गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः।

संख्या त्वेकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादि[4]लक्षणा, एकद्रव्या चानेकद्रव्या च। तत्रैकसंख्या एकद्रव्या । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या। सा च[6] प्रत्यक्षत[7] एव सिद्धा, विशेषबुद्धे[5]श्च निमित्तान्तरापेक्षत्वादनुमानतोपि।

परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम्, महदणु दीर्घं ह्रस्वमिति चतुर्विधम्। तत्र महद्द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम्। अनित्यं त्र्यणुकादिद्रव्येषु । अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम् । परमाणुमनस्सु पारि[8]माण्डल्यलक्षणं नित्यम्। अनित्यं द्व्यणुके एव। ब[9]दरामलकबिल्वादिषु तु महत्स्वपि तत्[10]प्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तो[11]ऽणुव्यवहारः।

ननु महद्दीर्घत्वयोस्त्र्यणुकादिषु प्रवर्त्त[12]मानयोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेषः? 'महत्सु[13] दीर्घ[14]मानीयतां दीर्घेषु महदानीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्त्यनयोः परस्परतो भेदः। अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष एव । महदादि[15]

१ वैशेषिकेण। २ नित्यनिरंशत्वेन। ३ च इति कपुस्तके नास्ति। ख, ग, घपुस्तकेभ्यः संयोजितः। ४ एव। ५ विशेषः=भेदः। ६ एकादिप्रत्यया विशेष[ण]ग्रहणापेक्षा विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादिप्रत्ययवदिति। ७ तत्रैकत्वसंख्या नित्यद्रव्येषु नित्या कार्यद्रव्येष्वनित्या। द्वित्वादिसंख्या तु परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजन्या सर्वत्रानित्या। ८ वर्तुलाकारमित्यर्थः। ९ नन्वणु द्व्यणुके एव यदि वर्त्तते तर्हि बदरामलकादिष्वणुपरिमाणव्यवहारः कथमित्याशङ्कायामाह। १० तस्य=अतिशयस्य। ११ उपचरितः। १२ परिमाणयोः। १३ वस्तुषु। १४ वस्तु। १५ महदादिपरिमाणस्य रूपादिभ्योऽभेदो भविष्यतीत्युक्ते सत्याह।

च परिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत् ।

संयुक्तमपि[1] द्रव्यं यद्वशात् 'अत्रेदं पृथक्' इत्यपोद्ध्रियते[2] तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वं घटादिभ्योऽर्थान्तरं[3] तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखादिवत् ।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः । प्राप्तिपूर्विका चाप्राप्तिर्विभागः । तौ च द्रव्येषु यथाक्रमं संयुक्तविभक्तप्रत्ययहेतू[4] ।

'इदं परमिदमपरम्' इति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतस्तद्यथाक्रमं परत्वम[5]परत्वं[6] च । बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताश्च गुणाः सुप्रसिद्धा एव[7] ।

गुरुत्वं[8] च पृथिव्युदकवृत्ति पतनक्रियानिबन्धनम् । द्रवत्वं तु पृथिव्युदकज्वलनवृत्तिः स्प(स्य)न्दनहेतुः[9] । पृथिव्यनलयो[10]र्नैमित्तिकम्[11] । अपां सांसिद्धिकम्[12] । स्नेहस्त्वम्भस्येव स्निग्धप्रत्ययहेतुः ।

संस्कारस्तु त्रिविधो वेगो भावना स्थितस्थापकश्चेति । तत्र वेगाख्यः पृथिव्यप्तेजोवायुमनस्सु मूर्त्त[13]द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते । नियतदिक्क्रियाप्रतिब(प्रब)न्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी[14][15] च । भावनाख्यः पुनरात्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च, दृष्टानुभूतश्रुतेष्वप्यर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञाकार्योन्नीयमानसद्भावः । मूर्त्तिमद्द्रव्यगुणः स्थितस्थापकः, घनावयवसन्निवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थितमपि प्रयत्नतः पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति कृत्वा, दृश्यते च तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थानं संस्कारवशात् । एवं धनुःशाखाशृङ्गदन्तादिषु भग्ना[16]पवर्तितेषु वस्त्रादौ चास्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यत एव । धर्मादयस्तु[17] सुप्रसिद्धा एवेति ।

---

१ विभागात्पृथक्त्वस्य भेदाभावात्पृथक्त्वप्रतिपादनं किमर्थमित्युक्ते सत्याह । २ पृथक् क्रियते । ३ अस्तु विभागात्पृथक्त्वस्य भेदस्तथापि घटादिभ्योऽभेदो भविष्यतीत्युक्ते वक्ति । ४ अनित्यावेव । ५ अनित्यमेव । ६ अनित्यमेव । ७ अनित्या एव । ८ तच्च पार्थिवाप्याणुषु नित्यं द्व्यणुकादिष्वनित्यम् । ९ लाक्षालोहादिषु । १० सर्पिःसुवर्णयोः । ११ अनित्यमित्यर्थः । १२ नित्यमित्यर्थः । आप्याणुषु नित्यमाप्यद्व्यणुकादिषु त्वनित्यम् । १३ असर्वगतद्रव्यपरिमाणवत्स्वित्यर्थः । १४ कर्मधारयः । १५ वृक्षादिकेन स्पर्शवता द्रव्येण सह वेगाख्यस्य बाणादेः संयोगे सति वेगाख्यः संस्कारः स्वयं विनश्यतीत्यर्थः । १६ आकृष्टमुक्तेषु । १७ स त्रिविधोऽप्ययं संस्कारो अनित्य एव, धर्माधर्मावात्मविशेषगुणावनित्यावेव, शब्दस्त्वाकाशविशेषगुणोऽनित्य एव ।

तदेतत्स्वगृहमान्यं परेषाम्; रूपादिगुणानां यथोपवर्णितस्वरूपेणावस्थानासम्भवात् । न खलु रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्त्येव, वायोरपि तद्वत्तासम्भवात् । तथाहि–रूपादिमान्वायुः पौद्गलिकत्वात् स्पर्शवत्त्वाद्वा पृथिव्यादिवत् । एवं जलानलयोरपि गन्धरसादिमत्ता प्रतिपत्तव्या । रूपरसगन्धस्पर्शमन्तो हि पुद्गलास्तत्कथं तद्विकाराणां[1] प्रतिनियमः[2]? रूपाद्याविर्भावतिरोभावमात्रं[3] तु तत्राविरुद्धम्, जलकनका[4]दिसंप्रयुक्तानले[5] भासुररूपोष्णस्पर्शयोस्तिरोभावाविर्भाववत् ।

संख्यापि संख्येयार्थव्यतिरेकेणोपलब्धिलक्षणप्राप्ता नोपलभ्यते इत्यसती खरविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम्; तस्या द्रव्यत्वेनेष्टेः[6] । तथा च सूत्रम्–"संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इति ।

'एकादिप्रत्यया विशेष[ण]ग्रहणापेक्षा विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादि[7]प्रत्ययवत्' इत्यनुमानतोपि न संख्यासिद्धिः; यतो यथा 'एको गुणोपि(णः) बहवो गुणाः' इत्यादौ संख्या[8]मन्तरेणाप्येकादिबुद्धिस्तथा घटादिष्वप्य[9]सहायादिस्वभावेष्वेकादिबुद्धिर्भविष्यतीत्यलमर्थान्तरभूतयैकादिसंख्यया । न च गुणेषु संख्या सम्भवति; अद्रव्यत्वात्तेषां तस्याश्च गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । न च गुणेषूपचरितमेकत्वादिज्ञानम्, अस्खलद्[10]वृत्तित्वात् । यदि चाश्रयगता संख्यैकार्थसमवायाद्गुणेषूपचर्येत; तर्हि 'एकस्मिन्द्रव्ये रूपादयो बहवो गुणाः' इति प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, तदाश्रयद्रव्ये बहुत्वसंख्याया अभावात्[11] । 'षट् पदार्थाः' इत्यादिव्यपदेशे च किं निमित्तमित्यभिधातव्यम्? न ह्यत्रैकार्थसमवायिनी[12] संख्या सम्भवति; तया सह षट्पदार्थानां कैश्चित्[13]समवायाभावात् । अस्तु वा संख्या, तथाप्यस्याः कथं गुणत्वसिद्धिः सत्त्वादिवत् षट्स्वपि पदार्थेषु प्रवृत्तेः?

---

१ पृथिव्यादीनाम् । २ पृथिव्यामेव गन्ध इत्यादिः । ३ तर्हि सर्वत्र तेषामाविर्भावः कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह । ४ उष्ण । ५ अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णमित्यागमतः प्रसिद्धतैजसत्वं कनकादीनां ततः कथमुक्तं कनकादिसंयुक्तानल इत्यारेकायामाह कनकेपि पृथिव्यंशोस्तीति । ६ परस्य । ७ अत्र दण्डपुरुषयोः संयोगो विशेषः । ८ निर्गुणा [गुणा] इति वचनात् । ९ संख्यारहितेष्वित्यर्थः । १० अबाधित । ११ आश्रयगतद्रव्यस्यैकत्वात् । १२ केवलद्रव्यसमवेता । १३ द्रव्यलक्षणेऽर्थे ।

ननु यदि संख्या गुणो न स्यात्तर्ह्यनित्यत्वमसमवायिकारणत्वं[1] चास्या न स्यात्। अस्ति च तदुभयम्। तथा चोक्तम्-"एकादिव्यवहारहेतुः संख्याः। सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च। तत्रैकद्रव्यायाः सलि[2]लादिपरमाणुरूपादी[3]नामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः। सलि[4]लादयश्चादिपरमाण[5]वश्चेति विग्रहः। अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता। तस्याः खल्वेकत्वेभ्यो[6]ऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः, अपेक्षा[7]बुद्धिनाशाच्च विनाशः क्वचिदाश्रय[8]विनाशादुभ[9]यविनाशाच्चेति चार्थः। असमवायिकारणत्वं च द्वित्वबहुत्वसंख्यायाः द्व्यणुकादि[10]परिमाणं प्रति[11]" [प्रश० भा० पृ० १११-११३] इति; एतदपि मनोरथमात्रम्; भेदवदस्याः कारणत्वा[12]भावात्। यथैव हि कार्यभिन्नतायां कारणभिन्नताया असमवायिकारणत्वं भवता नेष्यते तथैकत्वस्यापि तन्नेष्टव्यं[13] तस्याऽभेदपर्यायत्वात्। अभेद[14]भेदौ[15] च स्वात्मपरात्मापेक्षौ रूपादि[16]ष्वपि[17] भवतः[18]। यथा चैकमभिन्नमिति पर्यायस्तथानेकं भिन्नमित्यपि। तथा च द्वित्वादिरप्यनेकत्वपर्यायः, तस्योत्पत्त्यादि[19]कल्पना न कार्या[20]।

नन्वेवं[21] सर्वत्र[22] 'द्वे त्रीणि' इत्यादिप्रतिभासप्रसङ्गात्[23] प्रतिभासप्रवि-

---

१ उत्तरसंख्योत्पत्तौ प्राक्तनसंख्याऽसमवायिकारणं, द्रव्यं समवायिकारणमपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणमिति। २ आदिशब्दोत्र लुप्तो द्रष्टव्यः। ३ सलिलादि(कार्यलक्षण) रूपादीनामनित्यत्वनिष्पत्तिर्यथा तथाऽनित्यैकद्रव्यगताया एकसंख्याया नित्यत्वनिष्पत्तिः, यथा च जलादिपरमाणुरूपादीनां (कारणरूपाणाम्) तथा नित्यैकद्रव्यगताया एकसंख्याया नित्यत्वमिति भावः। ४ कार्यरूपाः। ५ कारणरूपपरमाणवः। ६ द्वित्वादिसंख्यां प्रत्यपेक्षाबुद्धेः कारणत्वमेकत्वसंख्यायास्त्वसमवायिकारणत्वमिति भावः। ७ इमौ द्वावमी बहवः। ८ संख्येय आश्रयः। ९ संख्येयस्य च। १० संख्याम्। ११ उत्तरगुणं प्रति प्राक्तनगुणस्यासमवायिकारणत्वाभ्युपगमात्। १२ द्वित्वादिसंख्यां प्रति। १३ द्वित्वादिसंख्यां प्रति। १४ अभेदपर्यायत्वेप्यसमवायिकारणत्वं कुतो न भवतीत्युक्ते सत्याह। १५ एकनानात्वम्। १६ रूपस्य स्वरूपापेक्षयाऽभेदः, परापेक्षया भेदः, एवं रसादिषु वाच्यम्। १७ अभेदोऽसमवायिकारणं न भवति द्रव्यादन्यत्र वृत्तिमत्त्वाद्भेदवत्सत्त्वादिवद्वेति। १८ अपिशब्देन द्रव्यं ग्राह्यं तत्रापि स्वपररूपापेक्षयाऽभेदभेदौ। १९ आदिशब्देन नाशस्थितिसंग्रहः। २० द्वित्वादेरनेकपर्यायत्वे वस्तुस्वरूपमेवायातम्, तस्य च स्वकारणकलापादुत्पत्तेरनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरित्यादि निरर्थकमिति भावः। २१ द्वित्वादेरनेकत्वपर्यायत्वप्रकारेण। २२ त्रिचतुःपञ्चषडादिवस्तुषु। २३ द्वित्वादेरनेकपर्यायत्वात्।

भागो न स्याद्ऽनेकत्वस्याविशिष्टत्वात्; तन्न; अपेक्षा[1]बुद्धिविशेषवत्तत्सिद्धेरप्रतिबन्धात्। यथैव ह्यनेकविषयत्वाविशेषेपि काचिदपेक्षाबुद्धिः द्वित्वस्योत्पादिका काचिन्नित्वस्य। न[2] ह्यपेक्षाबुद्धेः पूर्वं द्वित्वादिगुणोस्ति; अनवस्था[3]प्रसङ्गात्, अपेक्षाबुद्धिजनितस्य वा द्वित्वादेरानर्थक्यानुषङ्गात्। तथा द्वित्वादिप्रत्ययविभागोपि भविष्यति। यत एव चाभिन्नभिन्नत्वलक्षणाद्विशेषादपेक्षाबुद्धिविशेषस्तत एवैकत्वादिव्यवहारभेदोपि भविष्यति इत्यलमन्तर्गड्डुनैकत्वादिगुणेन।

ए[4]वं च गुणेष्वप्येकत्वादिव्यवहारोऽकष्टकल्पनः स्यात्। गणितव्यवहारश्च 'षट्पञ्चविंशतिभिः सार्धं शतम्' इत्यादिः सुगमः। तस्मादभिन्नं तावदेकमित्युच्यते, तदपरेण[5]ाभिन्नेन[6] सह द्वे इति, ते त्वपरेणा[7]भिन्नेन सह त्रीणीत्येवमादिः समयो[8] लोके प्रसिद्धो गणितप्रसिद्धश्चैकत्वादिव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्य[9] इति।

अथ द्वित्वबहुत्वसंख्याया द्व्यणुकादिपरिमाणं प्रत्यसमवायिकारणत्वोपपत्तेः सद्भावसिद्धिः; तन्न; अस्यास्तदसमवायिकारणत्वे प्रमाणाभावात्। परिशेषोस्तीति चेत्; न; कारणपरिमाणस्यैवासमवायिकारणत्वसम्भवाद्रूपा[10]दिवत्।

ननु परमाणुपरिमाणजन्य[11]त्वे द्व्यणुकेपि परमाणुत्वप्रसङ्ग[12]ः स्यात्; तन्न; कार्यकारणयोस्तुल्यपरिमाणत्वे दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकमेव कार्यपरिमाणं दृश्यते। परिमाणवच्च कर्म[13]ण्यप्यसमवायिकारणत्वमस्याः स्यात्। दृश्यते हि द्वा[14]भ्यां बहुभिर्वा पाषाणाद्युत्थापनम्। न चात्र संख्यायाः कारणत्वं भ[15]वद्भिरिष्टम्। अथास्यास्तत्रापि निमित्तत्वमिष्यते; को वै निमित्तत्वे विप्रतिपद्यते[16]? सा[17]मान्यादीनामपि तदभ्युपगमात्। असमवायिकारणत्वं तु तस्याः परिमाणवदुत्थापनादिकर्मण्यभ्युपगन्तव्य[18]म्, न चान्यत्रा[19]पीत्यलमतिप्रसङ्गेन[20]।

---

१ उत्तरमिदम्—द्वित्वादिसंख्यां प्रति करणत्वेनाभिमताया अपेक्षाबुद्धेरनेकत्वाविशेषेपि भेदो यथा तथा द्वित्वादिप्रत्ययविभागोपीति। २ अपेक्षाबुद्धेः पूर्वमेव द्वित्वादिगुणोस्तीत्युक्ते सत्याह। ३ द्वित्वादिगुणस्यापि द्वित्वादिकमपरस्माद्द्वित्वादिगुणात्तस्याप्यपरस्मादिति। ४ भिन्नाभिन्नत्वलक्षणाद्विशेषादेकत्वादिभवनप्रकारेण। ५ संख्येयात्। ६ एकेन। ७ अपरसंख्येयात्। ८ सङ्केतः। ९ द्व्यणुकादिपरिमाणमसमवायिकारणकं सद्रूपकार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानम्। १० कारणरूपादेर्यथा कार्यरूपादिकं प्रत्यसमवायिकारणत्वम्। ११ द्व्यणुकादिपरिमाणस्य। १२ परमाणुपरिमाणस्वरूपवत्। १३ पाषाणाद्युत्थापनलक्षणे। १४ नराभ्याम्। १५ परैः। १६ विवादं करोति। १७ पुरुषत्वादीनाम्। १८ अभ्युपगन्तव्यं नेति सम्बन्धः। १९ परिमाणे। २० संख्यायाः परिमाणं प्रत्यसमवायिकारणत्वनिराकरणेन।

यदप्युक्तम्-महदादिपरिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्ययुक्तम्; हेतोरसिद्धेः, घटाद्यर्थव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्याध्यक्षप्रत्ययग्राह्यत्वेनासंवेदनात्।

असत्यपि महदादौ[1] प्रासादमालादिषु[2] महदादिप्रत्ययप्रादुर्भावप्रतीतेरनैकान्तिकश्चायम्। न च यत्रैव प्रासादादौ समवेतो मालाख्यो गुणस्तत्रैव महत्त्वादिकमपि इत्येकार्थसमवायवशात् 'महती प्रासादमाला' इतिप्रत्ययोत्पत्तेर्नानैकान्तिकत्वम्; स्व[3]समयविरोधात्[4]। न खलु प्रासादो भवद्भिर्[5]वयविद्रव्यमभ्युपगम्यते विजातीयानां[6] द्रव्याणा[7]मनारम्भकत्वात्[8]। किं तर्हि? संयोगात्मको गुणः। न च गुणः परिमाणवान्, "निर्गुणा गुणाः" [ ] इत्यभिधानात्। ततो मालाख्यस्य गुणस्य प्रासादादिष्वभावात् 'प्रासादमाला' इत्ययमेव प्रत्ययस्तावदयुक्तः, दूरत एव सा 'महती ह्रस्वा वा' इति प्रत्ययः, मालायाः संख्यात्वेन[9] प्रासादानां संयोगत्वेन[10] महदादेश्च परिमाणत्वेन परै[11]रभ्युपगमात्।

अथ माला द्रव्यस्वभावेष्यते; तथापि द्रव्यस्य द्रव्याश्रयत्वान्नास्याः संयोगस्वरूपप्रासादाश्रयत्वं[12] युक्तम्। अथासौ जातिस्वभावेष्यते; तर्हि प्रत्याश्रयं जातेः समवेतत्वादेकस्मिन्नपि प्रासादे 'माला' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात्[13]। 'एका प्रासादमाला महती[14] दीर्घा ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिश्च तदवस्थैव; मालायां तदाश्रये च प्रासादादावेकत्वादेर्गुणस्या[15]ऽसम्भवात्। बह्वीषु च प्रासादमालासु[16] 'माला माला' इत्यनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, जातावऽपरापरजातेरनुपपत्तेः। न[17] चौपचारिकोयं प्रत्ययोऽस्खलद्वृत्तित्वात्। न हि मुख्य[18]प्रत्ययाविशिष्टस्यौपचारिकत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात्[19]। अत एव मालादिषु महत्त्वादिप्रत्ययोपि नौपचारिकः। ततो यथा स्वकारणकलापात्प्रासादादयो महदादिरूपतयोत्पन्ना-

---

१ गुणरूपे। २ आदिना पर्वतमालादिषु। ३ अन्यथा। ४ गुणे गुणसद्भावाभ्युपगमात्। ५ वैशेषिकैः। ६ काष्ठादीनाम्. ७ प्रासादलक्षणावयविद्रव्यम्। तस्य। ८ तन्त्वादिना सजातीया ये तन्त्वादयस्त एव पटाद्यवयविद्रव्यारम्भका इति भावः। ९ बहुत्वलक्षणेन। १० काष्ठादिभिः। ११ वैशेषिकैः। १२ बसः। १३ एकस्मिन्नपि प्रासादे मालायाः सद्भावात्। १४ महत्त्वगुणयुक्ता। १५ द्वित्वबहुत्वादेः। १६ जातिरूपासु। १७ निस्सामान्यानि सामान्यानीति वचनात्। १८ मुख्यश्चासौ प्रत्ययश्च खण्डमुण्डादिषु गौर्गौरित्यादिरूपस्तेनाविशिष्टोऽनुगतत्वेन समानस्तस्य। १९ मुख्यस्याप्यौपचारिकत्वप्रसङ्गात्।

स्तत्प्रत्ययगोचरास्तथा घटादयोपीत्यलमर्थान्तरभूतपरिमाणपरिकल्पनया।

यदप्युक्तम्-'बदरामलकादिषु भाक्तोऽणुव्यवहारः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; मुख्यगौणप्रविभागस्यात्र[1]ाप्रमाणत्वात्। न खलु यथा सिंहमाणवकादिषु मुख्यगौणविवेकप्रतिपत्तिः सर्वेषामविगाने[2]नास्ति तथा 'द्व्यणुके एवाणुत्वह्रस्वत्वे मुख्येऽन्यत्र भाक्ते' इति कस्यचित्प्रतिपत्तिः। प्र[3]क्रियामात्रस्य च सर्वशास्त्रेषु सुलभत्वान्नातो विवादनिवृत्तिः।

आपेक्षिकत्वा[4]च्च परिमाणस्यागुणत्वम्। न हि रूपादेः सुखादेर्वा गुणस्यापेक्षिकी सि[5]द्धिः। योपि नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेर्वाऽऽपेक्षिको व्यवहारः सोऽपि तत्प्रकर्षापकर्षनिबन्धनो न पुनर्गुणस्वरूपनिबन्धनः। त[6]तो ह्रस्वदीर्घत्वा[7]देः संस्थानविशेषाद्व्यतिरे[8]काभावात्कथं गुणरूपता? तद्विशेषस्यापि कथञ्चिद्भेदाभिधाने त्र्यस्रचतुरस्रादेरपि भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथं त[9]च्चतुर्विधत्वोपवर्णनं संशोभेतेति?

यच्चोक्तम्-पृथक्त्वं घटादिभ्योर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञा[10]नग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; हेतोरसिद्धत्वात्। न खलु स्वहेतोरुत्पन्नाऽन्योन्यव्या[11]वृत्तार्थव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वस्याध्यक्षे प्रतिभासोस्ति, अ[12]त एवोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यास्यानुपलम्भादसत्त्वम्[13]।

रूपादिगुणेषु च 'पृथक्' इतिप्रत्ययप्रतीतेरनेकान्तः। न हि तत्र पृथक्त्वमस्ति गुणेषु गुणासम्भवात्। न च गुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययो भाक्तः; मुख्यप्रत्ययाविशिष्टत्वात्। न च स्वरूपेणा(ण) व्यावृत्तानाम[14]र्थानां पृथक्त्वादि[15]वशात्पृथग्रूपता घटते; भिन्नाभिन्नपृथग्रूपताकरणेऽकिञ्चित्करत्वात्। भेदप[16]क्षे हि सम्बन्धासिद्धिः। अभेदपक्षे तु पृथग्रूपस्यार्थस्यैवोत्पत्तेरर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पनावैयर्थ्यम्। प्रयोगः-ये परस्परव्यावृ-

---

१ परिमाणे। २ अविप्रतिपत्त्या। ३ द्व्यणुके एवाणुत्वह्रस्वत्वे मुख्येऽन्यत्रान्यथेति प्रक्रियातो मुख्यगौणविवेकप्रतिपत्तिर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ४ अपेक्षाजनितत्वात्। ५ आशङ्कनीया। ६ आपेक्षिकत्वात्परिमाणस्य गुणत्वं नास्ति यतः। ७ परिमाणस्य। ८ व्यतिरेको भेदः। ९ तस्य=परिमाणस्य। १० पृथक्त्वमिति। ११ घटात्पटो व्यावृत्त इति। १२ तद्व्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वस्याध्यक्षे प्रतिभासो नास्ति यतः। १३ गगनकमलवत्। १४ घटपटादीनाम्। १५ आदिशब्देन विभागपरिग्रहः। १६ कथम्? तथा हि।

त्तात्मानस्ते स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधाराः यथा रूपादयः, परस्परव्यावृत्तात्मानश्च घटादयोर्था इति ।

ततो[1] विभिन्नस्वभावतयोत्पन्नार्थस्यैव 'पृथक्' इतिप्रत्ययविषयत्वप्रसिद्धेरलं पृथक्त्वगुणकल्पनया । [2]पृथक्प्रत्ययस्याप्यसाधारण[3]धर्मादेवोपपत्तेः, यदा ह्येकं वस्त्वितरेभ्यो भिन्नं पश्यति प्रतिपत्ता तदा 'एकं पृथक्' इति प्रतिपद्यते । यदा तु द्वे वस्तुनीतरेभ्यो विलक्षणैकधर्मयोगाद्विभिन्ने पश्यति तदा 'द्वे पृथक्' इति मन्यते। यदा त्वेकदेशत्वादि[4]ना धर्मेणेतरेभ्यो बहूनि भिन्नानि पश्यति तदा 'एतान्येतेभ्यः पृथक्' इति प्रतिपद्यते, यथा रूपादयो द्रव्यात्पृथगिति ।

संयोगस्तु समवायनिराकरणप्रघट्टके प्रतिषेत्स्यते । तदभावात् 'प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिर्विभागः' इत्यपि निरस्तम् । न हि प्राग्भाविसान्तर[5]रूपतापरित्यागेन निर[6]न्तररूपतयोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यः संयोगः संयुक्तप्रत्ययविषयोनुभूयते । अ[7]विच्छिन्नोत्पत्तिकमेव हि वस्तु निरन्तरप्रत्ययविषयः निरन्तरोपरचितदेवदत्तयज्ञदत्तगृहवत् । न खलु गृहयोः परेणापि[8] संयोगगुणाश्रयत्वमिष्टम्, निर्गुणत्वाद्गुणानाम्, तयोश्च[9] संयोगात्मकत्वेन गुणत्वात् । नापि विच्छिन्नोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यो विभागो विभक्तप्रत्ययविषयो हिमवद्विन्ध्यवत् । न हि तयोर्विभागाश्रयत्वं प्राप्तिपूर्विकाया अप्राप्तेर्विभागलक्षणायास्तयोरभावात् ।

प्रयोगः–या संयुक्ताकारा बुद्धिः सा भवत्परिकल्पितसंयोगानास्पदवस्तुविशेषमात्रप्रभवा यथा 'संयुक्तौ प्रासादौ' इति बुद्धिः, संयुक्ताकारा च 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिबुद्धिरिति । यद्वा, याऽनेकवस्तुसन्निपाते सति स[10]मुत्पद्यते सा भवत्परिकल्पितसंयोगविकलानेकवस्तुविशेषमात्रभाविनी यथाऽविरलाऽवस्थिताऽनेकतन्तुविषया बुद्धिः, तथा च विमत्यधिकरणभावापन्ना संयुक्तबुद्धिरिति ।

तथा मेषादिषु विभक्तबु[11]द्धिर्विभागरहितपदार्थमात्रनिबन्धना

---

१ स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधारा घटादयो यतः । २ वस्तुव्यतिरिक्तपृथक्त्वासम्भवात्कथं पृथक्त्वप्रत्ययोत्पत्तिरित्युक्ते सत्याह । ३ असाधारणः=तन्मात्रवृत्तिः । ४ आदिना कालत्वस्वरूपत्वग्रहः । ५ भिन्नरूपतेत्यर्थः । ६ अभिन्नरूपतयेत्यर्थः । ७ अपृथक् । ८ न केवलमस्माभिः । ९ गृहस्य गुणत्वमसिद्धमित्याह । १० इन्द्रियाणामनेकवस्तुभिः सह सन्निपाते सन्निकर्षः समुत्पद्यते इत्यर्थः । ११ अयमस्मान्मेषाद्भिन्नो मेष इत्यादिप्रकारेण ।

विभक्तत्वादनेकपदार्थसन्निधाना[1]यत्तोदयत्वाद्वा देवदत्तयज्ञदत्तगृहविभागबुद्धिवद् हिमवद्विन्ध्यविभागबुद्धिवद्वा।

सत्यपि वा संयोगे विभागस्य तदभावलक्षणत्वान्न गुणरूपता। कथमन्यथा पुत्रादौ चिरनिवृत्तेपि संयोगे विभक्तप्रत्ययः स्यात्? न खलु तत्र विभागः संभवति, अस्य[2] कियत्कालस्थायिगुणत्वेनाभ्युपगमात्। कथं वा हिमवद्विन्ध्यादौ संयोगेऽनुत्पन्नेपि विभक्तप्रत्ययः स्यात् संयोगाभावात्[3]? व्यतिरिक्त[4]विभागस्वरूपस्य क्वचिदप्यनुपलम्भान्नोपचारकल्पनापि साध्वी[5]।

विभागाभावे कुतः संयोगनिवृत्तिरिति चेत्? 'कर्मण[6] एव' इति ब्रूमः[7]। 'कर्ममात्रा[8]दपि तन्निवृत्तिः[9] स्यात्' इत्यप्यदोषः[10]; संयोगमात्रनिवृत्तेरिष्टत्वात्। संयोगविशेषनिवृत्तिस्तु कर्मविशेषात्[11], त्वन्मते[12] ततो विभागविशेषोत्पत्तिवत्। कर्मणः संयोगोत्पादकत्वात्कथं तन्निवर्तकत्वमिति चेत्? तर्हि हस्तबाणादिसंयोगस्य कर्मोत्पादकत्वोपलम्भात्[13] कथं वृक्षादौ बाणादिसंयोगस्य तन्निवर्तकत्वं[14] स्यात्? अन्यस्य तन्निवर्तकत्वमन्यत्रापि समानम्। न खलु येनैव कर्मणा यः संयोगो जनितः स तेनैव निवर्त्यते इति।

एतेन[15] विभागजविभागोपि चिन्तितः। तस्यापि संयोगाभावरूपस्य क्रियात एवोत्पत्तिप्रसिद्धेः। ननु यदि विभागजविभागो न स्यात्तर्हि हस्तकुड्यसंयोगविनाशेपि शरीरकुड्यसंयोगविनाशो न प्राप्नोति; तन्न; हस्तकुड्यसंयोगव्यतिरेकेण शरीरकुड्यसंयोगस्यैवासंभवात्। हस्तकुड्यसंयोगादेवासौ कल्प्यते इति चेत्; तर्हि हस्तकर्मदर्शनाच्छरीरेपि कर्म कस्मान्न कल्प्यते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्?

---

१ अनेकपदार्थैः सह सन्निकर्ष इन्द्रियाणाम्, तस्यायत्त उदयो यस्या इति वाक्यम्। २ विभागस्य। ३ यतो यत्र संयोगपूर्वको विभक्तप्रत्ययस्तत्रैव विभागव्यवहारो युज्यते, न चानयोः प्राक् संयोगः पश्चाद्विभाग इति। ४ व्यतिरिक्तस्य=वस्तुनः सकाशाद्भिन्नरूपस्य। ५ क्वचिन्मुख्यत्वेनाप्रसिद्धस्योपचाराभावात्, सति संभवेन्यत्र निमित्तप्रयोजनवशादुपचारः प्रकल्प्यते यतः। ६ क्रियातः। ७ जैनाः। ८ कस्माच्चिदेव कर्मण इत्यर्थः। ९ तस्य=संयोगस्य। १० जैनानाम्। ११ यथा द्रव्यारम्भक (परमाणु) संयोगविशेषनिवृत्तिर्भिद्यमानवंशाद्यवयविद्रव्यस्यावयवक्रियात इति संबन्धः। १२ तव=वैशेषिकस्य। १३ अत्र देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणमेव कर्म गृह्यते। १४ वृक्षादौ संयुज्य बाणादिः पुनर्न ततोऽग्रदेशं यातीत्यर्थः। १५ संयोगनिवृत्तेः कर्मजत्वप्रतिपादनेन।

यच्चोच्यते तत्प्रसिद्धयेऽनुमानम्—विवक्षितावयवक्रियाऽऽकाशादिदेशेभ्यो विभागं न करोति, द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वात्, या पुनराकाशादिदेशविभागकर्त्री सा संयोगविशेषनिवर्त्तकविभागजनिकापि न भवति यथाङ्गुलिक्रियेति। यदि भिद्यमानवंशाद्यवयविद्रव्यस्यावयवक्रिया आकाशादिदेशेभ्यो विभागं कुर्यात् तर्हि वंशादिद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमेवास्या न स्यादङ्गुल्याद्यवयविद्रव्यक्रियावत्। ततोऽवयविद्रव्यस्याकाशादिदेशविभागोत्पादकोऽविभागोऽभ्युपगन्तव्यः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; वश्यं विभागोत्पादकत्वस्यासिद्धत्वात्। क्रियात एव संयोगनिवृत्तेरुक्तत्वात्। अथ 'अवयविनस्तत्क्रियाऽऽकाशादिदेशसंयोगं न निवर्त्तयति द्रव्यारम्भकसंयोगनिवर्त्तकत्वात्' इतीदमत्र विवक्षितम्; तथाप्यसाधारणो हेतुः; सपक्षेप्याकाशादिदेशसंयोगानिवर्त्तके रूपादौ वृत्तेरभावात्। न चावयवसंयोगादवयविनः संयोगोन्यः; तद्भेदैकान्तस्य प्रागेव प्रतिक्षेपात्, विनाशोत्पादप्रक्रियायाश्च कृतोत्तरत्वात्। तन्न विभागो घटते।

नापि परत्वापरत्वे; परापरप्रत्ययाभिधानयोस्तदन्तरेणापि रूपादौ सम्भवात्। तथाहि—क्रमोत्पन्ननीलादिगुणेषु 'परं नीलमपरं च' इति प्रत्ययोत्पत्तिः असत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे गुणे दृष्टा गुणानां निर्गुणतयोपगमात्, तथा घटादिष्वपि स्यात्। अथात्र दिक्कालकृतः परापरप्रत्ययः; ननु घटादिष्वप्यसौ तत्कृतोस्तु विशेषाभावात्। तथा च प्रयोगः-योयं परापरादिप्रत्ययः स परपरिकल्पितगुणैरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादव्यवस्थानिबन्धनः, परापरप्रत्ययत्वात्, रूपादिषु परापरप्रत्ययवत्। 'विप्रकृष्टं परं संनिकृष्टमपरम्' इति चानयोरेकार्थत्वान्न भेदं पश्यामः। ततश्चायुक्त-

---

१ भिद्यमानवंशाद्यवयविद्रव्यस्य। २ भिद्यमानवंशाद्यवयविन इति शेषः। ३ द्रव्यं वंशादि। ४ परमाणु। ५ प्रसारणसङ्कोचनरूपा। ६ द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वं च स्यादाकाशादिदेशेभ्यो विभागं च कुर्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ७ विभागाद्विभागो जात इत्यर्थः। ८ जैनादिना। ९ तर्हि विभागाभावे संयोगनिवृत्तिः कथमिति शङ्कायामाह। १० अनैकान्तिकः। ११ तयोः अवयवावयविनोः। १२ अवयवेषु क्रिया क्रियातः संयोगः संयोगादवयविन उत्पत्तिरिति प्रक्रियातस्तयोर्भेद इत्युक्ते सत्याह। १३ द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वसाधनमसिद्धं यतः। १४ न तु स्वाभाविकः। १५ गुणौ परत्वापरत्वलक्षणौ। १६ अर्थौ दिक्काललक्षणः। १७ गुणरूपेषु। १८ परविप्रकृष्टयोरपरसन्निकृष्टयोश्च।

मुक्तम्—'विप्रकृष्टसन्निकृष्टबुद्धिभ्यां परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः' इति। न हि घटबुद्धिमपेक्ष्य कुम्भ उत्पद्यते इति युक्तम्। नापि पर्यायशब्दभेदादर्थो भिद्यते इति।

किञ्च, सामान्येषु महापरिमाणाल्पपरिमाणगुणेषु[1] च महदल्पाधारत्वबुद्ध्यपेक्षयोः[2] परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कल्प्यतामविशेषात्।

किञ्च, परत्वापरत्वयोर्गुणत्वमभ्युपगच्छता मध्यत्वं च गुणोऽभ्युपगन्तव्यः, कालदिक्कृतमध्यव्यवहारस्याप्यत्र समानत्वात्।

सुखदुःखेच्छादीनां चाबुद्धिरूपत्वे रूपादिवन्नात्मगुणता युक्ता, बुद्धिरूपत्वे चातो भेदेनाभिधानमयुक्तम्। कंचिद्विशेषमादाय बुद्ध्यात्मकानामप्यतो भेदेनाभिधाने अभिधाना(धादी)दीनामपि भेदेनाभिधानं कार्यम्। इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

गुरुत्वादीनां तु पुद्गलगुणत्वं युक्तमेव। 'अतीन्द्रियं गुरुत्वं पातोपलम्भेनानुमेयत्वात्' इत्येतन्न युक्तम्; करतलाद्युपरिस्थिते[3] द्रव्यविशेषे पातानुपलम्भेपि गुरुत्वस्य प्रतिभासनात्। रजःप्रभृतीनामपि गुरुत्वं कस्मान्न गृह्यते इति चेत्? ग्रहणायोग्यत्वात्। तावतैवातीन्द्रियत्वे गन्धरसादीनामप्यतीन्द्रियत्वं स्यात्। क्वचिद्दूरे तदाश्रयस्याम्रफलादेः प्रत्यक्षत्वेपि तेषां ग्रहणाभावादिति।

पृथिव्यनलयोरप्यस्ति द्रवत्वम्; इत्यनुपपन्नम्; सुवर्णादीनाम्[4] "अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्" [ ] इत्यागमतः प्रसिद्धतैजसत्वानां जतुप्रभृतिपार्थिवद्रव्याणां चाप्यस्यैव[5] द्रवत्वस्य संयुक्तसमवायवशात्प्रतीतिसम्भवात्।

अथ 'सर्वं पार्थिवं तैजसं च द्रव्यं द्रवत्वसंयुक्तं रूपित्वात्तोयवत्' इत्यनुमानात्तस्य द्रवत्वसिद्धिः; तन्न; प्रत्यक्षेण स्प(स्य)न्दनकर्मानुपलम्भेन च बाधितविषयत्वात्। अथेत्थम्भूतधर्मकं तत्र द्रवत्वं जातं यत्प्रत्यक्षं न भवति स्प(स्य)न्दनक्रियां च न करोतीत्युच्यते;[6] तर्हि गुरुत्वरसावप्येवंधर्मकौ[7] रूपित्वादेव किन्न तेजसोऽभ्युपगम्येते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्? तथा[8] चाऽस्योर्ध्वगतिस्वभावता न स्यात्, 'रसः पृथिव्युदकवृत्तिः' इत्यस्य च विरोध इति।[9]

---

१ परापररूपेषु इत्यर्थः। २ उभयत्र अपेक्षाबुद्धेः। ३ आदिना मस्तकस्कन्धादिग्रहणम्। ४ आदिपदेन हरितालरीतिकाग्रहणम्। ५ जलीयस्य। ६ प्रत्यक्षौ न भवतः पतनादिक्रियां च न कुरुत इति। ७ प्रत्यक्षेण पतनादिकर्मानुपलम्भेन च बाधितविषयत्वात् तेजसो गुरुत्वं रसत्वमित्याक्षेपः, अथेत्थम्भूतधर्मकं तेजसि गुरुत्वं रसत्वं च जातं यत्प्रत्यक्षं न भवति तत्पतनादिक्रियां च न करोतीति समाधानम्। ८ तेजोद्रव्यस्य गुरुत्वरसत्वोपगमे च। ९ तेजस्यपि रसस्य भावात्।

'स्नेहोऽम्भस्येव' इत्यप्ययुक्तम्; घृतादेरपि लोके वैद्यकादिशास्त्रे च स्निग्धत्वेन प्रसिद्धत्वात्। घृतादावन्य[1]निमित्तत्वेनौपचारिकः स्निग्धप्रत्ययः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। तथा हि—तोयसम्पर्केप्योदनादौ च स्निग्धप्रत्ययो नास्ति घृतादिसम्पर्के तु स्निग्धप्रत्ययः सर्वेषामस्त्येवेति। कणिकादौ तोयस्य बन्धहेतुत्वोपलम्भात्तस्यैव स्नेहो विशेषगुणः; इत्यप्यसारम्; भवता स्नेहरहितत्वेनाभ्युपगतस्यापि क्षीरजतुप्रभृतेर्बन्धहेतुत्वेन प्रतीतेः।

स्नेहस्य गुणत्वाभ्युपगमे च काठिन्यमार्दवादेरपि गुणत्वाभ्युपगमः कर्त्तव्यः, तथा च तत्संख्याव्याघातः स्यात्। ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वात्कथं गुणसंख्याव्याघातहेतुत्वम्? तथा चोक्तम्-"अवयवानां प्रशिथिलसंयोगो मृदुत्वम्" [ ] इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; चक्षुषा संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि मार्दवादेरप्रतिभासनात्। यो हि यद्विशेषः स तस्मिन्प्रतीयमाने प्रतीयत एव यथा रूपे प्रतीयमाने तद्विशेषो नीलादिः, न प्रतीयते च संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि काठिन्यादिः, तस्मान्नासौ तद्विशेष इति। कटाद्यवयवानां प्रशिथिलसंयोगेपि मृदुत्वाप्रतीतेश्च, विशिष्टचर्माद्यवयवानामप्यप्रशिथिलसंयोगित्वेपि मृदुत्वोपलब्धेश्चेति

ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वाभावे कथं कठिनमेव कणिकादिद्रव्यं मर्दनादिना मृदुत्वमापाद्यते? इत्यप्यसुन्दरम्; न हि तदेव द्रव्यं [3]मृदु भवति। किं तर्हि? पूर्वकठिनपर्यायनिवृत्तौ मृदुपर्यायोपेतं द्रव्यान्तरमुत्पद्यते। संयोगविशेषमृदुत्ववादिनापि पूर्वद्रव्यनिवृत्तिरत्राभ्युपगतैव। ततः स्पर्शविशेषो मृदुत्वादिरभ्युपगन्तव्यः 'कठिनः स्पर्शो मृदुः स्पर्शः' इति प्रतीतिदर्शनात्। [4]तथा च पाकजत्वमपि स्पर्शस्योपपन्नं घटादिषु रूपादिवत् विलक्षणस्पर्शोपलम्भात् नान्यथा। न[5] च काठिन्यादिव्यतिरेकेण स्पर्शस्यान्यद्वैलक्षण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यमिति।

वेगाख्यस्तु संस्कारो न केवलं पृथिव्यादावेवास्ति आत्मन्यप्यस्य सम्भवात्, [6]तस्यापि सक्रियत्वेन प्रसाधितत्वात्। न च

---

१ अन्यत्=जलम्। २ मृदुरूपोपि संयोगगुणविशेषः। ३ मृदुत्वादेः स्पर्शविशेषत्वे च। ४ मृदुत्वादेः स्पर्शविशेषस्याभावे स्पर्शस्य न पाकजत्वं विलक्षणस्पर्शाभावादिति भावः। ५ काठिन्यादेः स्पर्शविशेषत्वाभावेपि स्पर्शस्यान्यद्वैलक्षण्यं सम्भविष्यति ततश्च विलक्षणस्पर्शोपलम्भेन पाकजत्वमप्यविरुद्धं स्पर्शस्येत्याशङ्कायामाह। ६ आत्मनो निष्क्रियत्वात्कथं वेगाख्यस्य संस्कारस्य सम्भव इत्युक्ते सत्याह।

क्रियातोऽर्थान्तरं वेगः; अस्याः शीघ्रोत्पादमात्रे वेगव्यवहारप्रसिद्धेः। 'वेगेन गच्छति' इति प्रतीतेः क्रियातोर्थान्तरं वेगः; इत्यप्ययुक्तम्; 'वेगेन गच्छति, शीघ्रं गच्छति' इत्यनयोरेकत्वात्। न च कर्मणः कर्मारम्भकत्वेऽनुपरमप्रसङ्गः; शब्दवत्तदुपरमोपपत्तेः। यथैव हि शब्दस्य शब्दान्तरारम्भकत्वेप्युपरमस्तथात्रापि। "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" [वैशे० सू० १।१।११] इत्यपि वचनमात्रत्वादविरोधकम्।

न च विभिन्नः संस्कारो वाणादीनामपातहेतुः प्रतीयते, अन्यथा कदाचिदपि तेषां पातो न स्यात्, तत्प्रतिवन्धकस्य वेगस्य सर्वदावस्थानात्। न च मूर्त्तिमद्वाय्वादिसंयोगोपहतशक्तित्वाद्वेगस्य तेषां पतनम्; प्रथममेव पातप्रसक्तेः, तत्संयोगस्य तद्विरोधिनस्तदापि सम्भवात्। न च प्राग्वेगस्य वलीयस्त्वाद्विरोधिनमपि मूर्त्तद्रव्यसंयोगमपास्य शरं देशान्तरं प्रापयति; इत्यभिधातव्यम्; पश्चादप्यस्य वलीयस्त्वात्तथैव तत्प्रापकत्वप्रसक्तेः। न खलु वेगस्य पश्चादन्यथात्वम्; तथोत्पत्तिकारणाभावात्, तत्समवायिकारणत्वस्येष्वादेः सर्वदाऽविशिष्टत्वात्। न च कर्माख्यं कारणं पश्चाद्विशिष्यते; तस्यापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात्। न च प्रभूताकाशप्रदेशसंयोगोत्पादनात् संस्कारप्रक्षयादिषोः पातः; संस्कारस्यैकस्वभावत्वेनावस्थितस्य प्रागिव पश्चादपि प्रक्षयानुपपत्तेः। न चाकाशस्य प्रदेशाः परेणेष्यन्ते, येन तत्संयोगानां भूयस्त्वं संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं वा युक्तियुक्तं भवेत्। कल्पनाशिल्पिकल्पितानां संयोगभेदैकत्वं तदायत्तभेदानां च संयोगानां संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं दूरोत्सारितमेव।

भावनाख्यस्तु संस्कारो धारणापरनामा नानिष्टः; पूर्वपूर्वानुभवाहितसामर्थ्यलक्षणस्यात्मनोऽनर्थान्तरभूतस्य स्मृत्यादिहेतुत्वेनास्यास्माभिरपीष्टत्वात्।

स्थितस्थापकरूपस्तु संस्कारोऽसम्भाव्य एव। स हि किं स्वयमस्थिरस्वभावं भावं स्थापयति, स्थिरस्वभावं वा? न तावदस्थिरस्वभावम्; तत्स्वभावानतिक्रमात्। तथाविधस्यापि स्थापनेऽ-

---

१ शीघ्रत्वं च क्रियास्वरूपं परमते स्वमते च। २ वेगस्य क्रियात्वे क्रियातः क्रियोत्पद्यत इति भावः। ३ यद्यपि समवायिकारणमविशिष्टं तथापि कर्माख्यं कारणं विशिष्यत इत्युक्ते सत्याह। ४ न खलु कर्माख्यस्य पश्चादन्यथात्वं तथोत्पत्तिकारणाभावादित्यादिरूपेण। ५ नित्यत्वाद्गुणानाम्। ६ आकाशप्रदेशानाम्। ७ संयोगानां नानाकारत्वम्।

तिप्रसङ्गः। क्षणादूर्ध्वं चार्थस्य स्वयमेवाभावात्कस्यासौ स्थापकः स्यात्? भावे वाऽस्थिरस्वभावताविरोधः। अथ द्वितीयः पक्षः; तदा स्थिरस्वभावेऽवस्थितानामर्थानां स्वयमेवावस्थानात्किमकिञ्चित्करस्थापकप्रकल्पनया? ततः स्वहेतुवशात्तथा तथा परिणतिरेवार्थानां स्थितस्थापकः संस्कारो नान्यः।

धर्माधर्मशब्दानां तु गुणत्वं प्रागेव प्रतिविहितमित्यलमतिप्रसङ्गेन। ततः "कर्तुः फलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवानदृष्टाख्यो गुणः" [ ] इत्ययुक्तमुक्तम्। इदं तु युक्तम् "कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुर्धर्मः, अधर्मस्त्वप्रियप्रत्ययहेतुः" [प्रश० भा० पृ० २७२-२८०] इति। तन्न गुणपदार्थोपि श्रेयान्।

नापि कर्मपदार्थः। स हि पञ्चप्रकारः परैः प्रतिपाद्यते- "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" [वैशे० सू० १।१।७] इत्यभिधानात्। तत्रोत्क्षेपणं यदूर्ध्वाधःप्रदेशाभ्यां संयोगविभागकारणं कर्मोत्पद्यते, यथा शरीरावयवे तत्सम्बद्धे वा मूर्तिमद्रव्ये ऊर्ध्वदिग्भाविभिराकाशदेशाद्यैः संयोगकारणमधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणम्। तद्विपरीतसंयोगकारणं च कर्मावक्षेपणम्। ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्माकुञ्चनम्, यथा ऋजुनोङ्गुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभिः स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणाङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तदाकुञ्चनम्। तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येनावयवी ऋजुः सम्पद्यते तत्कर्म प्रसारणम्। अनियतदिग्देशैर्यत्संयोगविभागकारणं तद्गमनम्। उत्क्षेपणादिकं तु चतुःप्रकारमपि कर्म नियतदिग्देशसंयोगविभागकारणमिति।

तदेतत्पञ्चप्रकारतोपवर्णनं कर्मपदार्थस्याविचारितरमणीयम्; देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मको हि परिणामोऽर्थस्य कर्मोच्यते। उत्क्षेपणादीनां चात्रैवान्तर्भावः। अत्रान्तर्भूतानामपि कञ्चिद्विशेषमादाय भेदेनाभिधाने भ्रमणस्प(स्य)न्दनादीनामप्यतो भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथं पञ्चप्रकारतैवास्य?

---

१ विद्युदादीनामपि स्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः। २ स्वकार्ये क्रियमाणे सति विरोधोऽभावो यस्य सः। ३ मुसलादिर्यथा। ४ प्रियः सुखदः। ५ हितः परिणामपथ्यः। ६ दुःखकारणम्। ७ ऊर्ध्वाधःप्रदेशाभ्यां विपरीतौ अधऊर्ध्वप्रदेशौ। ८ ऊर्ध्वाः। ९ ऊर्ध्वाधःप्रदेशयोः १० गमनस्य यथाऽनियतदिग्देशैः संयोगविभागकारणत्वं तथोत्क्षेपणादेरनियतदिग्देशाभ्यां संयोगविभागकारणत्वं ततश्च कथमुत्क्षेपणादीनां भेद इत्युक्ते सत्याह। ११ पञ्चप्रकारात्कर्मणः।

न चैक[1]रूपस्यार्थस्य क्रियासमावेशो युक्तः; सर्वदाऽविशिष्टत्वात्। यत्सर्वदाऽविशिष्टं न तस्य क्रियासम्भवो यथाकाशस्य, अविशिष्टं चैकरूपं वस्त्विति । न[2] चैकरूपत्वेऽप्यर्थानां गन्तृस्वभावता युक्ता; निश्चलत्वाभावप्रसङ्गात्, सर्वदा गन्तृत्वैकरूपत्वात्। अथाऽगन्तृत्वरूपताप्येषामङ्गीक्रियते; तथा सत्याकाशवदगन्तृतैव स्यात्। एवं च गत्यवस्थायामप्यचलत्वमेषां प्रसक्तं तदपरित्यक्ताऽगतिरूपत्वान्निश्चलावस्थावत् । न चोभयरूपत्वादेषा[3]मयमदोषः; गन्तृत्वागन्तृत्वविरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वव्याघातानुषङ्गादचलो[4]ऽनिलवत्।

[5]यथा चाक्षणिकैकरूपस्यार्थस्य क्रिया नोपपद्यते तथा क्षणिकैकरूपस्यापि; उत्पत्तिप्रदेश एवास्य प्रध्वंसेन प्रदेशान्तरप्राप्त्यसम्भवात्। यो ह्युत्पत्तिप्रदेश एव ध्वंसमुपगच्छति न सोन्यदेशमाक्रामति यथा प्रदीप[6]ः, उत्पत्तिप्रदेश(शे)ध्वंसमुपगच्छति च क्षणिको भाव इति । न चार्थस्य क्षणिकत्वाद्देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्भ्रान्ता; क्षणिकवादस्य प्रतिषिद्धत्वात् । त[7]तः परिणामिन्येवार्थे यथोक्तं कर्मोपपद्यते ।

न चेदमर्थादर्थान्तरम्; तथाभूतस्यास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् । प्रयोगः–यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तन्नास्ति यथा क्वचित्प्रदेशे घटः, नोपलभ्यते च विशिष्टा[8]र्थस्वरूपव्यतिरेकेण कर्मेति । न[9] चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमस्याऽसिद्धम्; "संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इत्यभिधानात्। तन्न कर्मपदार्थोऽपि परेषां घटते।

नापि सामान्यपदार्थः; तस्य पराभ्युपगतस्वभावस्य प्रागे[10]व प्रतिषिद्धत्वादिति।

विशेषपदार्थोऽप्यनुपपन्नः। विशेषा[11] हि नित्य[12]द्रव्यवृत्तयः परमा-

१ निरंशस्याऽविचलितस्य जीवादेः। २ सर्वदाऽविशिष्टश्च स्यात्क्रियासमवेतश्च स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ३ गन्तृत्वमेवागन्तृत्वमेवेत्येकान्तप्रसङ्गलक्षणः। ४ पर्वतवायुवत्। ५ लब्धावसरो हि सौगतो ब्रूते–अर्थस्याक्षणिकैकरूपत्वे क्रिया न घटते तर्हि क्षणिकैकरूपत्वे घटिष्यत इत्याशङ्कायामाह। ६ बौद्धमतापेक्षयोदाहरणम्। ७ सर्वथाऽक्षणिके क्षणिके वार्थेऽर्थक्रिया न घटते यतः। ८ कर्मरूपतया परिणतो विशिष्टः। ९ विशेषणमसिद्धमित्युक्ते सत्याह। १० सामान्यनिराकरणसमये। ११ नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्यन्तव्यावृत्तिहेतवो विशेषाः, विशेषा इति बहुवचनेनानन्त्यं विवक्षितम्। १२ सामान्यरहितनित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः।

ष्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु वृत्तेरत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः[1]। ते च जगद्विनाशारम्भकोटिभूतेषु परमाणुषु मुक्तात्मसु मुक्तमनस्सु चान्तेषु भवा 'अन्त्याः[2]' इत्युच्यन्ते, तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात्। वृत्तिस्तेषां सर्वेस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यते एव। अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः' इत्युभयपदोपादानम्।

व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्वं च विशेषाणां सद्भावसाधकं प्रमाणम्। यथा ह्यस्मदादीनां गवादिषु[3] आकृति[4]गुण[5]क्रिया[6]वयव[7]संयोग[8]निमित्तोऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तः प्रत्ययो दृष्टः, तद्यथा-'गौः, शुक्लः, शीघ्रगतिः, पीनककुदः, महाघण्टः' इति यथाक्रमम्। तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्ताभावे प्रत्याधारं यद्बलात् 'विलक्षणोयं विलक्षणोयम्' इति प्रत्ययप्रवृत्तिस्ते योगिनां विशेषप्रत्ययोन्नीत[9]सत्त्वा अन्त्या विशेषाः सिद्धाः।

इत्यपि स्वाभिप्रायप्रकाशनमात्रम्; तेषां लक्षणासम्भवतोऽसत्त्वात्। तथाहि-यदेतेषां नित्यद्रव्यवृत्तित्वादिकं लक्षणमभिहितं तदसम्भवदोषदुष्टत्वादलक्षणमेव; यतो न किञ्चित्सर्वथा नित्यं द्रव्यमस्ति, तस्य पूर्व[10]मेव निरस्तत्वात्। तदभावे च तद्वृत्तित्वं लक्षणमेषां दूरोत्सारितमेव।

यच्चायो(च्च-यो)गिप्रभवविशेषप्रत्ययबलादेषां सत्त्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; यतोऽण्वादीनां स्वस्वभावव्यवस्थितं स्वरूपं परस्परासङ्कीर्णरूपं वा भवेत्, सङ्कीर्णस्वभावं वा? प्रथमे विकल्पे स्वत एवासङ्कीर्णाण्वादिरूपोपलम्भाद्योगिनां तेषु वैलक्षण्यप्रतिपत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थमपरविशेषपदार्थपरिकल्पनम्। द्वितीये विशेषाख्यपदार्थान्तरसन्निधानेपि परस्परातिमिश्रितेषु परमाण्वादिषु तद्बलाद्व्यावृत्तप्रत्ययो योगिनां प्रवर्त्तमानः कथमभ्रान्तः? स्वरूपतोऽव्यावृत्तरूपेष्वण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्त्तमानस्यास्याऽता[11]स्मि[12]स्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तत्वानतिक्रमात्? तथा चैतत्[13]प्रत्यययोगिनस्तेऽयोगिन एव स्युः।

---

१ असादृशं सर्वथा व्यावृत्त इत्यादिरूपेण। २ अन्तेऽवसाने भवन्ति सन्तीति यावत्, येभ्योऽपरे विशेषा न सन्तीत्यर्थः, सामान्यरूपेभ्यो विशेषेभ्योऽपरे गुणादयो विशेषाः सन्ति, एभ्यस्तु नापरे किन्त्वेष्वेव वैशिष्ट्यं समाप्यते। ३ खण्डमुण्डादिरूपेषु विशेषेषु। ४ आकृतिः=जातिः। ५ गुणः=श्वेतादिः। ६ क्रिया गच्छत्यादिः। ७ अवयवः ककुदादिः। ८ घण्टादिभिः। ९ उन्नीतं=ज्ञातम्। १० द्रव्यपरीक्षाप्रघट्टके। ११ सङ्कीर्णस्वरूपे। १२ तस्यासङ्कीर्णस्य। १३ भ्रान्तप्रत्ययसम्बन्धिन इत्यर्थः।

यदि च विशेषाख्यपदार्थान्तरव्यतिरेकेण विलक्षणप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्; कथं तर्हि विशेषेषु तस्योत्पत्तिस्तत्रापरविशेषाभावात्? भावे वा अनवस्था, 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' इत्यभ्युपगमक्षतिश्च स्यात्[1]। अथ स्वत एवात्रान्योन्यवैलक्षण्यप्रतिपत्तिः; तर्हि परमाण्वादीनामप्यत एव तत्प्रत्ययप्रवृत्तिर्भविष्यतीति कृतं विशेषाख्यपदार्थपरिकल्पनया।

अथ विशेषेष्वपरविशेषयोगाद्व्यावृत्तबुद्धिपरिकल्पनायामनवस्थादि[2]बाधकोपपत्तेरुपचारात्तेषु[3] तद्[4]बुद्धि[5]ः। ननु कोयं तद्बुद्धेरुपचारो नाम? [6]असतो वस्तुस्वभा[7]वस्य विषयत्वेनाक्षेपश्चेत्; कथं नास्या मिथ्यात्वं तद्योगिनां चायोगित्वम्?

किञ्च, [8]असौ [9]वस्तुस्वभावो विषयत्वेनाक्षिप्यमाणः संशयत्वेनाक्षिप्यते, विपर्यस्तत्वेन वा? तत्राद्ये पक्षे व्यावृत्तरूपतया चलितप्रतिपत्तिविषयाणां विशेषाणां यथावत्प्रतिपत्त्यसम्भवात्तद्योगिनोऽयोगित्वमेव। द्वितीयेप्येतदेव दूषणम्, विशेषरूपविकलानपि तान् विशेषरूपतया प्रतिपद्यमानस्याऽयोगित्वप्रसङ्गाविशेषात्।

यदि च [10]बाधकोपपत्तेर्विशेषेषु व्यावृत्तबुद्धिर्नापरविशेषनिबन्धना; तर्हि परमाण्वादिष्वसौ तन्निबन्धना नाभ्युपगन्तव्या तदविशेषात्। परमाण्वादौ हि विशेषेभ्योऽन्योन्यं व्यावृत्तबुद्ध्युत्पत्तौ सकलविशेषे[11]भ्यः परमाणूनां व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषान्तरात्स्यादित्यन[12]वस्था। स्वतस्तेषां ततो व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वेऽन्योन्यमपि तद्धेतुत्वं स्वत एव स्यादिति व्यर्थमर्थान्तरविशेषपरिकल्पनम्।

ननु यथाऽमेध्यादीनां स्वत एवाशुचित्वमन्येषां तु भावानां तद्योगात्तत्तथेहापि तत्स्वभावत्वाद्विशेषेषु स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वं परमाण्वादिषु तु तद्योगात्।

किञ्च, अतदात्म[13]केष्वप्यन्य[14]निमित्तः प्रत्ययो भवत्येव, यथा प्रदीपा[15]त्पटादि[16]षु, न पुनः पटादिभ्यः प्रदीपे, एवं विशेषे[17]भ्य एवाण्वादौ विशिष्टः प्रत्ययो नाण्वादिभ्यस्तत्र; इत्यप्यसमीचीनम्;

---

१ विशेषेपु विशेषाणां प्रवृत्तेः। २ आदिना नित्यद्रव्यवृत्तय इत्यभ्युपगमक्षतिश्चेति। ३ विशेषेपु। ४ तस्य=व्यावृत्तस्य। ५ अपरविशेषा उपचारभूतास्तत्संयोगात्तेपु जातोपि प्रत्यय उपचाररूप इत्यर्थः। ६ असतो वैलक्षण्यस्य। ७ अन्योन्यव्यावृत्तरूपस्य। ८ वैलक्षण्यरूपः। ९ उपचाररूपः। १० अनवस्थादिरूपो बाधकः। ११ परमाण्वादिभ्यः सर्वथा भिन्नेभ्यः। १२ विशेषान्तराणामप्यन्येभ्य इत्यादिप्रकारेण। १३ अव्यावृत्तेपु अणुषु मुक्तमनस्सु च। १४ अन्यो=विशेषः। १५ अन्यनिमित्तात्। १६ इमे पटादय इति प्रत्ययः। १७ सर्वथाभिन्नेभ्यः।

यतोऽमेध्याद्यशुचिद्रव्यसंसर्गान्मोदकादयो भावा प्रच्युतप्राक्तनशुचिस्वभावा अन्ये एवाऽशुचिरूपतयोत्पद्यन्ते[1] इति युक्तमेषामन्यसंसर्गादशुचित्वम्। न चाण्वादिष्वेतत्[2]सम्भवति, तेषां नित्यत्वादेव प्राक्तनाविविक्तरूपपरित्यागेनापरविविक्तरूपतयाऽनुपप(नुत्प)त्तेः। प्रदीपदृष्टान्तोप्यत[3] एवासङ्गतः; पटादीनां प्रदीपादिपदार्थान्तरोपाधिकस्य रूपान्तर[4]स्योत्पत्तेः, प्रकृते च तदसम्भवात्।

अनुमानबाधितश्च विशेषसद्भावाभ्युपगमः; तथाहि–विवादाधिकरणेषु भावेषु विलक्षणप्रत्ययस्तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, व्यावृत्तप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु व्यावृत्तप्रत्ययवदिति। तन्न विशेषपदार्थोपि श्रेयान् साधकाभावाद्बाधकोपपत्तेश्च।

नापि समवायपदार्थोऽनवद्यतल्लक्षणाभावात्[5]। ननु च "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानाम्[6]इहेदम्प्रत्ययहेतुर्यः[7] सम्बन्धः[8] स समवायः।" [प्रश० भा० पृ० १४] इत्यनवद्यतल्लक्षणसद्भावात्तदभावोऽसिद्धः। न[9] चान्तरालाभावेन 'इह ग्रामे वृक्षाः' इतीहेदम्प्रत्ययहेतुना व्यभिचारः; सम्बन्धग्रहणात्। न चासौ सम्बन्धोऽभावरूपत्वात्। नापि 'इहाकाशे शकुनिः' इति प्रत्ययहेतुना[10] संयोगेन; 'आधाराधेयभूतानाम्' इत्युक्तेः। न ह्याकाशस्य व्यापित्वेनाधस्तादेव भावोस्ति शकुनेरुपर्यपि भावात्। नापि 'इह कुण्डे दधि' इतिप्रत्ययहेतुना; 'अयुत[11]सिद्धानाम्' इत्यभिधानात्। न खलु तन्तुपटादिवद्दधिकुण्डादयोऽयुतसिद्धाः, तेषां युतसिद्धेः सद्भावात्। युतसिद्धिश्च पृथगाश्रयवृत्तित्वं[12] पृथग्[13]गतिमत्त्वं चोच्यते। न चासौ तन्तुपटादिष्वप्यस्ति; तन्तून्विहाय पटस्यान्यत्रावृत्तेः।

तथापि[14] 'इहाकाशे वाच्ये वाचक आकाशशब्दः' इति वाच्यवाचकभावेन 'इहात्मनि ज्ञानम्' इति विषयविषयिभावेन[15] वा व्यभिचारोऽत्रा[16]युतसिद्धेराधाराधेयभावस्य च भावात्[17]; इत्यप्यसाम्प्रतम्; उभयत्रा[18]वधारणा[19]ऽऽश्रयणात्। एतयोश्च युतसिद्धेष्वप्यना-

१ परमते। २ विशेषेभ्यो व्यावृत्तस्वरूपत्वेनोत्पत्तिमत्त्वम्। ३ परमाण्वादीनां नित्यत्वादेव। ४ प्रकाशलक्षणस्य। ५ ग्राहकप्रमाणाभावाच्च। ६ गुणगुण्यादीनाम्। ७ आकाशपरमाण्वादीनां युतसिद्धत्वव्यवस्थापनार्थमिदं लक्षणम्। ८ य इहेदम्प्रत्ययहेतुः स समवाय इत्युच्यमाने। ९ कारणभूतेन। १० कारणभूतेन। ११ अयुतः= अपृथक्। १२ वसः, मल्लयोर्यथा। १३ मेषयोर्यथा वा। १४ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामित्युभयपदोपादानेपि। १५ सम्बन्धेन। १६ आकाशतद्वाचकशब्दयोरात्मज्ञानयोश्च। १७ आधार्याधारभूतानामयुतसिद्धानां समवाय एवेति न नियम इति भावः। १८ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामित्यत्र। १९ अवधारणम्= एवकारः, अयुतसिद्धानामेवाधार्याधारभूतानामेव समवाय इति।

धाराधेयभूतेष्वपि च भावात्, घटतच्छब्द[1]ज्ञा[2]नवत् । न[3]न्वेवम् 'अयुतसिद्धानामेव' इत्यवधारणेप्यव्यभिचारात् 'आधाराधेयभूतानाम्' इति वचनमनर्थकम्, 'आधाराधेयभूतानामेव' इत्यवधारणे 'अयुतसिद्धनाम्' इतिवचनवत्, ताभ्यामव्यभिचारात्; इत्यप्यसारम्; एकद्रव्यसमवायिनां रूपरसादीनामयुतसिद्धानामेव परस्परं समवायाभावात् एकार्थ[4]समवायसम्बन्धव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुत्तरावधारण[5]म् । न ह्य[6]यं वाच्यवाचकभावादिवद्युतसिद्धानामपि सम्भवति । तथोत्तरावधारणे सत्यपि आधाराधेयभावेन संयोगविशे[7]षेण सर्वदाऽनाधाराधेयभूतानामसम्भवता व्यभिचारो मा भूदित्येवमर्थं पूर्वा[8]वधारणम् ।

इति भे[9]दकलक्षणस्याशेषदोषरहितत्वादिद[10]मुच्यते–तन्तुपटादयः सामान्यतद्व[11]दादयो वा 'संयुक्ता न भवन्ति' इति व्यवहर्तव्यम्, नियमेनायुतसिद्धत्वादाधाराधेयभूतत्वाच्च, ये तु संयुक्ता न ते तथा यथा कुण्डबदरादयः, तथा चैते, तस्मात्संयोगिनो न भवन्तीति । यद्वा तन्तुपटादिसम्बन्धः संयोगो न भवति, नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वाद्, ज्ञानात्मनोर्विषयविषयिभाववदिति ।

ननु समवायस्य प्रमाणतः प्रतीतौ संयोगाद्वैलक्षण्यसाधनं युक्तम्, न चासौ तस्यास्ति; इत्यप्यसत्; प्रत्यक्षत एवास्य प्रतीतेः । तथाहि–तन्तुसम्बद्ध एव पटः प्रतिभा[12]सते तद्रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः, सम्बन्धाभावे सह्यविन्ध्यवद्विश्ले[13]षप्रतिभासः स्यात् ।

अनुमानाच्चासौ प्रतीयते; तथाहि–'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबा[14]ध्यमानेहप्रत्ययत्वात् इह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवत् । न तावदयं प्रत्ययो निर्हेतुकः; कादाचित्कत्वात् ।

---

१ शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने, तस्य घटस्य शब्दज्ञाने तच्छब्दज्ञाने, घटश्च तच्छब्दज्ञाने चेति द्वन्द्वः । २ भूम्याकाशौ घटतच्छब्दाधारौ तौ तत्र सिद्धौ, घटतज्ज्ञाने आत्मभूम्याधारे ते तत्र सिद्धे इति । ३ आधाराधेयभूतानामितिवचनसमर्थनार्थमिदम् । आधाराधेयभावस्य रूपरसादावभावात् । ४ रूपरसादय एकार्थाः । ५ आधार्याधारभूतानामेवेति । ६ प्रथमावधारणेनैव तद्व्यभिचारनिवृत्तिः कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह । ७ अस्मिन्पर्वते वृक्षा इति । ८ अयुतसिद्धानामेवेति । ९ अनेन प्रकारेणाशेषदोषरहितत्वमयुतसिद्धेत्यादिभेदकलक्षणस्य, इतरेभ्यो द्रव्यादिभ्यः समवायस्य भेदकत्वाल्लक्षणं भेदकमयुतसिद्धेत्यादि । १० अग्रेतनं प्रसक्तप्रतिषेधार्थमनुमानम् । संयोगानां प्रतिषेधात्समवायस्य सिद्धिर्यतो भवति ततः परिशेषानुमानमित्यर्थः । ११ आदिपदेन गुणगुणिनः क्रियातद्वन्तश्च । १२ प्रत्यक्षतः । १३ पटतद्रूपादीनाम् । १४ इहात्मनि रूपादय इत्यादीहप्रत्ययेन बाध्यमानेन व्यभिचारपरिहारार्थमिदम् ।

नापि तन्तुहेतुकः पटहेतुको वा; तत्र[1] 'तन्तवः, पटः' इति वा प्रत्ययप्रसङ्गात्। नापि[2] वासनाहेतुकः; तस्याः कारणरहितायाः सम्भवाभावात्। पूर्वज्ञानस्य तत्कारणत्वे तदपि कुतः स्यात्? तत्पूर्ववासनातश्चेत्; अनवस्था। ज्ञान[3]वासनयोरनादित्वाद्यमदोषश्चेत्; न; एवं नीलादि[4]सन्तानान्तर[5]स्वसन्तानसंविदद्वैतादिसिद्धेरप्यभावानुषङ्गात्[6], अनादि[7]वासना[8]वशादेव नीलादि[9]प्रत्ययस्य स्वतो[10]ऽवभास[11]स्य च सम्भवात्। नापि[12] तादात्म्यहेतुकोयम्; तादात्म्यं ह्येकत्वम्, तत्र च सम्बन्धाभाव एव स्यात् द्विष्ट(ष्ठ)त्वात्तस्य। न च तन्तुपटयोरेकत्वम्; प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासात् परिमाणसंख्याजातिभेदाच्च घटपटवत्। नापि संयोगहेतुकः; युतसिद्धेष्वेवार्थेषु संयोगस्य सम्भवात्। न चात्र समवायपूर्वकत्वं साध्यते येन दृष्टान्तः साध्यविकलो हेतुश्च विरुद्धः[13] स्यात्। नापि संयोगपूर्वकत्वं येनाभ्युपगमविरोधः स्यात्। किं तर्हि? सम्बन्धमात्रपूर्वकत्वम्। तस्मिंश्च सिद्धे परिशेषात्समवाय एव तज्जनको भविष्यति।

त(य)च्चेदम्-'विवादास्पदमिदमिहेति ज्ञानं न समवाय[14]पूर्वकमबाधितेहज्ञानत्वात् इह कुण्डे दधीतिज्ञानवत्' इति विशेषे(ष) विरुद्धा[15]नुमानम्; तत्सकलानुमानोच्छेद[16]कत्वादनुमानवादिनां[17] न प्रयोक्तव्यम्।

यच्चोच्यते[18]-इदमिहेति ज्ञानं न समवायालम्बनम्; तत्सत्यम्; विशिष्टाधारविषयत्वात्[19]। न हि 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः केवलं समवायमालम्बते; समवायविशिष्टतन्तुपटालम्बनत्वात्। वैशिष्ट्यं चानयोः सम्बन्ध इति।

---

१ तन्त्वादौ। २ सौगतं प्रत्याह। ३ विकल्पज्ञानाद्वासना वासनातो विकल्पज्ञानमिति बीजाङ्कुरवत्। ४ सन्तानान्तरं च स्वसन्तानश्च तौ नीलादीनां ग्राहकौ नीलसन्तानान्तरस्वसन्तानौ च स्वसंविदद्वैतादिश्च ज्ञानाद्वैतादिश्चेत्यर्थः, तेषां सिद्धिरिति वाक्यम्। ५ नीलादेः समुत्पद्यमानो नीलं नीलमिति प्रत्ययः सन्नेव समुत्पद्यते विद्यमानान्नीलादेः समुत्पद्यमानत्वान्न तु कल्पनाशिल्पिकल्पितवासनातः समुत्पद्यमानः सन्समुत्पद्यते। ६ ततोनादिवासनाहेतुकत्वमस्य प्रत्ययस्य नेत्यर्थः। ७ कुतः। ८ न तु नीलादेः। ९ आदिना सन्तानसंग्रहः। १० अन्यतोवभासमाने द्वैतप्रसक्तिस्तन्निरासार्थं स्वतो विशेषणम्। ११ संविदद्वैतस्य। १२ जैनमतमाशङ्क्याह। १३ सम्बन्धमात्रे साध्ये सम्बन्धविशेषसाधनात्। १४ किन्तु संयोगपूर्वकम्। १५ विशेषणसमवायपूर्वकत्वेन विरुद्धमसमवायपूर्वकत्वं तस्यानुमानम्, विशेषविरुद्धानुमाने इदमुदाहरणं पर्वतः पर्वतस्थेनाग्निनाग्निमान्न भवति धूमवत्त्वान्महानसवदिति। १६ पर्वतोग्निमान्धूमवत्त्वादित्यादेः सम्यगनुमानस्य यदुच्छेदकानुमानं तस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः। १७ जैनादिना। १८ जैनादिना। १९ तस्य ज्ञानस्य।

न चास्य संयोगवन्नानात्वम्; इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्तावत्[1]। न च सम्बन्धत्वमेव विशेषलिङ्गम्[2]; अस्यान्यथासिद्धत्वात्। न हि संयोगस्य[3] सम्बन्धत्वेन नानात्वं साध्यतेऽपि तु प्रत्यक्षेण भिन्नाश्रयसमवेतस्य क्रमेणोत्पादोपलब्धेः। समवायस्य चानेकत्वे सति अनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न[4] स्यात्। संयोगे तु संयोगत्वबलान्नानात्वेपि स्यात्। न[5] चैतत्समवाये सम्भवति; समवायत्व[6]स्य समवाये समवायाभावात्, अन्यथानवस्था[7] स्यात्। [8]संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्यवृत्तित्वात्, संयोगत्वं[9] पुनः संयोगे[10] समवेतमिति।

न चैकत्वे समवायस्य द्रव्यत्ववद्गुणत्वस्याप्य[11]भिव्यञ्जकं द्रव्यं कुतो न भवतीति वाच्यम्[12]? आधारशक्ते[13]र्नियामकत्वात्[14]। द्रव्याणां[15] हि द्रव्यत्वा[16]धारशक्तिरेव, गुणादेस्तु गुणत्वा[17]द्याधारशक्तिरिति[18]। न चानुगतप्रत्ययजनकत्वेन सामान्यादस्याऽभेदः; भिन्न[19]लक्षणयोगित्वात्।

यद्वा, 'समवायीनि द्रव्याणि' इत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वाद्दण्डी[20]त्यादिप्रत्ययवत्' इत्यतः समवायसिद्धिः। न चान्येषा[21]मत्रा[22]नुरागः[23] सम्भवति। किन्तर्हि? समवायस्यैव। अतः स एव विशेषणम्। अप्रतिपन्नसमयस्य 'समवायी' इतिप्रतिभासाभावादस्याऽविशेषणत्वम्, दण्डादावपि समानं तस्य[24]

---

१ सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्ताया नानात्वं नास्ति यथा। २ समवायो नाना सम्बन्धत्वात्संयोगवदिति। ३ संयोगस्य। ४ अयं समवायोऽयं समवाय इति। ५ ननु समवायेपि समवायत्वबलान्नानात्वेप्यनुगतप्रत्ययोत्पत्तिः स्यादिति शङ्कायामाह। ६ सामान्यस्य। ७ समवायत्वस्य समवाये सद्भावेऽपरः समवायः समायातस्तत्रापि समवायत्वसमवायेऽपरः समवायः समायात इति। ८ तर्हि संयोगस्याप्यपरसंयोगपूर्वकत्वेनानवस्था कुतो न स्यादित्याह। ९ कथं तर्हि संयोगत्वमित्याह। १० संयोगान्तरापेक्षा नास्तीति भावः। ११ येन समवायेन द्रव्ये द्रव्यत्वं समवेतं तेनैव समवायेन गुणे गुणत्वमपि समवेतं समवायस्यैकत्वात्, ततश्चात्मनि समवेतस्य द्रव्यत्वस्य द्रव्यं यथाभिव्यञ्जकं भवति तथा गुणत्वस्याप्यभिव्यञ्जकं कुतो न भवति एकसमवायसमवेतत्वाविशेषादिति भावः। १२ जैनादिना। १३ द्रव्यस्वरूपायाः। १४ द्रव्यस्य। १५ घटादीनाम्। १६ द्रव्यत्वमेव स्वरूपशक्तिरिति भावः, निजा हि शक्तिः पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिकमेव। १७ गुणत्वादिकमेव स्वरूपं शक्तिः। १८ स्वाभिधेयस्यैवाभिव्यञ्जकं नान्यथेति भावः। १९ अबाधितानुगतप्रत्ययहेतुः सामान्यमिति लक्षणं सामान्यस्य, समवायस्य त्वयुतसिद्धेत्यादि। २० दण्डलक्षणविशेषणपूर्वकत्वमत्र। २१ तादात्म्यसंयोगादीनाम्। २२ समवायीनि द्रव्याणीति वचने। २३ विशेषणत्वम्। २४ अप्रतिपन्नदण्डस्य।

दण्डाद्युल्लेखेन 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययानुत्पत्तेः। दण्डादेरभिधानयोजनाभावेपि 'अनेन वस्तुना तद्वानयम्' इत्यनुरागप्रतीतिः 'संसृष्टा एते तन्तुपटादयः' इति सम्बन्ध[1]मात्रेपि तुल्या। केवलं सङ्केताभावात् 'अयं समवायः' इति व्यपदेशाभावः। प्रतिपन्नसमयस्तु दण्डादेरिव समवायस्यापि विशेषणतामभिधानयोजनाद्वारेण प्रतिपद्यते।

यच्चान्यत्समवाये बाधकमुच्यते[2]—'[3]नानिष्पन्नयोः समवायः सम्बन्धिनोरनुत्पादे सम्बन्धाभावात्। निष्पन्नयोश्च संयोग एव। असम्ब[4]न्धे चास्य 'समवायिनोः समवायः' इति व्यपदेशानुपपत्तिः। [5]सम्बन्धे वा न स्वतोसौ; संयोगादीनामपि तथा तत्प्रसङ्गात्। परतश्चेदनवस्था। न च गुणादीनामाधेयत्वं निष्क्रियत्वात्। गतिप्रतिबन्धकश्चाधारो जलादेर्घटादिवत्। तथा न [6]स्वरूपसंश्लेषः समवायो यतस्तस्मिन्सत्येकत्वमेव न सम्बन्धः। नापि पारतन्त्र्यम्; अनिष्पन्नयोराधारस्यैवासत्त्वात्। स्वतन्त्रेण निष्पन्नयोश्च न पारतन्त्र्यम्'; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो न निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा समवायः, स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तिरूपत्वात्। न हि निष्पत्तिरन्या समवायश्चान्यो येन पौर्वापर्यम्।

एतेन[7] 'रूपसंश्लेषः पारतन्त्र्यं वा' इत्याद्यपास्तम्। नापि समवायस्य सम्बन्धान्तरेण सम्ब[8]न्धो युक्तो येनानवस्था स्यात्, सम्बन्धस्य समानलक्षणसम्ब[9]न्धेन सम्बन्धस्यान्यत्राद्दष्टेः संयोग[10]वत्। [11]अग्नेरुष्णतावत्तु स्वत एवास्य सम्बन्धो युक्तः स्वत एव सम्बन्धरूपत्वात्, न संयोगादीनां तदभावात्। न ह्येकस्य स्वभावोऽन्य[12]स्यापि, अन्यथा स्वतोग्नेरुष्णत्वदर्शनाज्जलादीनामपि तत्स्यात्।

यच्चोक्तम्-'निष्क्रियत्वात्ते[13]षां नाधेयत्वम्' इति; तदप्यसत्; संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणादीनाम्, संयोगि[14]नां सक्रियत्वेनेव तेषां निष्क्रियत्वेप्याधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेश्चेति[15]।

---

१ समवायस्याभिधानयोजनाभावेपि संसृष्टा एते तन्तुपटादय इति सम्बन्धमात्रेपि अनुरागप्रतीतिः। २ जैनादिना। ३ असौ समवायः सम्बन्धिनोरनिष्पन्नयोः स्यान्निष्पन्नयोर्वेति विकल्पद्वयं हृदि निधाय दूषयति। ४ किञ्चासौ समवायः समवायिभ्यामसम्बद्धः सम्बद्धो वेति विकल्पद्वयं विधाय प्रथमविकल्पे दूषणमाह। ५ सम्बद्धश्चेत्स्वतः परतो वेति विकल्पद्वयमत्रापि योज्यम्। ६ स्वरूपयोः स्वभावयोः संश्लेषः सम्बन्धः। ७ स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तिरूपत्वादित्यनेन ग्रन्थेन। ८ समवायिना सह। ९ अपरसमवायेन। १० संयोगिनोः संयोगस्य च समवायेन सम्बन्धसद्भावात्। ११ कथं तर्ह्यस्य सम्बन्ध इत्याशङ्कायामाह। १२ संयोगस्य। १३ गुणादीनाम्। १४ द्रव्याणाम्। १५ संयोगिनां सक्रियत्वादेव तेषामाधेयत्वमिति भावः।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तमयुतसिद्धेत्यादि; तत्रेदमयुतसिद्धत्वं शास्त्रीयम्, लौकिकं वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तन्तुपटादीनां शास्त्रीयायुतसिद्धत्वस्यासम्भवात्। वैशेषिकशास्त्रे हि प्रसिद्धम्-अपृथगाश्रयवृत्तित्वमयुतसिद्धत्वम्, तच्चेह नास्त्येव, 'तन्तूनां स्वावयवांशुषु वृत्तेः पटस्य च तन्तुषु' इति पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेव। एवं गुणकर्मसामान्यानामप्यपृथगाश्रयवृत्तित्वाभावः[1] प्रतिपत्तव्यः। लोकप्रसिद्धैकभाजनवृत्तिरूपं त्वयुतसिद्धत्वम् दुग्धाम्भसोर्युतसिद्धयोरप्यस्तीति[2]।

ननु यथा कुण्डदध्यवयवाख्यौ[3] पृथग्भूतावाश्रयौ तयोश्च[4] कुण्डस्य दध्नश्च वृत्तिर्न तथात्र[5] चत्वारोऽर्थाः प्रतीयन्ते[6]-'द्वावाश्रयौ[7] पृथग्भूतौ द्वौ चाश्रयिणौ[8], तन्तोरेव स्वावयवापेक्षयाश्रयित्वात् पटापेक्षया चाश्रयत्वात्त्रयाणामेवार्थानां[9] प्रसिद्धेः[10], 'पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः' इत्यस्य युतसिद्धिलक्षणस्याभावादयुतसिद्धत्वं[11] तेषामिति चेत्; कथमेवमाकाशादीनां[12] युतसिद्धिः स्यात्? तेषामन्याश्रयविवेकतः[13] पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावात्।

'नित्यानां[14] च पृथग्गतिमत्त्वम्[15]' इत्यपि तत्रासम्भाव्यम्; न खलु विभुद्रव्यपरमाणुवद्विभुद्रव्याणा[16]मन्यतरपृथग्गतिमत्त्वं परमाणुद्वयवदुभयपृथग्गतिमत्त्वं वा सम्भवति; अविभुत्वप्रसङ्गात्। तथैक[17]द्रव्याश्रयाणां[18] गुणकर्मसामान्यानां परस्परं पृथगाश्रयवृत्तेरभावादयुतसिद्धिप्रसङ्गतोऽन्योन्यं समवायः स्यात्। स च नेष्टस्तेषामाश्रयाश्रयिसमवाय(यिभावा)भावात्। इतरेतराश्रयभावा(यश्चसमवाय) सिद्धौ हि पृथगाश्रयसमवायित्वलक्षणा युतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तन्निषेधेन समवायसिद्धिरिति।

ननु लक्षणं विद्यमानस्यार्थस्यान्यतो भेदेनावस्थापकं न तु सद्भावकारकम्, तेनायमदोषश्चेत्; ननु ज्ञापकपक्षे सुतरामितरेतराश्रयत्वम्। तथाहि-नाऽज्ञातया युतसिद्ध्या समवायो ज्ञातुं शक्यते, अनधिगतश्चासौ न युतसिद्धिमवस्थापयितुमुत्सहते इति।

---

१ गुणादीनां गुणवदादिषु वृत्तिरेषां च स्वावयवेष्वाश्रयभूतेषु वृत्तिरिति भावः। २ अतिव्याप्तिदूषणमिदम्। ३ कुण्डं च दधि च तथोक्ते तयोरवयवौ। ४ अधिकरणभूतयोः। ५ तन्तुपटादिषु। ६ ते के चत्वारोऽर्था इत्युक्ते सत्याह। ७ कुण्डदध्यवयवौ। ८ आश्रयौ दधिकुण्डावयवलक्षणौ विद्येते ययोर्दधिकुण्डयोस्तावाश्रयिणौ। ९ समवाये। १० ततश्च। ११ ततश्च तेषां समवायसिद्धिरिति भावः। १२ आदिना आत्मकालदिशां च। १३ विवेकः=अभावः, व्यापकत्वात्तेषामेकाश्रयवृत्तेः। १४ पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिलक्षणं नित्येषु यद्यपि नास्ति तथापि पृथग्गतिमत्त्वं भविष्यतीत्याह। १५ लक्षणम्। १६ मध्ये। १७ एकद्रव्यं=विभु आत्माकाशादि। १८ बसः।

न चातो लक्षणात्समवायः सिद्ध्यति व्यभिचारात्। तथाहि-नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वमाधाराधेयभूतसम्बन्धत्वं च 'आकाशे वाच्ये वाचकस्तच्छब्दः' इति वाच्यवाचकभावे 'आत्मनि विषयभूते अहमिति ज्ञानं विषयि' इति विषयविषयिभावे च विद्यते इति। ननु सर्वस्य वाच्यवाचकवर्गस्य विषयविषयिवर्गस्य च नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वासम्भवो युतसिद्धेष्वप्यस्य सम्भवाद्घटतच्छब्दज्ञानवत्, अतो न व्यभिचारः; इत्यप्यसारम्; वर्गापेक्षयापि लक्षणस्य वि[3]पक्षैकदेशवृत्तेर्व्यभिचारित्वात्। इत्थं च विपक्षैकदेशादव्यावृत्तस्य सर्वैरप्यनैकान्तिकत्वम्।

यच्चोक्तम्-तन्तुपटादयः संयोगिनो न भवन्तीत्यादि; तत्सत्यम्; तत्र तादात्म्योपगमात्।

यच्चूक्तम्-प्रत्यक्षत एव समवायः प्रतीयत इत्यादि; तदयुक्तम्; असाधारणस्वरूपत्वे हि सिद्धे सिध्येदर्थानां प्रत्यक्षता पृथुबुध्नोदराद्याकारघटादिवत्। न चास्य तत्सिद्धम्। तद्धि किमयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, सम्बन्धमात्रं वा? न तावदयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्; सर्वैरप्रतीयमानत्वात्। यत्पुनर्यस्य स्वरूपं तत्तेनैव स्वरूपेण सर्वस्यापि प्रतिभासते यथा पृथुबुध्नोदराद्याकारतया घट इति। न चैकस्य सामान्यात्मकं स्वरूपं युक्तम्; समानानामभावे सामान्याभावाद्गगने गगनत्ववत्। नापि सम्बन्धमात्रं समवायस्यासाधारणं स्वरूपम्; संयोगादावपि सम्भवात्।

किञ्च, तद्रूपतयासौ सम्बन्धबुद्धौ प्रतिभासेत, इहेति प्रत्यये वा, समवाय इत्यनुभवे वा? यदि सम्बन्धबुद्धौ, कोयं सम्बन्धो नाम-किं सम्बन्धत्वजातियुक्तः सम्बन्धः, अनेकोपादानजनितो वा, अनेकाश्रितो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा, सम्बन्धबुद्धिविषयो वा? न तावत्सम्बन्धत्वजातियुक्तः; समवायस्यासम्बन्धत्वप्रसङ्गात्। द्रव्यादित्रयान्यतमरूपत्वाभावेन समवायान्तरासत्त्वेन[11] चात्र सम्बन्धत्वजातेरप्रवर्त्तनात्। अथ संयोगवदनेकोपादानजनितः; तर्हि घटादेरपि सम्बन्धत्व[12]प्रसङ्गः। नाप्यनेकाश्रितः; घट-

१ विपक्षे। २ शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने, तस्य घटस्य शब्दज्ञाने तच्छब्दज्ञाने इति द्वन्द्वः। ३ वाच्यवाचकभावविषयविषयिभावसमूहे विपक्षे नास्ति तथापि तस्यैकदेशवृत्तित्वादनैकान्तिकः। ४ असाधारणस्वरूपम्। ५ समवायस्य। ६ समवायेन सह समानानां वस्तूनाम्। ७ तस्यैकत्वात्सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात्। ८ अयं सम्बन्ध इति ज्ञाने। ९ समवायस्य। १० सम्बन्धत्वजातेर्वृत्त्यर्थं समवाये। ११ समवायान्तरासत्त्वं च समवायस्यैकत्वादवगन्तव्यम्। १२ अनेकोपादानजनितत्वाविशेषात्।

त्वादेः सम्बन्धत्वानुषङ्गात्। नापि सम्बन्धबुद्ध्युत्पादकः; लोचना[1]देरपि तत्त्वप्रसक्तेः। नापि सम्बन्धबुद्धिविषयः; सम्बन्धसम्बन्धिनोरेकज्ञानविषयत्वे सम्बन्धिनोपि तद्रूपतानुषङ्गात्। न[2] च प्रतिविषयं ज्ञानभेदः; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात्।

अथेहबुद्धौ समवायः प्रतिभासते; न[3]; इहबुद्धेरधिकरणाध्यवसायरूप[4]त्वात्। न चा[5]न्यस्मिन्नाका[6]रे प्रतीयमानेऽन्याका[7]रोर्थः कल्पयितुं युक्तोतिप्रसङ्गा[8]त्।

अथ समवायबुद्ध्यासौ प्रतीयते; तन्न; समवायबुद्धेरसम्भवात्। नहि 'एते तन्तवः, अयं पटः, अयं च समवायः' इत्यन्योन्यविविक्तं त्रितयं बहिर्ग्राह्याकारतया कस्याञ्चित्प्रतीतौ प्रतीयते तथानुभवाभावात्।

सर्वसमवाय्यनुगतैकस्वभावो ह्यसौ तत्र प्रतिभासेत, तद्व्यावृत्तस्वभावो वा? न तावत्तद्व्यावृत्तस्वभावः; सर्वतो व्यावृत्तस्वभावस्यान्यासम्बन्धित्वेन गगनाम्भोजवत्समवायत्वानुपपत्तेः। नापि तदनुगतैकस्वभावः; सामान्यादेरपि समवायत्वानुषङ्गात्। न चाखिलसमवाय्यऽप्रतिभासे तदनुगतस्वभावतयासौ प्रत्यक्षेण प्रत्येतुं शक्यः। अथानुगतव्यावृत्तरूपव्यतिरेकेण सम्बन्धरूपतयासौ प्रतीयते; तन्न; सम्बन्धरूपतायाः प्रागेव कृ[9]तोत्तरत्वात्।

यदप्युक्तम्-'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवदित्यनुमानाच्चासौ प्रतीयते' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; हेतोराश्रयासिद्धत्वात्। तदसिद्धत्वं च[10] 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धेः। अप्रसिद्धविशेषणश्चायं हेतुः; 'पटे तन्तवो वृ[11]क्षे शाखाः' इत्यादिरूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययस्य बाध्यमा[12]नत्वात्। स्वरूपासिद्धश्चायम्; तन्तुपटप्रत्यये

---

१ आदिपदेन प्रकाशादेश्च, लोचनादिरपि वस्तुषु सम्बन्धबुद्धिं जनयति। २ प्रतिविषयं ज्ञानभेदात्कथं सम्बन्धिनोरेकज्ञानविषयत्वं यतः सम्बन्धिनोरपि सम्बन्धरूपता स्यादित्याशङ्कायामाह। ३ इति चेदिति शेषः। ४ समवायस्याधाराधेयभावलक्षणसम्बन्धाकारोल्लेखित्वात्समवाय इति न घटते। ५ इहेति बुद्धेरपि सम्बन्धप्रत्ययत्वं कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह। ६ अधिकरणलक्षणेर्थे। ७ सम्बन्धलक्षणः। ८ घटप्रतिभासे पटप्रतिभासप्रसङ्गात्। ९ कोयं सम्बन्धो नाम? किं सम्बन्धत्वजातियुक्तः इत्यादिरीत्या। १० प्रतिवादिनं प्रति। ११ अवयविनि। १२ इह तन्तुषु पट इति अवयवेष्ववयविनो वृत्तिद्वारेण प्रत्ययोत्पत्तिर्यथा तथेह पटे तन्तवो वृक्षे शाखा इत्यवयविष्ववयवानां वृत्तिद्वारेणापि प्रत्ययोत्पत्तिर्लोकप्रसिद्धैव यतः।

इहप्रत्ययत्वस्यानुभवाभावात्, 'पटोयम्' इत्यादिरूपतया हि प्रत्ययोऽनुभूयते।

अनैकान्तिकश्च; 'इह प्रागभावेऽनादित्वम्, इह प्रध्वंसाभावे प्रध्वंसाभावाभावः' इत्यबाध्यमानेहप्रत्ययस्य सम्बन्धपूर्वकत्वाभावात्। न चात्र विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धो वाच्यः; सम्बन्धमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावस्याऽसम्भवात्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। सम्बन्धे सत्येव हि द्रव्यगुणकर्मादावेकस्य विशेषणत्वमपरस्य विशेष्यत्वं दृष्टम्। तदभावेपि विशेषणविशेष्यभावकल्पनायामतिप्रसङ्गः[2] स्यात्।

न चात्रा[3]ऽदृष्टलक्षणः सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावनिबन्धनम् इत्यभिधातव्यम्; षोढासम्बन्धवादित्वव्याघातानुषङ्गात्। न चास्य सम्बन्धरूपता। सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताऽभ्युपेतः। अदृष्टश्चात्मवृत्तितया प्रागभावाऽनादित्वयोरतिष्ठन्[4]कथं द्विष्ठो भवतीति चिन्त्यमेतत्? यदि चात्राऽदृष्टः सम्बन्धः; तर्हि गुणगुण्यादयोप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिसम्बन्धकल्पनया।

किञ्च, अतोऽनुमानात्[5]सम्बन्धमात्रं साध्यते, तद्विशेषो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धस्येष्टत्वात्[6]तन्तुपटादीनाम्। ननु तेषां तादात्म्ये सति तन्तवः पटो वा स्यात्, तथा च सम्बन्धिनोरेकत्वे कथं सम्बन्धो नामास्य द्विष्ठत्वात्? तदप्ययुक्तम्; यो हि द्विष्ठः सम्बन्धस्तस्येत्थं[7]मभावो युक्तः, यस्तु तत्स्वभावता[8]लक्षणः कथं तस्याभावो युक्तः? तन्तुस्वभाव एव हि पटो नार्थान्तरम्, आतानवितानीभूततन्तुव्यतिरेकेण देशभेदादिना पटस्यानुपलभ्यमानत्वात्।

अथ सम्बन्धविशेषः साध्यते; स किं संयोगः, समवायो वा? संयोगश्चेत्; अभ्युपगमबाधा। समवायश्चेत्; दृष्टान्त[9]स्य साध्यविकलता।

अथोच्यते-न संयोगः समवायो वा साध्यते किन्तु सम्बन्धमात्रम्, तत्सिद्धौ च परिशेषात् समवायः सिध्यतीति; तदप्युक्तिमात्रम्; परिशेषन्यायेन समवायस्य सिद्धेरसंभवात्, तस्यानेक-

१ यतः। २ सह्यविन्ध्ययोरपि विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गः सम्बन्धाभावाविशेषात्। ३ प्रागभावे। ४ अप्रवर्त्तमानः सन्। ५ इह तन्तुषु पट इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वादित्यतः। ६ जैनानाम्। ७ सम्बन्धिनोरेकत्वप्रकारेण। ८ तन्तव एव स्वभावो यस्य पटस्यासौ तथोक्तस्तस्य भावस्तत्स्वभावता सैव लक्षणं यस्य सम्बन्धस्येति बसः। ९ इह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवदित्यस्य।

दोषदुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात् । यदि हि संबन्धान्तर[1]मनेकदोषदुष्टं समवायस्तु निर्दोषः स्यात्, तदासौ तन्न्यायात् सिध्येत् । न चैवमित्युक्तम् ।

कश्चायं परिशेषो नाम? प्रसक्त[2]प्रतिषेधे विशि(धे शि)ष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः स[3] इति चेत्; स किं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? न तावदप्रमाणमभिप्रेतसिद्धौ समर्थम्; अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणं चेत्किं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य[4] प्रसक्तप्रतिषेधद्वारेणाभिप्रेतसिद्धावसमर्थत्वात् । अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानं परिशेषः; तर्हि प्रकृतानुमानोपन्यासवैयर्थ्यम्, तस्योपन्यासेपि परिशेषमन्तरेणाभिप्रेतसिद्धेरभावात् । परिशेषस्तु[5] प्रमाणान्तरमन्तरेणापि तत्सिद्धौ समर्थ इति स एवोच्यताम्, न चासावुक्तः, तत् कथं समवायः सिध्येत्?

ननु चेहप्रत्ययस्य समवायाहेतुकत्वे निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् कादाचित्कत्वविरोधः; तदसत्; तादात्म्यहेतुकतयास्य[6] प्रतिपादितत्वात् । महेश्वरहेतुकत्वाद्वा कादाचित्कत्वाविरोधः । तस्य[7] तदहेतुकत्वे वा तेनैव कार्यत्वादिहेतोर्व्यभिचारः । ननु महेश्वरोऽसम्बन्धत्वात्कथं सम्बन्धबुद्धेः[8] कारणमिति चेत्? प्रभुशक्तेरचिन्त्यत्वात् । यो हीश्वरस्त्रैलोक्यकार्यकरणसमर्थः स कथं 'पटे रूपादयः' इति बुद्धिं न विदध्यात्? प्रभुः खलु यदेवेच्छति तत्करोति, अन्यथा प्रभुत्वमेवास्य हीयते । नच 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिप्रत्यये सम्बन्धपूर्वकत्वोपलम्भादत्रापि[9] तत्पूर्वकत्वस्यैव सिद्धिः; तत्रापी[10]श्वरहेतुकत्वं कार्यस्ये[11]च्छतस्त[12]च्चोद्य[13]निवृत्तेः । संयोगश्चार्थान्तर[14]भूतस्तन्नि[15]मित्तत्वेनात्रा[16]प्यसिद्धः; तस्यासिद्धस्वरूपत्वात् ।

"ननु संयोगो नामार्थान्तरं न स्यात्तदा क्षेत्रे बीजादयो निर्विशिष्ट[17]त्वात् सर्वदैवा[18]ङ्कुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम् । तस्मात्सर्वदा

१ संयोगतादात्म्यादिरूपम् । २ प्रसक्तः=प्रसङ्गप्राप्तः सर्वजनप्रसिद्धो वा संयोगतादात्म्यरूपः, तस्य प्रतिषेधे सति विशिष्यमाणः समवायरूपस्तस्य सम्यक् प्रतीतिहेतुरित्यर्थः । ३ परिशेषः । ४ प्रत्यक्षस्य सन्निहितरूपादिष्वेव प्रवर्तमानत्वात् । ५ परिशेषोपि प्रमाणान्तरमन्तरेण तत्सिद्धावसमर्थो भविष्यतीत्युक्ते सत्याह । ६,७ इहेदमिति प्रत्ययस्य । ८ इहेदमिति प्रत्ययस्य । ९ इह तन्तुषु पट इत्यादीहप्रत्ययेपि । १० इह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्यये । ११ दधीत्यादिप्रत्ययस्य । १२ वैशेषिकस्य । १३ तच्चोद्यं हि महेश्वरहेतुकत्वाद्वा कादाचित्कत्वाविरोध इत्यादि । १४ अर्थौ संयोगक्रियाधारौ ताभ्यामन्यः संयोग इत्यर्थः । १५ इहेति प्रत्ययनिमित्तत्वेन । १६ इह कुण्डेपि । १७ संयोगे सत्यप्यपूर्वसामर्थ्योद्भवाभावादित्यर्थः । १८ गृहे स्थापिताः सन्तोपीत्यर्थः ।

कार्यानारम्भात् तेऽङ्कुरादिकार्योत्पत्तौ कारणान्तर[1]सापेक्षाः, यथा मृत्पिण्डदण्डादयो घटकरणे कुम्भकारादिसापेक्षाः । योसावपेक्ष्यः स संयोग इति ।

किञ्च, द्रव्ययोर्विशेषण[2]भावेनाध्यक्षत एवासौ प्रतीयते; तथाहि-कैश्चित्[3]केनचित्[4] 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एवाहरति, न द्रव्यमात्रम् ।

किञ्च, 'कुण्डली देवदत्तः' इत्यादिमतिरुपजायमाना किन्निबन्धनेत्यभिधातव्यम्? न तावत्पुरुषकुण्डलमात्र[5]निबन्धना; सर्वदा तस्याः सद्भावप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदेव केनचित्कचिदुपलब्धसत्त्वं तस्यैवान्यत्र विधिप्रतिषेधमुखेन लोके व्यवहारप्रवृत्तिर्दृष्टा । यदि तु संयोगो न कदाचिदुपलब्धस्तत्कथमस्य 'चैत्रोऽकुण्डली कुण्डली' वा इत्येवं विभागेन व्यवहारो भवेत्? 'चैत्रोऽकुण्डली' इत्यत्र हि न कुण्डलं चैत्रो वा प्रतिषिध्यते देशादिभेदेनानयोः सतोः प्रतिषेधायोगात् । तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोगः प्रतिषिध्यते[6] । तथा 'चैत्रः कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन चैत्रकुण्डलयोर्नान्यतरस्य विधानं तयोः सिद्धत्वात् । पारिशेष्यात्संयोगस्यैव विधिर्विज्ञायते ।" [न्यायवा० पृ० २१८-२२२]

इत्यप्युद्द्योतकरस्य मनोरथमात्रम्; तथाहि-यत्तावदुक्तम्-निर्विशिष्टत्वाद्बीजादयः सर्वदैवाङ्कुरं कुर्युः; तदयुक्तम्; तेषां निर्विशिष्टत्वासिद्धेः, सकलभावानां परिणामित्वात् । ततो विशिष्टपरिणामापन्नानामेव तेषां जनकत्वं नान्यथा ।

यच्चोक्तम्-'सर्वदा कार्यानारम्भात्' इत्यादि; तत्रापि कारणमात्रसापेक्षत्वसाधने सिद्धसाध्यता, अस्माभिरपि विशिष्टपरिणामापेक्षाणां तेषां कार्यकारित्वाभ्युपगमात् । अथाभिमतसंयोगाख्यपदार्थान्तरसापेक्षत्वं साध्यते; तदानेन[8] हेतोरन्वयासिद्धेरनैकान्तिकता, तमन्तरेणापि संभवाविरोधात् । दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता[9] । यदि च संयोगमात्रसापेक्षा एव ते तज्जनकाः; तर्हि प्रथमोपनिपाते एव क्षित्यादिभ्योङ्कुरादिकार्योदयप्रसङ्गः पश्चा-

---

१ कारणान्तरं=संयोगः । २ द्रव्ये संयोगवती इति । ३ पुमान् । ४ पुंसा । ५ संयोगरूपापूर्वस्वभावप्रादुर्भावानपेक्षा । ६ पुरुषकुण्डलयोः पार्थक्येन स्थितावस्थायामपीत्यर्थः । ७ चैत्रोऽकुण्डलीति निषेधवाक्येन । ८ अन्वयः=अविनाभावः । ९ मृत्पिण्डादयः कुम्भकारापेक्षा घटकरणे प्रभवन्ति तथापि नासौ कुम्भकारः संयोगस्वरूप इति ।

दिवाविकलकारणत्वात् । तदा तदनुत्पत्तौ वा पश्चादप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो विशेषाभावात् ।

यदप्युक्तम्–द्रव्ययोर्विशेषणभावेनेत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यतो न द्रव्याभ्यामर्थान्तरभूतः संयोगः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षे प्रतिभाति यतस्तद्दर्शनाद्विशिष्टे द्रव्ये आहरेत् । किं तर्हि? प्रागभाविसान्तरावस्थापरित्यागेन निरन्तरावस्थारूपतयोत्पन्ने वस्तुनी एव संयुक्तशब्दवाच्ये, अवस्थाविशेषे प्रभावितत्वात् संयोगशब्दस्य । तेन यत्र तथाविधे वस्तुनी संयोगशब्दविषयभावापन्ने पश्यति ते एवाहरति, नान्ये ।

यदप्युक्तम्–कुण्डलीत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतो यथैव हि चैत्रकुण्डलयोर्विशिष्टावस्थाप्राप्तिः संयोगः सर्वदा न भवति, तद्वत् 'कुण्डली' इति मतिरप्यवस्थाविशेषनिबन्धना कथं तदभावे भवेत्? विधिप्रतिषेधावपि न केवलयोश्चैत्रकुण्डलयोः, किन्त्ववस्थाविशेषस्यैवेत्युक्तदोषानवकाशः । ततो ये अनेकवस्तुसन्निपाते सत्युपजायन्ते प्रत्यया न ते परपरिकल्पितसंयोगविषयाः यथा प्रविरलावस्थितानेकतन्तुविषयाः प्रत्ययाः, तथा चैते संयुक्तप्रत्यया इति ।

यच्चान्यदुक्तम्–'विशेषविरुद्धानुमानं सकलानुमानोच्छेदकत्वान्न वक्तव्यमिति; तत्किमनुमानाभासोच्छेदकत्वान्न वाच्यम्, सम्यगनुमानोच्छेदकत्वाद्वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; न हि कालात्ययापदिष्टहेतूत्थानुमानोच्छेदकस्य प्रत्यक्षादेरनुमानवादिनोपन्यासो न कर्तव्योऽतिप्रसक्तेः । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; न हि धूमादिसम्यगनुमानस्य विशेषविरुद्धानुमानसहस्रेणापि प्रत्यक्षादिभिरपह्नुतविषयेण बाधा विधातुं पार्यते । न च विशेषविरुद्धानुमानत्वादेवेदमवाच्यम्; यतो न विशेषविरुद्धानुमानत्वमसिद्धत्वादिवद्धेत्वाभासनिरूपणप्रकरणे दोषो निरूपितो येनानुमानवादिभिस्तदसिद्धत्वादिवन्न प्रयुज्यते । ततो यद्दुष्टमनुमानं तदेव विशेषविघाताय न प्रयोक्तव्यम्–यथा 'अयं प्रदेशोऽत्रत्येनाग्निनाग्निमान्न भवति धूमवत्त्वान्महानसवत्' इत्यादिकम् । यतस्तेन यो विशेषो निराक्रियते स प्रत्यक्षेणैव तद्देशोपसर्पणे

---

१ कुम्भकारस्य संयोगरूपत्वाभावादेव । २ उच्चारितत्वात् । ३ अवस्थात्र संयुक्तरूपा । ४ चैत्रकुण्डलयोर्विधिप्रतिषेधलक्षण उक्तदोषः । ५ इन्द्रियाणां सन्निकर्षे । ६ अत्र प्रकरणे विशेषः=समवायः । ७ कालात्ययापदिष्टहेत्वाभासस्येव प्रत्यक्षादेरप्युच्छेदानुप्रसङ्गात् । ८ जैनाद्यैः । ९ तस्य=अग्नेः ।

सति प्रतीयते। न चैतत् समवाये संभवति; प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनास्य प्रतिपादितत्वात्। न चातद्विषयं बाधकमतिप्रसङ्गात्[1]।

यत्पुनरुक्तम्-न चास्य संयोगवन्नानात्वमित्यादि; तदप्यसमीचीनम्; तदेकत्वस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि-अनेकः समवायो विभिन्नदेशकालाकारार्थेषु सम्बन्धबुद्धि[2]हेतुत्वात्। यो यइत्थंभूतः स सोनेकः यथा संयोगः, तथा च समवायः, तस्मादनेक इति। प्रसिद्धो[3] हि दण्डपुरुषसंयोगात् कटकुड्यादिसंयोगस्य भेदः। 'निविडः संयोगः शिथिलः संयोगः' इति प्रत्ययभेदात्संयोगस्य भेदाभ्युपगमे 'नित्यं[4] समवायः कदाचित्समवायः[5]' इति प्रत्ययभेदात्समवायस्यापि भेदोस्तु। समवायिनोर्नित्यकादाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोर्निविडत्वशिथिलत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययोत्पत्तिः स्यान्न पुनः संयोगस्य निविडत्वादिस्वभावभेदात्[6], इत्येकं संधित्सो[7]रन्यत् प्रच्यवते।

तथा, 'नाना समवायोऽयुतसिद्धावयविद्रव्याश्रितत्वात् संख्यावत्' इत्यतोप्यस्यानेकत्वसिद्धिः। न चेदमसिद्धम्; अनाश्रितत्वे हि समवायस्य "षण्णा[8]माश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य" [प्रश० भा० पृ १६] इत्यस्य[9] विरोधः। अथ न परमार्थतः समवायस्याश्रितत्वं नाम धर्मो[10] येनानेकत्वं स्यात् किन्तूपचारात्। निमित्तं तूपचारस्य समवायिषु[11] सत्सु समवायज्ञानम्[12]। तत्त्वतो ह्याश्रितत्वेस्य स्वाश्रयविनाशे विनाशप्रसङ्गो[13] गुणादिवत्; इत्यप्ययुक्तम्; विशेष[14]परित्यागेनाश्रितत्वसामान्यस्य हेतु[15]त्वात्, दिगादीनामाश्रितत्वापत्तेश्च, मूर्त्तद्रव्येषूपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात्। तथा[16] च 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इति विरुध्यते[17]। सामान्यस्यानाश्रितत्वप्रसङ्गश्च; आश्रयविनाशेप्यविनाशात् समवायवत्।

अस्तु वानाश्रितत्वं समवायस्य, तथाप्यनेकत्वमनिवार्यम्; तथाहि-अनेकः समवायोऽनाश्रितत्वात्परमाणुवत्। नाकाशादि-

---

१ गगनकुसुमस्यापि बाधकत्वप्रसङ्गात्। २ संबन्ध इति बुद्धिः संबन्धबुद्धिः, तस्याः। ३ दृष्टान्तं समर्थयति। ४ परमाणुतद्रूपयोः। ५ तन्तुपटयोः। ६ समवायस्य। ७ वैशेषिकस्य। ८ द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम्। ९ ग्रन्थस्य। १० स्वरूपम्। ११ तन्तुपटादिषु। १२ समवाय इति ज्ञानम्। १३ स्वाश्रयादभिन्नत्वात्। १४ गुणो गुण्याश्रितः, अवयवोवयव्याश्रित इति विशेषपरित्यागेन। १५ आश्रयविनाशेप्याश्रितत्वसामान्यस्याविनाश एव तस्य नित्यत्वात्। १६ दिगादीनामाश्रितत्वे च सति। १७ नित्यद्रव्याणामाश्रितत्वात्।

भिर्व्यभिचारः; तेषामपि कथंचिन्नानात्वसाधनात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्- 'इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकः समवायः' इति । विशेषलिङ्गाभावस्यानन्तरप्रतिपादितलिङ्गसद्भावतोऽसिद्धत्वात् । इहेति प्रत्ययाविशेषोप्यसिद्धः; 'इहात्मनि ज्ञानमिह पटे रूपादिकम्' इतीहेति प्रत्ययस्य विशेषात् । विशेषणानुरागो हि प्रत्ययस्य विशिष्टत्वम् । न चानुगतप्रत्ययप्रतीतितः समवायस्यैकत्वं सिध्यति; गोत्वादिसामान्येषु षट्पदार्थेषु चानुगतस्यैकत्वस्याभावेप्यनुगतप्रत्ययप्रतीतेः ।

'सत्तावत्' इति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः; सर्वथैकत्वस्य सत्प्रत्ययाविशेषस्य चासिद्धत्वात् । सर्वथैकत्वे हि सत्तायाः 'पटः सन्' इति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्तायाः प्रतीत्यनुषङ्गात् क्वचित् सत्तासंदेहो न स्यात् । तस्याः सर्वथा प्रतीतावपि तद्विशेष्यार्थानामप्रतीतेः क्वचित्सत्तासंदेहे पटविशेषणत्वं तस्या अन्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वम् इत्यायातमनेकरूपत्वं तस्याः ।

यदप्युक्तम्-समवायीनि द्रव्याणीत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वादित्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हेतोर्विशेषणासिद्धत्वात् । तदसिद्धत्वं च समवायानुरागस्याप्रतीतेः । प्रतीतौ वानुमानानर्थक्यम् । को हि नाम समवायानुरक्तं द्रव्यादिकं मन्यमानः समवायं न मन्येत ? तदनुरागाभावेपि तेनास्य विशेष्यत्वे खरशृङ्गेणापि तत्स्यादविशेषात् । ननु सम्बन्धानुरक्तं द्रव्यादिकं प्रतिभाति । सत्यं प्रतिभाति, समवाये तु किमायातम् ? न च स एव स इति वाच्यम्; तादात्म्यादपि तत्संभवात् संयोगवत् । तथाप्यत्रैवाग्रहे खरविषाणेप्याग्रहः किन्न स्यात् ? 'खरविषाणी पट इति प्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वात्' इति । अत्राश्रयासिद्धतान्यत्रापि समाना । न खलु 'समवायी पटः' इति प्रत्ययः केनाप्यनुभूयते ।

अथाप्रतिपन्नसमयस्य संश्लेषमात्रं प्रतिपन्नसमयस्य तु 'समवायी' इति प्रतिभातीति चेत्; न; ज्ञानाद्वैयादेः प्रसङ्गात् । शक्यते हि तत्राप्येवं वक्तुम्-अप्रतिपन्नसमयस्य वस्तुमात्रम-

---

१ प्रदेशभेदापेक्षया । २ समवायस्य नानात्वं सिद्धं यतः । ३ भिन्नभिन्नविशेषणसंबन्धः । ४ इहेतिप्रत्ययस्य । ५ भिन्नत्वम् । ६ गोत्वमपि सामान्यं घटत्वमपि सामान्यमिति, अयमपि पदार्थोयमपि पदार्थ इत्येवं प्रकारेण । ७ दण्डाभावे दण्डीति प्रत्ययो यथा न स्यात्तथा समवायलक्षणविशेषणाभावेपि विशेष्यप्रत्ययो न स्यादिति भावः । ८ समवाय एवानुरागः संबन्धस्तस्य । ९ समवायेन । १० द्रव्यादेः । ११ तस्य=अनुरागस्य । १२ आदिना ब्रह्माद्वैतादेश्च ।

[1]भिधानयोजनारहितं प्रतिभाति, संकेतवशाच्चैतत्सर्वं ज्ञानाद्यादि। स्वशास्त्रजनितसंस्कारवशाद्विज्ञानाद्द्वयादिप्रतिभासोऽप्रमाणम्; इत्य[2]न्यत्रापि समानम्। न हि तत्रापि स्वशास्त्रसंस्काराहृते 'समवायी' इति ज्ञानमनुभवत्य[3]न्यजनः। न चैतच्छास्त्रमप्रमाणमेतच्च प्रमाणमिति प्रेक्षावतां वक्तुं युक्तमविशेषात्।

समवाय इति प्रत्ययेनानैका[4]न्तिकश्चा[5]यं हेतुः; स हि विशेष्यप्रत्ययो न च विशेषणमपेक्षते। अथात्र [6]समवायिनो विशेषणम्। नन्वस्तु तेषां विशेषणत्वं यत्र 'समवायिनां समवायः' इति प्रतिभासते, यत्र तु 'समवायः' इत्येतावाननुभवस्तत्र किं विशेषणमिति चिन्त्यताम्? अथ विशेषणाभावान्नेदं विशेष्यज्ञानम्; तर्ह्य[7]न्यस्य विशेष्यस्या[8]त्रासंभवाद्विशेषणज्ञानमपि तन्मा भूत्। न चैत[9]द्युक्तम्। कथं चैवं 'पटः' इति प्रत्ययो विशेष्यः स्यात् विशेषणाभावाविशेषात्? अथात्र पटत्वं विशेषणम्, तर्हि 'समवायः' इति प्रत्यये किं विशेषणम्? न तावत्समवायत्वम्; अनभ्युपगमात्।

अथ येन सता विशिष्टः प्रत्ययो जायते तद्विशेषणम्, तत्र 'समवायः' इति प्रत्ययोत्पादे समवायत्वसामान्यस्यानभ्युपगमात्, [10]द्रव्यादेश्चाप्रतिभासनाद[11]दृष्टस्यैव विशेषणत्वमिति; तन्न; यतः किं येन सता विशेष्यज्ञा[12]नमुत्पद्यते तद्विशेषणम्, किं वा य[13]स्यानुरागः प्रति[14]भासते तदिति? प्रथमपक्षे चक्षुरालोकादेरपि तदनिवार्यम्। अथ यस्यानुरागस्तद्विशेषणम्; न तर्हि 'दण्डी' इति प्रत्यये [15]दण्डवद्दण्डशब्दोल्लेखेन 'समवायः' इति प्रत्ययेऽप्यदृष्टस्य तच्छब्दयोजनाद्वारेणानुरागं जनो मन्यते। [16]तथाप्यदृष्टस्य विशेषणत्वकल्पनायाम् 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययेऽप्यस्यैव तत्कल्पनास्तु किं [17]द्रव्यादेर्विशेषणभावकल्पनया?

यच्चोक्तम्-स्वकारणसत्तासंबन्ध एवा[18]त्मलाभ इत्यादि; तन्न; आत्मलाभस्य स्वकारणसत्तासमवायपर्यायतायां नित्यत्व[19]प्रसङ्गात्, तन्नित्यत्वे च कार्यस्याविनाशित्वं स्यात्।

---

१ अभिधानः शब्दः। २ समवाये। ३ वैशेषिकः। ४ विशेषणपूर्वकलक्षणसाध्याभावात्। ५ विशेष्यप्रत्ययत्वादिति। ६ तन्तुपटादयः। ७ समवायिभ्यां भिन्नस्य। ८ समवायिप्रकरणे। ९ उभयं मा भूदिति। १० समवायः प्रतिभासते इति प्रत्यये विशेषणभूतस्य तन्तुपटादेः। ११ अदर्शनीभूतस्य (पुण्य-पापरूपस्य)। १२ इदं विशेष्यमिति ज्ञानम्। १३ संबन्धः। १४ विशेष्ये। १५ दण्डीति प्रत्यये दण्डशब्दोल्लेखेन दण्डस्य यथानुरागं मन्यते जनो न तथा प्रकृतेऽदृष्टशब्दयोजनाद्वारेणादृष्टस्यानुरागमिति संबन्धः। १६ अदृष्टानुरागाभ्युपगमाभावेपि। १७ दण्डादेस्तन्तुपटादेर्वा। १८ कार्यरूपस्य वस्तुनः स्वरूपोद्भवः। १९ सत्तासमवाययोर्नित्यत्वात्।

किञ्च, असौ सतां सत्तासमवायः, असतां वा स्यात्? न तावदसताम्; व्योमोत्पलादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। अथात्यन्तासत्त्वात्तेषां न तत्प्रसङ्गः; गुण[1]गुण्यादीनामत्यन्तासत्त्वाभावः कुतः? समवायाच्चेत्; इतरेतराश्रयः–सिद्धे हि समवाये तेषामत्यन्तासत्त्वाभावः, तदभावाच्च समवायः। नापि सताम्; समवायात्पूर्वं हि सत्त्वं तेषां समवायान्तरात्, स्वतो वा? समवायान्तराच्चेत्; न अस्यै[2]कत्वाभ्युपगमात्। अनेकत्वेपि अतोपि[3] पूर्वं(वं)समवायन्तरात्तेषां[4] सत्त्वमित्यनवस्था। स्वतः सत्त्वाभ्युपगमे तु समवायपरिकल्पनानर्थक्यम्। ननु न समवायात् पूर्वं तेषां सत्त्वमसत्त्वं वा, सत्तासमवायात्सत्त्वाभ्युपगमात्; इत्यप्यसङ्गतम्; परस्परव्यवच्छेद[5]रूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वेनोभयनिषेधविरोधात्। न चानुपकारिणोः[6] सत्तासमवाययोः परस्परसम्बन्धो युक्तोतिप्रसङ्गात्।

अव्यापि चेदं सत्त्वलक्षणम् सत्तासमवाया[7]न्त्यविशेषेषु तस्यासंभवात्[8]। "त्रिषु पदार्थेषु सत्करी सत्ता[9]" [ ] इत्यभिधानात्। अतिव्यापि चाकाशकुशेशयादिष्वपि भावात्। न च तेषामसत्त्वान्न सत्तासमवायः; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–असत्त्वे हि तेषां सत्तासमवायविरहः, तद्विरहाच्चासत्त्वमिति। न च सत्तासमवायः सत्त्वलक्षणं युक्तमर्थान्तरत्वात्। न ह्यर्थान्तरमर्थान्तरस्य स्वरूपम्; अतिप्रसङ्गा[10]दर्थान्तरत्वहानिप्रसङ्गाच्च।

किञ्च, सत्तासमवायात्पदार्थानां सत्त्वे तयोः कुतः सत्त्वम्? असत्संबन्धात्[11]सत्त्वे अतिप्रसङ्गात्[12]। सत्तासमवायान्तराच्चेत्; अनवस्था। स्वतश्चेत्[13]; पदार्थानामपि तत्स्वत एवास्तु किं सत्तासमवायेन?

यदप्यभिहितम्–अग्नेरुष्णतावदित्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः प्रत्यक्षसिद्धे पदार्थस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तुं युक्तम्। न च 'समवायस्य स्वतः सम्बन्धत्वं संयोगादीनां तु तस्मात्' इत्यध्यक्ष-

---

१ व्योमोत्पलादीनां सर्वथा असत्त्वे प्रतिपादिते आचार्याः प्राहुः। २ अस्य=समवायस्य। ३ अतोपि=विवक्षितसमवायान्तरादपि। ४ सताम्। ५ व्यवच्छेदो हि परस्परं विरुद्धधर्मयोगिनामेव स्यात्। ६ परस्परम्। ७ द्वन्द्वोत्र ज्ञेयः। ८ तेषां स्वरूपेणैव सत्त्वस्वभावत्वात्। ९ तेषां हि सत्तासंबन्धादेव सत्त्वं स्वयं त्वसत्त्वमेवेति भावः। १० घटस्य पटस्वरूपत्वप्रसङ्गात्। ११ सद्भ्यां सत्तासमवायाभ्यां संबन्धः सत्संबन्धः, न सत्संबन्धोऽसत्संबन्धः। १२ गगनकुसुमादिषु। १३ अपरसत्तासमवायाभ्यां संबन्धाभावेपीत्यर्थः।

प्रसिद्धम्, त[1]त्स्वरूपस्याध्यक्षाद्यगोचरत्वप्रतिपादनात्। 'समवायोन्ये[2]न संबध्यमानो न स्वतः संबध्यते संबध्यमानात्वाद्रूपादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च। यदि चाग्निप्रदीपगङ्गोदकादीनामुष्णप्रकाशपवित्रतावत्समवायः स्व[3]परयोः सम्बन्धहेतुः; तर्हि तद्दृष्टान्तावष्ट[4]म्भेनैव ज्ञानं स्वपरयोः प्रकाशहेतुः किन्न स्यात्? तथाच "ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्" [ ] इति प्लवते।

यच्चोच्यते-'समवायः सम्बन्धान्तरं नापेक्षते, स्वतः सम्बन्धत्वात्, ये तु सम्बन्धान्तरमपेक्षन्ते न ते स्वतः सम्बन्धाः यथा घटादयः, न चायं न स्वतः सम्बन्धः, तस्मात्सम्बन्धान्तरं नापेक्षते इति; तदपि मनोरथमात्रम्; हे[5]तोरसिद्धेः। न हि समवायस्य स्वरूपासिद्धौ स्वतः सम्बन्धत्वं तत्र सिध्यति। संयोगेनानेकान्ताच्च[6]; स हि स्वतः सम्बन्धः सम्बन्धान्तरं चापेक्षते। न हि स्वतोऽसम्बन्धस्वभावत्वे संयोगा[7]देः प[8]रतस्तद्यु[9]क्तम्; अतिप्रसङ्गात्। घ[10]टादीनां च सम्बन्धित्वान्न प[11]रतोपि सम्बन्धत्वम्। इत्ययुक्तमुक्तम्-'न ते स्वतःसम्बन्धाः' इति। तन्नास्य स्वतः सम्बन्धो युक्तः।

प[12]रतश्चेत्किं संयोगात्, समवायान्तरात्, विशेषणभावात्, अदृष्टाद्वा? न तावत्संयोगात्; तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, समवायस्य चाद्रव्यत्वात्। नापि समवायान्तरात्; त[13]स्यैकरूपतयाभ्युपगमा[14]त्, "त[15]त्त्वं भा[16]वेन" व्याख्यातम् [वैशे० सू० ७।२।२८] इत्यभिधानात्।

नापि विशेषणभावात्; सम्बन्धान्तरा[17]भिसम्बद्धार्थेष्वेवा[18]स्य प्रवृत्तिप्रतीतेर्दण्डविशिष्टः पुरुष इत्यादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। समवायादिसम्बन्धानर्थक्यं च, तदभावेपि गुणगुण्यादिभावोपपत्तेः। समवायस्य समवायिविशेषणतानुपपत्तिश्च, अत्यन्तमर्थान्तरत्वेनातद्धर्मत्वादाकाशवत्। न[19] खलु 'संयुक्ताविमौ' इत्यत्र संयोगिधर्मतामन्तरेण संयोगस्य

---

१ तस्य=समवायस्य। २ तन्तुपटादिलक्षणसंबन्धिना सह। ३ समवायसमवायिनोः। ४ अवष्टम्भोऽवलम्बः साहाय्यं वा। ५ स्वतःसंबन्धत्वादिति हेतोः। ६ न केवलं हेतोरसिद्धेरेव। ७ आदिना संयुक्तसमवायादिसंबन्धग्रहणम्। ८ समवायात्। ९ तत्=संबन्धत्वम्। १० दृष्टान्तभूतानाम्। ११ संयोगात्। १२ 'समवायस्य संबन्धः स्वसमवायिषु' इति शेषः। १३ समवायस्य। १४ परेण। १५ एकत्वम्। १६ सत्तया। १७ संबन्धान्तरं=तादात्म्यसंयोगादि। समवायसमवायिलक्षणेष्वित्यपरा टिप्पणी। १८ विशेषणभावस्य। १९ अतद्धर्मत्वं च स्यात्समवायिनां विशेषणत्वं च स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वपरिहारार्थमिदमाह।

तद्विशेषणता दृष्टा। न च समवायसमवायिनां सम्बन्धान्तराभिसम्बद्धत्वम्; अनभ्युपगमात्।

किञ्च, विशेषणभावो[1]प्येतेभ्यो[2]त्यन्तं भिन्नस्तत्रैव कुतो नियाम्येत? समवायाच्चेत्; इतरेतराश्रयः–समवायस्य नियमसिद्धौ हि ततो विशेषणभावस्य नियमसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च समवायस्य तत्सिद्धिरिति।

किञ्च, अयं विशेषणभावः षट्पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा? भिन्नश्चेत्; किं भावरूपः, अभावरूपो वा? न तावद्भावरूपः; 'षडेव पदार्थाः' इति नियमविरोधात्। नाप्यभावरूपः; अनभ्युपगमात्। अभेदेपि न तावद्द्रव्यम्; गुणाश्रितत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एव न गुणोपि। नापि कर्म; कर्माश्रितत्वाभावानुषङ्गात्। "अकर्म कर्म" [ ] इत्यभिधानात्। नापि सामान्यम्; समवाये तदनुपपत्तेः, पदार्थत्रयवृत्तित्वात्तस्य। नापि विशेषः; विशेषाणां नित्यद्रव्याश्रित[3]त्वात्। अनित्यद्रव्ये चास्योप[4]लम्भात् समवाये चाभावानुषङ्गात्। युगपदनेकसमवायिविशेषणत्वे चास्यानेकत्वप्राप्तिः। यदिह युगपदनेकार्थविशेषणं तदनेकं प्रतिपन्नम् यथा दण्डकुण्डलादि, तथा च समवायः, तस्मादनेक इति। न च सत्त्वादिनाऽनेकान्तः; तस्यानेकस्वभावत्वप्रसाधनात्। तन्न विशेषणभावेनाप्यसौ सम्बद्धः।

नाप्यऽदृष्टेन; अस्य सम्बन्धरूपत्वासम्भवात्। सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताभ्युपगतः, अदृष्टश्चात्मवृत्तितया समवायसमवायिनोरतिष्ठन् कथं द्विष्ठो भवेत्? षोढा सम्बन्धवादित्वव्याघातश्च। यदि चाऽदृष्टेन समवायः सम्बध्यते; तर्हि गुणगुण्यादयोप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिकल्पनया। न चादृष्टोप्यसम्बद्धः समवायसम्बन्धहेतुः अतिप्रसङ्गात्। सम्बद्धश्चेत्; कुतोस्य सम्बन्धः? समवायाच्चेत्; अन्योन्यसंश्र[6]यः। अन्यतश्चेत्; अभ्युप[7]गमव्याघातः। तन्न सम्बद्धः समवायः।

नाप्यसम्बद्धः; 'षण्णामाश्रितत्वम्' इति विरोधानुषङ्गात्। कथं चासम्बद्धस्य सम्बन्धरूपतार्थान्तरवत्? सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वाच्चेत्; महेश्वरादेरपि तत्प्रसङ्गः। कथं चासम्बद्धोसौ सम-

---

१ समवायस्य। २ समवायिभ्यः। ३ विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तय इति वचनात्। ४ विशेषणभावस्य। ५ पूर्वम्। ६ समवायसिद्धौ हि समवायेनादृष्टस्य सम्बन्धत्वं सिध्यति तत्सिद्धौ चाऽदृष्टस्य सम्बद्धस्य समवायहेतुत्वं सिध्यति। ७ समवायः स्वत एव सम्बद्ध इत्यभ्युपगमः। ८ मतस्य।

वायिनोः सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनम्? न ह्यङ्गुल्योः संयोगो [2]घटपटयोरप्रवर्त्तमानस्तयोः सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनं दृष्टः। तथा, 'इहात्मनि ज्ञानमित्यादिसम्बन्धबुद्धिर्न सम्बन्ध्यऽसम्बद्धसम्बन्धपूर्विका सम्बन्धबुद्धित्वात् दण्डपुरुषसम्बन्धबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च।

किञ्च, अयं समवायः समवायिनोः परिकल्प्यते, असमवायिनोर्वा? यद्यसमवायिनोः; घटपटयोरप्येतत्प्रसङ्गः। अथ समवायिनोः; कुतस्तयोः समवायित्वम्-समवायात्, स्वतो वा? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि समवायित्वे तयोः समवायः, तस्माच्च तत्त्वमिति।

किञ्च, अभिन्नं तेनानयोः समवायित्वं विधीयते, भिन्नं वा? न तावदभिन्नम्; तद्विधाने गगना[3]दीनां विधानानुषङ्गात्। भिन्नं चेत्; तयोस्तत्सम्बन्धित्वानुपप[4]त्तिः। सम्बन्धान्तरक[5]ल्पने चानवस्था। तत एव तन्नियमे चेतरेतराश्रयः-सिद्धे हि समवायिनोः समवायित्वनियमे समवायनियमसिद्धिः, ततश्च तन्नियमसिद्धिरिति। स्वत एव तु समवायिनोः समवायित्वे किं समवायेन?

ननु संयोगेप्येतत्सर्वं समानम्; इत्यप्यवाच्यम्; संश्लिष्टतयोत्पन्नवस्तुस्वरूपव्यतिरेकेणास्याप्यसम्भवात्। भिन्नसंयोगवशात्तु संयोगिनोर्नियमे समानमेवैतत्।

यच्चान्यदुक्तम्-संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणत्वादीनामित्यादि; तदप्ययुक्तसमम्; यतो निष्क्रियत्वेप्येषामाधेयत्वमल्पपरिमाणत्वात्, [6]तत्कार्यत्वात्, [7]तथाप्रतिभासाद्वा? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सामान्यस्य महापरिमा[8]णगुणस्य चानाधेयत्वप्रसङ्गात्। द्वितीयपक्षोप्यत एवायुक्तः।

तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीयः; तेषामाधेयतया प्रतिभासाभावात्। तदभावश्च रूपादीनां [10]स्वाधारेष्वन्तर्बहिश्च सत्त्वात्[11]। न ह्यन्यत्र कुण्डादावधिकरणे बदरादीनामाधेयानां [12]तथा सत्त्वमस्ति। अथ रूपादीनामाधेयत्वे सत्यपि युतसिद्धेरभावादुपरि-

---

१ सम्बन्धी। २ घटपटाभ्यां पृथग्भूतः। ३ शब्दगगनाभ्यां समवाय्यभिन्नस्य समवायित्वस्य समवायेन विधानात्तयोरपि विधानमित्यर्थः, एवं ज्ञानात्मादिष्वपि। ४ समवायिनोरिदं समवायित्वमिति सम्बन्धाभाव इति भावः। ५ तत्सम्बन्धित्वसिद्ध्यर्थम्। ६ तस्य=गुण्यादेः। ७ आधेयतया। ८ गगनवर्त्तिनः। ९ अल्पपरिमाणत्वाभावात्। १० घटादिषु। ११ आधेयस्य बहिरेव सत्त्वसद्भावादिति भावः। १२ अन्तर्बहिःप्रकारेण।

तनतया प्रतिभासाभावः; न[1]; युतसिद्धत्वस्यो[2]परितनत्वप्रतीत्य[3]हेतुत्वात्, अन्यथोर्ध्वावस्थितवंशादेः क्षीरनीरयोश्च सम्बन्धे तत्प्रसङ्गात्। ततः परपरिकल्पितपदार्थानां विचार्यमाणानां स्वरूपाव्यवस्थितेः कथं 'षडेव पदार्थाः' इत्यवधारणं घटते स्वरूपासिद्धौ संख्यासिद्धेरभावात्?

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल[जाति]निग्रहस्थानानां नैयायिकाभ्युपगतषोडशपदार्थानां षट्पदार्थाधिक्येन व्यवस्थानाच्च। न च पदार्थषोडशकस्य षट्स्वेवान्तर्भावान्नातोधिकपदार्थव्यवस्थेत्यभिधातव्यम्; द्रव्यादीनामपि षण्णां प्रमाणप्रमेयरूपपदार्थद्वये[4]ऽन्तर्भावात्पदार्थषट्कस्याप्यनुपपत्तेः। अथ तदन्तर्भावेप्यवान्तरविभिन्नलक्षणवशात् प्रयोजनवशाच्च द्रव्यादिषट्कव्यवस्था[5]; तर्हि तत एव प्रमाणादिषोडशव्यवस्थाप्यस्तु विशेषाभावात्। न च सापि युक्ता; परोपगतस्वरूपाणां प्रमाणादीनां यथास्थानं प्रतिषेधात्, विपर्ययानध्यवसाययोश्च प्रमाणादिषोडशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेः।

धर्माधर्मद्रव्ययोश्च। कुतः प्रमाणात्तत्सिद्धिरिति चेत्? अनुमानात्; तथाहि-विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबा[7]ह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भाविगतित्वात्, एकसरः[6]सलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्। तथा सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारण[8]बाह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भाविस्थितित्वात्, एककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत्। यत्तु साधारणं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्च, ताभ्यां विना त[9]द्गतिस्थितिकार्यस्यासम्भवात्।

गतिस्थितिपरिणामिन एवार्थाः परस्परं तद्धेतवश्चेत्; न; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्—सिद्धायां हि तिष्ठत्पदार्थेभ्यो गच्छत्पदार्थानां गतौ तेभ्यस्तिष्ठत्पदार्थानां स्थितिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च गच्छत्पदार्थानां गतिसिद्धिरिति। साधारणनिमित्तरहिता एवाखिलार्थगतिस्थितयः प्रतिनियतस्वकारणपूर्वकत्वादिति चेत्; कथमिदानीं नर्त्तकीक्षणो[10] निखिलप्रेक्षकजनानां नाना[11]तद्भेदनो-

---

१ इति चेन्न इत्यर्थः। २ युतसिद्धयोः। ३ उपरितनतया प्रतिभासस्य। ४ प्रमाणप्रमेयपदार्थद्वयेन्तर्भावः षण्णां विश्वतत्त्वप्रकाशिकायाम्। ५ विभिन्नलक्षणवशात्प्रयोजनवशाच्च द्रव्यादिषट्कव्यवस्था भवति प्रमाणादिषोडशव्यवस्था च न भवतीति विशेषं नोत्पश्यामः। ६ सरः। ७ बाह्यं निमित्तं धर्मः। ८ अत्र निमित्तमधर्मः। ९ तस्य=सकलजीवादेः। १० नर्त्तकी एव क्षणः पर्यायः। ११ कामोत्कटहर्षादि।

त्पत्तौ साधारणं निमित्तम्? सहकारिमात्रत्वेन चेत्; तर्हि सकलार्थगतिस्थितीनां सकृद्भुवां धर्माधर्मौ सहकारिमात्रत्वेन साधारणं निमित्तं किन्नेष्यते?

पृथिव्यादिरेव साधारणं निमित्तं तासाम्; इत्यप्यसङ्गतम्; गगनवर्त्तिपदार्थगतिस्थितीनां तदसम्भवात्। तर्हि नभः साधारणं निमित्तं तासामस्तु सर्वत्र भावात्; इत्यप्यपेशलम्; तस्यावगाहनिमित्तत्वप्रतिपादनात्। तस्यै[1]कस्यैवाने[2]ककार्यनिमित्ततायाम् अनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, कालात्मदिक्सामान्यसमवायकार्यस्यापि यौगपद्यादिप्रत्ययस्य बुद्ध्यादेः 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य अन्वयज्ञानस्य 'इहेदम्' इति प्रत्ययस्य च नभोनिमित्तस्योपपत्तेस्तस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। कार्यविशेषात्कालादिनिमित्तभेदव्यवस्थायाम् तत एव धर्मादिनिमित्तभेदव्यवस्थाप्यस्तु सर्वथा विशेषाभा[3]वात्।

एते[4]नादृष्टनिमित्तत्वमप्यासां प्रत्याख्यातम्; [5]पुद्गलानामदृष्टासम्भवाच्च। ये यदात्मोपभोग्याः पुद्गलास्त[6]द्गतिस्थितय[7]स्तदात्माऽदृष्टनिमित्ताश्चेत्; तर्ह्यसाधारणं निमित्तमदृष्टं ता[9]सां प्रतिनियतात्मादृष्टस्य प्रतिनियतद्रव्यगतिस्थितिहेतुत्वप्रसिद्धेः। न च तदनिष्टं तासां क्ष्मादे[8]रिवासाधारणकारणस्यादृष्टस्यापीष्टत्वात्। साधारणं तु कारणं तासां धर्माधर्मावेवेति सिद्धः कार्यविशेषात्तयोः सद्भाव इति*।

अ[10]थेदानीं फ[11]लविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमज्ञाननिवृत्तिरित्याद्याह—

अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ ५।१ ॥

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ ५।२ ॥

१ तस्याः। २ अनेकानि=गतिस्थित्यवगाहलक्षणानि। ३ कार्यविशेषत्वस्य। ४ सकृद्भुवां सकलार्थगतिस्थितीनां नभोनिमित्तत्वनिराकरणेन। ५ तेषां पुद्गलानाम्। ६ येनात्मना ते पुद्गला उपभुज्यन्ते तस्य। ७ गत्यादीनाम्। ८ पृथिव्यादेः। ९ जनानाम्। १० विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणानन्तरम्। ११ प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति यौगाः अभिन्नमेवेति सौगता इति भिन्नाभिन्नत्वाभ्यां फले विप्रतिपत्तिः।

* (परीक्षामुखे–प्रमेयरत्नमालायां च अत्रैव चतुर्थपरिच्छेदस्य समाप्तिः, 'अज्ञाननिवृत्तिः' इत्यादिसूत्रं तु पंचमाध्याये संगणितम्)

द्विविधं हि प्रमाणस्य फलं ततो भिन्नम्, अभिन्नं च। तत्राज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणादभिन्नं फलम्। न[1]नु चाज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणभूतज्ञानमेव, न तदेव तस्यैव कार्यं युक्तं विरोधात्, तत्कुतोसौ प्रमाणफलम्? इत्यनुपपन्नम्; यतोऽज्ञानमज्ञप्तिः स्वपररूपयोर्व्यामोहः, तस्य निवृत्तिर्यथावत्तद्रूपयोर्ज्ञप्तिः, प्रमाणधर्मत्वा[2]त् तत्कार्यतया न विरोधमध्यास्ते। स्व[3]विषये[4] हि स्वार्थस्वरूपे प्रमाणस्य व्यामोहविच्छेदाभावे निर्विकल्पकदर्शनात् सन्निकर्षाद्वाविशेषप्रसङ्गतः प्रामाण्यं न स्यात्। न च धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदोऽभेदो वा; तद्भावविरोधानुषङ्गात् तदन्यतरवदर्थान्तरवच्च।

अथाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानमेवेत्यनयोः सामर्थ्यसिद्धत्वा[5]न्यथा[6]नुपपत्तेरभेदः; तन्न; अस्या[7]ऽविरुद्धत्वात्। सामर्थ्यसिद्धत्वं हि भेदे सत्येवोपलब्धं निमन्त्रणे आ[8]कारणवत्। कथं चैवं वा[9]दिनो हेतावन्वयव्यतिरेकधर्मयोर्भेदः सिध्येत्? 'साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव हि साध्याभावे हेतोर्नास्तित्वम्' इत्यनयोरपि सामर्थ्यसिद्धत्वाविशेषात्।

न[10] चान[11]योरभेदे कार्यकारणभावो विरुध्यते; अभेदस्य तद्भावाविरोधकत्वाज्जीवसुखादिवत्। साधकतमस्वभावं हि[12] प्रमाणम् स्वपररूपयोर्ज्ञप्तिलक्षणामज्ञाननिवृत्तिं निर्वर्त्तयति तत्रान्येनास्या निर्वर्त्तनाभावात्। साधकतमस्वभावत्वं चास्य स्वपरग्रहणव्यापार एव तद्ग्रहणाभिमुख्यलक्षणः। तद्धि स्वकारणकलापादुपजायमानं स्वपरग्रहणव्यापारलक्षणोपयोग[13]रूपं सत्स्वार्थव्यवसायरूपतया परिणमते इत्यभेदेऽप्य[14]नयोः कार्यकारणभावाऽविरोधः।

नन्वेवमज्ञाननिवृत्ति[15]रूपतयेव हा[16][17]नादिरूपतयाप्यस्य परिणमनसम्भवात् तदप्यस्याऽभिन्नमेव फलं स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलेनास्य[18] व्यवधानसम्भवतो भिन्नत्वाविरोधात्।

१ सौगतः प्राह। २ अज्ञाननिवृत्तेः। ३ प्रमाणविषये। ४ प्रमाणधर्मत्वादित्येतस्याऽसिद्धत्वनिरासार्थमिदम्। ५ ज्ञानाज्ञाननिवृत्त्योः सामर्थ्यमस्ति तच्चाभेदमन्तरेण नोपपद्यते तस्मादनयोरभेद इति भावः। ६ अभेदमन्तरेण। ७ भेदस्य। ८ आह्वानवत्। ९ अज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानमेवेत्यनयोः सामर्थ्यसिद्धत्वान्यथानुपपत्तेरभेद इत्येवंवादिनः। १० नन्वज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणादभिन्नं फलमित्यनेन प्रकारेण प्रमाणफलयोरभेदे कार्यकारणभावो विरुध्यत इत्युक्ते सत्याह। ११ प्रमाणाज्ञाननिवृत्त्योः। १२ सन्निकर्षादिना। १३ अर्थग्रहणे व्यापारो ह्युपयोग इति वचनात्। १४ प्रमाणफलयोः। १५ साक्षात्फलमेतत्। १६ परम्पराफलमेतत्। १७ हानादेः। १८ प्रमाणादज्ञाननिवृत्तिः फलं स्यात्, अज्ञाननिवृत्तिफलात्पश्चाद्धानोपादानोपेक्षाश्च फलं स्यादिति भावः।

अत आह-हानोपादानोपेक्षाश्च प्रमाणाद्भिन्नं फलम् । अत्रापि कथञ्चिद्भेदो द्रष्टव्यः । सर्वथा भेदे प्रमाणफलव्यवहारविरोधात् । अमुमेवार्थं स्पष्टयन् यः प्रमिमीते इत्यादिना लौकिके[1]तरप्रतिपत्तिप्रसिद्धां प्रतीतिं दर्शयति—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥ ५।३ ॥

यः प्रतिपत्ता प्रमिमीते स्वार्थग्रहणपरिणामेन परिणमते स एव निवृत्ताज्ञानः स्वविषये व्यामोहविरहितो जहात्यभिप्रेतप्रयोजनाप्रसाधकमर्थम्, तत्प्रसाधकं त्वादत्ते, उभयप्रयोजनाऽप्रसाधकं तूपेक्षणीयमुपेक्षते चेति प्रतीतेः प्रमाणफलयोः कथञ्चिद्भेदाभेदव्यवस्था प्रतिपत्तव्या ।

[2]नन्वेवं प्रमातृप्रमाणफलानां भेदाभावात्प्रतीतिप्रसिद्धस्तद्व्यवस्थाविलोपः स्यात्; तदसाम्प्रतम्; कथञ्चिल्लक्षणभेदतस्तेषां भेदात् । आत्मनो हि पदार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्याप्रियमाणं स्वरूपं प्रमाणं निर्व्यापारम्, [3]व्यापारं तु क्रियो[4]च्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्याप्रियमाणं प्रमाता, इति कथञ्चित्तद्भेदः । प्राक्तनपर्यायविशिष्टस्य कथञ्चिदवस्थितस्यैव बो[5]धस्य परिच्छित्तिविशे[6]षरूपतयोत्पत्तेरभेद इति । [7]साधनभेदाच्च [8]तद्भेदः; [9]करणसाधनं हि प्रमाणं साधकतमस्वभावम्, [10]कर्तृसाधनस्तु प्रमाता स्वतन्त्रस्वरूपः, [11]भावसाधना तु क्रिया स्वार्थनिर्णीतिस्वभावा इति [12]कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमादेव कार्यकारणभावस्याप्यविरोधः ।

यच्चोच्यते-[13]आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वाद्वास्यादिवत्; तत्र कथञ्चिद्भेदे साध्ये सिद्धसाध्यता, अज्ञाननिवृत्तेस्तद्धर्मतया हानादेश्च तत्कार्यतया प्रमाणात्कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । सर्वथा भेदे तु साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, वास्यादिना

---

१ इतरः शास्त्रज्ञः । २ यः प्रतिपत्ता प्रमिमीते इत्यादिप्रकारेण । ३ आत्मस्वरूपम् । ४ परिच्छित्तिरूपा । ५ प्रमाणस्य । ६ फलरूपतया । ७ साधनं करणकर्त्रादि । ८ प्रमातृप्रमाणपरिच्छित्तिभेदः । ९ करणे साधनं व्युत्पादनं यस्य, प्रमीयते वस्तुतत्त्वं येनेति तत्करणसाधनं प्रमाणम् । १० कर्तरि साधनं व्युत्पादनं यस्य प्रमातुः, प्रमिमीते इति तथोक्तः । ११ प्रमितिः प्रमाणम् । १२ यः प्रतिपत्ता प्रमिमीते इत्यनेन प्रकारेण प्रमाणफलयोरभेदे कार्यकारणभावविरोध इत्युक्ते सत्याह । १३ आत्मा=स्वरूपम् ।

हि काष्ठादेश्छिदा निरूप्यमाणा[1] छेद्यद्रव्यानुप्रवेशलक्षणैवावतिष्ठते। स चानुप्रवेशो वास्यादेरात्मगत एव धर्मो नार्थान्तरम्। ननु छिदा काष्ठस्था वास्यादिस्तु देवदत्तस्थ इत्यनयोर्भेद एव; इत्यप्यसुन्दरम्; सर्वथा भेदस्यैवमसिद्धेः, सत्त्वादिनाऽभेदस्यापि प्रतीतेः। न च 'सर्वथा करणाद्भिन्नैव क्रिया' इति नियमोऽस्ति[3]; 'प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयति' इत्यत्राभेदेनाप्यस्याः प्रतीतेः। न खलु प्रदीपात्मा[4] प्रदीपाद्भिन्नः; तस्या[5]ऽप्रदीपत्वप्रसङ्गात् पटवत्। प्रदीपे प्रदीपात्मनो भिन्नस्यापि समवायात्प्रदीपत्वसिद्धिरिति चेत्; न; अप्रदीपेऽपि घटादौ प्रदीपत्वसमवायानुषङ्गात्। प्रत्यासत्तिविशेषात्प्रदीपात्मनः प्रदीप एव समवायो नान्यत्रेति चेत्; स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्।

एतेन[6] प्रकाशनक्रियाया अपि प्रदीपात्मकत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्। तस्यास्ततो भेदे प्रदीपस्याऽप्रकाशकद्रव्यत्वानुषङ्गात्। तत्रास्याः समवायान्नायं दोषः; इत्यप्यसमीचीनम्; अनन्तरोक्ताऽशेषदोषानुषङ्गात्। तन्नानयो[7]रात्यन्तिको भेदः।

नाप्यभेदः; तदऽव्यवस्थानुषङ्गात्। न[8] खलु 'सारूप्यमस्य[9] प्रमाणमधिगतिः फलम्' इति सर्वथा तादात्म्ये व्यवस्थापयितुं शक्यं विरोधात्।

ननु सर्वथाऽभेदेऽप्यनयोर्व्यावृत्तिभेदात्प्रमाणफलव्यवस्था घटते एव, अप्रमाणव्यावृत्त्या हि ज्ञानं[10] प्रमाणमफलव्यावृत्त्या च फलम्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; परमार्थतः स्वेष्ट[11]सिद्धिविरोधात्। न च स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदोऽप्युपपद्यते इत्युक्तं सारूप्यविचारे। कथं चास्याऽप्रमाणफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणफलान्तरव्यावृत्त्याऽप्रमाणफलव्यवस्थापि न स्यात्? ततः पारमार्थिके प्रमाणफले प्रतीतिसिद्धे कथञ्चिद्भिन्ने प्रतिपत्तव्ये प्रमाणफलव्यवस्थान्यथा[12]नुपपत्तेरिति स्थितम्।

---

१ दृश्यमाना क्रियमाणा वा। २ भिन्नाधिकरणत्वेन। ३ लोके। ४ आत्मा= स्वरूपं प्रदीपत्वमिति यावत्। ५ अन्यथा। ६ प्रदीपप्रदीपात्मनोरभेदप्रतिपादनेन। ७ प्रमाणफलयोः। ८ सौगतमाशङ्क्योच्यते। ९ अर्थेन सादृश्यं प्रमाणम्। १० निर्विकल्पकज्ञानस्य। ११ स्वेष्टः प्रमाणफलयोर्भेदः। १२ पारमार्थिककथञ्चिद्भिन्नत्वव्यतिरेकेण।

योऽनेकान्तपदं प्रवृद्धमतुलं स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम्,
प्राप्तोऽनन्तगुणोदयं निखिलविन्निःशेषतो निर्मलम्।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानन्दनः,
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहितः श्रीवर्द्धमानोदितः॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः॥ श्रीः॥

---

१ अखिलप्रमाणविषयपक्षे निखिलवित् केवलज्ञानं यस्मादनेकान्तपदात्तन्निखिलविदनेकान्तपदम्। सर्वज्ञपक्षे तु निखिलं वेत्तीति निखिलवित्। एतत्पदं सर्वज्ञापरनामकं विशेष्यमपराणि विशेषणानि। ततश्च निखिलवित्सर्वज्ञो जीयात्। विषयपक्षेऽखिलानां प्रमाणानां विषयोऽर्थ इति यसपूर्वकस्तासः। सर्वज्ञपक्षे तु निखिलवित्कथम्भूतः अखिलप्रमाणविषयः सर्वप्रमाणग्राह्य इत्यर्थः।

श्रीः ।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

अथेदानीं तदाभासस्वरूपनिरूपणाय—

ततोन्यत्तदाभासम् ॥ १ ॥

इत्याद्याह ।

प्रतिपादितस्वरूपात्प्रमाणसंख्याप्रमेयफलाद्यदन्यत्तत्तदाभासमिति । तदेव तथाहीत्यादिना यथाक्रमं व्याचष्टे । तत्र प्रतिपादितस्वरूपात्स्वार्थव्यवसायात्मकप्रमाणादन्ये—

अस्व[2]संविदितगृहीतार्थदर्शन[3]संशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥

प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥ ३ ॥

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥ ४ ॥

[6]चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥

एतच्च सर्वं प्रमाणसामान्यलक्षणपरिच्छेदे विस्तरतोऽभिहितमिति पुनर्नेहाभिधीयते । तथा

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ॥ ६ ॥

विशदं प्रत्यक्षमित्युक्तं ततोन्यस्मिन्नऽवैशद्ये सति प्रत्यक्षं तदा-

---

१ तेषां=प्रमाणसंख्याविषयफलानाम् । २ अस्वसंविदितस्य स्वग्राहकत्वाभावेनार्थप्रतिपत्त्ययोगात्प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावः । ३ निर्विकल्पकं दर्शनम्, तस्य प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वाभावस्तज्जनितविकल्पस्यैव तदुपदर्शकत्वात् । ४ आदिना विपर्ययानध्यवसायौ । ५ अत्रोदाहरणानि यथाक्रममाह । ६ सन्निकर्षवादिनं प्रत्यपरं च दृष्टान्तमाह । ७ अयमर्थो—यथा चक्षूरसयोः संयुक्तसमवायः सन्नपि न प्रमाणं तथा चक्षूरूपयोरपि । तस्मादयमपि प्रमाणाभास एवेति ।

भासं बौद्धस्याकस्मिकधूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत्[१] इत्यप्युक्तं प्रपञ्चतः प्रत्यक्षपरिच्छेदे।

वैशद्येपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥

न हि करणज्ञानेऽव्यवधानेन प्रतिभासलक्षणं वैशद्यमसिद्धं स्वार्थयोः प्रतीत्यन्तरनिरपेक्षतया तत्र प्रतिभासनादित्युक्तं तत्रैव। तथाऽनुभूतेर्थे तदित्याकारा स्मृतिरित्युक्तम्। अननुभूते—

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥ ८ ॥

तथैकत्वादिनिबन्धनं तदेवेदमित्यादि प्रत्यभिज्ञानमित्युक्तम्। तद्विपरीतं तु—

सदृशे [२]तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन [३]सदृशं [४]यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

असम्बन्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावाँस्तत्पुत्रः स श्यामः इति यथा ॥ १० ॥

व्याप्तिज्ञानं तर्क इत्युक्तम्। ततोन्यत्पुनः असम्बन्धे[५]—अव्याप्तौ तज्ज्ञानं=व्याप्तिज्ञानं तर्काभासम्। यावाँस्तत्पुत्रः स श्याम इति यथा।

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तद्विपरीतं त्विदं वक्ष्यमाणमनुमानाभासम्। पक्षहेतुदृष्टान्तपूर्वकश्चानुमानप्रयोगः प्रतिपादित इति। तत्रेत्यादिना यथाक्रमं पक्षाभासादीनुदाहरति।

तत्र अनिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥

---

१ यथा धूमबाष्पादिविवेकनिश्चयाभावाद्व्याप्तिग्रहणाभावादकस्माद्धूमदर्शनाज्जातं यद्वह्निविज्ञानं तत्तदाभासं भवति कस्मादनिश्चयात्, तथा बौद्धपरिकल्पितं यन्निर्विकल्पकप्रत्यक्षं तत् प्रत्यक्षाभासं भवति कस्मादनिश्चयात्। २ एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभासम्। ३ सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभासम्, स्वयं स्वेन सदृशमित्यर्थः। ४ यमलकं=युगलम्। ५ अविनाभावाभावे।

तत्रानुमानाभासेऽनिष्टादिः पक्षाभासः। तत्र—

अनिष्टो मीमांसकस्याऽनित्यः शब्द इति ॥ १३ ॥

स हि प्रतिवाद्यादिदर्शनात्कदाचिदाकुलितबुद्धिर्विस्मरन्ननभिप्रेतमपि पक्षं करोति।

तथा सिद्धः श्रावणः शब्दः ॥ १४ ॥

सिद्धः पक्षाभासः, यथा श्रावणः शब्द इति, वादिप्रतिवादिनोस्तत्राऽविप्रतिपत्तेः। तथा—

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥ १५ ॥

पक्षाभासो भवति।

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥ १६ ॥

अनुमानबाधितो यथा—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् ॥ १७ ॥

तथाहि—'परिणामी शब्दोऽर्थक्रियाकारित्वात्कृतकत्वाद् घटवत्' इति अर्थक्रियाकारित्वादयो हि हेतवो घटे परिणामित्वे सत्येवोपलब्धाः, शब्देऽप्युपलभ्यमानाः परिणामित्वं प्रसाधयन्ति इति 'अपरिणामी शब्दः' इति पक्षस्यानुमानबाधा।

आगमबाधितो यथा—

प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति ॥ १८ ॥

आगमे हि धर्मस्याभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वं तद्विपरीतत्वं चाधर्मस्य प्रतिपाद्यते। प्रामाण्यं चास्य प्रागेव प्रतिपादितम्।

लोकबाधितो यथा—

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवदिति ॥ १९ ॥

---

१ बाधितः। २ आदिना सभ्यसभापत्यादिग्रहः। ३ स्वाभिप्रेतं नित्यः शब्द इति पक्षम्।

लोके हि प्राण्यङ्गत्वाविशेषेपि किञ्चिदपवित्रं किञ्चित्पवित्रं च वस्तुस्वभावात्प्रसिद्धम् । यथा गोपिण्डोत्पन्नत्वाविशेषेपि वस्तुस्वभावतः किञ्चिद्दुग्धादि शुद्धं न गोमांसम् । यथा वा मणित्वाविशेषेपि कश्चिद्विषापहारादिप्रयोजनविधायी महामूल्योऽन्यस्तु तद्विपरीतो वस्तुस्वभाव इति ।

स्ववचनबाधितो यथा—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥

अथेदानीं पक्षाभासानन्तरं हेत्वाभासेत्यादिना हेत्वाभासानाह—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरित्युक्तं प्राक् । तद्विपरीतास्तु हेत्वाभासाः । के ते? असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ।

तत्रासिद्धस्य स्वरूपं निरूपयति—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः इति ॥ २२ ॥

सत्ता च निश्चयश्च [सत्तानिश्चयौ] असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स तथोक्तः । तत्र—

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वादिति ॥ २३ ॥

कथमस्याऽसिद्धत्वमित्याह—

स्वरूपेणासिद्धत्वात् इति ॥ २४ ॥

चक्षुर्ज्ञानग्राह्यत्वं हि चाक्षुषत्वम्, तच्च शब्दे[1] स्वरूपेणासत्त्वादसिद्धम् । पौद्गलिकत्वात्तत्सिद्धिः; इत्यप्यपेशलम्; तदविशेषेप्यनुद्भूतस्वभावस्या[2]नुपलम्भसम्भवा[3]ज्ज्वलकनकादिसंयुक्तानले भासुररूपोष्णस्पर्शवदित्युक्तं तत्पौद्गलिकत्वसिद्धिप्रघट्टके ।

ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकाराः परैरिष्टास्तेऽसत्सत्ता-

१ श्रावणज्ञानग्राह्यत्वमस्येति । २ रूपादिलक्षणस्य, यशः । ३ चक्षुषा ।

कत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरम्, तल्लक्षणभेदाभावात्। यथैव हि स्वरूपासिद्धस्य स्वरूपतोऽसत्त्वादसत्सत्ताकत्वलक्षणमसिद्धत्वं तथा विशेष्यासिद्धादीनामपि विशेष्यत्वादिस्वरूपतोऽसत्त्वात्तल्लक्षणमेवासिद्धत्वम्।

तत्र विशेष्यासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्।

विशेषणासिद्धो यथा—अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्।

आश्रयासिद्धो यथा—अस्ति प्रधानं[1] विश्वपरिणामित्वात्।

आश्रयैकदेशासिद्धो यथा—नित्याः परमाणुप्रधानात्मेश्वरा[2] अकृतकत्वात्[3]।

व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा—अनित्याः परमाणवः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात्।

व्यर्थविशेषणासिद्धो[4] यथा—अनित्याः परमाणवः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात्। व्यर्थविशेष्यविशेषणश्चासावसिद्धश्चेति[5]।

व्यधिकरणासिद्धो[6] यथा—अनित्यः शब्दः पटस्य कृतकत्वात्। व्यधिकरणश्चासावसिद्धश्चेति। ननु शब्दे कृतकत्वमस्ति तत्कथमस्यासिद्धत्वम्? तदयुक्तम्; तस्य[7] हेतुत्वेनाप्रतिपादितत्वात्। न[8] चान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवत्यतिप्रसङ्गात्[9]।

भागासिद्धो[10] यथा—[अ]नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्[11]। व्यधिकरणासिद्धत्वं भागासिद्धत्वं च परप्रक्रियाप्रदर्शनमात्रं[12] न वस्तुतो[13] हेतुदोषः; व्यधिकरणस्यापि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्, उपरि वृष्टो देवोऽधः पूरदर्शनात्' इत्यादेर्गमकत्वप्र-

---

१ परमार्थतः प्रधानं नास्तीति भावः। २ अयमाश्रयस्तत्र प्रधानेश्वरौ न स्त एव। ३ कृतकत्वेनाऽनित्यत्वसिद्धिर्यतः। ४ व्यर्थं विशेषणं यस्य स तथोक्तः, स चासावसिद्धश्चेति विग्रहः। ५ विशेष्यं च विशेषणं च विशेष्यविशेषणे, व्यर्थे विशेष्यविशेषणे यस्येति विग्रहः। ६ विभिन्नमधिकरणमस्येति विग्रहः। ७ शब्दस्थस्य कृतकत्वस्य। ८ तथा प्रतिपादितमपि कृतकत्वं शब्दे सिद्धं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ९ एकत्र हेतूपन्यासे सर्वत्र साध्यसिद्धिप्रसङ्गात्। १० पक्षैकभागे असिद्धः, आश्रयैकदेशासिद्धभागासिद्धयोरयं विशेषः—तत्राश्रयैकदेशोऽसिद्धो हेतुश्च सिद्ध एव, अत्र त्वाश्रयैकदेशे हेतुरसिद्ध आश्रयैकदेशस्तु सिद्ध एव। ११ प्रयत्नानन्तरीयकत्वं पुरुषव्यापारोत्पन्ने शब्दे न तु मेघादिशब्दे इति भावः। १२ परे नैयायिकादयः। १३ जैनानाम्।

तीतेः। अविनाभावनिबन्धनो हि गम्यगमकभावः, न तु व्यधिकरणाव्यधिकरणनिबन्धनः 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्, धवलः प्रासादः काकस्य कार्ष्ण्यात्' इत्यादि[1]वत्।

न[2] च व्यधिकरणस्यापि गमकत्वे अविद्यमानसत्ताकत्वलक्षणमसिद्धत्वं विरुध्यते; न हि पक्षेऽविद्यमानसत्ताकोऽसिद्धोऽभिप्रेतो गुरूणाम्। किं तर्हि? अविद्यमाना साध्येनासा[3]ध्येनोभयेन वाऽविनाभाविनी सत्ता यस्या[4]सावसिद्ध इति।

भागासिद्धस्याप्यविनाभावसद्भावाद्गमकत्वमेव। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्व[5]मनित्यत्वमन्तरेण क्वापि दृश्यते। याव[6]ति च तत्प्रवर्त्तते तावतः शब्दस्यानित्यत्वं ततः प्रसिद्ध्यति, अन्य[7]स्य त्वन्यतः कृतकत्वादेरिति। यद्वा-'प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतूपादानसामर्थ्यात्' प्रयत्नानन्तरीयक एव शब्दोत्र पक्षः। तत्र चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः कथं भागासिद्धत्वमिति?

अथेदानीं द्वितीयमसिद्धप्रकारं व्याचष्टे—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमादिति ॥ २५ ॥

कुतोस्याविद्यमाननियततेत्याह—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ॥ २६ ॥

मुग्धबुद्धेर्बाष्पादिभावेन भूतसं[8]घाते सन्दे[9]हात्। न खलु साध्यसाधनयोरव्युत्पन्नप्रज्ञः 'धूमादिरीदृशो बाष्पादिश्चेदृशः' इति विवेचयितुं समर्थः।

साङ्ख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वादिति ॥ २७ ॥

चाविद्यमाननिश्चयः। कुत एतत्?

तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥

---

१ अव्यधिकरणव्यधिकरणत्वमुभयत्रास्ति तथाप्यविनाभावाभावेनासद्धेतुत्वमिति भावः। २ न चाशङ्कनीयम्। ३ दृष्टान्तेन। ४ हेतोः। ५ साधनम्। ६ पुरुषव्यापारोत्पन्ने शब्दे। ७ मेघादिशब्दस्य धर्मिरूपस्य। ८ पृथिव्यादिलक्षणानां भूतानां संघातो धूमस्तस्मिन् धूमे। ९ विद्यमानधूमेपि।

न ह्यस्याविर्भावादन्यत् कारणव्यापारादसतो रूपस्यात्मलाभलक्षणं कृतकत्वं प्रसिद्धम् ।

सन्दिग्धविशेष्यादयोऽप्यविद्यमाननिश्चयतालक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम् । तत्र सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा–अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः[2] पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात्[3] । सन्दिग्धविशेषणासिद्धो यथा–अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । एते एवासिद्धभेदाः केचिदन्यतरासिद्धाः[4] केचिदुभयासिद्धाः[5] प्रतिपत्तव्याः ।

ननु नास्त्यन्यतरासिद्धो हेत्वाभासः[6]; तथाहि–परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी तत्साधकं प्रमाणं न प्रतिपादयति, तदा प्रमाणाभासवदुभयोरसिद्धः । अथ प्रमाणं प्रतिपादयेत्; तर्हि प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः । अन्यथा साध्यमप्यन्यतरासिद्धं न कदाचित्सिद्ध्येदिति व्यर्थः प्रमाणोपन्यासः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो वादिना प्रतिवादिना वा सम्यक्समक्षं स्वोपन्यस्तो हेतुः प्रमाणतो यावन्न परं प्रति साध्यते तावत्तं प्रत्यस्य प्रसिद्धेरभावात्कथं नान्यतरासिद्धता ? नन्वेवमप्यस्यासिद्धत्वं गौणमेव स्यादिति चेत्; एवमेतत्, प्रमाणतो हि सिद्धेरभावादसिद्धोऽसौ न तु स्वरूपतः । न खलु रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावत्कालं मुख्यतस्तदाभासो भवतीति ।

अथेदानीं विरुद्धहेत्वाभासस्य विपरीतस्येत्यादिना स्वरूपं दर्शयति—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥

साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन प्रत्यनीकेन[11] निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ[12] विरुद्धः । यथाऽपरिणामी[13] शब्दः कृतकत्वादिति । कृतकत्वं हि पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनैवावि-

१ यतस्तस्य सर्वस्य वस्तुनः सद्भावः सदेति वचः । २ सांख्यगुरुः । ३ सांख्येनोक्तं भवतां जैनानां विशेष्यासिद्धो हेतुरिति भावः । ४ वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये एकस्य । ५ वादिप्रतिवादिनोः । ६ किन्तर्हि ? उभयासिद्ध एव । ७ प्रतिवादिना । ८ उपन्यस्तेऽपि निर्दुष्टे हेतुसाधके प्रमाणे यद्यसौ नोभयोः सिद्धः स्यात्तर्हि । ९ साध्यस्यान्यतरासिद्धत्वात् । १० यावत्प्रमाणतः सिद्धेरेवाभावस्तावत्स्वरूपतोऽप्यसिद्धः कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह । ११ सह । १२ हेतोः । १३ एकस्वभावोऽक्षणिकलक्षणो नित्यैकलक्षणः । १४ साध्यविपरीतेन ।

नाभूतं बहिरन्तर्वा प्रतीतिविषयः सर्वथा नित्ये क्षणिके वा तदभावप्रतिपादनात्।

ये चाष्टौ विरुद्धभेदाः परैरिष्टास्तेप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्तीत्युदाह्रियन्ते। सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिर्यथा-नित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्। उत्पत्तिधर्मकत्वं हि पक्षीकृते शब्दे प्रवर्त्तते, नित्यविपरीते चानित्ये घटादौ विपक्षे, नाकाशादौ सत्यपि सपक्षे इति।

विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिश्च यथा—नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। बाह्येन्द्रियग्रहणयोग्यतामात्रं हि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वमत्र विवक्षितम्, तेनास्य पक्षव्यापकत्वम्। विपक्षैकदेशव्यापकत्वं चानित्ये घटादौ भावात्सुखादौ चाभावात् सिद्धम्। सपक्षावृत्तित्वं चाकाशादौ नित्येऽवृत्तेः। सामान्ये वृत्तिस्तु 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणाद्व्यवच्छिन्ना।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिश्च यथा-सामान्यविशेषवती अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे वाग्मनसे नित्यत्वात्। नित्यत्वं हि पक्षैकदेशे मनसि वर्त्तते न वाचि, विपक्षे चास्मदादिबाह्यकरणाप्रत्यक्षे गगनादौ नित्यत्वं वर्त्तते न सुखादौ। सपक्षे च घटादावस्याऽवृत्तेः सपक्षावृत्तित्वम्। सामान्यस्य च सपक्षत्वं सामान्या(न्य) विशेषवत्त्वविशेषणाद्व्यवच्छिन्नम्। योगिबाह्यकरणप्रत्यक्षस्य चाकाशादेरस्मदाद्यऽग्रहणादसपक्षत्वम्।

पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा-नित्ये वाग्मनसे उत्पत्तिधर्मकत्वात्। उत्पत्तिधर्मकत्वं हि पक्षैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि, सपक्षे चाकाशादौ नित्ये न वर्त्तते, विपक्षे च घटादौ सर्वत्र वर्त्तते इति।

तथाऽसति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा-आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात्। प्रमेयत्वं हि पक्षे शब्दे वर्तते। विपक्षे चानाकाशविशेषगुणे घटादौ, न तु सपक्षे तस्यैवाभावात्। न ह्याकाशे शब्दादन्यो विशेषगुणः कश्चिदस्ति यः सपक्षः स्यात्। परममहापरिमाणादेरन्यत्रापि प्रवृत्तितः साधारणगुणत्वात्।

१ नैयायिकादिभिः। २ एतत्=विपरीतनिश्चिताविनाभावता। ३ सपक्षे अवृत्तिरवर्त्तनं यस्य स तथोक्तः। ४ नित्यरूपे सपक्षे ५ नित्यत्वस्य हेतोः। ६ सामान्यस्य सपक्षत्वं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ७ अनित्यत्वेन। ८ आदिना संख्यादेश्च। ९ आत्मादावपि।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–सत्तासम्बन्धिनः षट् पदार्था उत्पत्तिमत्त्वात्। अत्र हि हेतुः पक्षीकृतषट्पदार्थैकदेशे अनित्यद्रव्यगुणकर्मण्येव वर्त्तते न नित्यद्रव्यादौ। विपक्षे चासत्तासम्बन्धिनि प्रागभावाद्येकदेशे प्रध्वंसाभावे वर्त्तते न तु प्रागभावादौ। सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रास्यावृत्तिः सिद्धा।

पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। अयं हि हेतुः पक्षीकृते शब्दे वर्त्तते। विपक्षस्य चानाकाशविशेषगुणस्यैकदेशे रूपादौ वर्त्तते, न तु सुखादौ। सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रास्याऽवृत्तिः सिद्धा।

पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा–नित्ये वाङ्मनसे कार्यत्वात्। कार्यत्वं हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि। विपक्षे चानित्ये घटादौ सर्वत्र प्रवर्त्तते सपक्षे चावृत्तिस्तस्याभावात्सुप्रसिद्धा।

अथानैकान्तिकः कीदृश इत्याह—

विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥ ३० ॥

न केवलं पक्षसपक्षेऽपि तु विपक्षेपीत्यपिशब्दार्थः। एकस्मिन्नन्ते[1] नियतो ह्यैकान्तिकस्तद्विपरीतोऽनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यर्थः। कः पुनरयं व्यभिचारो नाम? पक्षसपक्षान्य[2]वृत्तित्वम्। यः खलु पक्षसपक्षवृत्तित्वे सत्यन्यत्र वर्त्तते स व्यभिचारी प्रसिद्धः। यथा लोके पक्षसपक्षविपक्षवर्ती कश्चित्पुरुषस्तथा चायमनैकान्तिकत्वेनाभिमतो हेतुरिति। स च द्वेधा निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति। तत्र—

निश्चितवृत्तिर्यथाऽनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवदिति ॥ ३१ ॥

कथमित्याह—

आकाशे नित्येप्यस्य सम्भवादिति ॥ ३२ ॥

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिति ॥ ३३ ॥

---

१ धर्मे। २ अन्यो विपक्षः।

कुतोऽयं शङ्कितवृत्तिरित्याह—

सर्वज्ञ[1]त्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥ ३४ ॥

एतच्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते। परा[2]भ्युपगतश्च पक्षत्रय[3]व्यापकाद्यनैकान्तिकप्रपञ्च ए[4]तल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषान्नातोऽर्थान्तरम्, सर्वत्र विपक्षस्यैकदेशे सर्वत्र वा विपक्षे वृत्त्या विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तित्वलक्षणसम्भवादित्युदाह्रियते। पक्षत्रयव्यापको यथा-अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। पक्षे सपक्षे विपक्षे चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः पक्षत्रयव्यापकः।

सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्। अमूर्त्तत्वं हि पक्षीकृते शब्दे सर्वत्र वर्त्तते। सपक्षैकदेशे चाकाशादौ वर्त्तते, न परमाणुषु। विपक्षैकदेशे च सुखादौ वर्त्तते न घटादाविति।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-गौरयं विषाणित्वात्। विषाणित्वं हि पक्षीकृते पिण्डे वर्त्तते, सपक्षे च गोत्वधर्माध्यासिते सर्वत्र व्यक्तिविशेषे, विपक्षस्य चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्त्तते न तु मनुष्यादाविति।

पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-अगौरयं विषाणित्वात्। अयं हि हेतुः पक्षीकृतेऽगोपिण्डे वर्त्तते। अगोत्वविपक्षे च गोव्यक्तिविशेषे सर्वत्र, सपक्षस्य चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्तते न तु मनुष्यादाविति।

पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा-अनित्ये वाग्मनसेऽमूर्त्तत्वात्। अमूर्त्तत्वं हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि, सपक्षस्य चैकदेशे सुखादौ न घटादौ, विपक्षस्य चाकाशादेर्नित्यस्यैकदेशे गगनादौ न परमाणुष्विति।

पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा-द्रव्याणि दिक्कालमनांस्यमूर्तत्वात्। अमूर्तत्वं हि पक्षस्यैकदेशे दिक्काले वर्तते न मनसि, सपक्षस्य च द्रव्यरूपस्यैकदेशे आत्मादौ वर्तते न घटादौ, विपक्षे चाद्रव्यरूपे गुणादौ सर्वत्रेति।

---

१ सर्वज्ञे वक्तृत्वस्य बाधकप्रमाणाभावात्किं वक्तृत्वं तत्र वर्त्तते न वेति संदेहः। २ परैः नैयायिकादिभिः। ३ पक्षसपक्षविपक्षाः पक्षत्रयम्। ४ विपक्षेप्यविरुद्धतेति। ५ इयत्तावच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तिमत्त्वम्। निर्गुणा गुणा इति वचनादियत्तावच्छिन्नपरिमाणाभावः।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापको यथा–अद्रव्याणि दिक्कालमनांस्यमूर्तत्वात्। अत्रापि प्राक्तनमेव व्याख्यानम् अद्रव्यरूपस्य गुणादेस्तु सपक्षतेति विशेषः।

सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशान्यनित्यान्यगन्धवत्त्वात्। अगन्धवत्त्वं हि पृथिवीतोऽन्यत्र पक्षैकदेशे वर्तते न तु पृथिव्याम्, सपक्षे चानित्ये गुणे कर्मणि च, विपक्षे चात्मादौ नित्ये सर्वत्र वर्तत इति।

अथेदानीमकिञ्चित्करस्वरूपं सिद्ध इत्यादिना व्याचष्टे—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥

सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करोऽनर्थकः।

यथा श्रावणः शब्दः शब्दत्वादिति ॥ ३६ ॥

न ह्यसौ स्वसाध्यं साधयति, तस्याध्यक्षादेव प्रसिद्धेः। नापि साध्यान्तरम्; तत्रावृत्तेरित्यत आह—

किञ्चिदकरणात् ॥ ३७ ॥

प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्येऽकिञ्चित्करोऽसौ—

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ यथा किंचित्कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥ ३८ ॥

कुतोऽस्याऽकिञ्चित्करत्वमित्याह–किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्।

ननु प्रसिद्धः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैश्च बाधितः पक्षाभासः प्रतिपादितः। तद्दोषेणैव चास्य दुष्टत्वात् पृथगकिञ्चित्कराभिधानमनर्थकमित्याशङ्क्य लक्षण एवेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥ ३९ ॥

लक्षणे लक्षणव्युत्पादनशास्त्रे[1] एवासावकिञ्चित्करत्वलक्षणो दोषो विनेयव्युत्पत्त्यर्थं व्युत्पाद्यते, न तु व्युत्पन्नानां प्रयोगकाले[2]। कुत एतदित्याह–व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव[3] दुष्टत्वात्।

---

१ अबादिषु। २ उपन्यासकाले। ३ पक्षाभासलक्षणेन।

अथेदानीं दृष्टान्ताभासप्रतिपादनार्थं दृष्टान्तेत्याद्युपक्रमते । दृष्टान्तो ह्यन्वयव्यतिरेकभेदाद्द्विधेत्युक्तम् । तद्विपरीतस्तदाभासोऽपि त[1]द्भेदाद्द्विधैव द्रष्टव्यः । तत्र—

दृष्टान्ताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥ ४० ॥

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुख-परमाणु-घटवदिति ॥ ४१ ॥

इन्द्रियसुखे हि साधनममूर्त्तत्वमस्ति, साध्यं त्वपौरुषेयत्वं नास्ति पौरुषेयत्वात्तस्य । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति, साधनं त्वमूर्तत्वं नास्ति मूर्तत्वात्तेषाम् । घटे तूभयमपि पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्चास्येति । न केवलमेत एवान्वये दृष्टान्ताभासाः किन्तु—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥ ४२ ॥

विपरीतोऽन्वयो व्याप्तिप्रदर्शनं यस्मिन्निति[2] । यथा यदपौरुषेयं तदमूर्तमिति । 'यदमूर्तं तदपौरुषेयम्' इति हि साध्येन व्याप्ते साधने प्रदर्शनीये कुतश्चिद्व्यामोहात् 'यदपौरुषेयं तदमूर्तम्' इति प्रदर्शयति । न चैवं प्रदर्शनीयम्—

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गादिति ॥ ४३ ॥

विद्युद्वनकुसुमादौ ह्यऽपौरुषेयत्वेप्यमूर्तत्वं नास्तीति ।

व्यतिरेके दृष्टान्ताभासाः—

व्यतिरेके असिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ॥ ४४ ॥

असिद्धतद्व्यतिरेकाः—असिद्धस्तेषां साध्यसाधनोभयानां व्यतिरेको [व्या]वृत्तिर्येषु ते तथोक्ताः । यथाऽपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्युक्त्वा यन्नापौरुषेयं तन्नामूर्त्तं परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवदिति व्यतिरेकं[3]माह । परमाणुभ्यो ह्यमूर्तत्वव्यावृत्तावप्यऽपौरुषेयत्वं न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वात्तेषाम् । इन्द्रियसुखे त्वपौरुषेयत्वव्यावृत्तावप्यमूर्त्तत्वं न व्यावृत्तममूर्त्तत्वात्तस्य । आकाशे तूभयं

---

१ अन्वयव्यतिरेकभेदात् । २ योऽग्निमान्स धूमवानिति यथा । ३ दृष्टान्तम् ।

न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वादमूर्त्तत्वाच्चास्येति । न केवलमेत एव व्यतिरेके दृष्टान्ताभासाः किंतु—

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ॥ ४५ ॥

विपरीतो व्यतिरेको व्यावृत्तिप्रदर्शनं यस्येति । यथा यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयमिति । 'यन्नापौरुषेयं तन्नामूर्तम्' इति हि साध्यव्यतिरेके साधनव्यतिरेकः प्रदर्शनीयस्तथैव प्रतिबन्धा[2]दिति ।

अव्युत्पन्नव्युत्पादनार्थं पञ्चावयवोपि प्रयोगः[3] प्राक् प्रतिपादितस्तत्प्रयोगाभासः कीदृश इत्याह—

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥४६॥

यथाग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ॥ ४७ ॥

धूमवांश्चायमिति वा ॥ ४८ ॥

यो ह्यव्युत्पन्नप्रज्ञोऽनुमानप्रयोगे पञ्चावयवे गृहीतसङ्केतः स उपनयनिगमनरहितस्य निगमनरहितस्य वानुमानप्रयोगस्य तदाभासतां मन्यते । न केवलं कियद्धीनतैव बालप्रयोगाभासः किंतु तद्विपर्ययश्च—तेषामवयवानां विपर्ययस्तत्प्रयोगाभासो यथा—

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ॥ ४९ ॥

स[6] ह्युपनयपूर्वकं निगमनप्रयोगं साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं मन्यते, नान्यथा । कुत एतदित्याह—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥

स्पष्टतया प्रकृतस्य साध्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात् । यो हि यथा गृहीतसङ्केतः स तथैव वाक्प्रयोगात्प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत नान्यथा लोकवत् । यस्तु सर्वप्रकारेण वाक्प्रयोगे व्युत्पन्नप्रज्ञः स यथा यथा वाक्प्रयुज्यते तथा तथा प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत लोके सर्वभाषाप्रवीणपुरुषवत् । तथा च न तं प्रत्यनन्तरोक्तः कश्चित्प्रयोगाभास इति ।

---

१ कुत इत्याह । २ अविनाभावात् । ३ अनुमानप्रयोगः । ४ बालव्युत्पत्त्यर्थमेव । ५ पञ्चावयवानुमानवादी बालो वा । ६ निगमनपूर्वकमुपनयप्रयोगं न मन्यते ।

अथेदानीमागमाभासप्ररूपणार्थमाह—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥

रागाक्रान्तो हि पुरुषः क्रीडावशीकृतचित्तो विनोदार्थं[1] वस्तु किञ्चि[2]दप्राप्नुवन्माणवकैरपि सह क्रीडाभिलाषेणेदं वाक्यमुच्चारयति—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवका इति ॥ ५२ ॥

तथा क्वचित्कार्ये व्यासक्तचित्तो माणवकैः कदर्थितो द्वेषाक्रान्तोप्यात्मीयस्थानात्तदुच्चाटनाभिलाषेणेदमेव वाक्यमुच्चारयति। मोहाक्रान्तस्तु सांख्यादिः—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते[3] इति च ॥ ५३ ॥

उच्चारयति। न खल्वज्ञानमहामहीधराक्रान्तः पुरुषो यथावद्वस्तु विवेचयितुं समर्थः।

ननु चैवंविधपुरुषवचनोद्भूतं ज्ञानं कस्मादागमाभासमित्याह—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

प्रतिपन्नार्थविचलनं हि विसंवादो विपरीता[4]र्थोपस्थापकप्रमाणावसेयः। स चा[5]त्रास्तीत्यागमाभासता।

अथेदानीं संख्याभासोपदर्शनार्थमाह—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥ ५५ ॥

कस्मादित्याह—

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेः अतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥

कुतोऽसिद्धिरित्याह–अतद्विषयत्वात्। यथा चाध्यक्षस्य परलोका[6]दिनिषेधादिरविषयस्तथा विस्तरतो द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम्।

---

१ क्रीडाकारणम्। २ वक्ष्यमाणव्यतिरिक्तम्। ३ सांख्यमते सर्वं सर्वत्र विद्यते यतः। ४ रजते नेदं रजतमिति यथा। ५ रागाद्यक्रान्तपुरुषवचनाज्जाते ज्ञाने। ६ आदिना परबुद्ध्यादिग्रहः।

अमुमेवार्थं समर्थयमानः सौगतादिपरिकल्पितां च संख्यां निराकुर्वाणः सौगतेत्याद्याह—

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः एकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ॥ ५७ ॥

यथैव हि सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां मते प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः प्रमाणैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिर्न सिध्यत्यतद्विषयत्वात् तथा प्रकृतमपि। प्रयोगः—यद्यस्याऽविषयो न ततस्तत्सिद्धिः यथा प्रत्यक्षानुमानाद्यविषयो व्याप्तिर्न ततः सिद्धिसौधशिखरमारोहति, अविषयश्च परलोकनिषेधादिः प्रत्यक्षस्येति।

मा भूत्प्रत्यक्षस्य तद्विषयत्वमनुमानादेस्तु भविष्यतीत्याह—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥ ५८ ॥

चार्वाकं प्रति। सौगतादीन्प्रति—

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्य अव्यवस्थापकत्वात् ॥ ५९ ॥

कुत एतदित्याह अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्।

[3]प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वा[4]दिति ॥ ६० ॥

प्रतिपादितश्चायं प्रतिभासभेदः सामग्रीभेदश्चाध्यक्षादीनां प्रपञ्चतस्तद्भेदेत्यत्रेत्युपरम्यते।

अथेदानीं विषयाभासप्ररूपणार्थं विषयेत्याद्युपक्रमते—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥ ६१ ॥

विषयाभासाः—सामान्यं यथा सत्ताद्वैतवादिनः। केवलं विशेषो वा यथा सौगतस्य। द्वयं वा स्वतन्त्रं[5] यथा यौगस्य। कुतोऽस्य विषयाभासतेत्याह—

---

१ अनुमानस्य। २ परलोकनिषेधादेः। ३ अस्तु प्रामाण्यमनुमानस्य किन्तु तत्प्रत्यक्षे एवान्तर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ४ ततः प्रत्यक्षेऽनुमानस्यान्तर्भावाभाव इत्यर्थः। ५ अन्योन्यनिरपेक्षम्।

[1]तथाऽप्रतिभासनात् कार्याऽकरणाच्च ॥ ६२ ॥

स ह्येवंविधो[2]ऽर्थः स्वयमसमर्थः समर्थो वा कार्यं कुर्यात्? न तावत्प्रथमः पक्षः;

स्वयमसमर्थस्याऽकारक[3]त्वात्पूर्ववत् ॥ ६३ ॥

एतच्च सर्वं विषयपरिच्छेदे विस्तारतोभिहितमिति नेहाभिधीयते।

नापि द्वितीयः पक्षः;

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्ष[4]त्वात् ॥ ६४ ॥

परापेक्षणे परिणा[5]मित्वमन्यथा तद्भावादिति ॥ ६५ ॥

अथेदानीं फलाभासं प्ररूपयन्नाह—

फलाभासं प्रमाणा[6]दभिन्नं भिन्नमेव वा ॥ ६६ ॥

कुतोस्य फलाभासतेत्याह—

अभेदे त[7]द्व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

न खलु सर्वथा तयोरभेदे 'इदं प्रमाणमिदं फलम्' इति व्यवहारः शक्यः प्रवर्त्तयितुम्।

ननु व्यावृत्त्या तयोः कल्पना भविष्यतीत्याह—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना [8]फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥ ६८ ॥

प्रमाणान्तराद्व्यावृत्तौ वाऽप्रमाणत्वस्येति ॥ ६९ ॥

एतच्च फलपरीक्षायां प्रपञ्चितमिति पुनर्नेह प्रपञ्च्यते।

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

---

१ केवलसामान्यतया केवलविशेषतया द्वयस्य स्वतन्त्रतया वा। २ केवलसामान्यरूपः केवलविशेषरूपश्च। ३ पश्चादपि। ४ परस्य। ५ अनपेक्षाकारपरित्यागेनापेक्षाकारेण परिणमनात्। ६ सर्वथा। ७ तयोः प्रमाणफलयोः। ८ अफलाद्व्यावृत्तिः यथा तथा फलान्तराद्व्यावृत्त्या भाव्यम्, तथा सति फलान्तराद्व्यावृत्तिः फलविशेषाद्व्यावृत्तिरित्यर्थः, अफलत्वप्रसङ्गः गोर्व्यावृत्त्याऽगोत्वं भवति यथा।

प्रमाणफलयोस्तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

अस्तु तर्हि सर्वथा तयोर्भेद इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः (त्तेः) ॥ ७१ ॥

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥ ७२ ॥

इत्यप्युक्तं तत्रैव ।

अथेदानीं प्रतिपन्नप्रमाणतदाभासस्वरूपाणां विनेयानां प्रमाणतदाभासावित्यादिना फलमादर्शयति—

प्रमाण-तदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृता-ऽपरिहृतदोषौ वादिनः साधन-तदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण-भूषणे च ॥ ७३ ॥

प्रतिपादितस्वरूपौ हि प्रमाणतदाभासौ यथावत्प्रतिपन्नाप्र[2]तिपन्नस्वरूपौ जयेतरव्यवस्थाया निबन्धनं भवतः । तथाहि—चतु[3]रङ्गवादमुररीकृत्य विज्ञातप्रमाणतदाभासस्वरूपेण वादिना सम्यक्प्रमाणे स्वपक्षसाधनायोपन्यस्ते अविज्ञाततत्स्वरू[4]पेण तु तदाभा[5]से । प्रतिवादिना वाऽनिश्चिततत्स्वरूपेण दुष्टतया सम्यक्प्रमाणेऽपि तदाभासतोद्भाविता । निश्चिततत्स्वरूपे[7]ण तु तदाभासे तदाभासतोद्भाविता । एवं तौ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भा[8]वितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः सा[9]धनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च भवतः ।

न[10]नु चतुरङ्गवादमुररीकृत्येत्याद्ययुक्तमु[11]क्तम्; वादस्याविजिगीषुविषयत्वे[12]न चतुरङ्गत्वासम्भवा[13]त् । न खलु वादो विजिगीषतोर्वर्त्तते तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थरहितत्वात् । यस्तु विजिगीषतोर्नासौ तथा सिद्धः यथा जल्पो वित[14]ण्डा च, तथा च वादः,

१ वास्तवभेदाभावे । २ वादिना प्रतिपन्नाप्रतिपन्नस्वरूपौ प्रतिवादिनापि तथेत्यर्थः । ३ सभ्यसभापतिवादिप्रतिवादीति चत्वार्यङ्गानि यस्य स तथोक्तः । ४ अन्यवादिना । ५ उपन्यस्ते । ६ अन्यप्रतिवादिना । ७ प्रतिवादिना । ८ वादिनेति शेषः । ९ स्वपक्षस्य । १० यौगः प्राह । ११ जैनैः । १२ वीतरागकथा वादो योगमते यतः । १३ जयेच्छाऽभावात्तेषां सभ्यादीनां प्रयोजनाभावो वादे इति भावः । १४ जल्पो वितण्डा च विजिगीषतोरतो न वादरूपः, व्यतिरेकी दृष्टान्तः ।

तस्मान्न विजिगीषतोरिति । न हि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति; जल्पवितण्डयोरेव तत्त्वात् । तदुक्तम्—

"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटकशाखावरणवत्" [न्यायसू० ४।२।५०] इति । तदप्यसमीचीनम्; वादस्याविजिगीषुविषयत्वासिद्धेः । तथाहि–वादो नाविजिगीषुविषयो निग्रहस्थानवत्त्वात् जल्पवितण्डावत् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम्; 'सिद्धान्ताविरुद्धः' इत्यनेनापसिद्धान्तः, 'पञ्चावयवोपपन्नः' इत्यत्र पञ्चग्रहणात् न्यूनाधिके, अवयवोपपन्नग्रहणाद्धेत्वाभासपञ्चकं चेत्यष्टनिग्रहस्थानानां वादे नियमप्रतिपादनात् ।

ननु वादे सतामप्येषां निग्रहबुद्ध्योद्भावनाभावान्न विजिगीषास्ति । तदुक्तम्–"तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलभ्यते" [ ] तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वाद्वादेऽप्रमाणबुद्ध्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्या । तत्त्वज्ञानायावयोः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तद्धेतुः । अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति । तदप्यसाम्प्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तथोद्भावननियमप्रसङ्गात् । तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात् । तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्त्तुमशक्यत्वात् । परस्य तूष्णींभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्यु-

---

१ वादो न विजिगीषतोर्वर्तते तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थश्च भवत्विति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह । २ स्तः । ३ प्रमाणतर्क(विचार)साधनो(स्वपक्षस्य)पालम्भः (परपक्षस्य दूषणं) सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति परकीयं वादलक्षणसूत्रम् । जैनमते तु समर्थ(वादिप्रतिवादिनोर्जयपराजयार्थं)वचनं वाद इति वादलक्षणम् । ४ प्रतिज्ञोपपन्न इत्यनेनाश्रयासिद्धहेत्वाभासग्रहणं, हेतूपपन्न इत्यनेन स्वरूपासिद्धहेत्वाभासस्य, अन्वयदृष्टान्तोपपन्न इत्यनेन विरुद्धहेत्वाभासस्य व्यतिरेकदृष्टान्तोपपन्न इत्यनेनानैकान्तिकहेत्वाभासस्योपनयोपपन्न इत्यनेन कालात्ययापदिष्टस्य, निगमोपपन्न इत्यनेन सत्प्रतिपक्षस्य च ग्रहणम् । ५ अनेनात्र भवितव्यं नान्येनेति सम्भावनाप्रत्ययस्तर्को विचार इति यावत्, वादलक्षणे गृहीतेन । ६ व्याख्यानकाले क्रियमाणे विचारे वीतरागत्वं वादिप्रतिवादिनोस्तथा वादकालेपि तत्स्यात् । कुत एतत् ? वादलक्षणे तर्कशब्दोपादानाद् ज्ञायते । ७ व्याख्यानकाले विचारो वीतरागत्वस्य हेतुस्तथा वादेपीति तात्पर्यम् । ८ अपसिद्धान्तादिकं निग्रहबुद्ध्या नोद्भावनीयमिति । ९ प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इति प्रथमपदापेक्षयोत्तरपदत्वमनयोः । १० ततश्च छलजात्यादीनां निवारणबुद्ध्योद्भावनमिति भावः, निग्रहस्थानैः प्रतिवादिनो निराकरणं न तु तत्त्वनिर्णय इति भावः ।

द्भावनमिति चेत्; न; तथा परस्य तूष्णींभावाभावादऽसदुत्तराणामानन्त्यात्।

[न च] तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहित[1]त्वं च वादे[2]ऽसिद्धम्; तस्यैव तत्संरक्षणार्थत्वोपपत्तेः। तथाहि—वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वे सिद्धान्ताविरुद्धत्वे पञ्चावयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्, यस्तु न तथा स न तथा यथाक्रोशादिः, तथा च वादः, तस्मात्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ इति। न चायमसिद्धो हेतुः;

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।" [न्यायसू० १।२।१] इत्यभिधानात्। 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्' इत्युच्यमाने जल्पोपि तथा स्यादित्यव[3]धारणविरोधः, तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणम्। न हि जल्पे त[4]दस्ति, "य[5]थोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।" [न्यायसू० १।२।२] इत्यभिधानात्। नापि वितण्डा त[6]थानुषज्यते; जल्पस्यैव वितण्डारूपत्वात्, "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।" [न्यायसू० १।२।३] इति वचनात्। स यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषितो वितण्डात्वं प्रतिपद्यते। वैतण्डिकस्य च स्वपक्ष एव साधन[7]वादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो ह[8]स्तिप्रतिहस्तिन्यायेन। तस्मिन्प्रतिपक्षे वैतण्डिको हि न सा[9]धनं वक्ति। केवलं परपक्षनिराकरणा[10]यैव प्रवर्त्तते इति व्याख्यानात्।

प[11]क्षप्रतिपक्षौ च वस्तुध[12]र्मावेकाधिकरणौ विरुद्धावेककालावनवसितौ। वस्तुधर्माविति वस्तुविशेषौ वस्तु[13]नः। सामान्येनाधिगतत्वाद्विशेषतोऽनधिगतत्वाच्च विशेषावगमनिमित्तो विचा[14]रः।

१ हेतुः। २ न जल्पवितण्डे इत्यर्थः। ३ एवकारेण। ४ केवलम्। ५ यथोक्तेन वादलक्षणेनोपपन्नः, यथोक्तोपपन्नग्रहणेन प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भमात्रमुपलक्ष्यते न समस्तं वादलक्षणं सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्न इत्युत्तरपदद्वयस्य निग्रहस्थाननियमनिबन्धनस्यात्र सम्बन्धाऽभावात् जल्पे समस्तनिग्रहस्थानासम्भवात्। ६ तत्त्वाध्यवसायसंरक्षार्थत्वेन। ७ प्रतिवादि। ८ हस्त्येव प्रतिहस्ती हस्त्यन्तरापेक्षया, तस्य न्यायेन। ९ स्वपक्षसाधनाय हेतुम्। १० प्रतिवादी यं कञ्चन सिद्धान्तमवलम्ब्यावस्थितः प्रतिपक्षभङ्गमात्रेण विजयी भवति न तु जल्पवत्स्वपक्षसाधनेनेति भावः। ११ पक्षप्रतिपक्षयोर्लक्षणं कृत्वा जल्पवितण्डयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वं निराकरोति जैनः। १२ शब्दाद्याश्रितनित्यानित्यत्वादिलक्षणौ। १३ शब्दादिलक्षणस्य। १४ भवतीति शेषः।

एकाधिकरणौ[1]विति, नानाधि[5]करणौ विचारं[3] न प्रयोज[2]यत उ[4]भयोः प्रमाणोपपत्तेः; तद्यथा–अनित्या बु[6]द्धिर्नित्य आत्मेति। अवि[7]रुद्धा-वँ[8]प्येवं विचारं न प्रयोज[9]यतः, तद्यथा–क्रियावद्द्रव्यं गुणवच्चेति। एककालाविति, भिन्नकालयोर्विचाराप्रयोजकत्वं प्रमाणोप[10]पत्तेः, यथा क्रियावद्द्रव्यं निष्क्रियं च कालभेदे सति। तथाऽवसितौ विचारं न प्रयोजयतः; निश्चयोत्तरकालं विवादाभावादित्यनवसितौ तौ निर्दिष्टौ। एवंविशेषणौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ। तयोः परिग्रह इत्थंभावनियमः 'एवंधर्मा[11]यं धर्मी[12] नैवंधर्मा[13]' इति च। ततः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणस्य पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्पवितण्डयोरसम्भवात्[14] सिद्धं वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वं लाभपूजाख्यातिवत्[15]।

तत्त्वस्याध्यवसायो हि निश्चयस्तस्य संरक्षणं न्यायबलान्निखिलबाधक[16]निराकरणम्, न पुनस्तत्र बाधकमुद्भावयतो यथाकथञ्चिन्निर्मुखीकरणं लकुटचपेटादिभिस्त[17]न्यक्करणस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वानुषङ्गात्। न[18] च जल्पवितण्डाभ्यां निखिलबाधकनिराकरणम्; छलजात्युपक्रम[19]परतया ताभ्यां संशयस्य विपर्ययस्य वा जननात्। तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि पर[20]निर्मुखीकरणे प्रवृत्तौ[21] प्राश्निकास्तत्र संशेरते[22] विपर्ययस्यन्ति वा–'किमस्य तत्त्वाध्यवसायोस्ति किं वा नास्तीति, नास्त्येवेति वा' परनिर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भात्[26] तत्त्वोपप्लववादिवत्। तथा[23] चाख्याति[24]रेवास्य[25] प्रेक्षावत्सु स्यादिति कुतः पूजा लाभो वा?

ततः[27] सिद्धश्चतुरङ्गो वादः स्वाभि[28]प्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वाद्वादत्वाद्वा लोकप्रख्यातवादवत्। एकाङ्गस्यापि वैकल्ये प्रस्तुतार्थाऽप-

---

१ एकाश्रयौ नित्यानित्यलक्षणौ यथा। २ प्रवर्त्तयते यत इत्यध्याहार्यम्। ३ प्रति। ४ वादिप्रतिवादिनौ। ५ नानाधिकरणयोर्वस्तुधर्मयोः। ६ वस्तुधर्मद्वयस्यैकाधिकरणत्वे सति विचारो भवति, न तु नानाधिकरणे सतीति भावः। ७ अनित्यस्य बुद्ध्यधिकरणं नित्यस्य त्वात्माधिकरणम्, अत्र यथा प्रमाणोपपत्तेर्विचारो न स्यात्। ८ वादिप्रतिवादिनौ। ९ वादिप्रतिवादिनोः। १० प्रति। ११ अनित्यलक्षणः। १२ शब्दादिः। १३ नित्यलक्षणः। १४ प्रमाणतर्काभ्यां पक्षप्रतिपक्षौ साधनोपालम्भस्वरूपौ जल्पवितण्डयोर्न भवतस्तत्र तयोर्विचारत्वात्। १५ लाभपूजाख्यातयो यथा वादस्यैव। १६ बाधकं विरुद्धप्रमाणम्। १७ तस्य परस्य। १८ जल्पवितण्डाभ्यां निखिलबाधकनिराकरणं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। १९ उपक्रमः प्रस्तावः। २० परः प्रतिवादी। २१ सत्याम्। २२ सन्देहं कुर्वन्ति। २३ तत्त्वाध्यवसायाभावेन। २४ अप्रसिद्धिः। २५ वादिनः। २६ हेतोः। २७ चतुरङ्गत्वाभावसाधनमविजिगीषुविषयत्वसाधनं तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थरहितत्वसाधनमसिद्धं यतः। २८ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वपरिहारमाह।

रिसमाप्तेः। तथा हि। अहङ्कारग्रहग्रस्तानां मर्यादातिक्रमेण प्रवर्तमानानां शक्ति[1]त्रयसमन्वितौदासीन्या[2]दि[3]गुणोपेतसभापतिमन्तरेण

"अपक्षपतिताः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वय[4]वेदिनः।
असद्वादनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा[5] इव।" इत्येवंविधप्राश्निकांश्च विना को नाम नियामकः स्यात्? प्रमाणतदाभासपरिज्ञानसामर्थ्योपेतवादिप्रतिवादिभ्यां च विना कथं वादः प्रवर्तेत[6]?

ननु चास्तु चतुरङ्गता वादस्य। जयेतरव्यवस्था तु छलजातिनिग्रहस्थानैरेव न पुनः प्रमाणतदाभासयोर्दुष्टतयोद्भावितयोः परिहृतापरिहृतदोषमात्रेण; इत्यप्यपेशलम्; छलादीनामसदुत्तरत्वेन स्वपरपक्षयोः साधनदूषणत्वासम्भवतो जयेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वायोगात्। ततः परेषां सामान्यतो विशेषतश्च छलादीनां लक्षणप्रणयनमयुक्तमेव।

तत्र सामान्यतश्छललक्षणम्—

"वचनविघातोर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" [न्यायसू० १।२।१०] इति। "तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च" [न्यायसू० १।२।११] इति।

तत्र वाक्छललक्षणं तेषाम्–"अविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्" [न्यायसू० १।२।१२] इति। अस्योदाहरणम्–'आढ्यो वै वैधवेयोयं वर्तते नवकम्बलः' इत्युक्ते[10] प्रत्यवस्थानम्[11] कुतोस्य नव कम्बलाः? नवकम्बलशब्दे हि सामान्यवाचिन्यत्र प्रयुक्ते 'नवोस्य कम्बलो जीर्णो नैव' इत्यभिप्रायो वक्तुः, तस्मादन्यस्यासम्भाव्यमानार्थस्य कल्पना 'नव अस्य कम्बला नाष्टौ' इति। एवं प्रत्यवस्थातुरन्यायवादित्वात्पराजयः। न खलु प्रेक्षावतां[12] तत्त्वपरीक्षायां छलेन प्रत्यवस्थानं युक्तमिति यौगाः[13]; तेप्यतत्त्वज्ञाः; यतो यद्येतावतैव[14] जिगीषुर्निगृह्येत[15] तर्हि पत्रवाक्यमनेकार्थं व्याचक्षाणोपि निगृह्यताम्। न चैवम्। यत्र हि पक्षे वादिप्रतिवादिनोर्विप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिस्तत्सिद्धेरेवैकस्य जयोन्यस्य पराजयः न त्वनेकार्थत्वप्रतिपादनमात्रम्। एवं च 'आढ्यो वै

---

१ प्रभूत्साहमन्त्रभेदात्। २ उदासीनःपक्षपातरहितः। ३ आदिना पापभीरुतादिसंग्रहः। ४ वादिप्रतिवादिनोः। ५ शकटोपयुक्तबलीवर्दद्वन्द्वधरणराशय (बलीवर्दावरोधकरज्जवः) इव। ६ इति चतुरङ्गत्वं सिद्धं वादस्य। ७ इति चातुर्विध्यम्। ८ छलजात्यादिवादिनाम्। ९ न सुखपिधानेन। १० प्रतिवादिना। ११ दूषणदातुः प्रतिवादिनः। १२ गुरुशिष्याणाम्। १३ ब्रुवन्ति। १४ अनेकार्थप्रतिपादनमात्रेण। १५ छलवादी।

वैधवेयो नवकम्बलत्वाद्देवदत्तवत्' इति प्रयोगे यदि वक्तुः 'नवः कम्बलोस्येति, नवास्य कम्बलाः' इति चार्थद्वयं 'नवकम्बलः' इति शब्दस्याभिप्रेतं भवति तदा-'कुतोस्य नव कम्बलाः' इति प्रत्यवतिष्ठमानो[1] हेतोरसिद्धतामेवोद्भावयति। अन्यस्तु[2] तदुभयार्थसमर्थनेन तदेकतरार्थसमर्थनेन वा हेतुसिद्धिं प्रदर्शयति। नवस्तावदेकः कम्बलोस्य प्रतीतो भवता[3], अन्येऽप्यष्टौ[4] कम्बला गृहे तिष्ठन्तीत्युभयथा नवकम्बलत्वस्य सिद्धेर्नासिद्धतोद्भावनीया। नव[5]कम्बलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतुः। इति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयो नान्यथा[6]। तन्न वाक्छलं युक्तम्।

नापि सामान्यच्छलम्। तस्य हि लक्षणम्-"सम्भवतो[7]र्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्" [न्यायसू० १।२।१३] इति। तथा हि-'विद्याचरणसम्पत्तिर्ब्राह्मणे सम्भवेत्[8]' इत्युक्ते[9]ऽस्य वाक्यस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या[10]ऽसद्भूतार्थकल्पनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति[11] व्रात्ये[12]पि सम्भवेद्ब्राह्मणत्वस्य तत्रापि सम्भवात्। तदिदं ब्राह्मणत्वं[13] विवक्षितमर्थं विद्याचरणसम्पल्लक्षणं 'क्वचिद्ब्राह्मणे ताम[14]त्येति[15] क्वचित्तु व्रात्ये[16]ऽत्येति[17] तदभावेपि भावात्[18]' इत्यतिसामान्यम्[19], तेन योगाद्वक्तुरभिप्रेतादर्थात्सद्भूतादन्यस्यासद्भूतार्थस्य कल्पना सामान्यच्छलम्। तच्चायुक्तम्; हेतुदोषस्यानैकान्तिकत्वस्यात्र[20] परेणोद्भावनात्। न चानैकान्तिकत्वोद्भावनमेव सामान्यच्छलम्[21]; 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्घटवत्' इत्यादेरपि सामान्यच्छलत्वानुषङ्गात्। अत्रापि[22] हि प्रमेयत्वं क्वचिद्घटादावनित्यत्वमेति, आकाशादौ तदभावेपि भावादत्येतीति। तथाप्य[23]स्यानैकान्तिकत्वेपि प्रकृतेपि तदस्तु विशेषाभावात्। तन्न सामान्यच्छलमप्युपपन्नम्।

---

१ प्रतिवादी। २ वादी। ३ प्रतिवादिना। ४ अन्येप्यष्टौ गृहे तिष्ठन्तीति, नवकम्बलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतुरित्युभयथा नवकम्बलत्वस्य सिद्धेर्नासिद्धतोद्भावनीया, इति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयौ नान्यथेति वाक्यरचना द्रष्टव्या। ५ नवो नूतनः। ६ स्वपक्षसिद्ध्यभावे जयपराजयौ न भवतो वादिप्रतिवादिनोरिति। ७ जायमानस्य। ८ अयं विद्याचरणसम्पत्तिमान्भवति ब्राह्मणत्वात्तादृशब्राह्मणवदिति। ९ वादिना। १० अर्थस्य विकल्पो भेदस्तस्योपपत्त्या कृत्वा। ११ तर्हि। १२ भ्रष्टे ब्राह्मणे। १३ कर्तृ। १४ व्यक्त्यन्तरे सपक्षे। १५ प्राप्नोति। १६ विपक्षरूपे। १७ विद्याचरणसम्पल्लक्षणमर्थं ब्राह्मणत्वं अतिक्रम्य वर्तते इत्यर्थः। १८ ब्राह्मणत्वस्य। १९ अतिशयेन ब्राह्मणत्वम्। २० अनुमाने। २१ अन्यथा। २२ अनुमाने। २३ अतिसामान्ययोगेपि।

नाप्युपचारच्छलम्। तस्य हि लक्षणम्–"धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्" [न्यायसू० १।२।१४] इति। धर्मस्य हि क्रोशनादेर्विकल्पोऽध्यारोपस्तस्य निर्देशे 'मञ्चाः क्रोशन्ति गायन्ति' इत्यादौ तात्स्थ्यात्तच्छब्दोपचारेणासद्भूतार्थस्य तु परिकल्पनं कृत्वा परेण प्रतिषेधो विधीयते–'न मञ्चाः क्रोशन्ति किन्तु मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' इति। तच्च परस्य पराजयाय जायते यथावक्तुरभिप्रायमप्रतिषेधात्। शब्दप्रयोगो हि लोके प्रधानभावेन गुणभावेन च प्रसिद्धः। ततो यदि वक्तुर्गौणोर्थोऽभिप्रेतः, तदा तस्यानुज्ञानं प्रतिषेधो वा विधातव्यः। अथ प्रधानभूतः; तदा तस्य [६]ताविति। यदा तु वक्ता गौणमर्थमभिप्रैति प्रधानभूतं परिकल्प्य परः प्रतिषेधति तदा तेन स्वमनीषा प्रतिषिद्धा स्यान्न परस्याभिप्राय इति [११]नास्या[१२]यमुपालम्भः स्यात्, [१३]तदनुपालम्भाच्चा[१४]सौ परजीयते; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतो यद्ये[१५]तावतैवासौ निगृह्येत तर्हि यौगोपि सकलशून्यवादिनं प्रति मुख्यरूपतया प्रमाणादिप्रतिषेधं कुर्वन्निगृह्येत[१६], सं[१७]व्यवहारेण प्रमाणादेस्तेनाभ्युपगमात्। [१८]ततः स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्य पराजयो न पुनश्छलमात्रेण।

नापि जातिमात्रेण। तथाहि–तस्याः सामान्यलक्षणम्–"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्य[१९]वस्थानं जातिः" [न्यायसू० १।२।१८] इति। तस्याश्चानेकत्वं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य भेदात्। तथा च न्यायभाष्यकारः–"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पा[२०]ज्जातिबहुत्वमिति" [न्यायभा० ५।१।१]। ताश्च खल्विमा जातयः [२१]स्थापनाहेतौ प्रत्युक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतवः–"साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्य[२२]समाः" [न्यायसू० ५।१।१] इति सूत्रकारवचनात्।

---

१ मुख्यार्थप्रतिषेधः। २ उपचारः। ३ प्रयोगे कृते। ४ प्रतिवादिना। ५ वक्त्रऽभिप्रायानतिक्रमेण प्रतिषेधः स्यादिति भावः। ६ अनुज्ञानप्रतिषेधौ विधातव्यौ, इयं व्यवस्था भवतु। ७ सा व्यवस्थात्रापि भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ८ प्रतिवादिना। ९ वादिनः। १० प्रतिषिद्धः। ११ वादिनः। १२ पराजयः। १३ तस्य=वादिनः। १४ प्रतिवादी। १५ गौणेर्थेऽभिप्रेते मुख्यार्थप्रतिषेधमात्रेण। १६ ननु सकलशून्यवादिनाऽमुख्यरूपतयाभ्युपगतस्य प्रमाणादेर्मुख्यरूपतयैव प्रतिषेधं विदधानः कथं यौगो निगृह्येतेत्याशङ्कायामाह। १७ उपचारेण। १८ नैतावता प्रतिवादिनः पराजयो यतः। १९ दूषणम्। २० भेदात्। २१ विधिसाध्यस्य। २२ कार्याणि, तैः समाः।

[1]तत्र साधर्म्यसमां जातिं न्यायभाष्यकारो व्याचष्टे-साधर्म्येणो[2]पसंहारे [3]कृते साध्यधर्म[4]विपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येण प्रत्यव[5]स्थानं साधर्म्यसमः प्रतिषेधः। निदर्शनम्-'[6]क्रियावानात्मा, क्रियाहेतु[7]गुणाश्रयत्वात्, यो यः क्रियाहेतुगुणाश्रयः स स क्रियावान् यथा लोष्टः, तथा चात्मा, तस्मात्क्रियावान्' इति [8]साधर्म्योदाहरणेनोपसंहारे [9]कृते [10]परः साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तितः साधर्म्योदाहरणेनैव प्रत्यवतिष्ठते-'निष्क्रिय आत्मा विभुद्रव्यत्वादाकाशवत्' इति। [11]न चास्ति विशेषः-'क्रियावत्साधर्म्यात्क्रिया[12]वता भवितव्यं न पुनर्निष्क्रियत्वसाधर्म्यान्निष्क्रियेण' इति साधर्म्यसमो दूषणाभासः। न ह्यात्मनः क्रियावत्त्वे साध्ये क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य हेतोः स्वसाध्येन व्याप्तिः विभुत्वान्निष्क्रियत्वसिद्धौ [13]विच्छिद्यते। न [14]च तद्विच्छेदे [15]तद्दूषणत्वम्, साध्यसाधनयोर्व्याप्तिविच्छेदसमर्थस्यैव दोषत्वेनोपवर्णनात्।

वार्त्तिककारस्त्वेवमाह-साधर्म्येणोपसंहारे कृते [16]तद्विपरीतसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्येणोपसंहारे [17]तत्साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः। यथा 'अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्कुम्भादिवत्' [18]इत्युपसंहृते [19]परः प्रत्यव[20]तिष्ठते-यद्यऽनित्यघटसाधर्म्यादयमनि[21]त्यो नित्येनाप्याकाशेनास्य साधर्म्यममूर्त्तत्वमस्तीति नित्यः प्राप्तः। तथा 'अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्, यत्पुनरनित्यं न भवति तन्नोत्पत्तिधर्मकम् यथाकाशम्' इति [22]प्रतिपादिते [23]परः प्रत्यवतिष्ठते-यदि नित्याकाशवै[24]धर्म्यादनित्यः शब्दस्तदा साधर्म्यमप्यस्याकाशेनास्त्यमूर्त्तत्वम्, अतो नित्यः प्राप्तः। [25]अथ सत्यप्येतस्मिन्[26]साधर्म्ये नित्यो न भवति, न तर्हि वक्तव्यम्-'अनित्यघटसा[27]धर्म्यान्नित्याकाशवै[28]धर्म्याच्चाऽनित्यः शब्दः' इति।

वैधर्म्यसमायास्तु जातेः-वैधर्म्येणोपसंहारे कृते साध्यधर्मविपर्ययाद्वैधर्म्येण साधर्म्येण वा प्रत्यवस्थानं लक्षणम्। 'यथात्मा

---

१ जातिषु मध्ये। २ साध्यस्य। ३ साधनवादिना। ४ सक्रियत्वलक्षणान्निष्क्रियत्वं यथा विपर्ययः। ५ जातिवादिना। ६ गमनादि। ७ प्रयत्नोत्र गुणः। ८ अन्वयेन। ९ वादिना। १० प्रतिवादी। ११ क्रियावत्साधर्म्यात्क्रियावान्भवतु निष्क्रियत्वसाधर्म्यान्निष्क्रियो न भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। १२ आत्मना। १३ निराक्रियते। १४ व्याप्तिविच्छेदो मा भवतु तद्दूषणत्वं च भवत्वित्युक्ते सत्याह। १५ साध्यसम इति। १६ उक्तसाधर्म्यात्। १७ वैधर्म्यस्य। १८ वादिना। १९ जातिवादी। २० प्रतिकूलतया परिवर्त्तते। २१ तर्हि। २२ वादिना। २३ जातिवादी। २४ उक्तवैधर्म्यात्। २५ यदि। २६ आकाशेन सह शब्दस्य। २७ घटेन सह शब्दस्य साधर्म्यात्। २८ शब्दस्य।

निष्क्रियो विभुत्वात्, यत्पुनः सक्रियं तन्न विभु यथा लोष्टादि, विभुश्चात्मा, 'तस्मान्निष्क्रियः' इत्युक्ते[1] परः प्राह—निष्क्रियत्वे सत्यात्मनः क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वं न स्यादाकाशवत्, अस्ति चैतत्, ततो नायं[2] निष्क्रिय इति। साधर्म्येण तु प्रत्यवस्थानम्—'क्रियावानेवात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वात्, य ईदृशः स ईदृशो दृष्टः यथा लोष्टादिः, तथा चात्मा, तस्मात्क्रियावानेव' इति।

उत्कर्षसमादीनां लक्षणम्[3]—"साध्य[4]दृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पा[5]दुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमः" [न्यायसू० ५।१।४] इति।

तत्रोत्कर्षसमायास्तावल्लक्षणम्—दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्ज[6]यतो मतोत्कर्षसमा जातिः। तद्यथा—'क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्टवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते—यदि क्रियाहेतुगुणाश्रयो जीवो लोष्टवत्क्रियावाँस्तदा तद्वदेव स्पर्शवान्भवेत्। अथ न स्पर्शवांस्तर्हि क्रियावानपि न स्यादविशेषात्।

यस्तु तत्रैव[7] क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते साध्ये साध्यधर्मिणि धर्म[9]स्याभावं दृष्टान्तात्समासञ्जयन्वक्ति सोऽपकर्षसमां जातिं वक्ति। यथा लोष्टः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्माप्यसर्वगतोऽस्तु, विपर्यये[10] विशेषो वा वाच्य[11] इति।

ख्यापनीयो वर्ण्यो[12]ऽख्यापनीयोऽवर्ण्यः। तेन वर्ण्येनावर्ण्येन च समा जातिः। तद्यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते—यद्यात्मा क्रियावान् वर्ण्यः साध्य[13]स्तदा लोष्टादि[14]रपि साध्यो[15]ऽस्तु। अथ लोष्टादिरवर्ण्यस्तर्ह्यात्माप्यवर्ण्योऽस्तु विशेषाभावादिति।

विकल्पो विशेषः, साध्य[16]धर्मस्य विकल्पं[17] धर्मान्तर[18]विकल्पात्प्रसञ्जय[19]तो विकल्पसमा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते—क्रियाहेतुगुणोपेतं किञ्चिद्गुरु दृश्यते यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु लघूपलभ्यते यथा वायुः, तथा क्रियाहेतुगुणोपेतमपि किञ्चित्क्रियाश्रयं युज्येत यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु निष्क्रियं यथात्मेति।

---

१ वादिना। २ आत्मा। ३ सामान्यलक्षणम्। ४ साध्यः=पक्षः। ५ विकल्पः=समारोपः। ६ समारोपयतः। ७ क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य। ८ पक्षे। ९ सर्वगतत्वलक्षणस्य। १० सर्वगतत्वे। ११ वादिना त्वया। १२ साध्यधर्मिधर्मः। १३ पक्षः। १४ दृष्टान्तोपि। १५ पक्षोस्तु। १६ क्रियाश्रयत्वस्य। १७ भेदम्। १८ धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। १९ प्रतिवादिनः।

हेत्वाद्य[1]वयवयोगी धर्मः साध्यः, तमेव दृष्टान्ते प्रसञ्जयतः साध्य[2]समा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह-यदि यथा लोष्टस्तथात्मा तदा यथात्मायं तथा लोष्टः स्यात्। 'स[3]क्रियः' इति साध्यश्चात्मा लोष्टोपि त[4]था साध्योस्तु। अथ लोष्टः क्रियावान्न साध्यः; तदात्मापि क्रियावान्साध्यो मा भूद्विशेषो[5] वा वाच्य[6] इति।

दूषणाभासता चा[7]साम्-सत्साधने दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते सति साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्प[8]मात्रात्प्रतिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यत्र हि लौकिकेतरयोर्[9]बुद्धिसाम्यं तस्य दृष्टान्तत्वान्न साध्यत्वमिति।

सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं सा प्राप्तिसमा जातिः। अप्राप्त्या तु प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति। तद्यथा-हेतुः साध्यं प्राप्य, अप्राप्य वा साधयेत्? 'प्राप्य चेत्; हेतुसाध्ययोः प्राप्तयोर्युगपत्सम्भवात्कथमेकस्य हेतुतान्यस्य साध्यता युज्येत' इति प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमा जातिः। अथ 'अप्राप्य हेतुः साध्यं साधयेत्; तर्हि सर्वसाध्यमसौ साधयेत्। न चाप्राप्तः प्रदीपः पदार्थानां प्रकाशको दृष्टः' इति प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति।

ताविमौ दूषणाभासौ प्राप्तस्यापि धूमादेरग्न्यादिसाधकत्वोपलम्भात्, कृत्तिकोदयादेस्त्वप्राप्तस्य शकटोदयादौ गमकत्वप्रतीतेरिति।

दृष्टान्तस्यापि साध्यविशिष्टतया प्रतिपत्तौ साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-'क्रियाहेतुगुणयोगात्क्रियावाँल्लोष्टः' इति हेतुर्नोक्तः। न[10] च हेतुमन्तरेण साध्यसिद्धिः।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्[11]-यथैव हि रूपं दिदृक्षूणां प्रदीपोपादानं प्रतीयते न पुनः स्वयं प्रकाशमानं प्रदीपं दिदृक्षूणाम्। तथा साध्यस्यात्मनः क्रियावत्त्वस्य प्रसिद्ध्यर्थं लोष्टस्य दृष्टान्तस्य ग्रहणमभिप्रेतं न पुनस्तस्यैव सिद्ध्यर्थं साधनान्तरस्योपादानम्, वादिप्रतिवादिनोरविवादविषयस्य दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेस्तत्र साधनान्तरस्याफलत्वादिति।

प्रतिदृष्टान्तरूपेण प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते प्रतिदृष्टान्तेन परः प्रत्यवतिष्ठते-क्रिया-

---

१ आदिना प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानि। २ उभयोरपि दृष्टान्तसाध्ययोः साध्यत्वापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। ३ प्राक्तनवाक्यं विवृणोति। ४ सक्रिय इति। ५ अस्ति चेत्तर्हि। ६ त्वया वादिना। ७ उत्कर्षसमादिषण्णाम्। ८ विकल्प आरोपः। ९ विशेषाभावात्। १० हेतुमन्तरेण साध्यसिद्धिर्भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ११ कथम्? तथा हि।

हेतुगुणाश्रयमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति[1]। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुगुणः? संयोगो वायुना सह। कालत्रयेप्यसम्भवादाकाशे क्रियायाः। न क्रियाहेतुर्वायुना संयोगः; इत्यप्यसारम्; वायुसंयोगेन वनस्पतौ क्रियाकारणेन समानधर्मत्वादाकाशे वायुसंयोगस्य। यत्त्वसौ तत्र क्रियां न करोति तन्नाकारणत्वात्, किन्तु परममहापरिमाणेन प्रतिबद्धत्वात्। अथ क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगो न पुनः क्रियाकारणम्; न कश्चिदप्येवं हेतुरनैकान्तिकः स्यात्–'अनित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्सुखादिवत्' इत्यत्राप्यमूर्त्तत्वं हेतुः शब्देऽन्योन्यश्चाकाशे तत्सदृश इति कथमस्याकाशेनानैकान्तिकत्वम्? सकलानुमानोच्छेदश्च, अनुमानस्य सादृश्यादेव प्रवर्त्तनात्। न खलु ये धूम[2]धर्माः क्वचिद्धूमे[3] दृष्टास्त एवान्यत्र दृश्यन्ते तत्सदृशानामेव दर्शनात्। ततोनेन[4] कस्यचिद्धेतोरनैकान्तिकत्वं क्वचिदनुमानात्[5]प्रवृत्तिं चेच्छता तद्धर्मसदृशस्तद्धर्मोनुमन्तव्य इति क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगोपि क्रियाकारणमेव। तथा च प्रतिदृष्टान्तेनाकाशेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः प्रतिषेधः।

स चायुक्तः; अस्य दूषणाभासत्वात्। तथाहि–यदि तावदयं[6] ब्रूते–'यथायं त्वदीयो दृष्टान्तो लोष्टादिस्तथा मदीयोप्याकाशादिः[7]' इति, तदा व्याघातः–एकस्य[8] हि दृष्टान्तत्वेन्यस्यादृष्टान्तत्वमेव, उभयोस्तु दृष्टान्तत्वविरोधः। अथैवं ब्रूते–'यथायं मदीयो न दृष्टान्तस्तथा त्वदीयोपि' इति। तथापि व्याघातः–प्रतिदृष्टान्तस्य[9] ह्यदृष्टान्तत्वे दृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः, प्रतिदृष्टान्ताभावे तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेः। दृष्टान्तस्य वाऽदृष्टान्तत्वे प्रतिदृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः, दृष्टान्ताभावे तस्य तत्त्वोपपत्तेरिति।

"प्रागुत्पत्तेः कारणा[10]भावाद्या प्रत्यवस्थितिः[11] सानुत्पत्तिसमा जातिः" [न्यायसू० ५।१।१२] तद्यथा–'विनश्वरः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्कटकादिवत्' इत्युक्ते परः प्राह–'प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे विनश्वरत्वस्य यत्कारणं[12] प्रयत्नानन्तरीयकत्वं तन्नास्ति ततोयमविनश्वरः, शाश्वतस्य च शब्दस्य न प्रयत्नानन्तरं जन्म इति।

सेयमनुत्पत्त्या प्रत्यवस्था दूषणाभासो न्यायातिलङ्घनात्। उत्पन्न[13]स्यैव हि शब्दस्य धर्मिणः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुत्पत्तिधर्मकत्वं वा

---

१ तद्वदात्मापि निष्क्रियो भवत्विति। २ तार्णत्वादयः। ३ महानसादौ। ४ वादिना। ५ पर्वतादौ। ६ जातिवादी। ७ दृष्टान्तः। ८ व्याघातं भावयति। ९ शब्दस्य। १० कारणं ताल्वादि। ११ प्रतिकूलता। १२ लिङ्गम्। १३ न्यायातिलङ्घनमेव भावयति।

भवति नानुत्पन्नस्य। प्रागुत्पत्तेः शब्दस्याऽसत्त्वे किमाश्रयोयमुपालम्भः? न ह्ययमनुत्पन्नोऽसन्नेव 'शब्दः' इति 'प्रयत्नानन्तरीयकः' इति 'अनित्यः' इति वा व्यपदेष्टुं शक्यः। सत्त्वे तु सिद्धमेव प्रयत्नानन्तरीयकत्वकारणं नश्वरत्वे साध्ये, अतः कथमस्य प्रतिषेध इति?

"[1]सामान्यघटयोरैन्द्रियिकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।१४] यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते परः सद्दूषणमपश्यन् संशयेन प्रत्यवतिष्ठते-प्रयत्नानन्तरीयकेपि शब्दे [2]सामान्येन साधर्म्य[3]मैन्द्रियिकत्वं नित्येनास्ति घटेन चानित्येनास्ति, संशयः शब्दे नित्यत्वानित्यत्वधर्मयोरिति।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्-शब्दाऽनित्यत्वाऽप्रतिबन्धित्वात्। यथैव हि पुरुषे शिरःसंयमनादि[4]ना विशेषेण निश्चिते सति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यादूर्ध्वत्वात् संशयस्तथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विशेषेणानित्ये शब्दे निश्चिते न घटसामान्यसाधर्म्यादैन्द्रियिकत्वात् संशयो युक्त इति।

"[6]उभयसाधर्म्यात्प्रक्रि[8]यासिद्धेः प्रकरणसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।१६] 'यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्यनित्यसाधर्म्यात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वाच्छब्दस्यानित्यतां कश्चित्साधयति। अपरः पुनर्गोत्वादिना सामान्येन साधर्म्यात्तस्य नित्यताम् इति, अतः पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समानेति।

ईदृश्यं च प्रक्रियाऽनतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानमयुक्तम्; विरोधात्। प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धौ हि प्रतिषेधो विरुध्यते। प्रतिषेधोपपत्तौ तु प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धिर्व्याहन्यते इति।

"त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।१८] यथा सत्साधने दूषणमपश्यन्परः प्राह-'साध्यात्पूर्वं वा साधनम्, उत्तरं वा, सहभावि वा स्यात्? न तावत्पूर्वम्; असत्यर्थे तस्य साधनत्वानुपपत्तेः। नाप्युत्तरम्; असति साधने पूर्वं साध्यस्य साध्यस्वरूपत्वासम्भवात्। नापि सहभावि; स्वतन्त्रतया प्रसिद्धयोः

१ भूयोदर्शनान्निश्चितव्याप्तेः साधर्म्यवैधर्म्योपाधिप्रतिकूलतर्कादिना पक्षे सन्देहोपादानं संशयसमा जातिः। २ शब्दत्वलक्षणेन। ३ साधर्म्यम्। ४ केशबन्धादिना। ५ अनित्यनित्याभ्यां घटसामान्याभ्यां। ६ प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिः। ७ ऐन्द्रियिकत्वात्। ८ प्रक्रिया अनुमानरचना। ९ साध्यस्य प्रागेव सिद्धत्वात्किमनेन हेतुनेति भावः।

साध्यसाधनभावासम्भवात्सह्यविन्ध्यवत्' इत्यहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थानमयुक्तम्; हेतोः प्रत्यक्षतो धूमादेर्वह्न्यादौ प्रसिद्धेरिति ।

"अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्ति[1]समा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२१] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते[2] परः प्राह–'यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वेनानित्यः शब्दो घटवत्तदार्थापत्तितो नित्याकाशसाधर्म्यान्नित्योस्तु । यथैव ह्यस्पर्शवत्त्वं खे नित्ये दृष्टं तथा शब्देपि' इति ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्; [3]सुखादिनानैकान्तिकत्वात् । नचानैकान्तिकाद्धे[4]तोः प्रतिपक्षसिद्धिरिति ।

"एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सत्त्वोपपत्तितोऽविशेषसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२३] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तरीयकत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेर्घटशब्दयोरनित्यत्वा[5]विशेषे सत्त्वधर्मस्याप्यखिलार्थेषूपपत्तेरनित्यत्वाविशेषः स्यात् ।

तस्याश्च दूषणाभासता; तथा साधयितुमशक्यत्वात् । न खलु यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वं साधनधर्मः साध्यमनित्यत्वं शब्दे साधयति तथा सर्वार्थे सत्त्वम्, धर्मान्तरस्यापि नित्यत्वस्याकाशादौ सत्त्वे सत्युपलम्भात्, [6]प्रयत्नानन्तरीयकत्वे च सत्यऽनित्यत्वस्यैवोपलम्भादिति ।

"उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२५] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह–'यद्यनित्यत्वे कारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दस्यास्तीत्यनित्योसौ तदा नित्यत्वेप्यस्य कारणमस्पर्शवत्त्वमस्तीति नित्योप्यस्तु' इत्युभयस्य नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमो दूषणाभासः । एवं ब्रुवता स्वयमेवानित्यत्वकारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं तावदभ्युपगतम् । एवं तदभ्युपगमाच्चानुपपन्नस्तत्प्रतिषेध इति ।

"निर्दिष्ट[7]कारणाभावेप्युपल[8]म्भादुपलब्धिसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२७] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–'शाखादिभङ्गजे शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावेप्यनित्यत्वमस्ति' इति ।

दूषणाभासत्वं चास्याः; प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वात् । न खलु 'साधनमन्तरेण साध्यं न भवति इति' नियमोस्ति, साधनस्यैव

---

१ अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् । २ घटसाधर्म्येण । ३ अनित्येन । ४ अस्पर्शवत्त्वादिति । ५ परेणाङ्गीक्रियमाणे । ६ यथा सर्वार्थेषु साधनधर्मः सत्त्वमनित्यत्वं न साधयति तथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वसाधनधर्मोऽनित्यत्वं न साधयतीत्युक्ते सत्याह । ७ निर्दिष्टस्य साध्यधर्मसिद्धिकारणस्याभावेपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानम् । ८ साध्यस्य ।

साध्याभावेऽभावनियमव्यवस्थितेः । न चानित्यत्वे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव गमकम्; उत्पत्तिमत्त्वादेरपि तद्गमकत्वात् ।

"तद[1]नुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२९] 'यथा अविद्यमानः शब्द उच्चारणात्पूर्वमनुपलब्धेरुत्पत्तेः पूर्वं घटादिवत् । न[2] खलूच्चारणात्प्रागविद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः तदावरणानुपलब्धेः, उत्पत्तेः प्राग्घटादेरिव । यस्य[3] तु दर्शनात् प्राग्विद्यमानस्यानुपलब्धिस्तस्य नावरणानुपलब्धिः, यथा भूम्याद्यावृतस्योदकादेः, आवरणानुपलब्धिश्च श्रवणात्प्राक् शब्दस्य ।' इत्युक्ते परः[4] प्राह-तस्य शब्दस्यानुपलब्धेर[5]प्यनुप[6]लम्भादभावसिद्धौ सत्यां शब्दस्याभावविपरीतत्वेन भावस्योपपत्तेरनुपलब्धिसमा जातिः ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्; अनुपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावतयोपलब्धिविषयत्वात् । य[7]थैव ह्युपलब्धिरुपलब्धेर्विषयस्तथानुपलब्धिरपि । कथमन्यथा[8] 'अस्ति मे घटोपलब्धिः तदनुपलब्धिस्तु नास्ति' इति संवेदनमुपपद्यते ?

"साधर्म्या[9]त्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।३२] यथा 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-यदि शब्दस्य घटेन साधर्म्यं कृतकत्वादिनाऽनित्यत्वं साधयेत्, तदा सर्वं वस्त्वनित्यं प्रसज्येत घटादिनाऽनित्ये[10]न सत्त्वेन कृत्वा साधर्म्यमात्रस्य सर्वत्राऽविशेषात् ।

तस्या[11]श्च दूषणाभासत्वम्; प्र[12]तिषेधक[13]स्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । पक्षो हि प्रतिषेध्यः प्रतिषेधकस्तु प्रतिपक्षः । तयोश्च साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोगः[14] तेन विना तयोरसम्भवात् । ततः प्रतिज्ञादियोगाद्यथा पक्षस्यासिद्धिस्तथा प्रतिपक्षस्यापि । अथ सत्यपि सा[15]धर्म्ये पक्षप्रतिपक्षयोः पक्षस्यैवासिद्धिर्न प्रतिपक्षस्य; तर्हि घटेन साधर्म्यात्कृतकत्वाच्छब्दस्याऽनित्यतास्तु, सकलार्थानां त्वनित्यता तेन साधर्म्यमात्रात् मा भूदिति ।

---

१ तस्य=शब्दस्य । २ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वपरिहारमाह । ३ व्यतिरेकनिदर्शनमाह । ४ जातिवादी । ५ अनुपलब्धेरप्यभावसिद्धिः कथमित्युक्ते सत्याह । ६ द्वितीयानुमानमाश्रित्य जातिं वदति । ७ कुतः । ८ अनुपलब्धेरुपलब्धिविषयत्वं यदि न स्यात् । ९ एकस्यानित्यत्वे सर्वस्यानित्यत्वापादनमनित्यसमा जातिः । १० धर्मेण । ११ पूर्वोक्ताया जातेः । १२ अन्यथा । १३ प्रतिपक्षस्य । १४ कथम् । १५ प्रतिज्ञादियोगेन ।

"शब्दाऽनित्यत्वोक्तौ नित्यत्वप्रत्यवस्थिति[1]र्नित्यसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।३५?] तद्यथा-'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-शब्दाश्रयमनित्यत्वं किं नित्यम्, अनित्यं वा? यदि नित्यम्; तर्हि शब्दोपि नित्यः स्यात्, अन्यथास्य तदाधारत्वं न स्यात्। अथानित्यम्; तथाप्ययमेव दोषः-अनित्यत्वस्याऽनित्यत्वे हि शब्दस्य नित्यत्वमेव स्यात्।

दूषणाभासत्वं चास्याः; प्रकृतसाधनाऽप्रतिबन्धित्वात्। प्रादुर्भूतस्य हि पदार्थस्य प्रध्वंसोऽनित्यत्वमुच्यते, तस्य प्रतिज्ञाने[2] प्रतिषेधविरोधः। स्वयं तदप्रतिज्ञाने च प्रतिषेधो निराश्रयः स्यात्। तन्नानित्यता शब्दे नित्यत्वप्रत्यवस्थितेर्निराकर्तुं शक्येति।

"प्रयत्नानेककार्यत्वात्कार्यसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।३७] यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-प्रयत्नानन्तरं घटादीनां प्राग[3]ऽसतामात्मलाभोपि प्रतीतः, आवारकापनयनात्[4] प्राक्सतामेवाभिव्यक्तिश्च। तत्कथमतः शब्दस्यानित्यतेति?

दूषणाभासता चास्याः; प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वादेव। शब्दस्य हि प्रागसतः स्वरूपलाभलक्षणं जन्मैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुपपद्यते प्राग[5]नुपलब्धिनिमित्त[6]स्याभावेप्यनुपलब्धितः सत्त्वासम्भवादिति।

तदेतद्यौगकल्पितं जातीनां सामान्यविशेषलक्षणप्रणयनमयुक्तमेव; साधनाभासेपि साधर्म्यादिना प्रत्यवस्थानस्य जातित्वप्रसङ्गात्। तथेष्टत्वान्न दोषः; तथा हि-असाधौ साधने प्रयुक्ते यो जातीनां प्रयोगः सोनभिज्ञतया वा साधनदोषस्य स्यात्, तद्दोषप्रदर्शनार्थं वा प्रसङ्गव्याजेन; इत्यप्यसमीचीनम्; साधनाभास[11]प्रयोगे जातिप्रयोग[12]स्य उद्योत[13]करेण निराकरणात्।

जातिवादी च साधनाभासमेतदिति प्रतिपद्यते वा, न वा? यदि प्रतिपद्यते; तर्हि य एवास्य[14] साधनाभासत्वं हेतुदोषोऽनेन प्रतिपन्नः स एव वक्तव्यो न जातिः, प्रयोजनाभावात्। प्रसङ्गव्याजेन दोषप्रदर्शनार्थं सा; इत्यप्ययुक्तम्; अनर्थ[15]संशयात्। यदि हि परप्रयु-

---

१ पक्षस्यानित्यत्वधर्मस्य नित्यत्वापादनेन तृतीयासः प्रत्यवस्थानं नित्यसमा जातिः। २ अङ्गीकारे। ३ उत्पत्तेः। ४ प्रयत्नेन। ५ उच्चारणात्। ६ शब्दस्यानुपलब्धेर्निमित्तमावारकम्। ७ दूषणस्य। ८ मम यौगस्य। ९ पूर्वपक्षवादिना। १० जातिवादिना प्रयुक्तः। ११ पूर्वपक्षवादिना प्रयुक्ते। १२ प्रतिवादिप्रयुक्तस्य। १३ नैयायिकाचार्येण। १४ वादिनः। १५ अनर्थः दोषः।

क्तायां जातौ साधनाभासवादी स्वप्रयुक्तसाधनदोषं पश्यन् सभायामेवं ब्रूयात् 'मया प्रयुक्ते साधनेऽयं दोषः स चानेन नोद्भावितः, जातिस्तु प्रयुक्ता' इति तदा तावज्जातिवादिनो न जयः प्रयोजनम्; उभयोरज्ञानसिद्धेः। नापि साम्यम्; सर्वथा जयस्यासम्भवे तस्याभिप्रेतत्वात् "ऐकान्तिकं पराजयाद्वरं सन्देहः" [ ] इत्यभिधानात्। तदप्रयोगेपि चैतत्समानम्-पूर्वपक्षवादिनो हि साधनाभासाभिधाने प्रतिवादिनश्च तूष्णींभावे यत्किञ्चिदभिधाने वा द्वयोरज्ञानप्रसिद्धितः प्राश्निकैः साम्यव्यवस्थापनात्। यदा च साधनाभासवादी स्वसाधने दोषं प्रच्छाद्य परप्रयुक्तां जातिमेवोद्भावयति तदा न तद्वादिनो जयः साम्यं वा प्रयोजनम्; पराजयस्यैव सम्भवात्।

अथ साधनाभासमेतदित्यप्रतिपाद्य जातिं प्रयुङ्क्ते; तथाप्यफलस्तत्प्रयोगः प्रोक्तदोषानुषङ्गात्[1]। सम्यक्साधने तु प्रयुक्ते[2] तत्प्रयोगः पराजयायैव[3]। अथ तूष्णींभावे पराजयोऽवश्यंभावी, तत्प्रयोगे तु कदाचिदसदुत्तरेणापि निरुत्तरः स्यात् इत्यैकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देह इत्यसौ युक्त एवेति चेत्; न; तथाप्यैकान्तिकपराजयस्यानिवार्यत्वात्। यथैव ह्युत्तरपक्षवादिनस्तूष्णींभावे[4] सत्युत्तराऽप्रतिपत्त्या पराजयः प्राश्निकैर्व्यवस्थाप्यते तथा जातिप्रयोगेप्युत्तराप्रतिपत्तेरविशेषात्, तत्प्रयोगस्यासदुत्तरत्वेनानुत्तरत्वात्।

ननु चास्य पराजयस्तैर्व्यवस्थाप्येत यद्युत्तराभासत्वं पूर्वपक्षवाद्युद्भावयेत्, अन्यथा पर्यनुयोज्योपेक्षणात्[5] तस्यैव पराजयः स्यात्। नन्वेवमुत्तराभासस्योत्तरपक्षवादिनोपन्यासेपि अपरस्योद्भावनशक्त्यशक्त्यपेक्षया जयपराजयव्यवस्थायामनवस्था स्यात्। न खलु जातिवादिवदस्यापि तूष्णींभावः सम्भवति, सम्यगुत्तराप्रतिपत्तावपि उत्तराभासस्योपन्याससम्भवात्। ततश्चोपन्यस्तजातिस्वरूपस्यातोऽन्यस्य चोद्भावनेपि उत्तरपक्षवादिनस्तत्परिहारे शक्तिमशक्तिं चापेक्ष्यैव पूर्वपक्षवादिनो जयः पराजयो वा व्यवस्थाप्येत जातिवादिन इवेतरस्योद्भावनशक्त्यशक्त्यपेक्ष इति। जातिलक्षणासदुत्तरप्रयोगादेव तत्परिहाराशक्ति[6]निश्चयात् पुनरुपन्यास[7]वैफल्ये सत्साधनाभिधानादेवोत्तराभासत्वोद्भावनशक्तेरपर्यवसायाद्[8] इतरस्यापि कथं तद्वैफल्यं[9] न स्यात्? सत्साधनाभिधानात्तदभिधानसामर्थ्यमेवास्यावसीयते न परोपन्यस्तजात्युद्भा-

---

१ पराजयायैव न जयायेति। २ वादिना। ३ प्रतिवादिनः। ४ जातिवादिनः। ५ त्वया जातिः प्रयुक्तेति वचनीयं तस्योपेक्षणात्। ६ तस्य उद्भावितस्य। ७ उपन्यासो हि जातेः। ८ निश्चयात्। ९ तस्य=जात्युद्भावनस्य।

वनसामर्थ्यम्; तर्हि जातिप्रयोगेऽप्युत्तराभासवादिनः सम्यगुत्तराभिधानासामर्थ्यमेवावसीयेत न परोद्भावितजातिपरिहारासामर्थ्यम्। ननु सदुत्तराभिधानासामर्थ्यादेव तत्परिहारासामर्थ्यनिश्चयः, तत्सद्भावे हि न सदुत्तराभिधानासामर्थ्यं स्यात्; एवं तर्हि सत्साधनाभिधानसामर्थ्यादेवास्य परोपन्यस्तजात्युद्भावनशक्त्यवसायोस्तु[1], तदभावे तदभिधानसामर्थ्यायोगात्। सत्साधनाभिधानसमर्थस्यापि[2] कदाचिदऽसदुत्तरेण व्यामोहसम्भवान्न तदुद्भावनसार्थ्यमवश्यंभावीति[3] चेत्; तर्हि जातिवादिनः सदुत्तराभिधानासमर्थस्यापि स्वोपन्यस्तपरोद्भावितोत्तराभासपरिहारसामर्थ्यसम्भवात्पुनरुपन्यासश्चतुर्थोऽपेक्षणीयः स्यात्। साधनवादिनोपि तत्परिहारनिराकरणाय पञ्चमः। पुनर्जातिवादिनस्तन्निराकरणयोग्यतावबोधार्थं षष्ठ इत्यनवस्थानं स्यात्।

ननु नायं दोषः पर्यनुयोज्योपेक्षणस्य प्रतिवादिनाऽनुद्भावनात्, 'कस्य पराजयः' इत्यनुयुक्ताः[4] प्राश्निका एव हि पूर्वपक्षवादिनः पर्यनुयोज्योपेक्षणमुद्भावयन्ति। न खलु निग्रहप्राप्तो जातिवादी[5] स्वं कौपीनं[6] विवृणुयात्। तर्हि जात्यादिप्रयोगमपि ते[7] एवोद्भावयन्तु न पुनः पूर्वपक्षवादी। पर्यनुयोज्योपेक्षणं ते पूर्वपक्षवादिन एवोद्भावयन्ति न जात्यादिवादिनो जात्यादिप्रयोगमिति[8] महामाध्यस्थ्यं[9] तेषां[10] येनैकस्य दोषमुद्भावयन्ति नापरस्येति। ततः[11] पूर्वपक्षवादिनं तूष्णींभावादिकमारचयन्तमुत्तराप्रतिपत्तिमुद्भावयन्[12]नेव जातिवादी निगृह्णातीत्यभ्युपगन्तव्यम्[13]।

तत्रापि[14] कथम्भूतेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेनासौ विजीयते[15]? किं स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावन[16]रूपेण, परो[17]द्भावितजात्यन्तर[18]निराकरणलक्षणेन चो(वा, उ)त्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनाऽऽकारेण वा? तत्राद्यविकल्पे[19] 'अपकर्षसमाऽन्या[20] वा जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेन[21]' इत्येवं स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानमुद्भावयन्[22]नात्मनः सम्यगुत्तराप्रतिपत्तिमसम्बद्धाभिधायित्वं परकीयसाधनसम्यक्त्वं चोद्भावयतीति जात्युपन्यासवैयर्थ्यम्, अवश्यम्भावित्वात्प-

---

१ प्राश्निकानाम्। २ आद्यपक्षवादिनः। ३ ततश्च तृतीया जातिरुद्भावनीयेत्यर्थः। ४ पृष्टाः। ५ जातिवाद्यहं जातिमुक्तवान् त्वया वादिना न सम्भावितेति न प्रतिपादयतीति भावः। ६ गुह्येन्द्रियम्। ७ प्राश्निकाः। ८ नोद्भावयन्तीति संबन्धः। ९ उपहासवचनमिदम्। १० प्राश्निकानाम्। ११ प्राश्निकानां माध्यस्थ्याभावो यतः। १२ जानन्। १३ परेण। १४ पक्षे। १५ वादिनम्। १६ पूर्वपक्षवादिनः। १७ परः=वादी। १८ जात्यन्तरं=जातिविशेषः। १९ त्रिषु विकल्पेषु मध्ये। २० उत्कर्षसमा वा जातिः। २१ पूर्वपक्षवादिना। २२ जातिवादी।

राजयस्य। परेणा[1]विज्ञातमात्मनो दोषं स्वयमुद्भावयन्नपि न पराजयमास्कन्दतीति चेत्; परेणाविज्ञातः स दोष इति कुतोऽवसितम्? तूर्णीभावादन्यस्य चोद्भावनादिति चेत्; न; वादविस्तरपरिहारार्थत्वात्तस्य[2]। स्ववाग्यन्त्रिता हि वादिनो न विचलिष्यन्तीति स्वयमुद्भावनीयं[3] दोषं परेणोद्भावयितुं तूर्णीभावोऽन्यस्य चोद्भावनं नाज्ञानात्। स्वयमुद्भाविते[4] हि दोषे जात्यादिवादी तत्परिहारार्थं किञ्चिदन्यद्ब्रूयादिति न वादावसानं स्यात्। परस्या[5]ऽज्ञानमाहात्म्यख्यापनार्थं वा; पश्यत[6]ैवंविधमस्याज्ञानमाहात्म्यं येन स्वयमेव स्वदोषकलापमसत्साधनस्य सम्यक्त्वं चोद्भावयतीति। एवं साध्येन[7] पूर्वपक्षवादिना प्रत्यवस्थिते[8] किमत्र जातिवादी ब्रूयात्–'जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेनेति वचनाद[9]ुत्तरकालमनेना[10]वसितो दोषकलापो न प्राक्, अतोऽज्ञानेनैव प्रतिवादिना तूर्णीभूतमन्यद्वोद्भावितम्' इति। अत्रापि शपथः शरणम्। ननु यदि नाम जानतैव[11] पूर्वपक्षवादिना तूर्णीभूतमन्यद्वोद्भावितं तथापि तेन सदुत्तरानभिधानात्कथं नास्य पराजयः स्यात्? तदेतज्जातिवादिनो जात्युपन्यासेपि समानं जातीनां दूषणाभासत्वात्। तस्मान्न स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावनरूपेणोत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनेन तूर्णीभूतमन्यद्वोद्भावयन्तमितरं निगृह्णाति[12]।

द्वितीयविकल्पे स्वोपन्यस्ता जातिः कथं परोद्भावितजात्यन्तररूपा न भवतीति वादिनेतरः प्रतिपाद्यते? न तावत्स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपानुवादेन, यथा नेयमुत्कर्षसमा जातिरपकर्षसमत्वादस्या इति; प्रथमपक्षोदितदोष[13]प्रसङ्गात्। नाप्यनुपलम्भात्; अनुपलम्भमात्रस्याप्रमाणत्वात्। अनुपलम्भविशेषस्यापि स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपोपलम्भलक्षणत्वात्, तत्र चोक्तदोषप्रसङ्गात्। तत्र जातिवादी जात्यन्तरमुद्भावयन्तं प्रतिवादिनं तदुद्भावितजात्यन्तरनिराकरणलक्षणेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेन विजयते[14]।

नाप्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनरूपेण; 'त्वया न ज्ञातमुत्तरम्' इत्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावने हि पूर्वपक्षवादिनस्तद्विशेषविषयः प्रश्नोऽवश्यंभावी 'मया तावदुत्तरमुपन्यस्तमेतच्च कथमनुत्तरम्' इति। जातिवादिना चास्योत्तराप्रतिपत्तिविशेषेणोद्भावनीया

१ वादिना। २ तूर्णीभावादेः। ३ प्रतिवादिना। ४ वादिना जात्युद्भावनेपि वादावसानं न भविष्यति ततश्च तूर्णीभावोऽन्योद्भावनं च वादावसानाय व्यर्थमित्युक्ते सत्याह। ५ प्रयोजनान्तरं तूर्णीभावादेराह। ६ निरीक्षध्वं यूयं सभ्याः। ७ वसः। ८ पर्यनुयुक्ते सति। ९ सकाशात्। १० पूर्वपक्षवादिना। ११ दोषम्। १२ पूर्वपक्षवादी। १३ दोषः=उत्तराप्रतिपत्तिः। १४ जातिवादी।

‘भयोपन्यस्ताप्येषा जातिस्त्वया न ज्ञाता जात्यन्तरं चोद्भावितम्’ इति। अत्र च प्रागुक्ता[1]शेषदोषानुषङ्गः। तदेवमुत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनत्रयेपि जातिवादिनः पराजयस्यैकान्तिकत्वात् ‘ऐकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देहः’ इति जानन्नपि जात्यादिकं प्रयुङ्क्ते इत्येतद्वचो नैयायिकस्यानैयायिकतामाविर्भावयेत्। ततः स्वपक्षसिद्ध्यैव जयस्तदसिद्ध्या तु पराजयः, न तु मिथ्योत्तरलक्षणजातिशतैरपीति।

नापि[2] निग्रहस्थानैः। तेषां हि “विप्रतिपत्तिर्[3]प्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्” [न्यायसू० १।२।१९] इति सामान्यलक्षणम्। विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः[4], पक्षमभ्युपगम्य तस्याऽस्थापना, परेण स्थापितस्य वाऽप्रतिषेधः, प्रतिषिद्धस्य[5] चाऽनुद्धार[6] इति। प्रतिज्ञाहान्यादिव्यक्तिगतं तु विशेषलक्षणम्।

तत्र प्रतिज्ञा[7]हानेस्तावल्लक्षणम्–“प्रतिदृष्टान्तधर्म्य(र्मा)नुज्ञा[8] स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः[9]” [न्यायसू० ५।२।२] “साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः[10] प्रतिदृष्टान्तधर्मं[11] स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः[12]। यथा ‘अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वाद्[13] घटवत्’ इत्युक्ते[14] परः[15] प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं दृष्टम्, कस्मान्न तथा शब्दोपि? इत्येवं स्वप्रयुक्तस्य हेतोराभासतामवस्यन्नपि[16] कथावसानमकृत्वा[17] प्रतिज्ञात्यागं करोति[18]–यद्यैन्द्रियिकं सामान्यं नित्यं कामं घटोपि नित्योस्त्विति। न (स) खल्वयं[19] ससाधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन्[20] निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं च परित्यजन्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्य” [न्यायभा० ५।२।२]।

इति भाष्यकारमतमसङ्गतमेव; साक्षाद्दृष्टान्त[21]हानिरूपत्वात्तस्याः[22] तत्रैव साध्य[23]धर्मपरित्यागात्। परम्परया तु हेतूपनयनिगम-

---

१ प्रागुक्तः=उत्तराप्रतिपत्तिलक्षणादिः। २ पराजयो न भवतीति। ३ तत्त्वप्रतिपत्तेरभावो विप्रतिपत्तिः। ४ कथम्? तथा हि। ५ वादिपक्षस्य। ६ अपरिहारः। ७ उक्ते हेतौ दूषणोद्भावने सति पक्षाभ्युपगमः प्रतिज्ञा। ८ अभ्युपगमः। ९ धर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा तस्या हानिः। १० प्रतिवादिना पर्यनुयुक्तो वादी। ११ परकीयोदाहरणधर्मम्। १२ वादिनः। १३ इन्द्रियग्राह्यत्वात्। १४ वादिना। १५ प्रतिवादी। १६ जानन्। १७ कथा वादः। १८ साधनवादी। १९ वादी। २० अभ्युपगच्छन्। २१ घटादिर्दृष्टान्तः। २२ प्रतिज्ञाहानेः। २३ शब्दानित्यत्वं साध्यधर्मः।

नानां त्यागः, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात् । तथा च 'प्रतिज्ञाहानिरेव' इत्यसङ्गतम् ।

वार्त्तिककारस्त्वेवमाचष्टे-"दृष्टश्चासावन्ते[1] स्थितश्चेति दृष्टान्तः पक्षः स्वपक्षः, प्रतिदृष्टान्तः प्रतिपक्षः । प्रतिपक्षस्य धर्मं[2] स्वपक्षे[3]ऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति[4] । यदि सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं शब्दोऽप्येवम्[5]स्त्विति ।" [न्यायवा० ५।२।२]

तदेतदप्युद्द्योतकरस्य जाड्यमाविष्करोति; इत्थमेव[6] प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात् । प्रतिपक्षसिद्धिमन्तरेण च कस्यचिन्[7]निग्रहाधिकरणत्वायोगात् । न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायम्[8]एक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात् । अधिक्षेपादि[9]भिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादऽन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात्किञ्चित्साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानतोऽप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणत्वोपपत्तेरिति ।

तथा "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।३] प्रतिज्ञातार्थस्याऽनित्यः शब्द इत्यादेरैन्द्रियिकत्वाख्यस्य हेतोर्व्यभिचारो[10]पदर्शनेन प्रतिषेधे कृते तं दोषमनुद्धरन् धर्मविकल्पं[11] करोति[12] 'किमयं शब्दोऽसर्वगतो घटवत्, किं वा सर्वगतः सामान्यवत्' इति । यद्यसर्वगतो घटवत्; तर्हि तद्वदेवानित्योऽस्त्वित्येतत्प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं[13] सामर्थ्याऽपरिज्ञानात् । स हि पूर्वस्याः 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञायाः साधनायोत्तराम् 'असर्वगतः शब्दोऽनित्यः' इति प्रतिज्ञामाह । न च प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरसाधने समर्थाऽतिप्रसङ्गात् ।

इत्यप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; प्रतिज्ञाहानिवत्तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः । प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः पक्षत्यागस्योभयत्राऽविशेषात्? यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात्पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा[14] च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दाऽनित्यत्वसिद्ध्यर्थम्, भ्रान्तिवशात्तद्वच्छब्दोऽपि नित्योऽस्त्वित्यभ्यनुज्ञानम् । यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुद्ध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदाच्च तद्भेदेऽनिष्टनिग्रहस्थानान्तरा-

---

१ विचारान्ते । २ नित्यत्वलक्षणम् । ३ अनित्ये । ४ वादी । ५ ऐन्द्रियिकत्वाविशेषात् । ६ प्रतिपक्षस्य स्वपक्षेऽभ्युपगमनेनैव । ७ वादिनः प्रतिवादिनो वा । ८ प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वपक्षेऽभ्युपगमः । ९ अधिक्षेपस्तिरस्कारः । १० सामान्येन । ११ भेदम् । १२ वादी । १३ वादिनः । १४ ननु प्रतिज्ञान्तरात्पक्षत्यागस्तस्य स्वपक्षसिद्ध्यर्थं विधीयमानत्वादित्युक्ते सत्याह ।

णामप्यनुषङ्गः स्यात् । तेषां तत्रान्तर्भावे[1] वा प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावः स्यादिति ।

"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः[2]" [न्यायसू० ५।२।४] यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्यो भेदेनानुपलब्धेः । इत्यप्यसुन्दरम्; यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुर्दोषो वात्र विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ।

"पक्ष[3]प्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ।" [न्यायसू० ५।२।५] यथा 'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते[4] पूर्ववत्सामान्येनानैकान्तिकत्वे हेतोरुद्भाविते प्रतिज्ञासंन्यासं[5] करोति-क एवमाह 'नित्यः(अनित्यः)शब्दः'? इत्यपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्येत हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषादिति ।

"अविशेषोक्ते[6] हेतौ प्रतिषिद्धे[7] विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।६] निदर्शनम्-'एकप्रकृती[8]दं व्यक्तं[9] विकाराणां[10] परिमाणान्मृत्पूर्वकघटशरावोदञ्चनादिवत्' इत्यस्य[11] व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम्-नाना[12]प्रकृतीनामेकप्रकृतीनां दृष्टं परिमाणमित्यस्य हेतोरहेतुत्वं निश्चित्य 'एकप्रकृतिसमन्वये[13] विकाराणां परिमाणात्' इत्याह[14] । तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम् ।

इत्यप्यसुन्दरम्; एवं सत्यविशेषोक्ते दृष्टान्तोपनयनिगमने प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तर[15]मपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत तत्राक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ।

"प्रकृता[16]दर्थादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।७] यथोक्त[17]लक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां

---

१ प्रतिज्ञाहान्यादौ । २ यत्र प्रतिज्ञा विरुध्यते हेतुना हेतुर्वा प्रतिज्ञया विरुध्यते स प्रतिज्ञाविरोधः । ३ उक्तहेतौ दूषणोद्भावने स्वसाध्यपरित्यागः प्रतिज्ञासन्न्यासः । ४ वादिना । ५ त्यागम् । ६ अविशेषोक्ते हेतौ व्यभिचारेण प्रतिषिद्धे पश्चाद्विशेषणोपादानं हेत्वन्तरम् । ७ प्रतिवादिना । ८ प्रधानम् । ९ महदादिकार्यम् । १० वस्तुभेदानाम् । ११ वादिनोक्तानुमानस्य । १२ घटमुकुटपटलकुटशकटादीनाम् । १३ एककारणानुस्यूतत्वे सतीत्यर्थः । १४ वादी । १५ दृष्टान्ताद्यन्तरं निग्रहस्थानं न स्याच्चेद्धेत्वन्तरमपि निग्रहस्थानं मा भूदिति । १६ प्रकृतप्रमेयानुपयोगिवचनमर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानम् । १७ वस्तुधर्मावेकाधिकरणावित्यादि ।

प्रकृतं हेतुं[1] प्रमाणसामर्थ्येनाहम्[2]असमर्थः समर्थयितुमित्यवस्यन्नपि कथाम्[3]अपरित्यजन्नर्थान्तरमुपन्यस्यति[4]–नित्यः शब्दोऽस्पर्शवत्त्वादिति हेतुः। हेतुश्च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, [पदं]च नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचष्टे।

तदेतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते निग्रहाय कल्प्येत, असमर्थे वा? न तावत्समर्थे; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत्। असमर्थेपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तं[5]निग्रहाय स्यात्, असिद्धौ वा? प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात्। द्वितीयपक्षेप्यतो न निग्रहः पक्षसिद्धेरुभयोर्[6]अप्यभावादिति।

"वर्ण[7]क्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्।" [न्यायसू० ५।२।८] यथाऽनित्यः शब्दो जबगडदशत्वात् झभघढधष्वत्। इत्यपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्प्येत, साध्यानुपयोगाद्वा? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सर्वथार्थशून्यस्य शब्दस्यैवासम्भवात्। वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनु[8]कार्येणार्थेनार्थवत्त्वोपपत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात्; साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात्[9]। केनचिद्विशेषमात्रेण भेदे वा खात्कृताकम्पहस्तास्फालनकक्षापिट्टिकादेरपि साध्यसिद्ध्यनुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति।

"परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितं[10]अप्यविज्ञातमविज्ञाता[11]र्थम्।" [न्यायसू० ५।२।९] अत्रेदं[12]उच्यते–वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चाराद्वा? प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्वसम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेपि तत्प्रसङ्गो गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयोरप्यविज्ञातत्वोपलम्भात्। अथाभ्यामविज्ञातमप्येतद्वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम्। अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात्। द्रुतोच्चारेपि अनयोः कथञ्चित् ज्ञानं सम्भवत्येव सिद्धान्तद्वयवेदित्वात्। साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे

---

१ अस्पर्शवत्त्वादिति। २ वादी। ३ वादम्। ४ प्रकृतार्थं परित्यज्यान्यमर्थं ब्रूते इत्यर्थः। ५ तस्य वादिनः। ६ वादिप्रतिवादिनोः। ७ अर्थरहितशब्दोच्चारणं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानम्। ८ पश्चात्क्रियमाणेन। ९ निरर्थकत्वान्निग्रहस्थानानाम्। १० वादिना। ११ वादिना त्रिरुपन्यस्तमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यामविज्ञातमविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं वादिनः। प्रतिवादिनोप्येवम्। १२ तात्पर्यम्।

तयोरज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत् । ततो नेदमभि(वि) ज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यते इति ।

"पौर्वापर्या[1]योगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।" [न्यायसू० ५।२।१०] यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाऽजिनं पललपिण्डः ।

इत्यपि निरर्थकान्न भिद्यते–यथैव हि जवगडदशत्वादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरमभ्युपगम्यते; तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्वं स्यात् । पदवत् पौर्वापर्येणा(ण)प्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलम्भात् ।

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम् ।
तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्म[2]त्तगङ्गप्रतिमं बभूव ॥" [ ]

इत्यादिवत् । यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात्तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्याद्वर्णसमुदायात्मकत्वात्तस्य । वर्णानां स[3]र्वत्र निरर्थकत्वात्पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः । पदार्थापेक्षया पदस्यार्थवत्त्वे वर्णार्थापेक्षया वर्णस्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णवत् । न[4] खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा, नाप्यनयोरनर्थकत्वम् । अभिव्यक्तार्थाभावादन[5]र्थकत्वे पदस्यापि तत्स्यात् । यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात्, तथा 'देवदत्तस्तिष्ठति' इत्यादिप्रयोगे सुबन्तपदार्थस्य तिङन्तपदेन तिङन्तपदार्थस्य च सुबन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवल[6]स्याप्रयोगः । पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समा[7]नमिति ।

"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।" [न्यायसू० ५।२।११] अवयवानां प्रतिज्ञादीनां विपर्यासेनाभि[8]धानमप्राप्त[9]कालं नाम निग्रहस्थानम् । इत्यप्यपेशलम्; प्रेक्षावतां प्रतिपत्तॄणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भाद्देवदत्तादि[10]वाक्यवत् । ननु यथापशब्दा-

---

१ पूर्वापराऽसङ्गतपदकदम्बकोच्चारणादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानम् । २ उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्प्रदेशेऽसावुन्मत्तगङ्गः । ३ वाक्ये पदे च । ४ प्रकृत्यादावपि पदानामेवार्थवत्त्वं न पुनर्वर्णानां येन दृष्टान्तः सिद्धः स्यादित्युक्ते सत्याह । ५ वर्णस्य । ६ पदस्य । ७ सार्थकत्वम् । ८ यथाक्रमोल्लङ्घनेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यम् । ९ अप्राप्तावसरम् । १० देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादिवत् ।

च्छ्रुताच्छब्दस्मरणं ततो[२]ऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात्[३] तत्क्रमस्मरणं ततो[४] वाक्यार्थप्रत्ययो न तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्; एवंविधप्रतीत्यभावात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चरिताद्यत्रार्थे प्रतीतिः स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा 'शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्युत्क्रमे च स्मरणं ततो[५]ऽर्थप्रतीतिः' इत्यपि वक्तुं शक्येत। एवं[६] शब्दाद्यन्वाख्यान[७]वैयर्थ्यं चेत्; न; एवं वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात्, अपशब्देपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात्। '[८]संस्कृताच्छब्दात्सत्याद्धर्मोऽन्यस्मादऽधर्मः' इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यम्। धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः; अधार्मिके धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात्। भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिः, तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रस्यते तन्निरर्थकं न त्वऽप्राप्तकालमिति।

"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।" [न्यायसू० ५।२।१४] तत्रार्थपुनरुक्तमेवोपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्; अर्थभेदे शब्दसाम्येप्यस्याऽसम्भवात्

"हसति[१०] हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
कृत[११]परिकरं स्वेदोद्गारि[१२] प्रधावति धावति।
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
धनलव[१३]परिक्रीतं यन्त्रं[१४] प्रनृत्यति नृत्यति।"
[वादन्यायपृ० १११]

इत्यादिवत्। ततः[१५] स्वेष्टार्थवाचकै[१६]स्तैरेवान्यैर्वा शब्दैः सत्याः प्रतिपादनीयाः। तत्प्रतिपादकशब्दानां तु सकृत्[१७]पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तम्। यद्य(द)प्यर्थादापन्नस्य[१८] स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तम्। यथा[१९] 'उत्पत्तिधर्मकमनित्यम्' इत्युक्त्वाऽर्थादापन्नस्यार्थस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयात् 'नित्यमनुत्पत्तिधर्मकम्' इति। तदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं नान्यथा। तथा चेदं निरर्थकान्न विशिष्येतेति।

१ सत्यशब्दस्य। २ स्मृतशब्दात्। ३ विपर्ययात्। ४ स्मृतक्रमात्। ५ स्मृतापशब्दात्स्मृततत्क्रमात्। ६ शब्दादेरपशब्दादिस्मरणप्रकारेण। ७ पुनः पुनः कथनमन्वाख्यानम्। ८ संस्कृताच्छब्दाद्धर्मोऽन्यस्मादधर्म इति नियमान्नापशब्देऽन्वाख्यापनमस्तीत्युक्ते सत्याह। ९ इज्याऽध्ययनादिरन्यः। १० सति। ११ क्रियाविशेषणम्। १२ क्रियाविशेषणम्। १३ मौल्येन सङ्गृहीतम्। १४ यन्त्रमिव यन्त्रं=भृत्यः। १५ शब्दपौनरुक्त्यमुपपन्नं न भवेद्यतः। १६ प्रथमोच्चारितैः। १७ कथनानन्तरमेकवारम्। १८ अर्थस्य। १९ पुनरुक्तत्वप्रकारेण।

"विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहित[1]स्याऽप्रत्यु[2]च्चारणमननुभाषणम्।" [न्यायसू० ५।२।१६] अप्रत्युच्चारयन्किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्? इत्यत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम्, किं वा यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्[3]तस्येति? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोपि दूषणवचनाऽव्याघातात्। यथा 'सर्वमनित्यं सत्त्वात्' इत्युक्ते 'सत्त्वात् इत्ययं हेतुर्विरुद्धः' इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भा[4]व्यते–'क्षणक्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः' इति, समर्थ्यते च, तावता च परोक्तहेतोर्दूषणात्किमन्[5]योच्चारणेन? अ[6]तो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाऽप्रत्युच्चारणमननुभाषणं प्रतिपत्तव्य[7]म्। अथै[8]वं दूषयितुमसमर्थः[9] शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदाऽय[10]मुत्तराऽप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति।

"अविज्ञातं चाज्ञानम्।" [न्यायसू० ५।२।१७] विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना यदविज्ञातं(नं)तदज्ञानं नाम[11] निग्रहस्थानम्। [12]अजानन् कस्य प्रतिषेधं ब्रूयात्? इत्यप्यसारम्; प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात् तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात्। तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्गः परोक्तस्यार्द्धाज्ञानादि[13]भेदेन निग्रहस्थानानेकत्वसम्भवात्।

"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा।" [न्यायसू० ५।२।१८] साप्यज्ञानान्न भिद्यत एव।

"निग्रह[14]प्राप्तस्या[15]निग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।" [न्यायसू० ५।२।२१] पर्यनुयोज्यो हि निग्रहोपपत्त्या चोद[16]नीयस्तस्योपेक्षणं 'निग्रहं प्राप्तोसि' इत्यननुयोग एव। एतच्च 'कस्य पराजयः' इत्यनुयुक्त[17]या परिषदा वचनीयम्। न खलु निग्रहप्राप्तः स्वं कौपीनं[18] विवृणुयात्। इत्यप्यज्ञानान्न व्यतिरिच्यत एव।

"[19]अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः।" [न्यायसू० ५।२।२२] तस्याप्यज्ञानात्पृथग्भावोनुपपन्न एव।

---

१ वादिना। २ प्रतिवादिना। ३ प्रतिवाद्युक्तस्य। ४ प्रतिवादिना। ५ अन्यत् धर्मिसाध्यादि। ६ सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणं न घटते यतः। ७ परेण। ८ हेतूच्चारणं कृत्वा। ९ प्रतिवादी। १० प्रतिवादी। ११ परिषदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यस्य प्रतिवादिना यदविज्ञातं तदज्ञानं नाम। १२ प्रतिवादी। १३ आदिना अर्द्धार्द्धादिग्रहः। १४ प्राप्तदोषानुद्भावनं पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानम्। १५ प्रतिवादिनः। १६ इदं ते निग्रहस्थानमायातमतो निग्रहीतोसीति वचनीयः। १७ पृष्टया। १८ गुह्यम्। १९ दोषरहिते दोषोद्भावनं निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानम्।

"कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः।" [न्यायसू० ५।२।१९] सिसाधयिषितस्यार्थस्याऽशक्यसाध्यतामवसीय[1] कालयापनार्थं यत्कर्त्तव्यं व्यासज्य कथां विच्छिनत्ति-इदं मे करणीयं परिहीयते, तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयिष्यामि। इत्यप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति प्रतिपत्तव्यम्।

"स्व[2]पक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।" [न्यायसू० ५।२।२०] यः[3] परे[4]ण चोदितं दोषमनुद्धृत्य ब्रवीति-'भवत्पक्षेप्ययं दोषः समानः' इति, स स्वपक्षे[5] दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्र[6]सजन् परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यते। इत्यप्यज्ञानान्न भिद्यते एव। अनैकान्तिकता चात्र हेतोः; तथाहि-'तस्करोयं पुरुषत्वात्प्रसिद्धतस्करवत्' इत्युक्ते 'त्वमपि तस्करः स्यात्' इति हेतोरनैकान्तिकत्वमेवोक्तं स्यात्। स[7] चात्मीयहेतोरात्म[8]नैवानैकान्तिकत्वं दृष्ट्वा प्राह-भवत्पक्षेप्ययं दोषः समानः-त्वमपि पुरुषोसि इत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति।

"हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।" [न्यायसू० ५।२।१२] यस्मिन्वाक्ये[9] प्रतिज्ञादीनामन्यतमोऽवयवो न भवति तद्वाक्यं हीनं नाम निग्रहस्थानम्। साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्; पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्, पक्षहेतुवचनमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति।

"हेतूदाहरणाधिकमधिकम्।" [न्यायसू० ५।२।१३] यस्मिन्वाक्ये द्वौ हेतू द्वौ वा दृष्टान्तौ तदधिकं निग्रहस्थानम्; इत्यपि वार्त्तम्[10]; तथाविधाद्वाक्यात्पक्षप्रसिद्धौ पराजयायोगात्। कथं चैवं प्रमाणसंप्लवो[11]भ्युपगम्यते[12]? अभ्युपगमे वाधिकत्वान्निग्रहाय जायेत। 'प्रतिपत्तिदार्ढ्य-संवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः' इत्यन्यत्रापि समानम्। हेतुना दृष्टान्तेन वैकेन प्रसाधितेप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवम[13]नवस्था; कस्यचित्क्व[14]चिन्निराकांक्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य[15] कृतकत्वादौ[16] स्वार्थिककप्रत्ययवचनम्, 'यत्कृतकं तदनि-

१ ज्ञात्वा। २ स्वपक्षोक्तदोषमपरिहृत्य परपक्षेपि दूषणमुद्भावयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानम्। ३ वादी। ४ प्रतिवादिना। ५ स्वपक्षे। ६ सम्बन्धयन्। ७ वादी। ८ स्वयम्। ९ अनुमानस्य। १० अधिकस्य निग्रहस्थानत्वप्रकारेण। ११ एकस्मिन्प्रमाणविषये प्रमाणान्तरवर्तनं प्रमाणसंप्लवः। १२ परेण। १३ हेतुदृष्टान्तान्तरान्वेषणप्रकारेण। १४ अनुमाने। १५ अधिकनिग्रहस्थानवादिनः। १६ साधने।

त्यम्' इति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, वृत्ति[1]पदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात्[2]? त[3]थाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्तन्नेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम्? निरर्थकस्य[4] तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति।

"सि[5]द्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः।" [न्यायसू० ५।२।२३] प्रतिज्ञातार्थपरित्यागान्निग्रहस्थानम्। यथा नित्यानऽभ्युपेत्य शब्दादीन् पुनरनित्यान् ब्रूते। इत्यपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं ना[6]न्यथा।

"हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः।" [न्यायसू० ५।२।२४] असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमा निग्रहस्थानम्। इत्यत्रापि विरुद्धहेतूद्भावने प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम्। असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति।

एतेना[7]साधनाङ्गवचना[8]दि निग्रहस्थानं प्रत्युक्तम्; एकस्य स्वपक्षसिद्ध्यैवान्यस्य निग्रहप्रसिद्धेः। ततः स्थितमेतत्—

"स्वपक्षसिद्धेरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्व[9]योः॥" [ ] इति।

इदं चानवस्थितम्—

"असाधनाङ्गवच[11]नमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्त[12]मिति नेष्यते॥" [वादन्यापृ० १]

इति। अत्र हि स्वपक्षं साधयन् वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनाद्ऽदोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति, असाधयन्वा? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्यो[13]द्भावनं व्यर्थम्। द्वितीयपक्षे तु असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि न कस्यचिज्जयः पक्षसिद्धेरुभयोरभावात्।

यच्चास्य व्याख्यानम्–"साधनं सिद्धिः तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गम्, तस्याऽवचनं तूष्णींभावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा। साधनस्य वा

---

१ समासोत्र वृत्तिः। २ स्यादेव। ३ अधिकत्वान्निग्रहस्थानत्वं कः कारयेत्तद्वचनस्य। ४ निरर्थकत्वान्निग्रहस्थानं भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ५ स्वीकृतागमविरुद्धप्रसाधनमपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम्। ६ प्रतिपक्षसिद्ध्यभावे। ७ सौगतमतमेतत्। ८ आदिना अदोषोद्भावनादि। ९ वादिप्रतिवादिनोः। १० एतदीयं व्याख्यानमस्त्यग्रे। ११ असाधनाङ्गवचनं वादिन एव निग्रहस्थानमदोषोद्भावनं तु प्रतिवादिन एवेति द्वयोरिति पदमुक्तम्। १२ हेतोः। १३ अन्यस्य दोषस्य।

त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनम् विपक्षे बाधकप्रमाणदर्शनरूपम्, तस्याऽवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्" [वादन्यायपृ० ५-६] इति। तत्[1]पञ्चावयवप्रयोगवादिनो[2]पि समानम्-शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुम्-सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात्सौगतस्य वादिनो निग्रहः। ननु[3] चास्य तदवचनेपि न निग्रहः, प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्। गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुषङ्गात्। ननु तत्प्रयोगेपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्यार्थाप्रसिद्धिः; इत्यप्यपेशलम्; पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवम[4]वचनानुषङ्गात्। अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि 'यत्सत्तत्सर्वं[5] क्षणिकं यथा घटः संश्च शब्दः' इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानस्यापि पक्षस्य निगमनस्य च पक्षहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं वचनं किन्न स्यात्? न हि पक्षादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्वं घटते; भिन्नविषयपक्षादिवत्।

ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनाङ्गतेति चेत्; तर्हि भवतो[6]पि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोनर्थकः स्यात्, अन्यथा[7] नास्य साधनाङ्गतेति समानम्। ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वाद् दृष्टान्तो नानर्थकः तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्[8]; इत्यप्यसङ्गतम्; सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्ताऽसम्भवतोऽगमकत्वानुषङ्गात्। विपक्ष[9]व्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसङ्गाद् दृष्टान्तोनर्थक एव स्यात्। विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन्[10] कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत्? तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्त्तेत? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य। अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः?

यच्चेदम्-'असाधनाङ्गम्' इत्यस्य व्याख्यान्तरम्-"साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनं[11] वैधर्म्येण वा प्रयोगे[12] साधर्म्यवचनं[13] गम्यमानत्वात् पुनरुक्तम्। अतो न साधनाङ्गम्।" [वादन्यायपृ० ६५] इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतो वादिनो निग्रहः स्यात्, अप्रसाधयतो वा? प्रथमपक्षे कथं

१ व्याख्यानम्। २ यौगस्य। ३ सौगतमतमालम्ब्याचार्येणोच्यते। ४ प्रतिज्ञानिगमनप्रकारेण। ५ व्यतिरेकेण। ६ सौगतस्य। ७ हेतुतः साध्यसिद्धिर्न भवतीति चेत्। ८ साध्यस्याऽज्ञापको भवति हेतुरिति भावः। ९ विपक्षोत्र नित्यः। १० सौगतः। ११ प्रतिपादनम्। १२ हेतोर्वचने। १३ प्रतिपादनम्।

साध्यसिद्ध्यऽप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपलम्भमात्रेणास्य निग्रहो विरोधात्[1]? नन्वेवं[2] नाटकादिघोषणातोप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्यमेवैतत्; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत्। अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेपखात्कृताकम्पहस्तास्फालनादिभ्योपि सत्यसाधनवादिनो निग्रहः स्यात्। अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोस्य निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपलम्भान्निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा? प्रथमविकल्पे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात्। द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात्।

ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्। साधनवादिना हि साधु साधनं ज्ञात्वा वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्[3]। तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य[4] प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः, प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्, साधनाभासवादिनो वा? तत्राद्यविकल्पे वादिनः कथं साधुसाधनाभिधानाऽज्ञानम्, तद्वचनेयत्ता[5]ज्ञानस्यैवासम्भवात्? द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात्। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो[6] वादिनं जयेत्, तद्दोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत? अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं चोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं तद्वचने वा साधर्म्यवचनं जयाय प्रभवेत्[7]?

---

१ सम्यक्साध्यसिद्धिश्चेन्निग्रहः कथं निग्रहश्चेत्सा कथमिति विरोधः। २ साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिक्यमात्रतोपि न निग्रह इति प्रकारेण। ३ साधनदूषणं ज्ञात्वा वक्तव्यम्। ४ साध्यलक्षणस्य। ५ एतावत्परिमाणेन साधुसाधनं वाच्यमिति ज्ञानस्य। ६ सर्वथा। ७ ततश्च जयायैवोभयवचनम्।

कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्? क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्। न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायाम् एकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति। युगपत्साधनसामर्थ्यस्य ज्ञानेन वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात्तद्विशेषात्? न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याऽज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात्। न हि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तिवेदनेपि विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ संवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्य[1]ज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ यथोक्तदोषानुषङ्गात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्। कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य[2] तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयाप्रसङ्गात्।

यच्चेदम्–'अदोषोद्भावनम्' इत्यस्य व्याख्यानम्–"प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाऽभावमात्र[3]मदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम्" [ ] इति; तद्वादिना दोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमत[4]मेव, यदि वादी स्वपक्षं साधयेत्, नान्यथा। वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव[5] प्रतिविहितः। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं निग्रह[6]स्थानम्, तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनता[7]पि [8]स्याद्विशेषाभावात्। प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १।१।३२] इत्यभिधानात्। तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषोऽनुषज्यत एव। "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात्। ततो जयेतरव्यवस्थायाः 'प्रमाणतदाभासौ' इत्यादितो नान्यनिबन्धनं व्यवतिष्ठते, इत्येतच्छलादौ तन्निबन्धनत्वेनाग्रहग्रहं परित्यज्य विचारकभावमादायाऽमलमनसि प्रामाणिकाः स्वयमेव सम्प्रधारयन्तु, कृतमतिप्रसङ्गेन।

---

१ वादिनः। २ प्रतिवादिनः। ३ अत्यन्ताभावमात्रम्। ४ प्रतिवादिना। ५ वचनाधिक्यदोषनिराकरणसमये। ६ यौगस्य। ७ सौगतस्य। ८ निग्रहस्थानम्।

साभासं गदितं प्रमाणमखिलं संख्याफलस्वार्थतः,
सुव्यक्तैः सकलार्थसार्थविषयैः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद्गुणाम्भोनिधिः,
वाक्कीर्त्योः परमालयोऽत्र सततं माणिक्यनन्दिप्रभुः ॥ १ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

(परीक्षामुखसूत्रपाठपेक्षया तु 'सम्भवदन्यद्विचारणीयम्' इति सूत्रान्तं षष्ठपरिच्छेदसमाप्तिः)

श्रीः ।

अथ षष्ठः परिच्छेदः ॥

प्राचां वाचाममृततटिनीपूरकर्पूरकल्पान्[1],
बन्धान(न्म)न्दा नवकुकवयो नूतनीकुर्वते ये ।
तेऽयस्काराः सुभटमुकुटोत्पाटिपाण्डित्यभाजम्,
भित्त्वा खड्गं विदधति नवं पश्य कुण्ठं कुठारम् ॥

ननूक्तं प्रमाणेतरयोर्लक्षणमक्षूणं नयेतरयोस्तु लक्षणं नोक्तम्, तच्चावश्यं वक्तव्यम्, तदवचने विनेयानां नाऽविकला व्युत्पत्तिः स्यात् इत्याशङ्कमानं प्रत्याह—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥ ६।७४ ॥

इति ।

सम्भवद्विद्यमानं कथितात्प्रमाणतदाभासलक्षणादन्यत् नयनयाभासयोर्लक्षणं विचारणीयं नयनिष्ठैर्दिग्मात्रप्रदर्शनपरत्वादस्य[3] प्रयासस्येति[4] । तल्लक्षणं च सामान्यतो विशेषतश्च सम्भवतीति तथैव तद्व्युत्पाद्यते । तत्राऽनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो[5] नयः । निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः । इत्यनयोः सामान्यलक्षणम् । स[6] च द्वेधा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकविकल्पात् । द्रव्य[7]मेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः । पर्याय[8] एवार्थो यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिकः । इति नयविशेषलक्षणम् । तत्राद्यो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारविकल्पात् त्रिविधः । द्वितीयस्तु ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतविकल्पाच्चतुर्विधः ।

तत्रानिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः । निगमो हि सङ्कल्पः, तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः । यथा कश्चित्पुरुषो गृहीतकुठारो गच्छन् 'किमर्थं भवान्गच्छति' इति पृष्टः सन्नाह–'प्रस्थ[9]मानेतुम्' इति । एधो[10]दकाद्याहरणे वा व्याप्रियमाणः 'किं करोति भवान्' इति पृष्टः प्राह–'ओदनं पचामि' इति । न चासौ प्रस्थप-

---

१ कल्पः सदृशः । २ 'बन्धान्' इति विशेष्यपदमध्याहार्यम् । ३ परीक्षामुखस्य । ४ प्रकरणस्य । ५ विकलादेशविशेषमाश्रित्य प्रवृत्तो ज्ञातुरभिप्रायो (ज्ञानस्वरूपः) नयः । ६ सामान्यलक्षणलक्षितो नयः । ७ द्रवति द्रोष्यत्यऽदुद्रुवच्चेति द्रव्यं जीवादि । ८ जीवस्य यथा नरनारकादिः सुखदुःखादिर्वा । ९ प्रस्थो मानविशेषः । १० एधः= काष्ठम् । दकमुदकम् ।

र्थाय ओदनपर्यायो वा निष्पन्नस्तन्निष्पत्तये सङ्कल्पमात्रे प्रस्थादिव्यवहारात् । यद्वा नैकङ्गमो नैगमो[1] धर्मधर्मिणोर्गुण[2]प्रधानभावेन विषयीकरणात् । 'जीवगुणः सुखम्' इत्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्, सुखस्य तु प्राधान्यं विशेष(ष्य)त्वात् । 'सुखी जीवः' इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्यं न सुखादेर्विपर्ययात् । न चास्यैवं प्रमाणात्मकत्वानुषङ्गः; धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् । तयोरन्यतर[3] एव हि नैगमनयेन प्रधानतयानुभूयते । प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यदिति ।

सर्वथानयोरर्थान्तरत्वाभिसन्धि[4]स्तु नैगमाभासः । धर्मधर्मिणोः सर्वथार्थान्तरत्वे[5] धर्मिणि धर्माणां वृत्तिविरोधस्य प्रतिपादितत्वादिति ।

स्वजात्य[6]विरोधेनैक[7]ध्यमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदान्[8] समस्तग्रहणात्संग्रहः ।[9] स च परोऽपरश्च । तत्र परः सकलभावानां[10] सदात्मनैकत्वमभिप्रैति[11] । 'सर्वमेकं सदविशेषात्' इत्युक्ते हि 'सत्' इतिवाग्[12]विज्ञानानु[13]वृत्तिलिङ्गा[14]नुमितसत्तात्मकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते । निराकृताऽशेषविशेषस्तु सत्ता[15]ऽद्वैताभिप्राय[16]स्तदाभासो दृष्टेष्ट[17]बाधनात् । तथाऽपरः संग्रहो द्रव्यत्वेनाशेषद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति । 'द्रव्यम्' इत्युक्ते ह्यतीतानागतवर्तमानकालवर्त्तिविवक्षिताविवक्षितपर्यायद्रवण[18]शीलानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानामेकत्वेन संग्रहः[19] । तथा 'घटः' इत्युक्ते निखिलघटव्यक्तीनां घटत्वेनैकत्वसंग्रहः ।

सामान्यविशेषाणां सर्वथार्थान्तरत्वा[20]भिप्रायोऽनर्था[21]न्तरत्वाभिप्रायो[22] वाऽपरसङ्ग्रहाभासः, प्रतीतिविरोधादिति ।

सङ्ग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः । परसंग्रहेण हि सद्धर्माधारतया सर्वमेकत्वेन 'सत्' इति संगृहीतम् । व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति । यत्सत्तद्द्रव्यं

---

१ अन्योन्यगुणप्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः । २ गौणमुख्यरूपेण । ३ धर्मो धर्मी वा । ४ अभिप्रायः । ५ भिन्नत्वे । ६ स्वस्यार्थस्य जातिः सदात्मिका । ७ एकप्रकारम् । ८ अन्तर्लीनविशेषान् । ९ प्रति । १० वस्तूनाम् । ११ विषयीकरोति । १२ द्वन्द्वः । १३ इदं सदिदं सदिति । १४ एता एव लिङ्गं तेन । १५ ब्रह्मवादः । १६ सङ्ग्रहाभासः । १७ दृष्टेन प्रत्यक्षेणेष्टेनानुमानेन च । १८ परिणमनस्वभावानाम् । १९ विशेषस्य सव्यपेक्षः सन्मात्रग्राही सङ्ग्रहः । २० भेदरूपेण । २१ अभेदरूपेण । २२ यौगस्य मीमांसकस्य च ।

पर्यायो वा। तथैवापरः सङ्ग्रहः सर्वद्रव्याणि 'द्रव्यम्' इति, सर्वपर्यायांश्च 'पर्यायः' इति संगृह्णाति। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति–यद्द्रव्यं तज्जीवादि [1]षड्विधम्, यः पर्यायः स द्विविधः सह[2]भावी क्रमभावी च। इत्यपरसङ्ग्रहव्यवहारप्रपञ्चः प्रागृजुसूत्रात्परसङ्ग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः [3]कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकत्वसम्भवात्। न चास्यैवं [4]नैगमत्वानुषङ्गः; सङ्ग्रहविषयप्रविभागपरत्वात्, [5]नैगमस्य तु गुणप्रधानभूतोभयविषयत्वात्।

यः पुनः कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः, प्रमाणबाधितत्वात्। न हि कल्पनारोपित एव द्रव्यादिप्रविभागः; स्वार्थक्रियाहेतुत्वाभावप्रसङ्गाद्गगनाम्भोजवत्। व्यवहारस्य चाऽसत्यत्वे तदानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता न स्यात्। अन्यथा स्वप्नादिविभ्रमानुकूल्येनापि तेषां तत्प्रसङ्गः। उक्तं च—

"व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता।
नान्यथा[6] बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः॥" [लघी० का० ७०] इति।

ऋजु [7]प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं [8]सूत्रयतीत्यृजु[9]सूत्रः 'सुख[10]क्षणः सम्प्रत्यस्ति' इत्यादि। [11]द्रव्यस्य सतोप्यनर्पणात्, अतीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवा[12]त्। न [13]चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः; नयस्याऽस्यैवं विषयमात्रप्ररूपणात्। लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति।

यस्तु वहिरन्तर्वा द्रव्यं सर्वथा [14]प्रतिक्षिपत्यखिलार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वाभिमानात् स तदाभासः, प्रतीत्यतिक्रमात्। बाधविधुरा हि प्रत्यभिज्ञानादिप्रतीतिर्वहिरन्तश्चैकं द्रव्यं पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्ति प्रसाधयतीत्युक्त[15]मूर्ध्वतासामान्यसिद्धिप्रस्तावे। प्रतिक्षणं क्षणिकत्वं च तत्रैव प्रतिव्यूढमिति।

कालकारकलिङ्गसं[16]ख्यासा[17]धनोप[18]ग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति

---

१ जीवाऽजीवधर्माऽधर्मनभःकालभेदात्। २ यथा चैतन्यम्। ३ सुखादिर्यथा। ४ द्रव्यपर्यायविभिन्नत्वप्रकारेण। ५ नैगमोऽपि संग्रहनयप्रविभागपरो भविष्यतीत्युक्ते सत्याह। ६ व्यवहारानुकूल्याभावेन। ७ व्यक्तम्। ८ बोधयति। ९ शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्ष ऋजुसूत्रः। क्षणिकैकान्तनयस्तु तदाभासः। १० क्षणः पर्यायः। ११ द्रव्यस्यातीतानागतक्षणयोश्च सूचकः कुतो न स्यादित्युक्ते सत्याह। १२ विवक्षाऽभावात्। १३ सुखक्षणः सम्प्रतीत्यादिप्रकारेण। १४ निराकरोति। १५ जैनैः। १६ संख्या=एकवचनादिः। १७ साधनो युष्मदसत्स्वभेदात्रिधा। १८ उपग्रहः=उपसर्गः।

शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वात्। ततो[1]ऽपास्तं वैयाकरणानां[2] मतम्। ते हि "धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः" [पाणिनिव्या० ३।४।१] इति सूत्रमारभ्य 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता' इत्यत्र कालभेदेऽप्येकं पदार्थमाहृताः[3]-'यो[4] विश्वं द्रक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो भविता' इति, भविष्यत्कालेनातीतकालस्याऽभेदाभिधानात् तथा व्यवहारोपलम्भात्। तच्चानुपपन्नम्; कालभेदेऽप्यर्थस्याऽभेदेऽतिप्रसङ्गात्, रावणशङ्खचक्रवर्तिशब्दयोरप्यतीतानागतार्थगोचरयोरेकार्थतापत्तेः। अथानयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थता; 'विश्वदृश्वा भविता' इत्यनयोरप्यसौ मा भूत्तत एव। न खलु 'विश्वं दृष्टवान्=विश्वदृश्वा' इति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालः, स 'भविता' इति शब्दस्यानागतकालो युक्तः; पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थत्वे तु न परमार्थतः कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था स्यात्।

तथा 'करोति क्रियते' इति कर्तृकर्मकारकभेदेऽप्यभिन्नमर्थं ते[5] एवाद्रियन्ते। 'यः करोति किञ्चित् स एव क्रियते केनचित्' इति प्रतीतेः। तदप्यसाम्प्रतम्; 'देवदत्तः कटं करोति' इत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात्।

तथा, 'पुष्यस्तारका' इत्यत्र लिङ्गभेदेऽपि नक्षत्रार्थमेकमेवाद्रियन्ते, लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्तस्य; इत्यसङ्गतम्; 'पटः कुटी' इत्यत्राप्येकत्वानुषङ्गात्।

तथा, 'आपोऽम्भः' इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थं जलाख्यं [6]मन्यन्ते, संख्याभेदस्याऽभेदकत्वाद्गुर्वादिवत्[7]। तदप्ययुक्तम्; 'पटस्तन्तवः' इत्यत्राप्येकत्वानुषङ्गात्।

तथा 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' इति साधनभेदेऽप्यर्थाऽभेदमाद्रियन्ते "प्रहासे[8] मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेऽस्मदेकवच्च" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१५३] इत्यभिधानात्। तदप्यपेशलम्; 'अहं पचामि त्वं पचसि' इत्यत्राप्येकार्थत्वप्रसङ्गात्।

तथा, 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रोपग्रहभेदेऽप्यर्थाभेदं प्रतिपद्यन्ते[9] उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रोद्द्योतकत्वात्। तदप्यचारु; 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात्। ततः

---

१ कालादिभेदाद्भिन्नमर्थं प्रतिपादयति शब्दो नयो यतः। २ शब्दभेदादर्थभेदमकुर्वताम्। ३ प्रतिज्ञावन्तः। ४ अत एवातीतार्थको विश्वदृश्वशब्दो द्रक्ष्यतीति वर्त्स्यत्कालेन विगृह्यते। ५ वैयाकरणाः। ६ वैयाकरणाः। ७ आदिना लघ्वादिग्रहः। ८ जैनेन्द्रव्याकरणस्य सूत्रम्। मूल'क'पुस्तके 'प्रहसे' इति पाठोऽस्ति। ९ वैयाकरणाः।

कालादि[1]भेदाद्भिन्न एवार्थः शब्दस्य । तथाहि–विवादापन्नो विभिन्नकालादिशब्दो विभिन्नार्थप्रतिपादको[3] विभिन्नकालादिशब्दत्वात् तथाविधान्यशब्दवत्[2] । नन्वेवं लोकव्यवहारविरोधः स्यादिति चेत्; विरुध्यतामसौ तत्त्वं तु मीमांस्यते, न हि भेषजमातुरेच्छानुवर्ति ।

नानार्थान्समेत्याभिमुख्येन[4] रूढः समभिरूढः[5] । शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थभेदमभिप्रैति कालादिभेदत एवार्थभेदाभिप्रायात् । अयं तु पर्यायभेदेनाप्यर्थभेदमभिप्रैति । तथा हि–'इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः' इत्याद्याः शब्दा विभिन्नार्थगोचरा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवदिति ।

एवमित्थं[6] विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योभिप्रैति स एवम्भूतो नयः । समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथा रूढेः सद्भावात्, अयं तु शकनक्रियापरिणतिक्षणे एव शक्रमभिप्रैति न पूजनाभिषेचनक्षणे, अतिप्रसङ्गात्[7] । न चैवंभूतनयाभिप्रायेण[8] कश्चिदक्रियाशब्दोस्ति, 'गौरश्वः' इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, 'गच्छतीति गौराशुगाम्यश्वः' इति । 'शुक्लो नीलः' इति गुणशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'शुचिभवनाच्छुक्लो नीलनान्नीलः' इति । 'देवदत्तो यज्ञदत्तः' इति यदृच्छाशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'देवा एनं देयासुः' इति देवदत्तः, 'यज्ञे एनं देयात्' इति यज्ञदत्तः । तथा संयोगिसमवायिद्रव्यशब्दाः क्रियाशब्दाः एव, दण्डोस्यास्तीति[9] दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीति । पञ्चतयी[10] तु शब्दानां प्रवृत्तिर्व्यवहारमात्रान्न निश्चयात् ।

एवमेते शब्दसमभिरूढैवम्भूतनयाः सापेक्षाः सम्यग्, अन्योन्यमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेषु च नयेषु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारोर्थप्रधानाः शेषास्तु त्रयः शब्दप्रधानाः प्रत्येतव्याः ।

---

१ विश्वदृश्वा भविता करोति क्रियते इत्यादिः । २ रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दवत् । ३ लिङ्गवचनादिभेदेनार्थभेदप्रकारेण । ४ समाश्रित्य । ५ पर्यायभेदात्पदार्थनानात्वप्ररूपकः समभिरूढः । ६ क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावोत्र । ७ यथा नमनक्रियां कुर्वतोपि पाचकत्वप्रसङ्गः स्यात् । ८ क्रियाप्रधानतया । ९ अस्तीति क्रियात्र । १० जातिक्रियागुणयदृच्छासम्बन्धवाचकप्रकारेण ।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाल्पविषयः कश्चात्र कारणभूतः कार्यभूतो वेति चेत्? 'पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च परः परोल्पविषयः कार्यभूतश्च' इति ब्रूमः। संग्रहाद्धि नैगमो बहुविषयो भावाऽभावविषयत्वात्, यथैव हि संति सङ्कल्पस्तथाऽसत्यपि, सङ्ग्रहस्तु ततोल्पविषयः सन्मात्रगोचरत्वात्, तत्पूर्वकत्वाच्च तत्कार्यः। संग्रहाद्व्यवहारोपि तत्पूर्वकः सद्विशेषावबोधकत्वादल्पविषय एव। व्यवहारात्कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचरात् ऋजुसूत्रोपि तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचरतयाल्पविषय एव। कारकादिभेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतिपद्यमानादृजुसूत्रतः तत्पूर्वकः शब्दनयोप्यल्पविषय एव तद्विपरीतार्थगोचरत्वात्। शब्दनयात्पर्यायभेदेनार्थाभेदं प्रतिपद्यमानात् तद्विपर्ययात् तत्पूर्वकः समभिरूढोप्यल्पविषय एव। समभिरूढतश्च क्रियाभेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतियंतः तद्विपर्ययात् तत्पूर्वक एवम्भूतोप्यल्पविषय एवेति।

नन्वेते नयाः किमेकस्मिन्विषयेऽविशेषेण प्रवर्त्तन्ते, किं वा विशेषोस्तीति? अत्रोच्यते—यत्रोत्तरोत्तरो नयोऽर्थांशे प्रवर्त्तते तत्र पूर्वः पूर्वोपि नयो वर्त्तते एव, यथा सहस्रेऽष्टशती तस्यां वा पञ्चशतीत्यादौ पूर्वसंख्योत्तरसंख्यायामविरोधतो वर्त्तते। यत्र तु पूर्वः पूर्वो नयः प्रवर्त्तते तत्रोत्तरोत्तरो नयो न प्रवर्त्तते; पञ्चशत्यादावऽष्टशत्यादिवत्। एवं नयार्थे प्रमाणस्यापि सांशवस्तुवेदिनो वृत्तिरविरुद्धा, न तु प्रमाणार्थे नयानां वस्त्वंशमात्रवेदिनामिति।

कथं पुनर्नयसप्तभङ्ग्याः प्रवृत्तिरिति चेत्? 'प्रतिपर्यायं वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनायाः' इति ब्रूमः। तथाहि—सङ्कल्पमात्रग्राहिणो नैगमस्याश्रयणाद्विधिकल्पना, प्रस्थादिकं कल्पनामात्रम्-'प्रस्थादि स्यादस्ति' इति। संग्रहाश्रयणात्तु प्रतिषेधकल्पना; न प्रस्थादि सङ्कल्पमात्रम्-प्रस्थादिसन्मात्रस्य तथाप्रतीतेरसतः प्रतीतिविरोधादिति। व्यवहाराश्रयणाद्वा द्रव्यस्य पर्यायस्य

---

१ विद्यमाने वस्तुनि। २ अतीतेऽनागते च। ३ पर्यायभेदेन भिन्नार्थगोचरत्वादित्यर्थः। ४ प्राप्नुवतः प्रकटयतो वा। ५ उत्तरोत्तरनयविषये पूर्वपूर्वनयप्रवर्तनप्रकारेण उत्तरोत्तरसंख्यायां पूर्वपूर्वसंख्याप्रवर्तनप्रकारेण वा पञ्चशत्यादावष्टशत्याद्यऽप्रवर्तनप्रकारेण वा। ६ अविरोधेनेत्यभिधानात्प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनायाः, एकत्र वस्तुनीत्यभिधानादनेकवस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधककल्पनायाश्च सप्तभङ्गीरूपता प्रत्युक्ता। ७ विधिप्रतिषेधौ अस्तित्वनास्तित्वे। ८ संग्रहो नयः। ९ प्रस्थादित्वेन। १० गगनकुसुमवत्।

वा प्रस्थादिप्रतीतिः; तद्विपरीतस्याऽसतः सतो वा प्रत्येतुमशक्तेः[1]। ऋजुसूत्राश्रयणाद्वा पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेन प्रतीतिः[2], अन्यथा प्रतीत्यनुपपत्तेः। शब्दाश्रयणाद्वा[3] कालादिभिन्नस्यार्थस्य प्रस्था[4]दित्वम्, अन्यथातिप्रसङ्गात्[5]। समभिरूढाश्रयणाद्वा[6] पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्[7]; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। एवंभूताश्रयणाद्वा प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य[8] प्रस्थादित्वं[9] नान्यस्य[10] अतिप्रसङ्गादिति[11]। तथा स्यादुभयं[12] क्रमार्पितोभयनयार्पणात्। स्यादवक्तव्यं सहार्पितो[13][14]भयनयाश्रयणात्। एवमवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो[15] भङ्गा यथायोगमुदाहार्याः।

ननु चोदाहृता नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गीतस्तु तस्याः किङ्कृतो विशेष इति चेत्? 'सकलविकलादेशकृतः' इति ब्रूमः। विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्[16]। सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी यथावद्वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्। तथा[17] हि-स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्वद्रव्यादि[18]चतुष्टयापेक्षया। स्यान्नास्ति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादुभयं क्रमार्पितद्वयापेक्षया। स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयापेक्षया। एवमवक्तव्योत्तरास्त्रयो भङ्गाः प्रतिपत्तव्याः।

कस्मात्पुनर्नयवाक्ये प्रमाणवाक्ये वा सप्तैव भङ्गाः सम्भवन्तीति चेत्? प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्। प्रश्नवशादेव हि सप्तभङ्गीनियमः। सप्तविध एव प्रश्नोपि कुत इति चेत्? सप्तविधजिज्ञासा[19]सम्भवात्। सापि सप्तधा कुत इति चेत्? सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सोपि सप्तधा कथमिति चेत्? तद्विषयवस्तुधर्मस्य[20] सप्तविधत्वात्। तथा हि-सत्त्वं तावद्वस्तुधर्मः; तदनभ्युपगमे[21] वस्तुनो[22] वस्तुत्वायोगात् खरशृङ्गवत्। तथा कथञ्चिदसत्त्वं तद्धर्म एव; स्वरूपादिभिरिव[23] पररूपादिभिरप्यस्याऽसत्त्वा-

---

१ सङ्कल्पमात्रस्य प्रस्थादित्वेन ज्ञातुम्। २ प्रतिषेधकल्पना स्यात्। ३ सङ्कल्पमात्रेण। ४ प्रतिषेधकल्पनेति सम्बन्धः। ५ पटादेरपि प्रस्थादित्वं स्यात्। ६ प्रतिषेधकल्पना। ७ संकल्पमात्रेण। ८ सङ्कल्पमात्रेण। ९ प्रतिषेधकल्पना। १० सङ्कल्पमात्रस्य। ११ एतावता स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयं सिद्धम्। १२ प्रस्थादिः स्यादस्ति नास्ति च। १३ सह=युगपत्। १४ अर्पितः=विवक्षितः। १५ प्रस्थादिः स्यादस्त्यवक्तव्यः, स्यान्नास्त्यवक्तव्यः, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यश्चेति। १६ कथनात्। १७ नयप्रमाणसप्तभङ्ग्या यथाक्रमं भेदज्ञानार्थमुल्लेखः कथ्यते स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिः। तथा च स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्यान्नास्ति जीवादिवस्तु इत्यादि। १८ आदिना क्षेत्रकालभावग्रहः। १९ ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। २० स्वरूपस्य। २१ परेणाङ्गीक्रियमाणे। २२ जीवादिपदार्थस्य। २३ अन्यथा।

निष्ठौ[1] प्रतिनियतस्वरूपा[2]ऽसंभवाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधः स्यात्। एतेन[3] क्रमार्पितोभयत्वादीनां[4] वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्। तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्प[5]शब्दव्यवहारविरोधात्, सहाऽवक्तव्यत्वोपलक्षितोत्तरधर्मत्रयविकल्पस्य शब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात्। न[6] चामी व्यवहारा निर्विषया एव; वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात् तथा[7]विधरूपादिव्यवहारवत्[8]।

ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीया[9]दिधर्माणां क्रमेत[10]रार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिद्ध्येत्; इत्यप्यसुन्दरम्; क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोः धर्मान्तरत्वेनाऽप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासम्भवाद्वि[11]वक्षितस्वरूपादिना सत्त्व[12]स्यैकत्वात्। तद[13]न्य[14]स्वरूपादिना सत्त्वस्य[15] द्वितीयस्य सम्भवे विशेषादेशात्[16] तत्[17]प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्याप्यपरस्य सम्भवादपरधर्मसप्तक[18]सिद्धिः(द्धेः) सप्तभङ्ग्यन्तरसिद्धितो न कश्चिदुपालम्भः। एतेन[19] द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिकं[20] व्याख्यातम्। कथमेवं[21] प्रथम[22]चतुर्थयोर्द्वितीय[23]चतुर्थयोस्तृतीय[24]चतुर्थयोश्च सहितयोर्धर्मान्तरत्वं स्यादिति चेत्? चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शात्[25]। न खलु सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम्। किं तर्हि? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते। न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा; प्रथमे भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये त्वसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थे त्ववक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे

---

१ परेण। २ पृथुबुध्नोदराद्याकारः सास्नादिमत्त्वादिर्वा प्रतिनियतस्वरूपः। ३ सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वसमर्थनपरेण ग्रन्थेन। ४ सहार्पितोभयत्वादीनां च। ५ अवक्तव्यं सदवक्तव्यमसदवक्तव्यमुभयाऽवक्तव्यं चेति। ६ ननु येभ्यः शब्दव्यवहारेभ्योऽन्यथानुपपत्त्या क्रमार्पितोभयत्वादयः पञ्च धर्मा अवस्थाप्यन्ते ते निर्विषया एवातः कथं तेभ्यस्तत्सिद्धिरित्यारेकायामाह। ७ तथाविधः प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयहेतुभूतः। ८ तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्नवान्न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात्। ९ आदिना द्वितीयतृतीयादिग्रहः। १० युगपत्। ११ मनुष्यस्वरूपे स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः स्वरूपम्, आदिना पररूपसंग्रहः, ते च यतः परकीया द्रव्यादयः। १२ एकजीवस्य। १३ तस्मात्। १४ अन्यस्य देवादेः। १५ भवान्तरापेक्षया। १६ पर्यायकथनात्। १७ सः=द्वितीयसत्त्वः। १८ वसः। १९ प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वनिराकरणेन। २० इति। २१ प्रथमतृतीयादिप्रकारेण। २२ स्यादस्त्यवक्तव्यमिति। २३ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमिति। २४ स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति। २५ अप्रतीतेः।

सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमे क्रमवत्तदुभययुक्तस्य सकलजनैः सुप्रतीतत्वात्।

ननु चावक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्याष्टमस्य धर्मान्तरस्य भावात्कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात्? इत्यप्यपेशलम्; सत्त्वादिभिरभिधीयमानतया वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामवस्थानात्। भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः प्रसिद्धिः; तथाप्याभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमव्याघातः, यतस्तद्विषयः संशयः सप्तधैव न स्यात् तद्धेतुर्जिज्ञासा वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः। इत्युपपन्नेयम्-प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी। 'अविरोधेन' इत्यभिधानात् प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनायाः सप्तभङ्गीरूपता प्रत्युक्ता, 'एकवस्तुनि' इत्यभिधानाच्च अनेकवस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पनाया इति।

अथवा प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः पत्रावलम्बनमप्यपेक्षते, अतस्तल्लक्षणमत्रावश्यमभिधातव्यम् यतो नास्याऽविज्ञातस्वरूपस्यावलम्बनं जयाय प्रभवतीति ब्रुवाणं प्रति सम्भवदित्याह । सम्भवद्विद्यमानमन्यत् पत्रलक्षणं विचारणीयं तद्विचारचतुरैः। तथाहि-स्वाभिप्रेतार्थसाधनानवद्यगूढपदसमूहात्मकं प्रसिद्धावयवलक्षणं वाक्यं पत्रमित्यवगन्तव्यं तथाभूतस्यैवास्य निर्दोषतोपपत्तेः। न खलु स्वाभिप्रेतार्थासाधकं दुष्टं सुस्पष्टपदात्मकं वा वाक्यं निर्दोषं पत्रं युक्तमतिप्रसङ्गात्[11]। न च क्रियापदादिगूढं काव्यमप्येवं पत्रं प्रसज्यते; प्रसिद्धावयवत्वविशिष्टस्यास्य पत्रत्वाभिधानात्। न हि पदगूढादिकाव्यं प्रमाणप्रसिद्धप्रतिज्ञाद्यवयवविशेषणतया किञ्चित्प्रसिद्धम्, तस्य तथा प्रसिद्धौ पत्रव्यपदेशसिद्धेरबाधनात्। तदुक्तम्—

"प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्[12] ॥" [पत्रप० पृ० १]

---

१ तदुभयं सत्त्वासत्त्वम्। २ आदिना ह्यसत्त्वं सत्त्वासत्त्वे च संगृह्येते। ३ वस्तुनः। ४ सदादिभङ्गत्रयरूपेण संघटते इत्यादिप्रकारेण। ५ कल्पना भेदः। ६ यथा स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादि तथा स्याद्वक्तव्यं स्यादवक्तव्यं स्याद्वक्तव्यावक्तव्यमित्यादिप्रकारेण। ७ बसः। ८ परीक्षामुखे। ९ पत्रस्य। १० अपशब्दबहुलम्। ११ काव्यादेरपि पत्रत्वप्रसङ्गात्। १२ अबाधितम्।

कथं प्रागुक्तविशेषणविशिष्टं वाक्यं पत्रं नाम, तस्य श्रोत्रसमधिगम्यपदसमुदयविशेषरूपत्वात्, पत्रस्य च तद्विपरीताकारत्वात्? न च यद्यतोऽन्यत्तत्तेन व्यपदेष्टुं शक्यमतिप्रसङ्गादिति चेत्; 'उपचरितोपचारात्' इति ब्रूमः। 'श्रोत्रपथप्रस्थायिनो हि वर्णात्मकपदसमूहविशेषस्वभाववाक्यस्य लिप्यामुपचारस्तत्रास्य जनैरारोप्यमाणत्वात्, लिप्युपचरितवाक्यस्यापि पत्रे, तत्र लिखितस्य तत्रस्थत्वात्' इत्युपचरितोपचारात्पत्रव्यपदेशः सिद्धः। न च यद्यतोन्यत्तत्तेनोपचारादुपचरितोपचाराद्वा व्यपदेष्टुमशक्यम्, शक्रादन्यत्र व्यवहर्तृजनाभिप्राये शक्रोपचारोपलम्भात्, तस्माच्चान्यत्र काष्ठादावुपचरितोपचाराच्छक्रव्यपदेशसिद्धेः। अथवा प्रकृतस्य वाक्यस्य मुख्य एव पत्रव्यपदेशः–'पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन्वाक्ये तत्पत्रम्' इति व्युत्पत्तेः। प्रकृतिप्रत्ययादिगोपनाद्धि पदानां गोपनं विनिश्चितपदस्वरूपतदभिधेयतत्त्वेभ्योपि परेभ्यः सम्भवत्येव। तस्योक्तप्रकारस्य पत्रस्यावयवौ क्वचिद्द्वावेव प्रयुज्येते तावतैव साध्यसिद्धेः। तद्यथा—

"स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक्।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः॥" [ ]

इति। अन्त एव ह्यान्तः, स्वार्थिकोऽण् वानप्रस्थादिवत्। प्रादिपाठापेक्षया सोरान्तः स्वान्तः उत्, तेन भासिता द्योतिता भूतिरुद्भूतिरित्यर्थः। सा आद्या येषां ते स्वान्तभासितभूत्याद्याः ते च ते त्र्यन्ताश्च उद्भूतिव्ययध्रौव्यधर्मा इत्यर्थः। ते एवात्मानः तांस्तनोतीति स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् इति साध्यधर्मः। उभान्ता वाग्यस्य तदुभान्तवाक्=विश्वम्, इति धर्मि। तस्य साध्यधर्मविशिष्टस्य निर्देशः। उत्पादादित्रिस्वभावव्यापि सर्वमित्यर्थः। परान्तो यस्यासौ परान्तः प्रः, स एव द्योतितं द्योतनमुपसर्ग इत्यर्थः। तेनोद्दीप्ता चासौ मितिश्च तया इतः स्वात्मा यस्य तत्परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकं 'प्रमितिप्राप्तस्वरूपम्' इत्यर्थः। तस्य भावस्तत्त्वं 'प्रमेयत्वम्' इत्यर्थः, प्रमाणविषयस्य प्रमेयत्वव्यवस्थितेः इति साधनधर्मनिर्देशः। दृष्टान्ताद्यभावेऽपि च हेतोर्गमकत्वम् "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" [परीक्षामु० ३।३७]

---

१ घटस्य पटव्यपदेशप्रसङ्गात्। २ पुंसि। ३ प्रतिवादिभ्यः। ४ अनुमानवाक्ये। ५ विश्वम्। ६ प्रमेयत्वात्। ७ प्रपराऽपसमन्वादिः प्रादिः। ८ व्याप्नोति। ९ परान्तद्योतितेन। १० प्राप्तः। ११ स्वसाध्यप्रतिपादकत्वम्।

इत्यत्र समर्थितम्[1] । अन्यथानुपपत्तिबलेनैव हि हेतोर्गमकत्वम्, सा चात्रास्त्येव एकान्तस्य[2] प्रमाणागोचरतया विषयपरिच्छेदे समर्थनात् । एवं प्रतिपाद्याशयवशात्त्रिप्रभृतयोऽप्यवयवाः पत्रवाक्ये द्रष्टव्याः । तथाहि—

"चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वतः ।
यदित्थं न तदित्थं न यथाऽकिञ्चिदिति त्रयः ॥ १ ॥
तथा चेदमिति प्रोक्तौ चत्वारोऽवयवा मताः ।
तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्च पत्रस्य कस्यचित् ॥ २ ॥"
[पत्रप० पृ० १०]

चित्रमेकानेकरूपम्, तदतति[3] चित्रात्-एकानेकरूपव्यापि अनेकान्तात्मकमित्यर्थः । सर्वविश्वयदित्यादिसर्वनामपाठापेक्षया यदन्तो विश्वशब्दो 'यत् अन्ते यस्य' इति व्युत्पत्तेः । तेन राणीयं शब्दनीयं विश्वमित्यर्थः । तदनेकान्तात्मकं विश्वमिति पक्षनिर्देशः । आरेका संशयः, सा अन्ते यस्येत्यारेकान्तः प्रमेयः "प्रमाणप्रमेयसंशय" [न्यायसू० १।१।१] इत्यादिपाठापेक्षया, स आत्मा यस्य तदारेकान्तात्मकम्, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, इति साधनधर्मनिर्देशः । यदित्थं न भवति यच्चित्रान्न भवति तदित्थं न भवति आरेकान्तात्मकं न भवति यथाऽकिञ्चित्[4]=न किञ्चित् अथवा अकिञ्चित् सर्वथैकान्तवाद्यभ्युपगतं तत्त्वम् । इति त्रयोऽवयवाः पत्रे क्वचित्प्रयुज्यन्ते । तथा[5] चेदमिति पक्षधर्मोपसंहारवचने चत्वारः । तस्मात्तथाऽनेकान्तव्यापीति निर्देशे पञ्चेति ।

यच्चेदं यौगैः स्वपक्षसिद्ध्यर्थं पत्रवाक्यमुपन्यस्तम्- सैन्यलङ्भाग्[6] नाऽनन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत्[7]दाऽऽशैट्स्यतोऽनीङ्कोनेनलड्युक्[10]कुलोद्भवो[11] वैषोप्यनैश्यतापैस्[12]तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्ववित्तदन्योऽनादिरवायनीयत्वत एवं यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवदेतच्चैवमेवं तदिति पत्रम् । अस्यायमर्थः—इन आत्मा सकलस्यैहिकपारलौकिकव्यवहारस्य प्रभुत्वात्, सह तेन वर्तते इति सैनः[13] । स एव चातुर्वर्ण्यादिवत्स्वार्थिके घ्यणि कृते 'सैन्यम्' इति भवति । तस्य लड्=विलासः[14], तं भजते सेवते इति सैन्यलङ्भाक्-'देहः'

१ जैनैः । २ सर्वथा नित्यस्य क्षणिकस्य वा वस्तुनः । ३ अत सातत्यगमने । ४ खरविषाणवत् । ५ आरेकान्तात्मकम् । ६ देहः । ७ प्रबोधकारीन्द्रियादिकारणकलापः । ८ आसमुद्रात् । ९ गिरिनिकरो भुवनसन्निवेशश्च । १० इनलड्युक्= सूर्याचन्द्रमसौ । ११ पृथिव्यादिकार्यद्रव्यसमूहः । १२ वक्ष्यते स्वयमेवाग्रेस्यार्थः । १३ ज्ञानभोगादिपदार्थः । १४ लड विलासे ।

इति यावत्। अर्थः प्रयोजनं तस्मै अर्थार्थः, न अर्थार्थोऽनर्थार्थः। प्रकृष्टो लौकिकस्वापाद्विलक्षणः स्वापः प्रस्वापः=बुद्ध्यादिगुणवियुक्तस्यात्मनोऽवस्थाविशेषः मोक्ष इति यावत्। न हि तत्साध्यं किञ्चित्प्रयोजनमस्ति; तस्य सकलपुरुषप्रयोजनानामन्ते व्यवस्थानात्। अनर्थार्थश्चासौ प्रस्वापश्च[1]। नन्वेवं सौगतस्वापस्यापि ग्रहणं स्यात्, सोपि ह्यनर्थार्थप्रस्वापो भवति सकलसन्ताननिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य[2] सौगतैरभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥"
[सौन्दरनन्द १६।२८,२९]

अत्राह—नानन्तरेति। अन्तो विनाशस्तं राति[3] पुरुषाय ददातीत्यन्तरः। नान्तरोऽनन्तरः पुरुषस्य विनाशदायको नेत्यर्थः। अनन्तरश्चासावनर्थार्थप्रस्वापश्चानन्तराऽनर्थार्थप्रस्वापः। नेति निपातः प्रतिषेधवाची। नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापो लौकिको निद्राकृतः स्वाप इत्यर्थः। तं कृन्तति छिनत्तीति नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत्—'प्रबोधकारीन्द्रियादिकारणकलापः' इति यावत्। शिषु इत्ययं धातुर्भौवादिकः सेचनार्थः, "जिषु डिषु शिषु विषु उक्ष पृषु वृषु सेचने" [ ] इत्यभिधानात्। तस्माच्छेषणं भावे घञि कृते 'शेषः' इति भवति। तस्मात्स्वार्थिकेऽणि कृते 'शैषः[4]' इति जायते। शैषं करोति "तत्करोति तदाचष्टे, तेनातिक्रामति धुरूपं च" [ ] इति णिचि कृते टेः खे[5] च कृते शैषीति भवति। "तदन्ता धवः" [जैनेन्द्रव्या० २।१।३९] इति धुंसंज्ञायां[6] सत्यां "प्राग्धोस्ते" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१४८] इत्याङा योगः। आशैषयति समन्ताद्भुवः सेकं करोतीति क्विपि तस्य च सर्वापहारेण लोपे डत्वे च कृते आशैडिति भवति। आशैट् चासौ स्यच्चाशैट्स्यत् लोकप्रसिद्धः समुद्रः। तस्मादाशैट्स्यतः—आ समुद्रादिति यावत्। निपूर्व इषू इत्ययं धातुर्गत्यर्थः परिगृह्यते—"इषू गतिहिंसनयोश्च" [ ] इति वचनात्। नीषते गच्छतीति नीड्, न नीडऽनीड्। तस्मात्स्वार्थिके के प्रत्ययेऽनीक इति भवति। अचलो गिरिनिकर इत्यर्थः। यदि वा अं विष्णुं नीषति गच्छति समाश्रयतीत्यनीड्=भुवनसन्निवेशः। तदुक्तम्[7]—

---

१ अनर्थार्थप्रस्वापः। २ परममोक्षस्य न तु जीवन्मोक्षस्य। ३ रा दाने। ४ शेष एव शैषः। ५ लोपे। ६ 'धु' इति धातुसंज्ञा। ७ (माघे)।

"युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासते[1]।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषे[2]स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा[3] मुदः[4] ॥"
[शिशुपालव० १।२३]

न विद्यते ना समवायिकारणभूतो यस्यासावऽना, "ऋण्मोः" (न्मोः) [जैनेन्द्रव्या० ४।२।१५३] इति कप् सान्तो[5] न भवति "सान्तो विधिरनित्यः" [ ] इति परिभाषाश्रयणात्। इनो भानुः। लषणं लट् कान्तिः-"लष् कान्तौ" [ ] इति वचनात्। लषा युक् योगो यस्यासौ लड्युक्-चन्द्रः। इनश्च लड्युक् चेनलड्युक् सूर्याचन्द्रमसौ। कुलमिव कुलं सजातीयारम्भकावयवसमूहः। तस्मादुद्भव आत्मलाभो यस्यासौ कुलोद्भवः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यसमूहः। 'वा' इत्यनुक्तसमुच्चये, तेनानित्यस्य गुणस्य कर्मणश्च ग्रहणम्। एषः प्रतीयमानः। अतो[6] नाश्रयासिद्धिः। अब्धो हितोऽव्यः-समुद्रादिः। निशायाः कर्म नैश्यमन्धकारादि। ताप औष्ण्यम्। स्तनतीति स्तन् मेघः। एतेषां[7] द्वन्द्वैकवद्भावः। किरभूतः स तच्च। न विद्यते ना पुरुषो निमित्तकारणमस्येति। रटनं परिभाषणं तस्य लड् विलासः, तं जुषते सेवते इति-"जुषी प्रीतिसेवनयोः" [ ] इत्यभिधानात्। अनृरङ्लड्जुट्। अत्रापि कवऽभावे निमित्तमुक्तम्।

अत्र[8] साध्यधर्ममाह। परापरतत्त्ववित्तदन्य इति। परं पार्थिवादिपरमाण्वादिकारणभूतं वस्तु, अपरं पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्, तयोस्तत्त्वं स्वरूपम्, तस्मिन्विद् बुद्धिर्यस्यासौ परापरतत्त्ववित्-कार्यकारणविषयबुद्धिमान् पुरुष इत्यर्थः। तस्मात्परोक्ता[11]दन्यः परापरतत्त्ववित्तदन्यो बुद्धिमत्कारण इत्यर्थः। यदा नपुंसकेन सम्बन्धस्तदा परापरतत्त्ववित्तदन्यदिति व्याख्येयम्। कुत एतदित्याह-अनादिरवायनीयत्वत इति। कार्यस्य हेतुरादिस्ततः प्रागेव तस्य भावात्। तस्मादन्योऽनादिः कार्यसन्दोहः। तस्य रवस्तत्प्रतिपादकं कार्यमिति वचनम्। तेनायनीयं प्रतिपाद्यं तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादनादिरवायनीयत्वतः-'कार्यत्वात्' इत्यर्थः। एवं यदनादिरवायनीयं तदीदृग् बुद्धिमत्कारणम्। तत्कला अवयवा भागा इत्यर्थः, सह कलाभिर्वर्तते इति सकला। वित् आत्म-

१ तिष्ठन्ति। २ नारायणस्य। ३ प्रकारणात्तपोधनोत्र नारदः। ४ सन्तोषाः। ५ समासान्त इत्यर्थः। ६ हेतोः। ७ अप्यादीनाम्। ८ पुल्लिङ्गनिर्दिष्टः सर्वः नपुंसकलिङ्गनिर्दिष्टं सर्वम्। ९ सामान्यनरः। १० धर्मिणि। ११ अबुद्धिमत्कारणात्।

लाभो—"विदॢ लाभे" [   ] इति वचनात् । यस्य सकला वित् वृणोति प्रच्छादयतीत्यौणादिके गे वर्ग इति भवति। सकलविच्चासौ वर्गश्चेति सकलविद्वर्गः—पट इत्यर्थः । तेन तुल्यं वर्त्तते इति सकलविद्वर्गवत् । एतच्च तन्वादि एवमनादिरवाय्यनीयप्रकारं तत्तस्माद्बुद्धिमत्कारणमिति । तदेतदसमीचीनम्; अनुमानाभासत्वादस्य[1] । तदाभासत्वं च तदवयवानां प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानां कालात्ययापदिष्टत्वाद्यनेकदोषदुष्टत्वेन तदाभासत्वात्सिद्धम् । एतच्चेश्वरनिराकरणप्रकरणाद्विशेषतोवगन्तव्यम् ।

ननु चोक्तलक्षणे पत्रे केनचित्[2] कमप्युद्दिश्या[3]वलम्बिते तेन[4] च गृहीते[5] भिन्ने[6] च यदा पत्रस्य दातैवं ब्रूयात् 'नायं मदीयपत्रस्यार्थः'[7] इति, तदा किं कर्तव्य[8]मिति चेत्; तदासौ विकल्प्य प्रष्टव्यः—कोयं भवत्पत्रस्यार्थो नाम—किं यो भवन्मनसि वर्तते सोस्यार्थः, वाक्यरूपात्पत्रात्प्रतीयमानो वा स्यात्, भवन्मनसि वर्तमानः ततोपि च प्रतीयमानो वा प्रकारान्तरासम्भवात्? तत्र प्रथमपक्षे पत्रावलम्बनमनर्थकम् । तद्वि[9](द्धि)प्रतिवादी समादाय विज्ञातार्थस्वरूपस्तत्र दूषणं वदतु विपरीतस्तु निर्जितो भवत्वित्यवलम्ब्यते[10] । यश्च तस्मादर्थः प्रतीयते नासौ तदर्थ इति न तत्र केनचित्साधनं दूषणं वा वक्तव्यमनुपयोगात् । यस्तु तदर्थो भवच्चेतसि वर्त्तमानो नासौ कुतश्चित्[11]प्रतीयते परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वा[12]दिति? तत्रा[13]पि न साधनं दूषणं वा सम्भवति । न ह्यप्रतीयमानं वस्तु साधनं दूषणं वार्हत्यऽतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरन्यतः कुतश्चि[14]त्तं प्रतिपद्य प्रतिवादी तत्र[15] साधनादिकं ब्रूयात्; तर्हि पत्रावलम्बनानर्थक्यम् । तत एव तत्प्रतिपत्ति[16]श्चेच्चित्रमेतत्—'तस्यासावर्थो[17] न भवति ततश्च प्रतीयते' इति, गोशब्दादप्यश्वादिप्रतीतिप्रसङ्गात् । सङ्केते[18] सति भवतीति चेत्कः सङ्केतं कुर्यात्? पत्रदातेति चेत्; किं पत्रदानकाले, वादकाले वा, तथा प्रतिवादिनि, अन्यत्र[19] वा? तद्दानकाले प्रतिवादिनीति चेत्; न; तथा[20] व्यवहाराभावात् । न खलु कश्चिद्[21] 'अयं मम चेत-

---

१ अनुमानस्य । २ वादिना । ३ प्रतिवादिनम् । ४ प्रतिवादिना । ५ ज्ञातार्थे । ६ अर्थं विचार्य पत्रे खण्डीकृते । ७ प्रतिवादिना । ८ कथम् ? । ९ तत् पत्रम् । १० व्यवहर्तृभिः । ११ प्रमाणात् । १२ अन्वयो=निश्चयः । १२ चेतसि वर्तमानेऽपि । १४ चेतोवर्तमानपत्रार्थम् । १५ चेतोवर्तमानपत्रार्थे । १६ तस्य चेतसि वर्तमानपत्रार्थस्य । १७ चेतसि वर्तमानः । १८ पत्रादप्रतीयमानोऽपि चेतसि वर्तमानपत्रार्थः सङ्केतकाले तदर्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह । १९ पुरुषान्तरे । २० पत्रदानकाले प्रतिवादिनि सङ्केतप्रकारेण । २१ वादी ।

स्यर्थो वर्त्ततेऽस्येदं पत्रं वाचकमस्मात्त्वया[1]यमर्थो वादकाले प्रतिपत्तव्यः' इति सङ्केतं विदधाति। तथा तद्विधाने वा किं पत्रदानेन? केवलमेवं वक्तव्यम्–'अर्थो मम चेतसि वर्त्तते, अत्र त्वया साधनं दूषणं वा वक्तव्यम्' इति। दृश्यन्ते साम्प्रतमप्यऽमत्सराः सन्त एवं वदन्तः–'शब्दो नित्योऽनित्य इति वाऽस्माकं मनसि प्रतिभाति, तत्र यदि भवतां दूषणाद्यभिधाने सामर्थ्यमस्ति[2] यामः सभ्यान्तिकम्' इति। कालान्तरेऽविस्मरणार्थं[3] तद्दानं चेत्; तर्हि गूढं पत्रं दातव्यम्, इतरथा तद्दानेपि विस्मरणसम्भवे किं कर्त्तव्यम्? विस्मर्तुर्निग्रह[4]श्चेत्; न; पूर्वसङ्केतविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न तत्प्रसङ्गः प्रतिवादिनः पत्रार्थपरिज्ञानार्थत्वात्तस्येति चेत्, तर्हि तत्परिज्ञानार्थं विस्मृतसङ्केतस्य पुनस्तद्विधानमेवास्तु, न तु निग्रहः। यदि च भवच्चित्ते वर्त्तमानोप्यर्थः सङ्केतबलेन पत्रादेव प्रतीयते; तर्हि ततो यः प्रतीयते स तदर्थो न मनस्येव वर्तमानः। यदि पुनः सङ्केतसहायात्पत्रात्तस्य प्रतीतेर्न तदर्थत्वम्; तर्हि न कश्चित्कस्यचिदर्थः स्यात् सङ्केतमन्तरेण कुतश्चिच्छब्दादर्थाऽप्रतीतेः। तन्न तद्दानकाले प्रतिवादिनि सङ्केतः। नापि वादकाले; तथाव्यवहारविरहादेव। किं च वादकालेपि चेद्वादी प्रतिवादिने स्वयं पत्रार्थं[7] निवेदयति; तर्हि प्रथमं पत्रग्रहीतुरुपन्यासोऽनवसरः स्यात्। तन्नायमपि पक्षः श्रेयान्।

अथान्यत्र[5]; तर्हि स[6] एव तदर्थज्ञः, इति कथं प्रतिवादी साधनादिकं वदेत् तस्य तदर्थाऽपरिज्ञानात्? प्रतिवादिनस्तदर्थापरिज्ञानं वादिनोभीष्टमेव तदर्थत्वात्पत्रदानस्येति चेत्; तर्हि पत्रमनक्षरं दातव्यमतः सुतरां तदपरिज्ञानसम्भवात्। अशिष्टचेष्टाप्रसङ्गोऽन्य[8]त्रापि समानः। इति न किञ्चित्प्रागुक्तलक्षणपत्रदानेन प्रयोजनम्। ननु वादप्रवृत्तिः प्रयोजनमस्त्येव–तद्दाने हि वादः प्रवर्त्तते, साधनाद्यभिधानं तु मानसार्थे वचनान्तरात्प्रतीयमान इत्यभिधाने तु पराक्रोशमात्रं लिखित्वा दातव्यं ततोपि वादप्रवृत्तेः सम्भवात् किमतिगूढपत्रविरचनप्रयासेन? तन्नाद्यपक्षे पत्रावलम्बनं फलवत्।

अथ तच्छब्दाद्यः प्रतीयते स तदर्थः; तर्हि खात्पतिता नो[9] रत्नवृष्टिः प्रकृतिप्रत्ययादिप्रपञ्चार्थप्रविभागेन प्रतीयमानस्य पत्रार्थत्वव्यवस्थितेः। अथ नायं तदर्थः; कथमन्यस्तदर्थः स्यात्?

---

१ प्रतिवादिना। २ तर्हीति शेषः। ३ सङ्केतितार्थस्य। ४ कर्त्तव्य इति शेषः। ५ पुरुषान्तरे। ६ अन्यः। ७ स्वमनसि व्यवस्थितार्थे। ८ अस्माकम्। ९ सिद्धोऽस्मदीयः पक्ष इत्यर्थः।

अथान्यार्थसम्भवेपि यस्तदवलम्बिनेष्यते स एव तदर्थः। कुत एतत्? ततः प्रतीतेश्चेत्; अन्योप्यत एव स्यात्। अथ ततः प्रतीयमानत्वाविशेषेपि यस्तेनेष्यते स एव तदर्थो नान्यः, ननु शब्दः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा? प्रमाणं चेत्; तर्हि तेन यावानर्थः प्रदर्श्यते स सर्वोपि तदर्थ एव। न खलु चक्षुषानेकस्मिन्नर्थे घटादिके प्रदर्श्यमाने 'तद्वता य इष्यते स एव तदर्थो नान्यः' इति युक्तम्। अथाप्रमाणम्; तर्हि तेनेष्यमाणोपि नार्थः। न हि द्विचन्द्रादिकस्तद्दर्शिनेष्यमाणोर्थो भवितुमर्हति, अन्यथा परेणेष्यमाणोप्यर्थो किं न स्यात्। तन्नायमपि पक्षो युक्तः।

[3]ततो यः प्रतीयते तद्दातुश्चेतसि च वर्तते स तदर्थः, इत्यत्रापि- केनेदमवगम्यताम् वादिना, प्रतिवादिना, प्राश्निकैर्वा? तत्राद्यविकल्पे प्रतिवादिना वादिमनोर्थानुकूल्येन पत्रे व्याख्याते वादिना तथावधारितेपि स वै[4]र्यात्याद्यदेवं वदति 'नायमस्या[5]र्थो मम चेतस्यन्यस्य वर्त्तनात्, विपरीतप्रतिपत्तेर्निगृहीतोसि' इति तदा किं कर्तव्यं प्राश्निकैः? तथाभ्युपगमश्चेत्; महामध्यस्थास्ते यत्सदर्थप्रतिपादकस्यापि प्रतिवादिनो निग्रहं व्यवस्थापयन्ति वाद्यभ्युपगममात्रेण। न तावन्मात्रेणास्य निग्रहोऽपि तु यदा वादी स्वमनोगतमर्थान्तरं निवेदयतीति चेत्; ननु 'तेन निवेद्यमानमर्थान्तरं पत्रस्याभिधेयम्' इति कुतोऽवगम्यताम्? तदप्रातिकूल्येन निवेदनाच्चेत्; तत एव प्रतिवादिप्रतिपाद्यमानोप्यर्थस्तदभिधेयोस्तु विशेषाभावात्। वादिचेतस्यऽस्फुरणान्नेति चेत्; इदमपि कुतोऽवगम्यताम्? तत्रार्थदर्शनाच्चेत्; किं पुनस्तच्चेतः प्राश्निकानां प्रत्यक्षं येनैवं स्यात्? तथा चेत्; अतीन्द्रियार्थदर्शिभिस्तर्हि प्राश्निकैर्भवितव्यं नेतरपण्डितैः। तथा च प्रत्यक्षत एव वादिप्रतिवादिनोः सारेतरविभागं विज्ञायोपन्यासमन्तरेणैव जयेतरव्यवस्थां रचयेयुः। नो चेत्कथं तत्र कस्यचित्स्फुरणमस्फुरणं वा ते प्रतियन्तु? न ह्यप्रतिपन्नभूतलस्य 'अत्र भूतले घटोस्ति नास्ति' इति वा प्रतीतिरस्ति। अथ स्वयमेव यदासौ वदति-'ममायमर्थो मनसि वर्तते नायम्' इति तदा ते तथा प्रतिपद्यन्ते; न; तदापि संदेहात्-'किं प्रतिवादिना योर्थो निश्चितः स एवास्य मनसि वर्तते शब्देन तु वदति नायमर्थो मम मनसीति किन्त्वन्य एव-यो मया प्रतिपाद्यते, उतायमेव, इति न निश्चयहेतुः। दृश्यन्ते ह्यने-

---

१ वादिना। २ पत्रं गृहीत्वा। ३ पत्रात्। ४ धार्ष्ट्यात्। ५ पत्रस्य। ६ स्वीकर्तव्यः। ७ वादी। ८ प्रतिवादिनिगद्यमानार्थस्य वादिचेतसि स्फुरणास्फुरणप्रकारेण। ९ इति चेदिति शेषः।

कार्थं पत्रं विरचय्य, 'यदीदमस्यार्थतत्त्वं प्रतिवादी ज्ञास्यति तर्ह्येवं वदिष्यामः, नेदमर्थतत्त्वमस्य किन्त्विदमिति, अथेदं ज्ञास्यति तत्राप्यन्यथा गदिष्यामः' इति सम्प्रधारयन्तो वादिनः। अथ गुर्वादिभ्यः[1] पूर्वमसौ[2] [3]तन्निवेदयति, [4]ततस्तेभ्यः प्राश्निकानां [5]तन्निश्चयः; [6]न; अत्राप्यारेकाऽनिवृत्तेः, स्वशिष्यपक्षपातेनान्यथापि तेषां वचनसम्भवात्। यदि पुनर्वादी वादप्रवृत्तेः प्राक् प्राश्निकेभ्यः प्रतिपादयति–'मदीयपत्रस्यायमर्थः, अत्रार्थान्तरं ब्रुवन् प्रतिवादी भवद्भिर्निवारणीयः' इति। [7]अत्रापि प्रागप्रतिपन्नपत्रार्थानां महामध्यस्थानामुभयाभिमतानामकस्मादाहूतानां सभ्यानां मध्ये विवादकरणे [8]का वार्त्ता? 'पत्राद्यः प्रतीयते स एव [9]तत्र तदर्थः' इति चेत्; अन्यत्र[10]ापि स एवास्त्वविशेषात्। तन्नाद्यः पक्षो युक्तः।

नापि द्वितीयः। न खलु प्रतिवादी वादिमनो जानाति येन 'योस्य मनसि वर्त्तते स एव मयार्थो निश्चितः, इति जानीयात्। एतेन[11] तृतीयोपि पक्षश्चिन्तितः; सभ्यानामपि तन्निश्चयोपायाभावात्। किञ्चेदं पत्रं तद्दातुः स्वपक्षसाधनवचनम् परपक्षदूषणवचनम्, उभयवचनम्, अनुभयवचनं वा? तत्राद्यविकल्पत्रये सभ्यानामग्रे त्रिरुच्चारणीयमेव [12]तत्तत्रापि वैषम्यात्। तथोच्चारितमपि यदा प्राश्निकैः प्रतिवादिना च न ज्ञायते वाद्यऽभिप्रेतार्थानुकूल्येन तदा तद्दातुः किं भविष्यति? निग्रहः, "त्रिरभिहितस्यापि कष्टप्रयोगद्रुतोच्चारादिभिः परिषदा प्रतिवादिना चाज्ञातमज्ञातं नाम निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० ५।२।९] इत्यभिधानात्, इति चेत्; तस्य तर्हि स्ववधाय [13]कृत्योत्थापनम् उक्तविधिना सर्वत्र[14] [15]तदज्ञानसम्भवात्। [16]तावन्मात्रप्रयोगाच्च स्वपरपक्षसाधनदूषणभावे प्रतिवाद्युपन्यासमनपेक्ष्यैव सभ्याः वादिप्रतिवादिनोर्जयेतरव्यवस्थां कुर्युः। चतुर्थपक्षे तु तन्निग्रहः सुप्रसिद्ध एव; स्वपरपक्षयोः साधनदूषणाऽप्रतिपादनात्। इत्यलमति[17]प्रसङ्गेन।

अथेदानीमात्मनः प्रारब्धनिर्वहणमौद्धत्यपरिहारं च सूचयन् परीक्षामुखेत्याद्याह—

---

१ निवेदनयोगे चतुर्थी। २ वादी। ३ पत्रार्थम्। ४ निवेदनात्। ५ पत्रार्थे। ६ इति चेदिति शेषः। ७ पक्षे। ८ न कापि। ९ अकस्मादाहूतेषु। १० पूर्वप्राश्निकेष्वपि। ११ उभयपक्षनिराकरणेन। १२ स्वपरपक्षसाधनदूषणकारकपत्रम्। १३ राक्षसी। १४ परिषदि। १५ तस्य=पत्रार्थस्य। १६ स्वपरपक्षसाधनदूषणकारकपत्र। १७ पत्रपरीक्षायाः।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

परीक्षा तर्कः, परि समन्तादशेषविशेषत ईक्षणं यत्रार्थानामिति व्युत्पत्तेः । तस्या मुखं तद्व्युत्पत्तौ प्रवेशार्थिनां प्रवेशद्वारं शास्त्रमिदं व्यधामहं विहितवानस्मि । पुनस्तद्विशेषणमादर्शमित्याद्याह । आदर्शधर्मसद्भावादिदमप्यादर्शः । यथैव ह्यादर्शः शरीरालङ्कारार्थिनां तन्मुखमण्डनादिकं विरूपकं हेयत्वेन सुरूपकं चोपादेयत्वेन सुस्पष्टमादर्शयति तथेदमपि शास्त्रं हेयोपादेयतत्त्वे तथात्वेन प्रस्पष्टमादर्शयतीत्यादर्श इत्यभिधीयते।

तदीदृशं शास्त्रं किमर्थं विहितवान् भवानित्याह। संविदे[1]। कस्येत्याह मादृशः। कीदृशो भवान् यत्सदृशस्य संवित्त्यर्थं शास्त्रमिदमारभ्यते इत्याह–बालः। एतदुक्तं भवति–यो मत्सदृशोऽल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसंविदे शास्त्रमिदमारभ्यते इति । किंवत्? परीक्षादक्षवत्। यथा परीक्षादक्षो महाप्रज्ञः[2] स्वसदृशशिष्यव्युत्पादनार्थं विशिष्टं शास्त्रं विदधाति तथाहमपीदं विहितवानिति। ननु चाल्पप्रज्ञस्य कथं परीक्षादक्षवत् प्रारब्धैवंविधविशिष्टशास्त्रनिर्वहणं तस्मिन्वा कथमल्पप्रज्ञत्वं परस्परविरोधात्? इत्यप्यचोद्यम्; औद्धत्यपरिहारमात्रस्यैवैवमात्मनो ग्रन्थकृता प्रदर्शनात्। विशिष्टप्रज्ञासद्भावस्तु विशिष्टशास्त्रलक्षणकार्योपलम्भादेवास्याऽवसीयते। न खलु विशिष्टं कार्यमविशिष्टादेव कारणात् प्रादुर्भावमर्हत्यतिप्रसङ्गात्। मादृशोऽबाल इत्यत्र नञ् वा द्रष्टव्यः। तेनायमर्थः–यो मत्सदृशोऽबालोऽनल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसंविदे शास्त्रमिदमहं विहितवान्। यथा परीक्षादक्षः परीक्षादक्षार्थं विशिष्टशास्त्रं विदधातीति। ननु चानल्पप्रज्ञस्य तत्संवित्तेर्भवत इव स्वतः सम्भवात्तं प्रति शास्त्रविधानं व्यर्थमेव; इत्यप्यसुन्दरम्; तद्ग्रहणेऽनल्पप्रज्ञासद्भावस्य विशिष्य विवक्षितत्वात्। यथा ह्यहं तत्करणेऽनल्पप्रज्ञस्तज्ज्ञस्तथा तद्ग्रहणे[3] योऽनल्पप्रज्ञस्तं प्रतीदं शास्त्रं विहितम् । यस्तु शास्त्रान्तरद्वारेणावगतहेयोपादेयस्वरूपो न तं प्रतीत्यर्थ इति ।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

---

१ संज्ञानाय। २ श्रीमदकलङ्कदेवः। ३ तद्ग्रहणरूपे।

[1][2]गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्,
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः ।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः,
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥

मोह[3]ध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदः,
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः ।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्,
जीयात्सोत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्त्तण्डतुल्योऽमलः ॥ २ ॥

गु[4]रुः श्रीन[5]न्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥ ३ ॥
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥ ४ ॥

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ॥

(इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचितः प्रमेयकमलमार्त्तण्डः समाप्तः)

॥ शुभं भूयात् ॥

---

१ अथेदानीं माणिक्यनन्दिपदव्यावर्णनपूर्वकं तत्पदाशीर्वादपूर्वकं चात्मनः प्रारब्धनिर्वहणमौद्धत्यपरिहारं च सूचयन्नाह गम्भीरेत्यादि । २ अप्रमितम् । ३ मार्त्तण्डइत्यस्योपपत्तिं दर्शयति । ४ स्वस्य । ५ माणिक्यनन्दी ।

प्रमेयकमलमार्तण्डस्य

॥ परिशिष्टानि ॥

प्रथमं परिशिष्टम् ।

परीक्षामुखसूत्रपाठः ।

॥ प्रथमः परिच्छेदः ॥

पृ०

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥ २

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । ७

२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् । २५

३ तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् । २७

४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः । ५९

५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् । ५९

६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः । ९८

७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया । ९८

८ घटमहमात्मना वेद्मि । १२१

९ कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः । १२१

१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् । १२८

११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् । १४९

१२ प्रदीपवत् । १४९

१३ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति । १४९

॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

१ तद्द्वेधा । १७७

२ प्रत्यक्षेतरभेदात् । १८०

३ विशदं प्रत्यक्षम् । २१६

४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् । २१९

५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् । २२९

६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् । २३१

७ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च । २३२

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् । २३९

९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति । २४०

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः । २४०

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् । २४१

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् । ,,

॥ तृतीयः परिच्छेदः ॥

	पृ०
१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।	६३१
१९ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।	,,
२० माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।	६३२
२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।	,,
२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।	,,
२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।	,,
२४ स्वरूपेणासत्त्वात् ।	,,
२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।	६३४
२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात् ।	,,
२७ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।	,,
२८ तेनाज्ञातत्वात् ।	,,
२९ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।	६३५
३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।	६३७
३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।	,,
३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।	,,
३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।	,,
३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।	६३८
३५ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।	६३९
३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।	,,
३७ किञ्चिदकरणात् ।	,,
३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।	,,
३९ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।	,,
४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।	६४०
४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।	,,
४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।	,,
४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।	,,
४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।	,,
४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।	६४१
४६ बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।	,,
४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।	,,
४८ धूमवांश्चायमिति वा ।	,,
४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।	,,
५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।	,,
५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।	६४२
५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।	,,
५३ अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।	,,

पृ०

५४ विसंवादात् । ६४२
५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् । ,,
५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् । ६४३
५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् । ,,
५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् । ,,
५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् । ,,
६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् । ,,
६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् । ,,
६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च । ६४४
६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् । ,,
६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् । ,,
६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् । ,,
६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा । ,,
६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः । ,,
६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् । ,,
६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य । ,,
७० तस्माद्वास्तवो भेदः । ,,
७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः । ६४५
७२ समवायेऽतिप्रसङ्गः । ,,
७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च । ,,
७४ संभवदन्यद्विचारणीयम् । ६७६

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ १ ॥ ६९३

इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ।

द्वितीयं परिशिष्टम्।

प्रमेयकमलमार्त्तण्डगतानामवतरणानां सूचिः।

अवतरणम्	पृष्ठं	पङ्क्तिः
अधिष्ठानानृजुत्वाच्च [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८७]	४०८	२५
अनादिनिधनं शब्द- [वाक्यप० १।१]	३९	१३
अनादेरागमस्यार्थो- [ ]	२५०	११
अनिग्रहस्थाने निग्रह- [न्यायसू० ५।२।११]	६६९	२६
अनिर्दिष्टफलं [ ]	३	७
अनेकदेशवृत्तौ च [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९०]	४०९	५
अनैकान्तिकता तावद्धे- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९]	४२२	१४
अन्यथैवाग्निसम्बन्धा- [वाक्यप० २।४२५]	४४३–१८, ४४७	२
अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य- [ ]	४४६	२३
अन्यधियो गतेः [ ]	३२५	९
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्य- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८०]	४२३	७
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८३]	४०८	१५
अन्यैस्ताल्वादिसंयोगै- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८१]	४२३	९
अन्वयेन विना तावद्- [ ]	१८५	७
अन्वयो न च शब्दस्य [मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५]	१८४	१९
अपरस्मिन् परं [वैशे० सू० २।२।६]	५६४	२१
अपूर्वकर्मणामाश्रवनिरोधः [तत्त्वार्थसू० ९।१]	२४५	७
अप्रत्यक्षोपलम्भस्य [ ]	२९	३०
अप्राप्तकर्णदेशत्वाद्- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ७०]	४२४	८
अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ५४]	१६१	९
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६]	१९१	१
अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६]	४०८	२३
अभावगम्यरूपे च [मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९१]	४३८	१४
अभ्यासात्पक्वविज्ञानः [प्रश० व्यो० पृ० २० ख०]	३१०	३
अयमर्थो नायमर्थ [प्रमाणवा० २।३१२]	४३१	५
अयमेवेति यो ह्येष [मी० श्लो० अभावपरि० श्लो० २०]	७७	१५
अयुतसिद्धानामाधार्या- [प्रश० भा० पृ० १४]	६०४	११
अवयवविपर्यासवचन- [न्यायसू० ५।२।११]	६६७	२६
अवयवानां प्रशिथिल- [ ]	५९८	१२
अविज्ञातं चाज्ञानम् [न्यायसू० ५।२।१७]	६६९	१३
अविनाभाविता चात्र [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३०]	१९३	१७
अविशेषाभिहितेऽर्थे [न्यायसू० १।२।१२]	६४९	१७
अविशेषोक्ते हेतौ [न्यायसू० ५।२।६]	६६५	१४
असंस्कार्यतया पुंभिः [प्रमाणवा० १।२३२]	१६६	८

अवतरणम्	पृष्ठं	पङ्क्तिः
सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्तत्काले- [मी० श्लो० चोदनासू० १३४]	२५४	२३
सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षा- [तत्त्वसं० पृ० ८२० पूर्वपक्षे]	२५३	३
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य [मी० श्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १२]	३	४
सविशेषेण हेतुश्चेत्त- [मी० श्लो० शब्दानि० श्लो० १७७]	४०७	२०
सर्वेप्यनियमा ह्येते [ ]	२१-३, ३८२	१८
सर्वे भावाः स्वभावेन [प्रमाणवा० १।४१]	४८०	२१
सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः [ ]	५२६	१६
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य [श्वेताश्वत० ३।३]	२६४	२२
सा ते भवतु सुप्रतीता [ ]	३९५	१६
सादृश्यस्य च वस्तुत्वं [मी० श्लो० उपमानपरि० श्लो० १८]	१८५	१७
साधनं सिद्धिः तदङ्गं [वादन्या० पृ० ५]	६७१	२७
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं [न्यायसू० १।२।१८]	६५१	१७
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य [न्यायभा० ५।१।१]	६५१	२०
साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्ष- [न्यायसू० ५।१।१]	६५१	२३
साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः [न्यायसू० ५।१।३३]	६५८	१६
साधर्म्येण हेतोर्वचने [वादन्या० पृ० ६५]	६७२	२७
साध्यदृष्टान्तयोर्धर्म- [न्यायसू० ५।१।४]	६५३	७
साध्यधर्मप्रत्यनीकेन [न्याय० सू० ५।२।२]	६६३	१५
सान्तो विधिरनित्यः [ ]	६८८	५
सामान्यघटयोरैन्द्रियकत्वे [न्यायसू० ५।१।१४]	६५६	६
सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्य- [वैशे० सू० २।२।१७]	२३४	५
सामान्यवच्च सादृश्यमेके- [मी० श्लो० उपमा० श्लो० ३५]	३४६	५
सामान्यविशेषात्मा तदर्थः [परीक्षामु० ४-१]	१७८-२०, ४४५	२
सामान्यविषयत्वं हि [मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५]	१८३	२३
सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेध- [मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८३]	४३६	९
सिद्धान्तमभ्युपेत्या- [न्या० सू० ५।२।२३]	६७१	६
सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं [मी० श्लो० प्रतिज्ञासू० श्लो० १७]	३	१
सूर्यस्य देशभिन्नत्वं न [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६]	४०७	१८
स्थानेषु विवृते वायौ [वाक्यप० टी० १।१४४]	४२	१
स्थिरवाय्वपनीत्या च [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२]	३१९	३
स्याच्छब्दस्य हि संस्कारा- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२]	४१९	१
स्वतः सर्वप्रमाणानां [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७]	१५३	१०
स्वदेशमेव गृह्णाति [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८१]	४०८	९
स्वपक्षसिद्धेरेकस्य [ ]	६७१	१७

३ परीक्षामुखगतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः[1]।

---

१ परिशिष्टेऽस्मिन् प्रथमोऽङ्कः अध्यायसंख्यां द्वितीयश्च सूत्रसंख्यां बोधयति।

४ प्रमेयकमलमार्त्तण्डगतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः।[1]

१ परिशिष्टेष्वेषु प्रथमोऽङ्कः पृष्ठसंख्यां द्वितीयश्च पङ्क्तिसंख्यां सूचयति।

८ प्रमेयकमलमार्तण्डनिर्दिष्टाः ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

६ प्रमेयकमलमार्त्तण्डगताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः।

७ आरानगरस्थ-श्रीजैनसिद्धान्तभवनसत्कायाः प्रतेः पाठान्तराणि।

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
१	५	सुधियः	सततम्
१	९	विस्फुरिताङ्ग-	विस्फुरितैर्ग-
२	४	तदपहृति-	तदपकृति-
२	११	प्रयोजनवत्त्वव्यु-	प्रयोजनव्यु-
२	१२	-मक्षुण्ण-	-मक्षूण-
२	१२	-शास्त्रार्थसं-	-शास्त्रसं-
३	१४	असम्बद्ध-	असम्बन्ध-
५	१	ज्ञापक-	ज्ञायक-
६	९	-हृतं तदेव-	-हृतं सिद्धं तदेव
६	१५	-व्युत्पादनार्थं-	-व्युत्पत्त्यर्थं-
८	१७	-त्वाभिधानकं	-त्वाभिधानं
९	२१	-चेतस-	-चेत्तत्स-
१०	१९	दृष्टस्य पृथि-	दृष्टपृथि-
१०	२०	नित्यस्वभा-	नित्यैकस्वभा-
११	८	वाभि-	चाभि-
१३	८	-र्थोपलब्धि-	-र्थेऽपिलब्धि-
१४	३	-दिना (संयुक्तसमवायः रूपत्वादिना) सं-	-दिना संयुक्तसमवायः रूपत्वादिना सं-
१४	७	वाभाव-	चाभाव-
१५	२१	यस्तस्य तत्र	-यस्तत्र तस्य
१६	२	कुठार (काष्ठ) च्छे-	काष्ठच्छे-
१६	९	च	वा
१६	१८	भावे तद-	भावे वा तद-
१८	१	-णास्य योगजधर्मसह-	-णास्य सह-
१८	३	-करणं (योगजधर्मानु) गृहीतं	-करणं योगजधर्मानुगृहीतं
१८	२३	गृह्यते	गृह्येत
१९	१३	-रभिव्यज्येत्	-रभिव्यज्यते
२०	६	-देव प्रसिद्धेः	-देव प्रमाणत्वप्रसिद्धेः
२०	१०	बाह्येन्द्रियजमिन्द्रियाणां	बाह्येन्द्रियाणां
२१	१५	तदनन्तरप्र-	तदनन्तरं प्र-
२१	१९	चास्य	चास्य

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
२२	९	-हि क्को (एक्को)	हि एक्को
२३	१२	वापार्थं-	चापार्थं-
२३	२०	क्रिया परिस्प-	क्रिया स्प-
२४	१६	-शक्तिकत्वेन	-शक्तिवत्त्वेन
२६	२	-योगि(त्वं)तद्वि-	-योगि तद्वि-
२६	३	-ला तूपादे-	-ला चारूपादे-
२७	८	-षणमसा-	-षणत्वमसा-
२८	३	ह्यन्यत्रान्य-	ह्यत्रान्य-
२८	५	-स्वरूपं वै (पमवैशद्यं)परि-	-स्वरूपं परि-
२८	७	तदिति	तदिव
२९	२	-ता साह-	-ताक्तसाह-
३०	१५	-षयत्वम् अन्य-	-षयत्वमध्ये अन्य-
३०	२३	विकल्पधर्मा-	विकल्पकधर्मा-
३२	१३	चात्राव-	चाव-
३३	६	-कत्वं घटते स्व-	-कत्वं स्व-
३३	९	-र्थ्यानि(वि)रो-	-र्थ्याविरो-
३४	१०	अन्योत्पा-	अन्योपपा-
३४	१९	सविकला(ल्प)क-	सविकल्पक-
३५	१७	प्रभवत्त (वात् त) तो	प्रभवात्ततो
३६	४	-त्वाद्रूपादिवत् । रूपाद्यु-	-त्वाद्रूपाद्यु-
३६	६	मीयेत	मीयते
३६	१७	शब्दप्रभवत्वात् (ग्राह्यार्थं विना- तन्मात्रप्रभवत्वाद्वा) ग-	शब्दप्रभवत्वाद्वा ग-
३७	१	काचाभ्रका	काचान्यका
३७	११	-सतस्तच्छेद-	-सतस्ततस्तच्छेद-
३७	१५	-पत्तिप्रवृत्ति-	-पत्तिवृत्ति-
३८	२	शब्दाध्य-	शाब्दाध्य-
३८	५	-क्षस्यार्था-	-क्षार्था-
३९	२	तत्स्पर्श-	तत्संस्पर्श-
४०	८	-वेशोऽसौ	-देशोऽसौ
४०	१५	-ताप्रतिपन्नाः	-तापन्नाः
४१	१३	लोचनाध्य-	लोचनाधध्य-
४४	१३	घटते	घटेत
४४	१६	-ब्रह्मणि	-ब्रह्मणा

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
४६	१८	द्वैतप्र-	द्वैतसिद्धिप्र-
४७	१४	-रेवसं-	-रेव स सं-
४८	४	-प्रश्नहेतुक-	-प्रश्ने हेतुक-
४८	१६	-वाभिप्रे-	-चाभिप्रे-
५१	१	अबहिष्ठाऽस्थि-	अबहिरस्थि-
५१	१२	सत्त्वेनासत्त्वेनान्येन	सत्त्वेनान्येन
५४	२	खे खपुष्प-	खखपुष्प-
५७	४	सामान्यमात्रप्र-	सामान्यभावप्र-
५७	६	विषये सद्-	विषयेषु सद्-
५८	४	सर्वस्यास्तत्प्र-	सर्वस्याः स्मृतेस्तत्प्र-
६२	१	भेदे अनु-	भेदानु-
६३	२२	नचानेकान्त-	नचैकान्त-
६५	९	भेदानुप-	तदनुप-
६६	७	चासत्य-	वासत्य-
६६	२२	स्वच्छां	स्वस्थां
६६	२४	भेदे समु-	भेदसमु-
६७	७	भेदात्तद्यव-	भेदाद्यव-
६७	१३	-य पक्षोप्य-	-य विकल्पोप्य-
६८	१२	तथा तद्व्यक्ति-	तथा व्यक्ति-
६९	२०	-साच्छब्दे(ब्दो)त्तीत्यभ्यु-	-साच्छब्दोत्पत्त्यभ्यु-
७०	४	-चाररूपं कल्प-	-चाररूपकल्प-
७०	६	मुख्यं भेदा-	मुख्यभेदा-
७०	८	असिद्धिः	असिद्धः
७१	५	प्रवर्तते	प्रवर्त्तेत
७१	१४	परदुःखं	परत्र दुःखं
७१	१४	-न्ति पर-	-न्ति तेषां पर-
७१	१५	प्रवृत्तेः	प्रवृत्तौ
७२	११	कथञ्चाद्वैत-	कथं द्वैत-
७५	१३	तस्याबाध्यमानत्वात्	तस्याबाधात्
७५	१७	-सत्यमभ्यु-	-सत्यमित्यभ्यु-
७७	१०	यद्यायः पक्षस्त-	यद्यायः स्वपक्षस्त-
७८	१३	अनुपलब्धि-	उपलब्धि-
८३	१४	साकारो वा (भिन्नकालः समकालोवा)नी-	साकारो वा भिन्नकालः समकालो वा नी-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
८६	१३	सप्रतिघादि-	प्रतिघातादि-
९१	७	-स्याध्यक्षेणसि-	-स्याध्यक्षसि-
९१	१३	जडस्यापि पर-	जडस्यापर-
९२	२१	व्याप्तौ तौ प्रति-	व्याप्नोति प्रति-
९३	७	प्रसिद्ध-	सिद्ध-
९३	७	यतः स्वतः प्र-	यतः प्र-
९६	९	-व्यापित्व-	-व्याप्तित्व-
९६	१२	-व्यापित्वं	-व्याप्तित्वं
९९	९	ज्ञानस्वभावतावि-	ज्ञानस्वभाववि-
१०१	१३	निवर्तन-	विवर्तन-
१०३	१६	आकाराधायक-	आकाराध्यापक-
१०४	५	-दुत्तरार्थक्षण-	-दुत्तरोत्तरार्थक्षण-
१०४	१२	स्वात्मनोऽर्था-	आत्मनार्था-
१११	१३	पुनस्तल्लक्षणं	पुनस्तत्त्वलक्ष-णान्तरलक्षणं
१११	१८	तद्भावावेदकं	तत्सद्भावावेदकं
११४	४	चैतन्यम्,	चैतन्यस्येन्द्रियं
११९	१२	सर्वं	सर्वत्र
१३४	४	यश्चात्मीयज्ञानमा-	यश्चात्मायं ज्ञानमा-
१३५	१९	चास्य संयुक्त-	चास्य सन्निकर्षो वा संयुक्त-
१४१	२	संयोगोऽवि-	संयोगावि-
१४१	११	-स्यानिष्टदेशादि-	-स्यानिष्टदशादि-
१४१	११	-णेष्टदेशा-	-णेष्टदशा-
१४२	१	चादृष्ट-	न वादृष्ट-
१४२	१७	-मस्तु ज्ञाना-	-मस्तु किं ज्ञानान्तरेण ज्ञाना-
१४८	१	चार्थं	वार्थं
१४८	२	-न्नौ तर्हि तावेव	-न्नौ तावेव
१४८	१३	च	वा
१४९	१७	ज्ञानं	विज्ञानं
१५०	५	-प्रीतो वा ग-	-प्रीतो ग-
१५२	२१	न चात्र	न चासौ
१५३	३	येन तदुत्प-	येन प्रामाण्यं तदु-
१५४	१७	शुक्तिशकले	शुक्तिकाशकले
१५४	२१	प्रवृत्त्याभावे-	प्रवृत्त्याद्यभावे-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
१५७	६	तावतैवेयं	तावतैवायं
१५८	११	प्रवर्त्तेत	प्रवर्तते
१५८	२३	तावन्नार्थोवधार्यते	तावन्नार्थोऽभिधीयते
१५९	३	कारणे शुद्धे तज्ज्ञा-	कारणाशुद्धेर्ज्ञा-
१५९	४	च	तु
१५९	७	-न्द्रिये शक्ति-	-न्द्रियशक्ति-
१५९	१४	-क्षेण तेनो-	-क्षेण तत्तेनो-
१६०	१३	समस्त(सम्मतस्त)स्य	संयतस्तस्य
१६१	१२	चेन्द्रिये	वेन्द्रिये
१६२	३	कथन्तत्स्वतः	कथन्न स्वतः
१६२	५	प्रमाणपञ्चकाभाव-	प्रमाणिकाभाव-
१६२	६	चाभावप्रमाणोत्पत्तौ	चाप्रमाणोत्पत्तौ
१६३	३	नैर्मल्यादियुक्तस्य	नैर्मल्ययुक्तस्य
१६३	७	तत्रापि	तथापि
१६४	१६	जन्मैव	यत्रैव
१६५	३	प्रमाणस्य किं	प्रमाणस्य तु किं
१६५	९	-विनाभावस्य	-विनाभावत्वस्य
१६५	१०	हेतोः स्व-	हेतुस्व-
१६८	११	-क्रियाज्ञानस्याप्य-	-क्रियासाधनस्याप्य-
१६९	४	वृद्धिच्छेदा-	तृड्विच्छेदा-
१६९	७	स्वप्नार्थक्रिया-	स्वप्नेप्यर्थक्रिया-
१७१	२	अपर (अपवर) कान्तर्देश-सम्बद्धे तु मणा-	-अपवरकान्तर्देशसम्बद्धमणा-
१७१	१२	-निश्चयात्मकं	-निश्चायकं
१७२	६	-ताशंकाः	-तशंकाः
१७२	११	कश्चित्का-	किञ्चित्का-
१७२	१२	कश्चित्का-	किञ्चित्का-
१७४	३	प्रागेव	इत्यपि प्रागेव
१७४	१०	वैतस्मि-	चैतस्मिं-
१७५	११	नेष्यते	नेक्ष्यते
१७५	१४	शब्दे स-	शब्दस-
१७६	७	सिद्धं सर्वजनप्रबोधेत्यादिश्लोकस्य व्याख्यानं आ० प्रतौ नास्ति।	
१७७	३	-त्तदभिप्रायवांस्त-	-त्तद्व्युत्पादनाभिप्रायवांस्त-
१७७	७	-तैकद्वित्र्यादिप्रमाण-	-तैकत्वादिप्रमाण-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
१७७	१६	-साधनम् इति-	साधनं तद्वतोऽनुपपन्नत्वम-नुमानकथा कुतः ॥ इति
१७८	७	कुतो (गौणत्वम्)	कुतो गौणत्वम्
१७८	११	-षयत्वस्या-	-षयस्या-
१८१	१५	-विरोधी	-विरोधो
१८१	२०	ज्ञापक-	ज्ञायक-
१८१	२२	-ज्ञातसह्य-	-ज्ञातस्य सह्य-
१८२	१३	-न्यस्य विशे-	-न्यविशे-
१८२	२१	सम्वद्धं	सम्बद्धे
१८३	१९	शब्दो	शाब्दो
१८४	७	नात्र	तत्र
१८४	१०	हि सद्भावेन सत्तया	हि सत्तया
१८४	१२	वह्निरस्तीत्यस्ति-	वह्निरस्ति-
१८४	२२	न त्वेवं	न चैवं
१८५	३	चागतेः	चागमे
१८५	११	-तत्त्वज्ञै-	-तत्त्वज्ञै-
१८६	१२	न तद्ध-	न तस्य तद्ध-
१८७	१	न चैत-	न वैत-
१८७	३	च	वा
१८७	५	-म्बन्धान्न गो-	-म्बन्धो न गो-
१८७	१३	भवन्	भवेत्
१९०	३	-विभागतः	-वियोगतः
१९०	९	को	यो
१९०	९	-दिनः	-दितः
१९१	५	चापरस्या-	च परस्या-
१९१	१२	चोप-	वोप-
१९२	३	-च्छेद्यत इति	-च्छेद्य इति
१९२	८	-वात्मत्वाद्ध-	-चासत्वाद्ध-
१९२	८	चाव-	नाव-
१९३	६	विना नो-	विना अन्येनो-
१९४	१९	सपक्षानुगमाननुगमभेदः	सपक्षानुगमभेदः
१९५	३	स्थिताम्	स्थिता
१९४	४	नियामिकाम्	नियामिका
१९८	८	न तत्सन्निधाने	न तावत्समभिधाने

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
१९८	१२	सहकारी	सहकारिणोः
१९८	१८	-राभावात्	-रासंभवात्
१९९	३	-प्येतच्चोद्यं समानम्	-प्येतयोः भृशं मानम्
२००	११	अनादिनिधन-	अनाद्यनिधन-
२०५	२	-लब्धिविशेषतः प्रति-	-लब्धेर्विशेषतः विप्रति-
२०७	१७	अनुष्णाग्नि-	अनुष्णोऽग्नि-
२०८	५	-लापात्स्वस्वभाव-	-लापात्स्वभाव-
२०९	२६	-भावग्रहणस्य	-भावस्य
२१०	६	-भावग्रहणस्य-	-भावस्य
२१०	१३	-पटादिव्यक्तिभ्यो-	-पटादिभ्यो-
२१०	१५	न निखिल-	नाखिल-
२१०	१७	-तराश्रयत्वं च	-तराश्रयत्वाच्च
२१३	४	विनाशेप्युत्प-	विनाशिन्युत्प-
२१५	२	-दिव्यापारवैय-	-दिवैय-
२१५	११	घटादे-	पटादे-
२१५	१३	भावान्तर-	भावोत्तर-
२१५	१९	-रेव तेन वि-	-रेव वि-
२१८	२३	-स्योपघातः	-स्योपपातः
२१९	१७	चेदं	वेदं
२१९	२३	-नाव्याप्त्यस-	-नाव्याप्यस-
२२०	७	-विशेषवि-	-विशेषैर्वि
२२१	१२	तथा चेन्द्रि-	यथा वेन्द्रि-
२२१	१४	-वात्तन्नेष्यते	-वात्तु नेक्ष्यते
२२१	१९	रूपं चक्षुः	रूपचक्षुः
२२२	१४	-वलग्नं शला-	-वलग्नशला-
२२३	१०	अन्यथा-	नान्य
२२८	११	-कं तद-	-कं दृष्टं तद-
२३०	२३	रसाभिव्य-	रसव्य-
२३१	८	तन्न	तत्र
२३२	१६	कार्यकारणभा-	कारणकार्यभा-
२३३	१२	भवति	भवेत्
२३३	१४	पुरःस्थतया	पुरःस्थिततः
२३४	१४	तदसतो	तदंशतो
२३४	१५	-र्थजत्वे	-र्थजन्यत्वे

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
२३४	२२	कारणत्वकल्प-	कारणकल्प-
२३५	१	तत्तेनोपलभ्यते न	तत्त्वेनार्थाभावेऽपि उपलभ्यते अभ्रान्तं तु तद्भाव एवोपलभ्यते न
२३५	३	-मतज्ञानं	-मतं ज्ञानं
२३५	१५	लब्धा-	तल्लब्धा-
२३५	१६	-नाप्यतत्का-	-नाप्यका-
२३५	१९	-दे तस्यापि-	-देऽपि तस्यापि
२३५	२४	मैत्रे	मित्रे
२३६	५	प्रतीयेत	प्रतीयते
२३६	१६	सान्यस्यापि	सामान्यस्यापि
२३७	३	तदन्यज्ज्ञात-	तदन्यज्ज्ञात-
२३९	२६	निखिलार्था-	निखिलज्ञानेनाखिलार्था-
२४०	१५	वा	च
२४३	१५	-त्वेतत्पार-	-त्वात्तत्पार-
२४४	२८	-कर्मणां नि-	-कर्मणो नि-
२४६	२१	-त्राशेषज्ञान-	-त्राशेषज्ञज्ञान-
२४७	१३	-र्थज्ञातुस्त(ज्ञानस्य त)ज्ज्ञान-	-र्थज्ञानस्य तज्ज्ञान-
२५०	९	-र्थप्रधानैस्तै-	-र्थप्रमाणैस्तै-
२५३	४	लप्स्यते	लभ्यते
२५३	८	-प्रभवं वानुमाना-	-प्रभवत्वानुमाना-
२५३	९	-षयत्वेन तत्प्र-	-षयत्वे तत्प्र-
२५५	१०	यद्धि यद्धि-	यद् यद्धि-
२५५	२९	इति तत्सर्वा-	इति च सर्वा-
२५७	६	-त्वान्न वक्तव्यम्	त्वान्न वक्तुं शक्यम्
२५७	१०	प्रत्यक्षत्वाप्र-	प्रत्यक्षाप्र-
२५८	५	-सम्बन्धित्वस्यातीतदर्शन-सम्बन्धित्वस्य च ग्राहि	-सम्बन्धित्वस्य च ग्राहि
२५८	१८	भाविधर्मादेरतीतकालादेरिवावि-	भाविधर्मादेरिवातीतकालादेरवि-
२५८	१९	-लोकोपभो-	-लोकभो-
२५९	२	-स्यानालो-	-स्याप्यनालो-
२६१	३	प्रक्षीण-	क्षीण-
२६२	६	यच्चोक्तं	यथोक्तं
२६२	९	तद्व्याख्यातार्थाश्र-	तद्व्याख्यानाश्र-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
२६५	२	वार्थे	चार्थे
२६६	५	प्रपञ्चेनो-	प्रसङ्गेनो-
२६८	१	जानतो-	ज्ञानतो-
२७२	२२	-न्तिकं च	-न्तिकत्वाच्च
२७३	६-९	तत्सम-	सम-
२७३	१०	-क्रान्ते व्य-	-क्रान्तेप्यव्य-
२७३	१५	-भूतलादि-	-भूतलादि-
२७३	२४	-बुद्धिवै-	-बुद्ध्यादिवै-
२७४	२३	व्याप्येत	व्याप्यताम्
२७५	१३	बाधकप्रमाणव-	बाधकव-
२७७	१६	-त्वप्र-	-त्वसंप्र-
२८१	१५	-णयापि	-णया हि
२८२	३	सेवाभेदानु-	सेवानु-
२८३	२६	-सङ्गः स्यादि-	-सङ्गत्वादि-
२८३	२७	तेनैवा-	अनेनैवा-
२८६	१७	-धर्मिवत्	-धर्मि च
२८९	१७	-कत्वे	-कत्वेन
२८९	२०	-क्रीयेत	-क्रीयते
२९३	२८	निश्चयस्योत्पा-	निश्चयोत्पा-
२९४	३	हि भव-	हि ज्ञानं भव-
२९४	१६	तु	च
२९५	२	-णादित्वा-	-णादिनियमस्य घटनादुपादान- ग्रहणादित्वा-
२९५	५	सिद्ध्यति	सिद्ध्येत
३०१	१४	प्रसाध्य-	साध्य-
३०२	२८	-वति तन्निमित्तकर्मसद्भावे तत्फल- सिद्धिस्तस्याश्च तन्निमि- त्तकर्मसद्भावसिद्धिरिति	-वति क्षुधादिफलसद्भावे तन्नि- मित्तकर्मसिद्धावसिद्धिः तत्सिद्धौ च क्षुधादिफलसद्भावसिद्धिरिति
३०३	१३	-त्तदुदयेऽपि	-त्तदुत्तरं तदुदयेऽपि
३०४	२	-मानं क्रियते	-मानं कर्म क्रियते
३०४	१३	विरतव्यामो-	व्यावृत्तव्यामो-
३०५	१२	घटेत	घटते
३०९	२४	मोक्षार्थी	मोक्षार्थं

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
३१४	२०	-वनाभ्यासात्	वनावशात्
३१५	९	-यां ग्रहो	-यां हि ग्रहो
३१५	१४	न प्रति-	न च प्रति-
३१८	३०	इन्द्रियजज्ञा-	इन्द्रियादिजन्यज्ञा-
३२०	२४	-न [ख] भा-	-न खभा
३२३	२२	नास्ति तत्र तत	नास्ति तत
३२६	७	-षरूपतया	-षतया
३२६	२४	एवेदानीं मुक्तः	एव मुक्तः
३२७	६	-प्यात्मनिश-	-प्यात्मनः श-
३२७	२७	-तनप्र(ल)सं-	-तनसं-
३२९	१३	-गतेनैव बा-	-गतेन च बा
३३०	२४	दिक्खिओ	दिक्खिऊ
३३१	६	-कम्म इत्यादेः	-कम्मे वदजिठ्ठ- पडिक्कमणे मासं पज्जोसमणकप्पे इत्यादेः
३३२	८	तस्य मतो	तन्मतो
३३२	९	-नं साधुं दृष्ट्वा श-	-नं दृष्ट्वा यतिं श-
३३६	२४	-विवेचनत्वाद्‌युु-	-विवेचनाद्‌यु-
३३६	३०	-[प] रि-	-परि-
३३७	२३	स्मृतावपि	स्मृतार्थावपि
३३९	२२	तं	तत्
३४०	२०	-ज्ञानश-	-ज्ञाश-
३४१	२१	तस्य चास-	तस्यैवास-
३४२	६	इत्यप्यसा-	इत्यसा-
३४२	२०	-स्यापि अन्य-	-स्याप्यस्त्यन्य-
३४४	५	-षयप्रवृ-	-षये प्रवृ-
३४५	८	लिङ्गजाभ्यु-	लिङ्गनाभ्यु-
३५०	४	-कारेण वोप-	-कारेणैवोप-
३५०	१०	-नुबन्धिनि	-नुलम्बिनि
३५१	२१	तत्प्रत्य-	तत्प्रभवप्रत्य-
३५५	२०	लोके प्रसि-	लोकप्रसि-
३५६	१९	-श्रितं सा-	-श्रितसा-
३६१	५	तु	च
३६६	३	ज्ञाप्यते	ज्ञायते

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
३६६	१६	-व्याप्तेरभा-	-व्यापाराभा-
३६९	२१	चलितप्र-	भिन्नप्र-
३६९	२५	-रीतस्य	-रीतार्थस्य
३७१	२३	-न्द्रियप्र-	-न्द्रियार्थप्र-
३७३	१०	-नं सा-	-नं हि सा-
३७५	९	गौरेपि तत्पुत्रे तत्पु-	गौरेऽपि तत्पु-
३८६	१९	-लभ्येत	-लभ्यते
३८७	५	-भाववतो यो-	-भाववादिनो यो-
३८७	१४	यो व्यामु-	यो मु-
३९४	१९	-मानं स्वविशे-	-मानं विशे-
३९५	५	-श्यन्तया	-श्यन्तथा
३९८	२	-द्धिरित (रितीत)रे-	-द्धिरितीतरे-
४०२	९	-नेकप्रवृ-	-नेकधा प्रवृ-
४०२	१८	संकेते(ता)न-	संकेतान-
४०२	२१	यत्र पु-	यत्र यत्र पु-
४०७	११	-यान्तमिव	-यातमिव
४०८	७	यावज्ज-	तावज्ज-
५०९	२६	सम्बन्धावधारणम्	सम्बन्धावगमः
४११	१४	-तो लक्षितलक्षणया-	-तो लक्षणया
४१२	१३	चेत्किं यु-	चेत्किं पुनः यु-
४१३	१७	-पत्तेः	-पत्तिः
४१४	३०	प्रथमे वि-	प्रथमवि-
४१५	१	-त्वेऽल्पतानि-	-त्वे कल्पनानि-
४१५	३२	ननु चासि-	न चासि-
५१६	२१	चापह्नवायो-	चासद्भावायो-
४१७	२९	-दृश्ये चो-	-दृष्टे चो-
४१८	८	तान्प्रति-	तावत्प्रति-
४१८	१०	-न्तरं कफांशा-	-न्तरं तत्र कफकांशा-
४१८	२४	कुड्यादि-	कुम्भादि-
४१९	६	तस्यात्म-	स्वस्यात्म-
४१९	२६	नाम्नैव	-नास्त्येव
४२०	५	-रे सर्वदो-	-रे सर्वत्र सर्वदो-
४२०	६	इत्यप्यच-	इत्यच-
४२०	१९	संस्कृतिः	सन्ततिः

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
४२१	९	नित्यस्यास्थानाधेया-	नित्यस्थानादेया-
४२१	२७	स्वदेशे तदावारकाः तर्ष्यन्तरा-	स्वदेशेन वावारकाः सूर्यान्तरा-
४२२	५	शक्यम्	शक्यते
४२२	२८	-घातः । प्रत्य-	-घातः स्यात् । प्रत्य-
४२२	३०	तथा च व्यञ्ज-	तथा व्यङ्ग्यवत् व्यञ्ज-
४२३	९	हि	च
४३४	१	संस्पृ (संसृ)ष्ट-	संसृष्ट-
४३४	११	-प्रसंगः	-प्रसङ्गात्
४३६	१३	-भावेप्य(भावेऽपि)गौः	-भावेऽपि गौः
४३७	४	-वाच्यत्वात्	-व्याप्तत्वात्
४३७	१५	-ज्ञापनं (ज्ञानम् ;)	-ज्ञानम्
४३८	२१	-मपोह्येत	-मपोह्यत
४३९	११	किञ्च	किंवा
४३९	१५	-लक्ष्येण(तद्वैलक्षण्येन)	-लक्षण्येन
४४१	३	परापेक्षा-	परीक्षा-
४४७	२१	तज्ज्ञा (तज्ज्ञा)	तज्ज्ञा
४५३	२४	-त्तक्षयो-	-त्तज्ञानक्षयो-
४५६	१९	-मन्ये (न्त्ये)न	-मन्त्येन
४५६	२०	बुद्धौ शब्दोऽव-	शब्दो बुद्धाव-
४५८	१९	-णादिगम्य-	-णाभिगम्य-
४६०	२३	पदासि-	पदसि-
४६७	९	-णापिसद्भावा-	-णाविनाभावा-
४६७	९	ततो व्यव-	ततो वस्तुव्य-
४६७	१६	बुद्ध्यभेद-	बुद्धिभेद-
५६८	१६	प्रतिभासवत्	प्रतिभासनवत्
४७२	१५	भिन्नदेशासु	भिन्नदेशेषु
४७४	६	जातिः क्वेति	जातिराकृतिः
४८१	९	-पचारे तु	-पचारात्
४८४	१४	अन्यत्र प्र-	अन्यप्र-
४८५	७	-तिरिक्तैकनिमि-	-तिरिक्तैकनिबन्धननिमि-
४८६	६	घटेत	घटते
४८६	२१	न तज्ज्ञा-	ननु तज्ज्ञा-
४८९	८	-स्थानां त-	-स्थार्थानां त-
४९२	१५	प्रति [क्षण]वि-	प्रतिक्षणवि-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
४९२	२६	-णिकत्वस्याध्य-	-णिकार्थस्याध्य-
५०४	२०	-न्यं सम्बन्धा-	-न्यं बन्धा-
५०७	१७	-वेव यो-	-वेव च यो-
५०७	१७	-वौ का-	-वौ द्वौ का-
५०७	२१	प्रयुङ्क्ते	अनुयुङ्क्ते
५०८	११	एव कारणाभि-	एव च कारणाभि-
५११	१७	घटप्र-	पटप्र-
५११	१९	पटस्यापि	घटस्यापि
५१२	२२	-न्न तस्य	-न्न चात्र तस्य
५१२	२३	तदग्नि-	तदेतदग्नि-
५१९	२४	-रूपता(तां)	रूपतां
५२१	४	सुखमासं	सुखमासे
५२१	१०	तथा त-	तथाच त-
५२१	११	-त्पद्येत	-त्पाद्यते
५२२	९	-त्माभ-	-त्मा वा भ-
५२३	६	स्वस्य	तस्य
५२७	१४	-व्यव्यावृ (व्यवृ)त्त-	-व्यवृत्त-
५२८	२४	तु वि-	त्वस्ति वि-
५३१	१६	-वात्कथं तत्र	-वात्का तत्र
५३२	२१	-षङ्गोऽयु-	-षङ्गोप्य-
५३६	६	-वदेव वस्तु-	वदेकवस्तु-
५३३	२७	[धर्म] ध-	धर्मध-
५३६	१	चौर [पार]	चौरपार-
५३८	९	-धाच्च	-धः
५३९	२०	-द्धिः [द्धेः]	-द्धेः
५४४	१७	[व्याप्य] व्या-	व्याप्यव्या-
५४५	१८	युक्ता	युक्तिमती
५४५	२२	-वयवयवानामेवाव-	-वयवयवाव-
५४८	१०	एकद्रव्यः	एकद्रव्यं
५६१	५	रूपादिना सु-	रूपादिसु-
५६१	१४	-त्वा (त्व) प्र-	-त्व प्र-
५६७	२१	यथाऽ(तथाऽ)-	तथाऽ-
५७३	१६	नच	किंच
५७९	३	-वत्परशरीरेन्य-	-वदन्य-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
५८२	१७	तदेव (तत एव)	तत एव
५८२	१९	-व्या (व्य) प-	-व्यप-
५८४	९	मनोद्रव्यत्व (मनोऽन्यत्व)	मनोऽन्यत्व-
५८४	१५	दिग्देशा-	हि देशा-
५८५	२०	-भिलाषप्रत्यभिज्ञानम-	-भिज्ञानम-
५८६	१२	-प्रतिष्ठ-	-प्रविष्ट-
५८८	११	-स्प(स्य)	-स्य
५८८	१५	प्रतिव (प्रव)-	प्रव-
५८९	५	-मन्तो	-वन्तो
५९०	७	-द्धिनाशा-	द्धिविना-
५९०	८	द्वित्वबहु-	द्विबहु-
६०१	६	-क्तं तदपरि-	-क्तमपरि-
६०१	१३	-श(शे)ष्वं-	-शेष्वं-
६०१	२६	हि नि-	हि तन्नि-
६०२	१८	लक्षणमेषां	लक्षणं तेषां
६०३	१४	-तीयेप्येतदेव	-तीयोऽप्यसदेव
६०३	१५	-योगित्वप्र-	योगिवत्प्र-
६०४	३	-नुपप(त्प)त्तेः	नुत्पत्तेः
६०४	१४	-द्धः नचान्तरालभा-	-द्धः भावान्तराभा-
६०६	१६	-शेषे(ष)वि-	शेषवि-
६०७	१८	समवायी इति	समवायीनि इति
६०८	२४	तदप्यसत्	तदसत्
६०९	४	अपृथगाश्रयवृत्ति-	अपृथग्वृत्ति-
६०९	१६	तत्रासंभाव्यम्	तत्रासद्भावात्
६०९	२१	-यिसमवाय(यिभावा) भावात्	-यिभावाभावात्
६०९	२१	-राश्रयभावा (यश्च समवाय) सिद्धौ हि	-राश्रयस्य समवायसिद्धे हि
६१०	२५	सम्बन्धत्वजा-	सम्बन्धजा-
६११	१७	-तयासौ प्र-	-तया प्र-
६१२	१८	पटो	घटो
६१५	१५	परपरिक-	परिक-
६१७	१८	-नर्थक्यम्	-नर्थवत्त्वम्
६१७	२२	स एव स इति	स एवमिति
६२१	४	समवायस्य नि-	समवायनि-

पृ०	पं०	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
६२१	९	इति नि-	प्रतिनि-
६२२	२०	-द्रुणत्वादी-	-द्रुणादी-
६२४	१३	-था वि-	-थापि वि-
६२५	२४	-प्यसुन्दरम्	-प्ययुक्तम्
६२६	१७	बोध-	अवबोध-
६२८	६	-दः	-दः समाप्तः
६३४	१७	-नियतते-	-निश्चयते-
६३५	११	-भासवद्रु-	-भावाद्रु-
६३६	१	नित्ये	नित्यत्वे
६४०	१४	-रीतोऽन्व-	-रीतेऽन्व-
६४८	४	-लयोः वि-	लयोः विवादापन्नयोः वि-
६५३	८	-समः	-समाः
६५६	६	-न्द्रियिकत्वे	-न्द्रियत्वे
६६०	९	स्वसा-	स्वेष्टसा-
६६४	१९	साम-	साधनसाम-
६६५	१७	-नां द-	नां द-
६६७	१	नेदमभि(वि)ज्ञा-	नेदमविज्ञा-
६६८	२१	सत्याः	सभ्याः
६६९	२०	-त एव	-ते
६७०	३०	-र्थिकक्प्र-	र्थिकप्र-
६७१	१८	-नमदो-	-नं नादो-
६७४	५	ज्ञानेन वा-	ज्ञाने च वा-
६७४	७	-चिदिति चेत्तर्हि	-चिदेव तर्हि
६७६–		'प्राचां वाचाम्' इत्यादिश्लोको आ० प्रतौ नास्ति ।	
६७७	१३	-ऋध्यमु-	-कव्यमु-
६७८	८	यः पुनः	यत्पुनः
६७८	१९	विषयमात्रप्र-	विषयभावप्र-
६८९	१५	तद्वि (द्धि) प्र-	तद्विधं प्र-
६९४	१२	'श्रीभोजदेवराज्ये' इत्यादि प्रशस्तिः आ० प्रतौ नास्ति ।	

८. मूलटिप्पन्युपयुक्तग्रन्थसूचिः सङ्केतविवरणञ्च ।

शुद्धिवृद्धिपत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
९	१२	कारण-	करण-
९	१७	आस्या-	अस्या-
९	१८	-रूपपता	रूपता
१९	१३	-रभिव्यज्येत्	रभिव्यज्येत
२२	३४	न्यायवि०	न्यायबि०
२३	३	विरोधे वा	अविरोधे वा
२९	३१	पृ० ५०	पृ० ८०
३०	३५	पृ० ५०	पृ० ८०
३१	३२	पृ० ५२	पृ० ८२
३३	३४	पृ० ५४	पृ० ८४
३४	२	क्षणाक्षयादि-	क्षणक्षयादि-
३५	३४	पृ० ५६	पृ० ८६
३६	१३	अगृहीत-	गृहीत-
३६	३३	पृ० ५७	पृ० ८७
८४	१६	धियो (योऽ) लादि-	धियो(योऽ)नीलादि-
१०५	२०	संवेत्रा-	संवेत्रा-
१११	१६	-धारलक्षण-	धारणलक्षण-
११८	७	-त्तत्सादृश्यो-	त्तत्स्यादृश्यो-
१२०	३४	स्या० रत्ना०	रत्नाकराव०
१४१	१०	-स्यादृष्टास्या-	स्यादृष्टस्या-
१४२	१	चादृष्ट-	न चादृष्ट-
१४८	१३	-क्तयोस्तरप्र-	क्तयोस्तयोरप्र-
१५४	२१	प्रवृत्त्याभा-	प्रवृत्त्यभा-
१५६	१	-त्तदविषयम्	त्तद् विषयम्
१५८	८	-पक्ष	पक्षे
१९७	४	मेदः	भेदः
२३७	१४	न्यायमा०	न्यायभा०
२४५	२७	हाने-वासं	हानेरेवासं-
२६०	६	कारणक्रम-	करणक्रम-
२६३	२	-भावत्	भावात्
२६४	२४	न न	न
३००	१०	कण्ठोष्ठ-	कण्ठौष्ठ-

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४९	२	भवत्येवेति	भवत्येवेति वा
३५७	५	आत्मता-	आमता-
३७३	१९	-त्रे नि-	त्रेऽनि-
३९५	१	समानम् । 'न च' इति	समानं नवेति
४०४	२४	[१।१८]	[१।१।१८]
४०८	२६	-मर्वाग्वृ-	मवाग्वृ-
४४५	१७	-सम्भावात्	सम्भवात्
४६०	२३	पदासि-	पदादिसि-
४६७	७	एतत् ? पूर्वो-	एतत् ? अनु-
			[वृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वो-
५८६	१२	छिछन्ना-	छिन्ना-
५९६	८	कोऽ वि-	कोऽवश्यं वि-
५९६	९	-तम् ; वश्यं वि-	तम् ; वि-
६२६	२१	कायकारण-	कार्यकारण-
६४६	१२	नियमोपलभ्य-	नियमो लभ्य-
६५१	२२	प्रत्युक्ते	प्रयुक्ते
६५२	१८	-धर्म्यमू-	धर्म्यमम्-
६५४	१२	युज्येत्	युज्येत
६५८	२७	-त्यना	-त्यता
६७३	३०	जयाय	पराजयाय

विषयसूच्याम्

२५	२३	यदभावे	यद्भावे

परिशिष्टेषु

७०४	८	अग्नेरपत्यं प्रथमं	[रामता० उ० ६।५] ५९७।१९
		,, ,,	[,, ,, अत्रिस्मृतिः ६।६]
७१८	१०	शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छू-	[ ] ४८३।२४
		,, ,,	[आपस्तम्बस्मृतिः ८।७]